वितरक
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २०११ वि०
मूल्य ७)

मुद्रक—
वी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

विषय-सूची

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन

अ—बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान

अनात्मवाद भी विमुक्ति के लिये है—नानात्व-सञ्ज्ञा का प्रहाण बौद्ध साधना में सम्मिलित—औपनिषद मनोविज्ञान—मानसिक व्यापारों का आत्मा में लय—संज्ञावेदयितनिरोध और औपनिषद समाधि—औपनिषद मोक्ष, साधन-पथ, कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्तो की एतद्विषयक बुद्ध के विचारो से तुलना—सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नहीं हुए, बल्कि वही उनके समग्र आचारतत्व और तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना उसका समझा जाना ही अशक्य है, इस मत का उपपादन—बुद्ध-धर्म बहुजन-वेदान्त है—बहुजन-वेदान्त के रूप में बुद्ध-शासन को देखना ही वास्तव में औपनिषद मन्तव्य के साथ मूल बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध का ठीक अनुमापन करना है।

आ—बौद्ध दर्शन और गीता

गीता-दर्शन का समग्र और अविरोधी स्वरूप—गीता ज्ञान-मार्ग का ग्रन्थ है—गीता में ज्ञान और कर्म का समन्वय—मध्यम मार्ग गीता में प्रशसित—गीता का भक्ति-योग और बौद्ध साधना—गीता और महायान में आदान-प्रदान—वैदिक प्रज्ञान की ओर दोनों की प्रवृत्तियो की तुलना—बुद्ध और कृष्ण—तथागत और कृष्ण दोनों ही सत्य-रूप दिखाये गये—कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष और आचारतत्व सम्बन्धी दोनों के विचारों का सम्बन्ध—कर्म पर तुलनात्मक विचार—कर्म-स्वातन्त्र्य और भक्तिवाद—ब्रह्मनिर्वाण और निर्वाण—गीता और बुद्ध-दर्शन का आपेक्षिक मूल्याकन—मनुष्यता के विचार से बुद्ध-वाणी अधिक प्रभावशाली किन्तु तात्विक दृष्टि से गीता सम्भवत अधिक परिपूर्ण दर्शन—परम सत्य की अनिर्वचनीयता और बुद्ध-मौन—क्या बौद्ध दर्शन 'गणेश का खण्डित दात' है ! बौद्ध दर्शन का प्रभाव गीता-दर्शन की अपेक्षा अधिक व्यापक और विश्वजनीन है।

इ—बौद्ध दर्शन और चार्वाक-मत

सुत्त-पिटक में महानास्तिक के रूप में चार्वाक मत के सदृश सिद्धान्त का वर्णन और बुद्ध की उसके प्रति प्रतिक्रिया—चार्वाक-सम्मत जड़वाद का सक्षिप्त विवेचन और बुद्ध-मन्तव्य की उसके साथ किसी भी प्रकार समता दिखाने की अनुपयुक्तता—बुद्ध-मत और चार्वाक-मत अत्यन्त विपरीत सिद्धान्त हैं।

ई—बौद्ध और जैन दर्शन

जैन धर्म श्रमण-परम्परा का जन्मदाता है—जैन धर्म की विशालता—

बौद्ध और जैन दोनों श्रमण धर्म हैं—निगण्ठ नाटपुत्त—जैन और बौद्ध दर्शन आचार-तत्व के क्षेत्र में—तत्व-दर्शन के क्षेत्र में—उत्तरकालीन बौद्ध और जैन न्याय-परम्पराएँ—अनेकान्तवाद सन्देहवाद नहीं—क्या जैन धर्म बीच रास्ते का पड़ाव है ? अनात्मवाद और भेद-विज्ञान की साधनात्मक एकता।

उ—बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक

उपोद्‌घात—न्याय-वैशेषिक दर्शन (अथवा दर्शनों) पर संक्षिप्त विचार और दोनों का बौद्ध दर्शन से ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्ध—प्रमाण मीमांसा—सामान्य और विशेष—इन्द्रियार्थसंनिकर्ष की समस्या—अनुमान प्रमाण के सम्बन्ध में—बौद्ध और न्याय दर्शनों के इतिहास की कुछ समस्याएँ—माध्यमिकों पर गलत सिद्धान्तों का आरोप—ईश्वर कर्तृत्ववाद, कारणवाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद और नैरात्म्यवाद पर बौद्ध और नैयायिक दृष्टि से विचार—ईश्वर की सिद्धि और असिद्धि—बौद्ध विज्ञानवाद और वैशेषिक परमाणुवाद—उपसंहार।

ऊ—बौद्ध दर्शन और सांख्ययोग

उपोद्‌घात—सांख्य-योग दर्शन पर तात्विक दृष्टि से संक्षिप्त विचार—सांख्य और बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक और तात्विक सम्बन्ध की समस्या—बुद्ध के पूर्व गुरु अराड सांख्याचार्य थे—दु:ख-निरोध दोनों दर्शनों का सम्मत उद्देश्य—सांख्य प्रमाणवाद—'प्रतिविषयाध्यवसाय'—सांख्य तत्व—बौद्ध 'अविद्या' सांख्य की मूल प्रकृति नहीं—सांख्य मनोविज्ञान—'इत्येव प्रकृतिकृत.' बुद्ध-मत को मान्य नहीं—ईश्वरवाद की समस्या—बन्धन और मोक्ष—'नास्ति न मे नाहम्' और बौद्ध अनात्मवाद—सांख्य साधना-मार्ग—बौद्ध दर्शन और योग-सूत्र—बौद्ध और योग दोनों 'चतुर्व्यूह' शास्त्र हैं—योग का साधना-मार्ग—'अभिनिवेश' और 'आत्माभिनिवेश'—योग . बौद्ध और पातंजल—दोनों की दार्शनिक परिस्थिति—योगसूत्र में विज्ञानवाद का खण्डन—उपसंहार।

ए—बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा

उपोद्‌घात—पूर्वमीमांसा में दर्शनत्व और बौद्ध विचार के साथ उसका सम्बन्ध—मीमांसा को ब्रह्मज्ञान का स्वतन्त्र महत्व स्वीकार नहीं—प्रामाण्यवाद, ईश्वरवाद और आचार-तत्व को लेकर बौद्ध और पूर्वमीमांसा दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन—'सामान्य' और 'विशेष' पर बौद्ध और मीमांसा-मत—वेदों

ऐ—बौद्ध दर्शन और वेदान्त

आवरण ओढ़े हुए विशुद्ध विज्ञानवाद का ही नव संस्करण है ?—मायावाद—क्या मायावाद महायान से लिया हुआ है ?—जगन्मिथ्यात्व का स्वरूप—अध्यास—व्यवहार और परमार्थ अथवा संवृति और परमार्थ सत्य—असत्य के माध्यम से सत्य की प्राप्ति—कार्य-कारण-भाव का अपलाप—प्रमाण-विचार—शून्य, निर्गुण और अनिर्वचनीय पर उपसंहार रूप से कुछ कथन—शून्य और ब्रह्म एक हैं—बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के निष्कर्ष समान हैं—एक बौद्ध 'आलवन्दार'—उपसंहार—'बौद्ध-वेदान्त' एक दर्शन ।

ओ–बौद्ध दर्शन और मध्ययुगीन भक्ति-साधना

उपोद्घात—मध्ययुगीन भक्तिधारा की पूर्व भूमि—बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ—महायान से भक्ति की निष्पत्ति—मध्ययुग में बौद्ध धर्म का एशिया में समन्वय-कार्य—कबीर और बौद्ध धर्म—तन्त्र-साधना पर बौद्ध प्रभाव—प्रतिपद् और प्रपत्ति—बुद्ध 'प्रतिपद्' (मार्ग) पर जोर देते हैं जब कि भक्ति 'प्रपत्ति' (शरणागति) से अधिक आश्वासन ग्रहण करती है—शरणागति का बौद्ध रूप—महायान दर्शन और भक्ति-तत्त्व—समग्राहक दृष्टि से बौद्ध दर्शन और भक्ति-दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध—शून्य-साधना—भक्ति आश्वासनप्रद साधना-पद्धति है ।

औ–बौद्ध दर्शन और तन्त्र सिद्धान्त

तन्त्र-दर्शन के स्वरूप और सिद्धान्तों पर एक विहगम दृष्टि—बुद्ध-मन्तव्य सरल और केवल मध्यमा प्रतिपदा पर प्रतिष्ठित—उत्तरकालीन बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का समावेश—इसी कारण बौद्ध धर्म और दर्शन के भी परिष्कार की आवश्यकता और आर्य सनातन धर्म रूपी महासमुद्र में नाम और रूप छोड़कर उसका समावेश और लोप । .

अं–बौद्ध दर्शन और आधुनिक भारतीय विचार

उपोद्घात—एक लम्बी मूर्च्छा के बाद भारतीय विचार की अभी स्फूर्ति-मय जागृति और आत्मस्वरूपानुस्मृति—आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूत-पूर्व परीक्षण-युग—स्वभावतः बौद्ध विचार के प्रति एक नई दिलचस्पी और शाक्यमुनि का आकर्षण—बुद्ध और गाधी—जडवाद के निश्चित दुष्परिणामों से विह्वल, धार्मिक विश्वास जैसी किसी चीज के लिये अयोग्य, शान्ति की

इच्छुक किन्तु अपने व्यष्टि और समष्टि सभी रूपो में तत्रतत्राभिनन्दिनी तृष्णा की बुरी तरह से शिकार मानवता के लिये बुद्ध का सन्देश ।

अ:—संश्लेषणात्मक दृष्टिपात और एक सर्वनिष्ठ संग्राहक तत्व की ओर संकेत

अनेक तत्वज्ञान सम्बन्धी और प्रमाण-प्रमेय विषयक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की भूमि में सब दर्शन एक होते हैं—'अत्र ह्येते सर्वं एक भवन्ति'।

पृष्ठ ७१५-१०८६

छठा प्रकरण

उपसंहार और भारतीय दर्शन-साधना में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्व का अनुमापन

सिंहावलोकन और अन्तिम निष्कर्ष—'विश्वे सतो महान्त इत्'—'एकमेव दर्शनम्' की भावना में किसी भी एक दर्शन-प्रणाली को अल्प या महान् कहना उचित नहीं—अत 'बुद्ध-शासन मनन करने के लिये अत्यन्त उत्तम है' धर्मसेनापति सारिपुत्र के इन सामान्य और अत्यन्त उदार शब्दों में ही समग्र बौद्ध दर्शन के महत्व का यहा अंकन—पूर्व-प्रस्तावित 'बहुजन वेदान्त' के रूप में मूल बुद्ध-दर्शन और 'बौद्ध वेदान्त' के रूप में उत्तरकालीन विकसित बौद्ध दर्शन को देखना ही भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्त्व का सम्भवत सर्वोत्तम अनुमापन है—तथागत की 'पच्छिमा वाचा' ही समग्र भारतीय दर्शन-साधना की 'पच्छिमा वाचा' है—'वयधम्मा संस्कारा अप्पमादेन सम्पादेयाति'—लेखक की देसना या क्षमा-याचना।

पृष्ठ १०८७-११०४

पाँचवाँ प्रकरण

बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन

वैसे तो मूल बुद्ध-दर्शन का यदि प्राचीन उपनिषदो के उपदेश के साथ और विकसित बौद्ध दर्शन का।वेदान्त दर्शन की परम्परा के साथ ठीक सम्बन्ध आक लिया जाय, तो यही सम्भवत समग्र भारतीय दर्शन में बौद्ध **विषय-प्रवेश** दर्शन के स्थान का भी सम्यक् अनुमापन हो सकता है। जबकि उपनिषदे भारतीय अध्यात्म-साधना के सर्वोच्च तत्व को अपने नैसर्गिक और सरलतम रूप में प्रकट करती है, उत्तर-कालीन वेदान्त का विकास उनके मन्तव्यो को पडितवाद की दिशा में आगे बढाता है। यही हालत ठीक बौद्ध दर्शन की भी है। उरुवेला की भूमि में सम्यक् सम्बोधि को साक्षात्कार करने वाले शाक्यमुनि के द्वारा जिस विशुद्धि-मार्ग का बहु-जन के हित और सुख लिए के उपदेश दिया गया, वह अपने विशुद्धतम रूप में उपनिषदो के ज्ञान के समान ही आन्तरिक अनुभूति अथवा अन्तर्ज्ञान पर अवलम्बित था। किंतु उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के द्वारा प्राय बुद्ध के मन्तव्यो को बौद्धिक रूप से प्रख्यापित करने के प्रयत्न में जिस वाद-परम्परा का प्रवर्तन किया गया, वह वास्तव में प्रतिलोम रूप से प्राय. उसी मार्ग से गई जिस पर उत्तरकालीन वेदान्त की परम्परा। बाद के वेदान्ताचार्यों के प्रज्ञानो में जिस प्रकार इस तथ्य की सम्यक् अनुभूति नही दिखाई पड़ती कि औपनिषद मनीषियो के चिन्तन किसी तार्किक परम्परा के परिणाम स्वरूप प्राप्त नही थे बल्कि गहरी आत्मानुभूति पर प्रतिष्ठित थे। उसी प्रकार उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य भी अपने प्रतिवादियो को परास्त करने की मुख्य चेष्टा में सम्भवत यह याद न रख सके कि बुद्ध के समय में भी अनेक महान् वादी और तार्किक थे जो स्वय बुद्ध को भी तर्क में परास्त करने का दावा रखते थे [1], अनेक अग्नि परिचरण करनेवाले ब्राह्मण याज्ञिक थे [2] जो बुद्ध को तुच्छ व्यक्ति

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्राग्बौद्धकालीन दर्शन की अवस्था और सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव' पर विचार।

(२) देखिए उपर्युक्त के समान ही।

मात्र समझते थे किन्तु वादियो का जो वाद छूटा, याज्ञिको ने जो अपने चम्मच, और घृतपात्र नदियो में फेंक दिये[1], वह सब तथागत की तर्क-परम्परा से परास्त होने के कारण नही, बल्कि उनके सन्देश की सच्चाई से पराभूत होकर ही। उसमे तर्क प्रधान कारण न था? इसकी सम्यक् अनुभूति उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक न कर सके। तथागत के सिद्धान्तो के अधिक बुद्धि-सम्मत होते हुए भी उनके पास सत्य का एक गहरा सन्देश था, एक अनुपम ज्ञान-सम्पदा थी, एक अपरोक्ष अनुभूति थी, एक महान् साधना-सम्पद् थी, ब्रह्मविदो की सी उनके मुख पर एक आभा थी, जिस के कारण सभी उनसे अभिभूत हो जाते थे। तथागत का यह केवल अद्वितीय व्यक्तित्व ही था जिसके कारण न केवल समग्र विचारशील भारत ही, बल्कि विश्व का एक विशाल खण्ड ही, उनके प्रति नमित हुआ और देव और मनुष्यो के अनुपम शास्ता के रूप मे उनके प्रति श्रद्धा अर्पित करने को विवश हुआ। ब्राह्मण समाज अथवा ठीक कहें तो यज्ञमय धर्म में विश्वास करनेवाला भारतीय समाज तो उनके उपदेश को ठीक तरह से पचा न कर सकने पर भी एक उत्तर-कालीन युग में उनके विशाल व्यक्तित्व और चारित्र्यगुण एव अपूर्व तपस्या के कारण ही उसे विष्णु का साक्षात् अवतार मानने को भी बाध्य हुआ, स्वय उनके समय मे ही ब्राह्मण उनसे ब्रह्मा (ब्रह्म) की सलोकता का मार्ग पूछने जाने लगे और उरुवेल काश्यप, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे ब्राह्मण-महाशाल तो स्वय उनके प्रसिद्ध शिष्य ही हो गए। कहने का तात्पर्य यह कि बुद्ध का विचार जो अपने समय में वातावरण को इतना उद्वेलित कर सका उसका कारण इतना उनके द्वारा किसी नवीन व्यवस्थित दर्शन-प्रणाली का उद्भावन करना नही था जितना कि दिगन्तव्यापी ज्ञान-रश्मियो को सदा प्रसारित करनेवाला उनका अभूतपूर्व व्यक्तित्व जिसके विषय में ही धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने अपने परिनिर्वाण के समय अपनी माता से कहा था 'महा उपासिके! मेरे शास्ता के समान शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, ज्ञान, दर्शन में कोई नही है[2]।' जो कोई उनके मार्ग पर चलता था वह यहीं अपने दुःख के अशेष नाश को देखता था,[3] शान्त और दान्त हो जाता

(१) देखिए इसी प्रकरण में आगे 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' पर विचार।

(२) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१५

(३) यो इमस्मि धम्मविनये अप्पमत्तो विहेस्सति।

था [१]। इसी में तथागत की सफलता का रहस्य था। अतः जिस प्रकार उपनिषदो का ज्ञान किसी तर्क-परम्परा के विकास का परिणाम नही किन्तु ऋषियो की विशुद्ध नैसर्गिक अनुभूति का स्फुट प्रकाशन है, उसी प्रकार उन महाश्रमण का वाद भी है और जिस प्रकार औपनिषद ज्ञान के समन्वय-विधान का प्रयत्न एक उच्चतम प्रमाण-विज्ञान का आश्रय लेकर उत्तरकालीन आचार्यों, भाष्यकारो और वृत्तिकारो के द्वारा किया गया, वही ठीक हालत बुद्ध-मन्तव्य के विषय में भी कही जा सकती है। अत इन दोनो धाराओ का उनके उद्गम से लेकर (जो यदि बिलकुल समान नही तो समीपतम तो है ही) उनके विकास की परम्परा पर्यन्त देखना ही उनके पूरे तुलनात्मक स्वरूप को भी देखना होगा। विशुद्धतम रूप से श्रौत तो वेदान्त ही है किन्तु अन्य न्याय–वैशेषिकादि दर्शन भी श्रौत परम्परा में ही आते है। चूकि इनके विकास का सामान्यतः पर्यवसान वेदान्त में ही होता है, अत साधारण दृष्टि से हम कह सकते है कि जब हम केवल वेदान्त दर्शन को उसके समग्र रूप में बौद्धदर्शन के साथ देख लेते है तो कदाचित् यही तथोक्त समग्र 'आस्तिक' दर्शनो को बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखना होता है। किन्तु अत्यधिक सूक्ष्मता और अस्पष्टता एवं विषयो के अधिक सम्मिश्रण के मार्ग को हटा कर एव विषय को अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रकाश में दिखाने के लिए हम सभी भारतीय दर्शनो का सम्बन्ध अलग-अलग बौद्ध दर्शन के साथ देखने का प्रयत्न करेंगे और इस प्रकार न केवल सभी श्रौत दर्शन-सम्प्रदायो का ही बल्कि जैनादि दर्शनो का भी सम्बन्ध हम बौद्ध दर्शन से अलग-अलग दिखाएँगे। इस प्रकार के निरूपण में हम पहले तो ऐतिहासिक ढग का ही अ लम्बन लेंगे अर्थात् वैदिक युग से लेकर आज तक की सभी दर्शन प्रणालियो का क्रमश' सम्बन्ध बौद्ध दर्शन से दिखाने का प्रयत्न करेंगे, किन्तु प्रत्येक दर्शन के ऐतिहासिक विकास को हम यहाँ अपने अध्ययन

पहाय जातिं संसार दुक्खस्सन्तं करिस्सति।
महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३)

(१) "कोई दण्ड से दमन करते है, कोई शस्त्र और कोड़े से भी, तथागत के द्वारा बिना दण्ड, बिना शस्त्र के ही मै दमन किया गया हूँ। बड़ी बाढ़ में डूबते हुए, बुद्ध की शरण आया, देखो शरणागति के प्रभाव को। भव जाल सिमट गया।" अंगुलिमाल की उक्ति, देखिए अगुलिमालसुत्त (मज्झिम० २।४।६)

का विषय न बनाएँगे, क्योकि इस पर कुछ विचार हम द्वितीय प्रकरण में ही कर चुके हैं। हाँ, साख्यादि दर्शनो के विषय मे ऐतिहासिक तत्व को लेकर यद्यपि यहा भी कुछ कहना आवश्यक जान पडा है। वैसे इस प्रकरण में विशुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष की ही प्रधानता रक्खी गई है। चूकि इस सैद्धान्तिक पक्ष के भी अपेक्षित मूल्य अकन में कभी-कभी जो वडा भ्रम हो जाता है, जिससे कभी वडे-वडे विद्वान् भी मुक्त नही हो पाते, वह यह है कि जो एक सिद्धान्त प्रकारान्तर से दो दर्शन-सम्प्रदायो में उपलब्ध होता है उसके आधार पर झट अपनी श्रद्धानुसार एक को दूसरे का ऋणी वना दिया जाता है। योगभाष्य के औषध शास्त्र के 'चतुर्व्यूह'[1] और बुद्ध के चतुरार्य सत्यो को लेकर बडी आसानी से एक या दूसरी वात कही जा सकती है, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी का मार्ग वडा कठिन है। निश्चय ही वह खड्ग की धारा पर चलता है जिस पर गिरने में देर नही लगती। जहाँ ऐतिहासिक ज्ञान का विशेष प्रकाश नही है वहाँ तो यह पतन कितना नीचे जा सका है, इसका कोई अनुमान ही नही। भगवान् कुमारिल बौद्धो पर यह आरोप लगाते है, कि वे वैदिक वस्तुओ को लेकर उन्हे अपनी कहकर व्यर्थ प्रलाप करते हैं[2] किन्तु उन मनीषी आचार्य को स्वय यह विदित नही था कि वे स्वय अपने याज्ञिक परिष्कारो के लिए या अन्य अनेक विचारों के लिए अज्ञात रूप से बौद्धो के कितने ऋणी थे। इन सब तथ्यों से ऐतिहासिक गवेषक को तो अपने प्रकाश के अनुसार सत्य ही निकालना ठहरा। फिर समालोचनात्मक अध्ययन की एक फिसलने वाली चट्टान यह भी है कि हमारी अनेक पालित मान्यताएँ होती है जिन्हे तथ्यो के प्रकाश में हमें छोडना पडता है, परन्तु हम छोडने को उद्यत नही होते। समान को समान और असमान को असमान ठीक रूप से दिखा देना निष्पक्ष अध्ययन की अन्तिम कसौटी है। साधारण मस्तिष्क अपने मानसिक राग-द्वेष के ही प्रकाश मे तथ्यों की व्याख्या करने में प्रवृत्त होता है। जो कुछ भी सत्य हो उसे स्वीकार करने में मुझे विप्रतिपत्ति नही होगी, इतना बौद्धिक वैराग्य उसके लिए सदा सम्भव नही होता। 'यदीद स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्[3]' ऐसा धर्मकीर्ति के समान

---

(१) देखिए आगे 'योग-दर्शन' का विवेचन।
(२) देखिए तन्त्रवार्तिक में से इसी विषय का एक अत्यन्त उपयुक्त उद्धरण, मैक्समूलर : हिस्ट्री ऑफ ऐन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४३-४४
(३) प्रमाण वार्तिक २।२०९

कहनेवाले विचारक अधिक नही हुए है ? श्रुति की अपने मत से विरुद्ध व्याख्या करनेवालो के लिए भी 'तथापि वेदार्थश्चेत् स्यात् काम भवतु न मे द्वेष'[१] ऐसा कहने के लिए सिवाय शकर और किस की वाणी प्रवृत्त हो सकी है ? स्वतन्त्र और निष्पक्ष विचार अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। यहाँ प्रयत्न मात्र ही किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन अथवा मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' नाम देने का विनम्र प्रस्ताव उपस्थित किया है। यह न तो वेदान्त के प्रति लेखक के चिपटने या उसे आत्यन्तिक महत्त्व देने के परिणाम-स्वरूप है यद्यपि प्रत्येक भारतीय दर्शन का निष्पक्ष विद्यार्थी ऐसा करने का लोभ करेगा। और न बौद्ध दर्शन की औपनिषद दर्शन के प्रति सर्वांश में एकात्मता प्रतिपादित करने के प्रयत्न स्वरूप ही है। जब मैं मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन वेदान्त' या 'जन-वेदान्त' कहता हूँ तो वेदान्त शब्द से मेरा तात्पर्य होता है या तो केवल प्राचीनतम उपनिषदो से ही या ज्ञान के चरम अवसान से ही। उपनिषदो के ऋषियो ने जिस ज्ञान का प्रवर्तन किया वह एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक और तात्विक उपदेश था, अथवा उपनिषदो की भाषा में ही कहे तो 'गुह्य आदेश था।'[२] निश्चय ही यह गुह्य आदेश सब के लिए नही हो सकता था जब कि प्रतर्दन, जानश्रुति, आरुण, उपकोशल और बृहद्रथ जैसे साधक भी बिना कठिन साधना का मूल्य चुकाये उसके मन्दिर में प्रवेश नही पा सके थे। उपनिषदो के आध्यात्मिक यज्ञ सम्बन्धी विचार, उनके परा विद्या सम्बन्धी उद्गार, उनके द्वारा ज्ञानवाद का प्रचार, उनके 'अणोरणीयान महतो महीयान्' सम्बन्धी उपदेश, निश्चय ही साधारण जनता के लिए नही हो सकते थे। भगवान् तथागत ने अपने अनुभव के आधार पर जिस धर्म का, जिस शील, समाधि और प्रज्ञा का एव सबसे अधिक व्यापक मैत्री भाव का, साधारण जनता मे प्रचार किया, वह सब अपने व्यवहार-पक्ष में तो उपनिषदो के समान था ही अपनी तात्विक प्रतिष्ठा के लिए भी उन्ही पर आश्रित है, ऐसा हम आज कह सकते है। साधारण जनो के लिए, 'बहुजनों' के लिए, वेद का, ज्ञान का, पर्यवसान क्या हो सकता है, इसी का निरूपण बुद्ध ने किया है और इसीलिए सम्भवत वे उसकी तात्विक व्याख्या में नही गए

---

(१) बृहदारण्यक भाष्य ४।३।६

(२) मिलाइये 'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्' ! अमरकोश; वेदार्थ की गोपनीयता के लिये देखिये ऋ० १।७२।१

है। किन्तु साधारण जन के ज्ञान से तात्पर्य यहाँ निम्न कोटि के ज्ञान से नहीं है, केवल उच्चतम विशुद्ध वास्तविक ज्ञान के ही साधारण जनो में प्रसारित स्वरूप से है। यह बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' कहे जाने का सक्षिप्त स्पष्टीकरण है। आत्मवाद और अनात्मवाद की कठिनाई का वैसे चतुर्थ प्रकरण में ही समाधान किया जा चुका है और आगे इस प्रकरण में भी उसपर विचार किया जायगा। कुमारिल जैसे कट्टर मीमासक ने भी बौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रभवत्व' स्वीकार किया है[1] और इस रूप में उसे प्रमाण भी माना है। वास्तव में वैदिक दर्शन के सामान्य स्रोत से ही समस्त श्रौत परम्परा के दर्शनो का और उसी प्रकार बौद्ध दर्शन का भी उद्गम माने विना हम भारतीय दर्शन-परम्परा के ऐतिहासिक स्वरूप को कुछ समझ ही नहीं सकते। जव 'उपनिषत्प्रभवत्व' बौद्ध दर्शन का कुमारिल जैसे आचार्य के साक्ष्य पर सिद्ध है तो फिर हम यह कैसे स्वीकार न करें कि जिस प्रकार अन्य न्याय, साख्य, मीमासा आदि अनेक दर्शन अपने अपने विचारो को अपने अपने मतो की पुष्टि करने के लिए प्रसारित करते है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन भी करता है, फिर चाहे वह वेद के प्रामाण्य को स्वीकार भले ही न करता हो। फिर वेद के प्र माण को स्वीकार करके भी साख्य मीमासादि दर्शन कही-कही उसके मन्तव्य के कितने दूर और वेद के प्रामाण्य का तीव्रतम प्रत्याख्यान करके भी बौद्ध आचार्य कही-कही वेद के मन्तव्य के कितने समीप पहुँच गए हैं, यह भी तो भारतीय दर्शन में एक अत्यन्त स मास्वदनीय और विचारणीय प्रश्न है। सभी 'आस्तिक' दर्शनो का पर्यवसान 'वेदान्त' में है और सर्वांश में वही 'श्रौत' दर्शन भी है। श्रुति का तात्पर्य (यदि उसे प्रमाण रूप से ग्राह्य समझा जाय तो) एक ही हो सकता है, किन्तु उत्तरकालीन वेदान्त के आचार्यो ने पाच प्रकार से उसकी व्याख्या की है और सव ने श्रुति का ही आश्रय और प्रमाण लेकर। उनके पारस्परिक विवादो का इतिहास ही वताता है कि वे उपनिपदो के अथवा यो कहिए कि वेद या ज्ञान के अन्तिम तात्पर्य के सम्बन्ध में मतैक्य नही रखते हैं। जिस प्रकार शिव, विष्णु, राधा और कृष्ण की उपासना करने वाले भी अपने मत के अन्त में 'वेदान्त' की सज्ञा लगा लेते थे (यथा माध्व-वेदान्त, रामानुज-वेदान्त, वैष्णव वेदान्त आदि) उसी प्रकार उन सवको माया विशिष्ट चैतन्य की कोटि में डालनेवाले अदम्य परिव्राजकाचार्य शकर भी अपने अध्यास-

(१) देखिए आगे पूर्वमीमासा दर्शन का विवेचन।

वाद को 'यया चायमर्थ. सर्व वेदान्तानाम्' ऐसा कहकर 'वेदान्त' के रूप में उसकी स्थापना भी कर सकते थे जो उनसे विरुद्ध 'वेदान्त' वादियो की दृष्टि में 'असच्छास्त्र' ही हो सकता था। फिर नैयायिक, साख्य और मीमासको के प्रति विरोध तो सभी उत्तरकालीन वेदान्तवादियो का प्राय. समान ही है, अपने अपने दृष्टिकोणो को लेकर और सभी ने ब्रह्मसूत्रो के आधार पर उनका खण्डन भी किया है। हमारा तात्पय यहाँ केवल यह दिखाने का है कि जिस प्रकार न्याय दर्शनादि की बहुत सी मान्यताओ का खण्डन करके भी एव आपस में अनेक विभिन्नताएँ रखते हुए भी, औपनिषद मन्तव्य के विषय में सभी उलझते हुए भी, अपनी प्रमाण-परम्पराओ में भी समान रूप ग्रहण न करते हुए भी (केवल श्रुति-प्रामाण्य को छोडकर और वह भी प्रकान्तर से अपने अपने ढगो के अनुसार) सभी शकर, रामानुज, वल्लभ आदि के सम्प्रदाय 'वेदान्त' की सज्ञा ग्रहण करते है, तो अन्तिम ज्ञान की ही खोज में लगे हुए धर्मकीर्ति, नागार्जुन, असग, वसुवन्धु आदि आचार्यों के मतो को उनके विरोधियो के मतो के समान ही 'वेदान्त' की सज्ञा क्यो न दी जाय ? वे तो स्वय 'अद्वयवादी' होने का दावा तक करते है। शकर के पूज्याभिपूज्य गुरु तक तो उनकी परम्परा में है। फिर जिस प्रकार शकरादि मनीषी औपनिषद मार्ग के साक्ष्य का दावा लेकर ज्ञान की अन्तिम गवेषणा में प्रवृत्त होते है, उसी प्रकार बौद्ध आचार्य बुद्ध के द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण करके ही ज्ञान के अन्त की थाह पाने का प्रयत्न करते है, अत. उन्हे केवल भारतीय दर्शन की सर्वोत्तम विचार-परम्परा अर्थात् 'वेदान्त' दर्शन के साथ उनका सम्वन्ध दिखाने के लिए और कुछ कुछ उनके महनीय विचारो के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करने के लिए ही, अन्य किसी प्रयोजन से नही, यदि हम 'बौद्ध वेदान्त' (अर्थात् बौद्ध दृष्टि से ज्ञान का चरम निष्कर्ष) के प्रस्थापन करने वाले कहे तो कदाचित् यह उन्हे भी नही अखरेगा और साथ ही शकरादि मनीषियो की महिमा भी कुछ नही घटेगी। निश्चय ही बौद्ध आचार्यों की परम्परा ज्ञान की गवेषणा में साहसपूर्वक उसके पर्यवसान पर्यन्त तक गई है, और निर्भय पूर्वक अभियान करते हुए उसका तथाकथित 'अभावावसान' प्रतिषेध भी क्या वास्तव में 'अभावावसान' ही हुआ है अथवा 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध करनेवाले मनीषी वेदान्ताचार्य भी उसी के पास पहुँचे है और इस प्रकार विपरीत मार्गो पर चलते हुए भी दोनो ने प्रकारान्तर से 'नेति होवाच याज्ञवल्क्य.' अथवा 'स एष नेति नेत्यात्मा' की औपनिषद भूमि पर ही पैर जमाया है, यह हम आगे देखेंगे। परमार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए भी दोनो किस

प्रकार समा। मार्ग के गामी बने है, इसका भी विवेचन हम करेंगे। जिसे अद्वैत वेदान्त का निर्गुण-निराकार कहा गया है वही भूमि बौद्धो के विज्ञप्ति मात्रता की है। दृष्टि-भेद को छोड दें तो दोनो एक समान है, 'वेदान्त' हैं। उपर्युक्त कारणो से ही हम मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' और उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन को 'बौद्ध वेदान्त' के नामो से अभिहित करने में प्रवृत्त हुए हैं। किन्तु अभी तो प्रारम्भ से ही इन तथ्यो के उपराग में हमें भारतीय दर्शन-परम्पराओ का अध्ययन करना नही होगा। अभी हम स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से प्रत्येक भारतीय दर्शन का बौद्ध दर्शन से मिलान करेंगे और तभी हम कुछ कह सकेंगे। वास्तव में तो 'यदीद स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्' ऐसी वुद्धि हमें सदा रखनी है, क्योकि वेद और ज्ञान अनन्त है।

इस दृष्टि से विचार करने पर न तो यहाँ बौद्ध दर्शन को ही श्रौत दर्शनो के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है और न बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त दर्शनो को ही बौद्ध दर्शन की भावना में व्याख्यात करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार न तो एक तरफ बौद्ध दर्शन में कुछ भी नवीन न दिखाने का प्रयत्न कर बुद्ध और वौद्ध दर्शन की भारतीय दर्शन के प्रति अत्यन्त मौलिक देनो पर पानी फेर दिया गया है, और न दूसरी तरफ बुद्ध और वौद्ध दर्शन के ही गीत गाकर भारतीय दर्शन मे अन्य सब को उसके शेषत्व के रूप में वर्णित किया गया है। जो जैसा है उसको उसी रूप में दिखाकर लेखक ने केवल दर्शन को समग्रता की ओर इगित मात्र किया है। कही-कही लेखक ने एक उचित सीमा में विनम्रतापूर्वक अपने मत का निदर्शन भी आवश्यक समझा है जो गलत भी हो सकता है और सही भी, किन्तु जिसके ऐसा होने पर उसके अध्ययन की महत्ता घटती नही। प्रत्येक दर्शन और उ के आचार्यो की परम्परा को अ य दर्शन और उ।॥ आचार्यों की परम्परा के साथ ही रखकर अध्ययन किया गया है जो ऐतिहासिक और तात्विक दोनो ही दृष्टियो से समीचीन है। इस प्रकार वौद्ध दर्शन की अन्य दर्शनो के साथ तुलना करने पर, जैसे कि उदाहरणत वौद्ध दर्शन की न्याय दर्शन से तुलना करने पर, वुद्ध और उनके मन्तव्य को अक्षपाद और उनके मन्तव्य के साथ ही तुलना का विषय वनाया गया है और इसी प्रकार दोनो दर्शनो के उत्तरकालीन आचार्यों का पारस्परिक अध्ययन लिया गया है। इसी प्रकार शाक्यमुनि के व्यक्तित्व और विचार की तुलना औपनिषद मनीषियो से ही की गई है जिनके प्रज्ञान सभी 'नास्तिक' और 'आस्तिक' प्रज्ञप्तियो से निरपेक्ष है और उत्तरकालीन वौद्ध आचार्यो को ही उत्तरकालीन वेदान्त के

आचार्यों के सम्पर्क में लाया गया है। फिर एक वडी कठिनता जो अनुभूत की गई है वह यह है कि भारतीय दर्शनो में से प्राय सभी का एक विशेष ऐतिहासिक विकास है और जैसे श्रौत परम्परा में साख्य-मीमासादि दर्शनोकी उसी प्रकार वौद्ध दर्शन में शून्यवाद आदि चिन्तन प्रणालियो की उनके वहुकालव्यापी ऐतिहासिक विकास में एक विविध स्वरूपता दृष्टिगोचर होती है जो सभी सामान्य व्यवस्थित अध्ययन की असफलता पर स्मित सा करती है। साख्य के निरीश्वरवाद और माध्यमिको के शून्यता-दर्शन की अभावात्मक व्याख्या पर कोई सामान्य निर्णय नहीं दिया जा सकता, कारण कि ग्रन्थ-ग्रन्थ में उनके स्वरूप में परिवर्तन है जो किसी एक सामान्य नियम में वाधा नही जा सकता। इस ऐतिहासिक विकास के तथ्य को ऐसे स्थानो में दिखा देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया है, वजाय उनके किसी एक ही स्वरूप को लेकर निश्चयात्मक निर्णय करने के। जहाँ वौद्ध दर्शन का किसी अन्य दर्शन के साथ कोई ऐतिहासिक सम्वन्ध नही है, वहाँ केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही निरूपण कर सक्षिप्त समीक्षा उपस्थित की गई है। मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा के विषय में ऐसा ही किया गया है, क्योकि जव इन भक्त कवियो ने भगवान् के गुण गा-गाकर साधारण लोक मे तत्सवन्धी जीवन दर्शन की स्थापना की तो वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वौद्ध विचारको के सघर्ष या सम्पर्क में नही आए किन्तु फिर भी उनके (विशेषत सन्तो के) विचार का वौद्ध विचार से 'तुलनात्मक अध्ययन तो अवश्य सम्भव हो सकता है, अत विशुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में ही इस विषय पर विचार किया गया है, यद्यपि महायान धर्म के अन्तिम विकास रूप सहजयान की साधना सन्त मत पर क्या प्रभाव छोड गई, इसका कुछ ऐतिहासिक निर्देश करना भी आवश्यक समझा गया है। कहा तक सभी वातो का स्पष्टीकरण किया जाय, तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन में गिरने के अनेक स्थल हैं। न जाने कितनी वार इनमे गिरना होगा, ठीक नहीं कहा जा सकता। पूर्व ऋषियो और मार्ग-निर्माताओ को प्रणाम करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है? तो फिर सभी दर्शनो के उद्भावको, शास्ताओ और उनके मार्ग को प्रशस्त करने वाले मनीषियो के प्रति यह विनम्र प्रणा ाज ले है। वे सभी इस श्रद्धालु सत्य गवेषक के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट करें। हे शकर! हे औपनिषद मनीषियो! हे निर्ग्रन्थो! हे भक्ति रसामृतसिन्धु में निरन्तर अवगाहन करनेवाले शतसहस्र भक्त—कवि-दार्शनिको! सभी कृपा करो विद्याभीप्सी इस जन पर कि यह आपके मन्तव्यो को जानकर तदनुसार आचरण कर सके। हे सम्यक् सम्बुद्ध! हे अनुपम शास्ता! हे पुरुष-दम्य-सारथी! हे धर्ममेघ!

प्रकार समा न मार्ग के गामी बने है, इसका भी विवेचन हम करेंगे। जिसे अद्वैत वेदान्त का निर्गुण-निराकार कहा गया है वही भूमि बौद्धो के विज्ञप्ति मात्रता की है। दृष्टि-भेद को छोड दें तो दोनो एक समान है, 'वेदान्त' है। उपर्युक्त कारणों से ही हम मूल बुद्ध-दर्शन को 'बहुजन-वेदान्त' और उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन को 'बौद्ध वेदान्त' के नामो से अभिहित करने में प्रवृत्त हुए है। किन्तु अभी तो प्रारम्भ से ही इन तथ्यो के उपराग में हमें भारतीय दर्शन-परम्पराओ का अध्ययन करना नही होगा। अभी हम स्वतन्त्र और निष्पक्ष रूप से प्रत्येक भारतीय दर्शन का बौद्ध दर्शन से मिलान करेंगे और तभी हम कुछ कह सकेंगे। वास्तव में तो 'यदीद स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्' ऐसी बुद्धि हमे सदा रखनी है, क्योकि वेद और ज्ञान अनन्त हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर न तो यहाँ बौद्ध दर्शन को ही श्रौत दर्शनो के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है और न बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त दर्शनो को ही बौद्ध दर्शन की भावना में व्याख्यात करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार न तो एक तरफ बौद्ध दर्शन में कुछ भी नवीन न दिखाने का प्रयत्न कर बुद्ध और बौद्ध दर्शन की भारतीय दर्शन के प्रति अत्यन्त मौलिक देनो पर पानी फेर दिया गया है, और न दूसरी तरफ बुद्ध और बौद्ध दर्शन के ही गीत गाकर भारतीय दर्शन में अन्य सब को उसके शेषत्व के रूप में वर्णित किया गया है। जो जैसा है उसको उसी रूप में दिखाकर लेखक ने केवल दर्शन की समग्रता की ओर इगित मात्र किया है। कही-कही लेखक ने एक उचित सीमा में विनम्रतापूर्वक अपने मत का निदर्शन भी आवश्यक समझा है जो गलत भी हो सकता है और सही भी, किन्तु जिसके ऐसा होने पर उसके अध्ययन की महत्ता घटती नही। प्रत्येक दर्शन और उ के आचार्यों की परम्परा को अ य दर्शन और उ । आचार्यों की परम्परा के साथ ही रखकर अध्ययन किया गया है जो ऐतिहासिक और तात्विक दोनो ही दृष्टियो से समीचीन है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की अन्य दर्शनो के साथ तुलना करने पर, जैसे कि उदाहरणत बौद्ध दर्शन की न्याय दर्शन से तुलना करने पर, बुद्ध और उनके मन्तव्य को अक्षपाद और उनके मन्तव्य के साथ ही तुलना का विषय बनाया गया है और इसी प्रकार दोनो दर्शनो के उत्तरकालीन आचार्यो का पारस्परिक अध्ययन लिया गया है। इसी प्रकार शाक्यमुनि के व्यक्तित्व और विचार की तुलना औपनिषद मनीषियो से ही की गई है जिनके प्रज्ञान सभी 'नास्तिक' और 'आस्तिक' प्रज्ञप्तियो से निरपेक्ष है और उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यो को ही उत्तरकालीन वेदान्त के

आचार्यों के सम्पर्क में लाया गया है। फिर एक बडी कठिनता जो अनुभूत की गई है वह यह है कि भारतीय दर्शनो में से प्राय सभी का एक विशेष ऐतिहासिक विकास है और जैसे श्रौत परम्परा में साख्य-मीमासादि दर्शनोकी उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में शून्यवाद आदि चिन्तन प्रणालियो की उनके बहुकालव्यापी ऐतिहासिक विकास में एक विविध स्वरूपता दृष्टिगोचर होती है जो सभी सामान्य व्यवस्थित अध्ययन की असफलता पर स्मित सा करती है। साख्य के निरीश्वरवाद और माध्यमिको के शून्यता-दर्शन की अभावात्मक व्याख्या पर कोई सामान्य निर्णय नहीं दिया जा सकता, कारण कि ग्रन्थ-ग्रन्थ में उनके स्वरूप में परिवर्तन है जो किसी एक सामान्य नियम में बाधा नही जा सकता। इस ऐतिहासिक विकास के तथ्य को ऐसे स्थानो में दिखा देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा गया है, बजाय उनके किसी एक ही स्वरूप को लेकर निश्चयात्मक निर्णय करने के। जहाँ बौद्ध दर्शन का किसी अन्य दर्शन के साथ कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नही है, वहाँ केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही निरूपण कर सक्षिप्त समीक्षा उपस्थित की गई है। मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा के विषय मे ऐसा ही किया गया है, क्योकि जब इन भक्त कवियो ने भगवान् के गुण गा-गाकर साधारण लोक में तत्सबन्धी जीवन दर्शन की स्थापना की तो वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध विचारको के सघर्ष या सम्पर्क में नही आए किन्तु फिर भी उनके (विशेषत सन्तो के) विचार का बौद्ध विचार से 'तुलनात्मक अध्ययन तो अवश्य सम्भव हो सकता है, अत' विशुद्ध सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में ही इस विषय पर विचार किया गया है, यद्यपि महायान धर्म के अन्तिम विकास रूप सहजयान की साधना सन्त मत पर क्या प्रभाव छोड गई, इसका कुछ ऐतिहासिक निर्देश करना भी आवश्यक समझा गया है। कहा तक सभी बातो का स्पष्टीकरण किया जाय, तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन में गिरने के अनेक स्थल है। न जाने कितनी बार इनमें गिरना होगा, ठीक नही कहा जा सकता। पूर्व ऋषियो और मार्ग-निर्माताओ को प्रणाम करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है? तो फिर सभी दर्शनो के उद्भावको, शास्ताओ और उनके मार्ग को प्रशस्त करने वाले मनीषियो के प्रति यह विनम्र प्रणामाजलि है! वे सभी इस श्रद्धालु सत्य गवेषक के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट करें। हे शकर! हे औपनिषद मनीषियो! हे निर्ग्रन्थो! हे भक्ति रसामृतसिन्धु में निरन्तर अवगाहन करनेवाले शतसहस्र भक्त—कवि-दार्शनिको! सभी कृपा करो विद्याभीप्सी इस जन पर कि यह आपके मन्तव्यो को जानकर तदनुसार आचरण कर सके। हे सम्यक् सम्बुद्ध! हे अनुपम शास्ता! हे पुरुष-दम्य-सारथी! हे धर्ममेघ!

हे समन्त चक्षु ! आपसे तो कुछ कहना ही क्या, क्योंकि आप सभी उपाधियों से विमुक्त हैं। किन्तु फिर भी अपनी भावना की विशुद्धि के लिए कहता हूँ—हे निर्वाण-प्राप्त मुनि ! जिस तथागत-प्रवेदित-धर्म को आप आर्य-धर्म और आर्य-विनय कहकर पुकारा करते थे, उसी के विस्तृत स्वरूप के साथ हे देवातिदेव ! मैं आपके मन्तव्य को मिलाकर देखना चाहता हूँ। मुझे प्रकाश मिले।

अ—बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान

वैदिक ज्ञान का उदय और उसकी महत्ता

मानव-सभ्यता के उष काल में, प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों की धुधली सन्धिवेला में, वैदिक ज्ञान का प्रकाश सत्य द्रष्टा ऋषियों के प्रकृति-विशुद्ध मानस में पड़ा[1]। मिस्र, यूनान, असीरिया और बेबीलान की प्राचीनतम सभ्यताओं के आविर्भाव से शताब्दियों पूर्व, सप्त सिन्धव के प्रदेश में, सिन्धु और गंगा के पुनीत अञ्चल में, ब्रह्मावर्त की देवनिर्मिता पुण्यस्थली में[2], जिस आर्य संस्कृति का जन्म और पोषण हुआ, उसी की अक्षय देन विश्व-मानव को वेद विद्या के रूप में मिली। वेद भारत के प्राचीनतम ज्ञान के भाण्डार, उसके सांस्कृतिक, दार्शनिक और सामाजिक आदर्शों के मूर्तिमान् प्रतीक और उसके समग्र राष्ट्रीय जीवन के शेवधि स्वरूप हैं। उसके गौरवशाली अतीत के वे सर्व प्रथम साक्षी, उसकी समस्त सद्विद्याओं के बीज रूप और प्रतिष्ठास्थान और उसकी समस्त धार्मिक और दार्शनिक विकास-परम्परा के वे सदा अत्यन्त श्रद्धा और साथ ही समस्या के भी विषय रहे हैं। हिन्दु-हृदय के लिए वे परम पुरुष स्वयम्भू से उद्भूत[3] और उन्हीं के साक्षात् निःश्वास स्वरूप हैं[4]।

(१) तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्मस्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। निरुक्त (तपस्यमान ऋषियों के हृदयों में स्वयम्भू वेद प्रकट हुए, यही ऋषियों का ऋषित्व है) मिलाइये, तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे। मनु ११।२४३, ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र है, रचयिता नहं, देखिये, कौषीतकि ब्राह्मण १०।३०, ऐतरेय ब्राह्मण ३।७

(२) सरस्वती दृशद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।। मनु० २।१७

(३) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। ऋग्वेद—पुरुष सूक्त (१०।१९०।९)।

(४) अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो, बृहदारण्यक० २।४।१०

पितृ, देव और मनुष्यो के वे सनातन चक्षु है। अपौरुषेय और अप्रमेय है[१]। चार वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्यत्, इन सब की सिद्धि वेद से ही है[२]। धर्म की जिन्हे जिज्ञासा करनी है, उनके लिए वेद ही अन्तिम प्रमाण है[३]। सभी स्मृतियाँ अपने प्रामाण्य के लिए वेद की ही ऋणी है और पुराणो की भी प्रामाणिकता का यही मापदण्ड है कि वे वेद के ही अर्थो का भली भाँति समुपवृ हण करें[४], उसके ही निगूढ मन्तव्यो को लौकिक भाषा में समझावें। वेद की महिमा के विषय में अधिक क्या कहा जाय, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण स्वय ब्रह्म की स्थिति भी तो बौद्धिक रूप में वेद रूप 'शास्त्र-योनित्व' पर ही अन्त में अवलम्बित है[५]। भारतीय जीवन के विभिन्न सस्कारों में वेद की जो महिमा प्रतिष्ठित है, उसके विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नही। हमें यही जानना है कि दार्शनिक क्षेत्र में वेदो का महत्व कम नही है। भारतीय दर्शन की वे प्रथम और अतुल सम्पत्ति है। उपनिषदें वेद के वहिर्भूत नही है, वल्कि श्रुति (उपनिषद्) और वेद पर्यायवाची शब्द है[६], और वैदिक ज्ञान का परम विकास उपनिषदो के रूप में ही हुआ है। यद्यपि आत्मविद्या के सामने उपनिषदें मन्त्रो और ब्राह्मणो के सग्रह रूप वेद को और उससे उपलब्ध ज्ञान को अधिक महत्व नही देती और यज्ञ-मय धर्म की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ या यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या ही उन्हें अधिक प्रिय है, किन्तु फिर भी विद्रोह की हल्की भावना के साथ-साथ उनके प्रति उनकी श्रद्धा और समन्वयात्मक बुद्धि

---

(१) पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षु. सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थिति। मनु० १२।९४

(२) चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा. पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति। मनु० १२।९७

(३) धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति.। मनु० २।१३; वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। वहीं २।६

(४) मिलाइये, इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपवृहयेत्। महाभारत, मिलाइये, वेदा॰ प्रतिष्ठिता देवि पुराणे नात्र संशयः। विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ नारद-पुराण।

(५) शास्त्रयोनित्वात्। ब्रह्मसूत्र १।१।३; मिलाइए अतएव च नित्यत्वम्। वहीं १।३।२९

(६) श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो। मनु २।१०

भी सर्व विदित है[1] । फिर षड्दर्शन की परम्परा में तो सभी दर्शन-सम्प्रदाय श्रुति-प्रामाण्य को स्वीकार करते ही है और अपने-अपने ढगो से सभी वेदो के पुजारी है, अथवा ठीक तो यो कहना चाहिए कि उनकी वेदाविषयक भक्ति ही, फिर कहीं कही चाहे वह केवल शब्दो में ही क्यो न हो, उन्हे 'आस्तिक' दर्शनो में परिगणित कराने के लिए उत्तरदायी है । इस प्रकार न्याय दर्शन 'शब्द' को प्रमाण मानता हुआ वेदो को ईश्वरोक्त मानता है एव उनके प्रामाण्य को स्वीकार करता है । वैशेषिक दर्शन भी पीछे न रहकर वेद को ईश्वर (तत्) का मानकर ही उसके प्रामाण्य को स्वीकार करता है[2]। साख्य को निरीश्वरवादी सिद्ध करने के लिए हम 'ईश्वरासिद्धे' आदि जो कोई प्रमाण ढूढ निकालें और चाहे भले ही यह जान ले कि दु ख-त्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिए साख्य की 'दृष्ट' के समान ही 'आनुश्रविक' विधान में भी कोई आस्था नही क्योकि वह उसके लिए 'अविशुद्धि', 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त है, किन्तु यह सब होते हुए भी हम इस तथ्य से इनकार नही कर सकते कि साख्याचार्य वेदो के नित्यत्व और स्वत प्रमाण को मानते है और जहां प्रत्यक्ष और अनुमानकी उनके अनुसार गति नही चलती वहा आप्तश्रुति रूप आप्तवचन ही उन्हें प्रमाणके रूपमें मान्य है । प्रत्यक्ष और अनुमान के सहित ही आगम को भी प्रमाण मानना योगदर्शन की एक सामान्य बात है[3] । पूर्वमीमासा का तो आधार ही बिलकुल वेद है और उसे नित्य और प्रमाण रूप मानने में मीमासको को सामान्य रूप से कोई आपत्ति नही[4] । फिर गीताकार ने भी तो वेद-वाद में आसक्त जनो की 'पुष्पिता वाणी' की कुछ निन्दा भी कर, वैदिक प्रज्ञान को कुछ त्रैगुण्य का भी विषय वता, अपरोक्षानुभूति सम्पन्न महात्माओ के लिए उसकी आपेक्षिक कम महत्ता को भी स्वीकार कर, अन्त में सव वेदो के द्वारा वेद्य स्वय सर्वशक्तिमान् प्रभु ही को तो वताया है[5]। भगवान् ब्रह्मसूत्रकार के लिए तर्क यद्यपि एक आवश्यक वस्तु है, किन्तु उसकी अप्रतिष्ठा होने के कारण वेद भी प्रमाण के रूप में उन्हे ग्राह्य है। भगवान् शकर भी, जिनकी अपूर्व तर्क-प्रणाली की भारतीय दर्शन में समता मिलना दुर्लभ है, और जो स्वय सदसद्वि-

---

(१) देखिए आगे उपनिषदों के दर्शन का वर्णन ।
(२) देखिए आगे न्याय-वैशेषिक दर्शन का विवेचन ।
(३) देखिए आगे साख्य-योग दर्शन का विवेचन ।
(४) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमासा' पर विवेचन ।
(५) सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यो--गीता । देखिए आगे गीता-दर्शन का विवेचन ।

वेक में वुद्धि को छोडकर अन्य कोई साधन ढूढ़ नही सकते, श्रुति को सहस्र माता-पिताओ से भी अधिक कल्याण करनेवाली मानते हुए अध्यात्म-चिन्तन में उसके अनन्य उपासक हैं; अध्यात्म विरहित कुतर्क और कुतार्किको की भरपूर निन्दा कर श्रुत्यनुगृहीत तर्क के वे प्रतिष्ठापक हैं[1]। महा मनीषी आचार्य गौडपाद की भी विलकुल यही स्थिति है[2]। इसी प्रकार भगवान् रामानुज, मध्व, निम्वार्क और वल्लभ भी अपनी-अपनी दृष्टियो से वेदो के उपासक है और उन्हें प्रमाणस्वरूप मानते है। तन्त्रो के विषय में भगवान् शकर की भले ही यह धारणा रही हो कि वे 'अवैदिक' है, किन्तु आचार्य रामानुज, यामुन और वेदान्तदेशिक आदि उन्हें ऐसा मानने को तैयार नहीं है। फिर मध्यकालीन भक्तो की भी वेद भक्ति देखने योग्य ही है। ब्रह्मवादी ज्ञानेश्वर और समर्थ रामदास ने तो स्थान-स्थान पर वेद की स्तुति की ही है, गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ में ही 'वन्दहुँ चारो वेद ..... जिनहि न सपनेहु खेद वरनत रघुवर विमल जसु' कहकर वेद के प्रति अपनी भक्ति दिखाई है और अन्यत्र भी 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ', 'नाना पुराण निगमागम सम्मत यत्' आदि वाक्यो के द्वारा राम भक्ति के प्रतिपादन में श्रुति को आधार स्वरूप ग्रहण किया है। तुलसीदास को वेद की अतुलित महिमा का पूरा पता था। वे जानते थे कि इसी की निन्दा के कारण 'विदित वुद्ध-अवतार' निन्दित हो चुका है[3]। इसलिये राम-भक्ति की स्थापना के लिये उनकी वेद-स्तुति की तत्परता को हम भली प्रकार समझ सकते है। इसी प्रकार राम की स्तुति करते हुए समर्थ रामदास के ये शव्द भी स्मरणीय है 'जयाची लिला वर्णिती वेदवाणी[4]। नुपेक्षी कदा देव दासाभिमानी' आदि[4]। स्वतत्र-प्रज्ञ ब्रह्मज्ञानी कवीर साहव भी तो जिनकी प्रतिगामिता के विषय में

(१) देखिए आगे शांकर दर्शन और वौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्वन्ध का विवेचन।

(२) निश्चितं युक्तियुक्त च यत्तद्भवति नेतरत्। माण्डूक्य कारिका ३।२३

(३) तुलसी महिमा वेद की अतुलित किये विचार।
जेहि निन्दत निन्दित भयो विदित वुद्ध अवतार॥ दोहावली।
तुलसीदास का यह साक्ष्य अत्यन्त मार्मिक है और तृतीय परिच्छेद में वौद्धधर्म नास्तिकत्व के सम्वन्ध में जिन निष्कर्षों पर हम पहुचे हैं, उनके मेल में है।

(४) 'मनाचे श्लोक'।

बहुत कुछ कहा जा सकता है और जिन्होने स्वय लोक और कुल की मर्यादा के साथ-साथ वेद की मर्यादा को भी 'गले की फाँसी' कहा है,[1] अपने को वेद-विरोधी समझे जाने के लिए अपने युग के पुरुषो को फटकारते हुए सिंहनाद करते हैं 'वेद पुरान कहा किन झूठा झूठा जोइ न विचारै।' बहुना किं, उदार महात्मा जायसी की जिन्होने एक मुस्लिम वश में जन्म ग्रहण किया, ये उदार वाणिया भी उस प्रभाव की परिचायक है जिसे वेद ने मुस्लिम साधको पर भी डाला है, 'वेद पन्थ जे नहिं चलहिं ते भूलहिं बन माँझ', 'झूठ बोल फिर रहे न राचा। पण्डित सोइ वेदमत साचा।' 'वेद वचन मुख साच जो कहा। सो जुग-जुग अहिथिर होइ रहा।' करोडो हिन्दू भावनायें भी इस अवस्था को नही पहुँच सकती। वैदिक प्रज्ञान की सच्चाई की कैसी स्पष्ट गवाही है। उसके शाश्वत सत्य का कैसा मार्मिक साक्ष्य है—'सो युग-युग अहिथिर होइ रहा।' फिर मध्य-युग को छोड कर आधुनिक युग में आने पर ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व में तो निश्चय ही एक बार ऐसा लगा कि वैदिक युग का ही प्रत्या-वर्तन हुआ है और गत शताब्दी के उत्तर भाग से लेकर आज तक वैदिक अध्ययन की ओर जो ध्यान पूर्व और पश्चिम के विद्वानो का गया है, वह चाहे वेदो के धार्मिक महत्व के कारण उतना न हो, परन्तु मानव सस्कृति के विकास में उनका, विशेषत ऋग्वेद का, एक निश्चित स्थान होने के कारण उनकी महिमा की स्वीकृति तो उसमें है ही। अत भारतीय समाज, साहित्य, धर्म और दर्शन पर वेदो की एक अमिट छाप तो पडी ही है, विश्व सस्कृति के अध्ययन में भी उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है, इसमें सदेह नही। किन्तु जबकि यह सब सत्य है, यह तथ्य भी कुछ कम सत्य और सार्थक नही है कि भारतीय दर्शन की स्वतत्र विचार-परम्परा को अवश्य कुछ धक्का लगता यदि वेदो के प्रामाण्य की सीमा से बाहर अर्थात् उनसे सर्वथा निरपेक्ष रहकर केवल अनुत्तर स्वानुभूति के आधार पर ही महनीय विचार भी नही किया जाता, छान्दोग्य उपनिषद् की भावना में त्रयी विद्या से ऊपर किसी ज्ञान की कल्पना नही की गई होती, किसी भी ग्रथ-प्रमाण का स्वतत्र साक्ष्य स्वीकार न कर केवल बुद्धि रूप ऋषि के ही हाथ में सब कुछ सत्ता नही दे दी गई होती, केवल विशुद्ध अनुभव के ही क्षेत्र में विशुद्ध आचारतत्व की स्थापना नही की गई होती, परमार्थ का स्वतन्त्र चिन्तन कर उसकी अधिगति का एक अनुपम मार्ग दिखला कर ही। यदि सर्वत्र ग्रथ प्रमाण की ही तूती

(१) लोक बेद कुल की मर्यादा इहै गरै में फासी।

भारतीय दर्शन में वजती, तो स्वतंत्र विचारको को उसमें कोई आश्वासन न रहता, र तन्त्रचेता पुरुषो के लिए उसमें कोई आकर्षण न वचता। धार्मिक सम्प्रदायो से अलग हम दर्शन को कैसे समझ पाते, उसकी समस्याओ पर निष्पक्ष रूप से हम विचार कैसे कर सकते? वौद्ध और जैन दर्शन जो मानवीय विचार के क्षेत्र में एक अत्यन्त ऊँचा स्थान रखते है, वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार नही करते और केवल इसी प्रवृत्ति का यह अनिवार्य परिणाम है कि मूल वातो में और विशेषत' आचार तत्व के प्रस्थापन में ये दर्शन-सम्प्रदाय तथोक्त आस्तिक दर्शनो के साथ अत्यन्त समीप होते हुए भी एक विलकुल अनुचित रूप से, जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, उन जडवादी नास्तिको के साथ परिगणित किए गए है, जो न लोक में विश्वास रखते है न परलोक में, न जिनके लिए कोई आचारतत्व है और न कोई आदर्श विधान तथा जिनके लिए वेद जैसे महाग्रथ 'मुनि, भाड़ और निशाचरो' की कृतियाँ मात्र है।' जैसे-जैसे स्वतंत्र विचार को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा और विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो के तुलनात्मक अध्ययन में गम्भीर विद्वान् प्रवृत्त होगे, वैसे ही हम वौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन के एक पूर्णरूप से विभिन्न या विपरीत दर्शन रूप में देखने से हिचकेंगे और और भविष्य के चिन्तको का यह एक लक्ष्य होगा कि वे किसी एक ग्रथ-विशेष के प्रामाण्य स्वीकार करने अथवा न करने पर ही भारतीय दर्शन सम्प्रदायो का वर्गीकरण न कर इस विषय में एक नई दिशा का प्रवर्तन करेंगे। तभी हम तथागत के विषय मे महात्मा ईसा के के समान कह सकेंगे कि वे 'पूर्णता प्रदान करने के लिए आये थे, विनाश करने के लिए नही।' किस प्रकार वैदिक अध्यात्मवाद को पूर्णता वुद्ध-शासन के मानवतावादी रूप में मिली है, इसे दिखाना भारतीय साधना के कल्याणकारी विकास के लिए आवश्यक होगा। वैसे यदि वैदिक प्रज्ञान वौद्ध दर्शन के विरोध के फलस्वरूप भी टिक सकता है, तो सम्यक् सम्वुद्ध के मार्ग के विषय में भी यह आसानी से कहा जा सकता है कि वह अपनी सत्यता की सिद्धि के लिए वेद या किसी अन्य ग्रथ के साक्ष्य की अपेक्षा नहीं रखता। सत्य दोनो में व्याप्त है और उसे हमें समझना है। वास्तव में समन्वयपूर्वक जो देखता है वही कदाचित् ठीक देखता है। सभी सत्य-गवेषी एक ही मार्ग से गए हैं और उस मार्ग का खोजना ही दर्शन का प्रधान व्यवसाय है। इस प्रकार वेद की महिमा और भारतीय दर्शन में उसके स्थान का कुछ सक्षिप्त उल्लेख कर अव हम उसका कुछ और विस्तृत तात्विक विवरण और विकास

क्रम उपस्थित करेंगे और फिर बौद्ध-दर्शन के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होगे ।

जैसा कि पूर्व निवेदन किया जा चुका है, वैदिक दर्शन का विभाजन तीन विकास-क्रमो में किया जा सकता है—ऋक्‌दर्शन, ब्राह्मण-दर्शन और उपनिषद्-दर्शन । प्रथम विकास-क्रम में हम ऋग्वेद की ऋचाओ और उनके दर्शन पर विचार करते है। वास्तव में तो 'दर्शन' जैसी कोई वस्तु अपने पारिभाषिक अर्थों में ऋचाओ में उपलब्ध नही होती। किन्तु उनमें, जैसा कि पश्चिमी ढग के विद्वान् प्राय कहने में बहुत दिलचस्पी रखते है, मनुष्य-जाति के प्रभात-काल की सुगन्ध और नैसर्गिकता अवश्य है। इन्द्र,-वरुणादि देवताओ को आह्वान करने की उपस्तुतियो के रूप में ही ये ऋचायें प्रधानत स्मरणीय है और इनके माध्यम से ही हम उस समय के आर्य ऋषियो अथवा कवियो की भावनाओ का कुछ दिग्दर्शन कर सकते है। इन स्तुतियो में कही ऋषियो की भक्तिमयी विकलता, कही निर्व्याज सरलता, कही अशुभ कर्म के लिए उनके हृदय की अद्‌भुत जलन, कही एक अखण्ड विश्वव्यापी नियम में उनकी आस्था, कही प्रकृति की विभिन्न शक्तियो के अन्दर एक नियामक प्रभु को देखने की उनकी सरल अनुभूति आदि बातें स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। कही-कही 'ऋषियो से मै पूछता हूँ, जाननेवालो से, स्वय नही जानता हुआ' इस प्रकार दार्शनिक जिज्ञासायें भी ऋषियो के हृदय के अन्दर उद्‌भूत हुई है[1]। ऋग्वेद की उपस्तुतियो का अथवा उसके दैवत तत्व का मार्मिक रहस्य क्या है, इसके विषय में अभी विद्वान् एकमत नही हो सके हैं। जितने मुह है, उतनी ही बातें है[2]। किन्तु उनसे हमें यहा विशेष प्रयोजन भी नही है। एकेश्वरवाद की भावना इस युग में अवश्य दृढ दिखाई पडती है[3]। गम्भीर नैतिक भावना भी दृष्टिगोचर होती है और न केवल देवताओ

वैदिक दर्शन के तीन स्पष्टतर स्तर—ऋग्दर्शन, ब्राह्मण-दर्शन और उपनिषद्-दर्शन—वैदिक दर्शन की विकास परम्परा का सक्षिप्त निदर्शन

(१) देखिए ऋ० १०।१२१; १०।८२।७; १।१६४।५-६

(२) विभिन्न दृष्टिकोणों के लिए देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६८-७०

(३) देखिए ऋ० १०।११४; मिलाइये निरुक्त० ७।५; ऋ० १०।८८।१५ १।१२५।५; १०।१०७।२

के प्रति, वल्कि मनुष्यों के प्रति भी कर्तव्य की तत्कालीन ऋषियो को अनुभूति है[1]। किन्तु फिर भी धर्म विशेषतया दैवतमय ही है। हा, अभी उसमें कृत्रिमता के लिए गुजाइश नही है। वाह्य विधानो की अपेक्षा मत्रो से ही ऋषि यज्ञ करना अधिक अच्छा समझते है[2]।

ऋग्वेदीय युग और समाज का ब्राह्मणकालीन यज्ञयागादि की परंपरा में से गुजर कर स्वाभाविक रूप से उपनिषदों की प्रवृत्तियों पर आना—बुद्ध के द्वारा प्रकारान्तर से उन्हीं का प्रवर्तन करना और उन्हें आगे बढ़ाना

किन्तु समय आगे चलता है। वैदिक धर्म के विकास में एक नए युग का आगमन होता है। देवताओ की स्तुति मत्रो के द्वारा करने के लिए वाह्य नियमो का विधान होता है। मत्रो का 'सहिताओ" के रूप में सकलन होता है। सहिता युग के वाद वाह्य यज्ञयागादिमय ब्राह्मण-युग का प्रवर्तन होता है। अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड की सृष्टि होती है। वहुत से विचारक इस सवसे घवर कर वनो में जाकर 'आरण्यक' वनते हैं। उन्ही की परम्परा में से औपनिषद ऋषि निकलते है जो यज्ञयागादिमय विधान के स्थान पर विशुद्ध ज्ञान के पक्षपाती हैं। इन्ही की परम्परा का प्रवर्तन करनेवाले और उसे आगे वढानेवाले, जैसा कि हम अभी देखने का प्रयत्न करेंगे, सम्यक् सम्वुद्ध है। अभी हम वैदिक दर्शन की उपर्युक्त तीन विकास की अवस्थाओ का वौद्ध दर्शन के साथ तात्विक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करें और विश्लेषणात्मक रूप से देखें कि वैदिक दर्शन और वौद्ध दर्शन दोनो में क्या सवध है और दोनो की एक दूसरे के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से क्या प्रतिक्रिया थी।

ऋग्वेदीय धर्म और देवता-तत्त्व तथा मृत्यु, 'पुनर्जन्म' और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तो का एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से सम्बध

सहिताओ का दर्शन प्रारभिक है, जवकि वुद्ध-दर्शन के आविर्भाव की पृष्ठभूमि में एक महान् दार्शनिक परम्परा निहित है, जिसमें स्वय सहिताए भी सम्मिलित है। ऋग्वेदीय युग में धर्म नितान्त दैवतमय था और देवताओ से मनुष्य के कल्याण के लिए अनेक प्रकार की स्तुतिया की गई थी। किन्तु वुद्ध-दर्शन की इससे उच्चतर दार्शनिक परिस्थिति है। वहा मनुष्य के तेज को स्वय देवो की महिमा से तीव्रतर करने का प्रयत्न किया

(१) देखिए ऋ० १०।११७
(२) देखिए ऋ० १।२।९।२

गया है। मनुष्य को देवताओ से ऊपर उठाया गया है। देवताओ के आधिपत्य से मनुष्य को मुक्त किया गया है। 'धर्म' की व्याख्या भी यहा अधिक व्यापक है और देवताओ से उसका कोई सपर्क नही है। यहा 'ऋत' अपनी समग्र महिमा में विद्‌यमान है, किन्तु उसका 'धाता' कोई वरुण देव यहा नही है। धृतव्रत यहाँ स्वय मनुष्य ही है। वरुण पाप करने वाले के लिए कृपालु है,[1] किन्तु भिक्षु तो मैत्री भावना से समग्र दिशाओ को ही आप्लावित करने वाला है।[2] वैदिक ऋषि कभी-शत्रुओ को पराजित करने के लिये भी देवताओ से प्रार्थना करते थे, परन्तु शाक्यमुनि के शासन में तो किसी को शत्रु मानने का ही कोई कारण न रहा, जहाँ मैत्रीपूर्ण चित से लोक को आपूरित कर देने का ही एकमात्र आदेश था। जिस कार्य को वैदिक ऋषि नदियो के प्रवाहित करने में,[3] सूर्य को चमकाने और चन्द्रादि ग्रहो को अपने नियम में रखनेवाले,[4] सूर्य की ही चक्षुवाले, आकाश के ही वस्त्रवाले और पवन के ही नि श्वास वाले[5] वरुण देव से लेते थे, वही काम बुद्ध के दर्शन में दुर्घर्ष विश्वव्यापी नियम से लिया गया जिसकी सज्ञा प्रतीत्य समुत्पाद है। ऋषियो के लिए जिस प्रकार अग्नि पिता, बन्धु, भ्राता और मित्र था[6], उसी प्रकार बुद्ध के दर्शन में 'कर्म' (कम्म) ही केवल अपना हो गया है और उसी के द्वारा हम पहुचाते हैं अपने को देव या देव समान अवस्थाओ तक भी[7]। दैवत तत्व का बुद्ध के विशुद्ध नैतिकवाद से कोई सबध ही नही है, किन्तु बुद्ध उस तत्व को सर्वथा निराकरण करने में समर्थ हुए हो अथवा उसका उन्होंने अपने उद्देश्य के लिए प्रयोग ही नही किया हो, ऐसी भी बात नही है। वैदिक देवो को (विशेपत ब्रह्मा और इन्द्र को) उन्होंने उपदेशो में अनेक बार प्रयुक्त किया है, परन्तु उनकी उपासना के लिए नही, बल्कि अपने

(१) द्रष्टव्य ऋ० ७।८७।७

(२) देखिए तेविज्ज सुत्त (दीघ १।१३)

(३) द्रष्टव्य ऋ० १।२४।८; २।२८।४, ७।८७।५

(४) द्रष्टव्य ऋ० १।२४।१०; १।२५।६; १।४४।१४; २।१४; २।२८।८; ३।५४।१८; ८।२५।२

(५) देखिए ऋ० ७।८७।२

(६) मिलाइये ऋ० १०।७।३

(७) मिलाइये ऋ० २।६

नैतिक निष्कर्षों को निकालने के लिए ही। वैदिक देवता बुद्ध-पुरुष से नीची अवस्था मे ही पालि त्रिपिटक में अक्सर दिखाये गये है। कही वे बुद्ध या उनके शिष्यो की छोटी-मोटी शारीरिक सेवाएँ करते दिखाये गये है, कही उनसे उपदेश ग्रहण करते हुए, कही (सहापति ब्रह्मा के समान) उनसे याचना करते हुए और कही उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानवीय जन्म भी ग्रहण करते हुए। यह स्मरण रख लेना यहाँ आवश्यक होगा कि बौद्ध धर्म के नैतिक प्रभाव में आकर ऋग्वेद का उद्धत और कदाचित् अनैतिक इन्द्र भी विनम्र और सुशील बन गया है। हाँ, मानवतावादी बुद्ध ने देवताओ के अस्तित्व से इन्कार नही किया गया है, यह महत्वपूर्ण तथ्य भी यहा स्मरण रख लेना आवश्यक होगा। इसी प्रकार दिशाओ की पूजा आदि के तत्वो की उन्होने गूढ नैतिक व्याख्या की है जो पालि त्रिपिटक में अनेक स्थानो में दृष्टिगोचर हो सकती है।[1] ऐसी प्रवृत्ति का भारतीय वाङ्मय में अन्यत्र भी अभाव नही है और यह उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि का एक प्रधान लक्षण है। सग्राहक रूप से हम कह सकते है कि नाना देवताओ की अथवा उनके अधिपति किसी एक देव की उपासना में सम्यक् संबुद्ध की कोई श्रद्धा नही दीखती, कम-से-कम वह उनका मार्ग नही है। मनुष्य के निर्बल हृदय के लिए कुछ विवेचको की दृष्टि में देवो के आश्वासन की चाहे भले ही जरूरत पडती हो, ऋग्वेद की ऋचाएँ, विशेषतः वरुण आदि की उपस्तुतियाँ (जिनमें भक्ति की भावनाएँ मार्मिकता के साथ भरी पडी हैं) मनुष्य के इस अभाव और सहायता की पूर्ति अवश्य करती कही जायँ, किन्तु जहाँ विचार का कुछ अधिक प्रकर्ष है, मनुष्य को अपने वीर्य में कुछ अधिक विश्वास है, वहाँ तो तथागत का मार्ग ही अधिक आकर्षण रखता है। यह उनके दर्शन की एक विशेषता है कि 'धर्म' की गभीरतम अनुभूति तो उनकी विचार-प्रणाली में उपस्थित है, किन्तु एक या अनेक देवो का कोई पता नही है। यही ऋग्दर्शन का बुद्ध के दर्शन से विशेष विभेद है। मृत्यु, पुनर्जन्म और मोक्ष सबंधी विषयों मे तो दोनों विचार-प्रणालियो में अत्यन्त विभेद है ही, किन्तु केवल एक अविकसित और विकसित प्रणाली का ही, कोई मौलिक नही।

---

(१) देखिए सुत्तनिपात (सभिय सुत्त) एवं सिगालोवाद सुत्त (दीघ०); मिलाइये डा० वापट का 'सुत्तनिपात' का संस्करण, भूमिका, पृष्ठ २७

हम कह सकते हैं कि वह समग्र भारतीय दार्शनिक विचार की ही एक प्रकार से आवार-भूमि है, जिससे पूर्व की न केवल भारत की ही किन्तु विश्व की भी विचार-परिस्थिति का कोई पता [नही।

ऋग्दर्शन के विकास की तीन अवस्थाओं का अथवा एक ही प्रकृत विकसित अवस्था के तीन स्वरूपों का, देवबहुत्व, एकेश्ववरत्व और एकात्मत्व का, बुद्ध के विचार के साथ सम्बन्ध

ऋग्दर्शन के विकास में विद्वानो ने तीन क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है। अथवा हम यो भी कह सकते है कि एक प्रकृत विकसित अवस्था के तीन स्वरूप हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होते है, अर्थात्, देववहुत्व, एकेश्वरत्व और एकात्मत्व। इनका सवध ईश्वर अथवा सत्ता सवधी प्रश्नो को लेकर है, जिनके विषय में भगवान् बुद्ध ने या तो मौन रक्खा है या जिन्हे 'अव्याकृत' किया है। अत यद्यपि इन सिद्धातो का ऋग्वेद के दर्शन के विवेचन में विशेष महत्व है, किन्तु सम्यक् सम्वुद्ध को इनके विषय में कुछ नही कहना है जो कि हमारा प्रधान विषय है, इसलिए इनके विवेचन से हम यहाँ अवश्य ही विराम ले सकते है। एकात्मतत्व के साथ अपने नैतिक रूप में बुद्ध-विचार का वहुत कुछ सवध है और चूकि एकात्मतत्व मुख्यत उपनिषदो का विषय है, अत उनके उपदेशो की समानता और असमानता बुद्ध-दर्शन के साथ दिखाने के समय ही हम अभी आगे इस विषय पर आयेंगे।

संहिता और मन्त्रों के विषय में बुद्ध के कुछ उद्गार और उनके अर्थ

अभी हम सहिताओ की श्रुतियो आदि के विषय में भगवान् तथागत के कुछ उद्गारो को देखें ताकि यह सवध अधिक सरल और सुगम हो जाय। प्रथम तो हमें इस सवध में यह याद रखना चाहिए कि सहिताओ और मत्रो की परम्परा उस समय भारत में प्रचलित अवश्य थी और लोगो को उसके विषय में प्रश्न पूछने की दिलचस्पी भी थी और भगवान् भी उस परम्परा से पूर्ण रूप से अवगत थे। 'द्रोण! जो तेरे पूर्व के ऋषि, मत्रो के कर्ता, मत्रो के प्रवक्ता थे, जिनके पुराने मत्रपद को इस समय ब्राह्मण गीत के अनुसार गाते है। प्रोक्त के अनुसार प्रवचन करते है, भाषित के अनुसार भाषण गाते हैं, स्वाध्यायित के अनुसार स्वाध्याय करते हैं, वाचित के अनुसार वाचन करते है, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि,

अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु[1]'। मन्त्रकर्ता ऋषियो की यह नामावली भगवान् को विदित थी। इसी विषय में भारद्वाज नामक ब्राह्मण भगवान् से प्रश्न भी पूछता है 'हे गौतम! जो वह ब्राह्मणो का पुराना मंत्र पद (,'वेद') इस परम्परा से पिटक (वचन समूह) है, उसमें ब्राह्मण पूर्ण रूप से निष्ठा रखते है कि, यही सत्य है, और सब झूठा। इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं? कितना स्पष्ट प्रश्न है। अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित भगवान का उत्तर भी कितना स्पष्ट है 'क्या भारद्वाज! ब्राह्मणो में एक भी ब्राह्मण ऐसा है जो कहे कि मैं इसे जानता हू, इसे देखता हू 'यही सत्य है और सब झूठा' क्या भारद्वाज! ब्राह्मणो का एक आचार्य भी, एक आचार्य-प्राचार्य भी, परमाचार्यो की सात पीढी तक भी, ब्राह्मणो के पूर्वज ऋषि भी, अट्टक, वामक, ... क्या उन्होने भी कहा, हम इसको देखते है,हम इसको जानते है'यही सत्य है और सब झूठा"। "नही हे गौतम[2]!" 'तो फिर भारद्वाज! ब्राह्मणो में एक भी ब्राह्मण नही है जो कह सके 'मै जानता हूँ' मै देखता हूँ 'यही सत्य है और सब झूठा। भारद्वाज! अंध वेणु परम्परा (अंधो की लकडी का तांता), लगी हो, पहले वाला भी नही देखता, बीच का भी नही देखता, पिछला भी नही देखता। ऐसे ही भारद्वाज! ब्राह्मणो का कथन अन्धवेणु (अंधे की लकडी, के समान) है, पहले वाला भी नही देखता, बीच का भी नही देखता, पिछला भी नही देखता। तो क्या मानते हो भारद्वाज! क्या ऐसा होने पर ब्राह्मणो की श्रद्धा अमूलक नही हो जाती'।[3] इस प्रकार भगवान् ने अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ज्ञान की ही महत्ता मानी है और स्वय जानकर और स्वय साक्षात्कार कर (सयं अभिञ्ञा सच्छकित्वा) वह कह सके कि ऐसा मैं जानता हूं, ऐसा मैं साक्षात्कार करता हू, केवल 'इतिह इतिह' कहने से काम नही चल सकता, फिर चाहे वह वैदिक प्रज्ञान के ही विषय में क्यो न हो। किसी भी सत्य का वास्तविक 'ऋषि' तो मनुष्य को होना ही चाहिए। तभी वह सत्य के विषय में कुछ कह सकता है। और इसकी उस समय बडी कमी थी। ब्राह्मणो की अत्यन्त पतित

---

(१) द्रोणसुत्त (अंगुत्तर ५।५।२;) देखिए चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।५)

(२) चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।५)

(३) चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।५)

अवस्था थी, इसके त्रिपिटक में अनेक प्रमाण हैं[1]। फिर भगवान् वैदिक प्रज्ञान की एकमात्र महत्ता इस प्रक र स्वीकार नही कर सकते थे कि यही सत्य है और सब झूठा। ये अत्यन्त साहसिक पद है। अत बुद्ध का मन्‍ व्य वेद के सहिता भाग के प्रति न तो सर्वांश में सत्य होने का था और न वे इसके साथ समग्र वैदिक कर्मकाड की परमार्थ की प्राप्ति में विशेष आवश्यकता या महत्ता ही अनुभव करते थे, यह हम अभी आगे ब्राह्मण-दर्श के प्रति उनकी प्रतिक्रिया को दिखाते समय मूल त्रिपिटक के आधार पर दिखाने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इसके पहले हम भगवान् की उन पूर्व ऋषियो के प्रति आदर-बुद्धि का प्रकाशन और कर दें जो एक अत्यन्त सरल ढग से यज्ञ करते थे और जिनके आचरण अत्यन्त पवित्र थे। ये ऋषि सभवत सहिता काल के ही हो सकते हैं, क्योकि इसी युग में इस प्रकार का सरल यज्ञमय विधान प्रचलित था। कुछ-कुछ इसे हम ब्राह्मण-युग का भी परिचायक कह सकते हैं। 'पुराने ऋषि सयमी और तपस्वी होते थे। पच कामगुणो को छोड वे अपना अर्थ (ज्ञान, ध्यान) करते थे। उस समय ब्राह्मणो को न पशु थे, न हिरण्य, न अनाज। वे स्वाध्याय रूपी धन-धान्यवाले थे। ब्रह्मनिधि को पालन करते थे। नाना रग के वस्त्रो शयन और आवसथो (अतिथिशालाओ) से समृद्ध जनपद राष्ट्र उन ब्राह्मणो को नमस्कार करते थे। ब्राह्मण अवध्य, अजेय, धर्म से रक्षित थे, कुल द्वारो पर उन्हे कभी कोई नही रोकता था।

. . . . .

वे तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी और तेल को मागकर धर्म के साथ निकालकर यज्ञ करते थे। यज्ञ उपस्थिति होने पर वे गाय को नही मारते थे'[2]। ब्राह्मणत्व की महिमा का कितना सुन्दर प्रस्यापन है, साथ ही वैदिक युग के निर्व्याज स‌माज और पशु-हिसा के अभाव का कितना वडा साक्ष्य भी। इसको देखकर कौन बुद्ध को पूर्व ऋषियो का निन्दक कह सकता है? हां, जहां उनकी सर्वज्ञता का सवाल है वहां तो तथागत का स्वय अपनी सर्वज्ञता के समान ही एक विभिन्न मत है और इसके लिए तथागत का बुद्धि-स्वातन्त्र्य सर्वथा सराहनीय है। अब हम ब्राह्मण-युगीन-दर्शन परम्परा पर आते है।

(१) देखिए सुनक सुत्त (अगुत्तर ५।४।४१)
(२) ब्राह्मण धम्मिय सुत्त (सुत्त निपात २।७); मिलाइये द्रोण सुत्त (अंगुत्तर ५।४।५।२)

ब्राह्मणयुगीन यज्ञयागादिमय धर्म ही वह वस्तु है, जिस के विरुद्ध बुद्ध की आवाज संभवत तीव्रतम है और इस विषय में वे उपनिषद की प्रवृत्तियो के समान ही है अथवा उनसे भी कुछ आगे वढे हुए है । सहिताओं में जो दर्शन निहित है उसी का कर्मकाड-मय-स्वरूप ब्राह्मण युग में हुआ । मन्त्रो के साथ-ही-साथ एक जबरदस्त पौरोहित्य का भी उदय इस युग की घटना है। पुजारी भी देवो के समान ही समझे जाने लगे[१]।

ब्राह्मणयुगीन यज्ञयागादिमय धर्म के प्रति सम्यक् सम्बुद्ध की प्रतिक्रिया—इस विषय में औपनिषद मनीषियों से उनकी समानता

और यज्ञ कर करके मनुष्यो की अभिलाषा वढने लगी अमृतत्व हासिल करने की[२]। तीनो[३] वेदो को नित्य और अपौरुषेय मानने की प्रवृत्ति का भी उदय और सवसे अधिक वेग समवत इसी समय हुआ। वेदो को ईश्वर प्रदत्त वताया गया[४], परमपुरुष के नि श्वास उन्हे घोषित किया गया[५] और उनकी प्रामाणिकता को एक दृढतम भित्ति पर स्थापित किया गया इसी युग में। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस एक तथ्य समग्र ने भारतीय दर्शन के विकास को प्रभावित किया। वैदिक अध्ययन एक पण्डितवाद की वस्तु हो गया और सुनिश्चित परम्परा के विरुद्ध जाने का किसी को भी साहस न होने लगा। विरुद्ध विचार प्रकट करने पर भी व्याख्याकार ऊपर से दुहाई देते रहे वेद केप्रति वफादारी की और अनन्य श्रद्धा- वुद्धि की ही। कितनी चतुरता के साथ उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में परस्प

---

(१) देखिए शतपथ ब्राह्मण २।२।२।६, २।४।३।१४
(२) देखिए शतपथ ब्राह्मण ३।१।४।३; ऐतरेय ब्राह्मण २।१।१
(३) इस समय तीन ही वेद माने जाते थे, देखिए ऋ०१०।९०।९; ५।७।१; तैत्तिरीय २।२-३; ऐतरेय ब्राह्मण० ५।२२; वृहदारण्यक० १।५।५, छान्दोग्य २।१।७; मनु० ३।१४५; ४।१२४, ११।२६३, १२।११२; पालित्रिपिटक में भी तीन विद्याओ (तेविज्ज) का ही उल्लेख है। मिलाइये गीता ९।२१ में मे 'त्रैविद्या' जो पालि के 'तेविज्ज' के समान है।
(४) ऋ० १।३७।४; ३।१८।३
(५) शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।१; द्रष्टव्य पुरुष सूक्त (ऋग्वेद) भी ।

विरोधी सिद्धातो को एक ही वेद का प्रामाण्य स्वीकार कर और उसी का साक्ष्य लेकर स्थापित किया गया है, यह इसी से स्पष्ट है। स्वतत्र विचार को तो इससे धक्का पहुचा ही, कुछ ल भ भी इससे अवश्य हुआ कि मनुष्य केवल वुद्धिवादी न रहकर वुद्धि को अनुभूति से,।जैसी कि वह वेद में प्रतिष्ठित थी, सीमित करने लगे। बुद्ध की इसके प्रति प्रतिक्रिया देखनी ही होगी और करनी होगी उपनिषदो के साथ इसकी तुलना भी। तो फिर और बातो से पहले हम दो प्रधान बातो को, एक तो वैदिक कर्मकाण्ड को और दूसरे वेद प्रामाण्य को ले, जो दो प्रवृत्तियाँ इस-युग में प्रधान थी। भगवान् बुद्ध वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध नहीं थे, किन्तु वे उसके सम्यक् मूल्य को आकनेवाले थे जैसे कि उपनिषदें। तीनो वेदो में पारगत वावरि ब्राह्मण का शिष्य 'पुण्णक' भगवान् से पूछता है 'भगवन्! किस कारण ऋषियों, मनुष्यो, क्षत्रियो, ब्राह्मणो ने यहाँ लोक में देवताओ के लिये पृथक् पृथक् यज्ञ कल्पित किये, यह पूछता हूँ, भगवान् बतलावें।'

भगवान्—'जिन किन्ही ऋषियो, मनुष्यो, क्षत्रियो, ब्राह्मणो ने यहा लोक में देवताओ के लिए पृथक् पृथक् यज्ञ कल्पित किए, उन्होने इस जन्म की चाह रखते हुए जरा आदि से अ-मुक्त होकर ही किए।'

पुण्णक—'जिन किन्ही ने यज्ञ कल्पित किये, भगवन्! क्या वे यज्ञ पथ में अप्रमादी थे? हे मार्ष! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए? हे भगवन्! तुम्हे यह पूछता हूँ, मुझे बताओ।'

भगवान्—'वे जो आशसन करते, स्तोम करते, अभिजल्प करते, हवन करते है सो लाभ के लिए कामो को ही जपते है। वे यज्ञ के योग से, भव के राग से रक्त हो जन्म-जरा को पार नही हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।'

पुण्णक—'हे मार्ष! यदि यज्ञ के योग से, यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नही हुए, तो मार्ष! फिर लोक में कौन देव जन्म-जरा को पार हुए? तुम्हें पूछता हूँ। हे भगवान् इसे वतलाओ।'

भगवान्—'लोक में वार पार को जान कर जिसे लोक में कही भी तृष्णा नहीं, जो शात, दुश्चरित-रहित, रागादि विरत, आशारहित है, वह जन्म जरा को पार कर गया, कहता हूँ[१]'। उपर्युक्त सवाद और उपदेश इतना सरल और स्वय व्य ख्यात है कि इसे व्याख्या की अपेक्षा नही। लेन-देन रूपी व्यापार की भावना पर प्रति-

(१) सुत्तनिपात ५।३ (पुण्णक माणव पुच्छा)

ष्ठित[1] याज्ञिक धर्म के समर्थक तृष्णा के उच्छेदकशाक्यमुनि कभी नहीहोसकते । भगवान् बुद्ध के अनुसार वैदिक कर्मकाण्ड विशुद्धि का मार्ग नही है। नन्द ब्राह्मण (बावरि का एक शिष्य) भगवान् से पूछताहै 'लोग कहते है कि 'लोक मे मुनि हैं।' तो यह कैसे ? उत्पन्न-ज्ञान को मुनि कहते है या कठिन तपयुक्त जीवन से युक्त को।

भगवान्—न दृष्टि (मत) से, न श्रुति से, न ज्ञान से नन्द ! कुशल जन किसी को 'मुनि' कहते हैं। जो विष-सा मानकर लोभरहित, आशारहित, हो विचरते है, उन्हें मै मुनि कहता हूँ।

नन्द—'कोई कोई श्रमण-ब्राह्मण इष्ट या श्रुत से शुद्धि कहते है, शील और व्रत से भी शुद्धि कहते है, अनेक रूप से शुद्धि कहते है मार्ष ! भगवन् ! वैसा आचरण करते क्या वे जन्म-जरा से तर गए होते है ? भगवान्, इसे मुझे वतलाओ'

भगवान्—'जो कोई श्रमण-ब्राह्मण इष्ट और श्रुत. . वे जन्म-जरा को नही तरे

नन्द—'. . यदि मुनि उन्हें ओघ से न पार हुआ कहते है, तो देव ! मनुष्य-लोक में कौन जन्म-जरा को पार हुआ ? हे मार्ष। तुम्हे पूछता हूँ, इसे मुझे वतलाओ।'

भगवान्—'मै सभी ब्राह्मणों को जन्म-जरा से निवृत्त नही कहता। जो कि इष्ट, श्रुत, स्मृत, शील, व्रत सभी छोड, सभी अनेक रूपो को छोड तृष्णा को त्याग, अनास्रव है, उन नरो को मैं ओघ-पार कहता हूँ[2]"।

भगवान् का दृष्टिकोण अत्यन्त ही स्पष्ट है। न तो वैदिक कर्मकाण्ड के करने और न करने में ही वें विशुद्ध का मार्ग देखते हैं, वह तो पथ ही। दूसरा है जो तृष्णा के सम्यक् निरोध से ही और अपने तीव्र प्रयत्न द्वारा ही प्राप्तव्य है। 'मागन्दिय ! न दृष्टि से, न श्रुति से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हू, अ–दृष्टि, अ–श्रुति, अ–ज्ञान, अ–शील, अ–व्रत से भी नही[3]। 'कर्म और श्रुति से भी मुक्ति पद नहीं ले जाया जा सकता। वह तो

(१) 'तुम मुझे यह दो, मैं तुम्हें यह देता हूँ' इस भावना पर प्रायः समग्र याज्ञिक विधान प्रतिष्ठित है, देखिए वाजसनेयि सहिता ३।५०; शतपथ ब्राह्मण २।५।३।१९

(२) नन्द-माणव पुच्छा,सुत्त निपात।

(३) सुत्तनिपात ४।९

तृष्णा आदि निवेशनो में अप्राप्त है।' यही तत्व भगवान् ने एक और स्थान पर भी एक याज्ञिक ब्राह्मण को सिखाया जो उपनिषदो के ऋषियो के ही समान है और उनकी परम्परा की ओर सकेत करता हुआ भी कहा जा सकता है। 'ब्राह्मण! लकडी जला कर शुद्धि मत मानो यह बाहरी चीज है। कुशल लोग उससे शुद्धि नही बतलाते, जो कि बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण! मैं दारुदाह छोड भीतर ही ज्योति जलाता हूँ। नित्य आगवाला, नित्य एकान्त चित्तवाला हो, मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण! यह तेरा अभिमान खरिया का भार (खारिभार है) है, क्रोध धुवाँ है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है, और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण! शील तीर्थ (घाट) वाला, सन्तजनो से प्रशसित, निर्मल धर्म ह्रद है, जिसमें कि 'वेदगू' (वेदज्ञ) नहा कर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। यह ब्रह्म प्राप्ति सत्य, धर्म, सयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है । सो तू ऐसे हवन कियो को नमस्कार, उनको मैं पुरुष-दम्य-सारथी (पुरुषो को नम्र बनाने के लिये सारथी-स्वरूप) कहता हू[1]'। ऐसे 'कुशल लोग', 'ऐसे हवन किए हुए' कौन है। निश्चय ही औपनिषद ऋषि जिन्होने मार्ग पहले सिखाया। पशुहिंसामयी निकृष्ट तपस्या तो बुद्ध को ही नही सभी भारतीय हृदय के लिए घृणा की वस्तु है, किन्तु वास्तविक 'द्रव्य यज्ञ' को भगवान् बुरी वस्तु नही समझते थे और अधिकतर प्रवृत्ति तो उनकी यज्ञादिको को नैतिक व्याख्या प्रदान करने की थी जैसी कि उपनिषदो की आध्यात्मिक व्याख्या प्रदान करने की थी[2]। एक आदर्श द्रव्ययज्ञ का वर्णन करते हुए स्वय भगवान् कहते है 'ब्राह्मण! इस यज्ञ में गौए नही मारी गई,

---

(१) सुत्तनिपात ३।४ । मिलाइये सुन्दरिका भारद्वाज सुत्त (सयुत्त० ७।१।९) भी; मिलाइये 'बहुत से जन यहां नहा रहे है, किन्तु पानी से शुद्धि नहीं होती। जिसमें सत्य और धर्म है, वही शुचि है, वही ब्राह्मण है' जटिलसुत्त, उदान १।९ तथा 'जो सत्य से दान्त, जितेन्द्रिय, वेद के अन्त को पहुँचा (वेदन्तगू) है तथा जिसने ब्रह्मचर्य समाप्त किया है, उसे यज्ञ-उपनीत कहो'। सयुत्त ७।१।९

(२) देखिए बौद्ध दृष्टिकोण के लिए कूटदन्त सुत्त (दीघ० १।५); सोलह परिष्कारोवाली यज्ञ सम्पदा के लिए देखिए उपर्युक्त ही, देखिए सुत्त-निपात भी।

वकरे-भेड़ें नही मारे गए, मुर्ग सूअर नहीं मारे गए, न नाना प्रकार के प्राणी मारे गए। न यूप के लिए वृक्ष काटे गए। जो भी उसके दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने भी दड तर्जित, भय तर्जित हो, अश्रुमुख रोते हुए सेवा नही की। जिन्होने चाहा उन्होंने किया, जिन्होने नही चाहा उन्होंने नही किया। जो चाहा सो किया, जो नही चाहा सो नही किया। घी-तेल, मक्खन, दही, मधु, गुड से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ[१]।' यज्ञो की विशद्धि करनेवाले वुद्ध को उनका निन्दक किसने वताया? उन वेद के अन्त को पहुंचे हुए' ('वेदन्तगू') महात्मा को वेद के विरुद्ध वताना किस दार्शनिक सर्वभौम की करतूत है? उस 'वेदगू' '(वेदज्ञ') के सामने वावरि जैसे मन्त्र-निष्ठ, वेद-पारगत ब्राह्मण और उनके शिष्य भी तो अपनी शकाओ को मिटानेवाले हुए। यदि वहुत से विचारक ब्राह्मणो का वुद्ध के काल में ही यज्ञयागादिमय क्रिया-कलाप छूटा तो यह सव उनके ज्ञान के कारण ही तो हुआ। महान् अग्निहोत्री उरुवेल काश्यप की ही गवाही सुनिए। भगवान् उससे पूछते हैं 'क्या देखकर हे उरुवेल वासी! तप-कृशो के उपदेशक! तूने आग छोडी? काश्यप! तुमसे यह वात पूछता हूँ, तुम्हारा अग्निहोत्र कैसे छूटा?"। "शब्द और रस में, कामभोगो में, स्त्रियो में, कामेष्टि यज्ञ कहते हैं"। काश्यप ने उत्तर दिया "ये रागादि उपाधिया मल हैं, मैंने यह जान लिया, इसलिए मैं इष्ट और हुत से विरत हुआ। मुझे 'जो कुछ समुदय धर्म है वह निरोध धर्म है', यह निर्मल धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ।" भगवान् ने फिर पूछा 'हे काश्यप! रूप, शब्द और रस मे तेरा मन नही रमा, तो देव-मनुष्य-लोक में कहा तेरा मन रमा? हे काश्यप! इसे मुझे वता"। "काम मद में अविद्यमान, निर्लेप, शात, रागादिरहित, निर्वाणपद को देखकर, निर्विकार, दूसरे की सहायता से न पार होनेवाले निर्वाण पद को देखकर मैं इष्ट और हुत विरत हुआ[२]।" विशुद्ध ज्ञान पर प्रतिष्ठित वुद्ध के विचार की वैदिक कर्मकाड के प्रति क्या प्रतिक्रिया हो सकती थी, इसकी एक झलक इस तरह हमने देखी। आचरण पर ही धर्म की वुनियाद माननेवाले वे भगवान् उससे

---

(१) कूटदन्तसुत्त (दीघ० १।५); वेद में प्राणिहिंसा मौलिक नहीं। किन्तु वाद में डाली गई है, इस दृष्टिकोण के लिए देखिए चंकिसुत्त-अट्ठकथा, वुद्धचर्या पृष्ठ २२४

(२) देखिए वुद्धचर्या, पृष्ठ ३६; विनय पिटक—महावग्ग १ भी द्रष्टव्य।

विहीन तत्कालीन ब्राह्मणो की बढ बढ कर बनाई हुई बातो को क्या महत्व दे सकते थे ? 'ये त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोडकर पाँच काम-गुणो को भोग करते हुए, काम के बधन में बधे हुए, काया छोडने पर मरने के बाद ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होगे, यह सभव नही'।[१] ब्रह्मा की सलोकता का उपदेश तो स्वय भगवान् बुद्ध ने दिया है। धन्य उनकी विशाल हृदयता! महान् उनकी समन्वयात्मिका बुद्धि और ब्रह्मवाद की जीवन-व्याख्या! 'त्रैविद्य ब्राह्मण बेरास्ते जा फँसे हैं, फसकर विषाद को प्राप्त हैं। सूखे में मानो तैर रहे है। इसलिए त्रैविद्य ब्राह्मणो की विद्या वीरान भी कही जाती है, विपिन भी कही जाती है, व्यसन भी कही जाती है'। यह भी निर्भीक शास्ता ने कहा और यह किसी के प्रति निन्दा की आवाज नही थी, किन्तु सत्य की पुकार थी जो तथागत की अनुभूति पर प्रतिष्ठित थी। सम्यक् सम्बुद्ध के समय के ब्राह्मण जो कुछ भी उनके ग्रथो में सर्वोत्तम तत्व था उसे अपने में मूर्तिमान् नही दिखा सकते थे, किन्तु बुद्ध और उनके भिक्षुओ में वही मूर्तिमान् देखने को वे विवश थे, अत. बुद्ध को हमें एक पूर्णता प्रदान करनेवाले के रूप में ही देखना चाहिए, विनाशक या निन्दक के रूप में कभी नही। जब वास्तविक जीवन ही हमारे पास नही तो समग्र भारतीय दर्शन की वाणी भी कहती है कि कोई भी धर्मग्रथ अथवा वाङ्मय अध्ययन या कर्मकाड हमारा कुछ नही कर सकता।[२] 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'। यह वेद ने भी तो कहा है तो फिर सम्यक् सम्बुद्ध के ही इस

---

(१) तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय १।१३)

(२) 'वाशिष्ठ! मनसाकट में उत्पन्न और वढे हुए मनुष्य को मनसाकट का मार्ग पूछने पर देरी या जड़ता हो सकती है, किन्तु तथागत को या ब्रह्मलोक जानेवाला मार्ग पूछने पर देरी नहीं हो सकती। वाशिष्ठ! मै ब्रह्मा को जानता हूँ, ब्रह्मलोक को और ब्रह्मलोकगामिनी प्रतिपद् को भी और जैसे मार्गारूढ़ होने से ब्रह्म लोक में उत्पन्न होता है उसे भी जानता हूँ। जैसे वाशिष्ठ! वलवान् शंखध्मा थोड़ी ही मिहनत से चारों दिशाओं को गुंजा देता है, वाशिष्ठ! इसी प्रकार मित्र-भावना से भावित चित्त की विमुक्ति से जितने परिमाण से काम किया है वह यहाँ अवशेष नहीं हो जाता। यह भी वाशिष्ठ! ब्रह्मा की सलोकता का मार्ग है'। तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३)।

कहने में क्या वेद-निन्दा है 'त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं उनको छोड़कर जो अ-ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं, उनसे युक्त होकर कहते हैं, हम इन्द्र को आह्वान करते हैं, हम ब्रह्मा को आह्वान करते हैं, महर्द्धि को आह्वान करते हैं, यम को आह्वान करते हैं, वाशिष्ठ! ये त्रैविद्य ब्राह्मण जो ब्राह्मण बनानेवाले धर्म हैं, उनको छोड़कर आह्वान के कारण काया छोड़ने पर मरने के बाद ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त हो जायेंगे, यह संभव नहीं[1]।' 'ब्रह्मसम' होने का मार्ग तो विशुद्धतम जीवन की प्रतिष्ठा पर ही हो सकता है[2]। और उसी का प्रख्यापन भगवान बुद्ध का एक मात्र विषय है। वैदिक प्रज्ञान में श्रद्धा भगवान् के अनुसार सत्य की अनुरक्षा मात्र कर सकती है और फिर भी जबकि वह एकांश से 'यही सत्य है और सब झूठा' कहनेवाली न हो, किन्तु 'सत्य' का बहुकारी धर्म तो उनके अनुसार 'प्रधान' ही है। "भारद्वाज! सत्य प्राप्ति का बहुकारी धर्म 'प्रधान' है। यदि प्रधान (प्रयत्न) न करे तो सत्य को भी प्राप्त न करे। चूंकि 'प्रधान' करता है, इसीलिए सत्य को पाता है, इसलिए सत्य-प्राप्ति के लिए बहुकारी धर्म प्रधान है[3]।" इस प्रकार बुद्ध के प्रज्ञान के साथ वैदिक कर्मकाण्ड के संबंध को हमने देखा। अब वेद-प्रामाण्य के विषय में कुछ कहना अपेक्षित है। ब्राह्मण ग्रंथों ने वेद को अपौरुषेय और नित्य होने का महत्व दे दिया, यह हम पहले देख चुके हैं, किन्तु हमें इस विषय में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं वैदिक साहित्य में ही इस स्थिति के विरुद्ध अनेक वचन भरे पड़े हैं, जिनको यदि साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं किन्तु निष्पक्ष तात्विक बुद्धि से हम देखें (उत्तरकालीन व्याख्याकारों की चतुरता से भरी हुई युक्तियों के द्वारा नहीं) तो हम इस निष्कर्ष पर आए बिना नहीं रह सकते कि कुछ ऋषि निश्चय ही वेदों को पूर्वज ऋषियों की कृतियां मानते थे और मानते थे कि उनमें मानवीय भावनाओं का प्रकाशन है।[4] इस विषय पर यहां अधिक

---

(१) तेविज्जसुत्त (दीघ० १।१३); जिन ऋचाओं की ओर यहां संकेत हैं उनके लिए देखिए ऋ० १।३५।१; यजु० ३४।३४-३५

(२) देखिए द्रोणसुत्त (अंगुत्तर० ५।४।५।२)

(३) चंकिसुत्त (मज्झिम० २।५।२), देखिए बुद्धचर्या पृष्ठ २२६

(४) देखिए ऋ० १।११७।२; २।३५।२; १०।६७।१; ६।४७।३ जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि अनेक वैदिक ऋषि ऋचाओं को ईश्वरकृत नहीं

कहने की जरूरत नही है। वेद या किसी भी ग्रथ के स्वत प्रमाण को मान लेने का सबसे अधिक और ग्राह्य हेतु यही हो सकता है कि वह सत्य की विनम्र गवेषणा का और अनुभव सम्पन्न महात्माओ की अनुभूतियो के नीचे ही अपनी बुद्धि को रखने का परिचायक हो सकता है, ताकि बुद्धि के द्वारा किए हुए विवेचन जो कभी कभी अवाञ्छनीय मार्गों में भी जा सकते हैं वहाँ से बचे रहे और अध्यात्य साधना विनष्ट न होजो कि भारतीय दर्शन की एक अन्यतम प्रवृत्ति है। इससे अतिरिक्त यदि और किसी हेतु से वेद या अन्य किसी ग्रथ की स्वत प्रामाण्य जैसी कोई बात कही जाती है तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि वह मानवीय बुद्धि की जडता की पहली निशानी है, जैसा कि हम आचार्य धर्मकीर्ति के वाक्य को पहले भी उद्धृत कर चुके हैं। भगवान् बुद्ध स्वय अनुभव सम्पन्न महात्मा हैं, उन्होने अपने अनुभव से सब कुछ पा लिया है, उन्हे वैदिक ज्ञान की आवश्यकता नही है। साधना की चट्टान पर खडे होकर जब उन्होने स्वय ही कह दिया

'ज्ञातव्य को जान लिया, भावनीय की भावना कर ली।
परित्याज्य को छोड दिया, अत हे ब्राह्मण ! मै 'बुद्ध' हूँ'[१]।

तो फिर उन्हें वेद या अन्य किसी ग्रथ के प्रमाण की क्या आवश्यकता हीर, 'इतिह' 'इतिह,' कहकर आचार्यों के समान प्रमाण देने का क्या कारण रहा, स्वय उनको तो वे सत्य की अपरोक्ष अनुभूति करानेवाले हुए। हेमक माणव (बावरि के सोलह शिष्यो में से एक) गिडगिडाकर पूछता है 'पहलो ने मुझे बतलाया था 'ऐसा था' 'ऐसा होगा'। वह सब 'ऐसा' 'ऐसा' (इतिह इतिह) है और तर्क बढानेवाला है। हे मुनि ! मेरा मन उसमें नही रमा, । हे मुनि ! तुम तृष्णा विनाशक धर्म मुझे बतलाओ जिसको जानकर, स्मरण कर, आचरण कर लोक में तृष्णा को पार होऊ'। भगवान् के समाधान किया 'हे हेमक ! यहा इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में छन्द (राग) का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है। इसे जानकर, स्मरण कर, इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त उपशान्त होते है और लोक में तृष्णा को पार कर जाते हैं'[२]। फिर भगवान् का मन्तव्य तो अत्यन्त उदार भी है। जैसा कि

किन्तु अपने अथवा अपने पूर्वजों के द्वारा रचित मानते थे। देखिए राधाकृष्णन् इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ १२९, पदसंकेत ५

(१) सेलसुत्त (मज्झिम० २।५।३)

(२) हेमक माणव पुच्छा—सुत्तनिपात ५।८

उन्होंने 'कालामो' को वताया कि जो कोई भी सिद्धात या मार्ग उनको बुद्धि के अनुकूल जान पडे और जिससे जीवन का परिष्कार हो वह ग्राह्य होने चाहिए फिर चाहे वह कही से भी क्यो न आए हो[१]। इस प्रकार यदि वेद मार्ग सही है तो उसके स्वीकार करने में भी बुद्ध को क्या आपत्ति हो सकती है? प्रजापती गौतमी से भी तो भगवान् ने कहा कि जिन धर्मों को तू अपने लिये उठाने वाले समझे अर्थात् जो धर्म विराग, निरोध और विमुक्ति के लिए हो उन्हे तू ग्रहण करना और जो इनसे विरुद्ध हो उनको छोडना[२]। तो फिर वेद मार्ग यदि शाति और मुक्ति के लिए ही है तो बुद्ध का उसमें क्या विवाद हो सकता है? निरुक्तियो के पीछे तथागत नहीं पड़ते, उनका उद्देश्य तो मनुष्य को अपने वास्तविक महत्व की अनुभूति और साक्षात्कार ही कराना है, विवाद उनका काम नहीं है। हे ब्राह्मण! यह सत्य है, यह किससे कहे', 'यह झूठ है' यह किससे विवाद करे! जिसमें सम विषम नही है वह किससे विवाद करे। जो काम से शून्य, अपने लिए भविष्य को न वनाने वाला है, वह मुनि लोक से विग्रह की कथा

---

(१) कालाम नामक क्षत्रियों से भगवान् ने कहा 'आओ कालामो! मत तुम अनुश्रव से, मत परम्परा से, मत 'ऐसा ही है' से, मत पिटक-सम्प्रदाय से, मत तर्क के कारण से, मत नय (न्याय) के हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चिर विचारित मत के अनुकूल होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत श्रमण हमारा गुरु (वड़ा) है, इस कारण से, विश्वास करो, किन्तु जव कालामो! तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकुशल, ये धर्म सदोष, ये धर्म विज्ञ-निन्दित है, ये ग्रहण किए जाने पर अहित के लिए, दुःख के लिए होते है, तव कालामो! तुम छोड देना'। केसपुत्तिय सुत्त (अंगुत्तर० ३।७।५) बुद्धचर्या, पृष्ठ ३४७

(२) 'गौतमी! जिन धर्मों को तू जाने कि ये सराग के लिए है, विराग के लिए नहीं,.....इच्छाओं के वढाने के लिए है, घटाने के लिए नहीं;..... अनुद्योगिता के लिए है, उद्योगिता के लिए नहीं....., तो तू गौतमी! सोलहों आने जानना कि, न यह धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है।' पजापती सुत्त (अंगुत्तर० ८।२।१।३) बुद्धचर्या, पृष्ठ ८१

नही कहता[1] ।' 'न अपने धर्म की प्रशसा करना, न परधर्म की निन्दा करना[2], यह तथागत का ही नही समग्र भारतीय विचार का ही उपक्रम है। तथागत की तो बात क्या, उनके मार्ग पर चलनेवाले अशोक और हर्ष जैसे सम्राटो ने भी इस प्रवृत्ति को कितना दिखलाया, इसका इतिहास साक्षी है। भगवान् के वे शब्द हिन्दु-धर्म के लिए चिरस्मरणीय है जिनमें उन्होने 'यज्ञो में मुख्य अग्निहोत्र और छदो में मुख्य सावित्री'[3] को बताया है। किन्तु तत्व के निरूपण में उन्होने सम्यक् विचार और निष्पक्ष-चिन्तन को ही प्रधान बताया है और जिस प्रकार वैदिक प्रज्ञान उसी प्रकार बुद्ध के उपदेशो से भी इसी प्रकार सत्य को हमें निकालना है, यही तथागत का वाद है। 'यहा एक शास्ता आनुश्रविक (अनुश्रव, श्रुति) को सत्य माननेवाला होता है। श्रुति में ऐसा, स्मृति में ऐसा, परम्परा से, पिटक-सम्प्रदाय (ग्रथ-प्रमाण) से वह धर्म का उपदेश करता है', इसके विषय में हम क्या मत लें, यह प्रश्न बुद्ध के काल की तरह आज भी किया जा सकता है और इसके लिए 'विभज्य-वादी' बुद्ध का यही स्पष्ट उत्तर है जो वैदिक प्रज्ञान के सम न अन्य किसी प्रज्ञान के लिए भी सुप्रयुक्त हो सकता है—सन्दक ! आनुश्रविक को सत्य मानने वाले शास्ता का अनुश्रव सु-श्रुत भी हो सकता है, दु श्रुत भी, यथार्थ भी हो सकता है, अयथार्थ भी हो सकता है' अत एकाश से किसी भी ग्रथ में श्रद्धा कैसे की जाय कि यही 'सत्य है और सब झूठा'। फिर तर्क से भी तो ऐसा नही किया जा सकता। 'सन्दक ! तार्किक, विमर्शक (वीमसक) शास्ता का विचार सु-तर्कित भी हो सकता है, दुष्ट रूप से तर्कित भी, यथार्थ भी हो सकता है, अयथार्थ भी[4]।' अत सत्य के निर्णय में तथागत के अनुसार भी स्वानुभूति ही अतिम प्रमाण ठहरती है, जिसके लिए ही अन्तत वेदके प्रमाण का भी

---

(१) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ११७। मिलाइये वेद की परम्परा में भी, 'विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भव कारणम्। तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्' प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ६ पर शाकर भाष्य में उद्धृत।

(२) सन्दकसुत्त (मज्झिम० २।३।६), बुद्धचर्या, पृष्ठ २६५

(३) सेलसुत्त (मज्झिम० २।५।२)

(४) सन्दकसुत्त (मज्झिम० २।३।६), बुद्धचर्या, पृष्ठ २६३-६४, तर्क या श्रुतके द्वारा ही केवल सत्य को निकालने की चेष्टा को भगवान् ने 'अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य' कहा है, इससे आश्वासन मिलने की आशा नहीं।

उपयोग है। अत तथागत विनाशक न ठहर कर पूरक की ठहरते हैं। यह तो कर्मकाड और वेद के प्रमाण की बात रही। जब नैतिक क्षेत्र में हम आते हैं तब तो बुद्ध के विचार की एक अद्भुत विजय हम देखते हैं। यह कहना गलत है कि ब्राह्मण-ग्रंथो में सिवाय यज्ञयागादिमय विधानो के और कुछ है ही नही। परम ज्ञान का वर्णन वे भी करते हैं और 'आरण्यको' में तो इसकी तरफ विशेष ही प्रवृत्ति है। ये प्रवृत्तियाँ निश्चय ही बुद्ध के विचार के अधिक अनुकूल हैं। 'सर्वमेघ' जैसी वस्तु का जब शतपथ ब्राह्मण आध्यात्मिक वर्णन करता है[१], 'सत्य' के आचरण के द्वाराही जब वह देवताओ को प्रसन्न किया हुआ मानता है[२] और जब वह कहता है कि यज्ञो के द्वारा ही सत्य प्राप्तव्य नही किन्तु उसके लिए ज्ञान अवश्यक है[३] जिसके बिना यज्ञ करना भी मृत्यु के आवर्त में ही चक्कर लगाना है[४] और आत्मयज्ञ ही श्रेष्ठतम है, श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है[५]। तो हम कह सकते है कि वह उपनिषदो की भावना की तरफ जा रहा है जिसके ही बुद्ध निदर्शक और आगे बढानेवाले है। जब कामनाओ की प्राप्ति से भी एक उच्चतम उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाय[६] जब देवताओ का देवत्व भी तपस्या के कारण ही प्राप्तव्य में न लिया जाय[७] तो यह मनुष्यत्व की महिमा का ही विकास है[८]। और यही बुद्ध के विचार का भी अपर नाम है। कर्म के अनुरूप ही पुनर्जन्म की भावना भी बुद्ध-दर्शन के अनुकूल

---

(१) शतपथ ब्राह्मण १३।७।१।१

(२) देखिए शतपथ ब्राह्मण १।१।१।४; १।१।१।५; ३।३।२।२; ३।४।२।८; २।२।२।१९

(३) देखिए शतपथ ब्राह्मण १०।३।४।१५

(४) देखिए शतपथ ब्राह्मण १०।४।३।१०; १०।१।४।१४; १०।२।६।१९; १०।५।१४; ११।४।३।२०

(५) देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ११।२।६; शतपथब्राह्मण १।७।१।५

(६) देखिए शतपथ ब्राह्मण १०।५।४।१५; इन सब भावनाओं के कारण पौरोहित्य की महिमा निश्चय ही घट गई, किन्तु फिर भी जातिवाद तो रहा ही, बुद्ध की 'चातुर्वर्णी शुद्धि' जिसके संस्कार के लिये प्रवृत्त हुई।

(७) देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।३

(८) देखिए शतपथ ब्राह्मण २।६; १२।९।१।१; कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते। मिलाइये 'प्राणी तो वहीं जाता है, जहां उसका कर्म जाता है' बुद्ध-वचन।

है। अत इन बातो में विभेद नही है। अब हम उपनिषदो के साथ बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध के महत्वपूर्ण विषय पर आते है।

इस विषय पर आते ही सबसे पहले तो हमें यह कह देना चाहिए कि बुद्ध के समय में उपनिषदो की परम्परा एक जीवित परम्परा नही थी, किन्तु फिर भी बहुत से विज्ञ लोग उनमें से बहुत से परिचित थे और उनके विषय में भगवान् से प्रश्न भी करते थे, सलाप भी करते थे। एक व्यक्ति ने पूछा थ. 'हे गौतम ! मार्ग-अमार्ग के सबध में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण नाना मार्ग बतलाते है। तब भी वे वैसा करनेवाले को ब्रह्मा (ब्रह्म?)[१] की सलोकता को पहुचाते है। जैसे हे गौतम ! ग्राम या निगम के अदूर में नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राम में ही जानेवाले होते हैं। ऐसे ही हे गौतम ! ' . . .'[२]। इसी प्रकार 'तैत्तिरीय ब्रह्मचर्य' का भी वर्णन आया है[३]। बुद्ध के काल में जिस प्रकार 'सोम को पीकर हम अमृत हो गए[४]' इस प्रकार गानेवाले लोग भी थे, उसी प्रकार 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा .'[५] का निर्घोष करनेवाले कुछ स्वतन्त्रचेता ज्ञानी ब्राह्मण भी थे। इन दूसरे प्रकार के मनीषी विचारकों ने ही पुरा काल में औपनिषद ज्ञान का प्रादुर्भाव किया था और उन्हीं के दर्शन से अब हमें बुद्ध के मन्तव्य को मिलाना है।

इस विषय में सबसे पहले तो हमें यही देखना चाहिए कि 'उपनिषद्' शब्द से उस विद्या का तात्पर्य होता है जिसके द्वारा अविद्या आदि ससार के बीज का विशरण, हिंसन अर्थात् विनाश किया जाता है।[६] 'निचाय्य त मृत्युमुखात्

---

(१) त्रिपिटक में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग न होकर 'ब्रह्मा' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, हाँ सामासिक पदों में तो 'ब्रह्म' अवश्य ही हो गया है, यथा 'ब्रह्मसम' 'ब्रह्मप्राप्ति' आदि में। देखिए ('ब्रह्मसम' के लिए) द्रोणसुत्त (अंगुत्तर० ५।४।५।२)

(२) तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३)

(३) चुल्लवग्ग ६।२; देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ७४

(४) ऋ० ८।४८।३

(५) मुण्डक० १।२।७।८

(६) ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णा सन्त उपनिषच्छब्दवाच्या वक्ष्यमाणलक्षणा विद्यां उपपद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति

प्रमुच्यते[1]'। (उसे साक्षात् जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है)। 'ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु'[2]। ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज और विमुक्त हो गया, ये उपनिषदो की ही वाणिया हैं। अत. दुख निवृत्ति के उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त होने वाली उपनिषदें उन 'वेदगू' (वेदज्ञ) बुद्ध के मन्तव्य से विभिन्न प्रयोजन की प्रतिज्ञा लेकर प्रवृत्त नही होती। इन दोनो के पन्थाः में भी कोई विशेष भेद नही, यह हम अभी एक-एक क्षेत्र को लेकर देखेंगे। वृथा ही अभूत को तो भूत करके दिखाना नहीं होगा, और जहा विभिन्नताएं और विशेषताए भी दृष्टिगोचर होगी (और वे अनेक स्थानो पर होगी) तो उनको भी निष्पक्ष भाव से दिखाया ही जायगा। सत्य भी जब वैसा ही होगा, तो फिर हम कौन होते हैं? 'तत्र के वयम्'। अस्तु, औपनिषद ज्ञान या तो अनेक ऋषियो की कृति होने के कारण या उसके अतीत रहस्यात्मक मन्तव्य होने के कारण या समझनेवालो की भिन्न रुचियो, प्रवृत्तियो और अधिकार होने के कारण अपने परमार्थ स्वरूप में कुछ अनिश्चित, अस्पष्ट और बहु-स्वरूप है। तथागत का मन्तव्य तो एक ही व्यक्ति का विचार होने पर भी प्राय. वैसा ही था। फिर जिस प्रकार एक ही तथागत का मन्तव्य बाद में चलकर भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यात किया गया, उसी प्रकार औपनिषद दर्शन के भी उत्तरकालीन पञ्चमुखी विकास की गाथा है। इस विकास की परम्परा पर हम इसी प्रकरण में आगे स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे ही। जिस प्रकार 'विरुद्धार्थ प्रतिपत्ति' का गलत रूप से आरोप आचार्य शकर ने सुगत पर लगाया है[3], उसी प्रकार (अथवा यो कहिए कि उससे भी अधिक——उपनिषदो में तो अनेक ही 'विरुद्धार्थप्रतिपत्ति' वाले उपदेश सहज ही में मिल जाने से) वह उपनिषदो के दर्शन पर भी सुप्रयुक्त हो सकता है।

तेषामविद्यादे. संसारबीजस्य विशरणाद्विसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थ-योगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते। कठ० उप० पर शांकर भाष्य का प्रारम्भ। देखिए तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रारम्भ में भी शांकर भाष्य।

(१) कठ० १।३।१५

(२) कठ० २।३।१८

(३) सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्ध प्रलापित्वं...... विरुद्धार्थ प्रतिपत्त्या ....आदि ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य २।२।६।३२। इस विषय पर विशेष विवेचन के लिए देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त'।

फिर समन्वय के प्रयत्न तो दोनो की ही परम्पराओ मे विद्यमान हैं। शकर, रामानुज और वल्लभ आदि के मन्तव्य यदि किसी एक ही औपनिषद सिद्धात में विवेचित किए जा सकते है, तो क्या 'कथावत्थु'कार और 'मिलिन्दप्रश्न'कार ने ऐसा ही प्रयत्न बुद्ध के वास्तविक मत को जानने के लिए नही किया ? अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार 'विरुद्धार्थ प्रतिपत्ति' और समन्वय के प्रयत्न तो दोनो दर्शनो में ही विद्यमान है, ऐसा हमें जानना चाहिए। फिर विरुद्धार्थ-प्रतिपत्ति से समन्वय की दृष्टि दोनो ही जगह अधिक वीर्यवती है, ऐसा भी हमें भारतीय दर्शन का इतिहास बताता है। अत कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'प्रतिपत्ति के भेद अथवा विनेय (शिष्यो) के भेद से', बुद्ध का एक दर्शन भी उत्तरकालीन परम्परा को लेकर 'बहुप्रकार' विवेचित किया जा सकता है,[१] उसी प्रकार औपनिषद दर्शन भी। मूल रूप में दोनो एक ही दर्शन है, अर्थात् एक ही बुद्ध-दर्शन और एक ही उपनिषद्-दर्शन और सभी आचार्यों और वादो को छोडकर यहा केवल इन्ही मूल दर्शनो के सबध को विवेचित करना ही हमारा कार्य है। हा, एक बात अवश्य है और वह अप्रधान है, अर्थात् जब कि बुद्ध का दर्शन अपने प्रमाण के लिए केवल तथागत की अभिसबोधि पर प्रतिष्ठित है, उपनिषद् के दर्शन की सच्चाई की गवाही याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेतकेतु, भारद्वाज, महीदास ऐतरेय, रैक्व, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, जैवलि, गार्ग्यायन, प्रतर्दन, बालाकि, अजातशत्रु, गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक साधक और साधिकाओ ने दी है। अर्थात् उन्होने इसका आविर्भाव किया है। किन्तु यहा भी विभेद अल्प है। जिस प्रकार उपनिषदो के ऋषियो ने अपने नाम और रूप को छोड, अपने कर्तृत्व के सभी अभिमान को छोड, स्वय अपने प्रज्ञानो में ही छिप जाना पसन्द किया है, उसी प्रकार तथागत ने भी अपने में कभी यह सकल्प नही आने दिया कि 'मैं' 'उपदेश दे रहा हू।' दोनो ही एक उच्च अध्यात्म-लोक के निवासी है। तो फिर अब हम थूलताओ से सूक्ष्मताओ पर आते है।

(१) स च बहुप्रकार प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा । ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य २।२।४।१८; मिलाइये इसी प्रसग में 'सर्व दर्शनसग्रह' का बौद्ध दर्शन सम्बन्धी विवेचनभी; मिलाइये 'देशना लोकनायाना सत्वाशयवशानुगा'। भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभि. पुनः ॥ गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभय लक्षणा । भिन्नापि देशनाभिन्ना शून्यताद्वय लक्षणा ॥ नागार्जुन-कृत बोधिचित्तविवरण, भामती २।२।१८ में उद्धृत ।

जो कोई भी दर्शन या विचार-पद्धति दुःख-निवृत्ति अथवा अमृतत्व की निष्पत्ति को अपना ध्येय बनाती है, मृत्यु के बंधनो को तोड अपार आनन्द की अनुभूति का यही उपदेश करना चाहती है, वह बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुखी ही हो सकती है। 'कश्चिद्धीर· प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्व-मिच्छन्[1]।' इसी प्रकार 'भिक्षुओ! यह सामने वृक्षो की छाया है। ये एकान्त सूने स्थान है। भिक्षुओ! ध्यान लगाओ, प्रमाद मत करो[2]।' औपनिषद दर्शन और 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन दोनो ही समान रूप से अध्यात्मचित्ती हैं। समस्त ब्रह्मात्मविज्ञान और 'अभिधर्म' इसी पर अवस्थित है। इन दोनो की ही मंत्र और ब्राह्मणो के प्रति जो प्रतिक्रिया रही है उसे कुछ अब हम विवेचित करें जो इस प्रसंग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमने देखा कि छन्दस् युग (ऋग्वेदीय युग के प्रथम स्तर) में ऋषियों ने ऋचाओ के द्वारा विभिन्न देवताओ की उपस्तुतिया की। फिर हमने देखा कि ब्राह्मण युग में इन्ही ऋचाओ को लेकर कर्मकाड चल पडा जो प्राय. बाह्य स्वरूप का ही था। उपनिषत्कारों की इस परम्परा की ओर प्रवृत्ति क्या थी? जितना भी देवबहुत्व पाया गया उसका ब्रह्मात्मभाव के रूप में प्रख्यापन औपनिषद ऋषियो ने किया। केवल एक ही देव उन्होने स्वीकार किया[3]। और उसे 'ब्रह्म' या 'तत्' रूप में पुकारा, स्त्रीलिंग या पुर्लिंग में नही। जब 'ब्रह्म' के ही सब अग्नि, वायु आदि देवता प्रस्फुरण है तो मनुष्य चाहे तो इनकी उपासना कर सकता है, और चाहे तो नही भी[4]। फिर मैं अन्य हू और देवता अन्य है, ऐसी उपासना करना भी तो केवल देवो का पशु बन जाना है[5]! सब देव उसी के अधीन हैं, उसी को अर्पित हैं, जिसके भय से अग्नि जलती है और सूर्य चमकता है, मृत्यु जिसका उपसेचन है और जिससे अतीत कुछ भी नही[6]। इस

(१) कठ० २।१।१; तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।
(२) अंगुत्तर-निकाय।
(३) वृहदारण्यक० ९।१
(४) देखिए वृहदारण्यक० १।४।६; १।४।७; १।४।१०; मैत्रायणी० ४।५-६; मुण्डक० १।१।१; तैत्तिरीय० १।५
(५) देखिए वृहदारण्यक० १।४।१०
(६) भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य.। भयादिन्द्रस्य वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। कठ० २।३।३

प्रकार औपनिषद ऋषि संहिताओ की विभिन्न देवताओ की उपस्तुतियो को 'ब्रह्म' अथवा 'आत्मा' के एकीकरण में पर्यवसित कर देते है और यही उनकी महान् समन्वय-भावना भी है। सम्यक् सम्बुद्ध का दृष्टिकोण यहा कुछ अधिक तीव्र और मानवीय है। हम पहले देख चुके है कि किस प्रकार संहिताओ का पाठ करने वाले और इन्द्र, ईशान आदि देवताओं का आह्वान करने वाले ब्राह्मणो को उन्होने 'ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों' में हीन होने के कारण फटकारा था और उनकी सभी विद्या को 'वीरान' विद्या, 'कान्तार" विद्या तक कहने का साहस किया था। यह ठीक है कि वेद मे भी आचरण और ज्ञान की प्रतिष्ठा रखने के लिए 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' ऐसा कह दिया हो, किन्तु केवल आचार तत्व अथवा विशुद्ध जीवन के हाथ ही समग्र बागडोर दे देना तो सम्यक् सम्बुद्ध का ही काम था। जब देवताओ के से धर्म ही मनुष्य में नही, तो 'ब्रह्मा की सलोकता' भी वह क्या प्राप्त करेगा और यही देवता के साथ सहधर्मता प्राप्त करना ही उपनिषद् की इस वाणी का कि 'जो देव अन्य है और मै अन्य हू, इस प्रकार की उपासना करता है वह देवो का पशु है' स्पष्ट तात्पर्य है। फिर देवताओ के अस्तित्व तक का भगवान् बुद्ध ने निराकरण नही किया किन्तु उसे स्वीकार ही किया। जिस प्रकार उपनिषदो ने देवत्व की आत्मा के क्षेत्र में ब्रह्मात्मभाव के प्रकाश में व्याख्या की उसी प्रकार हम कह सकते है कि बुद्ध ने उनकी नैतिक व्याख्या की। यह भी स्मरण रखना होगा कि कही-कही उनके नाम भी परिवर्तित कर दिये गये, किन्तु इतना ही क्या कम था कि बुद्ध के हाथो कम-से-कम उनका अस्तित्व ही रह गया। बुद्ध द्वारा मानवता की श्रेष्ठता के साक्ष्यस्वरूप यह क्या कम मिसाल है कि उन्होने देवो का दर्जा मनुष्यो से ऊचा नही रक्खा। किन्तु 'क्रीडाप्रदूषिक आदि देवो का अकुशल कर्म करने के कारण भव में पड जाना भी उन्होने कहा[1],

---

(१) देखिए ब्रह्मजाल सुत्त (दीघ निकाय का प्रथम सुत्त) मिलाइये 'देवताओं में भी लोभ है। उनमें जो लोभ रहित है वे मनुष्य लोक में नहीं आते; जो लोभ सहित हैं वे मनुष्य लोक में आने वाले होते है। जो ब्रह्मा लोभ रहित है वह यहा नहीं आता, किन्तु जो लोभ सहित होता है, वह यहाँ आता है'। कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम०२।४।१०); महाब्रह्मा और और इन्द्र तक भी सारिपुत्र के परिनिर्वाण के समय उनकी सेवा के लिए

जबकि मनुष्य 'शात' 'अत्यन्त' निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। अब हम यज्ञ यागादि विधान की ओर दोनो की प्रवृत्तियो की तुलना पर आते है जो कि सभवत इस प्रसग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय है। बुद्ध-मन्तव्य को तो हम इस प्रसग में पहले प्रख्यापित कर ही आए है, इसलिए यहा विशेषतया उपनिषदो को ही लेंगे। याज्ञिक विधान में बुद्ध के समान ही औपनिषद ऋषियो का भी कोई विश्वास नही, किन्तु बुद्ध ने जब कि गभीर वाणी से उनका प्रतिवाद किया है, औपनिषद ऋषियो ने अधिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण लिया है, जिसका सर्वथाभाव, जैसा कि पीछे दिए हुए उस प्रसग मे उद्धरणो से स्पष्ट है, बुद्ध में भी नही है। औपनिषद ऋषि यागादि विधान को परमार्थ की प्राप्ति में आवश्यक उपाय नही मानते, हा, आश्रम और वर्णधर्मों की व्यवस्था स्वीकार कर सभवत अधिकारिविभेद का विचार कर वे उसका पूर्णत निराकरण भी नहीं करते। किन्तु यह सत्य है कि कही-कही पुरोहितो की खाने-पीने की प्रवृत्ति को लेकर उनको और उनके याज्ञिक क्रिया कलापो को एक घृणा की वस्तु बनाया गया है और एक स्थान पर तो उन्हे कुत्तो की एक पात में जैसे खडे भी दिखाया है, लोलुपता-पूर्वक कहते हुए 'ओमदा ओम् पिवा ओम देवो वरुण' आदि (ॐ मुझे खाने दो, ॐ मुझे पीने दो, देव वरुण)[1]। यज्ञयागादि विधान हमें पितृलोक में भले ही पहुचा दे, किन्तु अतिम वस्तु तो उससे सिद्ध होती नही[2]। वास्तव में

उपस्थित हुए, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१९; तथागत के महापरिनिर्वाण के समय देवों के दर्शनार्थ आने के लिए देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ २।३)। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी देवो की लोलुपता का बड़ा अच्छा वर्णन किया है ! इन्द्र को 'श्वान' की उपमा देना कम-से-कम उस देव की वैदिक महिमा पर प्रतिष्ठित नहीं है।

(१) छान्दोग्य० १।१२।४-५; डायसन (फिलॉसफी आफ दि उपनिषद्स्, पृष्ठ ६२) और राधाकृष्णन् (इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ १४९) ने इस उपनिषद् की वाणी को इसी अर्थ में लिया है। कम-से-कम पूर्व रूप इसका यही रहा होगा, ऐसा विचार है। बाद के भाष्यकारो ने समन्वयात्मक भाव दिखाए है।

(२) देखिए छान्दोग्य० १।१।१०; मिलाइये बृहदारण्यक० १।५।१६; ६।२।१६; प्रश्न १।९; मुण्डक १।२।१०; छान्दोग्य ५।१०।३; छान्दोग्य, ६।७।२; ७।१

यज्ञादि की तरफ यदि सब उपनिषदो के दृष्टिकोण को हम सग्रहात्मक रूप से लें तो वह द्विविध ही दीखता है। एक तरफ तो उनके प्रति कुछ समझौते के भाव[1] और दूसरी तरफ, उनकी निन्दा[2]। किन्तु वास्तव में जो प्रवृत्ति उपनिषदो की इस प्रसग में प्रतिनिधि स्वरूप कही जा सकती है वह है उनके द्वारा यज्ञ को आध्यात्मिक रूप देना, उसके 'द्रव्यमय' स्वरूप को हटाकर अथवा उठाकर उसे एक 'ज्ञानमय' रूप में सनिविष्ट कर देना[3]। आरण्यको ने इसी प्रवृत्ति की ओर पग बढाए थे और उपनिषदो में तो इस प्रवृत्ति के अनेकउदात्त और काव्यमय वर्णन मिलते है। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् मनुष्य को ही यज्ञ का रूप दे देती है और उसके समस्त क्रिया-कलापो को यज्ञ की ही विभिन्न क्रियाओ का रूप देती है[4]। इसी प्रकार अन्य अनेक उपनिषदो में यज्ञ को 'ज्ञानमय' स्वरूप प्रदान किया गया है, और समग्र जीवन को ही एक यज्ञ बनाने का आदेश दिया गया है[5]। ये स्थान इतने

(१) यथा कठ० १।१७; कठ० ३।२; श्वेताश्वतर० २।६-७ आदि।

(२) यथा बृहदारण्यक० १।४।१०; ३।९।६; ३।९।२१

(३) गीता में यही प्रवृत्ति परिपूर्णता प्राप्त कर लेती है। किन्तु प्रारम्भ तो इस प्रवृत्ति का ब्राह्मण-युग में ही हो गया था। शतपथ ब्राह्मण में हम स्थान-स्थान पर याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या आध्यात्मिक अर्थों में देखते हैं, यथा दर्शपौर्णमास के विषय में 'एषा नु देवता दर्शपौर्णमासयो: सम्पत् अथाध्यात्मम्, आदि। मिलाइये यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म। शतपथ १।७।१।५; इसी प्रकार, एष वै महान्देवो यद्यज्ञ'; यज्ञो वै बृहत् विपश्चित्; यज्ञो वै ब्रह्म; यज्ञो वै विष्णु; यज्ञ उ देवानामात्मा; यज्ञ उ देवानामन्नम्, संवत्सरो वै यज्ञः; आत्मा वै यज्ञ.; पुरुषो वै यज्ञः, रेतो वै यज्ञ.; विराड् वै यज्ञ; आदि, आदि।

(४) देखिए समग्र तृतीय अध्याय ही 'अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा' इत्यादि।

(५) यथा देखिए बृहदारण्यक० ३।१।; छान्दोग्य० ४।१६; ऐतरेय-आरण्यक० ३।२।६; बृहदारण्यक० १।५।२३; छान्दोग्य० ५।११-२४; कौषीतकि० २।५ छान्दोग्य० ३।१६-१७, महानारायण० ६४, प्राणाग्नि० ३।४; बृहदारण्यक०४।१।६ में पञ्च महायज्ञों को आत्मा के प्रति यज्ञ बताना, छान्दोग्य० ४।११-१४ में तीन अग्नियों को आत्मा के ही रूप बताना;

अधिक हैं कि पूर्णतया इनका उद्धरण कर इनकी प्रवृत्तियो को उनके मौलिक रूप में यहा नहीं दिखाया जा सकता। इस प्रकार उपनिषदो के चिन्तको ने यज्ञ के वाह्य स्वरूप का निराकरण कर उन्हें एक आध्यात्मिक अर्थवत्ता प्रदान की थ। और यही कार्य क्या सम्यक् सम्वुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का यज्ञ के रूप में वर्णन कर नही किया, जव उन्होने यह कहा कि 'ब्राह्मण! यह तेरा अभिमान खरिया का भार (खरिभार) है, क्रोध धुवा है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है, हृदय ज्योति का स्थान है'। क्या वे अर्हत् सम्यक् सवुद्ध भी इस आर्य मार्ग से ही नही गए थे? औपनिषद परम्परा के ही वे प्रवर्तक नही हुए? जव उन्होने यह कहा कि 'कुशल लोग उससे शुद्धि नही वतलाते जो वाहर से भीतर की शुद्धि है', तो क्या इसमें निर्दिष्ट 'कुशल' लोग औपनिषद मनीषी ही नही हो सकते? जव उरुवेल काश्यप ने यह साक्ष्य दिया कि 'काम-मद में अविद्यमान, निर्लेप, शात, रागादिरहित, निर्वाण पद को देखकर, निर्विकार, दूसरे की सहायता से पार न होने वाले निर्वाण पद को स्वय देखकर मैं इष्ट और हुत से विरत हूआ, तो क्या यही त ज्ञान के उपासक उपनिषदो के ऋषियो के विषय में भी ठीक नही कही जा सकती? जव तथागत ने यह कहा कि याज्ञिक जन 'यज्ञ के योग से भव के राग में लिप्त होकर जन्म जरा को पार नही हुए', तो इससे विरुद्ध आत्मज्ञानी औपनिषद चिन्तको ने भी तो कुछ नही कहा, उल्टे उसका समर्थन ही तो किया, जैसा कि पूर्वोक्त उद्धरणो से स्पष्ट है। जो यज्ञादि करते हैं वे 'लाभ के लिए कामो को ही जपते हैं' ऐसी बुद्ध-वाणी की ध्वनि भी तो उपनिषदो में प्रतिध्वनित होती है। साराश यह कि ज्ञान-यज्ञ करने वाले वे महात्मा, जो सत्य, धर्म और सयम से ही ब्रह्म-प्राप्ति सभव वताते हैं और जिनको उद्देश्य करके ही तथागत ने भारद्वाज ब्राह्मण से कहा था 'तू ऐसे हवन कियो को नमस्कार कर; उनको मैं पुरुष-दम्य-सारथी कहता हू', वे ऐसे हवन किए हुए महात्मा, उपनिषदो के ऋषि ही संभवत. भली प्रकार हो सकते हैं जिन्होंने उपनिषदो में यज्ञ को ज्ञानमय स्वरूप प्रदान किया है और जिनकी

बृहदारण्यक० १।५।२३; तथा कौषीतकि २।५ में अग्निहोत्र को प्राणायाम में ही परिवर्तितकर देना, आदि कुछ इस प्रकार के उदाहरण है। तैत्तिरीय २।५ तो ज्ञान को ही यज्ञ और ज्ञान को ही कर्म भी बताती है—विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते च।

कुछ-न-कुछ परम्परा बुद्ध के युग में रही ही होगी । उन्ही के साथ अपने को मिलाते हुए सभवत. भगवान् के कहा था, 'भिक्षुओ। मै यज्ञ करने वाला ब्राह्मण हूँ।' 'अहमस्मि भिक्खवे ब्राह्मणो याजयोगो । अब हम यज्ञादि विधान को छोड वेद की ओर दोनो की प्रवृत्ति पर आते है। यद्यपि उपनिषदें वेद के ही भाग हैं और स्वय 'श्रुति' कहलाती है, अत जो चीज वे स्वय हैं उसी के प्रति सबध के निर्णय का सवाल यद्यपि उठता नही, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह विचार यहा आवश्यक है। यहां भी उपनिषदो की द्विविध प्रवृत्ति हम पाते है जिसको चाहे तो समन्वयात्मक भी कह सकते हैं और चाहे तो दार्शनिक दृष्टि कोण से एक निर्बल स्थिति की सूचक भी। एक स्थान पर यदि स्वयम्भू के नि श्वास से ही प्रादुर्भूत ऋक्, यजु और साम को बताया गया है[1] तो दूसरी जगह उनके ज्ञान की अपर्याप्तता भी दिखाई है[2]। अपरा विद्या के रूप में उसे डालकर उसकी तुच्छता भी दिखाई है परम ज्ञान की अपेक्षा में[3] और इस प्रकार अनेक स्थलो में आतरिक अनुभूति से वैदिक ज्ञान को नीचा ही दिखाया है और केवल उससे मुक्ति की आशा नही मानी है[4]। बुद्ध ने तो ग्रथ-प्रमाण के रूप में किसी भी वस्तु को फिर चाहे वह वेद ही क्यो न हो, स्वीकार किया ही नही और अनुभूति को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण और 'प्रधान' को ही सर्वश्रेष्ठ साधन माना। इस अनुभूति को भगवान् बुद्ध के तत्कालीन ब्राह्मणों में नही पाया इसलिये उनकी परम्पारा को उन्होंने अंधे लोगों की पंक्ति कहा। अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से प्रमाण-चिंतन बुद्ध और उपनिषदें दोनो के विचार की बाहर की वस्तु है और दोनो ने ही अपने अपने दर्शनो की प्रतिष्ठा में स्वानुभूति को ही प्रधान माना है और यही तथ्य हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी होना चाहिए। हा, इस प्रसग को समाप्त करने से पहले हमें

(१) देखिए वृहदारण्यक० २।४।१०

(२) देखिए छान्दोग्य० ६।७।२; तैत्तिरीय ०२।३

(३) देखिए 'तत्रापरा ऋग्वेदो ....अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। मुण्डक० १।१।५; मिलाइये कठ० २।२३; तैत्तिरीय० २।४

(४) देखिए छान्दोग्य० ५।३।१०; वृहदारण्यक० ३।५।१; ४।४।२१; कौषीतकि० १; तैत्तिरीय० २।४, कठ० २।२३; मिलाइए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ १४९

दो वातो पर और ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि जव कि पालि त्रिपिटक में 'त्रयी विद्या' के रूप में ही तीनो वेदो को स्मरण किया गया है और उसके ज्ञाताओ को त्रैविद्य (तेविज्ज) कहा गया है, उपनिषदों में हम प्रथम वार चार वेदो का वर्णन पाते हैं। ब्राह्मण-युग में हमने देखा कि तीन ही वेदो का व्यवहार था। वृहदारण्यक २।४।१० में भी तीन ही वेदों का वर्णन आया है, किन्तु विद्वानों का मत है कि वृहदारण्यक ५।१३ में समवतः सर्व प्रथम चार वेदो का प्रख्यापन हुआ है[1] और अथर्ववेद का वेद के रूप में प्रथम वार वर्णन हमें छान्दोग्य० ७।१।२ और मुण्डक० १।१।५ में उपलब्ध होता है। दूसरी वात महत्वपूर्ण यह है कि वे ऋग्वेदीय ऋषि जो सर्वय 'मवु' क 'ही नदियो में क्षप्ति और दिशाओ में विकीर्ण देखते थे, सदा पशु, वित्त आदिकी कामना में देवताओ की स्तुति करते थे,वे व्राह्मणकालीन याज्ञिक ऋषि जो कामनाओ के लिए ही नाना प्रकार के यज्ञ करते थे और वहुत सी दक्षिणाए देते थे, उन्ही के पुत्र अव औपनिषद युग में कुछ अधिक चिन्तक हो गए है, अव उन्हें वाह्य वातो में अधिक आकर्षण नहीं दीखता, नचिकेतस् के समान वे स्वर्गादि के राज्य को भी नहीं चाहते, पुत्र-पौत्रादिको को भी नहीं चाहते, मैत्रेयी के समान वे सम्पत्ति का विभाजन भी नही चाहते। कर्मकाड उन्हें शांति नही देता। 'नैतावता विदित भवति'[2] ऐसा वे निर्घोष कर चुके है। 'नेद यदिदमुपासते'[3] ऐसा वे कह चुके हैं। अव वे नारद की तरह कहने लगे हैं। 'सो ऽहं भगव शोचामि। तन्मां शोकस्य पारं तारयतु'[4]। ससार या भव की एक गहरी वेदना ने उन्हे व्यथित कर दिया है और इसी की निवृत्ति के लिए कभी हम नचिकेतस् को यम के पास,प्रतर्दन को इन्द्र के पास, जानश्रुति को रैक्व के पास, उपकोसल को सत्यकाम के पास, आरुणि को प्रवाहण के पास, इन्द्र और वैरोचन को प्रजापति के पास, जनक को याज्ञवल्क्य के पास और बृहद्रथ को सत्यकाम के पास, जाते हुए देखते है। जिस प्रकार के 'किंकुसल गवेसी' 'दीप्तशिरा जलराशिमिव' (वेदान्त सार) शाक्यकुमार कभी आलार कालाम के पास और कभी उद्दक रामपुत्त के पास

---

(१) देखिए डायसन : फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स्, पृष्ठ ५५

(२) बृहदारण्यक० २।१

(३) केन० १।४

(४) छान्दोग्य० ७।१

भागते हुए, ढूढते हुए कि 'परम तत्व कहा है ? परमशाति कहा हैं ? इस प्रकार वैराग्य और दु ख की गहरी अनुभूतियाँ जो बुद्ध के विचार में इतनी मुख्यता ग्रहण करती है—उपनिषदो के चिन्तन में भी अपना प्रतिरूप पा सकती हैं, क्योकि उपनिषदो के ऋषि भी उसी भावना से उद्वेलित है जिससे कि शाक्यमुनि थे। 'किमह तेन कुर्यां येनाह नामृता स्याम्'[1] । यह व्यथा बुद्ध के समान उपनिषदो के ऋषियो को भी लगी हुई है ।

उपनिषदों के ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान और तथागत-प्रवेदित अनात्मवाद के स्वरूप और लक्ष्य में पारस्परिक समता और विषमता

अब हम उपनिषदो के तत्वदर्शन और उनकी मूल समस्याओ पर आते हैं। उपनिषदो ने तत्व की गवेषणा की है, सत्, चित् और आनन्द के स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया है। उन्होने यह भली प्रकार अनुभव किया है कि मानवीय उपकरणो से यह लक्ष्य सिद्ध नही हो सकता। ब्रह्म की अविज्ञेयता के विषय में श्रुतियो का यदि सग्रह किया जाय[2] तो किसी भारतीय दर्शन के विद्यार्थी को यह भ्रम हो सकता है कि यह तो तथागत की अव्याकृत की हुई बातो से भी गणना अधिक पहुँच जाती है। किन्तु बात ऐसी नही है। मन, बुद्धि आदि से परम तत्व यदि ग्राह्य नही है तो उपनिषदो के ऋषियो ने उसे अपने ज्ञान के प्रकाश में देखा है[3], दिवीव चक्षुराततम्[4]। और इसी में उनके ज्ञान की सारवत्ता भी है। उपनिषदो की मूल समस्या है परम सत्य का साक्षात्कार करना औरइसके लिए उपनिषद ऋषि बाहरी जगत् में भी, जिसे बौद्ध पारिभाषिक शब्दो में 'रूप' कह सकते है, खूब फिरे हैं, और आतरिक जगत् की भी जिसे बौद्ध अर्थों में 'नाम', कह सकते है, उन्होने इसी तत्व के खोजने के के लिए महान् साधना की है । परिणामस्वरूप बाह्य जगत् में से तो

(१) बृहदारण्यक उपनिषद् ।
(२) कुछ इस प्रकार, केन०० २।३; कठ० १।२।१४; तैत्तिरीय० ३।९; मुण्डक०, १।१।६; बृहदारण्यक०, २।४।१४; ३।९।२६; ३।४।२; ३।७।२३; ३।८।११; ४।१५।१५; ३।६।१; ३।८।७; ४।२।४; ४।४।१५; ४।१६।१७; कठ० १।३।१०; २।१४; छान्दोग्य० ३।१४।३; ८।२१।७; तैत्तिरीय० २।४ आदि।
(३) अन्तर्ज्ञान से आत्मा ज्ञेय है, देखिएछान्दोग्य० ६।१३; बृहदारण्यक० २।४।५
(४) यदा पश्यन्ति सूरय तद्विष्णोः परमं पदम् । दिवीव चक्षुराततम् । ऋग्वेद।

जाच-पडताल कर वे जिस मूल तत्व पर पहुचे हैं उसको उन्होंने 'ब्रह्म' नाम से पुकारा है और आतरिक व्यापारो का सूक्ष्म अन्वेषण और विश्लेषण कर जिस स्थायी सत्य की झाकी उन्होंने की है उसे उन मनीषियो ने 'आत्मा' कह कर पुकारा है। आत्मा ही उनके लिए श्रेष्ठ पदार्थ, और अतिम गवेषणीय तत्व है और उसका साक्षात्कार मानवीय साधना का उच्चतम फल है। फिर यह आतरिक में अथवा मनोमय जगत् में सबका स्थापक और ज्ञापक तत्व जिसे उन्होंने आत्मा पुकारा है उस तत्व से अलग नही है जो सब बाह्य सृष्टि में व्याप्त है अर्थात् 'ब्रह्म' से। दोनों अलग-अलग पदार्थ नही किन्तु एक ही सत्य को देखने की दो दृष्टिया हैं। द्रष्टा और दृश्य भी जो है, विषयी और विषय भी जो है, वह एक ही सत्य का रूप है। यही 'ब्रह्म' और 'आत्मा' की एकता का विज्ञान है और इसके पीछे एक गहन तत्व-दर्शन विद्यमान है जिसके क रण ही उपनिषदो को सभवत गुह्य आदेश भी कहा गया है। किस प्रकार गवेषणाए कर, कितने सप्रश्न कर, कितनी साधना कर, औपनिषद ऋषि उपर्युक्त सत्य पर पहुचे इसका कुछ निदर्शन उपनिषदो के ही उद्धरण देकर यदि हम प्रस्तुत करे तो सभवत हम उपनिषदो के तत्व ज्ञान की दिशा को अधिक ठीक समझ पायें, किन्तु यहा तो हमें अपनी सीमाओ का खयाल कर औपनिषद ऋषियो के अतिम परिणामो को ही जानकर सतोष कर लेना चाहिए और जिस मार्ग का गमन कर वे इस पर पहुचे उसके विषय मे तो अभी मौन ही रहना चाहिए। औपनिषद ऋषि अपनी गवेषणाओ के परिणाम स्वरूप जिस ज्ञान के उच्चतम शिखर तक पहुचे वह 'ब्रह्म' और 'आत्मा' की एकता सबधी ज्ञान ही है। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान स्वरूप यह ज्ञान मानवीय जिज्ञासा का चरम अनुसधेय विषय है। ज्ञान का यह चरम निष्कर्ष है जिससे आगे मनुष्य सभवत. कभी नही झाक सकेगा[1]। यद्यपि कुछ साम्प्र-

---

(१) डायसन का कहना है, आत्मैकत्व-विज्ञान "will be found to possess a significance far beyond the upanishads, their time and country, nay, we claim for it an inestimable value for the whole race of mankind. We are unable to look into the future, we do not know what revelations and discoveries are in store

क्षायिक आचार्य इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी हों तो भी एक तात्विक दृष्टि का विद्यार्थी जो किसी भाष्य विशेष का द स नही बनेगा सभवत एकात्मवाद को ही उपनिषदो के मन्तव्य के रूप में स्वीकार करेगा। अनेक मार्मिक विद्वानो ने इस बात की गवाही दी है, जिनमें अनेक विदेशी विचारक भी सम्मिलित हैं। इस आत्मैकत्व विज्ञान को ऋषियो ने किस प्रकार प्रख्यापित किया है, इसे हमें कुछ उनके ही शब्दो में जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मतत्व के विषय में ऋषि कहते हैं कि 'यहा सब एक होते हैं'[१] उनके अनुसार 'भूमा' रूप 'ब्रह्म' ही सुख है और अल्प (सात जगत्) में सुख नहीं है[२]। 'भूमा ही अमृत हैं'[३]। 'यह आत्मा ब्रह्म है'[४]। 'मैं ब्रह्म हू'[५]। 'वह तुम हो'[६]। 'यह जो पुरुष में है और यह जो सूर्य में है, वह एक है'[७]। 'यह सारा जगत् कर्म, तप और पुरुष ही है। वह पर और अमृत रूप ब्रह्म है। उसे जो सपूर्ण प्राणियो के अन्त करण में स्थित जानता है, वह हे सौम्य! इस लोक में अविद्या की ग्रथि को छेदन कर देता है'[८]। 'विना चक्षुओ के वह देखता है' विना कानो के वह

for the restlessly inquiring human spirit but one thing we may assert with confidence—this principle will remain unshaken and from this no deviation can possibly take place'. फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स्, पृष्ठ ३९-४०

(१) अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। बृहदारण्यक० १।४।७; मिलाइये, परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।० मुण्डक ३।२।७

(२-३) यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति। छान्दोग्य० ७।२४।१; यत्र नान्यत्पश्यति नान्यत् श्रणोति नान्यद् विजानाति स भूमा। यत्रान्यत् पश्यति अन्यत् श्रणोति अन्यद्विजानाति तदल्पं। छान्दोग्य०, ७।२४।१; मिलाइये वहीं 'यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यं'।

(४) अयममात्मा ब्रह्म। बृहदारण्यक० २।५।१९; य आत्मापहतपाप्मा। छान्दोग्य० ८।७।१

(५) अहं ब्रह्मास्मि। बृहदारण्यक० १४।१०

(६) तत्वमसि। छन्दोग्य० ६।८।७

(७) यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक.। तैत्तिरीय० २।८

(८) पुरुष एवेद विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहाया सो ऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य। मुण्डक० २।१।१०

सुनता है'[१]। 'यहा यह पुरुष स्वयं ज्योति है'[२]। 'सब का शासक'[३]। सब का ईश्वर, और सबका अधिपति, 'एक ही देव, 'निष्कल, निष्क्रिय, शात, निरवद्य और निरञ्जन[४]'। न यह उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है न स्वत ही । यह नित्य, शाश्वत और पुरातन है और शरीर के मारे जाने पर स्वय नहीं मरता'[५]। 'यही एक हे सौम्य ! आगे था'[६]। 'एक ही है ब्रह्म'[७]। 'आत्मा ही एक पहले था'[८]। यही एक ब्रह्म है अपूर्व, अद्वितीय, अनन्तर और अबाह्य'[९]। 'फिर किस को किस से देखे'[१०]। 'यह आत्मा

---

(१) पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः। श्वेताश्वतर० ३।१९; यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽनन्तरो यमयति ......आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। बृहदारण्यक० ३।७।२०; मिलाइये केन०, १।५-८ ('सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्' आदि गीता भी)

(२) अत्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिः। बृहदारण्यक० ४।३।९; तदेव ज्योतिषां ज्योतिः बृहदारण्यक०, ४।४।१६; तस्य भासा सर्वमिद विभाति। कठ० ५।१५; अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तदूयदिदमस्मिनान्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टि.। छान्दोग्य०, ३।१३।७; (ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः—गीता)। आत्मैवास्य ज्योतिः। बृहदारण्यक० ४।३।६

(३) सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। बृहदारण्यक०, ४।४।२२

(४) निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। श्वेताश्वतर०, ६।१९

(५) मिलाइये 'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ कठ० १।२।१८-१९; मिलाइये गीता, २।१९-२०

(६) सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य०, ६।२।१

(७) एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य०, ६।२।१

(८) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। ऐतरेय०, २।१।१।१

(९) तदेतत् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। बृहदारण्यक०, २।५।१९

(१०) तत्केन कंपश्येत्। बृहदारण्यक०, २।४।१३; न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया.। बृहदारण्यक, ३।४।२; विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। बृहदारण्यक, २।४।१४; स वेत्ति वेद्यं न तस्यास्ति वेत्ता। श्वेताश्वतर, ३।१९

ब्रह्म है, सबको अनुभव करने वाला है[1]। 'ब्रह्म ही यह अमृत है'[2]। 'आत्मा को देखना चाहिए,[3]। "उसको खोजना चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए,[4]। 'आत्मा है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिए'[5]। 'आत्मा ही लोक है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिए[6]। ब्रह्म को जो जानता है, वह ब्रह्म ही होता है,[7]। 'उसको सुनना चाहिए, उस पर मनन करना चाहिए, उस पर निदिध्यासन करना चाहिए'[8]। 'जो अशरीर हुआ है उसे ही प्रिय और अप्रिय स्पर्श नही करते[9]'। 'अशरीरो में वह शरीर और अस्थिरो में स्थिर है, ऐसे महान् और विभु आत्मा को जानकर धीर शोक नही करता[10]'। 'अन्यत्र है वह धर्म से, अन्यत्र है अधर्म से, अन्यत् कृत से और अन्यत् अकृत से, भूत से अन्यत् और अन्यत् अभूत से'[11]। 'उस ब्रह्म के देखने पर इसके कर्म नष्ट होते हैं'[12]। 'आनन्द ब्रह्म है' 'इस प्रकार जानता हुआ वह किसी से भय नही करता'[13]।

---

(१) अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू. । बृहदारण्यक० २।५।१९

(२) ब्रह्मैवेदममृत पुरस्तात् । मुण्डक० २।२।११

(३) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः । बृहदारण्यक० २।४।५

(४) सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । छान्दोग्य० ८।७।१

(५) आत्मेत्येवोपासीत् । बृहदारण्यक० १।४।७

(६) आत्मानमेव लोकम् उपासीत । बृहदारण्यक० १।४।१५; सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । छान्दोग्य० ३।१४।१

(७) ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । मुण्डक०, ३।२।९; ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । बृहदारण्यक० ४।४।६

(८) श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य. । बृहदारण्यक० २।४।५

(९) अशरीरं वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशतः । छान्दोग्य० ८।१२।१

(१०) अशरीर शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति । कठ० १।२।२१

(११) अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च । कठ० २।१४

(१२) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। मुण्डक, २।२।८; तद्यथेषी-कातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते । छान्दोग्य० ५।२४।३

(१३) आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। तैत्तिरीय० ८।९; आनन्दो

'हे जनक' ! 'तुम अभय को प्राप्त हो'[१] । 'न करता है, न लिप्त होता है[२]'। 'वहा क्या मोह है ? क्या शोक ? जो एकता को देखता है'[३] । "एक ही देव सब प्राणियो में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी और सर्व भूतान्तरात्मा'[४] । 'यही आनन्द की मीमासा है[५]' । 'वह रसरूप है और इसी को पाकर मनुष्य आनन्दी होता है'[६] । 'इस आत्मा को इस जगत् में जानना ही परम लाभ है और इसे बिना जाने इस लोक से चले जाना विनाश है[७]' । 'आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय होता है[८]'। 'जहा न अन्यत्र देखता है, न अन्यत्र सुनता है, न अन्यत्र जानता है, वही भूमा है । जो भूमा है वही अमृत है[९]' । 'इसके बिना दूसरा द्रष्टा नही है[१०]' । 'वह नित्य विभु,

ब्रह्मेति व्यजानात् । तैत्तिरीय० ६।६; विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । बृहदारण्यक० ३।९।२८; आनन्दरूपममृतं यद्विभाति । मुण्डक०२।२।७; को हि एवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । तैत्तिरीय० २।७।१

(१) अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि । बृहदारण्यक० ४।२।४

(२) मिलाइये, न करोति न लिप्यते । गीता० १३।३१

(३) तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः । ईश० ७; मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति । कठ, १।२।१६; स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा । वहीं १।२।१३; न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः । छान्दोग्य०, ७।२२।२; ज्ञा त्वा तं मृत्युमत्येति । कैवल्य० ९

(४) एको देवः सर्वभूतेषु रूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । श्वेताश्वतर० ६।११; स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । ईश० ८

(५) सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । तैत्तिरीय० २।७

(६) रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । तैत्तिरीय, २।७ मिलाइये अकामो धीरोऽमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः । अथर्व० १०।८।४४

(७) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति । केन० २।५

(८) आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । बृहदारण्यक उपनिषद् ।

(९) यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् श्रणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यो वै भूमा तदमृतम् । छान्दोग्य० ७।२४।१

(१०) न चान्यतोऽस्ति द्रष्टा । बृहदारण्यक० ३।७।२३

सर्वगत और सुसूक्ष्म है'[१]। 'जिसे न पाकर वाणियां लौट आती हैं, मन के साथ'[२]। 'विना चक्षु, बिना श्रोत्र और बिना पाद के[३]। 'सत्य है वह आत्मा[४]। सय' 'ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म'[५]। 'वह आत्मा सबके भीतर है'[६]। 'प्रज्ञानघन है और आनन्द मय'। 'मैं चिन्मात्र हूं'। सदा शिव', 'साक्षी है वह चित्स्वरूप। केवल और निर्गुण' 'सपूर्ण प्रज्ञान घन भी'[७]। 'अनन्त है यह आत्मा, विश्वरूप और अकर्ता[८]। 'अस्थूल, अनणु अ ह्रस्व, अदीर्घ'[९]। 'जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते है[१०]। 'आत्मा को जानो और सब बातें छोड दो'[११]।

---

(१) नित्य विभु सर्वगतं सुसूक्ष्मं। मुण्डक० १।१।६

(२) यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय० २।४।१; नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा। कठ० ७।१२; न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा। मुण्डक० ३।१।८

(३) अचक्षु श्रोत्रं तदपाणिपादम्। मुण्डक० १।१।६ अशब्दमस्पर्शरूपम् कठ०, ३।१५; सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव, इत्यादि। एष स आत्मा सर्वान्तरः। बृहदारण्यक० ३।४।१

(४) प्रज्ञानघन एवानन्दमय.। कैवल्य० १८

(५) चिन्मात्रो सदाशिव.। कैवल्य० १८; न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् कैवल्य० १८

(६) साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वेताश्वतर० ६।११

(७) कृत्स्न. प्रज्ञानघन एव। बृहदारण्यक० ४।५।१३

(८) अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता। श्वेताश्वतर० १।९

(९) अस्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घम्। बृहदारण्यक० ३।८।८

(१०) य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। कठ, २।३।९; न जरा न मृत्युर्न शोकः छान्दोग्य० ४८।८।१; न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्। छान्दोग्य० ७।२६।२; जरामृत्युमत्येति। बृहदारण्यक० ३।५।१; न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु.। श्वेताश्वतर० २।१८;... मृत्युर्धावति पञ्चम। तैत्तिरीय० २।२।९; ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। छान्दोग्य० २।२३।१; तरति शोकमात्मवित्। छान्दोग्य० ७।१।३, विमुक्तश्च विमुच्यते। कठ० ५।१, विजरो विमृत्यु। छान्दोग्य० ८।७।१, न जरा न मृत्युर्न शोको छान्दोग्य० ८।४।१; आत्मरतिरात्मक्रीड। छान्दोग्य उपनिषद।

(११) तमेवैक जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ। उपनिषद्।

'आत्मा ही यह सब है'[१]। 'भगवन्! शोक से मुझे पार कीजिए'[२]। 'तुम्हे मृत्यु व्यथा न दे'[३]।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणो के आधार पर हम भली प्रकार देख सकते सकते है कि आत्मदर्शन ही उपनिषदो का अतिम उपदेश है। आत्मा की गवेषणा को छोड उनके लिए कोई सवाल ही महत्वपूर्ण नही है। इस आत्मा के दर्शन को वे अत्यन्त कठिन किन्तु साथ ही पवित्र जीवन के द्वारा लभ्य भी मानते है, यह भी हमने उपर्युक्त उद्धरणो के द्वारा देखा है। औपनिषद ऋषि अमृतत्व की इच्छा को एक सत्य आत्मा की अनुभूति से ही पूरा हुआ मानते है, यह भी हमने ऊपर देखा है। किन्तु सबसे बडी बात तो यह है कि वे जीवन की अनेकता में एकता देखने के पक्षपाती हैं। 'मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति' यह उनकी अनेक वाणियो का सार है। निश्चय ही यह उनका विश्व के लिए सब समय के लिए, सम्भवत आज तक का सबसे बडा दान है। मनुष्य की बुद्धि या अनूभूति इससे आगे झाक नहीं सकती। 'अथात आदेशो नेति नेति' ऐसा उसके विषय मे आज भी कहा जा सकता है। किन्तु इस ज्ञान की सर्वोत्तम प्रतिष्ठा पर औपनिषद ऋषि किसी तर्क परम्परा के द्वारा अथवा किसी निश्चित या व्यवस्थित दर्शन-प्रणाली के द्वारा नही पहुचे थे। हा, उत्तरकालीन आचार्यों ने तो उनके प्रज्ञानो को पण्डितवाद की दिशा में आगे बढाया है और अपनी-अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार उनकी व्याख्याए

---

(१) आत्मैवेद सर्वम्। छान्दोग्य० ७।२५।२; इदं सर्वं यदयमात्मा। बृहदारण्यक० २।४।६; ब्रह्मैवेदं सर्वम्। मुण्डक० २।२।११; सर्वं खल्विद ब्रह्म। छान्दोग्य० ३।१४।१; ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्। मुण्डक० २।२।११; आत्मत एवेदं सर्वम्। छान्दोग्य० ७।२६।१; अस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरि क्षमोतम्। मुण्डक० २।२।५; मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदारण्यक० ४।४।१९ अन्योऽसावन्योऽहस्मीति न स वेद यथा पशुः बृहदारण्यक० १।४।१०; यदा हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति कठ० २।४।१३; नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। बृहदारण्यक० ३।७।२३; ३।८।११

(२) तन्मा भगवान् शोकस्य पार तारयतु। छान्दोग्य० ७।१।३; तस्मै मृदित-कषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः। छान्दोग्य० ७।२६।२

(३) मा वो मृत्यु परिव्यथा। उपनिषद्।

भी की है। किन्तु औपनिषद ऋषियो ने तो उस ज्ञान को हृदय के प्रकाश में ही देखा था। अत॰ उस ज्ञान में कही कही अस्पष्टता भी दिखाई दे सकती है, कही कहीं अव्यवस्था और कही कही परस्पर विरुद्धता भी। किन्तु ये सब बातें उसकी परिपूर्णता को ही दिखाने वाली हैं। जिस ब्रह्म और आत्मा की एकता को इन ऋषियो ने देखा है, वह हमारे ज्ञान की एक अपूर्व निधि है। उपनिषदो का जितना भी तत्वदर्शन है उस सबका केवल यही मात्र प्रयोजन है कि सत्य को अपने अन्दर देखना चाहिए और जैसे अपने अन्दर देखते है वैसे ही वाहर देखना चाहिये क्योकि सृष्टि के व्यापक तत्व में विभिन्नता नही है। इससे व्यावहारिक जीवन के लिए क्या उपदेश हो सकता है। जो अपने को सर्वत्र और सब में अपने को देखता है, वह क्या किसी से द्वेष कर सकता है, क्या लोभ और मोह उसके पस फटक सकते हैं, क्या वह इन्द्रियाराम हो सकता है, क्या प्रमाद का जीवन उसके द्वारा शक्य है? आत्मज्ञानी होने के यत्न में ही यह सब छोडना पडता है, फिर उसे प्राप्त करने के बाद की तो बात ही क्या? आत्मज्ञान का उपदेश इसीलिए दिया जाता है कि मनुष्य अपनी देह से, इन्द्रियो से, सूक्ष्म अहकार से, प्राण वर्ग से, भूतवर्ग से, आसक्ति न करे, इनमें राग न बढाए, इनमें 'अह', और ममत्व बुद्धि न करे, किन्तु जो 'आत्मा' इन सब की प्रतिष्ठा है, जिसमें ही इन सब के उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं और जो ही समग्र अनुभव का अधिष्ठान है, उस आत्मा को मनुष्य अपना ही स्वरूप समझ कर, उसके साथ तादात्म्य अनुभव कर, उपर्युक्त जो अनात्म पदार्थ कहे गए हैं (यथा शरीर, मन आदि) उनसे निर्वेद और वैराग्य प्राप्त करे, आत्मा को ही अपना देखे, आत्मा को ही अपना समझे, जो सत्, चित् और आनन्द है। इस प्रकार उपनिषदो के आत्मज्ञान की दो दिशाए है, एक तो अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि न करना (मैत्रेयी और नचिकेतस् के समान) और दूसरे परमार्थ-रूप अनुभवतीत निन्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव आत्मतत्व की तादात्म्य से अनुभूति करना। पहला पक्ष साधन पक्ष है और दूसरा साध्य पक्ष। पहले का संबध अनुभव जगत् से है और दूसरे का इन्द्रियातीत से। यहा हमें बुद्ध का मन्तव्य समझना चाहिए। जहा तक अनुभव जगत् अर्थात् साधना पक्ष से सबध है वहा तक बुद्ध और उपनिषदो के ऋषि एक हैं। बुद्ध ने यह बडी मार्मिकता पूर्वक सिखाया है कि यह 'रूप' तुम्हारा नहीं है, ये वेदनाएं तुम्हारी नही है, ये सज्ञाएं

तुम्हारी नही है, ये सस्कार तुम्हारे नही हैं, ये विज्ञान तुम्हारे नही हैं। इनमें फंसते हो तो चकनाचूर हो जाओगे। इनमें आत्म बुद्धि करोगे तो तो कहीं के न रहोगे। ये सब तो एक क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण में विनष्ट होते हैं। सभी दुख रूप है। इनको 'मै' या 'मेरा' समझते हो, इन पर अपना प्रेम लटकाते हो तो लोहे का जलता गोला अपनी गर्दन में बांधते हो। 'भिक्षुओ! मत प्रमाद करो! मत इस लोहे के जलते गोले को निगलो, यह तुम्हारी अतडिया तोड देगा और तुम हाय! हाय! कहते फिरोगे'। यह लोहे का गोला क्या है? यही जो रूप को आत्मा समझना, वेदना को आत्मा समझना, सज्ञा को आत्मा समझना, सस्कार को अपना समझना, विज्ञान को अपना समझना! इनमें तुम्हारा कुछ नही है। इस प्रकार भगवान् तथागत ने आत्मा और अनात्मा के रूप का वर्णन दृश्य जगत् को लेकर किया है और वह उपनिषदों के अनुसार इस प्रयोजन के लिए हैकि मनुष्य को निर्वेद प्राप्त हो, निर्वेद प्राप्त होने से उसे स्थिरता प्राप्त हो, स्थिरता प्राप्त होने से उसे शाति प्राप्ति हो और शाति प्राप्ति होने से उसे विमुक्ति प्राप्त हो। यह विमुक्ति या निर्वाण की अवस्था ही वह अतीत अवस्था है, जिसे हम उपनिषद् की भाषा में 'ब्राह्मी' स्थिति कह सकते हैं। तथागत 'ब्रह्मभूत' थे, ऐसा औपनिषद अर्थ को लेकर भी कहा जा सकता है। तथागत ने इस ब्राह्मी स्थिति को निर्वाण के रूप में स्वीकार किया और यही उनके समग्र नैतिक आदर्शवाद का लक्ष्य भी रहा क्योकि उन्होंने स्वय ही कहा कि मूल वस्तु (दुःख निरोध रूपी कृतकृत्यता) जब प्राप्त हो जाय तो और का तो कहना क्या मनुष्य स्वय उनके धर्म को भी छोडदे क्योकि जिस भव को उससे उसे पार करना करना था वह तो कर ही लिया गया, अत उसके उपयोग की शेषता नही रही।[1] अत. तथागत सदा

(१) मिलाइये 'भिक्षुओ! मेरे द्वारा उपदेश किए हुए धर्म को कुल्ल (बेड़े) के समान समझना, यह पार होने के लिए है, पकड़ रखने के लिए नहीं।' महातण्हासंखय सुत्त (मज्झिम निकाय) 'ऐसे ही भिक्षुओ! मैंने बेडे की भांति निस्तरण के लिए तुम्हें धर्म को उपदेशा है, पकड़ रखने के लिए नहीं। धर्म को बेडे के समान उपदेशा जानकर तुम धर्म को भी छोड़दो, अधर्म की तो बात ही क्या?' अलगद्दूपमसुत्त (मज्झिम निकाय)

ही उस 'अजात, अभूत' तत्व की स्मृति तो रखते हैं (यद्यपि 'आत्मा' शब्द के रूप में नही) जो पञ्चस्कन्धो के क्षेत्र से बाहर है और इसलिए स्वतः उनसे विपरीत है अर्थात् अ-दुःख, अ-अनित्य और अ-अनात्म है। किन्तु इस अनुभवातीत तत्व की व्याख्या में भगवान् युक्त नही होते जैसा कि हम 'निर्वाण के स्वरूप का विवेचन करते समय देख चुके है।फिर यदि हम थोडी देर के लिए यह भी मान लें कि भगवान् बुद्ध ने सिवाय चिर परिवर्तनशील पञ्चस्कधो के और किसी की स्थिति ही नही मानी है तो फिर उनके 'निब्बाण' की ही क्या सगति है? वह भी तो फिर अनित्य, अनात्म और दुःख ही ठहरा! फिर उसे दुःख का अशेष निरोध क्यो कहा जाता है? यदि प्रतीत्यसमुत्पन्न पञ्चस्कन्ध दुःख है तो जो अ-दुःख है वह उससे विपरीत होना ही चाहिए और उससे विपरीत होने का स्वरूप इससे अतिरिक्त क्या हो सकता है कि वह अ-अनित्य (अर्थात् नित्य) और अ-अनात्म (अर्थात्, 'आत्मा') हो। इस प्रकार अर्थापत्ति से भगवान् तथागत भी उपनिषद् के ऋषियों के पास ही दीखते हैं। इससे अतिरिक्त न उनके तत्वज्ञान की, न आचार तत्व की और न सम्यक् सबोधि की ही कोई सगति है, किंतु जैसा कि हम 'अनात्मवाद' के विवेचन में पहले कह चुके है, शाश्वतवादी आत्मवाद का उपदेश करना तथागत का काम नही था। जैसा कि मालुंक्यपुत्र से उन्होने कहा, ऐसा करने से वे झट उस समय में प्रचलित शाश्वतवादी सिद्धान्तों की कोटि में आ जाते और फिर वे एक सद्धर्म के सस्थापक न होकर केवल उस समय में प्रचलित एकागी सिद्धात (शाश्वतवाद जिसके विपरीत अशाश्वतवाद की कोटि भी प्रचलित थी) के ही प्रचारक होते। इसीलिए 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्[1]।' औपनिषद 'आत्मा' के विषय मे बुद्ध-मौन की व्याख्याए हम 'अनात्मवाद' के विवेचन में कर चुके है। बुद्ध तथागत ने केवल मौन से ही उपदेश दिया और उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने जो यह कहा है कि बुद्ध के द्वारा आत्मवाद और अनात्मवाद दोनो का ही उपदेश दिया गया है[2], वह बहुत कुछ अश में ठीक है। वाचस्पति मिश्र का यह तर्क कि पञ्चस्कधो में आत्मा न मानने का विचार ही आत्मा की स्थिति की ओर सकेत करता है, विचार से खाली नही है क्योकि कोई भी प्राणी यह तो अनुभव नही

(१) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन' का विवेचन।
(२) देखिए पीछे चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन।

करता कि 'मै नही हू'[१] । हा, पञ्चस्कध मै नही हू या पञ्चस्कध मेरे नही हैं, यह कहना तो बिलकुल दूसरी बात है। तथागत ने परमार्थ रूप से आत्मा का निषेध नही किया, किन्तु जिस 'काम' या अहकार के नाश का विधान औपनिषद ऋषि अनुभवावसान आत्मा के दर्शन द्वारा करते हैं[२] उसी का तथागत ने अनात्म पदार्थों से विरत रखकर किया है। इतना ही दोनो में विभेद है। 'मै यह हूँ' और 'मैं यह नहीं हूँ' यदि इन दोनो बातो के समाधान में एक पूर्ण दर्शन की उपलब्धि हम मानें तो बौद्ध दर्शन उपनिषद्-दर्शन की अपेक्षा अपूर्ण लगेगा, क्योकि वह दूसरी बात ही कहता है, जब कि उपनिषदें दोनो बातें कहती हैं। उपनिषदें ज्ञान स्वरूप हैं, अत वे सिक्के के दोनो पक्षो को खोल कर दिखाती हैं, तथागत ज्ञान के शास्ता हैं इसलिए वे साधना के केवल एक ही पर्दे को दिखाते हैं क्योकि 'मार्ग' उनके उपदेश का रहस्य है, 'मार्गणीय' की विशेषताए वता-बता कर मनुष्यो के चित्त में अभिनिवेश उत्पन्न कराना उनका लक्ष्य नही था। उनके मौन में हमें प्रयोजन को देखना चाहिये। साधन उनका मुख्य ध्येय था, साध्य नही। यदि कामनाए नष्ट हो जायगी, हृदय की ग्रन्थि का छेदन हो जायगा, तो भव ठडा पड जायगा, ब्रह्मचर्य पूरा हो जायगा, जो कुछ करना है वह कर लिया हुआ हो जायगा और इससे अधिक आत्मोपदेश का ही क्या ध्येय है? केवल आत्मवाद के विषय में बात करने से तो आत्मवादी भी आत्मा की प्राप्ति सभव नही मानते, तो क्या फिर तथागत का समग्र नैतिक आदर्श भी विना किसी प्रयोजन के हो जायगा? क्या अभाव

---

(१) मिलाइये, सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोक नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य १।१।१

(२) मिलाइए, इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य. परं मन।

मनसस्तु परा वुद्धिर्यो वुद्धे. परतस्तु सः ॥गीता ३।४२

एवं वुद्धेः परं वुध्वा सस्तम्यात्मानमात्मना।

जहि शत्रुं महावाहो कामरूप दुरासदम् ॥३।४३

यह एक व्यवस्थित वर्णन है, उपनिषदों में देखिए, छान्दोग्य० ४।३।३ कठ० ३।१०।१३; ६।७-११ आदि। देखिए अभी आगे औपनिषद मनोविज्ञान का विवरण भी।

में पर्यवसान करने के लिए ही उनका समग्र उद्यम है, उनके वीर्य के आरम्भ का अंतिम परिणाम है? यह सब नही हो सकता। जब तथागत ब्रह्माओ के लोक की सलोकता का उपदेश करते हैं, जब वे त्रैविद्य होने का दावा करते हैं, जब वे जीवन में एक नियम मानते हैं जब 'धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता' (चतु शतक) और जब वे औपनिषद ऋषियो की परम्परा में ही 'उपशात' होकर परम तत्व का निर्देश करते हैं, तब हम यह कैसे कहें कि उनका अनात्मवाद भी, जो तृष्णा के निवेशणो को उच्छिन्न करने का एकायन मार्ग है और जो इस प्रकार सत्वो की शाति के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए और निर्वाण के लिए एकमात्र उपाय है, वह औपनिषद मन्तव्य के समान अभिप्राय वाला, समान फल वाला और जहा तक अनुभव जगत् से सबध है समान ही रूप वाला नही है? अनुभवातीत को भगवान् ने नि शब्द ही छोड दिया है और जिन्होने उसके विषय में शब्द भी कहे हैं उन्होने भी उनकी अपर्याप्तता ही स्वीकार की है। चतुर्थ प्रकरण में जो कुछ 'अनात्मवाद' के प्रसग मे एव 'निर्वाण' के प्रसग में हम कह चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति की यहा आवश्यकता नही। ऊपर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जो उद्धरण दिये हैं उनमें तीन चौथाई निषेधात्मक भाषा का ही आश्रय लेते हैं। चरम अद्वैत निषेधात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है और उसी का प्रवर्तन बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद में हुआ है, यह हम अनात्मवाद के विवेचन में दिखा चुके हैं। बुद्ध का मतन्व्य अस्ति और नास्ति, नित्यता और अनित्यता की सब कोटियो से अतीत था और सिवाय मौन के उसके स्पष्टीकरण का और कोई उपाय ही नही है[1]। यदि औपनिषद 'आत्मा' के प्रति बुद्ध के मन्तव्य को प्रख्यापित करने के लिए लेखक की मीमासा के एक सूत्र (तस्य ज्ञानमुपदेश १।१।५) की नकल पर एक सूत्रात्मक वाक्याश गढ़ने की धृष्टता क्षम्य हो तो वह विनम्रता पूर्वक कह सकता है

'तस्य मौनमुपदेश' । 'एतेन सर्वे व्याख्याता'

अब हम औपनिषद मनोविज्ञान पर आते हैं। उपनिषदो में व्यवस्थित मनोविज्ञान उपलब्ध नही होता जैसा कि बौद्ध दर्शन या साख्य दर्शन में

(१) 'शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च। पद यथा न दृश्येत तथा ज्ञानवता गति'। महाभारत, शान्ति० २३९।२४; मिलाइये, वट्टं तेस नत्थि पञ्ञापनाय। उदान ६।८

औपनिषद मनोविज्ञान होता है। उपनिषदो की ही मनोवैज्ञानिक चिन्ताओ को लेकर साख्य दर्शन ने एक स्वतन्त्र मनोविज्ञान का उद्भावन किया है जिसका प्रयोग प्राय: सभी 'आस्तिक' दर्शन करते है और जिसके ही आधार पर योग अपने चित्तवृत्तिनिरोधात्मक साधन-मार्ग का उपदेश करता है। अत: बौद्ध मनोविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन साख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान के साथ करते समय स्वतः ही औपनिषद मनोविज्ञान भी व्याख्यात हो जायगा। यहा केवल साधारण रूप से कुछ कहना अपेक्षित है। उपनिषदो का लक्ष्य आत्म-दर्शन मनुष्य को कराना है जिसके आधार पर ही उसके मनोविज्ञान का निर्माण हुआ है, उसी प्रकार जैसे कि नैतिक आदर्शवाद पर अपने व्यवहार-पक्ष में और अनात्मवाद पर अपने तात्विक पक्ष में प्रतिष्ठित 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन का उद्भावन चित्त और चेतसिको एवं 'कुशल' और 'अकुशल' कर्म आदि के रूप में हुआ है। जैसा जिस दर्शन का तत्वदर्शन, वैसा ही उसका मनस्तत्व-विवेचन। उपनिषदो के ऋषियों के लिए सबसे बडी वस्तु आत्मा है जिसके साक्षात्कार में कृतकृत्यता निहित है, किन्तु आत्मा तो गभीर अध्यात्म योग से ही देखा जा सकता है, अतः मनस्तत्वो के गवेषण की आवश्यकता है। 'मनो पुब्बगमा धम्मा' जिस प्रकार 'मौलिक्य' बौद्ध मनोविज्ञान की सर्व प्रथम वाणी है, उसी प्रकार उपनिषदो के लिए भी प्रधान, इन्द्रिय मन ही है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति'[१]। 'मन से ही देखता और मन से ही सुनता है'। इतना ही नही, काम, सकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति आदि सब मन ही है[२]। आत्मा ही वाङमय, मनोमय और प्राणमय है। बृहदारणयक उपनिषद तो अपनी रहस्यात्मक वाणी में आकाश को ही मन का शरीर और ज्योति को ही रूप बताती है। प्रश्नोपनिषद् दस इन्द्रियो का बडा ही विशद वर्णन उपस्थित करती है। पिप्पलाद मुनि से सूर्य के पौत्र गार्ग्य ने पूछा है 'भगवन्! इस पुरुष में कौन सोती है? कौन इसमें जागती है? कौन देव स्वप्नो को देखता है? किसे यह सुख अनुभव होता है? किसमें ये सब प्रतिष्ठित है ? इस अत्यन्त

---

(१) बृहदारण्यक० १।५।३

(२) कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। बृहदारण्यक० १।५।३

गभीर और विस्तृत प्रश्न के उत्तर स्वरूप इन्द्रियो के लय-स्थान आत्मा को बताते हुए भगवान् पिप्पलाद सौर्यायणी (सूर्य के पौत्र) गार्ग्य से कहते हैं। तस्मै स होवाच 'यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्त गच्छत सर्वा एतस्मिंस्तेजोमडल एकी भवन्ति। ता पुन पुनरुदयत प्रचरन्त्येव ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न श्रृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वीपतीत्याचक्षते[1]।' अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर सपूर्ण किरणें उस तेजोमडल में एकत्र हो जाती है और उसका उदय होने पर वे फिर फैल जाती है, उसी प्रकार वे सब (इन्द्रिया) परम देव मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती है। इससे तव वह पुरष न सुनता है, न देखता है, न सूघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और (न कोई चेष्टा करता है। तव उसे 'सोता है' ऐसा कहते है। यही उपनिषद् मनस्तत्वो का कुछ अन्योक्ति के साथ वर्णन करती हुई स्वप्न दर्शन के विषय में कहती है 'इस स्वप्नावस्था मे यह देव अपनी विभूति का अनुभव करता है। इसके द्वारा जो देखा हुआ होता है उस देखे हुए को ही यह देखता है, सुनी वातो को ही सुनता है तथा दिशा विदिशाओ में अनुभव किए हुए को ही पुन. पुन अनुभव करता है। यह देखे, विना देखे, सुने, विना सुने, अनुभव किए, विना अनुभव किए, तथा सत और असत् सभी प्रकार के पदार्थों को देखता है और स्वय भी सर्वरूप होकर देखता है[2]।' यहा विभूति को अनुभव करने से तापर्त्य, भगवान् शकराचार्य के मतानुसार, विषय-विषयी रूप अनेकात्मत्व को प्राप्त करने से है[3]। क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता मन की उपाधि के कारण है, वास्तव में क्षेत्रज्ञ तो स्वय न सोता है और न जागता है। उसका जागना

---

(१) प्रश्न० ४।२

(२) अत्रैष देव स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्ट दृष्टमनुपश्यति। श्रुत श्रुतमेवार्यमनुश्रृणोति। देश दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूत पुन पुन ।प्रत्यनुभवति दृष्ट चादृष्ट च श्रुतं चाश्रुत चानुभूत चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्व पश्यति। प्रश्न० ४।५

(३) महिमानं विभूनि विषयविषयीलक्षणमनेकात्मभावगमनम्। अनुभवति प्रतिपद्यते। उपर्युक्त पर शाकर भाष्य।

और सोना तो मन रूप उपाधि के ही कारण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसा ही कहा गया है 'वह बुद्धि से तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्न रूप होता है और मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता है'[१]। स्वप्नावस्था में आत्मा स्वय ज्योतिः रहता है,[२] यह उपनिषदो का एक मौलिक सिद्धात है और इसका तात्पर्य यह है कि 'इन्द्रियो के मन में लीन हो जाने पर तथा मन के लीन न होने पर आत्मा मन-रूप होकर स्वप्न देखा करता है'[३]। वैसे उपनिषदो में इस आत्मा के वास के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह आत्मा शयन करता है,[४]' और कही-कही तो ऐसा भी कहा है कि वह 'पुरीतत् नाड़ी में शयन करता है[५]।' शकर, जिनको श्रुतियो की एकता ही इष्ट है, इन सबका बडा अच्छा समन्वय-समाधान करते हैं[६]। जब यह आत्मदेव स्वप्न नही देखता तो उस समय शरीर में यह सुख (ब्रह्मानन्द) होता है और यही सुषुप्ति की अवस्था होती है[७]। 'यहा अर्थात् इस समय यह मन नाम वाला देव स्वप्नो को नही देखता, क्योकि उन्हे देखने का द्वार तेज से रुक जाता है। तदनन्तर इस शरीर मे यह सुख होता है अर्थात् जो निराबाध और सामान्य रूप से सपूर्ण शरीर में व्याप्त विज्ञान है, वह प्रसन्न हो जाता है[८]।' अन्त में

---

(१) स धीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव। बृहदारण्यक० ४।३।७; कहीं-कहीं 'ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वा' ऐसा भी पाठ है। शंकर ने पहले ही पाठ को अपने भाष्य में उद्धृत किया है।

(२) अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः। बृहदारण्यक ४।३।१४

(३) मनसि प्रलीनेषु करणेषु अप्रलीने च मनसि मनोमय स्वप्नान् पश्यति। शांकर भाष्य, प्रश्न० ४।५ पर।

(४) य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते। बृहदारण्यक० २।१।१७; मिलाइये बृहदारण्यक . ५।६; छान्दोग्य- ८।३।३; ५।१।६; कठ . २।२०; ३।१; ४।६; ६।१८; श्वेताश्वतर .. ३।११।२०।

(५) पुरीतति शेते। बृहदारण्यक . २।१।१९

(६) अर्थैकत्वस्य इष्टत्वात्। देखिए शांकर भाष्य प्रश्न० ४।५ पर।

(७) मिलाइए, स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः। स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीर एतत्सुखं भवति। प्रश्न ४।६

(८) अत्रैतस्मिन्काल एष मन आख्यो देव. स्वप्नान्न पश्यति दर्शनद्वारस्य

'हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षी अपने बसेरे के वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार यह सब (कार्यकारण सघात) सबसे उत्कृष्ट आत्मा में जाकर स्थित हो जाता है[1]'। यही औपनिषद दर्शन की अंतिम विजय है न केवल बौद्ध मनोविज्ञान पर ही किन्तु आज के बहुमुखी मानस-शास्त्र पर भी। सर्वातीत आत्मा-अक्षर में जाकर सभी मानसिक व्यापारों का मिल जाना या लीन हो जाना उपनिषदो के मनोविज्ञान का प्राणस्वरूप सिद्धात है। इसके तीन स्वरूप उपनिषदो में प्रकाशित हुए हैं। किस प्रकार समग्र मानसिक और भौतिक व्यापार क्रमशः एक के बाद एक में प्रवेश कर अन्त में आत्मा में लीन हो जाते हैं, इसकी तीन अवस्थाएं हैं (१) सुषुप्ति की अवस्था में, (२) योग की अवस्था में एव (३) मृत्यु होने पर। नामरूपात्मक समग्र कार्यकारण-सघात जिस प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में आत्मा में लीन होता है, उसका क्रम श्रुति यो वर्णन करती है। पृथिवी और पृथिवीमात्रा (गधतन्मात्रा), जल और रस तन्मात्रा, तेज और रूप तन्मात्रा, वायु और स्पर्श तन्मात्रा, आकाश और शब्द तन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्श योग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, वायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन करने योग्य, बुद्धि और बोद्धव्य, अहकार और अहकार का विषय, चित्त और चेतनीय, तेज और प्रकाश्य पदार्थ तथा प्राण और धारण करने योग्य वस्तु, ये सभी आत्मा में लीन हो जाते हैं।[2] इससे परे जो आत्म स्वरूप जल में प्रतिबिम्बित सूर्य

निरुद्धत्वात् तेजसा। अथ तदैतस्मिन् शरीर एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः। प्रश्न० ४।६ पर शाकर भाष्य।

(१) स यथा सोम्य वयासि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एव ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते। प्रश्न० ४।७

(२) पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं

के समान इस शरीर में कर्ता-भोक्ता रूप से अनुप्रविष्ट है 'वही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, (मनन करने वाला) बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है और वह पर अक्षर आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थिर हो जाता है'[१]। यह तो जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में मानसिक व्यापार आत्मा में लीन होते है उसका निदर्शन हुआ। अब जिस क्रम से वे योग की दशा में आत्मा में लीन होते हैं, वह इस प्रकार है। 'इन्द्रियो से मन पर (उत्कृष्ट) है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से महत्तत्व बढकर है तथा महत्तत्व से अव्यक्त उत्तम है, अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिंग है जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और अमरत्व को प्राप्त हो जाता है जिस समय पाचो ज्ञानेन्द्रिया मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नही करती, उस अवस्था को परम गति कहते है . . . . ..इस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते है।'[२] यही योग की अवस्था में मानसिक व्यापारो का आत्मा मे लीन हो जाना है। इसी का एक दूसरा वर्णन भी उपलब्ध है। 'इन्द्रियो की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ है, विषयो की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी महान् आत्मा (महत्तत्व) श्रेष्ठ है। महत्तत्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यक्त से भी पुरुष पर है। पुरुष से पर और कुछ नही है। वही परा काष्ठा है, वही परागति है . .प्राज्ञ पुरुष वाक् इन्द्रिय का मन में उपसहार करे, उसका प्रकाश स्वरूप बुद्धि में लय करे, बुद्धि को महत्तत्व में लीन करे और महत्तत्व को शात आत्मा में लीन करे'[३]। इस प्रकार हमने

चाहकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च। प्रश्न ४।८

(१) एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। प्रश्न ..४।९

(२) इन्द्रियेभ्य. परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम्। सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृत्वं च गच्छति॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्। कठ० २।३।७,८,१०,११

(३) इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा

यह भी देख लिया की योग की अवस्था में किस प्रकार इन्द्रियो आदि का आत्मा में लय किया जाता है। अब यह लय मृत्यु में कैसे होता है, यह हमें और देखना है। मृत्यु सब काम बहुत सक्षेप में कर देती है। 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मन प्राणे प्राणस्तेजसि तेज परस्या देवतायाम्'[1]। अर्थात् मरते हुए पुरुष की वाणी मन में प्रवेश कर जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परम देवता में। इस प्रकार सत्यद्रष्टा ऋषियो ने ज्ञान को हमारे लिए प्रकाशित किया है। इन्द्रियो आदि के आत्मा में लय होने के उपर्युक्त त्रिविध क्रम को यहा इस तालिका द्वारा दिखाना कदाचित् विषय को अधिक बोधगम्य बनायेगा .

(१) सुषुप्ति की अवस्था में	(२) योग की अवस्था में	(३) मृत्यु होने पर
प्रश्न० ४।८	कठ० २।३।७–११ कठ० १।३।१०–१३	छान्दोग्य० ६।८।६
आत्मा	पुरुष	परा देवता
प्राण	अव्यक्त	प्राण
तेजस्	महान्आत्मा	मन
चित्त	बुद्धि	वाक्
अहकार	मन	
बुद्धि	इन्द्रिया	
मन		
तन्मात्राए, भूत, इन्द्रिया		

अब तक जितनी भूमि हम चल चुके है, उसी को कुछ बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखने का प्रयत्न करें। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध योग के अभ्यासी थे और ध्यान (झान) का उपदेश वे दिया करते थे। चित्त की वृत्तियो का निरोध तो उनका अनन्यसाधारण ही था[2]। इन सब बातों पर हम यहा

महान्पर ।। महत' परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ।। यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।। कठ० १।३।१०, ११,१३

(१) छान्दोग्य, ६।८।६

(२) देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३) में ध्यानी बुद्ध का एक चित्र।

विचार नही कर सकते। यहा तो हमें केवल यही देखना चाहिए कि क्या बौद्ध मनोविज्ञान का भी भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट समाधि से कोई सबध है जिस प्रकार औपनिषद मनोविज्ञान का एकतम मन्तव्य और प्रयोजन आत्मा में इन्द्रियादि को लय करना है ? इसका उत्तर हा में ही है। भगवान् ने उस उच्चतम समाधि का उपदेश दिया है जिसको उन्होने 'सज्ञावेदयितनिरोध' कहा है (जिसको ही, जैसा हम आगे वेदान्त दर्शन के प्रसग में देखेंगे, भगवान् गौडपादाचार्य ने अस्पर्शयोग कहा है) 'भिक्षुओ ! भिक्षु एक दिशा, दूसरी दिशा, तीसरी दिशा, चौथी दिशा, ऊपर, नीचे, तिरछे, हर जगह, हर प्रकार से, सारे लोक के प्रति, विपुल, महान्, प्रमाणरहित निर्वैर, निष्क्रोव, मैत्री-चित्त वाला और उपेक्षा युक्त चित्त वाला हो विहरता है। वह सब रूप सज्ञाओ को पार कर, प्रतिघ सज्ञाओ को अस्त कर नानात्व सज्ञा को मन से बाहर निकाल 'आकाश अनन्त है,' ऐसा विचार करके 'आकाशानन्त्यायतन' को प्राप्त हो विचरता है। आकाशानन्त्यायन को पार कर 'विज्ञान अनन्त है' विचार करके 'विज्ञानानन्त्यायन' को प्राप्त हो विहरता है। विज्ञानानन्त्यायतन को पार कर 'कुछ नही है' विचार करके' आकिञ्चन्यायतन को प्राप्त हो विहरता है . . . सभी आकिञ्चन्यायतनों को पार कर 'नैव-सज्ञानासज्ञायतन' को प्राप्त हो विहरता है। सभी नैव-सज्ञानासज्ञायतन को पार कर 'सज्ञा वेदियत-निरोध' (सज्ञा की अनुभूति के निरोध) को प्राप्त विहरता है[1]।' यही निरोध समापत्ति बौद्ध मनोविज्ञान का अतिम फल है। समाधि की इस अवस्था मे काय-सस्कार, वचन-सस्कार और चित्त-सस्कार तो निरुद्ध हो जाते है, परतु उष्मा शान्त नही होती, आयु-सस्कार क्षीण नही होते। यही इसका मृत्यु से विभेद है।

जिस प्रकार आत्मा में सभी मानसिक प्रवृत्तियो के लय होने पर 'तरति शोकमात्मवित्' ऐसा उपनिषदो का निर्घोष होता है, उसी प्रकार 'सज्ञा-वेदयितनिरोध' की अवस्था प्राप्त कर साधक को अनुभव होता है, 'जन्म-मरण जाता रहा, ब्रह्मचर्यवास पूरा हो गया, जो करना था सो कर लिया, अब यहा के लिए कुछ शेष नही रहा।' कृतकृत्यता दोनो ही जगह समान है। और दोनो ही अपने-अपने मार्ग से चलकर किसी एक समान अवस्था पर

---

(१) अगुत्तर ९

पहुचते हैं जहा अशेष दु ख-निरोध होता है, ऐसा हमें जानना चाहिए। ऊपर के विवरण से स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओ का तो स्वरूप स्पष्ट हो चुका है, किंतु सक्षेप से आत्मा की चार अवस्थाओ का अर्थात् जाग्रत,स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओ का कुछ और निर्देश माडूक्य उपनिषद् के अनुसार कर दें। माण्डूक्य उपनिषद् ने आत्मा को 'चतुष ˜त्'[1] कहा है जिसका सक्षेप विभाग हम ऐसे कर सकते हैं (१) जागरित स्थान वहि प्रज्ञ, स्थूल भुक्, वैश्वानर आत्मा (२) स्वप्न स्थान, अन्त प्राज्ञ, प्रविविक्त भुक्, तैजस आत्मा (३) सुषप्त[2] स्थान एकीभूत प्रज्ञानघन आनन्दमय आनन भुक् चेतो-मुख, प्राज्ञ (४) न अन्त प्रज्ञ, न वहि प्रज्ञ , न अभयत प्रज्ञ ,न प्रज्ञाघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ , किन्तु अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शात, शिव, अद्वैत आत्मा। यही आत्मा की चार अवस्थाए हैं, जिन पर उपनिषदो के विचार किया है और अतिम अवस्था ही वह अनुभवातीत अवस्था है जिसके विषय में 'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्सत्यम्' 'स आत्मा', 'यत्साक्षादपरोक्षात्ब्रह्म' 'स ाह्याभ्यन्तरो ह्यज', आत्मैवेद', 'ओमित्येवोपासीत' आदि वाणियाँ कही गई है। इसके विषय में हम चतुर्थ प्रकरण में देख ही चुके है कि वुद्ध का तो है मौन (उपदेश) और उत्तरकालीन वौद्ध आचायो का निषेध। इस प्रकार औपनिषद मनोविज्ञान की कुछ झलक हमने देखी और विशेषत सभी प्रत्यक्षादि ज्ञानो के वास्तविक अधिष्ठान पुरुष को भी देखा। अव हम औपनिषद मोक्ष, साधन-पथ और कर्म और पुनर्जन्म सवधी सिद्धातो पर आकर सक्षेप में एतद्विषयक वुद्ध के विचारो के साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन मे प्रवृत्त होते हैं।

उपनिषदो के मोक्ष-सवधी विचार की वुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण से एक विचित्र तुलना है, यद्यपि यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न तात्विक

---

(१) सोऽयमात्मा ओङ्काराभिधेय परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात् कार्षापणवन्न गौरिव। त्रयाणा विश्वादीना पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधन. पादशब्द.। तुरीयस्तु पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्द। माण्डूक्य कारिका-शाकर भाष्य।

(२) यत्र सुप्तो न कचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।

परिस्थितियो से ही वे इस पर पहुचे हैं।

औपनिषद मोक्ष, साधन पथ, कर्म और पुनर्जन्म सम्बंधी सिद्धांतों की एतद्विषयक बुद्ध के विचारों से तुलना

'जिस प्रकार निरन्तर वहती हुई नदिया अपने नाम-रूप को छोड कर समुद्र में अस्त हो जाती है। उसी प्रकार विद्वान् नामरूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है[1]।' ऐसा उपनिषदो ने कहा है। यह नाम-रूप (औपनिषद प्रयोग)[2] से विमुक्त हो जाना क्या है? शकर के साक्ष्य पर 'अस्तम् अदर्शनम् अविशेषात्मभाव गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाम च रूप च नामरूपे विहाय हित्वा।'[3] यह सव चतुर्थ प्रकरण में निर्दिष्ट निर्वाण से मिलाने योग्य है, यदि निश्चय ही हम उसकी अभावात्मक व्याख्या पर तुले नही हुए है। जिस चीज को हम अपना व्यक्तित्व कह कर पुकारते हैं, 'अह' की ध्वनियो से जिसे विष पिला पिला कर वढाते हैं, उसका तो नि शेष परमावस्था में वुद्ध और उपनिषदो के अनुसार भी होना ठहरा। सूक्ष्म विभेद केवल शब्दो का इतना ही कहा जा सकता है। जव कि तथागत केवल 'अस्तगमन' ही कहते हैं, उपनिषदें उसे 'ब्रह्मभाव' कह कर भी पुकारती है। किन्तु यदि एक ओर निर्वाण के 'शात' प्रणीत' पद की ओर ध्यान दिया जाय और दूसरी ओर वुद्ध के 'ब्रह्मभूत' विशेषण को 'ब्रह्मभाव' समझा जाय तव तो कोई विभेद शेष नही रह जाता। वुद्ध ने भी तो 'ब्रह्म-प्राप्ति' का मार्ग वताया है फिर चाहे उनका मन्तव्य ब्राह्मणो के ब्रह्मलोक से अतीत ही क्यो न हो। मुक्तावस्था में तो वुद्ध और उपनिषदें दोनो मिलते है। उपनिषदे निरन्तर ही पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी चिल्लाती है 'विद्ययाऽमृतमश्नुते,' (ईश० ११) 'ब्रह्मप्राप्तो विरजो ऽभूद्विमृत्यु. (कठ० २।३।१८ 'तदेव विदित्वा मृत्युमत्येति' (श्वेताश्वतर ३।८।६।१५) 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्मसमश्नुते', 'अत्रैव समवनीयन्ते' (वृहदारण्यक० ३।२।११) 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्षेयऽथ सम्पत्स्ये' (छान्दोग्य० ६।१४।२) 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (वृहदारण्यक–४।४।६०) 'वृह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (वृहदार-

---

(१) मुण्डक० ३।२।८; देखिए प्रश्न० ६।५ भी।

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का विवेचन।

(३) शाकर भाष्य मुण्डक० ३।२।८पर

रण्यक ०४।४।६, देखिए वहीं १।४।१५ भी) 'विमुक्तोऽमृतो भवति' (मृण्डक-३।२।९) 'विमुक्तश्च विमुच्यते' कठ--५।१) आदि आदि। ये भावनाए जीते जी निर्वाण की भावना से कितनी समान है, इसे कौन नही जान सकता ? इसी प्रकार जहा 'न स पुनरावर्तते' (छान्दोग्य--८।१५।१')'न तेषामिह पुनरावृति (वृहदारण्यक-६।२।१५) 'ब्रह्मलोकमभिसपद्यते' (छान्दोग्य --८।१५।१) जैसी अवस्थाओ का सबध है, वहा तो बुद्ध ने भी पुनर्जन्म का निरोध होना दिखाया है। चाहे जिस किसी भी दृष्टिकोण से हम देखें विभेद पर हम नही पहुच सकते। उपनिषदो ने अत्यन्त निश्चित शब्दो में परमावस्था के 'आनन्द' का वर्णन किया है, आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को दिखाया है, 'अत्र ह्येते सर्व एक भवन्ति' ऐसा कहा है और 'सर्वमेवा-विशन्ति' ऐसा भी कहा है और यह सब 'निब्बाण परम सुख' की भावना से दूर नही है। सच वात तो ग्रह है कि वुद्ध निर्वाण की अनिरुक्त अवस्था पर अधिक जोर देते थे और इसीलिए उन्होने उसे वास्तव मे कथन मार्ग का विषय बनाया ही नही था और इसी वात पर उपनिषदो के ऋषियो के भी ज्ञान की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मज्ञान और मोक्ष में औपनिषद ऋपियो ने कोई विभेद ही नही रक्खा है। मोक्ष कोई उत्पन्न होने वाली चीज नही है। यदि उत्पन्न होने वाली होती तो विनाश होने वाली भी होती--इस व्याख्या में आते ही हम निश्चय ही 'मिलिन्द प्रश्नकार' और शकर पर आजाते है, जो हमारा इस समय प्रयोजन नही है। मोक्ष तो ज्ञान का ही, आत्म-साक्षात्कार का ही अपर नाम है। जो ज्ञान होना है, वही मुक्त हो जाना है। अत जिस प्रकार वुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मोक्ष की व्याख्या करता हुआ कोई स्थविरवादी भदन्त 'निव्वान हि महाराज अकम्मज, अहेतुज' (मिलिन्दपञ्हो) आदि कह सकता है तो औपनिपद मोक्ष का कोई उत्तरकालीन व्याख्याकार भी, 'तस्मान्न सत्कार्योऽपि मोक्ष' (ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य १।१।४)जैसे कह सकता है। तत्वत भेद कहा ठहरता है ? भगवान् याज्ञवल्क्य ने अपने अपरिमित वीर्यवान् शब्द कह कर इसके लिए कोई सभावना ही नही छोडी है। 'मैत्रेयी ! जहा दो का भाव है, वही तो एक दूसरे को देख सकता है, सूघ सकता है, वोल सकता है, सुन सकता है, सोच सकता है, किन्तु

(१) मिलाइए वृहदारण्यक० ३।५।१; छान्दोग्य० २।४।१ ; ईश० १; कठ० १।२।१२-१३; छान्दोग्य० ४।१५।६ भी।

जहा सब ही आत्मा में परिणत हो गया तब किसको किसके द्वारा वह देखे सुने, सोचे समझें[१]। हमारा जितना ज्ञान है, वह तो ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत पर ही निर्भर है, किन्तु जहा 'अविशेष' है वहा क्या कहा जाय? वहा मौन के सिवाय और क्या उत्तर हो सकता है? सिवाय निषेधात्मक विवरण के और विधानात्मक अर्थ की वहा क्या अर्थवत्ता हो सकती है? गौडपादाचार्य ने भी तो कारणवाद के समाप्त होने पर ऐसी ही अवस्था दिखाई है और क्या स्वयं कुमारिल ने भी नही कहा कि यदि मोक्ष को शाश्वत होना है तो उसे निषेधात्मक होना ही चाहिए?[२] हमारी सभी शकाए और सभी विवाद व्यक्तित्व के स्वरूप को न समझने के कारण ही होते है और यदि हम उसके स्वरूप को बुद्ध के और उपनिषदो के मन्तव्यो के अनुसार समझ पावें तो हमारे लिए विधानात्मक और निषेधात्मक जैसे शब्द ही व्यर्थ हो जाते है और अपने को विनाश करना या सत्ता का अभाव होना जिससे हम बहुत ही डरते है, ये बातें बिलकुल व्यर्थ ही हो जाती है। यदि उपनिषदो और बुद्ध के मन्तव्यो के अनुसार परमावस्था का कुछ चित्र हमें ग्रहण करना होगा तब तो हमें निश्चय ही 'नाम' और 'रूप'। (औपनिषद और बौद्ध दोनो ही प्रयोगो में, क्योकि जितना भी 'नाम' है और जितना भी 'रूप' है चाहे भूत का चाहे भविष्यत् का चाहे वर्तमान का, वह न मेरा है, न वह मै हू, ऐसा भगवान् बुद्ध ने तो कहा ही है, शकर के मतानुसार उपनिषदो के मन्तव्य में भी 'नामरूपे च न आत्मधर्मो ते च पुनर्नामरूपे सवितरि अहोरात्रे इव आत्मनि कल्पिते, न परमार्थतो विद्यमाने-तैत्तिरीय भाष्य—२।८) उनके प्रति विमोह छोडना ही होगा। किन्तु यदि इतनी शक्ति अभी हम में नही है, आत्माभिनिवेश से अभी हम इतने चिपटे हुए है कि उसके बिना भयान्वित हो उठते हैं, तो हमारे आश्वासन के लिए भक्तो और वैष्णवो की सुविस्तृत परम्परा उपस्थित है जो मोक्ष के विधानात्मक स्वरूप पर ही जोर देती है और जिसने अपने उपास्य देव के साथ भी 'नाम रूप दोउ ईस उपाधी' कह कर उन्हे ईश्वर के साथ चिपटा रक्खा है, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जब भक्त भी 'जहा न नाम न रूप' की अनिरुक्त अवस्था में रहस्यात्मक रूप से जानें लगेंगे तब तो आत्माभिनिवेशी जन के लिए कोई आश्रय ही नही रहेगा! भारतीय दर्शन में मुक्ति के स्वरूप को समझने के लिए और

(१) उद्धरण के लिए देखिए पीछे उपनिषदो के एकात्मवाद का विवेचन।

(२) देखिए आगे वेदान्त और पूर्वमीमासा दर्शनों के विवेचन।

उसमें एकवाक्यता लाने के लिए (यदि वह समव हो) हमें व्यक्तित्व के सप्रश्न पर ही पहले निश्चित हो जाना चाहिए और चूकि उसका विवेचन हम आत्म- वाद और अनात्मवाद के रूप में पहले कर ही चुके है, इसलिए इस विषय में यहा कुछ अधिक कहने को शेष नही रह जाता। साधन-पक्ष के विषय में हम यह तो कह ही आए है कि यज्ञादि के प्रश्न को लेकर बुद्ध और उपनिषदो के विचार में पारस्परिक क्या सबध है। यहा यही कहना शेप है कि सत्य (मुण्डक० ३।१।६) और श्रद्धा (तैत्तिरीय० १।११) पर उपनिषदें अत्यन्त जोर देती ही है और इन्द्रिय निग्रह पर भी उनका विशेष आग्रह है (देखिए कठ-उपनिषद्)। फिर तपस् का जो स्वरूप उनमें निहित है उसके विषय में हम प्रथम प्रकरण में ही बहुत कुछ कह आए हैं, अत यहा कहने की विशेष आवश्यकता नही दिखाई पडती। केवल कुछ श्रुतियो की ओर सकेत मात्र कर सकते है[1], जिनको देखकर पाठक स्वय ही बुद्ध के मन्तव्यो से उनकी अद्भुत समानता का अनुमापन कर सकेंगे। फिर औपनिषद मनीपियो ने बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट मध्यम मार्ग की भी अनुभूति पहले से न करली हो, ऐसा भी हम नही कह सकते। सत्यवह भारद्वाज को हम बुद्ध के मध्यम मार्ग के लिए पूर्व भूमि तैयार करते देखते है[2]। बहुत तो हम यहा इस विषय में

(१) द्रष्टव्य छान्दोग्य० ३।१७।४; बृहदारण्यक. १।२।६; ३।८।१०; तैत्तिरीय० १।९।१।३; २।१।३; ३।१, तैत्तिरीय ब्राह्मण० २।२।३।३, मिलाइए दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ २२६

(२) मिलाइये "सत्यवह भारद्वाज was one of the pioneers among those thinkers who bravely faced the problem, upheld transcendentalism against both asceticism as largely practised by the Vedic ascetics and wordly life as regulated with puritanic strictness by the Brahmin priests and jurists He thus prepared the way for the rationalism of Buddha who enunciated the Middle path and sought for a via media in thought, conduct and intellectual training" डा० वेणीमाधव बाड़आ : प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फलासफी, पृष्ठ २४८

नही कह सकते (क्यो कि वहुत कुछ प्रथम प्रकरण में ही कह चुके हैं) किन्तु केवल सकेत रूप से ही निवेदन करते हैं कि औपनिपद ऋषि जव आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की शर्तें रखते है और जव 'न अतपस्कस्य आत्मज्ञाने ऽधिगम कर्मसिद्धिर्वा' ऐसा कहते है तो वे वुद्ध के अभिप्राय के सम्मिलित स्वर में ही बोलते है। पुन इन्द्र को जो प्रजापति के पास से आत्मोपदेश पाने के लिए पवित्र जीवन विताते हुए १०० वर्ष तक ठहरना पडा (छान्दोग्य० ८।११।३); स्वय इन्द्र ने फिर प्रतर्दन से वही आत्मज्ञान के मूल स्वरूप तपस्या का जो प्रस्ताव किया (कौषीतकि--३।१), यम ने नचिकेतस् को जितना तग किया (कठ० १।२०), रैक्व ने जानश्रुति को छान्दोग्य ४।१), सत्यकाम ने उपकोशल को (४।१०।२), प्रवाहण ने आरुणि को (छान्दोग्य० ५।३।७, वृहदारण्यक० ६।२।६), प्रजापति ने इन्द्र और वैरोचन को (छान्दोग्य० ८।८।४), याज्ञवल्क्य ने जनक को (वृहदारण्यक० ४।३।१) और सत्यकाम ने वृहद्रथ को जो तपस्या की प्राथमिक शर्त के लिए, पवित्र जीवन की प्रथम प्रतिष्ठा के लिए, इतना उत्साहित किया तो निश्चय ही विशद्ध नैतिकवाद की ही वह विजय थी जिसके विना सभी अध्यात्म-विद्या की वार्ता निश्चय ही धूल मे मिल जाती है। अत यहा भी बुद्ध-मन्तव्य और औपनिषद मन्तव्य समान ही है। वुद्ध ने सदाचार की जो प्रतिष्ठा कायम की है उसी पर किसी भी ज्ञान की वुनियाद रक्खी जा सकती है, अत हम कह सकते है कि चित्त-शुद्धि पर ज़ोर देकर वुद्ध ने उपनिषदो के मन्तव्यो को ही पूरा किया है और फिर उपनिषदें तो ज्ञान की पर्याय है। जिस प्रकार हम एक मजिल की प्रतिष्ठा और उसके ऊपरी रूप में कोई विभेद नही कर सकते, क्योकि एक के टूटने पर ही दूसरा गिरता या व्यर्थ होता है, उसी प्रकार हमें आचारतत्त्व और तत्वज्ञान दोनो के सग को मानना चाहिए और इस दृष्टि से हम उपनिपदो और वुद्ध के मन्तव्यो में विभेद नही कर सकते। उपनिपदो के ऋषियो ने आत्मज्ञान के अनधिकारी व्यक्तियो की जो लवी सूची वनाई है'[१] उसी से हमें समझ लेना चाहिए कि जीवन की पवित्रता को वे कितना परम उच्च स्थान देते थे और इस दृष्टि से भी औपनिषद मनीपी और उन्ही की परम्परा में आने वाले भगवान् वुद्ध एक ही है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धात उपनिपदो में वडी दार्शनिक गहनता के साथ मिलाए गए है। इस प्रकार छादोग्य उपनिषद् कहती

(१) देखिए ऐतरेय आरण्यक० ३।२।६।९; छान्दोग्य० ३।११।५; वृहदारण्यक० ६।३।१२; श्वेताश्वतर० ६।२२; मुण्डक० ३।२।११;

है 'अय खलु क्रतुमय पुरुष । यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति।'[१] इस एक छोटे से वाक्य में कर्म का मनोवैज्ञानिक रूप भी रक्खा हुआ है और मनुष्य के जीवन में उसका व्यापक महत्व भी। 'सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाजायते पुन '[२] अर्थात् 'मनुष्य खेती की तरह पकता और खेती की तरह फिर उत्पन्न होता है' इसमें पुनर्जन्मवाद का सत्य अच्छी तरह से दिखाया गया है। इसी प्रकार छादोग्य० ५।३।१० (वेत्थ यदितो ऽधि . प्रजा प्रयन्तीति) तथा बृहदारण्यक ६।२ (वेत्थ यथेमा प्रजा . इत्यादि) पुनर्जन्म के सत्य को बडी अच्छी तरह से सिखाती है। फिर यहा तो उनका यह सरलतम उपदेश ही पर्याप्त है कि 'पुण्य पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन[३]' अथवा 'यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म करुते तदभिसम्पद्यते'[४]। यह सब बौद्ध दृष्टि कोण के अनुकूल ही है, इसे हमें विस्तार से दिखाने की यहा अवश्यकता नही। उपनिषदें मनुष्य की चेतना को पूर्ण स्वतन्त्रता देती है और बुद्ध भी। उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि इस विषय में दोनो में तनिक भी भेद नही है। कर्म करने से ही दोनो के उपदेशो का पालन हो सकता है[५] और ज्ञान की महत्ता में दोनो का ही समान विश्वास है।

इस प्रकार दर्शन के अनेक विवेचनीय विषयो को लेकर हमने बुद्ध के विचार और उपनिपदो के विचार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक मार्ग को भी हमने अपना आश्रय बनाया है। बिना पुनरुक्ति किए हम ऐतिहासिक रूप से इस निष्कर्प पर पहुँचते है कि सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नही हुए, किन्तु वही उनके समग्र आचारतत्व और तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना उसका समझना ही अशक्य है। तत्व दर्शन में केवल 'अन्' लग जाने से ही कोई विपरीत दर्शन नही हो जाता। उसके समग्र

सम्यक् सम्बुद्ध औपनिषद विचार-परम्परा से विरहित नहीं हुए, बल्कि वही उनके समग्र आचारतत्व और तत्वज्ञान की प्रतिष्ठा है और उसके बिना उसका समझा जाना ही अशक्य है

(१) ३।१४।१; द्रष्टव्य बृहदारण्यक० ४।४।५ भी।
(२) कठ० १।१।६
(३,४) बृहदारण्यक० ४।४।५
(५) क्योंकि, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा। ईश० २; आत्मक्रीड आत्मरति क्रियावानेप ब्रह्मविदा वरिष्ठ। मुण्डक० ३।१।४

रूप, क्षेत्र, उद्देश्य और जीवन के साथ सम्बन्ध की विवेचना करनी पडती है और इस तरह से हमने देखा है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद (उत्तरकालीन बौद्ध नैरात्म्यवाद नही) औपनिषद आत्मवाद का विपरीत सिद्धान्त नही है। बुद्ध केवल निरुक्त, दृष्ट, भूत, व्यक्त और पराक् का आश्रय लेकर और औपनिषद ऋषि अनिरुक्त, अदृष्ट, अभूत, अव्यक्त और अतीत का आभास देकर उपदेश देते है। दोनो में ही इसके विभिन्न प्रवृत्तिया भी न हो, ऐसा भी नही है, यह सब हम पहले देख ही चुके है। दोनो एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते है और मनुष्य-जीवन के लिए एक ही सन्देश देते है। अत हम कहते है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद औपनिषद ऋषियो के द्वारा ही किए हुए आत्मा के निषेधात्मक व्याख्यानो का स्वाभाविक प्रवर्तन और आगे बढाना है[१], जो ब्रह्मवाद से ऊपर की स्थिति को प्रकट करता है। बुद्ध को ऐसा कोई ब्रह्मवादी नही मिला जो अधिकार पूर्वक कह सकता 'वेदाहमेत पुरुष महान्तम्'। यदि ऐसा होता, तो बुद्ध-धर्म का आविर्भाव ही नही होता। बुद्ध-धर्म वह ब्रह्म-वाद है जो अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित है, अन्धवेणु परम्परा नही है। इस लिये भगवान बुद्ध अपने को ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग को जानने वाला मानते थे। बुद्ध ने किसी नवीन धर्मनगर का निर्माण नही किया, बल्कि केवल प्राचीन ध्वसावशेष नगर का उद्धार ही किया है[२]। इसीलिए तो तथागत ऋषि थे, वेदज्ञ थे, वेदान्तज्ञ थे, यज्ञ करने वाले ब्राह्मण (याजयोगो ब्राह्मणो) थे और इन सबके साथ ही साथ, 'उत्तम भिषक्' भी थे।

इतना समझ लेने पर हमारे लिए यह भी समझना कठिन नही रह जाता कि बुद्ध के धर्म को 'बहुजन' वेदान्त कहना उपनिषदो के साथ उसके सम्बन्ध को समझने के लिए ठीक ही अभिधान हो सकता है। उपनिषदें उस पुरातन काल में भी सर्वसाधारण के लिए रहस्यात्मक पुस्तकें ही थी। 'गुह्यादेश' जिसको छान्दोग्य० ३।२।५ में कहा गया, 'परम गुह्यम्' जिसको कठ०

बहुजन वेदान्त (जबकि वेदान्त से तात्पर्य यहां प्राचीन ज्ञान के चरम निष्कर्ष से है) के रूप में बुद्ध-शासन को देखना ही वास्तव में औपनिषद मन्तव्य के साथ मूल बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध का ठीक अनुमापन करना है,

(१) देखिए दासगुप्त' हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४४-४५

(२) देखिए, 'नगर सुत्त' (सयुत्त-निकाय)

३।१७ एव श्वेताश्वतर ६।२२ में कहा गया, जिसके विषय मे 'वेद गुह्य उपनिषत्सु गूढम्' श्वेताश्वतर ५।६ में कहा गया, वह औपनिषद ज्ञान साधारण जनो को अपना लक्ष्य बनाने वाला कभी नही रहा होगा, ऐसा आसानी से कहा जा सकता है। किन्तु इसको उनमें प्रसारित करने की आवश्यकता तो थी ही। यह कार्य अनायास रूप से ही बुद्ध के द्वारा सम्पादित हुआ, ऐसा हम कह सकते है। निश्चय ही यहा औपनिषद तत्त्वज्ञान द्रवीभूत होकर अनेक प्राणियो के कल्याणार्थ माता के स्तन्य दुग्ध की तरह, अथवा भगवती भागीरथी की तरह, प्रवाहित होने लगा है जिसे दिशा दिखाने वाला भी 'आश्चर्य वक्ता' बुद्ध जैसा मिला जिसकी वाणी का सा ओज और मुख का सा ब्रह्मवर्चस, विश्व मे आजतक किसी का नही देखा गया। अन्य जो कारण बुद्ध के धर्म को 'बहुजन वेदान्त' के नाम से पुकारने के हो सकते है, उन्हे हम पाचवें प्रकरण के आरम्भ में प्रकट कर चुके है। यहा इतना ही कहकर हम विराम लेते है कि उपनिषदो के स्वाध्याय को प्रारम्भ करने के प्रथम क्षण मे ही 'य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु' की आवृत्ति करते समय यदि हम बोधिपक्षीय धर्मों की कुछ अनुस्मृति कर ले तो हमने जो कुछ कहा है उससे असहमत होने का कोई विशेष कारण नही दिखाई पडेगा। वैसे बौद्धिक विचारो और मत-भेदो का अन्त ही नही है। किन्तु जीवन के प्रति जो सन्देश है वह तो अविवाद और अविरुद्ध है और वही सम्यक् आर्यमार्ग भी है—'एष वै पन्था सुकृतस्य लोके'।

आ—बौद्ध दर्शन और गीता

गीता-दर्शन का समग्र और अविरोधी स्वरूप

गीता एक समग्र दर्शन है। सम्पूर्ण अविरोधी सत्य को दिखाने का वहा प्रयत्न किया गया है। इसलिये स्वभावत अनेक तात्त्विक चिन्ताओ का समाधान उसके अन्दर हुआ है। गीता वस्तुत कामधेनु है। जैसा सन्त ज्ञानेश्वर ने कहा है "यह गीता रूपी माता कभी ज्ञानी और अज्ञानी सन्तान में कोई भेद नही करती"[१]। भगवान् कृष्ण की यह वाङ्मयी मूर्ति है। यदि बौद्ध परिभाषा का प्रयोग करें तो गीता को हम भगवान् कृष्ण का 'धर्मकाय' कहेगे। गीता का प्रत्येक अक्षर ब्रह्म-रस से सुगन्धित है, जिस प्रकार प्रत्येक बुद्ध-वचन विमुक्ति-रस से आर्द्र है।

(१) ज्ञानेश्वरी (रामचन्द्र वर्मा-कृत हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ६९५

समस्त ज्ञान और दर्शन का मन्थन करके व्यासदेव की बुद्धि ने गीता को उत्पन्न किया है। गीता किसी को 'न' नही कहती। चाहे कोई उसका केवल श्रवण करे (श्रृणुयादपि यो नर), चाहे कोई पाठ करे, और अर्थ-ग्रहण करने वाले की तो कोई बात ही नही, मोक्ष-रूपी प्रसाद वह सबको बराबर-बराबर ही बाटती है। ज्ञानेश्वर महाराज के उदात्त शब्दो मे "मोक्ष से कम तो वह कभी किसी को देती ही नही और सब को एक सिरे से ही मोक्ष देती है"[1]।

गीता-तत्त्व का आकलन प्रमाण-प्रमेय-विषय बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है। तथागत-प्रवेदित धर्म के समान वह भी 'अतर्कावचर' है। गीता-तत्त्व अज्ञेय और अपरिमेय है। पर अनुभव के सामने वह अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है। बुद्धत्व-ज्ञान के समान वह अनुभवगम्य है, दृष्ट धर्म है, इसी शरीर में सवेद्य है। गीताकार ने स्वय कहा है, 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव मे आने योग्य, अभ्यास करने मे सुगम और अविनाशी है'[2]। समत्व मे पूर्णता-प्राप्त मनुष्य काल आने पर स्वय अपने अन्दर इस ज्ञान का दर्शन करता है[3]। गीता-दर्शन बुद्ध-दर्शन की भाति प्रत्येक शरीर में वेदनीय (पच्चत्त वेदनीयो) धर्म है। विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा से प्राप्त (विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्—एव परम्पराप्राप्त) यह ज्ञान नित्य नवीन है। इसका प्रभाव अतीन्द्रिय है और वह शब्दो की पकड में नही आता। ज्ञानियो के स्वामी, विलक्षण महाराष्ट्र-सन्त ने कहा है "यह कथा वास्तव में बिना शब्दो की सहायता के ही कही जाती है, इन्द्रियो का बिना पता लगे ही इसका अनुभव होता है और कानो तक शब्दो के पहुँचने के पहले ही इसके तत्त्व-सिद्धान्तो का आकलन किया जाता है"[4]। यह बात अक्षरश सत्य है।

गीता में उपनिषदो का सार-सकलन हुआ है, यह प्राचीन मान्यता है। कृष्ण रूपी गोप ने अर्जुन रूपी बछडे को लगाकर उपनिषदो रूपी गायो से गीता-

---

(१) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ ७०७

(२) प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्। गीता ९।२

(३) तत्स्वयं योगसंसिद्ध कालेनात्मनि विन्दति। गीता ४।३८; मिलाइये "मागन्दिय! जब तू सद्धर्म के अनुसार आचरण करेगा तो स्वयं ही जानेगा, स्वयं ही देखेगा ....." मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)

(४) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ ४

'देख, जनकादि ऋषियो ने भी तो कर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की और लोक-सग्रह की दृष्ठि से भी तुझे कर्म करना चाहिये[1]।' 'लोक-सग्रह की इच्छा से विद्वान् पुरुष को सदा असक्त होकर कर्म करना चाहिए[2]।' ज्ञान पूर्वक पूर्वकाल में मुमुक्षुओ ने भी कर्म किया है, इसलिये पूर्वजो का अनुसरण कर तू कर्म कर[3]।' 'करणीय कर्म को जो आसक्ति छोडकर करता है, वही सन्यासी है, वही योगी है, न कि अग्नि और क्रिया को छोडने वाला[4]।' इसलिये 'जिसे सन्यास कहा जाता है उसे तू योग समझ[5]।' 'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोडने योग्य नही है[6]।' 'इन्हे तू आसक्ति और फल की कामना छोडकर कर, यह मेरा निश्चित मत है[7]।' कर्म-फल का त्यागी ही वास्तव में त्यागी है,[8] और काम्य कर्मों का त्याग ही सन्यास कहा जाता है[9]। 'इसलिये तू कर्म कर।' कर्म पर इतनी पुनरुक्तियो के साथ जोर देने से यह आभास होने लगता है कि गीता प्रवृत्ति-लक्षण धर्म का प्रचारक ग्रथ है, ज्ञान-परायण निवृत्ति-मार्ग का नहीं। परन्तु वस्तुत बात ऐसी नही है। गीता निवृत्ति और प्रवृत्ति में कोई भेद नही करती। उसका कर्म-योग वास्तव में ज्ञान को जीवन से एकाकार करने का साधन है। जिस किसी ज्ञान-मार्ग का विकास भारत में हुआ है उसमें सदा यह आशका रही है कि उसे गलती से अक्रियावाद न समझ लिया जाय। हम जानते है कि भगवान् बुद्ध के समय में

(१) कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ ३।२०
(२) कुर्याद्विद्वास्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥ ३।२५
(३) एव ज्ञात्वा कृत कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि. ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वै पूर्वतर कृतम् ॥ ४।१५
(४) अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति य. ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ६।१
(५) यं सन्यासमिति प्राहुर्योग तं विद्धि पाण्डव । ६।२
(६) यज्ञदानतप· कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । १८।५
(७) एतान्यपि तु कर्माणि संग त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ १८।६
(८) यस्तु कर्म फल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते । १८।११
(९) काम्याना कर्मणा न्यासं संन्यासं कवयो विदुः । १८।२

उनके विषय में कितना प्रवाद फैला हुआ था कि वे अक्रियावादी हैं, जिसका उन्हें काफी प्रतिवाद करना पडा था। चूकि गीता ज्ञान में सपूर्ण कर्म की परिसमाप्ति मानती है,[1] ज्ञानाग्नि के द्वारा वह सब कर्मो का भस्मीभूत होना स्वीकार करती है,[2] ज्ञान के सदृश पवित्र यहा वह कुछ नही देखती,[3] ज्ञानी को भगवान् की आत्मा ही बतलाती है,[4] ज्ञान रूपी नाव के द्वारा सपूर्ण पापो से पार होना सिखलाती है[5]। और ज्ञान के द्वारा ही वह भगवद्भाव रूपी परम शाति की प्राप्ति भी सभव मानती है,[6] इसलिए यह मानना पडेगा कि उसका चरम लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति ही है और कर्म पर उसका आग्रह उसकी इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कही ज्ञान अक्रियावादी न हो जाय, जिसके विषय में, जैसा हम पीछे देख चुके है, स्वय भगवान् तथागत भी अत्यन्त सावधान थे[7]। कुछ विद्वानो का विचार है कि सपूर्ण गीता-दर्शन 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'[8] (इस लोक में कर्म करते हुए ही) इस श्रुति का विस्तार है। परन्तु इस श्रुति के भाष्य की प्रस्तावना में आचार्य शकर कहते है "जो आत्मत्व का ग्रहण करने में असमर्थ अनात्मज्ञ पुरुष है उसके लिये यह मत्र उपदेश करता है[9]।" यदि हम गीता को प्रवृत्ति-परक कर्म-योग-शास्त्र माने, जैसा लोकमान्य तिलक ने प्रस्ताव किया है, तो आचार्य शकर की यही दृष्टि उसके सबध में भी होगी जैसा उन्होने स्वय गीता-

---

(१) सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। ४।३३

(२) ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ४।३७
मिलाइये, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु• पंडित बुधा.। ४।१९

(३) नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। ४।३८

(४) ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। ७।१८

(५) सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। ४।३६

(६) बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता। ४।१०
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। ४।३९
मिलाइये, गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा· ५।१७

(७) देखिये पृष्ठ ५२६

(८) ईश २

(९) अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः। ईश १ पर शांकर भाष्य।

भाष्य के उपोद्‌घात में भी व्यक्त कर दिया है। और फिर गीता को उपनिषदो का सार भी कैसे कहा जायगा? अत गीता का साध्य तो परम नि श्रेयस रूप ज्ञान ही मानना पडेगा और उसका साधन कर्म। 'न्यास एवात्यरेचयत्'[1] (सन्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ) इस श्रुति से गीता इन्कार नही करती, केवल 'न्यास' का अर्थ वह कर्म-फल-न्यास करती है, कर्म-न्यास नही। यही एक मात्र मार्ग है जिससे हम उपनिषद् के 'सन्यास ही उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ', इस वचन और इसके ठीक विपरीत दिखाई देने वाले गीता के वचन 'कर्म-सन्यास और कर्मयोग, इन दोनों में कर्मयोग ही श्रेष्ठतर है[2]' की वास्तविक अविरोध स्थिति को समझ सकते है। ज्ञान की जीवन के साथ एकनिष्ठता स्थापित करने की गीता की जितनी व्यग्रता और चिन्ता दिखाई पडती है, वह उसकी एक प्रमुख विशेषता है और तथागत इस सबध में उसके साथ है। हा, कुछ गहराई से पैठने पर यह अवश्य ज्ञात होगा कि कर्म-प्रवृत्ति पर गीता में आपेक्षिक रूप से कुछ अधिक जोर है जब कि प्रज्ञा पर बौद्ध धर्म में। इसलिए 'कर्म-कौशल' को ही योग मानने वाले गीता के साधक को निर्लिप्त अनासक्त स्थिति प्राप्त करने में विशेष कष्ट उठाना पडेगा जैसा कि ध्यान को ही श्रेष्ठतम कर्म मानने वाले प्रज्ञापरायण बौद्ध साधक को साक्षात् कर्मयोग से सपर्क स्थापित करने में, पर जहा दोनो का मिलन-बिन्दु होगा वही बौद्ध और गीता दर्शन एक दूसरे का आलिंगन करते दिखाई पडेंगे और वही पूर्ण मानवत्व का विकास भी होगा।

मध्यम-मार्ग गीता में भी प्रशसित

बौद्ध धर्म का प्राण मध्यम मार्ग है। और वह गीता में भी प्रशसित है। भोगवाद और आत्मा-पीडा की अतिया जिस प्रकार बौद्ध साधना को पसन्द नही, उसी प्रकार गीता मे भी उन्हे श्रेय का मार्ग नही माना गया है। भगवान् कृष्ण ने स्वय कहा है :—

"यह समत्व रूप योग न तो अधिक खाने वालो को प्राप्त होता है और न निरे उपवास करने वालो को। उसी तरह बहुत सोने या बहुत जागने वालो को भी यह नहीं मिलता।

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कार्यों में, सोने जागने में, समानता

(१) तैत्तिरीय उपनिषद्, ईश २ पर शाकर-भाष्य में उद्धृत।
(२) तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते। गीता ५।२

रखता है, उसका योग दुःखनाशक सिद्ध होता है[1]।" भगवान् वुद्ध के प्रथम प्रवचन का, जो उन्होंने वाराणसी के समीप ऋषिपतन मृगदाव में दिया था, वस्तुतः सार यही है।

यदि हम यह कहें, जैसा कि वहुतों को कहने का प्रलोभन होगा, कि मध्यम मार्ग रूपी वौद्ध धर्म इन दो श्लोकों का विस्तार ही है, तो यह कहना ठीक न होगा। पहले तो गीता निश्चयात्मक रूप से पूर्व-वुद्धयुगीन नहीं है और फिर आहार-विहार का स्थूल समत्व ही मध्यम मार्ग नहीं है। हम केवल यही कहेंगे कि साधना के एक सामान्य मार्ग के रूप में मध्यम-मार्ग गीता में भी प्रशसित है और इससे हमारी यह श्रद्धा वलवती ही होती है कि तथागत के द्वारा अभिज्ञात मध्यमा प्रतिपदा निश्चयत चक्षु देने वाली, ज्ञान पैदा करने वाली और शाति, ज्ञान वोध और निर्वाण को प्राप्त कराने वाली है। 'मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्वुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सवोधाय निव्वाणाय संवत्तति[2]।' मार्ग-दर्शन के सवध में भगवान् कृष्ण और वुद्ध का यह समान अभिप्राय जीवन-शोधकों के लिये परम सतोष और आश्वासन की वात है।

गीता का भक्ति-योग उसके दर्शन का मुख्य आश्वासन कहा जा सकता है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि गीता के मध्य
गीता का भक्ति-योग में स्थित यह श्लोक धुरी की तरह उसके दर्शन को और वौद्ध साधना सन्तुलित कर देता है :

"जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं, उन सदा मुझ में रत रहने वालों के योग-क्षेम का भार मैं उठाता हूँ[3]।" भगवान् की अनन्य भक्ति और भगवान् के द्वारा भक्त के योग-क्षेम के भार को उठाने की प्रतिज्ञा, गीता-दर्शन के ये दो वडे आश्वासन है। भक्ति कर्म और ज्ञान के वीच मध्यस्थता करती है। कर्म-नियम की कठोरता गीता को मान्य है, कर्म

---

(१) नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६।१६।-१७

(२) धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

(३) ९।२२

की कुशलता भी योगी का अनिवार्य लक्षण है। परन्तु जो दुराचारी है, जिसके कर्म बुरे है, जिसमें पुरुषार्थ सहसा नही जगाया जा सकता, उसके लिये आश्वासन अनन्य भक्ति में ही मिल सकता है। गीता में भगवान् का कहना है "वडे से वडा दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो यह जानो कि वह साधु ही वन चुका है, क्यो कि अब उसका सकल्प शुभ है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा वनकर शाति पाता है। हे कौन्तेय ! तू निश्चय ही समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नही होता[१]।" अनन्य भक्ति दुराचार को नष्ट कर देती है, भगवद्भक्त का कभी विनाश नही होता, ये आश्वासन निर्बल मानवता के लिये बडे महत्व के है। यह बात नही है कि गीता कर्म और पुरुषार्थ पर भगवान्, बुद्ध के समान जोर नहीं देती है। 'आत्मदीप' और 'आत्मशरण' होने का उपदेश देने वाले भगवान् बुद्ध के समान उसकी भी मान्यता है कि "मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। उसी का आत्मा बन्धु है, जिसने अपने बल से मन को जीता है। जिसने आत्मा को नही जीता, वह अपने प्रति ही शत्रु का व्यवहार करता है।"[२] 'कर्म प्रतिशरण बनो', 'कर्म ही तुम्हारा अपना है' ये बुद्ध वचन गीता कोपूरी तरह मान्य होगे, यह हम उसके पूर्व विवेचित कर्मयोग से भली प्रकार समझ सकते है। परन्तु जो प्रयत्न में मन्द है, जिसका मन योग से विचलित रहता है (योगाच्चलित मानस), जो दैवी सपत्ति को लेकर नही जन्मा है, कर्म की जिसे प्रेरणा नही होती, ज्ञान-मार्ग को समझने की जिसके पास बुद्धि नही है, वह क्या करे? क्या वह नष्ट हो जायगा? क्या ऊर्ध्व सचरण का मार्ग उसके लिए अवरुद्ध है? गीता कहती है कि नही। भक्ति मार्ग उसके लिए खुला है। भक्ति का आश्वासन अनन्त है। जहा कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग असफल होते है, योग और चिंतन जहा अपने आश्वासन को समाप्त कर देते है, वहा भक्ति माता के समान साधक को अपनी गोद में ले लेती है। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति' यह आध्यात्मिक जीवन का एक बडा आश्वासन है। परन्तु इस आश्वासन का आधार है भागवती कृपा। भक्त का अवलम्ब भगवत्कृपा ही है। कछुई के अडो की तरह भक्त केवल भगवत्कृपा के सहारे ही जीवित

(१) ९।३०-३१
(२) ६।५-६

रहते हैं। उन्हे अपने पुरुषार्थ या ज्ञान का नही, वल्कि भगवत्कृपा का ही सहारा रहता है। यद्यपि यह भक्ति अपनी निर्वलता और असमर्थता की भावना से उत्पन्न होती है, परन्तु इसकी साधना कर्म और ज्ञान-मार्ग से कुछ कम कठिन नही है। "जिन पुण्यकर्मा व्यक्तियों का पाप नष्ट हो गया है, वे ही द्वन्द्वविमुक्त दृढव्रती पुरुष मेरा भजन करते हैं[१]।" मूढ़, आसुरी भाव सम्पन्न व्यक्ति जिनके कर्म वुरे हैं और माया के कारण जिनका ज्ञान अपहरण कर लिया गया है, कभी भगवान् की ओर अभिमुख नही होते[२]। वस्तुतः सात्विक वृत्ति-सम्पन्न महात्मा लोग ही भगवान् का भजन कर सकते हैं[३]। भक्त के लिए ये वडे आश्वासन हैं। कर्म और ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाने का भरसक प्रयत्न गीता में किया गया है। 'सव काल में मुझे स्मरण कर और युद्ध कर[४]' इसी कर्मयोगमयी भक्ति का उपदेश है। कर्म-योगियो में भक्त को श्रेष्ठ वताया गया है[५]। अनन्यचेता भक्त नित्य युक्त योगी है और उसके लिए भगवान् सुलभ है। श्रद्धावान् भक्त सव योगियो में श्रेष्ठ योगी है[६]। इसी प्रकार ज्ञान के साथ भक्ति की एकनिष्ठता स्थापित की गई है। ज्ञानी भगवान् का श्रेष्ठतम भक्त है[७]। ज्ञान-यज्ञ के द्वारा उपासना की वात कही गई है[८]। अव्यभिचारी भक्ति के द्वारा मनुष्य ब्रह्मभूत महात्मा हो जाता है।[९] वस्तुत भक्त के लिए जितना आश्वासन भगवान् ने दिया है, उसका शतांश भी योगी (कर्मयोगी) या ज्ञानी के लिए नही दिया है। 'अनन्य भक्ति से जो मेरा ध्यान करते है, उन्हे मैं मृत्यु ससार-सागर से पार कर देता हूं।[१०] इस आश्वासन मे भगवान् की भक्त के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है।

---

(१) ७।२८
(२) ७।१५
(३) ९।१३
(४) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। ८।७
(५) ८।१४
(६) ६।४७
(७) ७।१६
(८) ९।१५
(९) १४।२६
(१०) देखिये १२।६-७

श्रद्धावान् परम भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है,[1] ऐसा भगवान् ने भक्तो के विषय में कहा है। गीता में कर्मयोग की प्रशसा तो है और ज्ञान के प्रकरण में स्थित-प्रज्ञ और गुणातीत पुरुषो के लक्षण भी गिनाए है, परन्तु कर्मयोगियो और ज्ञानियो के सबध मे कही 'प्रिय' होने की बात नही कही गयी है। ज्ञानी को भगवान् ने अवश्य अपना अत्यन्त प्रिय कहा है, यहा तक कि उसे के स्वय अपना आत्मा कहा है,[2] किन्तु केवल इस प्रसग में जबकि ज्ञानी स्वय नित्य युक्त , एकनिष्ठ भक्त है[3]। गीता के अठारहवें अध्याय में, जहा कि उसके सम्पूर्ण ज्ञान का उपसहार किया गया है, भगवान् ने गुह्य से गुह्य (गुह्याद् गुह्तर) ज्ञान यही बताया है कि मनुष्य सपूर्ण भाव से हृदय-स्थित ईश्वर की शरण में जाय। इसी से उसे परम शान्ति मिलेगी[4]। इतना कह चुकने के बाद फिर भी सतोष प्राप्त न करते हुए गीताकार ने आगे के श्लोक मे फिर दुहराया है "सबसे अधिक गुह्य मेरे परम वचन को तू फिर सुन । तू मुझे बहुत प्यारा है, अत मैं तुझे तेरे हित की बात कहूगा। मुझमें मन लगा। मेरा भक्त बन। मेरे लिए यज्ञ कर। मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही पावेगा। मेरी यह सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है"।[5] गीता-दर्शन का यह उपसहार है, ऐसा आसानी से कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर गीता ऐकान्तिक भक्ति का ग्रथ जान पडेगा, जिसमें कर्म और ज्ञान की उचित स्वीकृति है। वस्तुत गीता का अधिकाश भाग भक्ति से ही सबधित है और दूसरे अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक से ग्यारहवें अध्याय के पचासवें श्लोक तक और पूरे बारहवें अध्याय को हम 'भक्ति उप-निषद्' ही कह सकते है। परन्तु गीता के इस भक्ति-दर्शन का बौद्ध दर्शन से सबध क्या है ?

हम पहले देख चुके है कि भगवान् बुद्ध की साधना में भक्ति को कोई स्थान प्राप्त नही था। उन्होने किसी ईश्वर (इस्सर) या ब्रह्मा के प्रति आत्मसमर्पण किया हो, या ज्ञान-प्राप्ति में भगवत्कृपा जैसी किसी वस्तु ने

---

(१) १२।२०, देखिये १२।२ भी
(२) देखिये ७।१७-१८
(३) तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते । ७।१७
(४) १८।६२-६३
(५) १८।६४-६५; मिलाइये ९।३४ एवं १२।८ भी । इस प्रकार 'मन्मना भव मदभक्तो' की तीन बार आवृत्ति गीता में हुई है ।

उनकी सहायता की हो, ऐसी कोई बात तथागत ने हमें नहीं बताई है। उनका मार्ग तो विशद्ध ज्ञान का था, जो अभ्यास पर आधारित था। हा, भगवान बुद्ध के समय में उनके शिष्यो ने जिस धर्म का अभ्यास किया उसमें बुद्ध के प्रति जो उनकी अपूर्व निष्ठा की भावना थी, उसमें भक्ति के बीज हम अवश्य देखते है। त्रिरत्न की शरण में जाना भक्ति के कुछ तत्त्व अवश्य लिए हुए था। 'बुद्ध सरण गच्छामि' में शरणागति तो किसी-न-किसी प्रकार है ही, जो स्वय बुद्ध की साधना में हमें नही मिलती। बुद्ध और साधारण मनुष्यो की साधना में इतना भेद तो होगा ही, यह स्वाभाविक है। हम जानते है कि धर्मसेनापति सारिपुत्र की अपने गुरु अश्वजित् (अस्सजि) भिक्षु के प्रति, जिनके मुख से प्रथम बार उन्होने 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' आदि सूत्रात्मक बुद्ध-मन्तव्य को सुना था, कितनी गहरी श्रद्धा-भक्ति थी। प्रतिदिन सध्या समय, जिस दिशा मे सारिपुत्र जानते थे कि भिक्षु अश्वजित् विहर रहे हैं, उसी दिशा की ओर सिर कर सोते थे। भगवान् बुद्ध से विदा लेते समय कोई उनका शिष्य जब तक कि भगवान् अदृश्य न हो जाय भगवान् की ओर पीठ करके न चलता था। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अपने शास्ता से जो अन्तिम विदाई ली और अपने शास्ता के चरणो की अन्तिम वन्दना की, उससे अधिक उदात्त गुरुभक्ति आज तक किसी वैष्णव ने नहीं की है। अत शास्ता के प्रति गौरव के रूप में भक्ति के बीज आदिम बौद्ध साधना में विद्यमान थे, ऐसा हमें मानना पडेगा। श्रद्धा के तत्त्व की किस प्रकार स्वीकृति स्थविरवादी बौद्ध धर्म मे हुई है, यह भी हम पहले देख चुके है। भक्ति का इतना ही विकास हमें बौद्ध धर्म के प्रारभिक रूप में मिलता है। भक्ति का प्रकृत विकास वस्तुत बौद्ध धर्म के महायान रूप में हुआ। इसके सबध मे हम काफी पहले कह चुके है। यहा गीता के सम्बन्ध को लेकर यही कहा जा सकता है कि उसका रचना-काल द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर प्राय द्वितीय शताब्दी ईसवी तक माना जाता है। अत महायान के भक्ति-धर्म और गीता के भक्ति-तत्त्व में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो मे पारस्परिक आदान-प्रदान भी हुआ है, जिसका विस्तृत विवेचन हम महायान-धर्म के विवरण के प्रसग में कर चुके है। उसकी पुनरुक्ति करना यहा आवश्यक न होगा।

गीता के दर्शन का बुद्ध के दर्शन के साथ मिलान करने पर सबसे पहले जो बात ध्यान में आती है वह है इन दोनो की वेद के प्रति प्रवृत्ति।

वैदिक प्रज्ञान की और दोनों की प्रवृत्तियों की तुलना

गीता एक समन्वयात्मक दर्शन है, कर्म, उपासना और ज्ञान के मार्ग तीनो ही उसमें घनिष्ठ रूप से मिले हुए है। बुद्ध-दर्शन की ओर उसका कही सकेत मालूम नही पडता, किन्तु यह निश्चित है कि जिन विचार की क्रान्तियो का वह कही कही निदर्शन करती है और जिनका समन्वयात्मक विधान ही उसका प्रधान लक्ष्य है, उन्ही के समान विचार की क्रान्तियो का सामना बुद्ध को भी करना पडा था जिनके समाधान-स्वरूप ही उन्होने मध्यमा प्रतिपद् का मार्ग ग्रहण किया था और पवित्र जीवन के अभ्यास में ही धर्म के सर्वोच्च स्वरूप के दर्शन किये थे। अत इसका एक परिणाम यह बडा हुआ है कि मानवत्व के आदर्श स्वरूप का जो चित्रण गीता में उपलब्ध होता है वही विलकुल मूल बुद्ध के उपदेशो में भी है। अर्हत् के लक्षण तत्वत गीता के भक्त, स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षण है[1]। किन्तु गीताकार जवकि तात्विक समस्याओ के भीतर से भी एक सर्वनिष्ठ तत्व को निकाल कर अद्वितीय भाषा में रखने में समर्थ हुए है, बुद्ध ने उसके विषय मे मौन ही रक्खा है। अत गीताकार ने अतीत के प्रति कुछ अधिक समन्वय किया है अपेक्षाकृत बुद्ध के। बुद्ध-मन्तव्य के समान गीता-दर्शन क्रान्तिकारी नही है। यह प्रवृत्ति दोनो की वेद के प्रति भावना से भली प्रकार स्पष्ट होती है। गीताकार वेदो के प्रमाण को उडा नही देते। 'सर्वैश्च वेदैरहमेव वेद्यो' ऐसी उनकी उन्मुक्त घोषणा है। किन्तु 'वेदवादरत' होना उन्हे पसन्द नही, 'एतावदिति निश्चिता' होना ठीक नही, क्योकि आखिर वेद 'त्रैगुण्य' के विषय ही तो है और अनुभव सम्पन्न महात्मा को वह सव अपने महान् अनुभव में से ही तो मिल जाता है जो कुछ भी वेदो मे है। फिर अकेले वैदिक ज्ञान से भी तो कुछ वनता नही, उसके साथ भक्ति भी तो चाहिए, इसीलिए 'नाह वेदैर्न तपसा' कह कर भगवान् ने उसकी अपर्याप्ता भी दिखाई है। किन्तु मनुष्य उच्छृखल न हो जाय, अनुभूति को छोड स्वेच्छाचारी न हो जाय, इसलिए कुछ-न-कुछ उस पर अकुश तो चाहिए ही। इसीलिए भगवान् ने कहा है 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वै पूर्वतर कृतम्'। इतना

---

(१) देखिए गीता २।५५-७२; ४।१६-२३; ५।१८-२८; १२।१३-१६; इन्हें मिलाइये अर्हत् के वर्णनो के साथ जो हम चतुर्थ परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में दे चुके है।

कह कर भी यह कहा 'तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते'। क्यो न हो 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' वह भी तो वही है जिसे साधक को खोजना है, तो फिर उनका साहाय्य लेना क्या बुरा है? किन्तु इसकी सीमा होनी चाहिए। आत्मसाक्षात्कार तो अन्त मे ज्ञान से ही होना ठहरा और उस समय वेद की पुष्पित वाणी में भटकने की जरूरत नही। यही हाल वैदिक कर्मकाण्ड का भी है। यज्ञ, दान, तप आदि सभी करणीय ही है त्याज्य नही, किन्तु उनको अन्तिम तो कौन मूढवी मानेगा? ज्ञानाग्नि को अन्त में सब कर्मो को भस्म करना ही ठहरा, यज्ञो में 'जपयज्ञ' को सर्वश्रेष्ठ होना ही ठहरा यदि 'त्रैविद्य होकर सोम को पीकर, यज्ञो को करके स्वर्ग को प्राप्त कर भी लिया, तो क्या इस प्रकार 'त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना' होकर भी क्या केवल 'कामकामा' होना ही नही पडेगा? क्या इस प्रकार 'गतागत' का चक्कर ही नही रहेगा? क्या फिर मर्त्यलोक मे ही प्रवेश करना नही होगा? क्या 'कामकामा' होकर फिर 'नरकेऽशुचौ' में ही प्रत्यावर्तन नही होगा? तो क्या फिर इन्हे छोड देना होगा? नही, भगवान् का उत्तर है नही। आशा और कामना को छोड कर करने से इनके विपदन्त टूट जाते है और वे परमार्थ की प्राप्ति मे सहायक ही होते है, बाधक नही, 'एतान्यदि तु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय। कर्तव्यानीति में पार्थ निश्चित मतमुत्तमम्'। यही भगवान् तथागत का भगवान् कृष्ण से विभेद है। भगवान् बुद्ध का तो नैतिक आदर्शवाद इतना स्वतन्त्र व्यापक, स्वत परिपूर्ण और सर्वानपेक्ष है कि वह केवल मनुष्य के 'प्रधान' पर ही प्रतिष्ठित है और उसकी प्रभा केवल मनुष्य के कर्म मे ही प्रस्फुटित होती है, किन्तु भगवान् गीताकार सभी को साथ लेकर चलने के पक्षपाती दिखाई पडते है, अथवा दार्शनिक भाषा में यो भी कह सकते है कि वे मानव के समग्र व्यक्तित्व को लेकर, जिसमे भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिया, भिन्न-भिन्न आदर्श, भिन्न-भिन्न अधिकार और अवस्थाएँ स्वत ही समा जाएँ, चलते है और परिणामत बहुत सी बातों का निराकरण न कर वे उनकी केवल सीमा मात्र बाध देते है ताकि 'कर्मसगी' अज्ञानियो में भेद-बुद्धि उत्पन्न न हो जाय। भगवान् तथागत के द्वारा इस दृष्टि से भेद-बुद्धि अवश्य जनित की गई और इसीलिए वेद-निन्दक तक उन्हें बनना पडा। यह भारतीय दर्शन में एक अत्यन्त विचारणीय विषय है कि यद्यपि गीताकार, कुछ उपनिषदें और 'मौलिक्य' साख्य दर्शन अपने अनेक सिद्धान्तो में वेदो के विरुद्ध चले गए है, किन्तु उनके विचार इतनी प्रतिक्रिया के साथ ग्रहण नही किए गए जितने कि बुद्ध के। इसका रहस्य यही जान पडता

हैं कि उपर्युक्त अन्य दर्शनकारों ने ऊपर निर्दिष्ट प्रवृत्तियो के ही कारण वेदो के प्रमाण को स्वीकार कर लिया है, सम्यक् सम्बुद्ध ने केवल वेदो की अपर्याप्तता को ही दिखाया है। सम्भवत भगवान्कृष्ण अर्जुन को 'उरुवेल काश्यप' नही बना सकते थे और न सम्यक् सम्बुद्ध कर सकते थे उसके प्रति 'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुक्ष्व राज्य समृद्ध' का उपदेश। इस विषय में दोनो की विभिन्नता है किन्तु इस पर तो हम बाद में आयेंगे। अत निष्कर्ष चाहे जो कुछ निकाला जाय तथ्य यह है कि भगवान् वुद्ध अपने नैतिक आदर्शवाद के लिए किसी भी ग्रन्थ के स्वतं प्रमाण की अपेक्षा नही रखते, निर्भीक होकर उन्होंने सत्य को ही प्रख्यापित किया है जैसा कि उन्होने स्वय अपरोक्षानुभूति के द्वारा देखा है, फिर चाहे वह वेद के अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य का उनके लिए कोई प्रश्न ही नही है, जबकि गीताकार ने वैदिक ज्ञान और कर्मकाण्ड को भी साधना का एक प्राथमिक किन्तु आवश्यक अग माना है और अन्त में उसी दृष्टिकोण को लिया है, जिसका साम्य वुद्ध के दृष्टिकोण से किया जा सकता है। इन सब बातो का वर्णन हमने वैदिक दर्शन के प्रसग में भी किया है और कुछ तृतीय प्रकरण में 'आस्तिक' और 'नास्तिक' दर्शनो के विषय में विवेचन करते समय भी। अत यहा इतना ही पर्याप्त है।

बुद्ध और कृष्ण

गीता दर्शन की धारा ससार में भगवान् कृष्ण रूपी स्रोत से वही है और बौद्ध दर्शन की तथागत से। दोनो के व्यक्तित्व कितने उदात्त और हिन्दू-हृदय को कितने आकृष्ट करने वाले है, यह बताने की आवश्यकता नही। किन्तु जबकि तथागत को हम कुछ समझ भी सकते है, भगवान् योगिराज कृष्ण हमारे इस प्रकार के सभी प्रयत्नो पर स्मित सा करते हैं। भगवान् कृष्ण के जीवन का ऐतिहासिक स्वरूप इतना स्पष्ट और विशद नही है जितना भगवान् तथागत का। कृष्ण गोपो और गोपिकाओ के प्यारे सखा भी है, एक कुशल राजनीतिज्ञ भी, प्रसिद्ध योद्धा भी और गीता के ज्ञान को देनेवाले महान् ज्ञानी और योगी भी, जिन्हे विदुर और भीष्म जैसे ज्ञानी साक्षात् नारायण का अवतार मानते थे। जहा तक कृष्ण और वुद्ध के मानवीय व्यक्तित्त्व का सम्बन्ध है, दोनो आकाश के दो विपरीत छोरो पर हैं—एक के हाथ में वासुरी है तो दूसरे के हाथ में है भिक्षा पात्र। एक आह्लादिनी शक्ति को साथ में लिये हुए है तो दूसरे के साथ है प्रज्ञा पारमिता। एक मोर मुकुट पहने हुए है

तो दूसरे ने अपनी तलवार से अपने केशो को काटकर श्रमण भाव प्राप्त किया है। दोनो राजकुमार है, किन्तु कितना अन्तर? कृष्ण पीताम्बर धारण करते है, किन्तु तथागत ने काशी के दुशालो को छोड कर पाशुकूल (फटे-पुराने चियडो से निर्मित चीवर) को अपनाया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण अर्जुन के सारथी बनकर निकलते है, तथागत युद्ध के लिये प्रस्तुत शाक्य और कोलियो के बीच जाकर खड़े हो जाते है और उन्हे युद्ध विरत करने में सफल होते है। कृष्ण कर्मयोग के साथ सौन्दर्य का भी उपभोग करते है, योगमें के साथ भोग भी उन्हे ग्राह्य है, जीवन में आनन्द की स्वीकृति के साथ वह एक राजयोगी है, दूसरी ओर बुद्ध को आनन्द और सौन्दर्य की स्वीकृति तो होगी कहा से उनकी विरति को तो आत्मा के उस सुख की भी ग्राह्यता इष्ट नही है जिसमें उपनिषदो के ऋषियो ने आनन्द के चरम दर्शन किये थे। अस्पर्शयोगी (बुद्ध) ने उसे भी त्यागकर उससे ऊपर अपना स्थान बनाया है जिसका दूसरा नाम 'अनात्मवाद' है। तथागत ने उस सूक्ष्मतम आत्मा के सुख को भी छोडा था। उनका सत्य-दर्शन उन्हे तथोक्त सौन्दर्य में अशुभ के ही दर्शन कराता है और वे सब आसक्तियो से परे चले गये है। विश्व की व्यवस्था में दुःख के गम्भीर दर्शन कर उनकी प्रज्ञा जीवन के सम्पूर्ण अगो को स्पर्श करती हुई दुःख-निरोध के प्रयत्न में गहरी चली गई है, जिसने जीवन में स्वादनीय कुछ नही देखा। भगवान् कृष्ण ने इसके विपरीत प्रत्यक्ष जीवन के क्रिया-कलापो में भाग लिया और उसके अनेक उपभोगो को ग्राह्य माना। परन्तु दूसरी ओर यह तथ्य कुछ कम करुणाजनक नही है कि जबकि तथागत का परिनिर्वाण उनके और विश्व के लिए एक सुखद और मगलमय अवसर था, देव और मनुष्यो के लिये एक महोत्सव था, जिन परिस्थितियो मे भगवान् कृष्ण की मृत्यु हुई वे उनके कर्मवाद और सौन्दर्यवादी जीवन दोनो पर बुरी तरह व्यग्य करने वाली है। भगवान् कृष्ण के जीवन के अन्त की परिस्थितिया अत्यन्त निराशामय और दुःखमय है, जबकि महापरिनिर्वाण में प्रवेश करते हुए तथागत अपने जीवन-कार्य की सफलता देख रहे थे, कृतकृत्यता अनुभव कर रहे थे।

भगवान् कृष्ण का विशेष आकर्षण भारतीय हृदय पर उनके 'गीताकार' होने के नाते ही नही है, यद्यपि विश्व मे वही उनकी ख्याति का एक मात्र कारण है, बल्कि उनके 'स्वय भगवान्' होने के नाते ही है, जिसका विशेषतः प्रचार मध्ययुग में हमारे देश में हुआ। सूर, चण्डीदास और चैतन्य के प्रभाव

स्वरूप कृष्ण हमारे लिये इतने समीप हो गये हैं कि इतिहासकारो का प्रयत्नपूर्वक यह दिखाना कि वालकृष्ण की कथा आभीर जाति ने सिरिया से लाकर भारत में प्रचलित की[1], 'हास्यास्पद सा लगता है। परन्तु गीता के कृष्ण गोपाल कृष्ण नहीं हैं। गोपाल कृष्ण तो विशेपत हरिवंश पुराण और वायु पुराण के हैं और अशत भागवत पुराण के भी। सूर और अन्य व्रजभापा के भक्त कवियो के कृष्ण भी प्राय गोपाल कृष्ण हैं। गोप-गोपिकाओ के साथ केलि-क्रीडाएँ करनेवाले और रास रचानेवाले कृष्ण के जीवन के साथ गीता के दर्शन का कोई सामजस्य नहीं है, फिर भले ही ऐसे कृष्ण की उद्भावना सम्पूर्ण ज्ञान से सतोष न पाकर स्वय वेदान्तपारगत भागवतकार ने ही की हो। गीता के कृष्ण को तो हम केवल वासुदेव कृष्ण कहना ही अधिक अच्छा समझेंगे। महाभारत के कृष्ण भी यही है। ऐतिहासिक महापुरुष होते हुए भी उनका दैवीकरण किया गया है, जिसमें वैदिक और ब्राह्मण युग के देवता विष्णु और नारायण मिलकर एक हो गये हैं। विष्णु, नारायण और कृष्ण एक हैं। कृष्ण वासुदेव अपने मौलिक ऐतिहासिक रूप में बुद्ध के पूर्ववर्ती थे, यह इससे प्रकट होता है कि घट जातक में बुद्ध का अपने एक पूर्वजन्म में वासुदेव होना दिखाया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् २–१७–१ में कृष्ण देवकीपुत्र का उल्लेख है जो घोर अगिरस से शिक्षा ग्रहण करते दिखाये गये हैं। कौपीतकि ३०–६ मे क्षत्रिय महात्मा घोर अगिरस का वर्णन है। यह अत्यन्त सम्भव है कि गीता के कृष्ण वही व्यक्ति हैं जिन्हे कौपीतकि ३०–९ मे कृष्ण आगिरस कह कर पुकारा गया है। 'आगिरस' नाम उन्होने अपने गुरु अगिरस के शिष्य होने के कारण प्राप्त किया था। अत यह प्राय निश्चित ही समझना चाहिये कि हमारे कृष्ण छान्दोग्य उपनिषद् और कौपीतकि ब्राह्मण के 'कृष्ण देवकीपुत्र' या 'कृष्ण आगिरस' ही है। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण का समय छठी या सातवी शताब्दी ईसवी पूर्व होना चाहिये, अर्थात् बुद्ध से पहले। जैसा हम पहले देख चुके हैं, पाणिनि के समय (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) तक तो वासुदेव की पूजा चल पडी थी और उनका विष्णु के साथ पूर्ण दैवीकरण हो चुका था[2]।

---

(१) जैसा डा० आर० जी० भाण्डारकर ने दिखाने का प्रयत्न किया है, देखिये उनका वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृष्ठ ३८-३९

(२) देखिये पीछे पृष्ठ ५८९

जिस प्रकार प्रारभिक बौद्ध धर्म में बुद्ध को धर्म और सत्य से एकाकार दिखाया गया था और बाद में इसी आधार पर महायान बौद्ध धर्म में उनका पूरा दैवीकरण कर दिया गया था, वही बात कृष्ण के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गीता के कृष्ण ब्रह्म के साथ एकाकार दिखाये गये है[1]। वे सब प्राणियो के अन्दर रहने वाले आत्मा है[2]। वे जगत् को धारण करने वाले आत्म स्वरूप है[3]। ऋषियो और देवताओ के आदि है[4]। भगवान् कृष्ण विश्वरूपमय है, यह पूरे दसवें काव्यमय अध्याय का सार है। भगवान् कृष्ण वस्तुत. एक आत्मज्ञानी महात्मा थे, जो सत्य के साथ एकाकार हो गये थे जिस प्रकार भगवान् तथागत थे। चूकि कृष्ण के जीवन के साधक स्वरूप की पूरी सामग्री हमें प्राप्त नही है, इसलिये उनके उपदेशो की पृष्ठभूमि के रूप में हम उनके जीवन से आश्वासन प्राप्त नही कर सकते, जैसा कि भगवान् तथागत के सम्बन्ध मे हम बहुल रूप से करते हैं। तथागत के उपदेशो और उनके जीवन में जैसा समन्वय है, वैसा कृष्ण के जीवन में भी वह अवश्य होना चाहिये, परन्तु वह हमें नही मिलता। परन्तु ज्ञानी दार्शनिक रूप के नही, भगवान् कृष्ण तो उपास्य देव के रूप में, स्वय साक्षात् हरि के रूप में, भारतीय हृदय में पैठे हुए है। विश्व-मानव का हृदय, जिसके लिये उपास्य देवो के दिन चले गये है, निश्चय ही बुद्ध से अधिक आश्वासन प्राप्त करता है, किन्तु हिन्दु-हृदय में जिस आडे ढग से त्रिभगी लाल देवकीपुत्र गड गये है उसे कोई निकाल नही सकता। हमें यहा दोनो के विचार पक्ष से ही विशेपत प्रयोजन है।

कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त गीताकार को भी मान्य हैं और आचार तत्व की व्याख्या उन्होने कर्मयोग,ज्ञानयोग और भक्तियोग के रूप में की है, ऐसा हम कह सकते है।

कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष और आचार तत्व सम्बन्धी दोनों के विचारों का सम्बन्ध

कर्म के सिद्धान्त के विषय मे गीताकार का मत है कि कर्म करने तो चाहिए, क्योकि स्वभावत ही कोई क्षण मात्र भी विना काम

(१) गीता १०।१२
(२) गीता १०।११
(३) गीता १५।१७
(४) गीता १०।२

बैठते, जीवन का प्रत्येक काम करते ऐसी भावना करनी चाहिए कि 'नैव किंचित् करोमि'। यही 'युक्त तत्ववित्' का मार्ग है। तथागत का मार्ग भी इससे क्या व्यतिरिक्त है ? फिर गीता कहती है कि जो मनुष्य जानता है कि 'गुण-गुणो में बरत रहे हैं' वह आसक्ति नही करता किन्तु जो उनमें आसक्त होता है वही तो 'मै कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। 'कर्ताऽहमिति मन्यते'[1]। 'अनत्ता' का सिद्धान्त भी क्या ठीक यही नही है अपने मूल एव विशुद्धतम रूप में ? कर्म में आसक्ति का निरोध इसीलिए किया जाता है कि वह दु खमय है। बुद्ध ने भी अनात्मवाद का उपदेश इसीलिए दिया कि मनुष्य बाह्य पदार्थों और आन्तरिक वेदनाओ से निर्वेद प्राप्त कर दु ख के क्षय को करने वाला हो। महात्मा गान्धीजी ने ठीक ही'अनासक्ति' को गीता की आत्मा माना है और हम कह सकते है कि यही बात तथागत ने प्रकारान्तर से अनात्मवाद के द्वारा सिखाई है। इस विषय पर अधिक विस्तार करना यहा ठीक न होगा, क्योकि चतुर्थ प्रकरण में अनात्मवाद के प्रसग में ही इस पर हम बहुत कुछ कह आए है। यहा इतना ही कहना अपेक्षित है कि बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद को, गीता के अनासक्ति सम्बन्धी विचारो को, साख्य-योग दर्शन के ख्याति-सम्बन्धी सिद्धान्त को (एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्-पचशिव वाक्य, व्यासभाष्य में उद्धृत) जिसका प्रख्यापक वचन 'एव तत्वाभ्यासात् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्' इस साख्यकारिका के कारिकार्द्ध में विद्यमान है, एव अन्त में भगवान् गौडपादाचार्य ने जिसको, 'अस्पर्शयोग' कहा है उसको, एक समन्वयात्मक सूत्र में रख कर स्वाध्याय करने से वास्तविक तत्व की एकता के विषय में कुछ सन्देह नही रह जाता। किन्तु कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर गीता और बुद्ध के विचार में एक बडी विभिन्नता भी न हो, ऐसी भी बात नही है। यह ठीक है कि गीताकार कहते है कि कर्म से ही जनकादि ने भी सिद्धि पाई, यह भी ठीक है कि जीवन यात्रा के लिए वे इसे आवश्यक मानते है, यह भी ठीक है कि उनके अनुसार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है और फिर यह भी ठीक है कि वे अन्त मे 'यथेच्छसि तथा कुरु' ऐसा कह कर मनुष्य को स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती भी है, किन्तु ऐसा फिर भी कहा जायगा कि उन्होने मनुष्य को उतनी स्वतन्त्रता नही दी है जितनी कि सम्यक् सम्बुद्ध ने।

---

(१) मिलाइये गीता ५।१४-१५ तथा इन पर शाकर-भाष्य।

भगवान् कृष्ण ने किसी कार्य की सिद्धि के लिए पाच हेतु बताए है, यथा अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव। 'अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैव चैवात्र पचमम्' (१८–१४)। यह 'दैव' का हेतु बुद्ध के विचार में बिलकुल विद्यमान नही है, ऐसा हमे जानना चाहिए। तथागत ने 'कर्म' के हाथो सारी शक्ति सौंप दी है। इसी एक तथ्य के कारण गीताकार और शाक्यमुनि के विचारो मे बडा विभेद पड जाता है। गीताकार को कर्म का समन्वय न केवल ज्ञान से ही करना था जैसा कि बुद्ध विचार में भी विद्यमान है, किन्तु भक्ति दर्शन के साथ भी उसकी सगति दिखानी थी जो 'कर्म' को सब सत्ता सौंप कर सम्भवतः नही हो सकती थी। प्रभु कृपा भी तो किसी कार्य की सिद्धि मे हेतु होनी ही चाहिए, क्योकि यदि मनुष्य अपने वीर्य या 'प्रधान' या पुरुषार्थ से ही सब कुछ सम्पादनीय सम्पादित कर लेगा तो फिर किसी उपास्य देव के पास ही उसे जाने की क्या आवश्यकता रहेगी ? 'दैवी' 'गुणमयी' 'दुरत्यया' माया को यदि कोई मनुष्य अपने प्रयत्न से ही तर जाय तो किसी उपदेष्टा को अथवा स्वय उपास्यदेव को ही उसे यह उपदेश या आश्वासन देने की क्या आवश्यकता कि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते' ? यदि इस 'अनित्य' और 'असुख' लोक में आकर कोई अपने तीव्र उद्यम से ही नित्यता और सुख प्राप्त कर सके तो उसे 'भजस्व माम्' का ही उपदेश देने की जरूरत क्या? बुद्ध के 'कर्म' में यदि वीर्य शत प्रतिशत है तो हमें कहना पडेगा कि गीता मे वह अश कम है और वह उसकी भक्ति के प्रति न केवल प्रवणता के कारण ही, बल्कि उसके साथ वास्तविक तन्मयता की अनुभूति के साथ भी, जैसा कि हम आगे देखेगे। वैसे कर्म-स्वातन्त्र्य गीता में भी प्रस्थापित है, इसमें सन्देह नही, किन्तु शताश मे तो तुम 'कम्मपटिसरण' हो, 'कम्मादायाद' हो, ऐसा निर्घोष तथागत ने ही किया है और यही उनकी विशेषता है[1]। 'कर्म' के प्रतिशत-प्रतिशत भक्ति न दिखाकर यदि गीता उस दृष्टि-कोण से कुछ कम रह जाती है तो उसे ज्ञान और भक्ति के साथ मिलाकर एक परिपूर्ण दर्शन प्रस्तुत करने में भीवही समर्थ हुई है जिसमें कि सत्यानुप्राप्ति

---

(१) 'मानव कोस्वाधीनता का इससे बड़ा दावा कभी किसी ने नहीं किया' सर एडविन आरनोल्ड; जे० आर० जयवर्धन के लेख 'बौद्ध धर्म और राजनीति' विश्व-वाणी (मई १९४२, बौद्ध संस्कृति अंक) पृष्ठ ५२८ में उद्धृत।

के लिए न केवल मनुष्य की किसी एक विशेष वृत्ति का ही उपयोग किया जाता है (जैसा कि अकेले कर्म या ज्ञान में होता है) किन्तु जिसमें मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के वेग को ही उसके प्रति उपयोग होता है, जबकि तथागत ने 'कर्म' को ही प्रधान तत्व मानकर एक प्रकार से (कम से कम कुछ के समझने के लिए) ईश्वर के सवाल को ही उड़ा दिया क्योंकि जब उसका कार्य ही कुछ न रहा, सब कुछ 'कर्म' को ही अधिकार दे दिया गया, तो फिर उसे भी सिवाय 'कर्म' में ही अपने को छिपाने के और गति ही क्या थी? पृथग्जन पूछते हैं कि तथागत के दर्शन में 'ईश्वर' कहा है? उत्तर केवल यही है कि 'कर्म' में देख लो। इस प्रकार के विचार से तथागत के दर्शन में एकागता कुछ अवश्य आई, किन्तु फिर भी आश्वासन की कुछ कमी रह गई हो, ऐसी बात नही है। आशा है इतने से कर्म सम्बन्धी विचार गीता और बुद्ध के दर्शन के स्पष्ट हो गए हैं। अब हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर आते हैं।

गीता ने भी अन्य भारतीय दर्शनो के समान पुनर्जन्म को एक स्वयसिद्धि मानकर स्वीकार किया है और ब्रह्मभूत महात्माओ की देवयान मार्ग से मुक्त प्राप्ति एव अन्य जनो की पितृयान मार्ग से पितृगति दिखाई है। पापियो का नरक लोक में जाना भी कहा है जो अशुचि और दुख बहुल है। कहने की आवश्यकता नही कि कर्म के अनुसार यह सब व्यवस्था गीताकार ने की है। गीता के २–१३, २२, ४–५, ६–४१, ४५, ८–१५–१६, ९–३, २१–२४ में पुनर्जन्मवाद की ओर निर्देश मिलता है और १३–२१ में कार्यकारण-कर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते। पुरुष सुखदुखाना भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'। इस प्रकार पुनर्जन्मवाद का कारण बतलाया गया है। अन्य कोई महत्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध में नही है। मुक्ति को गीताकार ने कई नामो से पुकारा है, यथा ब्राह्मी स्थिति, ब्रह्मनिर्वाण (गीता मे अक्सर निर्वाण शब्द अकेला न आकर 'ब्रह्मनिर्वाण' ही आया है) नैष्कर्म्य, निस्त्रैगुण्य, कैवल्य, ब्रह्मभाव, आदि। 'सर्व भूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि' देखना ही गीताकार के अनुसार समदर्शी हो जाना है और वही विमुक्ति है। 'अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्' इस प्रकार जीवन्मुक्ति की अवस्था पर जोर उपनिषदो और प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की तरह गीता में भी विद्यमान है। गीताकार ने कहा है कि जो कुछ भी वेदो में, यज्ञो में और दानो में फल प्रतिष्ठित है, उस सबको ब्रह्मज्ञानी मुनि अतीत कर जाता है (८–२८), और हम कह सकते हैं कि यह सब

बुद्ध के मन्तव्य के अनुकूल ही पडता है। कही गीताकार ने 'परा शान्ति' कह कर उच्चतम आध्यात्मिक मनोदशा का वर्णन किया है, कही उसे 'पदम् अनामयम्' कहा है और कही 'शाश्वत पदमव्ययम्' और कही 'अत्यन्त ब्रह्मसस्पर्श सुखम्' कहा है, 'मृत्यु ससार सागर' से त्राण सब जगह ही सम्मिलित है। गीता में निश्चय ही अनेक प्रकार की साधानाएँ एकत्र हुई हैं, इसलिए उन सबके अनुसार मोक्ष के विघान में भी कुछ कथन-मार्ग से विभिन्नता आ गई है। प्राय दो प्रकार के वर्ण नगीतामे हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम के अनुसार परमावस्था में केवल विशुद्ध 'आत्मैव' शेष रह जाता है और 'अह' या 'गुणो' या 'बुद्धि' का कोई अस्तित्व नही रहता। यह दशा कुछ-कुछ साख्यो 'के कैवल्य' जैसी है। गीता के ज्ञान के उपदेश का का यह स्वाभाविक पर्यवसान है 'ततो मा तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मत्सस्थामधिगच्छति 'अवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम्' य प्रयाति स मद्भावम् 'स शान्तिमधिगच्छति' 'ब्रह्म निर्वाणमृच्छति''गच्छन्त्यपुनारावृत्ति' 'सर्व ज्ञानप्लवेव वृजिन सन्तरिष्यसि' आदि। शकर ने प्राय इसी प्रकार के वाक्यो पर जोर देकर अपने ज्ञानवाद की प्रतिष्ठा की है। किन्तु गीता को अकेले ज्ञानियो का ही मार्ग प्रदर्शन करना नही था। उसमें भक्तो के लिए भी आश्वासन है। भक्ति अर्थात् ज्ञानकर्म मिश्रित निष्काम ईश्वरोपासना। इस भक्ति का उद्देश्य ज्ञान के मोक्ष के समान नहीं हो सकता। भक्त तो अपने उपास्य देव के सान्निध्य के सामने मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं। उन्हें ज्ञानियो के मोक्ष मे विशेष आकर्षण नही दीख सकता। अन्यथा उनकी भक्ति ही गौण हो जाती है। अत. भगवान् कृष्ण ने भक्ति मार्ग को ध्यान में रख कर मोक्ष तत्व का निरूपण करते हुए कही कही उसे पुरुषोत्तम में स्थित होने की अवस्था के रूप में भी प्रकट किया है, जहा पहली अवस्था की तरह व्यक्तित्व का नि शेप नही हो जाता किन्तु 'निवसिष्यसि मय्येव' 'मामेवैष्यसि' के अनुसार भक्त भगवान् को ही प्राप्त होते है 'मद्भक्ता यान्ति मापि'। इसीलिए तो 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम' ऐसा कह कर भगवान् को यह कहना पडा कि वहां पहुंच कर मनुष्य इस 'दु खालयमशाश्वतम्' ससार को नहीं लौटता। प्रदाहकता की तो शान्ति यहा भी होती है। अमृत-फल मे तो सबका समान अधिकार है, किन्तु सब इसे अपनी-अपनी भावना के अनुसार ही पाते हैं, ऐसा भगवान् का अभिप्राय है। उपर्युक्त द्वितीय मत को श्री रामानुजाचार्य ने अधिक

प्रसारित किया है। हम कह सकते है कि मोक्ष के दोनो स्वरूपो में कोई तात्विक विभेद नही है और जो विभेद है वह केवल व्यक्तित्व के गलत विचार से ही कल्पित है जैसा कि हम बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण के विवेचन में भी दिखा आए है (चतुर्थ प्रकरण)। फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिस निर्गुण, निर्विकल्प, अचिन्त्य और अनिरुक्त अवस्था के रूप में गीताकार ने मुक्ति की व्याख्या की है, वह बुद्ध के निर्वाण सम्बन्धी मत के अधिक समीप है और फिर दोनो का मुख्य उद्देश्य तो मोक्ष के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना नही किन्तु 'अनित्य और -सुख' लोक में से होकर मनुष्य को शान्ति के एक मार्ग को दिखा देना मात्र है और इस अर्थ मे दोनो समान है। गीता का कर्मवाद उसके ज्ञान और भक्ति के बीच में साक्षी है। चाहे ज्ञानी अशेष ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करे, नामरूप को छोडकर आत्मा के महासमुद्र में नमक की डली होकर घुल जाय और चाहे भक्त पुरुषोत्तम से नित्ययुक्त हो जाय, उसके 'धाम' में अचिर काल तक निवास करे, किन्तु जब तक उसे जीना है उसे लोक-हितार्थ ही जीना है, पाप-पुण्य से अस्पर्श होकर ही जीना है, गतव्यथ, उदासीन और निराशी होकर ही रहना है, बहुत-से क्या, लोक-हितार्थ ही कर्म सम्पादन करते हुए यही ब्रह्मनिर्वाण को देखना है। लेखक की विनम्र राय में यह ध्वनि गीता और बुद्ध दोनो के ही दर्शनो में पर्याप्त रूप से विद्यमान है। गीताकार के आचारतत्व का क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसमें न केवल बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट साधना ही किन्तु समग्र विश्व की साधनाएँ बडी अच्छी तरह समा सकती है, ऐसा निश्चय ही तुलनात्मक धर्म और दर्शन का विद्यार्थी कह सकता है। गीताकार ने जीवन मे साधना के मुख्यत: तीन मार्ग बताए है कर्म, उपासना और ज्ञान। इनका निरूपण तो हम यहा सक्षेपत भी नही कर सकते, किन्तु केवल इतना ही कहना चाहते है कि यह विभाजन विभिन्नता का द्योतक नही है किन्तु केवल इस बात का द्योतक है कि सत्य की गवेपणा मनुष्य की किसी एक वृत्ति का विकास करने से परिपूर्ण नही हो सकती बल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व का उपयोग आवश्यक है। अत: उपर्युक्त तीनो साधन एक दूसरे में सनिविष्ट है और उनको अलग-अलग देखना गीता के दर्शन पर आघात करना है। किन्ही ने ध्यान से आत्मा को देखा है, किन्ही ने साख्य-योग (ज्ञान) से और किन्ही ने कर्मयोग से। ये सभी निष्ठाएँ एक ही फल को फलने वाली हैं।

मनुष्य अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार एक या दूसरे तत्व की प्रधानता कर सकते है किन्तु वे अपनी समग्र वृत्तियो के सस्कार से ही परम धाम में प्रवेश कर सकेंगे, किसी एक दो वृत्तियो के परिष्कार या भावना से नही। गीता के व्याख्याकारो ने अपनी-अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार गीता में उपर्युक्त तीन साधना मार्गों में से एक या दूसरे की प्रवानता दिखाई है। स्वयं गीता की समन्वयात्मक भाषा के आधार पर इनमें से किसी की भी प्रधानता बडी आसानी से सिद्ध की जा सकती है और हम कह सकते है कि यह गीताकार को भी दिखाना इष्ट था। ज्ञान की श्रेष्ठता दिखाते हुए यदि कभी भगवान् कहते है, 'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते', 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' तो कभी 'ज्ञानिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना ..... भजते यो मा स मे युक्ततमो मत' ऐसा भी कहते है, इतना ही नही 'सर्व गुह्यतमभूय शृणु मे परम वच' ऐसा कह कर 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु' ऐसा ही उपदेश करते है और 'तमेव शरण गच्छ सर्व भावेन भारत', इस प्रकार अनन्य भक्ति का उपदेश कर कि इसे ही 'गुह्यात् गुह्यतरं' ज्ञान बताते हैं 'इति ते ज्ञानमाख्यात गुह्याद् गुह्यतर मया'। इस सबके होते हुए कर्म की महिमा उन्होने सुरक्षित नही रक्खी हो, ऐसा तो कभी कहा ही नही जा सकता। कर्मफल त्याग को कही तो उन्होने इन सब श्रेणियो से ऊपर ही रख दिया है, 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद्ध्यानविशिष्यते। ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।' इस प्रकार अपूर्व समन्वय भगवान् ने साधनाओ का गीता शास्त्र मे किया है। इस प्रकार गीता के आचारतत्व का निरूपण कर देने के बाद निश्चय ही किस तत्व की गीता में प्रधानता है, यह जिज्ञासा ही अनवकाश हो जाती है। चूकि इस विषय में दुनिया के बडे-से-बडे दिमागो ने कुछ कहा है, अत. इस पर कुछ ही थोड़ा और विचार अपेक्षित है। व्यक्तियो और युगो की भावनाओ के अनुसार इस महाग्रन्थ के मन्तव्य अनेक प्रकार से व्याख्यात किये जा सकते हैं, ऐसा अब तक का गीता विषयक अध्ययन का इतिहास दिखाता है। बहुत से पश्चिमी विद्वान् 'कृष्ण वासुदेव' की उपासना के रग में ही गीता के उपदेशो को देखना चाहते हैं और फिर कुछ 'एकान्तिक' वैष्णवो की कृति के रूप में ही गीता दर्शन को स्मरण करना चाहते है (यथा प्रधानतः डा० दासगुप्त), किन्तु इनसे हमें यहा प्रयोजन नहीं। महात्मा गाधी जी, जो स्वयं एक बड़े विचारक

है, गीता के कर्मयोग ('भक्तिज्ञान मिश्रित') से विशेष प्रभावित है और तिलक महाराज ने उसे 'कर्मयोग शास्त्र' कह कर पुकारा ही है।ये व्याख्याएँ युग के अनुरूप है और गीता के ऐतिहासिक तत्व को लेकर भी हम देखते है कि महाभारत युग में 'अक्रियावाद' (जिसके कुछ वर्णन हमें पालि त्रिपिटक में भी उपलब्ध होते है) का बडा जोर था और उसके विरोधस्वरूप गीता में अनेक वार कृष्ण की वाणी को हम अपूर्व ओजस्विता ग्रहण करते पाते है। किन्तु गीताकार का अन्तिम मन्तव्य कर्मवाद रहा हो, ऐसा सम्भवतः हम नही कह सकते। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के सिद्धान्त को हम गीताकार का अन्तिम मन्तव्य नही मान सकते और इसका प्रधान कारण यह है कि गीता में कर्म का पर्यवसान ही ज्ञान में दिखाया गया है, ज्ञान का पर्यवसान कर्म में नही। अत ऐसा कहा जा सकता है कि भगवान् शकर और ज्ञानेश्वर महाराज कुछ अधिक स्पष्ट रूप से गीताकार से मन्तव्य को दिखाने मे समर्थ हुए है, अन्यथा उपनिपदो के उसे सार कहने का कोई अर्थ ही नही रह जाता। कुछ जो भी हो, जहा तक गीता ज्ञान और कर्म का निरूपण करती है, वह तथागत-प्रवेदित ज्ञान मे विल कुल सगत है, किन्तु उसका भक्तिवाद केवल महायान से मेल खाता है, वुद्ध के मौलिक मन्तव्य से नही। यज्ञादि के प्रति दोनो की क्या दृष्टि है और आदर्श मनवत्व के वर्णन में दोनो दर्शन कितने समान है, यह हम पहले दिखा चुके है, अत अव हम गीता और वुद्ध-दर्शन दोनो की पारस्परिक तात्विक परिस्थिति पर आते है[1]।

जिस प्रकार गीता मे सभी भारतीय साधनाए एकत्र हुई है, उसी प्रकार भारत के सभी तत्व-ज्ञान सवधी सिद्धान्त भी उसमे निहित है। अत इस

---

(१) गीता की तपस्या की भावना 'देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजन ... ब्रह्मचर्यमहिंसा' आदि—से लेकर तत्ताम समुद्दाहृतम् तक (१७।१४-१९); उसके द्वारा 'असयतात्मना योगो दुष्प्रत्य, 'यतन्तोऽप्य कृतात्मानो नानुपश्यन्ति' 'इद ते नातपस्काय' आदि रूप से चारित्र्य को मूल प्रतिष्ठा मानने की प्रवृत्ति; 'नित्य दोपानुदर्शनम्' 'अनित्यमसुख लोक' आदि रूप से दुःख सत्य की अनुस्मृति पर जोर; 'युक्ताहार विहारस्य' इत्यादि रूप से (अध्याय ६) मध्यम मार्ग का प्रतिपादन वुद्ध के मन्तव्या से असाधारण समानता रखते है। यहां विस्तार-भय से इनके विवेचन में नहीं जाया जा सका।

गीता और बुद्ध-दर्शन की पारस्परिक तात्विक परिस्थिति—मनुष्यता के विचार से बुद्ध-वाणी अधिक प्रभावशाली किन्तु तात्विक दृष्टि से गीता सम्भवतः अधिक परिपूर्ण दर्शन

विषय में गीता की मूल स्थिति का हम कोई ठीक अनुमान नही लगा सकते। जो निश्चित है वह है कि गीता की तात्विक परिस्थिति सामान्‍ त उपनिषदो की सी ही हो सकती है। दूसरी बात यह है कि गीता ने जो इतने सिद्धान्तो का अपने अन्दर समन्वय किया है और उन्हे अपने अन्दर पचाया है वह उसने सैद्धान्तिक समन्वयवाद ही स्थापन करने के लिए नही किया है, ब्रह्मसूत्रकार के समान विपरीत सिद्धान्तोकी अनुपयुक्तता दिखाने की तो कोई बात ही नही। गीता ने जो इतने सिद्धान्तो को मिलाया है वह केवल जीवन के एक समग्र मार्ग की स्थापना करने के लिए ही मिलाया है। यदि प्रज्ञा (मिलाइए बौद्ध और गीता के प्रयोग) की साधना करने वाला कोई ध्यानी भी चले तो भी वह स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय) के रूप में वही लक्षण प्रकट करेगा जो एक आदर्श भक्त के होने चाहिए (बारहवा अध्याय), अथवा ज्ञानमार्ग के अभ्यास करने वाले किसी त्रिगुणातीत महात्मा के होने के चाहिए (अध्याय १४)। इतना ही नही, जो छोटे-मोटे देवी-देवताओ को भी पूजते है 'तेऽपि मामेव कौन्तेय भजन्त्यविधिपूर्वकम्' यहा तक भी उदारवाणी कहने से भगवान् नही चूके है। तो फिर समन्वय के यहा इयत्ता ही क्या रही? भगवान् गीताकार का वास्तविक मन्तव्‍ भी निश्चय ही विश्लेषण करने के लिए उतना ही कठिन है जितना कि उपनिषदो का। फिर भी चूंकि गीता के दर्शन मे साधन-पक्ष की ओर उपनिषदो से कुछ अधिक प्रवृत्ति है, अत. वह बुद्ध के दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन का अच्छा विषय बनाया जा सकता है, ऐसा हम कह सकते है। जहा तक विशुद्ध तत्वज्ञान के क्षेत्र से सम्बन्ध है, गीता उपनिषदो के ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान को स्वीकार करती है, ऐसा तो हम प्राथमिक रूप से कह ही सकते है। 'वासुदेवः सर्वमिति', 'अह ात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित', 'शुनिचैव श्वपाके च पण्डिता सम र्शिन', 'यच्चापि सर्वभूताना बीज तदहमर्जुन', 'सर्वभूतेषु, येनैक, 'तज्ज्ञान विद्धि सात्विकम्', 'सर्वभूतस्थ ात्मान सर्वभूतानि चात्मनि', 'मत्त परतरं नान्यत्' आदि वाणिया इसी सत्य को प्रकट करती है। क्षर और अक्षर तत्व के विषय मे भी गीता हमें सूचना देती है (१५-१६) और तीनो लोको के प्रतिष्ठापक परमात्मा को भी (१५-१७) जिसके अन्दर सभी प्राणी स्थित

हैं और जिसमें यह सब जगत् व्याप्त है। उसी को गीता पर. पुरुष कह कर पुकारती है (८–२२)। यही परम ब्रह्म है और यही कूटस्थ सत्ता है, जिसके विषय में गीता कहती है 'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य पर मन । मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु स'। यही तत्व ऐसा है जो न उत्पन्न होता है, न मरता है किन्तु अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है और शरीर के मारे जाने पर मारा नहीं जा सकता (२–२०)। इसी प्रकार 'अच्छेद्योऽयम दाह्यो' आदि रूप से गीता में इस तत्व का बडा सुन्दर प्रख्यापन किया गया है (२।२२–२५)। इसी का अकर्तृत्व भी गीताकार ने दिखाया है। वह यह कह कर कि यह परम आत्मा अव्यय, अनादि है और निर्गुण है, अत शरीरस्थ रहता हुआ भी यह न कुछ करता है और न लिप्त होता है (१३–३२)। ये सब गीता-दर्शन की मूलभूत मान्यताएँ हैं। परिवर्तनशील पदार्थों में एक अपरिवर्तमशील तत्व को गीता स्वीकार करती है। शकर का मायावाद या अध्यासवाद गीता में कहा तक पाया जाता है, यह एक समस्या है, किन्तु इस प्रश्न मे हम यहा नही जा सकते। इस कठिनता को तो गीता ने इन परस्पर विरोधी गुणो का परम तत्व पर आरोप कर ही उसे व्यक्त करने की चेष्टा की है। सब जगह उसके हाथ और पाव है, सब जगह ही आखें सर और मुख। सबको वह सुनने वाला है और सब का ही आवरण कर लोक में वह ठहरता है। सब इद्रियो मे विवर्जित होने पर भी सब इद्रियो के गुणो का उसमे आभास है। वह असक्त है, किन्तु सब का आश्रय भी है। निर्गुण भी है और गुण भोक्त भी है। सभी प्राणियो के वह वाहर भी है ओर भीतर भी है। अचर भी है और वह चर भी है। सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय भी है। वह दूरस्थ है, किन्तु समीप भी है। वह प्राणियो मे अविभक्त है, किन्तु फिर भी विभक्त सा स्थित है। वह ज्ञेय भूतो का आधार है और वही खानेवाला और वही उत्पन्न-करनेवाला है (१३।१४–१७)। काव्यात्मक रूप से यह सब पढने में वडा अच्छा लगता है, किन्तु इसकी दार्शनिक स्थिति हमे किन अज्ञात सिद्धान्तो और अविज्ञेय तथ्यो की ओर ले जाती है, इसकी हम साधारणतः कल्पना भी नही कर सकते। इसके स्वरूप को समझना है तो हमें शकर और रामानुज जैसे आचार्यो के पास जाना पडेगा, जिन्होने एतत्सवधी कठिनाइयो को दूर करने के लिए ही और गीता के सिद्धान्तो मे एकवाक्यतावगति लाने क लिए ही भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने मतो को

विस्तारित किया है। वस्तुत हम तो इतना ही कह सकते है कि गीताकार ने परमतत्त्व के वर्णन करने में कठिनाई अनुभव की है, भाषागम्य उसे नही माना है और इसीलिये विरोधात्मक भाषा का प्रयोग किया है। फिर गीताकार के मन्तव्य की अविज्ञेयता यही समाप्त नही हो जाती। उन्होने साख्यो के प्रकृतिवाद, उनिषदो के ब्रह्मवाद और भागवतो के ईश्वरवाद का ऐसा समन्वय किया है कि सिवाय भगवान् शकराचार्य के आदेशानुसार 'भगवत्गीता किंचिद्धीता' का अनुसरण कर गीता माता का कुछ ही प्रसाद पाने के (अपनी प्रवृत्ति और भावना के अनुसार), सामग्र्य मे उसके रूप को समझने की तो हम चेष्टा भी नही कर सकते। गीता निश्चय ही वह 'ब्रह्मजाल' (श्रेष्ठ जाल, बौद्ध अर्थ) है, जिसमे ससार की सभी विचार प्रणालियाँ फिर चाहे वे कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो, निगृहीत कर ली गई है, और फिर यह सब उनका गला घोटने के लिए नही, बल्कि उन सबमे एक विशेष चैतन्य का सचार कर उनकी दीप्ति को और अधिक प्रबल करने के लिए, उनमे जीवन के प्रति समाधान स्थापित करने के लिये। यही कारण है कि विभिन्न विचार प्रणालियो के मनुष्य भी उसमे अपने सिद्धान्तो की झलक पा सकते है। गीताकार ने यह अपना उद्देश्य सा बना लिया जान पडता है कि वह तत्त्व को किसी भी दृष्टिकोण से बिना देखे नही छोडते। इसीलिए उनके दर्शन को इतनी परिपूर्णता प्राप्त हुई है। एक ईश्वरवाद का उपदेष्टा महात्मा ही जो एक क्षण मे 'तमेव शरण गच्छ', 'मया सर्वमिद ततम्', 'अह सर्वस्य प्रभव' 'मत्त सर्व प्रवर्तते' कहता है, दूसरे क्षण मे 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु' न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते 'कहता है, 'न दत्त कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु' कहता है। इतना ही नही 'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश य पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तार स पश्यति' यह भी कहता है। तो यह उनके मन्तव्य के अती होने के कारण ही है, असम्बद्ध वाणी के फल स्वरूप नही। जीव, जगत् और आत्मा को लेकर अनेक सिद्धान्त है जो सहज ही गीता के दर्शन मे समा सकते है और शकर के लिए अपने मायावाद को गीता के सहारे प्रस्थापन करना जितना आसान है उतना ही दूसरो के लिए जगत् की यथार्थता को दिखाना भी। यही बात द्वैत और अद्वैत मतो को लेकर भी कही जा सकती है। निश्चय ही गीता अनेक दार्शनिक सिद्धान्तो की स्थापना करती है और जैसा कि हम बडी आसानी से देख सकते है बुद्ध के विचार में यह बात सम्भव नही है। दृष्टा निषेधात्मक

निष्कर्ष तो उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने बहुत निकाले हैं, किन्तु निश्चित विधेयात्मक सिद्धान्तों को नवीनतम रूप से निकालने का वहा विशेष अवकाश नही है। किन्तु इसके विपरीत गीता की तो 'अस्तियो' का कोई अन्त ही नही है। प्रकृति, पुरुष, पुरुषोत्तम, क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, जीव, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, अनात्मा, कर्म, कर्ता, अव्यक्त, कूटस्थ, विराट् न जाने यहा क्या-क्या है। साख्य-योग, राज विद्या, 'ब्रह्मसूत्र पद' और 'गुह्यात् गुह्यतम ज्ञान' न जाने क्या क्या यहा सनिविष्ट है। निश्चय ही इन सात सौ श्लोको मे समग्र मानवीय ज्ञान को ही भगवान् ने नाप डाला है। इस महान् आकाश में जितना स्थान हमारी बुद्ध घेर सकती है, वह एक छोटे घटाकाश के रूप में ही हो सकता है। कितनी विभिन्न विचार-प्रवृत्तियो और युगो के लोगो ने गीता से अमृत को दुहा है, इससे हम उसके सार्वभौम स्वरूप और उसके तत्वदर्शन की व्यापकता का कुछ अनुमान लगा सकते है। बुद्ध का दर्शन भी अत्यन्त सार्वभौम स्वरूप वाला है और उससे भी जगत् के एक बडे भारी भाग ने आश्वासन पाया है, किन्तु उसके प्रभाव का रहस्य कुछ और है। गीता का-सा परिपूर्ण तत्वदर्शन हमें बुद्ध के विचार मे नही मिलता। तथागत अनेक बातो पर मौन है जिनके चिन्तन से मानवीय बुद्धि को नही रोका जा सकता। गीता निर्बन्ध रूप से इन प्रश्नो पर भी विचार करती है और समाधान पूर्वक उत्तर देती है। वह न तथागत की तरह मौन है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिको की तरह निषेधात्मक। आचार्य विनोबा ने एक जगह कहा है कि एक परिपूर्ण दर्शन के लिये उसमे दो सिद्धान्तो का होना आवश्यक है। एक तो यह कि मै यह मरणशील देह नही हूँ, देह तो ऊपर की क्षुद्र पपडी मात्र है और दूसरा यह कि मै कभी न मरने वाला अखण्ड और व्यापक आत्मा हूँ। इन दो सिद्धान्तो के मेल से आचार्य विनोबा के अनुसार एक पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है। यदि हम इसे ठीक कसौटी माने तो हमे स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि बौद्ध दर्शन एक अपूर्ण दर्शन है और गीता परिपूर्ण। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान मै नही हूँ, इतना तो बुद्ध कहते है, किन्तु मै अज, नित्य, शाश्वत, और पुराण भी हूँ, इसकी तो इतनी रट बुद्ध ने नही लगाई है, वह उनके दर्शन मे अन्तर्हित भले ही हो। परम्परागत रूप से श्रौत विचार-धारा के विचारक बुद्ध के अनात्मवाद को निषेधात्मक रूप मे ही, औपनिषद आत्मा के निषेध रूप में ही (जिसका प्रत्याख्यान हम

पहले कर चुके हैं" प्राय समझते रहे हैं। यही कारण है कि ज्ञानेश्वर जैसे महात्मा ने भी बौद्ध दर्शन को 'गणेश का खण्डित दात' कहा है[१], जब कि गीता के दर्शन के सम्बन्ध मे उनका कहना है 'मत-भेदो का परिहार करने वाला यह जो सवाद है, वह आपका अखण्डित और शुभ्र वर्ण वाला दात है।"[२] बौद्ध दर्शन गणेश का खडित दात है और गीता-दर्शन है उनका शुभ्र और अखडित दात, कितनी सुन्दर उपमा है, यद्यपि इसमें सत्य की मात्रा अधिक नही है। हम उन त.ों की पुनरावृत्ति नही करना चाहते जिन्हे हम अनात्मवाद के विवेचन के सम्बन्ध में पहले दे चुके है। हमें यही वडी प्रसन्नता है कि ये दोनो दात गणेश के तो है और यह एक वडे आश्वासन की वात है। तात्त्विक दृष्टि से गीता की स्थिति अधिक परिपूर्ण होते हुए भी हमें यह मानना पडेगा कि मानवता की दृष्टि मे बौद्ध दर्शन उसकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली दर्शन है। गीता के ईश्वरवाद और पुरुषोत्तमवाद (यदि ऐसा हम कह सके) मनुष्य के सकल्प को स्वतत्रता देने के पक्षपाती नही। हम ऐसा ही कह सकते हैं कि इनके वन्वन की स्वीकृति से ही गीता मनुष्य के सकल्प की वास्तविक स्वतत्रता की सम्भावना मानती है। यह ठीक है कि गीताकार मनुष्य को कर्म करने का अधिकार देते है, किन्तु उसके साथ यह भी उतना ही ठीक है कि वही भगवान् अर्जुन को डराने घमकाने भी लगते हैं 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तत्'। इतना ही नही 'ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया'। इन वाक्यो से गीताकार मनुष्य की अवशता और ईश्वर के प्रति उसकी शरणागति की आवश्यकता दिखाकर उसके सम्पूर्ण कर्म-स्वातन्त्र्य को वापस ले लेते हैं। गीता की कर्म-स्वतत्रता, जैसा एक पाश्चात्य गीतानुवादक ने कहा है, मनुष्य के सामने कर्म के चुनाव की एक मायावी स्वतत्रता देती है। गीता का कर्म स्वातन्त्र्य वस्तुत एक चरम नियतिवाद की परिधि के भीतर ही कार्य करता है। सकल्प की पूर्ण स्वतत्रता वहा नही है[३]।

(१-२) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ २

(३) "Freedom in the Gita is an illusory liberty of choice working Withein the bounds of an ultimate determinism "
हिल का गीता का अग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३७ (भूमिका)

किन्तु वुद्धोपदिष्ट कर्म और प्रतीत्य समुत्पाद तो सर्व निरपेक्ष नियम है। वे स्वय तथागत की भी पर्वाह नही रखते। सकल्प की पूर्ण स्वतत्रता ही वुद्ध-शासन है और मानवीय पुरुषार्थ के द्वारा वहा निर्वाण प्राप्ति की वात कही गई है। भगवत्कृपा ने आकर वहा मनुष्य को निर्बल नही वनाया है। 'प्रधान' ही वहाँ आश्वासन पाता है। वहा प्रधान है और उसको अतिक्रमण करने वाला कोई नही। वुद्ध की वाणी में 'दैव चैवात्र पचमम्' जैसी कोई चीज नही है । वहा तो जो सयतेन्द्रिय हुआ है, जिसने आत्म विजय प्राप्त की है, उसकी विजय को देवता भी 'अविजय' नही कर सकते .

न देवो न गन्वब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जित अपजित कयिरा तथा रूपस्स जन्तुनो[1] ॥

यही वुद्ध के विचार की विशेषता है, यही उसकी वीर्यवती वाणी है, जिसके द्वारा मनुष्यता के आकर्षण की वह इतनी व्यापक वस्तु वन गई है। यहा मनुष्य देव से ऊपर चला गया है, जो वात गीता में कही नही है। किसी तथोक्त ईश्वरवादी दर्शन में यह वात नही हो सकती। एक ईसाई पादरी ने तो इसे वौद्ध धर्म का एक वडा दोप माना है। उसने कहा है कि वौद्ध धर्म ने यह कह कर कि मानव से ऊँचा और कोई नही है, मानव का अपमान किया है, उसे नीचे गिराया है[2]। विशप लोग ऐसा कहते हे (देवोपासक भक्त भी प्राय ऐसा ही कहेगे) तभी तो वौद्ध दर्शन मानवता के लिये इतनी अधिक आकर्पण की वस्तु वनता है ।

अधिक हम इस सम्बन्ध मे क्या कहें, कृष्ण और वुद्ध दोनो ही विश्व-शास्ता है। भगवान् वुद्ध तो सयम-योग्य पुरुषो के अद्वितीय सारथी, 'पुरिसदम्-सारथि' है ही, भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन के उपलक्षण से मानवता के सारथी का काम किया है। एक की साधना से जिस प्रकार गिरि-व्रज (राजगृह के समीप पर्वत) पवित्री-कृत है, दूसरे की लोक-कल्याण-साधना को उसी प्रकार 'व्रज-गिरि' (गोवर्द्धन) आज तक स्मृत वनाये हुए है। चण्डीदास की राधा तमाल वृक्ष की श्यामलता

---

(१) धम्मपद ८।६

(२) विशप फोप्लसटन साहव ने कहा है "Buddhism degrades man by denying that there is any being above him"
सोजन : सिस्टम्स ऑफ वुद्धिस्टिक थाट, पृष्ठ ५५ में उद्धृत।

के कारण उसे कृष्ण के समान ही पूजती थी। 'कृष्ण कालो तमाल कालो, ताइते तमाल भालो वासी'। हमारे नन्द-नन्दन तो भगवत्स्वरूप हैं ही, महापुरुष (महापुरिस) तथागत भी ब्रह्मभूत महात्मा हैं। तमाल के समान विशाल आकाश-कल्प ज्ञान से मण्डित! जो-जो लोकोत्तर विभूतिमान्, श्री-संयुक्त और ऊर्जित है, यदि वह सब परम पुरुष के अंश से ही सम्भूत है तो विश्व-मानव को प्रभावित करनेवाले तथागत से अधिक उस अंश की मात्रा और कहां मिल सकती है? सन्त ज्ञानेश्वर ने अवतारी पुरुष के लक्षण के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण से अर्जुन के प्रति कहलवाया है, "उसे पहचानने का लक्षण एक ही है। वह यह कि सारा संसार उसके आगे नम्र होता है और उसकी आज्ञा का पालन करता है[1]।" यदि इस लक्षण के आधार पर हम भगवान् कृष्ण और तथागत के विश्व-मानव पर प्रभाव की तुलनात्मक समीक्षा करें तो बौद्ध दर्शन और गीता-दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध और उनका तुलनात्मक महत्व आसानी से हमारी समझ में आजायगा।

इ—बौद्ध दर्शन और चार्वाक-मत

सुत्तपिटक में महानास्तिक के रूप में चार्वाक मत के समान सिद्धान्त का वर्णन और बुद्ध की उसके प्रति प्रतिक्रिया

चार्वाक सिद्धान्त भारतीय दर्शन का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। किन्तु आधुनिक अर्थ में उसे 'दर्शन' नहीं कहा जा सकता। वह जडवाद पर आश्रित है और जीवन की समस्याओं पर उसका कोई व्यवस्थित विचार नहीं। वह निराशावाद का सूचक और अनैतिकतावाद का प्रचारक है। केवल वेद-विरोधी होने के कारण उसे बौद्ध और जैन जैसे महनीय दर्शनों के साथ बैठने का अवसर मिला है। बुद्ध के समय भारत में जितनी प्रवृत्तियाँ प्रचलित थी, उनमें बहुतों का पर्यवसान चार्वाक सम्मत नास्तिक मत में हो सकता है। विशेषतः दो धारणाएं नास्तिकवादियों की बुद्धकाल में अधिक फैली हुई थीं। एक थी यह कि पुण्य-पाप कार्यों का फल नहीं है और दूसरी यह कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है। सन्दक सुत्त में चार्वाक मत के सदृश महानास्तिक मत का अत्यन्त विशद वर्णन हमें उपलब्ध होता है।

---

(१) ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ २७३

नास्तिकवादी कहते हैं 'नही है दान (का फल), नही है यज्ञ, नही है हवन। यह लोक नही है, परलोक नही है, माता नही, पिता नही, औपपातिक (अयोनिज) प्राणी नही है। लोक में ऐसे सत्य-प्राप्त, सत्यारूढ श्रमण-ब्राह्मण नही हैं जो लोक-परलोक को स्वय जानकर साक्षात्कार कर दूसरो को बतलाएगे। यह पुरुष चातुर्महाभूतिक (चार भूतो का बना) है। जब मरता है पृथिवी काय पृथिवी में मिल जाती है, चली जाती है, जल जल काय में चला जाता है, तेज तेज काय मे मिल जाता है, वायु वायुकाय में मिल जाता है, इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती है, पुरुष मृत शरीर को खाट पर ले जाते हैं। जलाने तक पद (चिह्न) जान पड़ते है, फिर हड्डिया कबूतर के पखो की-सी सफेद हो जाती है। पूर्व कृत आहुतिया राख रह जाती है। यह दान मूर्खो का प्रज्ञापन है। जो कोई आस्तिकवाद कहते है वह उनका तुच्छ है। मूर्ख या पण्डित सभी शरीर छोडने पर उच्छिन्न हो जाते है, विनष्ट हो जाते है, मरने के वाद कोई नही रहता[1]'। इस नास्तिकवाद का भगवान् ने घोर विरोव किया और इसे 'अब्रह्मचर्यवास' कहा। इस प्रकार की विचार-प्रणाली तो नैतिकवाद की जड पर ही सीघा आघात करती है। फिर भी अपने अनात्मवाद के कारण बुद्ध भौतिकवाद के पास भी पहुँचे कहे जा सकते है। श्री राहुल जी ने लिखा है, "बुद्ध ४५ वर्षो तक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्य वादो के विरोवी जडवाद की सीमा के पास पहुचे।"[2] जडवाद और नैतिक आदर्शवाद तो उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव जैसी दूरी पर हैं।

---

(१) सन्दक सुत्त (मज्झिम० २।३।६; अजित केस कम्बली के 'उच्छेदवाद' के लिए इसी सम्बन्ध में देखिए सामञ्ञफल सुत्त (दीघ० १।२), 'न सन्ति परलोकवादा' के सिद्धान्त के लिए देखिए पायासि सुत्त (दीघ० २।१०) भी। पायासि राजन्य भौतिकतावादी था। वह कहता था कि मरे हुए व्यक्ति को किसी ने आज तक लौटकर आता नहीं देखा। मृतक शरीर से किसी जीव के निकल जाने का कोई चिन्ह नहीं मिलता। यदि परलोक होता तो मरने की इच्छा धार्मिक पुरुषो को होनी चाहिये थी जो उनको नहीं होती। भिक्षु कुमार काश्यप ने उसे युक्तियों से समझाकर कर्म-फल और पुनर्जन्म की सत्यता की शिक्षा दी।

(२) पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १२१

उन्हें निकट कैसे कहा जा सकता है। कहा 'चातुर्महाभूतिक' प्राणी का विचार और कहा कर्मानुसार उसके समरण की कथा। कहा "स्वाभाविक सर्वमिद प्रवृत्त" कहकर जडवादियो का प्रयत्न को मोघ बताना और कहा अदम्य वीर्य प्रारम्भ करने का शास्ता का उपदेश और सिंहनाद। भगवान् बुद्ध का मन्तव्य किसी भी एक बात में नास्तिकवाद के साथ मेल नही खाता, फिर उसमें जडवाद की उपपत्ति कैसे? किन्तु इसके लिए भारतीय जडवाद के स्वरूप का कुछ और विस्तृत वर्णन उपस्थित कर बुद्ध के मत से उसकी भिन्नता दिखाना आवश्यक है।

चार्वाक-सम्मत जड़वाद का संक्षिप्त विवेचन और बुद्ध-मन्तव्य उसके साथ किसी भी प्रकार समता दिखाने की अनुपयुक्तता

चार्वाक मत बहुत प्राचीन है। इसका प्रादुर्भाव सम्भवतः वैदिक कर्मकाण्ड के विकृत स्वरूप धारण कर लेने पर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। चार्वाक लोग ,वेदो की निन्दा में तथा ससार के सुखो को भोगने के लिए, अनेक प्रकार की मीठी बोलिया लोगो को सुनाते थे, इसी में सम्भवत उनके नाम चार्वाक या 'चारुवाक्य'[1] की तथा उनके दर्शन की जो भोगवाद पर आश्रित है, सारी ख्याति निहित है। लोक, 'पृथग्जन' अथवा प्राकृत पुरुषो को इनका सिद्धान्त अत्यन्त रुचता था, सम्भवत. इसीलिए इन्हें 'लोकायितक' भी कहा जाता है। चूकि ससार के अधिकतर मनुष्य अध्यात्मवादी न होकर अपने आचरण में नाना भोगो को ही भोगने वाले होते हैं , अनेक वेदादि सच्छास्त्रो के ज्ञाता, भक्त और प्रचारक भी अपने वैयक्तिक जीवन में भौतिक विषयो की ही अधिक चिन्ता करते देखे गए हैं, अत माधवाचार्य ने इन चार्वाको की विचार-पद्धति की मनुष्य के जीवन में व्यावहारिक रूप से इतनी व्यापक अभिव्याप्ति देखकर ही इनके दर्शन को 'दुरुच्छेद्य दर्शन कहा है 'दुरुच्छेद्यं हि तावत् चार्वाक चेष्टितम्'। आज के घोर भौतिकवाद और जड़वाद के युग में तो यह कितना सत्य है! ,अस्तु, चार्वाको के भी दो विभेद किए गए हैं, शिष्ट चर्वाक और धूर्त चार्वाक। शिष्ट चार्वाक वे हैं जो शरीर में 'आत्मा' नामक एक पदार्थ की स्थिति अवश्य मानते हैं किन्तु शरीर के साथ ही उसका उच्छिन्न होना मानते हैं; धूर्त

---

(१) देखिए, हिरियण्ण : वेदान्तसार, पृष्ठ ३२

चार्वाक किसी भी प्रकार के चैतन्य तत्व को स्वीकार ही नही करते। वे घोर नास्तिकवादी एव पूर्ण जडवादी है। सामान्यतया चार्वाको से मतलव हम उच्छेदवादियो से लेते है। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसग्रह' के प्रथम परिच्छेद में चार्वाक-मत का अत्यन्त विशद और साधारण जनो के पढने योग्य वर्णन किया है। उस सवमें न जाकर हम यहा मूल-भूत वातो का ही निर्देश कर सन्तोष करेंगे। आचार्य वृहस्पति (जिनके शिष्य चार्वाक कहे जाते है—इस मत के प्रचारक) ने कुछ सूत्र लिखे है जो वहुत थोडे में समग्र चार्वाक दर्शन को प्रख्यापित करते है। भाष्कर भाष्य मे समुद्धृत ये वार्हस्पत्य-सूत्र इस प्रकार है ' अथ लोकायतम्। पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा। तेभ्यश्चैतन्य किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्'। 'प्रवोधचन्द्रोदय' में और भी अत्यन्त विशद और सक्षिप्त रूप से कहा गया है 'लोकायतमेव शास्त्रम्। अत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। अर्थकामौ पुरुषार्थौ। भूतान्येव चेतयन्ते। नास्ति परलोक। मृत्युरेवापवर्ग।' इन उपर्युक्त उद्धरणो का यही तात्पर्य है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु ही चार्वाको के लिए अन्तिम तत्व है। इनके समुदाय मात्र से ही वे शरीर, इन्द्रिय विषय की सज्ञा या अनुभूति मानते है। इन भूतो में से ही उनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति होती है यथा मादक-द्रव्य आदि खाने-पीने से मद(नशा) हो जाता है। ऊपर उद्धृत 'प्रवोध चन्द्रोदय' के वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि लोकायत शास्त्र के लिए केवल प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। अर्थ और काम यही दो पुरुषार्थ है। भूत ही चेतना धारण कर लेते है। परलोक नही है। मृत्यु ही अपवर्ग है। चार्वाको के अनुसार प्रकृति में नियम कुछ भी नही, सव कुछ स्वभाव, प्रसङ्ग, अनुषङ्ग या आकस्मिकता के कारण ही होता है, इसीलिए ये 'स्वभाववादी', 'यदृच्छावादी', 'प्रसगवादी', अनुषङ्गवादी, कदाचिद्वादी और 'अकस्माद्वादी' के नाम से भी अभिहित होते है। इनकी इस वात का वर्णन कारणवाद के प्रसङ्ग में अन्य अनेक भारतीय दर्शन सम्प्रदायो के ग्रन्थो में आया है। न्याय कुसमाञ्जलि की टीका में उद्धरण दिया गया है "नित्यसत्वा भवन्त्येके नित्यासत्वाश्च केचन। विचित्रा केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामक॥ अग्निरुण चल शीत समस्पर्शस्तथाऽनिल। केनेदचित्रित तस्मात् तत्स्वभावो नियामक॥" इसी प्रकार 'वोधिचर्यावतारपञ्जिका' में भी चार्वाको की इसी प्रवृत्ति का उद्धरण दिया गया है 'सर्वहेतुनिराशस भावाना जन्म वर्ण्यते। स्वभाववादिभि ते च नाहु स्वमपि कारणम्॥ राजीवकेसरादीनां

वैचित्र्य क करोति हि। मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्र केन निर्मित ॥ यथैव कण्टकादीना त्रैक्ष्णय ादिकमहेतुकम्। कादाचित्कतया तद्वत् दु खादीनामहेतुता[1] ॥ कहा जाता है कि चार्वाको की उपर्युक्त स्वभाववाद की प्रवृत्ति को गौतमीय न्यायसूत्र 'अनिमित्ततो भावोत्पत्ति कण्टकतैक्ष्ण्यादिवत्' (४।१।२२) अवकाश देता है तथा इसी प्रकार उनके आत्मा विषयक उच्छेदवाद या पूर्ण निषेधवाद को 'नाहं मोह ब्रवीमि अनुच्छितिधर्मायमात्मेति (वृहदारण्यक ४।५।१४) नायमस्तीति चैके (कठ १।२०), 'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सज्ञाऽस्ति' (वृहदारण्यक) तथा 'असद्वा इदमग्र आसीत् (तैत्तिरीय २।७) आदि श्रुतिया अवकाश देती है, और फिर सदानन्द (वेदान्तसार के रचयिता) ने तो चार प्रकार के चार्वाको का उद्भावन कर श्रुतियो के उद्धरणो से ही उनका निदर्शन भी कराया है[2]।

(१) मिलाइए 'वुद्धचरित' में भी लोकायतिकों की इसी प्रवृत्ति का सुन्दर निदर्शन 'केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभ चैव भवाभवौच। स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्न ॥ यदिन्द्रीयाणां नियतः प्रचार. प्रियाप्रियत्व विषयेषु चैव। सयुज्यते यज्जरयातिभिश्च फस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥ अग्निर्हुताश शममम्युपैति तेजासि चापो गम• यन्ति शोषम्। भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्य च गत्वा जगदुद्वहन्ति ॥ यत्पाणिपादोदरपृष्ठ मूर्ध्नां निवर्तते गर्भगतस्य भाव.। यदात्मनस्तस्य च तेन योग. स्वाभाविक तत् कथयन्ति तज्ज्ञा. ॥ क कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा। स्वभावतः सर्वमिद प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुत प्रयत्न' ॥ ९।५८।६२

(२) यथा, चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय.' इत्यादि श्रुते. प्रदीप्त गृहात् स्वपुत्रं परत्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनातत्स्थूलोऽह कृशोऽहमित्याद् यनु-भवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति। अपरश्चार्वाक 'ते ह प्राणा प्रजापति पितरमेत्योचु': इत्यादि श्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽ-ह वधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति। अपरश्चार्वाकः 'अन्योन्तर आत्मा प्राणमय.' इत्यादि श्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलना योगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभयाच्च प्राण आत्मेति वदति। अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादि श्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावह संकल्पवानह विकल्पवानित्याद्यनुभयाच्च मन आत्मेति वदति। वेदान्त सार, पृष्ठ ८ (हिरियण्ण का सस्करण)

किन्तु इस सब विस्तार में न जाकर हम तो यहा केवल ऊपर उद्धृत बार्हस्पत्य सूत्रो के ही विशेषतया प्रकाश में (ऐसा करना ही न्याय्य भी होगा क्योकि श्रुतियो के आधार पर तो ऐसा करना किसी भी प्रकार ठीक नही) और कुछ 'सर्वदर्शन सग्रह' के आधार पर भी चार्वाक-मत का बौद्ध दर्शन से सम्बन्ध देखें ।

सर्वप्रथम तो बात यह है कि चार्वाक परलोक को नही मानते, किन्तु भगवान् बुद्ध पुनर्जन्मवादी हैं। चार्वाक मत की किसी नियम में निष्ठा नही और वे अकारणवादी हैं, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध ने कर्म नियम को सिखाया है। 'आनन्द ।' 'क्या जन्म-मरण स-कारण है, पूछने पर कहना चाहिए कि 'सकारण' है' ऐसा उन्मुक्त निर्घोष किया है । अधीत्यसमुत्पाद (अधिच्चसमुप्पाद-अकारण वाद जिसका खण्डन 'ब्रह्मजालसुत्त' में उपलब्ध है) को मानने वाले इन चार्वाको से 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के उपदेष्टा की क्या तुलना है? 'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतु तथागतो आह तेस च यो निरोधो एव वादी महासमणो'। उन तथागत की तुलना इन उच्छेदवादियो से क्या है? उच्छेदवादी भगवान् बुद्ध नही हैं, इसका निरूपण तो पहले हो चुका है (चतुर्थ प्रकरण में), अत उसकी पुनरावृत्ति की यहा जरूरत नही। यह भी कहने की आवश्यकता नही कि भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अनात्मवाद' औपनिषद आत्मवाद का विपरीत सिद्धान्त नही है, अत 'उच्छित्ति धर्मा' चार्वाक मत से वह किस प्रकार समता ग्रहण कर सकता है? भगवान् बुद्ध तो नैतिक आदर्शवाद के ससार के सर्वोत्तम उपदेष्टा है, फिर भोगवादी चार्वाको से उनकी किस बात में तुलना देखी जाय? जिनके लिए स्वर्ग नही, अपवर्ग नही, आत्मा नही, परलोक नही, धर्म नही, सुख से जीना ही जिनके लिए जीवन का एकमात्र ध्येय है और जो किसी भी नैतिक दृष्टि के पक्षपाती नही,[1] उन

---

(१) मिलाइये—न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः । नैव वर्णाश्रमादीना क्रियाश्च फलदायिका. ।। यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत. ।। सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत। मिलाइये 'पृथिवी काय, जल काय, तेज काय, वायुकाय, सुख दुख और जीव ये सात अकृत अनिर्मित हैं ..... यहा न हन्ता है न घातयिता है, न सुनने वाला न सुनाने वाला है । आवागमन में ही पडकर मूढ़ और पण्डित दुःखों का अन्त करेंगे । सुख-दुःख द्रोण से (नाप से) तुले हैं,

ऐसे चार्वाकवादियो के साथ बोधिपक्षीय धर्मों के उपदेष्टा' आर्यअष्टागिक मार्ग के प्रस्थापक, आर्यविनय और आर्य धर्म के एक अनुत्तर समुद्धर्त्ता, सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् तथागत की तुलना कैसे की जाय? जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्ति सबधी एक भी तो सिद्धान्त भगवान् बुद्ध का चार्वाको से मेल नहीं खाता, फिर समान पक्ति में उन्हे कैसे बैठाएँ? नास्तिकवाद, वेद-निन्दा ईश्वर की निन्दा, परमत-द्वेष आदि भी तो बातें बुद्ध के मत मे निष्पन्न नहीं होती जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके है। प्रत्यक्ष अनुभूति की अपेक्षा वेद या किसी अन्य ग्रन्थ को कम ही महत्व देना तो बुद्ध की तरह उपनिषदो को भी मान्य है, यह सब हम पहले ही अच्छी तरह प्रपञ्चित कर चुके है, अत उन त्रैविद्य (तीनो विद्याओ के ज्ञाता बुद्ध तेविज्ज) 'वेदगू' (वेदज्ञ) मुनि को वेदो का निन्दक कैसे कहा जाय! वेदो को भाड और निशाचरो की ही कृति बताने वाले, निरर्थक शब्दो की ही उनमे भरमार और बुद्धि-पौरुष-हीन मनुष्यो की ही उसे जीविका का आधार बताने वाले[1] उन 'धूर्त' चार्वाको की तथागत से क्या तुलना है जिनको बावरि जैसे वेद पारङ्गत ब्राह्मणो के शिष्य भी 'ऋषि' और 'वेदज्ञ' नाम से पुकारते है। यदि 'वेद अनन्त है' तो निश्चय ही ज्ञान के रूप मे तथागत ने उनका ही प्रस्थापन किया है। अनुत्तर दु ख निरोध विज्ञान के प्रसङ्ग मे ही उसकी अपेक्षा से 'त्रयी विद्या' की हीनता दिखाई है और यही तत्व 'परा' और 'अपरा' विद्या के औपनिषद नामकरण में भी विद्यमान है। अत तथागत वेद-निन्दक कभी नही और इस दृष्टिकोण से भी उन्हे नास्तिक चार्वाकवादियो की पक्ति मे नही बैठाना चाहिए। तथागत ऋषियो की पक्ति में ही शोभा देते है क्योकि वे भी वैसे ही आये जैसे अन्य बुद्ध या ज्ञानी मुनि। तथा आगत'

संसार में घटाना, बढाना, उत्कर्ष, अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सून की गोली उघरती हुई फेंकने पर गिरती है ऐसे ही मूर्ख और पण्डित दौडकर, आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे' महानास्तिकवाद का वर्णन सन्दक सुत्त (मज्झिम २।३।६)

(१) मिलाइये—त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचरा.। जर्फरी तुर्फरी-त्यादि पण्डिताना वच स्मृतम्॥ ....मासानां खादनं तद्वन्नि-शाचरसमीरितम्॥ .....अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः। सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत।

यथा अन्ये (ऋषय)। इसीलिए वे भगवान् तथागत है और वैसे भी 'तथा' धर्म, 'सत्य' धर्म को प्राप्त करने के कारण।

हा, एक वात यहा और द्रष्टव्य है।'वुध्या विवेच्यमानाना स्वभावो नाव-धार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते नि स्वभावाश्च देशिता।'(लङ्कावतार सूत्र) जैसे वाक्यो से तथा 'एव च न निरोधोऽस्ति न भावोऽस्ति तत्वत। अजातमनिरुद्ध च तस्मात् सर्वमिद जगत्' (बोधिचर्यावतार) इस प्रकार के बौद्ध आचार्यों के सतत उद्घोष से, और 'अतीतानागत चित्त नाह तद्विन विद्यते। अथोत्पन्नमह चित्त नष्टेऽस्मित् नास्त्यह पुन' (वोधिचर्यावतार) इस प्रकार के उन्मुक्त नैरात्म्य के प्रख्यानो से और फिर इतना ही क्यो कर्मकीर्ति की तो अभयवाणी के तो इतना भी कह देने से कि 'वेद-प्रामाण्य कस्यचित् कर्तृ-वाद स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप। सन्ताप पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञाना पञ्चलिङ्गानि जाड्ये (प्रमाण-वार्तिक), एक परम्परा से प्रवृत्ति भारतीय दर्शन में अवश्य हो गई कि वौद्ध भी चार्वाको की तरह नास्तिक है और कुछ अनुमानादि प्रमाणो को वढाकर एव कार्य कारण भाव का निदर्शन कर वे चार्वाको की एक शाखा का ही अनुवर्तन करते है।[1] किन्तु यह एक भ्रमपूर्ण विचार है। 'अनुत्पादश्च तथता भूतकोटिश्च शून्यता। रूपस्य नामान्येतानि अभाव न विकल्पयेत्' (लङ्कावतार सूत्र) इस प्रकार के वाक्यो को हमें काफी विचार देना चाहिए। 'निर्गुण' निर्विशेष' 'शून्य' और 'अनिर्व-चनीय आदि शब्दो पर भी अधिक ध्यान देना चाहिए एक विशुद्ध निष्पक्षपात दृष्टि के साथ। तो फिर हम इन वौद्ध आचार्यो को भी चार्वाको की पक्ति में विठलाना स्वीकार नही करेंगे। फिर किसी 'नास्तिक्यनिराकरिष्णु' आचार्य की आवश्यकता हमें वौद्ध मत को खण्डन करने के लिए नही पडेगी क्योकि फिर वे हमारे लिए धर्म के द्वेष्टा (धर्मद्विषो वौद्धा) न होकर धर्म के प्रकारान्तर से सस्थापक ही ठहरेंगे क्योकि प्राय सभी वौद्ध आचार्यो ने भी अपने सिद्धान्तो के प्रतिपादन करने के वाद उनके नैतिक मूल्यो को प्रख्यापित और विवेचित किया है। यदि यहा हम गीताकार को अपना मध्यस्थ वना सकें, जैसा कि हम निश्चय ही वैज्ञानिक

---

(१) कार्य कारण भावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभावनियमो दर्श-नान्तरदर्शनात्। सत्यार्थप्रकाश, द्वादश समुल्लास में समुद्धृत। देखिए वही इस विषय में स्वामी जी के विचार भी।

दृष्टि को सामने रखकर भी कर सकते हैं—इस महान् ग्रन्थ के अत्यन्त ही निष्पक्ष और समन्वयात्मक होने के कारण, तो हम कह सकते हैं कि जिन अर्थों में गीता नास्तिकवादियो को स्मरण करती है अथवा उनकी ओर सकेत करती है,[१] उस अर्थ के प्रति चार्वाकवादी तो पूर्णरूप से प्रतिनिधि हैं, किन्तु भगवान् वुद्ध या उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य तो उस कोटि मे कभी नही आ सकते। चार्वाक मत तो चिन्तको के लिए अनाश्वासन का मार्ग है और सबसे अधिक यदि उसकी प्रशसा में कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह केवल बुद्धि को लेकर समस्या का हल कर लेना चाहता है और वह प्रकृतिवाद के समान अपूर्ण सिद्धान्त है। वुद्ध के वचनो में ससार का सबसे अधिक भाग (और वह भी अधिकतर विचारको का) आश्वासन पाता है, कारण कि उन शास्ता के शासन में बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद, उनके व्यक्तित्व मे करुणा और प्रज्ञा, समान ही रूप से मिले हुए हैं, वे अनुत्तर पुरुष-दम्य-सारथी जानकर ही, साक्षात्कार कर ही, उपदेश देते हैं और उनका शासन, जैसा कि उनके अग्र श्रावक सारिपुत्र ने ठीक ही कहा है, 'मनन करने के लिए अत्यन्त उत्तम है।'

अत वुद्ध-दर्शन या समग्र बौद्ध दर्शन को हमे चार्वाको की पक्ति में किसी प्रकार भी नही बैठाना चाहिए, ऐसा हमारा विनम्र प्रस्ताव है।

'दूरमेते विपरीते विषूची। अविद्या या च विद्येति ज्ञाता'।

उपसंहार

विद्या और अविद्या की तरह, प्रकाश और अन्धकार की तरह, ये दोनो मत (बौद्ध और चार्वाक मत) आपस मे भिन्न प्रयोजन वाले हैं, ऐसा हमें समझना चाहिए[२]।

(१) असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प बुद्धय। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विता। मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्ततेऽशुचिव्रता.॥ प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा.। न शौच नापि चाचारोन सत्यं तेषु विद्यते॥ चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिता.। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिता॥ आशा पाशशतैर्बद्धा ....आदि, आदि,। गीता अध्याय १६

(२) पूज्यपाद लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्य तो कदाचित् इन लोकायतिकों के प्रति कुछ और अधिक उदारता भी दिखाना चाहेंगे 'कण्वाश्रमवर्णन-

वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। ऋ० १०।१७८।१ और १।१८०।१० में वर्णित अरिष्टनेमि को जैन तीर्थंकर से मिलाया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद में अजितनाथ का, जो दूसरे तीर्थंकर है, वर्णन मिलता है। जैसा हम अभी देखेंगे, अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर बुद्ध के समकालिक थे। तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ थे, जिनका समय भगवान् महावीर से प्राय २५० वर्ष पूर्व माना जाता है। पार्श्वनाथ निश्चयत ऐतिहासिक व्यक्ति है । वे मौलिक आध्यात्मिक अनुभूति के महापुरुष थे। जैन साधना के बाहर भी उन्होने भारतीय विचारको को कितना प्रभावित किया है, यह इस बात से विदित है कि पौराणिक परम्परा के अनुसार भगवान् के चौबीस अवतारो में उनकी गणना है । मध्ययुग के भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् पार्श्वनाथ की ईश्वर के अवतार के रूप में स्तुति की है।[1] भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के अलावा अन्य तीर्थंकर भी निश्चयत ऐतिहासिक व्यक्ति है, परन्तु उनकी इतिहासवत्ता पूर्णत निश्चित आधार पर विवृत नही की जा सकी है। जैन पुराणो में, जैसा कि वैदिक परम्परा के पुराणो में और बौद्ध वश-ग्रन्थो में, सत्य के साथ भारी कल्पना मिली हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि ऐतिहासिक आधार पर निष्पक्ष परीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा सत्य के कणो को अतिरजनामयी पौराणिक शैली से निकाला जाय और जैन धर्म के अध्ययन को स्थिर ऐतिहासिक आधार प्रदान किया जाय, जैसा कि कुछ हद तक वैदिक परम्परा के पुराणों के सम्बन्ध में डा० पार्जिटर और जायसवाल जैसे विद्वानो द्वारा और पालि-वश ग्रन्थो के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान डा० गायकर द्वारा किया जा चुका है।

बौद्ध और जैन दोनों श्रमण धर्म हैं

भारतीय धार्मिक इतिहास का यह एक अत्यन्त विस्मयकारी तथ्य है कि श्रमण-धर्म के प्रचारक ये दोनो धर्म किस प्रकार शताब्दियो से अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए है और उनमें से एक (बौद्ध धर्म) जब कि इस देश से प्राय लुप्त हो चुका है, दूसरे (जैन धर्म) की परम्परा आज भी जीवित रूप में विद्यमान है । बौद्ध धर्म

---

(१) जिंहि नाथ पारस जुगल पंकज चित्त चरनन जास ।
रिधि सिद्धि कमला अजिर राजित भजत तुलसीदास ।।

और जैन धर्म की अनेक तात्त्विक समानताएँ और असमानताएँ हैं और एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनो का एक अटूट ऐतिहासिक सम्बन्ध है, जिसके प्रकाश में हम दोनो के बारे मे काफी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। 'आर्ष' या जैन प्राकृत में लिखित प्राचीन जैन शास्त्रो और पालि त्रिपिटक में भाषा और शैली सम्बन्धी कितनी आधारभूत समानताएँ है, यह दिखाने की यहा आवश्यकता नही। देश और काल की परिस्थितियो में इतनी भारी समानता है, दोनो धर्मो के वातावरण और सामाजिक पृष्ठभूमि में इतनी एकरूपता है, कि एक के परिपूर्ण और सम्यक् अध्ययन के लिये दूसरे का अध्ययन प्राय अनिवार्य ही है। यह खेद की बात है कि पूर्वकालीन बौद्ध और जैन साहित्यो का अभी विधिवत् तुलनात्मक अध्ययन नही किया गया है। जब तक यह महत्वपूर्ण कार्य पूरा नही होता, दोनो दर्शन-साधनाओ की तुलनात्मक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त नही कहा जा सकता।

जैसा हम पहले कह चुके है, जैन धर्म श्रमण धर्म है और वही बात बौद्ध धर्म के सम्बन्ध मे भी है। भगवान् बुद्ध के समय में बौद्ध भिक्षु अपना परिचय पूछा जाने पर अपने को 'श्रमण' कहते थे[१]। अथवा अधिक स्पष्टता के लिये 'शाक्यपुत्रीय' शब्द उसके पहले और जोड देते थे,[२] जिससे अन्य श्रमण सम्प्रदायो से उनका विभेद हो सके। बुद्ध-काल में लोग साधारणत बौद्ध भिक्षुओ को 'श्रमण' कह कर ही पुकारते थे।[३] भगवान् बुद्ध को तो अनेक बार 'महाश्रमण' (महासमणो) पालि-त्रिपिटक में कहा ही गया है।[४] इस

(१ एवं ३) "भिक्षुओ! 'श्रमण' 'श्रमण' कह कर लोग तुम्हें पुकारते है। तुम लोग भी 'तुम कौन हो?' पूछने पर 'हम श्रमण हैं' उत्तर देते हो। इस नाम वाले तुम्हें यह सीखना चाहिये—जो वह श्रमण को सार्थक करने वाला मार्ग है उस पर हम आरूढ होगे।" महाअस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९) देखिये चूल-अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।१०) भी।

(२) देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग; स्थविर महेन्द्र और उनके साथियों ने लंका-नरेश राजा देवानं पिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए कहा था, 'समणा मयं महाराज धम्मराजस्स सावका'। महावंश

(४) देखिये विनय-पिटक—महावग्ग

प्रकार हम देखते है कि बुद्ध और महावीर के काल मे बौद्ध और जैन दो श्रमण सघ उपस्थित थे और उनका आपस में जीवित सम्बन्ध था। जैन श्रमण-सघ काफी पहले से चला आ रहा था और इस परम्परा के साधुओ को पालि साहित्य में 'निगण्ठ' या 'निग्रन्थ' नाम से पुकारा गया है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द, आज भी पहले की तरह ग्रन्थि-विमुक्त जैन साधको के लिये जैन साहित्य में प्रयुक्त होता है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए यह जानना कुछ आश्चर्यजनक न जान पडेगा कि 'जिन' और 'वीर' शब्द, जो मौलिक रूप में भगवान् महावीर या अन्य पूर्वकालीन जैन महात्माओ के लिये सम्भवत प्रयोग किये जाते थे, पालि साहित्य में भगवान् बुद्ध के विशेषण बन गये है। बोधि प्राप्त करने के बाद जब भगवान् बुद्ध-गया से वाराणसी की ओर जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें उपक नामक एक आजीवक साधु (जिनके मुखिया मक्खलि गोसाल थे) मिला था। उसने भगवान् बुद्ध के मुख से उनकी ज्ञान-प्राप्ति की बात सुनकर उनसे कहा था "आयुष्मन्! तुम जैसा दावा करते हो उससे तो तुम अनन्त जिन हो सकते हो।" इसके उत्तर में भगवान् ने कहा था, "मैंने पाप कर्मों को जीत लिया है, इसलिये हे उपक! मैं जिन हूँ[1]।' इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि 'जिन' शब्द उस समय निर्ग्रन्थ और आजीवक साधुओ की परम्परा में प्रचलित था और उसे एक अपना नया अर्थ देकर भगवान् बुद्ध ने अपने लिये भी ग्रहण किया था, जैसा कि उन्होने ब्राह्मणो के 'त्रैविद्य' (तेविज्ज) 'वेदज्ञ' (वेदगू) 'ब्राह्मण' और 'स्नातक' (न्हातक) जैसे अनेक शब्दो के सम्बन्ध में किया था। जब भगवान् बुद्ध ने भिक्षु का लक्षण करते हुए कहा कि 'भिक्षु श्रमण भी कहा जाता है, ब्राह्मण भी, स्नातक भी, वेदगू (वेदज्ञ) भी, श्रोत्रिय भी, आर्य भी और अर्हत् भी,[2] तो उन्होने स्पष्टतम शब्दो में यह कह दिया कि मनुष्यत्व के उच्चतम लक्ष्य के सम्बन्ध मे ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साधनाओ मे कोई अन्तर नही है। 'वीर' शब्द का प्रयोग अनेक बार भगवान् बुद्ध के लिये हुआ है। महाप्रजापती गोतमी ने भगवान् बुद्ध की वन्दना की है, उसमे उन्होने उन्हे 'वीर' कह कर पुकारा है। 'बुद्ध वीर नमोत्थत्थु[3]।' हे बुद्ध वीर! तुम्हे नमस्कार हो! भगवान् बुद्ध और

(१) विनय-पिटक—महावग्ग, अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६)

(२) महाअस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९)

(३) थेरी गाथा, गाथा १५७

महावीर दोनो महापुरुषो का समान रूप से 'जिन' और 'वीर' नाम धारण करना बौद्ध और जैन दर्शन के तुलनात्मक अध्येताओ के लिये एक बडे आश्वासन और महत्व की बात है[१]।

जैन धर्म के अनुयायियो का उल्लेख बौद्ध पालि पालि साहित्य में 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) नाम से हुआ है। ये निगण्ठ नाटपुत्त (निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र) के अनुयायी बताये गये है। 'निगण्ठ नाटपुत्त' पालि साहित्य

निगंठ नाटपुत्त

में भगवान् महावीर का नाम है। उनकी गणना उस समय के प्रसिद्ध छह आचार्यो में की गई है। निर्ग्रन्थो का सगठन बुद्ध-पूर्वकाल से चला आ रहा था। पालि वर्णनो के अनुसार निगण्ठ साधु एक वस्त्र धारण करते थे, जबकि अचेलक बिलकुल नग्न रहते थे। रज कणो में भी जीवतत्त्व विद्यमान है, ऐसा निगण्ठो का विश्वास था[२]। निगण्ठो के मुख्य सिद्धान्त, जिनका उल्लेख पालि साहित्य में हुआ है, चातुर्याम नवर के नाम से प्रसिद्ध है। चातुर्याम सवर चार प्रकार के सयम का नाम था, जिसका विवरण पालि ग्रन्थो के अनुसार इस प्रकार है, "(१) जीव हिंसा के भय से निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का सयम करते है, (२) सभी पापो का वारण करते है, (३) सभी पापो के वारण करने में लगे रहते है, (४) पापो के वारण करने के कारण वह सदा

(१) अमरकोश १।१।८ में बुद्ध और जिन को समानार्थवाची शब्द बताया गया है। "सर्वज्ञ. सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागत । समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिन"। आश्चर्य नहीं कि इसी प्रकार के आधारों पर भारतीय विद्या के अध्ययन के प्रारम्भिक युग में यूरोपीय विद्वान् बार्थ ने बुद्ध और महावीर को एक ही व्यक्ति समझ लिया था। देखिये उनका 'दि रिलिजन्स ऑव इण्डिया, पृष्ठ १४८-१५०; मिलाइये राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ २९१; डा० विन्टरनित्ज ने हमें बताया है कि काफी देर तक यूरोप में बौद्ध और जैन धर्म को विद्वान् एक ही धर्म समझते रहे। देखिये उनका इण्डियन लिटरेचर जिल्द दूसरी, पृष्ठ

(२) धम्मपदट्ठकथा, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४८९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

(३) सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२); देखिये उपालि-सुत्त (मज्झिम० २।१।६) भी। चातुर्याम सवर का यह वर्णन जो पालि निकायों में उपलब्ध

धूत-पाप (पाप-रहित) होते हैं[१]।" बुद्ध-काल में निगण्ठो के मुख्य केन्द्र वैशाली और नालन्दा थे, जहा वे अत्यधिक प्रभावशाली थे और राजगृह, कालशिला, इसिगिलि पर्वत पर भी उनके निवास-स्थान थे। बुद्ध-काल में निर्ग्रन्थ साधुओ के अनुयायियो में उस समय के अनेक महापुरुष थे। वैशाली का सिंह सेनापति निगण्ठो का भक्त था और इसी प्रकार नालन्दा का उपालि गृहपति भी। असिबन्वकपुत्र और अभय राजकुमार निगण्ठो के शिष्य थे। स्वय बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में वप्प नामक शाक्य, जो भगवान् का चाचा (चूल पिता) था, निगण्ठो का अनुयायी था[१]। बुद्धकालीन निर्ग्रन्थ साधुओं में दीघ तपस्सी (दीर्घ तपस्वी) और सच्चक के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। निर्ग्रन्थ परिव्र जिकाओ में सच्चा, लोहा, अववादका, सिवावतिका और पटाचारा के नाम अधिक प्रसिद्ध है। मज्झिम निकाय के अनुसार निगण्ठो के गृहस्थ शिष्य श्वेत वस्त्र पहनते थे। श्वेतवस्त्रधारी श्रमणी (सेतसमणी) का भी एक जगह उल्लेख है[२]। मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में कहा गया है कि निर्ग्रन्थ लोगो का दावा था कि वे सव ग्रन्थियो से विमुक्त हो चुके है, इसलिये उनका यह नाम है। उनका कहना था, "हमारे अन्दर ग्रन्थि रूपी क्लेश, वाधारूपी क्लेश नहीं है। हम क्लेश-ग्रन्थि रहित है। इसलिये हमारा 'निगण्ठ' नाम है[३]।" निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र—भगवान् महावीर) ने पावा में निर्वाण प्राप्त किया था, इसका उल्लेख पालि ग्रन्थो में है और वही यह भी कहा गया है कि उनकी मृत्यु के वाद उनके अनेक शिष्यो में

होता है, जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार उसका ठीक वर्णन नहीं है। देखिये लाहा-द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' में श्री कामताप्रसाद जैन का लेख 'महावीर एण्ड बुद्ध' शीर्षक, पृष्ठ ८८ । भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चातुर्याम-संवर के वर्णन के लिये देखिये उदुम्बरिक सीहनाद-सुत्त (दीघ० ३।२)

(१) देखिये अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का सस्करण)

(२) देखिये कुणाल-जातक, जहा सच्चपावी नामक श्रमणी का उल्लेख है, जिसे 'सेतसमणी' कहा गया है ।

(३) अम्हाकं गन्थनकिलेसो पलिबुज्झनकिलेसो नत्थि किलेसगण्ठिरहिता मयं हि एव वादिताय लद्धनामवसेन। निगन्ठा। मज्झिम निकाय-अट्ठकथा, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२३

सिद्धान्तो के सम्बन्ध में विवाद उठ खडा हुआ थ।[1] । अत बौद्ध ग्रन्थो के आधार पर भगवान् महावीर ने बुद्ध-परिनिर्वाण से पूर्व शरीर छोड दिया था, जो प्राय ऐतिहासिक सत्य माना जाता है। जटिलसुत्त (सयुत्त ३।१।१) में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का वृद्ध गणाचार्य तीर्थंकर के रूप में वर्णन उपलब्धहोता है। निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के कुछ सिद्धान्तो का वर्णन हमे देवदह-सुत्त (मज्झिम० ३।१।१) मे भी उपलब्ध होता है। एक विशेप बात जो तीर्थंकर भगवान् के सम्बन्ध में पालि निकायो में कही गई है वह उनकी सर्वज्ञता या निखिल-ज्ञानदर्शनसम्पन्नता के सम्बन्ध में है। निगण्ठ नाटपुत्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, निखिल ज्ञान-दर्शन को जानते है, चलते, खडे होते, सोते, जागते, सदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है, ऐसा अनेक सुत्तो में कहा गया है[2]। हम जानते है कि भगवान् बुद्ध ने स्वय अपनी सर्वज्ञता का प्रतिवाद किया था। यदि उन्हें कोई सर्वज्ञ कहता था तो इसे वे असत्य के द्वारा अपनी निन्दा मानते थे, ऐसा उन्होने कई वार स्पष्ट कर दिया था। वे किसी प्राणी का सर्वज्ञ होना स्वीकार नही करते थे। अत. भगवान् महावीर के बारे में भी उनकी क्या दृष्टि हो सकती थी, इसे हम आसानी से समझ सकते है। बुद्ध-शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता का दावा करने वाले शास्ताओ की ओर व्यग्य करते हुए कहा था, "यहा एक शास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते है, परन्तु सूने घरो में भी भिक्षा के लिये जाते है। भिक्षा तो पाते नही, उल्टे कुक्कुरो से शरीर को नुचवाते है। वे स्त्री-पुरुषो के नाम-गोत्र पूछते है, गाव-नगर का नाम पूछते है, अपना रास्ता पूछते है[3]।" कुछ विद्वानो का कहना है कि आनन्द का लक्ष्य निर्ग्रन्थ साधुओ की ओर था। जो बुद्ध-काल की परिस्थितियां को जानते है, वह जानते है कि 'बुद्ध' और 'जिन' होने का दावा उस युग में गौतम और वर्द्धमान का ही नही था बल्कि अनेक 'बुद्ध' और 'जिन' उत्पन्न हो रहे थे, वे यहा निर्ग्रन्थो की ओर विशेप सकेत नही मान सकते। फिर भी सर्वज्ञता के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टि को तो आनन्द ने व्यक्त कर ही दिया

---

(१) देखिये सामगाम-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।४); सगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)

(२) देखिये विशेपतः चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४) तथा चूल सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।९)

(३) सन्दक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।६)

प्रकार निर्ग्रन्थ साधको को उपस्थित किया गया है, ये बातें बौद्ध साहित्य को गौरव देने वाली नही कही जा सकती। यहा सन्तोष की बात यही है कि भगवान् बुद्ध का इससे कुछ सम्बन्ध न था। भगवान् बुद्ध इस बात में बड़े सतर्क थे कि निर्ग्रन्थो के जो शिष्य उनके मत को स्वीकार भी करें तो उसके बाद भी वे अपने निर्ग्रन्थ गुरुओ का उसी प्रकार दानमानादि से सत्कार करते रहें जैसा वे कि पहले करते थे। उपालि गृहपति को स्पष्टत उन्होने ऐसा आदेश दिया था[1]। निर्ग्रन्थ साधुओ के प्रति बिना सम्मान की भावना रक्खे हुए इस प्रकार का आदेश नही दिया जा सकता था। यहा बौद्ध साहित्य के गौरव को बढ़ाने वाली एक बात को भी बताना अनुचित न होगा, जिसने जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साक्ष्य की ओर सकेत किया है जिसका पता स्वय जैन धर्म को भी नही है। अशोक के पुत्र और पुत्री, महेन्द्र और सघमित्रा, जब लका में धर्मप्रचारार्थ गये तो वहा उन्होने अपने से पूर्व स्थापित निर्ग्रन्थ-सघ को देखा।[2] लका के प्राचीन नगर अनुराधपुर की (जो आज खण्डहर के रूप में पडा है) जब स्थापना की गई तो वहा 'महावश' के कथनानुसार तत्कालीन राजा ने निर्ग्रन्थो के लिये भी आश्रम बनवाये। इतना ही नही, पालि ग्रन्थो का साक्ष्य है कि लका मे बौद्ध धर्म की स्थापना होने के बाद भी ४४ ईसवी पूर्व तक निगन्थो के आश्रम लका में विद्यमान थे, जिसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में 'पालि डिक्शनरी ऑव प्रोपर नेम्स' के सपादक प्रसिद्ध सिहली बौद्ध विद्वान् मललसेकर ने भी स्वीकार किया है[3]। जैन विद्वानो को अपने प्राचीन विदेशी-प्रचार कार्य की खोज करनी चाहिये। बुद्ध-काल में आजीवको का एक सम्प्रदाय था और उनके प्रति भगवान बुद्ध की दृष्टि अच्छी नही थी। वे उन्हें अक्रियावादी मानते थे और सुगति के अनधिकारी[4]। आजीवको को जैनो का एक सम्प्रदाय मानना गलती होगा। डा० वेणीमाधव बाडुआ जैसे विद्वान् ने इस प्रकार की गलती की है। जैनधर्म का आजीवक सम्प्रदाय से क्या सम्बन्ध है, इसका उल्लेख हम 'प्राग्बौद्धकालीन भारतीय दर्शन की

---

(१) देखिये उपालि-सुत्त (मज्झिम निकाय)
(२) देखिये महावंश १०।९७
(३) देखिये पालि डिक्शनरी ऑव प्रॉपर नेम्स' में 'निगण्ठ' शब्द का विवरण।
(४) देखिये तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

अवस्था' के विवरण के समय कर चुके हैं। स्वय पालि निकायो में आजीवको के सम्बन्ध मे कहा गया है, "ये आजीवक तीन को अपना मार्ग दर्शक बतलाते हैं—नन्द वात्स, कृश साकृत्य और मक्खलि गोसाल।"[1] अत आजीवको को निर्ग्रन्थो मे सम्मिलित करना ठीक नही है। डा० वेणीमाधव बाडुआ ने आजीवको के साथ तज्जीवतच्छरीरवादी, नास्तिकवादी, विनयवादी आदि सम्प्रदायो को जैन सम्प्रदायो के रूप में वर्णित किया है[2], जो ठीक नही जान पडता।

जहा तक बौद्ध और जैन दर्शनो का वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, हम स्वामी दयानन्द के शब्दो में कह सकते हैं 'जैनबौद्धयोरैक्यम्'[3]। वेद-प्रामाण्य को इन दोनो में से कोई नही मानता। वैदिक यज्ञ यागादि की ओर दोनो में से किसी की सहानुभूति नही हैं। परन्तु दूसरी ओर जब हम देखते हैं तो काफी भेद भी है। जैन दर्शन पूर्णत आत्मवादी दर्शन है और बौद्ध दर्शन के नाम के साथ तो 'अनात्मवाद' अनिवार्य रूप से जुडा हुआ है, उसके उत्तरकालिक पुद्गलशून्यता और धर्मशून्यता की तो कोई बात ही नही। बौद्ध और जैन दोनो अहिंसावादी धर्म हैं, परन्तु अहिंसा की स्वीकृति जैन धर्म मे बौद्धधर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर है। तपस्या के स्वरूप को लेकर कुछ भेद हैं। बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार की कायक्लेशमयी तपस्याएँ की। परन्तु उन्हे बोधि के लिये उपयोगी नही पाया। छह वर्ष की कडी तपस्या के बाद जब बुद्ध ने कहा 'मुझे उससे ज्ञान की प्राप्ति नही हुई' तो यह उस समय की धार्मिक साधना के लिये एक बडी क्रान्तिकारी वाणी थी। तपस्या के सम्बन्ध मे हम बुद्ध के मन्तव्य को अन्यत्र व्यक्त कर चुके है, इसलिये उसका पुनरुद्धरण करना यहा आवश्यक न होगा। यदि तपस्या करने, शरीर को क्लेश देने, किसी के चित्त-मल दूर होते है और उसके कुशल कर्मो की वृद्धि होती है, तो उसके लिये इस प्रकार की तपस्या को, काय-क्लेश को, बुद्ध विहित और आवश्यक बनाते हैं, उससे विपरीत को निषिद्ध और अनाव-

(१) सन्दक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।६)
(२) देखिये उनकी प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलॉसफी, पृष्ठ २८२, २९५, ३०२, ३०६, ३१८ एवं ३३२
(३) सत्यार्थ प्रकाश (द्वादश समुल्लास)

श्यक ।[1] चित्त और शरीर के कर्मों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रस्थापन करने वाले जैन साधक कायिक तपस्या पर ही जोर देते हो, ऐसा कहना उनके मन्तव्य को विकृत करना होगा। फिर भी तपस्या जैन साधना का अधिक आवश्यक अग है अपेक्षाकृत बौद्ध साधना के, यद्यपि बौद्ध साधना में भी उसके महत्त्व की स्वीकृति है। बुद्ध के विचार का प्राण है उसका मध्यममार्गी स्वरूप, जो उसकी अपनी विशेषता है।

जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनो ही एक आदि, स्थिर चैतन्य कर्ता की सत्ता में विश्वास नही करते। जैसा अभी कहा गया, वेदो का प्रामाण्य दोनो को ही स्वीकार्य नही है। दोनो ही अहिंसा पर अधिक जोर देने वाले है, यद्यपि जैन दर्शन तो कुछ अत्यधिक भी। अब हम क्रमश व्यवहार-पक्ष, तत्व-पक्ष और प्रमाण-पक्ष को लेकर इन दोनो दर्शनो के सम्बन्ध पर आते है।

व्यवहार-दर्शन के क्षेत्र मे

व्यवहार-पक्ष या नीति-पक्ष में जैन दार्शनिको ने सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है[2]। अत. बौद्ध दर्शन के साथ उसकी पूरी समानता है। हम आसानी से इस साधन-त्रिपुटी को बौद्ध आर्य अष्टांगिक मार्ग का सक्षेप कह सकते है या इसका विस्तार आर्य अष्टांगिक मार्ग को मान सकते है, बिना एक दूसरे पर किसी के ऋण की स्थापना करते हुए। आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक अग के आदि में 'सम्यक्' जुडा हुआ है और यही बात जैन-साधना की उपर्युक्त त्रिपुटी मे है। यह अत्यन्त सार्थक है। वस्तुत सम्यक्त्व बौद्ध और जैन दोनो दर्शन-साधनाओ का एक अभिन्न अग है, यद्यपि केवल सम्यक्त्व को लेकर बौद्ध दर्शन की अपेक्षा जैन दर्शन मे अधिक विचार है। जैन योग का यदि हम वर्णन करने लगें तो वह लगभग वैसा ही होगा जैसा उपनिषदो का, महर्षि पतजलि का अथवा बुद्ध का। वही शून्यागारो में ध्यान करने का उपदेश[3], वहीं हिंसा, असत्य, चोरी आदि से

---

(१) देखिये देवदह-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।१)

(२) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । तत्वार्थ सूत्र १।१

(३) शून्यागारेषु गिरिगुहतरुकोटरादिषु आवास.। तत्त्वार्थ सूत्र ७।६; मिलाइये बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति 'भिक्षुओ! शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करो'। गिरि-गुहा, पुआल-पुज और वृक्ष-मूल में ध्यान करने का उपदेश भी भगवान् बुद्ध ने दिया है।

विरति[1], वही सत्य, अस्तेय अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ[2], वही कर्मों का विभाजन और उस कर्म से मुक्ति-प्राप्ति रूपी वही जीवन का उद्देश्य। कर्मों का नि:शेष किए बिना जैन दर्शन में भी मुक्ति सम्भव नही है। उस कर्म का स्वरूप यहा पुद्‌गल रूप अवश्य है जबकि बौद्ध दर्शन में चेतना रूप। बौद्ध दर्शन के 'अकुशल' कर्म ही यहा ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और मोहनीय कर्म, इन चार 'घातीय कर्मों' के रूप में प्रकारान्तर से रक्खे हुए है, अपने विशेष दर्शन का एक आवरण पहने हुए। फिर जैन दर्शन मे जिन्हे 'अन्तराय' कर्म कहा गया है, वे बौद्ध विचार के तीन बन्धनो अथवा पाच नीवरणो से कितनी समानता रखते है, इसको भी बताने की यहा आवश्यकता नही। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ[3], इस कर्म नियम सम्बन्धी निष्ठा को दिखाने की भी क्या आवश्यकता? योग दर्शन के तो वे बिलकुल 'अन्तराय' और 'विक्षेप सहभुव[4]' के रूपान्तर ही है, इनके बताने में भी यहा परिश्रम करना नही होगा। जैन साधना की अशुचि भावना को, जो वहा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है बौद्ध धर्म 'ने अशुभ भावना' के रूप में ले लिया है, डा० हरदयाल के इस सम्बन्धी मत से[5], जिसमें उन्होने बौद्ध-धर्म पर जैन धर्म के ऋण को स्वीकार किया है, सहमत होने में हमें विशेष कठिनाई नही। बौद्धो के ब्रह्म विहार स्वरूप मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाएँ जैन साधना मे भी विद्यमान है[6]। जैन दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्‌गल ही जीव और अजीव का सम्बन्ध कराता है और जीव और कर्म परमाणुओ की गति को ही जैन दर्शन में आस्रव कहा जाता है, जो भव का कारण है। जीव और कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध ही जैन दर्शन में 'बन्ध' या बन्धन कहलाता है। जिन

(१) हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। तत्त्वार्थ-सूत्र ७।७

(२) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ७।४-७

(३) शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य। तत्त्वार्थ-सूत्र ६।३

(४) देखिये आगे बौद्ध दर्शन और योग-दर्शन के सम्बन्ध का विवेचन।

(५) देखिये दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ९५; मिलाइये तत्त्वार्थ सूत्र ७।१२

(६) मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविने-येषु। तत्त्वार्थ-सूत्र ७।११

कर्मों के करने से जीव का स्वाभाविक प्रकाशमय स्वरूप आच्छादित हो जाता है, उन्हें पाप कर्म कहते हैं। जब जीव को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो नवीन कर्म का उत्पन्न होना वन्द हो जाता है अथवा जैन दार्शनिक भाषा में कहना चाहिए कि कर्म-पुद्गल का जीव की ओर गतिशील होना वन्द हो जाता है और यही 'सवर' कहलाता है। 'चक्खुना सवरो साधु'[1] आदि प्रयोग तो बुद्ध के उपदेशो में भी हमें उपलब्ध होते जिनके समान कही-कही जैन-व्याख्या भी की गई है, किन्तु सवर की तात्विक व्याख्या तो जैन दर्शन की अपनी देन है। सवर (सयम) का अभ्यास करते-करते जव जीव कर्म परमाणुओ से छूटने लगता है, तो यही 'निर्जरा' की अवस्था होती है। इस निर्जरा की अवस्था प्राप्त होने पर, जो परिपूर्णतम सयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जीव मुक्त हो जाता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य का भागी होता है। इसी उद्देश्य की ओर जैन साधना जीव को ले जाने की कोशिश करती है और इस अर्थ में न केवल वह वौद्ध दर्शन से ही वल्कि प्राय सभी भारनीय अन्य दर्शनो से भी भली प्रकार सगत है। यदि निश्चय ही और सव वातो को गौण स्वीकार कर जैन दर्शन ने भव के हेतु का निदान आस्रव के रूप मे ही किया है और सवर या सयम को ही मोक्ष मार्ग ठहराया है, तो[2] हम कह सकते है कि उसका यह निदान और यह भैषज्य-विधान चतुरार्य सत्यो के शास्ता उन 'उत्तम भिषक्' तथागत के औषध-विज्ञान से कुछ विभिन्न प्रकार का नही है, किन्तु समान ही

---

(१) मिलाइये, 'चक्खुना सवरो साधु साधु सोतेन सवरो। घाणेन सवरो साधु साधु जिह्वाय सवरो ॥ कायेन संवरो साधु साधु वाचाय सवरो मनसा सवरो साधु साधु सब्बत्थ सवरो ॥ सब्बत्थ सवुतो भिक्खु सब्बदुक्ख पमुच्चति। धम्मपद, भिक्खुवग्गो, २५।१-२, देखिये, कायेन सवरो साधु, साधु वाचाय सवरो। मनसा सवुरो साधु साधु सब्बत्थ सवरो ॥ सब्बत्थ सवुतो लज्जी रक्खितोति पवुच्चतीति' संयुत्त निकाय, । जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिये देखिये, आस्रवनिरोध. सवरः । तत्त्वार्थ-सूत्र ९।१

(२) आस्रवो भवहेतु स्यात् सवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टि' अन्य-दस्या. प्रपञ्चनम् ॥ सर्व दर्शन सग्रह में उद्धृत।

मन्तव्य का अवलम्बन करने वाला है। बौद्ध साधना में जिस प्रकार लोक को अनित्य और अशरण कहा गया है, वही बात जैन साधना के सम्बन्ध में है[1]। धर्मास्तिकाय[2], प्रत्येकबुद्ध[3] और बुद्ध के प्रदेश क्षेत्र[4] की कल्पनाएँ स्पष्टत. बौद्ध धर्म से ली हुई जान पडती है।

तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में आते ही हमें बौद्ध और जैन चिन्तन-शास्त्रों की परस्पर विभिन्न प्रवृत्तियो और रुचियो का पता चलने लगता है। यहा विज्ञानवाद या शून्यवाद जैसी कोई वस्तु नही है। जैन दर्शन के अनुसार स्थिरता और विनाश दोनो ही प्रत्येक वस्तु में रहते है। कोई भी वस्तु एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य नही है। सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य दोनो प्रकार की है।

तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में

'ण भवो भगविहीणो भगो वा णात्थि सभव विहीनो।
उत्पादो वि य भगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥"

अर्थात् 'उत्पत्ति के विना नाश और नाश के विना उत्पत्ति सम्भव नही है। उत्पत्ति और नाश दोनो का आश्रय कोई पदार्थ होना चाहिए।' एकान्त नित्य पदार्थ मे परिवर्तन सम्भव नही है और यदि पदार्थों को क्षणिक माना जाय तो 'परिवर्तित कौन होता है?' यह भी बताया नहीं जा सकता। अत जीव जैन दर्शन के अनुसार एकान्त नित्य नही है। परमाणुओ के सघात से ही ससार के सारे पदार्थ बने है यह जैन दर्शन का एक मौलिक विचार है। परमाणुओ के पुंज को 'स्कन्ध कहा जाता है। भौतिक जगत् अपने समष्टि रूप में 'महास्कन्ध' कहलाता है। जैन दर्शन में परमाणु आदि-अन्त-हीन और नित्य है। परमाणु अमूर्त है। पृथ्वी, जल, वायु आदि एक ही प्रकार के परमाणुओ के रूपान्तर है। मुक्त जीव परमाणुओ का प्रत्यक्ष करते है। इस प्रकार हम देखते है कि जैन परमाणुवादी है और जीवों की अनेकता मानने के कारण अनेक-जीववादी भी, किन्तु जीव को वे व्यापक नही मानते। उनके अनुसार ज्ञान जीव का गुण नही है, किन्तु जीव

(१) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ९।७
(२) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र १०।८
(३) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र १०।९
(४) " तत्त्वार्थ-सूत्र १०।९

ज्ञान स्वरूप ही है। कर्म-पुद्गल से उसके वास्तविक ज्ञान पर आवरण पडा रहता है। किन्तु जब मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है जीव अनन्त बुद्धि और अनन्त दर्शन वाला हो जाता है। यही मुक्त जीव 'सिद्ध' कहलाता है । अत जैन दर्शन 'सिद्ध' अवस्था के रूप में जीवन्मुक्ति को स्वीकार करता है जो बौद्ध दर्शन के साथ साथ अन्य भारतीय दर्शनो की भी एक प्राय सामान्य प्रवृत्ति ही है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष (जीवाजीवबधसवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्) तथापाप और पुण्य, इन नौ विभागो में ही विश्व के सारे पदार्थों को बाटने वाले जैनो को ईश्वर की उपलब्धि कही नही हुई। अत उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यो के समान वे भी अनीश्वरवादी हैं, जगत् का कोई कर्ता उन्हें नही मिला। यदि ईश्वर के कर्तृत्व सम्बन्धी विश्वास को आचार्य धर्मकीर्ति केवल मनुष्यो की बुद्धि की जडता का चिन्ह मात्र समझते है तो मल्लिसेन उस प्रकार के विश्वास से बचने के लिए अपने अनुशासक के प्रतिकृतज्ञता प्रकाशित किए विना नही रहते 'कर्तास्ति कश्चिज्जगत-स चैक स सर्वग स स्ववश स नित्य। इमा कुहेवाक विडम्वना स्यु-तेपा न येपाम् अनुशासकस्त्वम्'[1] । जैन आचार्यों के तर्क भी ईश्वरकर्तृत्वाद के विरुद्ध प्राय वैसे ही है जैसे बौद्ध आचार्यो के। अशरीरी कर्ता की असम्भ-वता, ईश्वर के पास सृष्टि निर्माण के लिए किसी भी उद्देश्य की अविद्य-मानता, ईश्वर की कारुणिकता और जगत् की दु खमयता में पारस्परिक असगति, आदि बातें ऐसी है जो ईश्वर-कर्तृत्वाद को जमने नही देती[2]। जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समान ही फल प्राप्त कराने के लिये कर्म मात्र को ही पर्याप्त समझता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर दोनो के ही विरोधी होने के कारण जैन और बौद्ध दर्शन 'आस्तिकवादी' लोगो के द्वारा एक ही कोटि मे डाल दिए गए है और अन्य बातो मे उनके पारस्परिक विभेद की ओर इतना ध्यान नही दिया गया। अब हम जैन दर्शन के न्याय पर आते है।

जैन न्याय-परम्परा अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। मध्ययुगीन न्याय के इतिहास मे जैनो का एक विशेप भाग है। अकलक का राजवार्तिक, स्वामी

(१) स्याद्वादमञ्जरी।

(२) ईश्वरवाद के विस्तृत खण्डन के लिए देखिए हरिभद्र का पड्दर्शन-समुच्चय और उस पर गुणरत्न की वृत्ति।

उत्तरकालीन (अर्थात् मध्ययुगीन) बौद्ध और जैन न्याय-परम्पराएँ

विद्यानन्द का श्लोकवार्तिक और समन्त भद्र की 'आप्त मीमासा' प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी समय रचे गए। हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय', मल्लिसेन की 'स्याद्वावाद मजरी' भी अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिनमें नैयायिक दृष्टि से जैन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है[1]। जैन नैयायिको ने बौद्ध क्षणभगवाद का जो निराकरण किया है उसका विवरण पीछे हम 'क्षणिक वाद' का विवेचन करते समय दे चुके है। जैन न्याय की सबसे बडी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसमे सविकल्प मानवीय-ज्ञान की अल्पता की अनुभूति कूट-कूट कर भरी है। साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते है और यह एक प्रकार से जैन दर्शन का दूसरा नाम ही है। अत इस सिद्धान्त का जैन दर्शन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। 'स्याद्वाद को 'स्याद्वादमजरी' मे सक्षेपत इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति' अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते है, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक धर्मों की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है। इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक ही वस्तु को देखने की अनेक दृष्टिया हो सकती है, किन्तु सम्पूर्ण सत्य क्या है इसको देखने के लिये सब दृष्टियो का सश्लेषण आवश्यक है। यही तात्पर्य अनेकान्तवाद को 'सम्पूर्ण आदेश' या 'सकल आदेश' कहने का है। सब कुछ यहा जगत् मे 'विकल' ही विकल आदेश है, सविकल्पक, खण्ड-खण्ड है। 'सकल' आदेश यहा सब दृष्टियो को मिलाने पर बनता है, जिसका 'अनेकान्त' प्रतीक है। किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय मे हम केवल यही कह सकते है (१) शायद है (२) शायद नही है। (३) शायद है और नही है (४) शायद अवक्तव्य है (५) शायद है और अवक्तव्य है (६) शायद नही है और अवक्तव्य है तथा (७) शायद है, नही है और अवक्तव्य है। इसी को सप्तभगी

---

(१) विशुद्ध नैयायिक दृष्टिकोण से अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, भद्रबाहुकृत 'दशवैकालिकनिर्युक्ति', सिद्धसेन दिवाकर कृत 'न्यायावतार', माणिक्य नन्दि कृत 'परीक्षामुख सूत्र', देवसूरिकृत 'प्रमाणनयतत्वालकार' आदि।

नय[1] भी कहते हैं। कुछ विद्वानो ने इस नय की सदेहवादी व्याख्या की है, जिससे सहमत होना कठिन है। अशेष ज्ञान को सिखाने वाले शास्ता सदेह को सिखायेंगे, यह सम्भव नही। सजय वेलट्ठिपुत्त के विचारो की झलक सप्तभगी-नय मे देखना ठीक नही है। हमारी समझ में अशेष ज्ञान, केवल ज्ञान, को दिखाने का प्रयत्न इस सिद्धात में किया गया है। वह दृष्टि में, किसी मत-वाद में, एकाश-निष्ठा सेवच ने के लिए है, जिसका उपदेश भगवान बुद्ध ने भी दिया था। भगवान् बुद्ध ने 'है' और 'नही' की कोटियो का परिवर्जन करके तत्व को अव्याकृत कर दिया था, मध्यम मार्ग को स्वीकार किया था। उदारता और अविवाद धर्म की उसी दृष्टि की अभिव्यक्ति अनेकान्त के रूप में हुई है, ऐसी हमारी विनम्र धारणा है।

औपनिषद आत्मैकत्वविज्ञान का मानदण्ड लेकर नापने वाले मनीषी डा० राधाकृष्णन् ने जैन दर्शन के अनेकान्तवादी यथार्थवाद को वीच मार्ग में पडाव डालना ठहरा दिया है[2]। आचार्य शकर ने भी इसी कारण जैन दर्शन को 'असगत' कहा था।[3] पर हमारे पास वैसा पैमाना नही है। अत वैसी वात हम नही कह सकते। मानवतावादी जैन दर्शन जव आत्मवाद के झमेले में पडा तो उसे वीच पडाव में ठहरने पर ही सतोष करना पडेगा। या वेदान्त में मिल कर अपनी पृथक् सत्ता खो देनी पडेगी। दूसरी कोई गति नही है। श्रमण धर्म अपने मौलिक रूप में साधना-मार्ग ही था, सम्यक्त्व का धर्म ही था। भगवान् महावीर ने जव 'स्याद स्ति स्यान्नास्ति' कहा था तो पूर्ण सत्य के प्रस्यापन मे यह उनके द्वारा दूसरे मतो को अपेक्षा देने के परिणाम स्वरूप ही था। 'यही सत्य है' (इदमेव सच्च-सूर—सुत्त) इस विवाद की शान्ति का वह एक

---

(१) स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति च वक्तव्य, स्यान्नास्ति चावक्तव्य, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य.।

(२) मिलाइये, 'One thing, however, is clear, that it is only by stopping short at a halfway house that Jainism is able to set forth a pluralistic realism' राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०

(३) असगतमिदमार्हत मतम्। ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य २।२।३; आर्हतमपि मतमसगतम्। ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य २।२।३६

उपाय ही था। एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते, यह कह कर शंकर ने 'सप्तभंगी नय' की समालोचना की है।[1] पर यह समालोचना तो ज्ञान की व्यवहारावस्था की है। शंकर भूल जाते हैं कि 'सप्तभंगीनय' 'सकलादेश' को देने का प्रयत्न है, अपरिशेष ज्ञान को दिखाने का प्रयत्न है, वह निश्चय - नय है। उसे सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयत्न न कर वे उनकी अनिश्चयवादी व्याख्या कर देते हैं[2] और उनके अनुकरण पर प्राय. सभी वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा करते आए हैं। 'अनेकान्त' परिनिष्पन्न सत्य है, परमार्थ सत्य है और इस रूप में विरोधी भाषा का प्रयोग स्वयं वैदिक दर्शन में भी है। 'असच्च सच्च'[3]। पर श्रमण-साधना अपनी अन्य मान्यताओं के साथ न्याय करते हुए यहाँ नहीं जा सकती थी। बौद्ध दर्शन ने तो आत्मवाद से ही पीछा छुड़ा लिया, परन्तु प्रकारान्तर से अद्वय तत्व की सिद्धि उसने भी की। 'निर्गुण' से भी अधिक बलवान् और वरिष्ठ 'शून्य' उसने खड़ा कर दिया। अत 'सर्वप्रमाणविप्रतिपिद्ध' भले ही उसके संबंध में भ्रमपूर्वक कह दिया गया हो, बीच के पड़ाव जैसी कोई बात उसके संबंध में कभी नहीं कही जा सकती थी। वस्तुत जैन दर्शन भी बीच का पड़ाव नहीं है। वह तो पूर्ण सत्य का, केवल ज्ञान का, गवेषी है। और उसकी खोज करते हुए वह भी उस अभेद निष्ठा पर पहुंचा है जो सम्पूर्ण वेदान्तों का लक्ष्य है। आत्मा की आधारभूत एकता ही 'समयसार' का विषय है। अत डा० राधाकृष्णन् के मत से हम सर्वांश में सहमत नहीं हैं। फिर क्या जीव-दया के आत्यन्तिक उपदेश के द्वारा जैन दर्शन ने आत्मा की अभिन्नता और एकता की प्रकारान्तर से सिद्धि नहीं की है? जैन दर्शन-साधना का केन्द्रीय विचार है वस्तुत वीतरागता। सम्पूर्ण वीतरागता जैन-दर्शन का लक्ष्य है। अहिंसा और अनेकान्त उसके दायें-बायें स्थित हैं। यह त्रिविध साधना मानवता के तेज को निखारने वाली है। 'मानुषत्व भवे मूल' मनुष्यता ही मूल वस्तु है, यह जो कहा गया है, यही वस्तुत जैन दर्शन की प्रकृत स्थिति है, उसका आत्मवाद नहीं। और यहीं पर बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों मिलते हैं। दोनों का लक्ष्य मानव है, पर मानव जो पूर्ण विमुक्त है, वीतराग है, अर्हत् है।

(१) देखिये ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।२।३३-३४

(२) अनिर्धारितरूप ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य २।२।३३

(३) ऋ० १०।५।७, मिलाइये। सच्चासत्। वैशेषिक सूत्र ९।१।४

जिसके आस्रव क्षय हो गए है[1], कषायो से जिसने विमुक्ति प्राप्त की है[2], आस्रव-निरोध रूप सवर के द्वारा जिसने निर्जरा की प्राप्ति की है[3], मोह का उच्छेदन कर ज्ञान-दर्शन के आवरणो को हटा कर जिसने केवल परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त किया है[4]। यही मुक्त पुरुष अर्हत् बौद्ध और जैन दोनो दर्शनो का लक्ष्य है। अत बौद्ध और जैन दोनो 'आर्हती' दृष्टिया है। मानुषत्व की साधना दोनो की अपनी मौलिक पैतृक गोचर-भूमि है, जहा से दूर जाने में भय है। जैन साधक का मौलिक विपय बौद्ध साधक के समान यह भावना करना था कि 'मुझे मोह की सेना को किस प्रकार जीतना चाहिए,[5] उसकी मूल साधना थी यह अनुभूति करना कि 'मै स्वय साक्षात् धर्म हू'।[6] यही श्रामण्य का मूल उद्देश्य था, नयो और द्रव्यो का विवेचन नही, आत्मा के सिद्धान्तो का प्रख्यापन नही। राग के प्रहाण और सयम प्राप्ति के लिए श्रमण साधना का प्रवर्तन हुआ था जो दु खक्षय का एकमात्र मार्ग है। भगवान् बुद्ध ने राग, द्वेष और मोह को अकुशल मूल कहा था और इनके आत्यन्तिक क्षय को निर्वाण। वीत-रागता का इसके अलावा और सदेश क्या है? भगवान् बुद्ध ने कहा था कि रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान में अपने को मत खोजो, वहा अपना नही मिलेगा, वह पर वस्तु है, उसे छोड दो और यही वात प्रकारान्तर से जैन साधना के 'स्व' और 'पर' के भेद-विज्ञान मे है। जव यह लेखक प्रवचन-सार की इन गाथाओ को पढता है तो उसे भान ही नही रहता कि वह अनात्म की भावना कर रहा है या जैन दर्शन के भेद-विज्ञान की·

णाह देहोण मनो ण चैव वाणी ण कारण तेसि। कत्ता ण पा कारयिदा अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्॥ णाह होमि परेसि ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि इति णिच्छिदो जिदिन्दो जादो जधजादरूपधरो।[7] इनका हिन्दी अनुवाद है,

(१) देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ९।१
(२) तत्त्वार्थ-सूत्र ८।१
(३) तत्त्वार्थ-वृत्ति १।४
(४) तत्त्वार्थ-सूत्र १०।१; बौद्ध दर्शन के अनुसार 'अर्हत्' के लक्षणों के लिये देखिये पीछे पृष्ठ ६०७–६०८
(५) देखिये प्रवचन सार, गाथा ८०
(६) देखिये प्रवचन सार, गाथा ९२
(७) गाथाएँ संख्या १६०–१६१

"मैं न देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, न उनका कारण हूँ। मैं करने वाला नहीं हूँ, न कराने वाला और न कर्ता का अनुमोदक। मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं। इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चयवान् जितेन्द्रिय पुरुष सत्य के मूलभूत स्वरूप को धारण करने वाला होता है।"

बौद्ध और जैन दर्शन के मिलन की सर्वोत्तम भूमिका भी यही है।

उ—बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक

उपोद्घात

भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन के दो स्वरूप हम देखते हैं, एक तो वह स्वरूप जो गौतम के न्याय सूत्र और के उन पर वात्स्यायन भाष्य को लेकर उसी की परम्परा में प्रवृत्त होता है और प्रकृत 'न्याय दर्शन' की संज्ञा पाता है। नव्य न्याय को हम इसी परम्परा में सन्निविष्ट मानते हैं। दूसरा रूप न्याय का वह है जिसमें प्रत्येक भारतीय दर्शन सम्प्रदाय अपनी-अपनी एक अलग न्याय-परम्परा रखता है और इसी अर्थ में हम 'बौद्ध न्याय', 'जैन न्याय' आदि जैसी बातें कहते हैं। भारतीय न्याय शास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन प्राय तीन क्रमिक युगों में किया जाता है, यथा प्राचीन न्याय, मध्ययुगीन न्याय और नव्य न्याय। इन में से बौद्ध न्याय उस युग की देन है जिसे हम मध्ययुगीन न्याय कहते हैं। यहा जब हम बौद्ध दर्शन और न्याय—(या न्याय-वैशेषिक) दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध की बात कहते है, तो उसका तात्पर्य एक तो बौद्ध दर्शन में न्याय के जिस स्वरूप को ग्रहण किया गया है उसके प्रस्थापन से है और दूसरे गौतमीय न्याय की परम्परा के साथ उसका जो संघर्ष और सम्पर्क शताब्दियों तक चलता रहा, उसके किञ्चित दिग्दर्शन से भी है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन (अथवा दर्शनों) पर संक्षिप्त विचार और दोनों का बौद्ध दर्शन से ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्ध

न्याय और वैशेषिक दो दर्शन न होकर एक ही दर्शन है। न्याय का प्रस्तावित विषय यद्यपि अत्यन्त विस्तृत है[1], किन्तु विशेषतः प्रमाण-परीक्षा को ही उसने अपना विषय बनाया है। वैशेषिक का विषय 'प्रमेय' वस्तु का ज्ञान सम्पादन करना है। अतः दोनों ही दर्शन विश्लेषण और समीक्षा के साधनों के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान को प्राप्त करने के तरीके तथा स्वयं उस ज्ञान पर विचार करते हैं। न्याय-दर्शन का उदय भारत में कब हुआ अथवा न्याय-सूत्रों का [illegible] गया है, यह विषय पूरी तरह से निश्चित नहीं

(१) देखिये न्यायसूत्र १।१।२

नही हो पाया है। किन्तु यह निश्चित है कि उपनिषदो के काल से पहले ही अनेक प्रकार के सवादो की परम्परा भारत मे चली आ रही थी जिनमें नैयायिक ढग से वैदिक अर्थो के निर्णय करने का प्रयत्न किया जाता था। इन्ही सवादो के युग में न्याय का प्राचीनतम साहित्य लिखा गया। किन्तु फिर कब प्राप्त की, इस दर्शन ने वैशेषिक दर्शन के साथ एकात्मकता इसका ठीक निर्णय हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में नही किया जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि अनेक उत्तरकालीन ग्रन्थ यथा केशव मिश्र-रचित तर्क भाषा, शिवादित्य-कृत सप्तपदार्थी एव विश्वनाथ कृत भाषा परिच्छेद आदि दोनो दर्शनो को एक हीदर्शन मानते है। तत्व-दर्शन में 'पीलुपाक' बनाम 'पिठर पाक' जैसे विषय को लेकर एव प्रमाण मीमासा के क्षेत्र न्याय के द्वारा चार प्रमाणो और वैशेषिक के द्वारा केवल दो प्रमाणो की स्वीकृति के रूप में कुछ छोटे-मोटे विभेदो के अतिरिक्त मूलभूत बातो में दोनो में कोई अन्तर नही है। अत अपने विषय के प्रसग में हम इन दोनो दर्शनो को एक ही दर्शन के अग मानकर प्रवृत्त होगे।

न्याय-दर्शन का इतिहास डाक्टर विद्याभूषण ने तीन भागो में विभक्त किया है, यथा प्राचीन न्याय (६५० ई० पू० से १०० ईस्वी तक) मध्य युगीन न्याय (१०० ई० से १२०० ई० तक) तथा नव्य न्याय (९०० ईस्वी) कहने की आवश्यकता नही कि इनमें से हमारे प्रयोजन के लिए केवल प्राचीन न्याय और मध्ययुगीन न्याय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि गौतम या अक्ष-पाद के न्याय सूत्रो के बाद दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ न्याय-साहित्य में वात्स्यायन का न्याय भाष्य है जिसके बाद से ऐतिहासिक रूप मे बौद्ध न्याय और गौत-मीय न्याय मे सघर्ष प्रारम्भ होने लगता है। वात्स्यायन ने अपने न्याय भाष्य में 'उपाय कौशल्य' और 'विग्रह व्यावर्तनी' ग्रन्थो के रचयिता नागार्जुन के मतों का खण्डन किया था। हम जानते है कि न्याय सूत्र ४।२।२६ में विज्ञानवाद का खण्डन उपलब्ध है और न्याय सूत्र ४।१।४०, ४।१।४८ और ४।१।३४-३५ शून्यवाद का प्रत्याख्यान करते हैं, अत एक प्रकार से तो न्याय-सूत्रो से ही बौद्ध दर्शन के साथ नैयायिको के सघर्ष का सूत्रपात हो जाता है। किन्तु इस विषय में एक परम्परा का प्रवर्तन तो वात्स्यायन ने ही किया। वात्स्यायन ने जब नागार्जुन के मतो का खण्डन किया और विज्ञानवाद और शून्यवाद को अपनी समालोचना का विषय बनाया तो बौद्ध आचार्य दिङ्नाग ने वात्स्यायन के खण्डनो का तीव्र उत्तर अपने 'प्रमाणसमुच्चय', 'न्याय-प्रवेश', 'हेतुचक्र हमरु',

'आलम्वन परीक्षा' और 'प्रमाण शास्त्र प्रवेश' जैसे ग्रन्थो में दिया जिसका फिर प्रत्याख्यान गौतमीय न्याय की परम्परा मे उद्योतकर ने अपने 'न्याय-वार्तिक' में वात्स्यायन की स्थिति का समर्थन करते हुए किया। किन्तु उद्योतकर भी विना आक्रमण किए हुए नही रह सके। दिङ्नाग को अपना एक समर्थक मिला। वौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने 'न्यायविन्दु' में उद्योतकर के मतो का खण्डन कर दिङ्नाग की स्थिति का समर्थन किया। नवी शताव्दी में वौद्ध आचार्य धर्मोत्तर ने 'न्यायविन्दु-टीका' लिख कर एक और नया प्रत्याक्रमण नैयायिको पर किया। इधर से भी प्रतिरोध करने वाले 'सर्व-तन्त्र स्वतन्त्र' मनीषी वाचस्पति मिश्र जैसे गम्भीर पण्डित और विचारक आए जिन्होने अपनी 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' में वौद्ध आचार्यों के मन्तव्यो का निराकरण किया और वौद्धो के 'दुस्तर' 'कुनिवन्ध' रूपी पक में फँसी उद्योतकर की वाणीरूपी गायो के उद्धार के द्वारा पुण्य-सचय का दावा किया[1]। धर्मकीर्ति आदि वौद्ध विचारको के मतो का खण्डन करने के लिए दसवी शताव्दी में उदयन ने अपने 'आत्मतत्व विवेक' की रचना की जिसमें प्रधानत वौद्ध नैरात्म्यवाद का खण्डन किया गया। उनकी 'कुसुमाञ्जलि' ने तो निश्चय ही ईश्वर की सिद्धि करने में नैयायिक साहित्य मे अत्यन्त ख्याति पाई। इसके वाद भी न्याय पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे, किन्तु ग्यारहवी शताव्दी के वाद वौद्ध आचार्यों की परम्परा ही विलकुल न रह गई, अत दोनो तरफ से एक दूसरे के प्रति स्पष्ट लक्ष्य किया हुआ हम साहित्य नहीं पाते, यद्यपि नैयायिक ग्रन्थ जो इसके वाद भी लिखे जाते रहे उनमे भी परम्परा के अनुसार वौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन होता ही रहा, किन्तु ऐतिहासिक सम्वन्ध तो इन दो दर्शनो का प्रायः उदयन के काल से ही समाप्त हो जाता है। जिन दो दर्शनो का इतना सुविस्तीर्ण पारस्परिक ऐतिहासिक सम्वन्ध हो उनके सिद्धान्तो के पारस्परिक सम्वन्ध को समझना कुछ सरल काम नही है। फिर 'न्याय भाष्य' और 'न्यायवार्तिक' जैसे ग्रन्थो की दुरूह शैली और विचार-क्लिष्टता तो दर्शन के साधारण विद्यार्थियो को भय दिलाने वाली है जिस प्रकार पाणिनि को जाने विना जैसे सस्कृत जानने की

---

(१) मनीषी आचार्य करुणापूर्वक मार्मिक शब्दो में कहते हैं। "यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिवन्धपकमग्नानाम्। उद्योतकरगवीनाम् अतिजरतीना समुद्धरणात्॥ न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।१

विडम्वना करना व्यर्थ है उसी प्रकार यदि कोई यह कह दे कि वात्स्यायन को जाने विना भारतीय दर्शन के विषय में जानकारी की विडम्बना व्यर्थ है, तो निश्चय ही वहुतो का धैर्य टूट जायगा। फिर वौद्ध आचार्यो के विषय में तो कहना ही क्या, जिनके सूक्ष्म प्रतिवादो की कोई उपमा ही नही है।

न्याय दर्शन इतना प्रभावशाली दर्शन है कि हम चाहे अन्य किसी भारतीय दर्शन को वौद्ध रग से उपरक्त कर सकें, किन्तु यह दर्शन तो एक क्षण भी अपने मस्तक को नीचा करना नही चाहता ताकि एक छोटा सा टीका भी बौद्ध लक्षण का हम इसके मस्तक पर लगा सके। चाहे इसके सिद्धान्तो में भले ही वेदान्त की-सी आध्यात्मिकता न हो, साख्य की-सी दार्शनिक गम्भीरता न हो, और भले ही अनेक स्थानो में अविवाद रूप से वौद्धो या अन्य विरोधियो के द्वारा इसे निगृहीत हो जाना पडा हो, किन्तु पराजय किसे कहते है, यह तो इस तत्त्व-चिन्ता ने कभी जाना ही नही। छल, वितण्डा, जल्प और निग्रहस्थान ऐसे ढग भी तो निकाल रक्खे है जिनसे पराजय कभी हाथ लग ही नही सकती [1] परन्तु इसीलिये इस दर्शन की सत्य-निष्ठा भी पूरी हद तक नही जा सकी है। हम देख चुके है कि किस प्रकार भगवान् वुद्ध ने एक तार्किक से सलाप करने से पूर्व उसे सत्य निष्ठा रखने के लिये आगाह कर दिया था।

वस्तुत न्याय-दर्शन अपने ही वनाये तर्क-जालो में मकडी की तरह फँस जाता है। न्याय को जव तक वाहरी सत्यनिष्ठा और आध्यात्मिक दृष्टि का का आश्रय न होगा वह अपना उद्देश्य पूरा न कर सकेगा। वह 'कुतर्क' वन जायगा, जिसकी ओर आचार्य शकर ने भी कई वार अपने भाष्यो में सकेत किया है। 'नैयायिक' नाम लेते ही आज भी एक तीव्र तर्कशील प्रतिवादि-भयकर व्यक्तित्व हमारी दृष्टि के सामने आ जाता है। वही राज-भोजन से पुष्ट पहलवान की उपमा [2] अव जिन-जिन विपयो को लेकर नैयायिको और वौद्ध आचार्यो में वाद-परम्पराएँ चली, उनका कुछ निदर्शन हमे करना चाहिए।

सवसे पहले हम प्रमाण मीमासा पर आते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रमाण-मीमासा ही न्याय-शास्त्र का केन्द्रीय विपय है। प्रमाण के अधीन

(१) देखिए पीछे पृष्ठ २३६
(२) देखिए पीछे पृष्ठ २३६

प्रमाण मीमांसा

ही प्रमेय की सिद्धि है। 'मानाधीना मेयसिद्धि'। अत. किसी भी 'मेय' या सिद्धान्त की सिद्धि के लिए सव से पहले तो प्रमाण विषयक परीक्षा ही आवश्यक होती है। न्याय दर्शन ने प्रमाणादि सोलह पदार्थो के 'तत्व-ज्ञान' से नि:श्रेयस की सिद्धि सम्भव मानी है और वौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति ने भी कहा है 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धि'। जव यह 'तत्व-ज्ञान' या 'सम्यक् ज्ञान' इतनी आवश्यक वस्तु है, तो फिर हम पहले यही क्यो न देखें कि 'सम्यक्' ज्ञान या 'तत्वज्ञान' है क्या ? उसका स्वरूप क्या है ? और उसके उपकरण कौन-से है ? कैसे वह उत्पन्न होता है, और कैसे उसकी परीक्षा होती है ? इन प्रश्नो के उठाए जाने के परिणाम स्वरूप ही प्रमाण विज्ञान का आविर्भाव होता है। प्रमाण अर्थात् प्रमा का करण। किन्तु यह प्रमा क्या है और करण क्या है, इस पर भी विचार का अन्त नही। किन्तु इनमें अभी न पडकर हमें सिर्फ यही जानना चाहिए कि न्याय ने केवल चार प्रमाण माने है, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द[1]। 'इन्द्रिय और अर्थ या विषय के सनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को, जिसमें सन्देह न हो और जो व्यभिचारी भी न हो, प्रत्यक्ष कहते है'[2]। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, निर्विकल्पक और सविकल्पक। प्रत्यक्ष ज्ञान के 'करण' को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते है। करण अर्थात् असाधारण कारण। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वक् एवं मन[3] इन्द्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान की हेतु है। इन्द्रिय और अर्थ के सनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। जव आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ या विषय से सयोग होता है, तव प्रत्यक्ष अनुभव होता है। प्रथम जव हम किसी पदार्थ को देखते है तो उसके रूप आकार आदि की ही प्रतीति हमे होती है। केवल चक्षु आदि इन्द्रियो से, वुद्धि के द्वारा क्रिया प्रारम्भ करने से पहले, जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'निर्विकल्पक' (अव्यपदेश्य) प्रत्यक्ष कहते है। इस प्रत्यक्ष में पदार्थ के जाति, गुण आदि का अलग-अलग अनुभव नही होता। किन्तु उनके केवल 'स्वरूपमात्र' का ही ज्ञान होता है। सविकल्पक ज्ञान में पदार्थ किस श्रेणी या नाम का

(१) न्यायसूत्र १।१।३

(२) न्यायसूत्र १।१।४

(३) वात्स्यायन 'मन' को एक इन्द्रिय ही मानते है, देखिए न्यायभाष्य १।१।१६

करना हमारी अपनी कल्पना का काम होगा। किन्तु नैयायिको के अनुसार पदार्थ अपने नाम, गुण आदि के साथ ही विभासित होता है, विशेषण-विशेष्य भाव सदा रहता है और सामान्य की भी स्थिति है क्योकि जो कुछ सत् है, वह क्षणिक नही है किन्तु उसमें एक में अनेकता की और अनेक में एकता की सतत अनुभूति होती है। इस विषय को लेकर नैयायिको ने वास्तव में बौद्ध आचार्यों की बडी भूलो को सुधारा है, उसी प्रकार जैसे कि बौद्धो के बहुत से मतो से उन्होने स्वय लाभ उठाया है। अब हम प्रत्यक्ष प्रमाण के एक दूसरे दृष्टिकोण पर आते है। जैसा कि हमने पहले कहा, प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए नैयायिको के अनुसार आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से सनिकर्ष होना जरूरी है। इन्द्रियार्थ-सनिकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है किन्तु यदि मन कही दूसरी जगह हो तब देखते और सुनते हुए भी उनका प्रत्यक्ष नही होता, इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए उपर्युक्त त्रिविध सनिकर्ष अत्यन्त आवश्यक है। बौद्ध नैयायिको का कहना है कि चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिया अपने विषयो के प्रत्यक्ष सनिकर्ष में नही आती, किन्तु दूर से ही वे उनकी अनुभूति करती है। नैयायिक इसका प्रत्युत्तर इस प्रकार देते है कि चक्षुरादि इन्द्रियो से तात्पर्य स्थूल इन्द्रियो से नही किन्तु उनके 'अधिष्ठान' से है जो 'तेज' रूप होता है जिससे ही प्रकाश जा कर पदार्थ के सम्पर्क में आता है और इसीलिए हमें दिशा, दूरी और स्थिति का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। बौद्ध आचार्यों ने नैयायिको के इन्द्रियार्थ-सनिकर्ष को इन आपत्तियो का विषय बनाया है (१) जिस इन्द्रिय से हम देखते है वह तो आख की पुतली है, फिर यह पुतली किस प्रकार एक पदार्थ के साथ सनिकर्ष मे आ सकती है, जो दूर स्थित है (२) चक्षु इन्द्रिय तो पर्वत जैसे बडे पदार्थ का भी साक्षात् करती है। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियार्थ-सनिकर्ष आवश्यक हो तो एक छोटी सी आख की पुतली के लिए इतने बडे पर्वत के सम्पर्क में आना किस प्रकार सम्भव है? (३) चक्षु इन्द्रिय को चन्द्रमा का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्पादन करने एव एक पेड की चोटी को देखने में समान समय लगता है, यदि इन्द्रिय का अर्थ मे सनिकर्ष में आना आवश्यक ही हो तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है? (४) यदि इन्द्रिय और अर्थ का सनिकर्ष ही प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है, तो हम शीशे के उस तरफ की चीज को भी क्यो देखते? दिशा और दूरी का देखना भी तो प्रत्यक्ष न होकर केवल अनुमान से ही ज्ञेय है।

नैयायिको ने बौद्धो के इन आक्षेपो का उत्तर इस प्रकार दिया है (१) जो कुछ भी एक पदार्थ को दिखाता अथवा उसका ज्ञान कराता है उसे उसके सम्पर्क में में आना ही चाहिए, अत इन्द्रिया 'प्राप्यकारी' अर्थात् अपने विषयो के सम्पर्क में आने वाली होनी ही चाहिए। दीपक उसी वस्तु को उद्भासित करता है जिसके सम्पर्क में वह आता है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय जो 'तेज' स्वरूप होती है, आख की पुतली से पदार्थ की ओर सम्पर्क प्राप्त करने के लिए जाती है (२) आख की पुतली से निकला हुआ प्रकाश फैल कर पदार्थ को आच्छादित कर लेता है[1] (३) दूर और समीप के पदार्थों के देखने में समय की भी अधिकता और अल्पता होती है, यद्यपि इसका अनुभव हमें नही होता (४) शीशा आदि पदार्थ ऐसे होते है जिनके बीच में होकर देखा जा सकता (है, अत वे चक्षु के प्रकाश को नही रोकते। 'न्याय कन्दलीकार' का कथन है कि यदि बिना इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हुए हम पदार्थो का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर पाते तब तो दीवाल के उस तरफ की वस्तुओ का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नही होता। उद्योतकर का कथन है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से तात्पर्य सम्पर्क से नही किन्तु विषय और इन्द्रियो के केवल एक निश्चित सम्बन्ध में स्थित होने से है। इसी प्रसग मेंएक अन्य महत्वपूर्ण बात हमें अवश्य देख लेनी चाहिए। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष नैयायिको ने छ प्रकार का बताया है, यथा सयोग, सयुक्त समवाय, सयुक्त-समवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषणता। यहा हमें अन्तिम से ही प्रयोजन है। नैयायिको का कहना है कि जब हम घडे का अभाव देखते है तब हम उस फ़र्श का प्रत्यक्ष करते है जिसमें घडे के अभाव की विशेषणता सन्निविष्ट है, अर्थात् घडे का अभाव खाली फर्श की विशेषता दिखाता है और इस प्रकार विशिष्ट फर्श का हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है। भूतल तो विशेष्य है जो घटाभाव से विशिष्ट है, अत विशेषण के सम्बन्ध से हमें विशिष्ट का प्रत्यक्ष होता है। यहां बौद्ध आचार्यो का यह कहना है कि यदि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष होने पर ही हम प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते है तो फिर वस्तुओ के अभाव के साथ इन्द्रियो का सन्निकर्ष कैसे हो सकता है ? यही समस्या स्वभावत हमें बौद्ध आचार्यो और नैयायिको के अभाव सम्बन्धी सिद्धान्त की ओर ले आती है जो भारतीय दर्शन

(१) मिलाइए 'तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्' योगसूत्र ४।१७

में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। अभाव का नैयायिको के अनुसार स्वरू
क्या है और बौद्ध आचार्य उससे क्या समझते है, यह विषय बहुत विस्तृत औ
गूढ है, किन्तु हमें यहा केवल निर्देश मात्र करना है, क्योकि यदि बौ
आचार्यों और नैयायिको की परस्पर वादविवाद सम्बन्धी समस्याओ
एक सूची भी बनाई ज य तो वह भी एक पुस्तक के आकार में होगी। को
ऐसा विषय नहीं, उस सूक्ष्म विषय का प्रभेद नही जिसमें नैयायिको औ
बौद्धो में परस्पर विभेद नही हो, और फिर दोनो मे ही सूक्ष्म विश्लेषण, मनो
वैज्ञानिक समस्याओ के साथ उनको मिलाकर उनके कठिन प्रज्ञापन और स्व
अपने-अपने आचार्यों के मतों में भी कही-कही अनेक मतो की उपलब्धि, आ
बातें ऐसी ह जो एक सामान्य और स्पष्ट विवेचन को असम्भव बना देती हैं
शुक्ति में रजत क्यो दिखलाई पडता है ? शून्यवादी कहते है कि असत् से स
की ख्याति होती है, अत वे असत्ख्यातिवादी है। विज्ञानवादी, जिनके लि
विज्ञान या विचारो को छोड और किसी वाह्य पदार्थ की सत्ता ही नही 'आत्म
ख्याति' वादी है। नैयायिक 'अन्यथा ख्याति' वादी है। उनके अनुसार गु
और गुणी में समवाय सम्बन्ध रहता है। दोनों को अलग-अलग नही देखा ज
सकता। इसलिए पहले देखी हुई रजत के प्रत्यक्ष के इस समय मन में उद
हो जाने के कारण शुक्ति के ऊपर उन गुणो का आरोप कर दिया जाता है
अन्यथा ख्याति की आलोचना करते हुए बौद्ध विचारक कहते है कि इस प्रका
यदि 'अलौकिक' प्रत्यक्ष मान लिया जायगा तव तो प्रत्येक मनुष्य ही सर्वज्ञ
हो जायगा और उसे हर समय हर पदार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा
जैसा कि वास्तव में नही है। अव हम प्रत्यक्ष को छोड अनुमान प्रमाण सम्बन्धी
दोनो के विचारो पर आते है। अनुमान प्रमाण का वडा पेचीदा सवाल है। अकेले
नैयायिको के द्वारा ही निर्दिष्ट उसके स्वरूप को समझना अत्यन्त कठिन
वात है, फिर बौद्ध विचारको के सम्बन्ध में उसका तुलनात्मक अध्ययन करना
तो निश्चय ही मस्तिष्क को एक वडा भार देना है। किन्तु हमें तो केवल मोटी
ही वातें देखनी है और वह भी जहा दोनो में विभेद है वही। अनुमति का
कारण अनुमान प्रमाण है। यह अनुमान प्रमाण दो प्रकार का होता है, स्वार्थ
और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरे को
समझाने के लिए। परार्थानुमान में पञ्चावयव वाक्य की अपेक्षा होती है, यथा
प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। यह न्याय का पञ्चावयव वाक्य

है जिसका निरूपण करना हमारा उद्देश्य नहीं। हमारा यहा इतना ही तात्पर्य है कि नागार्जुन ने अपने 'उपाय कौशल्य सूत्र' में केवल तीन ही अवयव माने है और अन्तिम दो की आवश्यकता नही समझी है। दिङ्नाग ने भी अपने 'न्याय-प्रवेश' में ऐसा ही किया है और धर्मकीर्ति ने तृतीय अवयव की भी आवश्यकता नही समझी है क्योकि उनके अनुसार इतना ही कहना पर्याप्त है कि पर्वत अग्निवाला है, क्योकि उसमें धूआ है। अत वे प्रतिज्ञा और हेतु से ही सब काम निकाल लेना चाहते हैं। वात्स्यायन और उद्योतकर इस प्रकार से अवयवो की सख्या घटाने के विरोधी है[1], यह तो इसी से स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि बौद्धो ने उनकी सख्या घटाने का प्रयत्न किया है। किसी भी बात में ये मनीषी साथ-साथ मिलकर चलना नही चाहते। जब कि पञ्चावयव वाक्यों की सख्या को घटाने के वे पक्षपाती है, उदाहरण सम्बन्धी हेत्वाभासो की सख्या दिङनाग दस तक बढाना चाहेगे। इसी सम्बन्ध मे हमें यह भी देख लेना चाहिए कि दिङ्नाग ने अनुमित वस्तु के ज्ञान के स्वरूप में प्रश्न उठाया है। नैयायिको के अनुसार हम 'अग्नि' का अनुमान करते है। किन्तु दिङनाग के मतानुसार हम धूएँ से अग्नि का निगमन नही करते, क्योकि यह नवीन ज्ञान का अग नही है ('तृतीय ज्ञान' रूप 'लिङ्ग परामर्श' को ही अनुमान कहते है) क्योकि हम पहले से ही जानते है कि धूआ अग्नि से सम्बन्धित है। फिर हम अग्नि और पर्वत के सम्बन्ध को भी अनुमान का विषय बनाते हुए नही कहे जा सकते क्योकि इस सम्बन्ध का अर्थ ही है कि वहा दो वस्तुएँ हो, किन्तु वास्तव में तो वहा केवल पर्वत ही होता है और अग्नि का तो प्रत्यक्ष ही नही होता। अत वास्तव में अनुमित वस्तु न तो पर्वत होता है और न अग्नि, किन्तु केवल 'अग्निवाला पर्वत' और यह केवल एक विचार है। इसके विपरीत नैयायिक दृष्टिकोण 'व्याप्ति' के सम्बन्ध मे यह है कि सामान्य भी वास्तव में वस्तुभूत है (सामान्यस्य वस्तुभूतत्वात्) और उसके सम्बन्ध भी यथार्थ है (स्वाभाविकस्तु सम्बन्धो व्याप्ति)। ससार में सभी वस्तुएँ प्रमेय है अर्थात् प्रमाणो से जानने योग्य है और अभिधेय है अर्थात् वर्णन करने योग्य है। किन्तु इसके विपरीत दिङ्नाग का मत है कि ज्ञान प्रमेयत्व के वास्तविक सम्बन्धो को नही दिखाता। वाचस्पति मिश्र दिङ्नाग के इस

---

(१) द्रष्टव्य न्याय भाष्य १।१।३९; न्यायवार्तिक १।१।३९

सम्बन्धी मतका उद्धरण करते हुए कहते हैं 'सर्वोऽयम् अनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न वहिःसत्त्वम् अपेक्षते[1]' अर्थात् सभी यह अनुमान-अनुमेय-भाव वुद्धि से ही आरूढ है और वहि सत्व की अपेक्षा नही रखता। इस प्रकार हम देखते है कि फिर-फिर कर बौद्ध आचार्य अपने विज्ञानवाद पर आ जाते हैं और न्याय दर्शन, जो कि सभी वस्तुओ को प्रमेय और अभिधेय मानता है, बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन उपस्थित करता है। बौद्धो ने भी नैयायिकों के सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त के खण्डन करने में कोई कसर नही उठा रक्खी है। अव हम अनुमान प्रमाण से उपमान पर आते हैं। चूकि उपमान प्रमाण में प्रत्यक्ष के सादृश्य का एक बडा भाग होता है, इसलिए दिङ्नाग इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण नही मानते। नैयायिक तो इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते ही हैं, ऐसा हम पहले कह चुके है। शब्द प्रमाण के विषय में हमें यहा इतना ही जानना चाहिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर नैयायिको ने एक महान् विचार परम्परा प्रवर्तित कर दी है और बौद्ध विचारको का इसमें यही दान है कि उनके अनुसार शब्द वस्तु-भूत पदार्थों का निदर्शन नही करते बल्कि उनके अभाव का निदर्शन करते हैं ताकि वास्तविक अनुमित वस्तु का ज्ञान हो जाय। इस प्रकार उनके अनुसार जब हम 'गाय' कहते है तो यह केवल उन वस्तुओ का अभाव (अपोह) ही दिखाता है जो गायें नही है और इस तरह हम यह निगमन करते हैं कि शब्द 'गाय' वस्तु 'गाय' की ओर ही सकेत करता है।[2] प्रत्येक वस्तु मे बौद्धो के कहने का एक विपरीत ढग ही है। शब्द प्रमाण 'आप्तोपदेश' के रूप में परिभाषित किया गया है[3] और न्यायभाष्य-कार ने यह अत्यन्त उदारतापूर्वक कहा है कि 'आप्त' जन केवल एक ऋषि और आर्य ही नहीं बल्कि म्लेच्छ भी हो सकता है।[4] नैयायिक वेदों को मीमासको के समान शाश्वत और नित्य नही मानते, वे तो 'इद सर्वमसृजत ऋचो यजूषि' ऐसे वाक्यो पर ही अधिक जोर देते है, यद्यपि वात्स्यायन

(१) न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।५ में उद्धृत ।
(२) विशेष विस्तार के लिए देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८
(३) न्यायसूत्र १।१।७ मिलाइये वैशेषिक सूत्र १०।२।९
(४) न्यायभाष्य १।१।७

ने इन दोनो में समन्वय विवान करने की भी चेष्टा की है[1]। किन्तु इस सबसे बौद्धो को कोई प्रयोजन नही। वेद या किसी भी अन्य ग्रन्थ में स्वत प्रामाण्य बुद्धि करना धर्मकीर्ति के लिए तो मनुष्यो की बुद्धि की जडता का एक लक्षण है ही, दिङ्नाग भी शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानने को प्रस्तुत नही। वे तो प्रत्यक्ष में या अनुमान मे ही इसका अन्तर्भाव सम्भव मानते है। बौद्धो ने असत्यता, परस्पर विरुद्धत्व और पुनरुक्ति के दोष वेदो पर लगाए है, जिनका उत्तर विस्तारपूर्वक न्यायभाष्यकार ने दिया है[2]। यह कहना ही होगा कि दिङ्नाग और अन्य बौद्ध आचार्यो ने भी वृद्ध-वचनो को वेद के प्रमाण के समान ही स्वीकार किया है[3]। इस प्रकार बौद्ध और नैयायिको की प्रमाण-मीमासा के क्षेत्र मे हम सक्षिप्त रूप से देखते है कि नैयायिको का एक प्रधान व्यवसाय उस प्रवृत्ति का खण्डन करना है जो ज्ञान के परस्पर विरुद्धत्व के स्वरूप पर जोर देती है और जिसके अनुसार विचार की सम्भवता ही प्रमाणित नही की जा सकती। हम जानते है कि इस प्रकार का मत माध्यमिको के नाम से अधिक सम्बद्ध है किन्तु चूकि, जैसा कि हम पहले भी कह चुके है, न्याय सूत्र और न्याय भाष्य मे भी सर्ववैनाशिक मत का खण्डन उपलब्ध होता है, अत इससे हम या तो यही निष्कर्ष निकाल सकते है कि न्याय के ये पूर्वतम ग्रन्थ नागार्जुन के मतो का निराकरण न कर केवल एक परम्परा से चली आई हुई शून्यवाद की परम्परा का खण्डन करते है (जैसा कि महामति डा० राधाकृष्णन् का मत है[4] और जिसकी ओर महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज ने भी प्रवणता दिखाई है[5] या फिर हम यही कह सकते है कि ये दोनो ग्रन्थ न केवल बौद्ध आचार्य नागार्जुन के वाद की ही रचनाए है बल्कि सम्भवत विज्ञानवादी आचार्य असङ्ग और वसुबन्धु के वाद की भी (वाचस्पति मिश्र जैसे न्याय के 'तात्पर्य' जानने वाले के साक्ष्य पर उनमें बौद्ध विज्ञानवाद

---

(१) न्यायभाष्य २।१।६८

(२) देखिये न्यायभाष्य २।१।५७-६८

(३) देखिये आगे पूर्वमीमासा दर्शन का विवेचन।

(४) देखिए उनकी इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३६

(५) देखिए उनकी भूमिका डा० गंगानाथ झा के न्यायसूत्र-सभाष्य-अंग्रेजी अनुवाद में।

का खण्डन उपलब्ध होने से[1])। किन्तु यदि हम पहले मत को स्वीकार करते हैं (जैसा कि आधुनिक गवेषणा के प्रकाश में अधिकतर विद्वान् करना चाहेंगे) तो फिर शून्यवादियो या विज्ञानवादियो के मतो का, जिनका निराकरण न्यायसूत्र और न्यायभाष्य में मिलता है, हम नागार्जुन, असङ्ग और वसुवन्धु पर आरोप किस प्रकार कर सकते है? हमें एक दिशा में तो निष्पक्ष दृष्टिकोण धारण करना ही पडेगा। हम दोनो ही तरफ से वौद्ध आचार्यो पर आक्रमण नही कर सकते। राधाकृष्णन्, दासगुप्त, प० गोपीनाथ कविराज और स्वर्गीय डाक्टर गगानाथ झा, ये सभी विद्वान् न्यायसूत्र और न्यायभाष्य को अपनी वास्तविक प्राचीनता देने के पक्षपाती है, जो ठीक ही है। किन्तु साथ ही ये सभी विद्वान् फिर अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं (नैयायिक प्रयोग) को भूल कर यह कैसे मान बैठने लगते है कि अमुक प्रकार से न्यायसूत्र और न्यायभाष्य नागार्जुन, असङ्ग और वसुवन्धु के सिद्धान्तो का अथवा सामान्य रूप से वौद्ध दर्शन का खण्डन करते है। यह तो इन वौद्ध आचार्यों के प्रति एक वडा अन्याय है। साथ ही समग्र वौद्ध विचार के प्रति भी। बौद्ध विचारको के मतो की यदि हमे न्यायपूर्वक समीक्षा करनी है या यदि न्याय परम्परा अथवा अन्य आस्तिक दर्शनो की परम्पराओ के उद्भावकों या आचार्यों को करनी थी तो इसका केवल एकमात्र न्याय्य उपाय यही था और है कि उनके विचारो को उनके मौलिक रूप में प्रस्तुत कर समालोचना की जाय। जितने आस्तिक परम्परा के दर्शनकार या विचारक वौद्ध युग के वाद हुए उन्होंने प्राय ऐसा ही किया है और यह भारतीय दर्शन की सत्यनिष्ठा वात है कि यहा के विचारको ने किसी मत के विरुद्ध अपने मत को स्थापित करते हुए पहले पूर्वपक्ष के रूप में उस मत को उसके मौलिक रूप में और उसी के दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित कर दिया है। जो 'श्रीभाष्य' को पढेंगे वे इस कथन की सत्यता प्रमाणित करेंगे। इसी प्रकार शङ्कर और वाचस्पति ने जिस स्पष्टता के साथ वौद्ध सम्प्रदायो के मतो का निदर्शन किया है, वे कितने निष्पक्ष और स्पष्ट है, यह भी हम आगे यथास्थान दिखाएगे (वेदान्त दर्शन के विवेचन में)। यहा हमें यह कहना अपेक्षित है कि जो दर्शनकार स्वय वौद्ध आचार्यो से पहले आए (जैसा कि न्यायसूत्रकार के विषय में मानते है) तो उनके द्वारा खण्डित सिद्धान्तो की एकात्मता हम वौद्ध आचार्यों के मतो के साथ कैसे स्थापित कर सकते है? यह तो उनके

प्रति निन्दा का प्रचार ही होगा जो सर्वथा मिथ्या और निर्मूल होगा। न्यायसूत्रो मे सर्ववैनाशिको का खण्डन देख कर हम अधिक से-अधिक यही तो कह सकते है कि सर्ववैनाशिक या अभाववादी मत का खण्डन न्यायसूत्रो में किया गया है, हम अनधिकृत रूप से न्यायसूत्रो मे खण्डित अभाववाद का आरोप नागार्जुन पर तो नही कर सकते।[१] और निश्चय ही ऐसा ही हुआ है। यही कारण है कि सत्य होते हुए भी नागार्जुन के मत को उस स्वरूप मे मानने के लिए, जिसका निदर्शन हम चतुर्थ प्रकरण में कर आए है, भारतीय मस्तिष्क तैयार नही होता। इस विषय मे अधिक कहना यहा अप्रासङ्गिक होगा। हम कुछ अपने मूल विषय से दूर चले गए, फिर उसी पर लौटते है। हा, तो न्यायभाष्यकार कहते है (और यह तर्क उनका बाद के विचारको ने भी कई बार दुहराया है—सबने ही बौद्धो पर उसका आरोप कर) कि यदि माध्यमिक इस बात को निश्चय ही मानता है कि कुछ नही सत्य है तो फिर कम-से कम इस सिद्धान्त की सत्यता को तो वह निश्चित मानता ही है तो फिर क्या इतना ही स्वीकार करने से उसका सर्ववैनाशिक स्वरूप नष्ट नही हो जाता और क्या वह स्वय अपने ही विरुद्ध नही चला जाता। फिर माध्यमिको का यह कहना भी (वात्स्यायन के अनुसार) कि वस्तुओ के स्वभाव का ज्ञान नही हो सकता गलत है, क्योकि वस्तुओ के विश्लेषण को तो विचार के द्वारा वे स्वय (माध्यमिक) सम्भव मानते है। इस प्रकार की युक्तियो से न्यायभाष्य और न्यायवार्तिक में माध्यमिक मत का खण्डन किया गया है।[२] विज्ञानवाद के विरोध मे वात्स्यायन का मुख्य तर्क यह है कि यदि बाह्य पदार्थ वस्तुसत् न होते तो स्वप्न ही

---

(१) हां, जब तक कि हम डाक्टर विद्याभूषण के ही पदचिन्हों का अनुसरण कर न्यायसूत्र ४।१।३९; ४।१।४८; २।१।१-१९; ४।२।३२, २।१।३७; ४।२।३६; ३।२।११ (जिनमें कि माध्यमिक सूत्र और लंकावतार सूत्र के सिद्धान्तों की ओर संकेत है) प्रक्षिप्त अंश करार न देदें ! यह सभी कठिनाइयों से बचने का एक बड़ा अच्छा उपाय है ! इनके प्रक्षिप्त होने में क्या प्रमाण है, सिवाय इसके कि हम पहले से ही मान लें कि न्यायसूत्र नागार्जुन से पूर्व के हैं, जो तथ्य स्वयं असिद्ध हैं (गलत हम नहीं कहते !) । जो कुछ भी हो, देखिए डा० विद्याभूषण की 'हिस्ट्री आव इण्डियन लॉजिक, भूमिका, पृष्ठ १०

(२) देखिए न्याय भाष्य ४।२।२७ पर न्याय-वार्तिक

सम्भव नही हो सकते थे। स्वप्नो की विभिन्नता कारणो की विभिन्नता से ही हो सकती है[1]। इसी प्रकार यदि यह जगत् सत्य न होता तो सत्य और असत्य का ज्ञान ही न होता।[2] प्रमाण का अर्थ ही 'प्रमा' करने वाला ज्ञान है। 'प्रमा' तो यथार्थ ज्ञान ही होता है।[3] जब वस्तुएँ ही यथार्थ नही है, तो उनका ज्ञान कहा से यथार्थ होगा? अत प्रमाण का मानना ही वस्तुओ के यथार्थ रूप को स्वीकार करना है। 'प्रमाणस्य सकल-पदार्थ व्यवस्थापकत्वम्'[4]। इस प्रकार अनेक युक्तियो से विज्ञानवाद और शून्यावाद का खण्डन नैयायिको के द्वारा अपनी समग्र परम्परा में किया गया है, जिसकी कुछ झलक ही हम ऊपर दे सके है। अब हम प्रमाण मीमासा के क्षेत्र को छोडकर ईश्वरकर्तृवाद, कारणवाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद, नैरात्म्यवाद आदि समस्याओ को लेकर बौद्ध और न्याय दर्शनो के तुलनात्मक अध्ययन पर आते है।

ईश्वरकर्तृवाद, कारण-वाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद, नैरात्म्यवाद आदि पर बौद्ध और नैयायिक दृष्टि से विचार

न्याय के पूर्वतम स्वरूप के ईश्वरवादी होने मे गार्बे और म्यूर जैसे पश्चिमी विद्वानो ने सन्देह प्रकट किया है।[5] सम्भवत महर्षि गौतम ने इस विषय की ओर अधिक प्रवृत्ति इसीलिए नही दिखाई कि उनका मुख्य उद्देश्य प्रमाण-परीक्षण ही था और ईश्वर के प्रश्न में पडने पर वे आध्यात्मिक पक्ष में अधिक चले जाते। अत जिस प्रकार हम पूर्वमीमासा के 'वृत्तिकार'को ब्रह्म या आत्मा विषयक जिज्ञासा को वेदान्तियो के लिए छोडते देखते है,[6] उसी प्रकार सम्भवत ऋषि गौतम ने भी अपनी सीमा को

(१) देखिए न्यायभाष्य ४।२।३३,३४,३७

(२) देखिए न्यायभाष्य ४।२।२६-३७

(३) देखिए न्यायसूत्र ४।२।२९

(४) न्यायसूत्र वृत्ति १।१।१

(५) देखिए गार्बे . फिलॉसफी ऑफ एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ २३; म्यूर : ऑरीजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १३३, राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५ में उद्धृत

(६) देखिए शाकर भाष्य १।१।५ तथा मिलाइए ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य ३।३।५३; देखिए आगे मीमासा दर्शन का विवेचन भी।

समझकर इस विषय को स्पर्श नही किया था। अन्यथा ब्रह्मसूत्र २।१।११-१३ नैयायिक ढग से ईश्वर की सिद्धि पर क्यो अपनी असहमति दिखाते ? कुछ भी हो, उत्तरकालीन नैयायिको ने ईश्वर की सिद्धि मे वडा उत्साह दिखाया है और उससे भी अधिक उत्साह दिखाया है वौद्धो ने उसके निराकरण करने में। उदयन की 'कुसुमाञ्जलि' तो इस विषय मे अत्यन्त प्रसिद्ध हो गई है किन्तु वौद्धो के द्वारा पूरी तरह से खण्डित कर दिए जाने पर उसके तर्कों का भारतीय दर्शन में आज कोई मूल्य रह गया हो, ऐसा हम नही कह सकते। 'कुसुमाञ्जलि' की दी हुई ईश्वर की सिद्धि विषयक आठ युक्तिया जो इस श्लोक में दी हुई है 'कार्यायोजन धृत्यादे. पदात्प्रत्ययत. श्रुते। वाक्यात् सख्याविशेपाच्च साध्यो विश्वविदव्यय"[1] प्रत्येक भारतीय दर्शन के विद्यार्थी की जानी हुई चीजें है और उनका विश्लेषण करना हमारा यहा काम नही। वौद्धो के इस विषयक प्रत्याख्यान के निरूपण में भी हमारी कोई दिलचस्पी नही, क्योकि जिस प्रकार तर्क के द्वारा ईश्वर की सिद्धि करना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका निराकरण करना भी उससे अधिक व्यर्थ है। हमें न्याय के क्षेत्र मे रहते हुए दृश्य और निरुक्त जगत् में ही रहना चाहिये। ससीम उपकरणो को लेकर हम असीम की गहराई नही नाप सकते। अत हम समझते है कि इस विपय को लेकर दोनो ही वौद्ध और नैयायिक आचार्य मोह को प्राप्त हुए। वास्तविक दृष्टिकोण तो वुद्ध का ही था जो मौन रहे, या औपनिपद ऋपियो का था जिन्होंने 'उपशान्तोऽयमात्मा' कहा या फिर वेदान्त दर्शन ने ही इस पर ठीक तरह से विचार किया, जिसने तर्क को अप्रधान रखकर अनुभूति को ही प्रधान उपकरण स्वीकार किया। वौद्ध आचार्यो और नैयायिको का सम्भवत यह व्यापार नही होना चाहिए था, क्योकि वे विशेषत तर्कवाद के द्वारा ही सत्य को खोजने का प्रयत्न करते थे जो सम्भवत वहा प्राप्त नही हो सकता। अव हम दोनो दर्शनो के कारणवाद सम्बन्धी विचार पर आते है। न्याय-दर्शन में, जैसा कि हमने देखा, कारणवाद की समस्या 'प्रमाण' पर विचार करते ही आजाती है। कारणवाद के सम्बन्ध में न्याय का मत 'असत्कार्य वाद' कहा जाता है जिसका सक्षेप में अभिप्राय यह है कि कार्य की उत्पत्ति से पहले उनका अभाव रहता है, अर्थात् घट जब तक वन कर तैयार नहीं

---

(१) ५।१९

हो जाता तब तक उसके पहले वह किसी भी रूप में उपस्थित नही रहता और उस घट रूप कार्य के पहले जो नियम रूप से उपस्थित रहता है और अन्यथा सिद्ध नही होता (जिसकी व्याख्या में हम यहा नही जा सकते) वह कारण होता है। सन् से ही असत् की उत्पत्ति होती है। यही न्याय का असत्कार्यवाद है। इसके विपरीत बौद्ध मानते है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है।[१] बौद्ध विचारक समवायि, असमवायि या निमित्त कारणो के विभेद को नही मानते और केवल क्षणिकवाद की चिरन्तन प्रतिष्ठा पर खडे होकर अपने प्रतिद्वन्द्वियो के सिद्धान्तो को काटते ही है। वे कहते है कि न तो कार्य को अपनी उत्पत्ति से पहले कहा जा सकता है सत् और न असत् और न सद्-असत्। एक ही साँस में वे नैयायिक (असत्कार्यवादी) साख्य (सत्कार्य-वादी) और वेदान्ती (विवर्तवादी) इन तीनो को काटते है और स्वभावत उनके द्वारा काटे जाने के लिए तैयार भी रहते है, जिससे वचने के लिए उनके पास अभावात्मक तर्क के अमोघ अस्त्र सदा विद्यमान है। बौद्ध आचार्य अपने 'क्षणिकवाद' की स्थापना में, जैसा कि हमने पहले कहा, वार-वार आते है। न्यायभाष्यकार का कथन है कि जहा क्षणिकवाद का ज्ञान हमें होता है वहा तो उसका मानना ठीक है, किन्तु पाषाण आदि में तो वह नही पाया जाता[२] अत वहा वह नही है। अगर हर एक वस्तु असत् ही होती तो वस्तुओ का सघात ही कैसे हो सकता है?[३] वस्तुओ की सापेक्षता भी तो सिद्ध नही की जा सकती?[४] सब वस्तुओ की अनित्यता भी तो प्रमाणित नही की जा सकती, क्योकि आकाशादि कुछ वस्तुएँ नित्य भी तो है?[५] यह कहना कि केवल वर्तमान ही काल है, भूत और भविष्यत्

(१) भारतीय दर्शन में कारणवाद के प्रश्न को लेकर 'सर्वदर्शन सग्रह' कार की यह उक्ति सदा स्मरण रखने योग्य है 'इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्ति· प्रसरति। असत सज्जायते इति सौगता सगिरन्ते। नैयायिकादयस्तु सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिन· सतो विवर्त, कार्य-जात न तु वस्तुसदिति। साख्या पुन सत· सज्जायत इति'।

(२) न्याय भाष्य ३।२।११; ३।२।१२-१३

(३) न्याय भाष्य ४।१।३७-४०; ४।२।२६-२७, ३१-३३

(४) द्रष्टव्य न्याय भाष्य ४।१।४०

(५) द्रष्टव्य न्याय भाष्य ४।१।२५-२८

काल नहीं है, बिलकुल गलत है, क्योंकि बिना भूत और भविष्यत् को छोड वर्तमान काल का अर्थ ही क्या है ?[१] अवयवी अवयवों के संग्रह को छोड और कुछ नहीं, इस बौद्ध सिद्धान्त का भी निराकरण न्याय भाष्य ने किया है और कारणवाद का निषेध करना तो समग्र अनुभूति का उद्देश्य उच्छेदन करना ही बताया है।[२] अनुमान प्रमाण में 'व्याप्ति' के को लेकर भी नैयायिको ने क्षणिकवाद की अनुपयुक्तता दिखाई है। इस वाक्य में कि 'शब्द अनित्य है क्योंकि यह उत्पाद्य है, घट के समान' घट दृष्टान्त या उदाहरण है। अब इस घट मे 'अनित्यता' और 'उत्पाद्यता' होनी चाहिए। किन्तु यदि घट क्षणिक हो तो उसमें ये दोनो चीजें 'अनित्यता और 'उत्पाद्यता' एक साथ कैसे सम्भव हो सकती है ?[३] दूसरा दोष नैयायिको ने बौद्ध क्षणिकवाद में 'अनवस्था' का दिखाया है, जिसके निरूपण मे हम यहा प्रवृत्त नही हो सकते। अन्य इस विषयक खण्डन नैयायिको ने प्राय उसी प्रकार किए हैं जिस प्रकार अन्य भारतीय दर्शनो के विचारको ने और चूंकि उन पर हम प्रकाश चतुर्थ प्रकरण में डाल आए है, अत ही यहाँ पिष्ट-पेषण करना उचित नही समझते। न्याय दर्शन ने आत्मवाद की स्थापना की है, किन्तु उसने आत्मा को उसकी प्रथम भूमिका मे ही नापा है, ऐसा हम कह सकते हैं। न्याय के अनुसार आत्मा के गुण, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान हैं और वह प्रमेय वस्तुओं की सूची में ही आता है।[४] न्याय ने विशेषत अनुमान से ही आत्मा की सिद्धि की है, यद्यपि गौण रूप से श्रुति का भी इसके लिए आह्वान किया है।[५] वैशेषिक दर्शन ने योग में ही उसके दर्शन की सम्भावना मानी है।[६] नैयायिको के द्वारा प्रतिपादित 'आत्मा' के स्वरूप में जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह है चैतन्य के साथ उसका सम्बन्ध। उनके अनुसार 'मैं' के विचार का विषय ही 'आत्मा' है।[७] इन्द्रियो और शरीर में चैतन्य सम्पादन करने वाला

(१) द्रष्टव्य न्याय भाष्य २।१।३९; २।१।४३; २।१।४०
(२) देखिए न्यायभाष्य ४।१।२२-२४
(३) देखिए न्यायवार्तिक १।१।३७ तथा ३।२।१४
(४) न्यायसूत्र १।१।९
(५) न्यायसूत्र १।१।१०
(६) वैशेषिक सूत्र ९।१।१
(७) न्यायवार्तिक १।१।१

आत्मा ही है। किन्तु चैतन्य तत्व आत्मा का एक गुण ही है जो कि मन के साथ उसके ससर्ग होने के कारण उत्पन्न हो जाता है। अत चैतन्य तत्व आत्मा से अलग नही किया जा सकता, किन्तु आत्मा अवश्यम्भावी रूप से चैतन्य स्वरूप नही है[१]। इस प्रकार नैयायिको का आत्मा कुछ-कुछ जडवाद के समीप चला जाता है और फिर वापिस लौट आता है। नैयायिक कहते है कि आत्मा प्रति-शरीर भिन्न है[२] और नित्य है। एकात्मवाद को साधारणत न्याय ने स्वीकार नही किया है। उसने आत्मा को शरीर से, इन्द्रियो से, मन से और बुद्धि से सभी से व्यतिरिक्त वतलाया है। शरीर से आत्मा का सम्वन्ध जन्म के अवसर पर ही होता है[३], आत्मा इन्द्रिया नही, किन्तु वह उनका नियामक है और उनके कार्यों का सश्लेषण करने वाला है[४], मन आत्मा इसलिए नही हो सकता क्योकि एक तो वह अणु रूप है और फिर आत्मा की चैतन्य प्रवृत्ति का वह स्वय एक साधन है[५] और यदि बुद्धि को आत्मा मान लें तो योगियो को जो एक ही साथ अनेक वस्तुओ का प्रत्यक्ष होता है, उसकी सगति नही लग सकती[६]। अत आत्मा इन सवसे व्यतिरिक्त है। क्योकि वही केवल एक विपयी है जवकि अन्य उपर्युक्त सव विषयभूत है[७]। एक वात न्यायभाष्यकार ने वडे मार्के की कही है जिसके प्रकाश में हमे 'मौलिक्य' वौद्ध दर्शन के 'अनात्मवाद' को समझने की कोशिश करनी चाहिए। न्याय-भाष्यकार का कहना है कि यदि शरीर से व्यतिरिक्त आत्मतत्व को मानना नही है तो नैतिक तत्व की भी कुछ अर्थवत्ता नही[८] रहती। हम जानते है कि भगवान् वुद्ध ने अद्वितीय नैतिक आदर्शवाद की स्थापना की है और परम तत्व के विपय में उनका मौन है। तो फिर इससे हम क्या निष्कर्प निकाल सकते है? नैतिक तत्व तो उनका प्रत्यक्ष सत्य है जिससे इनकार नही किया जा सकता, फिर यदि भगवान्

---

(१) द्रष्टव्य न्याय भाष्य १।१।१०

(२) देखिए न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १।१।१० एव न्यायभाष्य ३।१।१४

(३,४,५,६) देखिए क्रमश. न्यायसूत्र ४।१।१०, न्यायभाष्य ३।१।१, न्याय-भाष्य ३।२।२९

(७) देखिए न्यायवार्तिक ३।२।१९

(८) द्रष्टव्य, न्यायभाष्य ३।१।४

वात्स्यायन की दिशा को ही लेकर हम विचार करें तो सम्भवत उस निष्कर्ष से दूर नही पहुंच सकते जिसको हम चतुर्थ प्रकरण में प्रकट कर चुके हैं, अर्थात् यह कि बौद्ध नैतिक आदर्शवाद का आध्यात्मिक आधार सुनिश्चित है। अव हम वैशेपिक परमाणुवाद और बौद्ध विज्ञानवाद के सम्बन्ध पर आते हैं।

बौद्ध विज्ञानवाद और वैशेपिक परमाणुवाद

परमाणुवाद वैशेषिक का सिद्धान्त है, किन्तु इस सिद्धान्त का निरूपण करना यहा हमारा उद्देश्य नही। यहा केवल इतना ही कहना इष्ट है कि पारिमाण्डिल्य या गोले के आकार वाले परमाणुओ के, अदृष्ट के द्वारा गतिशील हो जाने पर, जड-चैतन्यमय सृष्टि का उद्भावन मानने वाले नैयायिक और वैशेपिक बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध एक कठिन और अभेद्य दुर्ग वनाते हैं, किन्तु इसकी रक्षा करना वैशेपिको का काम नही, उनको तो स्वय इस दुर्ग में विठला कर अजेय प्रतिवादिभयङ्कर न्याय ने ही इसकी रक्षा की हैं। इस विपय में उनके विरोधी प्राय बौद्ध विज्ञानवादी ही रहे है जिनके लिए सिवाय चित्त के और कोई सत्य नही। सौत्रान्तिक और वैभाषिक तो वैशेपिक परमाणुवाद को स्वीकार भी करते हैं[1]। वैशेपिक सूत्रो के रचयिता ने ६ पदार्थ माने थे, उनके अनुयायियो ने एक और मिलाकर उनकी सख्या ७ कर दी, जो इस प्रकार हैं, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभाव। इनमे 'सामान्य' को लेकर नैयायिको और बौद्धो में कितना सघर्ष चला, इसकी कुछ झलक हम अभी देख चुके हैं और पूर्वमीमासको से भी इस विपय में उनके क्या-क्या सघर्ष हुए, इसका वर्णन हम उस दर्शन के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करते समय करेंगे। न्याय ने जिसे ईश्वर या कर्त्ता कहा है उसे ही वैशेपिक ने 'अदृष्ट' कहा है,[2] अत इस विपय में दोनो में विभेद नही है 'देवताविपये भेदो नास्ति नैयायिकै. समम्'। वस्तुवाद के स्थिर आधार पर न्याय-वैशेपिक ने परमाणुवाद की स्थापना की है और वह बौद्ध विज्ञानवादियो के प्रति उनका तीव्र उत्तर है।

---

(१) देखिए उई: वैशेपिक फिलॉसफी, पृष्ठ २६-२८; देखिए आगे पाचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' के प्रसग में शंकर के द्वारा सर्वास्तिवादियो के परमाणुवाद सम्वन्धी सिद्धान्त का खण्डन भी।

(२) देखिए वैशेपिक-सूत्र २।१।१८-१९; ५।१।१५, ५।२।७।१३; ४।२।७

इस प्रकार बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक दर्शन की वाद-परम्पराओ और विभिन्नताओ को एक अत्यन्त सक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा।

उपसंहार

निश्चय ही इन दर्शनो की विभूतियो का यह वर्णन उद्देशत ही हुआ है। जिस प्रकार अन्य सभी भारतीय दर्शनो ने उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन ने भी इस बात को बहुत अच्छी तरह समझा है कि ज्ञान केवल बौद्धिक प्रयास का परिणाम नही है, वल्कि उसके लिए समग्र व्यक्तित्व की साधना की आवश्यकता है, फिर चाहे भौतिक जगत् और तत्सम्वन्धी ज्ञान का परीक्षण और विश्लेषण ही उसका प्रथम जिज्ञास्य विषय क्यो न रहा हो। विभेद की जगह भारतीय दर्शनो ने विभेद को स्वीकार किया है, किन्तु जीवन का विच्छेद उन्होंने नही किया है। न्याय दर्शन पुरुषकार को खूब अवकाश देता ही है[1], दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति को परम पुरुषार्थ मानता ही है, ससार को दु:ख का लक्षण मानता ही है और उस दु:ख के अत्यन्त विमोक्ष को ही वह कहता है अपवर्ग भी[2]। न्याय-शास्त्र का रूप चाहे हेतु-विद्या का प्रधानत: क्यों न रहा हो, उसका मौलिक रूप में प्रज्ञापन शान्ति के लिये ही किया गया था। जैसा उद्योतकर ने कहा है, अक्षपाद गौतम ने इस शास्त्र का उपदेश शम के लिये, शान्ति के लिये, ही दिया था[3]। 'वाद विवाद विषाद वढाइ कै छाती पराई औ आपनी जारैं' की वात, जिसकी ओर तुलसीदास जी ने सकेत किया था, वह तो न्याय-शास्त्र के इतिहास में आगेचलकर हुई। उसका मौलिक प्रयोजन 'शम के लिए' (शमाय) था और इस रूप के शमात्मक धर्म (वौद्ध धर्म) से उसकी कितनी समानता है, यह वताने की आवश्यकता नही। अपर-नि श्रेयस और पर नि श्रेयस के रूप में क्रमश जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति को अथवा वौद्ध पारिभाषिक अर्थो मे निर्वाण और परिनिर्वाण (मौलिक वौद्ध दर्शन के अर्थों में) को स्वीकार करता ही है। फिर उसका यह कहना भी कि यदि दु:ख को हटाना है तो जन्म को हटाना होगा, यदि जन्म को हटाना है तो प्रवृत्ति को हटाना होगा, यदि प्रवृत्ति को हटाना है तो दोप को हटाना होगा और यदि दोप को हटाना है तो

---

(१) देखिए न्याय भाष्य ४।१।१९-२१

(२) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग.। न्यायसूत्र १।१।२२

(३) यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद। न्यायवार्तिक १।१।१

मिथ्याज्ञान को हटाना होगा,[1] भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट 'प्रतीत्य समुत्पाद' से कितनी समानता रखता है, इसको भी सभी विमल मन्तव्य वाले सत्य के गवेषक सरलता से समझ सकते है। 'प्रवृत्ति' को न्याय ने राग, द्वेष और मोह से सम्भव माना है और ('मौलिक्य बौद्ध दर्शन में') 'अकुशल' चित्तो का भी तात्पर्य अन्तत क्या है? ध्यान और शुभ कर्मो को सम्पादन करने की अनुज्ञा क्या न्यायभाष्यकार ने भी नही दी[2]? क्या उन्होने भी तप, स्वाध्याय और योग को आवश्यक नही वताया? क्या वैशेषिक दर्शन ने भी अभ्युदय के साथ-ही-साथ नि श्रेयस को भी अपना गवेषणीय विषय नही वनाया, क्या श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्यवचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, भावशुद्धि, क्रोध-वर्जन और अप्रमाद का उपदेश वैशेषिक के उपदेष्टा ने भी नही दिया?[4] वहुत से क्या, हम सभी मनीषी बौद्ध नैयायिको का आह्वान करते है, 'भारतीय काण्ट' धर्मकीर्ति का, आचार्य दिङ्नाग का, असङ्ग और वसुवन्धु का भी, आचार्यपाद नागार्जुन का भी, तथा अन्य अनेक बौद्ध आचार्यो का भी, उसी प्रकार हम आह्वान करते है भगवान् वात्स्यायन से लेकर (भगवान् अक्षपाद को तो वुद्ध की तरह छोडना ही होगा—हमें आचार्यो से ही यहा विशेष सम्बन्ध है, ऋषियो से नही) उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र और उदयन आदि मनीषियो को भी। तो फिर गौतमीय न्याय-परम्परा के आचार्यो के प्रति श्रद्धास्वरूप हम उन्हे अर्पित करते है भगवान् वुद्ध के वे दो अनुत्तर उपदेश जो उन्होने एक वार कालामो को और एक अन्य वार प्रजापती गौतमी को दिये थे,[5] और मनीषी बौद्ध आचार्यो की सेवा

---

(१) दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावात् अपवर्ग.। न्यायसूत्र १।१।२

(२) न्यायभाष्य ४।२।३८,४१

(३) न्यायभाष्य ४।२।४७; ४।२।४६

(४) देखिए वैशेषिक सूत्र ४।२।३

(५) कालामों से भगवान् ने यही कहा था कि उन्हे प्रत्येक वात को अपनी वुद्धि की कसौटी पर कस कर ही उसे स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिये। इसके वाद भगवान् ने उनसे पूछा था कि क्या राग, द्वेष और मोह का उत्पन्न होना मनुष्य के सुख और कल्याण के लिये होता है? जब कालामों ने इसका उत्तर 'न' दिया तो भगवान् ने उपदेश दिया

में अर्पित करते है हम भगवान् न्यायभाष्यकार के ये शब्द जिनमें सद्धर्म के अविरोधी शास्ता के मूलतम सिद्धान्त कितनी स्पष्टता के साथ प्रस्फुटित हुए है 'रागद्वेषासूयेर्ष्यामायालोभादिभि दोषै प्रयुक्त शरीरेण हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचति। वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि। मनसा परद्रोह परद्रव्याभीप्सा नास्तिक्यञ्चेति। सेय पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा। शरीरेण दान परित्राण परिचरण च। वाचा सत्य हित प्रिय स्वाध्यायञ्चेति। मनसा दयामस्पृहा श्रद्धाञ्चेति। सेय धर्माय[1] ॥' जिन दो बुद्ध-प्रवचनो की ओर ऊपर सकेत किया गया है उनका नैयायिक सस्करण (यदि ऐसा हम कह सकें) विलकुल उपर्युक्त न्यायभाष्यकार के शब्दो में रक्खा है और हम कह सकते है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इस सम्बन्ध में दोनो में भेद नही है। उनके तर्कों सम्बन्धी विभिन्नताओ को जब हम प्रख्यापित करते है तो इस एकता की सुदृढ और मौलिक चट्टान पर खडे होकर ही हमें ऐसा करना चाहिए। अन्यथा हमारे पथ-भ्रष्ट हो जाने का भय है, जैसा कि न होना चाहिए। सत् को सत् और असत् को असत् करके दिखाना न्याय-दर्शन का तात्पर्य है।[2] उसी को विभज्य व्याकरण करके 'विभज्यवादी' बुद्ध ने दिखाया है, अत हमें भी विवेकशील होकर उनके मूल मन्तव्यो को जानने का प्रयत्न करना चाहिए, तर्क के काटो पर तो नही गिरना चाहिए। अनात्मा में, अनात्म पदार्थों में, आत्मग्रह करना, मै हू, ऐसी बुद्धि करना, न्याय-दर्शन के अनुसार भी मोह है, अहकार है, मिथ्याज्ञान है।[3] इसकी निवृत्ति से ही वह वास्तविक तत्वज्ञान से नि श्रेयस की आशा रखता है और यदि

कि तो फिर इन्हें छोड देना चाहिये। महाप्रजापती गोतमी से भगवान् ने कहा था कि जो भी धर्म असंग्रह, विराग और शान्ति, के लिये हैं वे शास्ता के शासन है और आचरणीय है और उनके विपरीत अनाचरणीय।

(१) न्यायभाष्य १।१।२

(२) किं पुनस्तत्त्वम्। सतश्च सद्भावोऽसतश्च असद्भाव.। न्यायभाष्य उपोद्घात। 'विभज्यवादी' बुद्ध के लिए देखिए चतुर्थ प्रकरण।

(३) किं पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम्—अनात्मन्यात्मग्रह : अहमस्मीति मोह'—अहङ्कारश्च। न्याय भाष्य ४।२।१; मिलाइए इसे बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अनात्मवाद' से जिसका विवरण चतुर्थ प्रकरण में दिया जा चुका है।

इसी 'मैं हू' की बुद्धि के अनात्मा मे, अनात्म पदार्थों में, करने से, आत्म-उपादान करने से, आत्माभिनिवेश करने से यदि बुद्ध ने दुःख का उद्भव बताया है, उसे अविद्या कह कर पुकारा है और उसके ही निरोध से दुःख के आत्यन्तिक निरोध की सम्भावना दिखाई है, तो फिर बुद्ध-शासन और मौलिक न्याय की साधनाओ में क्या विभेद है? मनुष्य जिन वस्तुओ से बधता है और जिनसे मुक्त होता है, उनके विषय में विभेद कहा है?

ऊ—बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग

उपोद्‌घात

बौद्ध और साख्य दर्शनो के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या भारतीय दर्शन का एक अत्यन्त मनोज्ञ और महत्वपूर्ण विषय है। कपिल के समान सृष्टि के तत्वो का विवेचक और विचारक यदि इस जगत् ने नही देखा, तो शाक्यमुनि के समान जीवन का शास्ता और मानव की समस्याओ का निदानज्ञ 'उत्तम भिषक्' भी इस ससार में आविर्भूत नही हुआ। साख्य और योग अथवा साख्य-योग दर्शन बौद्ध दर्शन से अनेक बातो मे समानता रखते है, जिन पर साख्य-योग दर्शन पर कुछ परिचयात्मक कहने के बाद हम अभी प्रकाश डालेगे।

सांख्य-योग दर्शन पर तात्विक दृष्टि से संक्षिप्त विचार

साख्य और योग दर्शन दो भिन्न-भिन्न दर्शन नही, बल्कि एक ही दर्शन है। 'साख्ययोगी पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिता'। एक साख्य च योग च य पश्यति स पश्यति'। यह गीताकार की एक अन्य अर्थ मे कही हुई वाणी इन दोनो व्यवस्थित दर्शन प्रणालियो के विषय मे बिलकुल ठीक है। जैसा कि भगवान् पञ्चशिख ने अपने सूत्र मे कहा है, 'दर्शन एक ही है, ख्याति ही दर्शन है'[1], इस सूत्र के प्रकाश में हम समग्र भारतीय दर्शन परम्परा को ही व्याख्यात कर सकते है, किन्तु साख्य और योग इन दो दर्शनो के लिए तो यह प्रकृति-पुरुष-विवेक रूपी ख्याति निश्चय ही प्राणस्वरूप है। प्रकृति और पुरुष की अन्यता का ज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त साख्य ने समग्र मानसिक और भौतिक जगत् का अध्ययन कर प्रतिपादित किया है। यह प्रकृति-पुरुष विषयक विवेक प्राप्त कैसे हो, जिस पर निःश्रेयस

(१) 'तथा च सूत्रम्। एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्' योगसूत्र-व्यासभाष्य १।४ में उद्धृत।

आश्रित है, इसी का मार्ग बताना योग का काम है। योग अपनी दार्शनिक परिस्थिति के लिए साख्य पर आश्रित है और साख्य अपने समग्र ज्ञान का उद्भाव करके भी उससे मुक्ति रूपी फल को प्राप्त करने के लिए एक साधना विशेष की अपेक्षा रखता है, जो अपने समग्र रूप में योग-दर्शन में निहित है, यद्यपि उसका कुछ प्रारम्भिक रूप स्वय साख्य सूत्रो में भी प्रतिबिम्बित हो गया है। अत दोनो दर्शन एक दूसरे के पूरक है। एक यदि विशुद्ध ज्ञान पक्ष को लेकर सत्य की गवेषणा में प्रवृत्त होता है, तो दूसरा उसकी खोज से लाभ उठाकर उसका एक व्यावहारिक स्वरूप उस ज्ञान को साक्षात्कार करने के लिए मार्ग के रूप में रख देता है। फिर एक बात और है। साख्य दर्शन ने, कम-से-कम उसके 'मौलिक्य' स्वरूप ने, प्रकृति और पुरुष से ही सब काम निकाल कर ईश्वर के सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता नही समझी है, किन्तु बाद में चल कर साख्य दर्शन ने अपनी साधना में 'ईश्वरप्रणिधान' को एक महत्वपूर्ण स्थान देकर इस कमी को पूरा कर दिया। इसलिए इस दर्शन को 'सेश्वर साख्य' की सज्ञा मिली। यही योगदर्शन है। यह तथ्य इन दोनो के एक ही दर्शन होने की अथवा आपस में अत्यन्त व्यापक भाव से मिले रहने की सूचना देता है।

जैसा कि हमने अभी कहा, बौद्ध दर्शन और साख्य दर्शन के पारस्परिक तात्त्विक सम्बन्ध का प्रश्न भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सांख्य और बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्ध की समस्या

साख्य दर्शन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवत उपनिषदो की यथार्थवादी प्रवृत्तियो को लेकर उसका जन्म हुआ, अत अपने मूल रूप में वह निश्चय ही प्राग्बौद्धकालीन है। बौद्ध जातक कहानिया कपिल के नाम का निर्देश करती है। बुद्ध की जन्मभूमि 'कपिल-वस्तु' कपिल ऋषि के आश्रम-स्थान पर ही बसाई गई थी (सौन्दरनन्द १।५७)। स्वय 'किंकुसलगवेसी' शाक्यकुमार प्रथम बार जिन आचार्य के पास साधना के लिए गए थे, वे साख्य दर्शन के समान ही उपदेश करते थे। 'बुद्धचरित' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध के पूर्व गुरु 'अराड' (पालि आलार कालाम) साख्यवादी ही थे,[1] यद्यपि कुछ ईश्वरवादी

---

(१) जिनके सिद्धान्तों का कुछ वर्णन देखिए 'श्रूयतामयमस्माक सिद्धान्तः शृण्वता वर। यथा भवति ससारो यथा चैव निवर्तते ॥ प्रकृतिश्च

के रूप में। कपिल-सम्प्रदाय के शारद्वतीपुत्र (सारिपुत्र—उपतिष्य) नामक सन्यासी का वर्णन अश्वघोष ने बुद्धचरित (१७।४) में किया है। यही बाद में चलकर बुद्ध के अग्रणी शिष्य हुए। चौथे प्रकरण में 'प्राग्बौद्धकालीन दर्शन-व्यवस्था' के प्रसंग में ६२ मिथ्या दृष्टियो का विश्लेषण उपस्थित करते हुए हम उसमें एक विचार-प्रणाली का 'शाश्वतवाद' के रूप में वर्णन कर चुके है जिसके लिये आनञ्जसप्पाय सुत्त (मज्झिम निकाय) भी द्रष्टव्य है। यह सिद्धात साख्य के अनुकूल है और बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित था।

विकारश्च जन्म मृत्युर्जरैव च। तत्तावत्सत्वमित्युक्तं स्थिरसत्व परेहि तत् ॥ तत्र तु प्रकृति नाम विद्धि प्रकृतिकोविद। पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥ विकार इति बुद्धचस्व विषयानिन्द्रियाणि च। पाणिपाद च वाचं च पायूपस्थं तथा मन ॥ अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात् क्षेत्रज्ञ इति सज्ञि च। क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तका ॥ सशिष्य. कपिलश्चेह प्रतिबुद्धिरिति स्मृत......, जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यत्। तद् व्यक्तमिति विज्ञेयनव्यक्तं तु विपर्ययात् .....अज्ञान कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतव......अविशेषं विशेषज्ञ प्रतिबुद्धाप्रतिबुद्धयो.। प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृत ॥ नमस्कारवषट्कारौ..... अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायज्ञ प्रवेदित..... अनयाविद्यया बाल संयुक्त. पञ्चपर्वया। संसारे दु खभूयिष्ठे जन्मस्व-भिनिषिच्यते ...इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् जन्मस्रोत प्रवर्तते....' इस प्रकार अश्वघोष-रचित 'बुद्धचरित' के अनुसार शाक्यकुमार को अराड ने उपदेश दिया था। इस विषय में बुद्धचरित का बारहवां सर्ग 'अराडदर्शनो नाम' अत्यन्त पठनीय है (जोह्नस्टन का संस्करण, पृष्ठ १२८-१४४)। हम जानते है कि अराड (पालि आलार कालाम) की शिक्षाओ ने बुद्ध को सन्तुष्ट नहीं किया था, यद्यपि वे आदर उनका अन्त तक करते रहे। श्रीमती रायज डेविड्स लिखती है—"He is by some, today, in accordance with certain records, reckoned to have been of the Sankhyan School He knew of its teachings but he did not teach them He was a devotee of the very opposite practice to the clear systematic thinking taught in that school—the practice of rapt musing called in the books ध्यान"—गोतम दि मैन, पृष्ठ २५

किन्तु एक बात यह है कि साख्य दर्शन का जो व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध है, वह बुद्ध के काल से काफी पीछे का है। न्याय, वैशेषिक और मीमासा की तरह साख्य ने भी बौद्ध विज्ञानवाद का खूब खण्डन किया है। साख्य दर्शन की भारत में एक बडी लम्बी ऐतिहासिक परम्परा है। साख्य के आदि वक्ता पुरातन कपिल महर्षि[1] तो निश्चित इतिहास के विषय है ही नही, उनकी दर्शन प्रणाली का भी स्वरूप बहुत शताब्दियो तक प्राय अस्पष्ट ही रहा। उपनिषदो में प्राय हम साख्य के समग्र रूप के दर्शन करते है, किन्तु वहा वह एक व्यवस्थित विचार प्रणाली नही है। साख्य के प्रथम बीज तो हम ऋग्वेद में ही पाते है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद् तो साख्य के प्रायः सभी मूलभूत सिद्धान्तो का अत्यन्त विशद रूप से वर्णन करती ही है[3], बृहदारण्यक आदि प्राचीनतम उपनिषदो में भी साख्यमतानुकूल पुनर्जन्मवाद, दु खवाद और 'पुरुप' के विचार मिलते है[4]। कठोपनिषद् भी अव्यक्त से 'महान् आत्मा' आदि का उद्गम दिखाकर साख्य विकासवाद के मार्ग को प्रशस्त करती है[5] और प्रश्नोपनिपद् में भी साख्योक्त मनोविज्ञान के बीज वर्तमान है[6]। अत 'उपनिपत्प्रभवत्व' साख्य का निर्विवाद है, किन्तु यहभी निश्चित है कि इसकी मौलिक मान्यता स्वरूप प्रकृति और पुरुष के द्वैत का एव 'पुरुपबहुत्व' का औपनिपद ज्ञान के साथ, जो अधिकाश में ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान पर प्रतिष्ठित है, कुछ सम्बन्ध नही। जैसा कि हम पहले कह चुके है, उपनिपदो की यथार्थवादी प्रवृत्तियो को लेकर ही साख्यदर्शन का उदय हुआ। बुद्ध के समय में तो हम देख

---

(१) साख्यस्य वक्ता कपिल परमर्षि पुरातन । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन । महाभारत ।

(२) देखिए ऋ० १०।८२।५-६

(३) देखिए १।४।, ४।५; १।१०; ४।१०; ३।१२; ४।१, ६।१३ आदि

(४) बृहदारण्यक० २।४।१४; ३।४।२, ४।३।१५; मुण्डक० ३।१।१

(५) ३।१०-११, ६।७-११, मिलाइये छान्दोग्य० ६।९।६; ६।१५।२

(६) प्रश्न० ४, डायसन ने इस विषय को अपनी 'फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स' में 'ऑरीजिन ऑफ दि इवोल्यूशनरी सीरीज' (विकास की श्रेणियो का उद्गम) शीर्षक से विवेचन करते हुये बडे विद्वत्तामय ढग से दिखाया है, जो अनुसधित्सु पाठको के द्वारा वहा द्रष्टव्य है।

ही चुके है कि साख्यदर्शन की परम्परा वर्तमान थी और वुद्ध उससे अवश्य बहुत कुछ प्रभावित हुए होगे। पालि सुत्तो और बाद मे मिलिन्द प्रश्न में साख्ययोग (मख्यायोगो) का वर्णन मिलता है। किन्तु आज तक कोई गम्भीर विद्वान् वरनफ के उस कथन से सहमत नही हो सका है जिसके अनुसार बौद्ध दर्शन केवल साख्य सिद्धान्तो का ही प्रवर्त्तन मात्र है और न वैवर महोदय की आज उस हास्यास्पद कल्पना से ही सहमत होना शक्य है, जिसके अनुसार कपिल और वुद्ध एक ही व्यक्ति है[1]। महाभारत, गीता और अनुगीता में साख्य सिद्धान्तो को प्राय एक ईश्वरवादी स्वरूप दे दिया गया है और 'पुरुषवहुत्व' का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया गया है एक 'पुरुषोत्तम' के रूप में। वर्तमान 'साख्य प्रवचन सूत्र' अत्यन्त प्राचीन नही है। सम्भवत वह चौदहवी शताब्दी की रचना है[2] और इसी प्रकार न अत्यन्त प्राचीन है 'तत्वसमास' ही। ईश्वरकृष्ण-रचित 'साख्य कारिका', जो सम्भवत तीसरी शताब्दी ईस्वी की रचना है, साख्य दर्शन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ मानी जाती है। अन्य प्राचीन साहित्य कालविप्लुत हो गया है। यहा 'साख्यप्रवचन सूत्र' और 'साख्यकारिका' को ही आधार मानकर विवेचन करेंगे।

साख्य दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो का निरूपण करते हुए बौद्ध दर्शन के साथ उनकी तुलना करते चलें। प्रथम तो यही बात द्रष्टव्य है कि साख्य दर्शन जिस लक्ष्य को लेकर चलता है, वही बिलकुल बौद्ध दर्शन का भी है। साख्य विचारक कहते है कि यहा दु खत्रय का अभिघात है, अत उसके निरोध के लिए जिज्ञासा करनी चाहिए।[3] मूल समस्या का इस प्रकार सामने से होकर पकड लेना तथागत या फिर इसी साख्य दर्शन रूप 'पवित्र, अग्र्य और गुह्य पुरुषार्थज्ञान' का प्रवचन करने वाले किसी प्राचीन 'परमर्षि' का ही काम था।[4] 'यदि दु ख जगत् में न होता, तो शास्त्र-विषय ही

(१) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४७२

(२) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी , जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५१

(३) दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। साख्यकारिका १, मिलाइये अथ त्रिविधदु खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ.। साख्यसूत्र १।१; अत्यन्त दु ख निवृत्या कृतकृत्यता। साख्य प्रवचन सूत्र ६।५

(४) मिलाइये 'एतत् पवित्रमग्र्य' . साख्यकारिका ७०;.. पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा प्रोक्तम्। सांख्यकारिका ६९

न होता ।[1] यह उक्ति वैसे तो सभी भारतीय दर्शनो के लिए ठीक है, विशेष प्रयोजनवती तो यह साख्य दर्शन और जिसने चार आर्य सत्यो का उपदेश दिया, उसी के दर्शन के लिए है। फिर यह दुख का निरोध आत्यन्तिक ही होना चाहिए। यदि किन्ही प्रकार के दुखो की निवृत्ति होकर किन्ही अन्य की नही हुई अथवा जो दुख एक बार निवृत्त हो गए, उनकी फिर उत्पत्ति हो गई, तव तो दर्शन का प्रयोजन ही सिद्ध नही हो सकेगा। अत दुख की निवृत्ति ऐकान्तिक और आत्यन्तिक होनी चाहिए। साख्यकार का विचार है कि इस प्रकार की दुख की निवृत्ति 'दृष्ट' पदार्थों के द्वारा सम्भव नही है।[2] इनसे तो दुखो का ताता लगा ही रहेगा। यदि एक वार इनसे दुख हट भी जाएँगे तो फिर उनकी अनुवृत्ति होना आवश्यक है।[3] दुख का सम्यक् निरोध तो तभी हो सकता है जव अविद्या के वीज दग्ध कर दिए जाय जिससे कि उनमें से दुःख के कुलहे फिर उपज ही न सकें।[4] साख्याचार्यों का एक क्रान्तिकारी उद्घोष यह भी है कि 'दृष्ट' से तो दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नही सकती, वह 'आनुश्रविक से भी होनी असम्भव है[5]। वैदिक कर्मकाण्ड हमें नही वचा सकता। वह तो स्वय 'अविशुद्धि' 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त है।[6] उस वैदिक कर्मकाण्ड का विपरीत मार्ग ही 'श्रेयान्' है[7]। कौन विपरीत

---

(१) 'एव हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत यदि दुखं नाम जगति न स्यात्'। कारिका १ पर तत्वकौमुदी ।

(२) दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् । साख्यकारिका १

(३) न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति दर्शनात् । साख्यसूत्र १।२

(४) साख्य दर्शन के अनुसार दुख एक 'गुण' है, जिसका विनाश नहीं किया जा सकता। हा, इस ढग से उसका आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निरोध किया जा सकता है।

(५) दृष्टवदानुश्रविक । साख्यकारिका २

(६) स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त ।

(७) तद्विपरीत श्रेयान् । साख्यकारिका २; मिलाइये विवेकान्निशेष दुःख-निवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् । साख्य प्रवचन सूत्र ३।८४

मार्ग ? वही जो 'व्यक्त' (महाभूत) 'अव्यक्त' (प्रधान, प्रकृति) और 'ज्ञ' ('पुरुष') के ज्ञान से निष्पन्न होता है। वैदिक कर्मकाण्ड का यह निश्चय ही अत्यन्त तीव्र प्रतिवाद है। इतनी दूर तो सम्भवत वुद्ध भी नही गए। 'श्रेयान्' शब्द को लेकर आचार्य मैक्समुलर ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यहा वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा में ही प्रकृति-पुरुप-विपयक विज्ञान की श्रेष्ठता दिखाई गई है, अत 'तद्विपरीत श्रेयान्' कहने का तात्पर्य यह है कि उसके विपरीत जो है वह अधिक अच्छा है और वैसे वैदिक कर्मकाण्ड भी अच्छा है[1]। यदि साख्याचार्य को इतना समन्वय ही अपेक्षित होता तो वेह वैदिक कर्मकाण्ड को 'अविशुद्धि', 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त कभी नही वतलाते। फिर भी साख्य दर्शन की सत्य के ज्ञापक के रूप में वेद में श्रद्धा है । यहा साख्यकार की एक विरुद्ध स्थिति अवश्य दिखाई पडती है, किन्तु निश्चय ही इस विपय मे एक समन्वयात्मक दृष्टि-कोण लिया जा सकता है। साख्य को तीन प्रमाण अभिप्रेत है, यथा दृष्ट, अनुमान और आप्तवचन, क्योकि उसके विचार मे अन्य दर्शनो मे प्रतिपादित और सभी प्रमाणो का अन्तर्भाव इन तीनो मे प्राय हो जाता है[2]। प्रमेय की सिद्धि विना प्रमाण के नही होती। इस प्रकार कौन-कौन से प्रमाण उपर्युक्त तीन प्रमाणो में ही अन्तर्भावित जाते है, इसको साख्यमूत्र और साख्यकारिका के विभिन्न व्याख्याकारो ने विभिन्न-विभिन्न प्रकार से दिखाया है। श्री विष्णु वेंकटेश सोवनी महोदय की तैयार की हुई यह तालिका[3] यहा उपयोगी सिद्ध होगी —

---

(१) देखिए सोवनी : 'ए क्रिटीकल स्टडी ऑफ दि सारय सिस्टम' पृष्ठ १५

(२) दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविध प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि ।। साख्यकारिका ४

(३) ए क्रिटीकल स्टडी ऑव दि सांख्य सिस्टम, पृष्ठ १७; जैसा कि इस तालिका से ज्ञात होगा, कभी-कभी एक ही व्याख्याकार ने अनेक प्रकार से एक प्रमाण को व्याख्यात किया है और अनेक प्रकारो से ही कभी कभी अन्य प्रमाणो का किसी एक में अन्तर्भाव किया है।

प्रमाण जो अन्तर्भावित होते है	दृष्ट या प्रत्यक्ष में	अनुमान में	शब्द या आप्त वचन में	जिनके अनुसार य प्रमाण नही है
उपमान	वाचस्पति	वाचस्पति माठर जयमगला विज्ञान भिक्षु	गौडपाद वाचस्पति जयमगला	
अर्थापत्ति		गौडपाद वाचस्पति जयमगला		
अभाव	वाचस्पति विज्ञानभिक्षु जयमगला	माठर	गौडपाद	चन्द्रिका
सम्भव		वाचस्पति माठर जयमगला	गौडपाद चन्द्रिका	वाचस्पति
ऐतिह्य		माठर	गौडपाद चन्द्रिका विज्ञानभिक्षु	
प्रतिभा	जयमगला	जयमगला चन्द्रिका	जयमगला गौडपाद	जयमगला

इस तालिका से बौद्ध आचार्यो और नैयायिको के द्वारा प्रमाण मीमासा के क्षेत्र मे किए गए महान् विचार की तुलना पर हम दोनो की परिस्थिति को समझ सकते है। हा, अभी साख्य परिभाषाओ की कुछ निरुक्ति करना और आवश्यक होगा। साख्य दर्शन के अनुसार 'प्रतिविषयाध्यवसाय' ही दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण[1] है। बुद्धि के अन्धकार के अभिभूत हो जाने पर जो सत्व-समुद्रेक होता है, वह साख्य दर्शन मे 'अध्यवसाय' कहा जाता है, यही 'वृत्ति, और 'ज्ञान' भी कहलाता है। यही प्रमाण है[2]। यहा साख्य दर्शन के अनुसार ही यह कहा जा सकता है कि बुद्धितत्व

(१) प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट। कारिका ५

(२) बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति य सत्वसमुद्रेक सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते। इद तावत्प्रमाणम्। सांख्यकारिका ५ पर तत्व कौमुदी।

तो प्राकृत है, अत. अचेतन है, तो फिर उसका अध्यवसाय भी क्या घटआदि की तरह अचेतन ही नही होगा ? क्या बुद्धितत्व के सुखादि परिणाम भी अचेतन नही होंगे ? किन्तु ऐसा नही है। 'पुरुष' यद्यपि सुखादि में अनुषग नही रखने वाला है, किन्तु वह चेतन है। वह 'पुरुष' ही बुद्धितत्ववर्ती सुखादि से और उसमें प्रतिबिम्बित होकर उसकी छाया से स्वय ही ज्ञान-सुख-आदि-वाला-सा हो जाता है। इसलिए चेतन महत्व तत्व की छायापत्ति से अचेतन बुद्धि भी और उसका अचेतन अध्यवसाय भी चेतन के समान हो जाता है[1]। साख्य के इस तर्क को हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए। क्योकि इसी पर उसके विकासवाद का समस्त सिद्धान्त और इसी पर उसका मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्त दोनो आश्रित है। अनुमान की व्याख्या इस दर्शन ने तीन विभागो मे की है, जो कि बिलकुल वैसे ही है जैसे न्याय के, यथा 'पूर्ववत्' 'शेषवत्' और 'सामान्यतो दृष्ट'। साख्य दर्शन ने इन तीन प्रमाणो का नाम से निर्देश नही किया है (साख्य कारिका में), अत व्याख्याकारो ने अपनी अपनी अलग व्याख्याए की है। 'आप्तश्रुति' को साख्य दर्शन में 'आप्तवचन' (या शब्द) कहा गया है[2]।

सांख्य विचारको क कहना है कि सामान्यतः तो दृष्ट या प्रत्यक्ष प्रमाण से स्थूल पदार्थों का ज्ञान हो जाता है और जो अतीन्द्रिय पदार्थ है उनकी सिद्धि हम अनुमान से कर सकते है, किन्तु जो परोक्ष वस्तु इन दोनों से भी सिद्ध नही होती, किन्तु जो होती है, वह फिर 'आप्त वचन' या आप्ता-

---

(१) मिलाइये, बुद्धितत्वं हि प्राकृतत्वादचेतनम्, इति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनो, घटादिवत्। एवं बुद्धितत्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः। पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्ववर्तिना ज्ञान-सुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्याऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद्भवतीति। सांख्य कारिका ५ पर तत्वकौमुदी। मिलाइये, तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। सांख्य कारिका २०

(२) ......त्रिविधमनुमानमाख्यात तल्लिगंलिगिपूर्वकम्। आप्तश्रुतिराप्त वचनं च। कारिका ५; 'तल्लिगंलिगिपूर्वकम्' पर व्याख्याकारो में बड़ा विभेद है।

गम' से ही सिद्ध होती है।[1] इन्ही अपने प्रमाणो के आधार पर साख्य विचारको ने समग्र बाह्य और आन्तरिक जगत् का सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण कर अपना तत्वज्ञान स्थापित किया है, जिसके अनुसार समस्त चराचर जगत् के अन्तिम तत्वो का चतुर्विध विभागीकरण किया गया है, (१) जो अर्थ केवल प्रकृति है, (२) जो केवल विकृति है, (३) जो प्रकृति और विकृति दोनो है, (४) जो न प्रकृति है, न विकृति ।[2] प्रकृति का अर्थ है करने वाला (प्रकरोनीति प्रकृति)। इसी को साख्य दर्शन में 'प्रधान' कहा गया है। प्रकृति अर्थ का क्या है? मूल प्रकृति। मूल प्रकृति ही ऐसा अर्थ या तत्व है, जो करने वाला है। सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति अथवा 'प्रधान' है। यह 'प्रधान' केवल करने वाला या 'प्रकृति' है और स्वय 'अविकृति' है अर्थात् किसी अन्य का विकार नही है। विश्व के समग्र कार्य-सघात का यह मूल है, अत इसे 'मूल प्रकृति' कहा जाता है, इसका फिर दूसरा कोई मूल नही है,[3] इस प्रकार 'मूल प्रकृति, ही वह पहला तत्व है जो केवल 'प्रकृति' (अर्थात् करने वाला, स्वय किसी का कार्य या विकार नही) है और स्वय किसी का विकार नही (अविकृति)। केवल विकृति क्या है? सोलह की सख्या में परिमित जो चीजें है, वही केवल विकृति है, यथा पञ्च महाभूत और ग्यारह इन्द्रिया। इनको केवल 'विकृति' इसलिए कहा गया है कि ये स्वय तो विकार है, किन्तु किसी अन्य को करने वाले (अर्थात् प्रकृति) ये नही है।[4] यहा पञ्च

---

(१) सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणा प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्ध परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् । साख्य कारिका ६

(२) कश्चिदर्थ प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृति-विकृति, कश्चिदनुभयरूप । साख्यकारिका ३ पर तत्वकौमुदी ।

(३) मूलप्रकृतिरविकृति । साख्यकारिका ३; प्रकरोतीति प्रकृति प्रधानम्, सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था, सा अविकृति प्रकृतिरेवेत्यर्थ । मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृति । विश्वस्य कार्यसघातस्य सा मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति । उपर्युक्त पर तत्वकौमुदी ।

(४) षोडकस्तु विकारो । कारिका ३, षोडशसख्या परिमितो गण षोडशक .. .. पञ्चमहाभूतानि एकादश इन्द्रियाणीति षोडशको गणो विकार एव न प्रकृतिरिति । उपर्युक्त पर तत्वकौमुदी ।

महाभूतो और ग्यारह इन्द्रियो को जो केवल विकार और स्वय किसी को न करने वाले कहा गया है, तो उसका तात्पर्य केवल यही है कि ये अन्य तत्वो को फिर उत्पन्न नही करते। 'तत्वान्तरोपादानत्व च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्'। अत पृथ्वी आदि तत्व गौ और वृक्षो आदि को तो उत्पन्न करते हैं और फिर वे गौ और वृक्ष स्वय दूध और बीजो को उत्पन्न करते हैं, किन्तु इससे पृथ्वी आदि के 'अ-प्रकृति' (अर्थात् स्वय न करने वाले, कारण न बनने वाले) के रूप में कोई बाधा उपस्थित नही होती, क्योकि गौ और वृक्ष आदि या दूध और बीज आदि पृथ्वी आदि तत्वो से भिन्न तत्व नही हैं। अत पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रिया स्वय तो विकार अथवा 'विकृति' है, किन्तु फिर वे किन्ही अन्य तत्वो को करने वाले के रूप मे 'प्रकृति' नही है। ऐसे तत्व कौन से है जो दोनो 'प्रकृति' और 'विकृति' है ? ये है सात महदादि वर्ग। ये अन्य तत्वो को करने वाले तो है ही साथ में स्वय अन्य तत्वो के आप भी विकार हैं, इसलिए इन्हें कहा जाता है 'प्रकृति और विकृति ।' जैसे इनमें से एक महत्तत्व को लीजिए। यह अहकार का 'प्रकृति' है अर्थात् अहकार नामक एक स्वतन्त्र तत्व को उत्पन्न करने वाला है, और स्वय यह मूल प्रकृति का 'विकृति' या विकार भी है, क्योकि मूल प्रकृति ने ही इसे किया है। ऐसा कौन तत्व है जो न 'प्रकृति' है और न 'विकृति'। अर्थात् जो न तो किसी अन्य तत्व को उत्पन्न करता है और न जो स्वय किसी अन्य तत्व का विकार ही है ? ऐसा तत्व है 'पुरुष'। इस प्रकार इन चार विभागो में तत्वो का निदर्शन साख्य दर्शन करता है।[1] ये तत्व कुल सख्या में मिलकर २५ हैं, यथा १ मूल प्रकृति जो 'अविकृति' है + ७ महदादि जो 'प्रकृति-विकृति' है + १६ जिनमें पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रिया सम्मिलित है और जो केवल 'विकृति' वा विकार है + १ पुरुष जो 'न प्रकृति है न विकृति'। इस प्रकार ये पच्चीस तत्व है। इन्ही पच्चीस तत्वो को लेकर साख्य ने सृष्टि-क्रम का विकास दिखाया है। पहले उसने 'प्रधान' या प्रकृति के अस्तित्व में कारण दिखाये है और इसके लिए सत्कार्यवाद को भी प्रस्थापित किया है[2]। फिर 'प्रधान' कैसा है, इसका लक्षण किया है, 'व्यक्त' और

(१) मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या· प्रकृतिविकृतय· सप्त । षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति· पुरुष· । कारिका ३

(२) कारिकाएँ ८-१०

'अव्यक्त' का क्रमश वैधर्म्य और साधर्म्य दिखाते हुए फिर तीन गुणों अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् का स्वरूप-निर्देश किया है[१]। तदनन्तर 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' ऐसा कहकर अनेक कारणो से यह दर्शन प्रधानकारणवाद की स्थापना करता है[२] जो उसका एक अत्यन्त मौलिक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और जिसका निराकरण करने के लिए भगवान् शकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में निश्चय ही वडा कष्ट उठाया है। 'पुरुषोऽस्ति' इस प्रकार 'पुरुष' के अस्तित्व मे भी अनेक प्रमाण देकर साख्य अनेक प्रमाणो के आधार पर 'पुरुष वहुत्व' को भी प्रख्यापित करता है और दिखाने का प्रयत्न करता है उसके 'साक्षित्व', 'कैवल्य', 'माध्यस्थ्य' 'द्रष्टत्व' और 'अकर्तृ भाव' को भी[३]। फिर 'प्रकृति' और 'पुरुष' का साख्य दर्शन अपूर्व सयोग करता है, जो दार्शनिको के दिमाग को उलझन और परेशानी में डालने वाली एक चीज है।[४] चेतन को तो साख्य ने अकर्ता वना दिया और कर्ता को वना दिया अ-चैतन्य और फिर दोनो का अन्धे और पगु के समान सयोग कराके न केवल दिखा दी पुरुष के द्वारा प्रकृति को देखने एव इस प्रकार अपनी कैवल्य स्थिति सम्पादन करने की सम्भावना ही, किन्तु समस्त सर्ग-क्रम का व्यवस्थित उपक्रम भी। यह सर्ग-क्रम साख्य-कारिका में वाईसवी कारिका से लेकर चौवनवी कारिका तक वडे विशद रूप से वर्णित है जिसमे पूर्वोक्त तत्वो के लक्षण, उत्पत्ति-क्रम आदि स्पष्ट रूप से व्याख्यात किए गए है। यह सर्ग-क्रम और इसका विस्तृत वर्णन साख्य दर्शन में तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किन्तु हमे तो वौद्ध दृष्टिकोण से ही सव वातो को महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण यहाँ समझना है और चूकि वौद्ध दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति

---

(१) कारिकाएँ १०-१४

(२) कारिकाएँ १५-१६

(३) कारिकाएँ १७-१९

(४) मिलाइये, 'न हि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्य सम्भवति। न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्। ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य २।२।६, तथा प्रधानस्याचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयो. सम्बन्धयितुरभावात् सम्बन्धानुपपत्ति। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य २।२।७

के विषय को लेकर अधिकाश में प्रवृत्त नही होता, इसलिए साख्य के विकासवाद के सिद्धान्त को हम यहा पूर्णरूप से निरूपित करना आवश्यक नही समझते, केवल यह तालिका[1] देकर ही सन्तोष करते है·

१-पुरुष

२-प्रकृति (अव्यक्त)

३-बुद्धि या 'महान्'	१०-मन
	११-१५ पञ्च बुद्धीन्द्रिया ('चक्षु· श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि)
४-अहकार	१६-२० पञ्च कर्मेन्द्रिया ('वाक्पाणि-पादपायूपस्थान्')
५-९ पञ्चतन्मात्रायें (शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)	२१-२५ पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश)

अभी आगे न चल कर जितनी भूमि हम चल आए है उसी के सबध को बौद्ध दर्शन की दृष्टि को कुछ निरूपित करें। सबसे पहले इस विकास की श्रेणी में हम देखते है कि 'प्रधान' रूप 'मूल प्रकृति' है जिसका फिर और कोई मूल नही। इस दृष्टिकोण से देखने पर निश्चय ही यह प्रलोभन हो सकता है कि यह 'मूलप्रकृति' कही उस बौद्ध 'अविद्या' से तो सबध या समानता नही रखती जो 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सबसे पहले प्रत्यय के रूप में स्मरण की जाती है और जिसके आगे प्राणियो के पूर्वकोटि का पता (स्वय तथागत के शब्दो में ही) नही चलता। हम पहले कह चुके है कि 'प्रतीत्य समुत्पाद' का उपदेश तथागत के द्वारा कारणवाद की समस्या को हल करने के लिए नही दिया गया था[2], अत· उस रूप में उसकी समानता भी किसी अन्य सिद्धात से नही की जा सकती। बौद्ध 'अविद्या' को हमें साख्याचार्यो के

---

(१) यह तालिका सांख्य-योग सिद्धान्तों के अनुकूल है; वैसे 'सांख्यकारिका' के अनुसार सर्ग-क्रम इस प्रकार चलता है—पुरुष+प्रकृति—उससे महान्[1]-महान् से अहंकार—अहंकार से सोलह का वर्ग (ग्यारह इन्द्रिय और पञ्च तन्मात्राएँ)—पाच तन्मात्राओं से पांच महाभूत = २५:
प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणच षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य· पञ्च भूतानि ॥कारिका २२

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का निरूपण।

'प्रधान' से कभी मिलाने के विभ्रम में नही पडना चाहिए, इसके लिए हमें आचार्य बुद्धघोष ने बहुत पहले ही आगाह कर दिया है। अपने 'विसुद्धिमग्ग' ग्रथ में इन 'अट्ठकथाचरिय' ने साख्य योग के प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद का प्रत्याख्यान किया है और प्रकृतिवादियो की 'मूलप्रकृति' से 'अविज्जा' की समानता दिखाने का कडा विरोध किया है।[1] किन्तु जो 'परिणामिनित्यत्व' का भाव साख्य विकासवाद में निहित है, वही नित्य समुत्पन्न और नित्य निरुद्ध होने वाले बौद्ध 'धर्मों' में भी है, और जैसा कि हम अभी आगे देखेगे, दोनो में ही उनके प्रति 'अनात्मभाव' करने में ही कल्याण का मार्ग माना गया है, बौद्ध दर्शन में तो प्रतीत्य समत्पन्न पञ्चस्कन्धो में और साख्य दर्शन में 'परिणामिनित्य' प्रकृति के विकारो में। कर्न ने जो बौद्ध 'अविद्या' की समता साख्य 'प्रधान' से, सस्कारो की समता बुद्धि से, विज्ञान की समता अहकार से, नाम-रूप की समता तन्मात्राओ से, षडायतन की समता इन्द्रियो से, और समग्र 'प्रतीत्य समुत्पाद' की ही समता साख्योक्त 'प्रत्ययसर्ग' से दिखाने का प्रस्ताव किया है[2], उसे हम अधिक ठीक नही समझते। जब तक हम यह न देखें कि साख्य दर्शन में 'बुद्धि', 'अहकार', 'तन्मात्रायें' और 'इन्द्रिया' किन अर्थो में प्रयुक्त की गई है तब तक हम यह नही कह सकते कि क्रमश बौद्ध दर्शन में निरूपित 'सस्कार', 'विज्ञान', 'नामरूप' और 'षडायतनो' से

---

(१) देखिए पीछे स्थविरवादी तत्त्वदर्शन के प्रसग में प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(२) देखिए उनका मैनुअल ऑफ इडियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ४७, पदसकेत ६; जैकोवी ने भी इसी प्रकार समता दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार साख्य के 'गुण' बौद्ध दर्शन के 'धर्म' के अनुरूप है, तथा अन्य समता इस प्रकार है—

अविद्या—साख्य दर्शन की प्रकृति के समान।
सस्कार—महत् के समान।
विज्ञान—बुद्धि " "
नामरूप—अहकार" "
षडायतन—एकेदशेन्द्रियगण + तन्मात्र पञ्चक

स्पर्श—कदाचित् कर्मेन्द्रिय ? देखिए बेल्वेल्कर : ब्रह्मसूत्र—नोट्स, पृष्ठ ७८

उनका क्या सबध है।[1] किन्तु यह तो एक बडा लम्बा विषय होगा। भारतीय दर्शन में मनोविज्ञान की दृष्टि से दो ही दर्शन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, बौद्ध दर्शन और साख्य दर्शन (जिसने प्राय औपनिषद मनोविज्ञान को ही एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है, जिसे अन्य 'आस्तिक' दर्शनो ने भी बिना किसी विवाद के अपने प्रयोजनो के लिए प्रयुक्त किया है)। यहा साख्य दर्शन में निहित मनोविज्ञान की एक अत्यन्त सक्षिप्ततम झलक देने के सिवाय हम और कुछ नही कर सकते। सबसे पहले चक्षुरादि इन्द्रियां स्थूल कारण या साधन है। ये ऐन्द्रिय सस्कारो को केन्द्र की ओर ले जाने के लिए इन्द्रियो को प्रदान करती है। तब मन इन्द्रियो तथा बाह्य साधनो अर्थात् भौतिक नेत्र, श्रोत्र, आदि से सयुक्त होता है। मन उन सस्कारो को और आगे बढाता है एव उन्हे बुद्धि के सामने उपस्थित करता है। बुद्धि उन पर विचार करती है, उनका अवगाहन करती है[2]। तभी अहकार की भावना चमक उठती है जो आत्माभिमान प्रकट करती है। इसके पश्चात् यह सब क्रिया-प्रतिक्रिया पुरुष के सम्मुख उपस्थित होती है[3], जो ज्ञान का वास्तविक अधिष्ठान है। बुद्धि जब ठीक निर्णय कर लेती है, तो उसे कार्यान्वित करने के लिए मन को दे देती है।[4] मन पाच कर्मेन्द्रियो के द्वारा बुद्धि के निश्चयो का पालन करता है। यही सक्षेपत साख्य मनोविज्ञान है। इस उपर्युक्त वर्णन के प्रकाश में हमें यह भी देख लेना चाहिए कि 'अध्यवसाय'[5]

---

(१) फिर इस विषय में एक कठिनाई और यह है कि बौद्ध पारिभाषिक अर्थ भी, 'संस्कार' आदि के सुनिश्चित नहीं। जिन अर्थों में वे 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त किए गए हैं और जो उनका वहां प्रयोजन है, उससे विभिन्न ही व्याख्या और दृष्टिकोण उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन में पाते हैं, अत. सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन की एक कठिनाई बढ़ जाती है और सिवाय दोनों परिस्थितियों के केवल सामने रख देने के और कोई चारा नहीं बचता।

(२) सान्तः करणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्। कारिका ३५

(३) कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति। कारिका ३६

(४) सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धि.। कारिका ३७

(५) सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम्। तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः बुद्धेः असाधारणो व्यापारः तदभेदा बुद्धिः। कारिका २३ पर तत्वकौमुदी।

को ही साख्य में 'वुद्धि' (अध्यवसायो वुद्धि), 'अभिमान'[1] को ही 'अहकार' (अभिमानोऽहकार) और वुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनो के ही सकल्पक इन्द्रिय[2] को 'मन' (उभयात्मकमत्र मन सकल्पकमिन्द्रिय च) कहा है। इस विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वात जो वौद्ध दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय हमें याद रखनी चाहिए वह यह है कि प्रकृति और पुरुष के, द्रष्टा और दृश्य के, जड और चैतन्य के सवध को ठीक तरह से समझाने के लिए ही साख्यकार ने अपने मनोविज्ञान का विवान किया है ताकि प्रकृति और उसके विकारो की प्रतिच्छाया से पुरुष उसमें 'अह' की भावना न करने लगे, ताकि प्रकृति के ही ससरण, वधन और मोक्ष मे वह अपना ससरण, वन्धन और मोक्ष न मानने लगे। इसीलिए परमर्षि ने यह सव 'पुरुषार्थहेतुक', 'निमित्तनैमित्तक' प्रसग कहा है और इसीलिए इन सभी मनोवैज्ञानिक क्रिया-प्रतिक्रियाओ के वीच में होकर उन्हे कहना पडा है 'पुरुपार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्'।[3] हम वुद्ध के द्वारा निरूपित समग्र विज्ञान में 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' के रूप में अथवा 'कुशल', 'अकुशल और 'अव्याकृत' के भागो मे तो वटा देखते है और नदी के स्रोत की तरह (नदिसोतो विय) उनका वहना भी देखते है जिनमे 'अह' वुद्धि कभी न करने का भगवान् वुद्ध ने उपदेश दिया, किन्तु 'पुरुपार्थ एव हेतु' जैसी कोई आवाज

---

(१) यत् खलु आलोचितं मत च तत्र 'अहमधिकृत' 'शक्त खल्वहमत्र' 'मदर्था एवामी विपया' 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृत कश्चिदस्ति' 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमान सोऽसाधारण व्यापारत्वादहकार । तमुपजीव्य हि वुद्धिरध्यवस्यति 'कर्तव्यमेतन्मया' इति निश्चय करोति। साख्य कारिका २४ पर तत्व कौमुदी।

(२) एकादशस्विन्द्रियेपु मध्ये मन उभयात्मकम्, वुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रिय च, चक्षुरादीना वागादीना च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविपयेपु प्रवृत्ते । .. .. आलोचितमिन्द्रियेण 'वस्त्विदम्' इति समुग्धम् 'इदमेवम्, नैवम्' इति सम्यक् कल्पयति विशेपणाविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत् ... तत परं पुनर्वस्तु धर्मजात्यादिभिर्यया वुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता। सोऽय सकल्प लक्षणो व्यापारो मनम. समानासमानजातीयान्व्या व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति। कारिका २७ पर तत्वकौमुदी ।

(३) साख्य कारिका ३१

हम वहा कदाचित् नही सुनते। वहा तो 'एव पञ्चस्कन्वेषु किं लब्ध किं हृतं भवेत्' ऐसी ही साधना की ध्वनि की प्रधानता है। साख्य का दृष्टिकोण अधिक सग्रहात्मक है, किन्तु उसमे व्यावहारिकता कम है और बौद्ध दृष्टिकोण जब कि नैतिक अभिव्याप्ति से अपने मनोविज्ञान को ओत-प्रोत कर देता है तो चित्त चेतसिको के प्रतीत्य समुत्पन्न भाव को ही वह सत्य का अतिम स्वरूप मानने की ओर प्रस्ताव सा करता जान पडता है जैसा कि सम्भवत वास्तव में नही है। साख्य दर्शन के सर्ग-क्रम का निदर्शन करते-करते हम दोनो के मनोवैज्ञानिक चिन्तनो में चले गए, अब हम फिर उसी पर लौटते है क्योकि उससे एक वडी महत्वपूर्ण समस्या चिपटी हुई है। साख्य-मतानुसार सर्ग-क्रम का विशद विवेचन करने के वाद ही 'साख्यकारिका' में यह महत्वपूर्ण कारिका आती है 'इत्येप प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्त । प्रति-पुरुपविमोक्षार्थ स्वार्थ इव परार्थ आरम्भ'[1]। यहा हमें केवल 'इत्येष प्रकृतिकृतो' इतने से ही तात्पर्य है। जव एक वार सर्ग-क्रम निरूपण में साख्याचार्य प्रवृत्त हुए तो निश्चय ही उन्हे इसका तो उत्तर देना ही था कि आखिर यह सव किया किसने है? और इसका उनके पास निर्भीक उत्तर है, 'इत्येप प्रकृतिकृत'। वुद्ध तो सर्ग आदि के प्रश्नो में ही नही पडे, वल्कि उस विपयक जिज्ञासा को ही उन्होने असगत जिज्ञासा कहा और केवल दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति के मार्ग का ही आचरण करने को कहा, किन्तु साख्याचार्य जिन्होने दुख की निवृत्ति के लिए 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान' को ही परम 'श्रेयान्' मार्ग माना, तो फिर वे उसके उत्तर देने में तथागत की तरह उदासीनता कैसे धारण कर सकते थे? इसलिए उन्होने तथागत से भी अधिक निर्भीकता के साथ, किन्तु निश्चय ही उनके मौन से कम गम्भीरता के साथ, उत्तर दिया 'इत्येप प्रकृतिकृत'। तथागत के लिए तो चाहे यह 'प्रकृतिकृत' हो तव भी और चाहे न हो तव भी, चाहे ईश्वरकृत हो या न हो तव भी, चाहे 'ब्रह्मकृत' हो या न हो तव भी, परम आश्वासन है[2], किन्तु साख्य के लिए तो 'इत्येप प्रकृतिकृत.' न होने पर उसकी समग्र व्यवस्था ही टूट जाती है, उसके विचार का विशाल प्रासाद ही गिर पड़ता है। वेदान्त के आचार्यो ने इसी प्रकार उसे गिरा-गिरा कर अपने में एक प्रकार से उसे अन्तर्भावित कर लिया है और हम देख

(१) कारिका ५६

(२) देखिए चौथे प्रकरण में 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध निरीश्वरवादी है?' पर विवेचन।

चुके हैं कि यह प्रवृत्ति सबसे पहले महाभारत में ही शुरू हो गई थी जहा कि साख्य अपने 'मौलिक्य' निरीश्वरवाद के स्वरूप को छोड कर ईश्वरवाद की ओर प्रवण हो गया है। 'मौलिक्य साख्य' दर्शन स्पष्टरूप से निरीश्वरवादी है। वह महदादि भूतो को केवल प्रकृति के द्वारा किया हुआ मानता है। वह उन्हें ईश्वर के द्वारा किया हुआ नही मानता, ब्रह्म को उनका उपादान कारण नही मानता और नही वह यह मानता है कि ये अकारण उत्पन्न हो गए हैं। वह उन्हें केवल प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुआ मानता है।[1] यह तो साख्य निरीश्वरवाद के लिए केवल एक कारिका का साक्ष्य है, एक अन्य खोई हुई कारिका का भी साक्ष्य द्रष्टव्य है, जिसे लोकमान्य तिलक ने इस प्रकार खोज निकाला है—'कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे स्वभाव वा। प्रजा कथ निर्गुणतो व्यक्त कालस्वभावश्च।'[2] हा साख्य प्रवचन सूत्र के 'ईश्वरासिद्धे'[3] को लेकर यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने 'ईश्वर सिद्धे' ही कहा है 'ईश्वराभावात्' नही, अत सम्भवत वह ईश्वरवादी रहे हो, किन्तु जिस दृष्टिकोण से वे ज्ञान के अनुसधान में प्रवृत्त हुए हैं, उसके प्रति सच्चे रहते हुए वे सम्भवत ईश्वर कर्तृवाद की सिद्धि में प्रवृत्त नही हो सकते थे। कुछ-कुछ कुमारिल के ही दृष्टिकोण से साख्य प्रवचन सूत्र में ईश्वर के कर्तृत्व का निषेध किया गया है। निश्चय ही सृष्टि के सृजन करने से ईश्वर की आप्तकामता में अन्तर आता है और जो इच्छा कर सकता है, वह पूर्ण कैसे हो सकता है? अपूर्ण को ईश्वर कैसे मानें?[4] आप्तकाम को किसी इच्छा से उद्वेलित हुआ कैसे मानें! निश्चय ही यह समस्या भारतीय दर्शन में जिस प्रकार भगवान् साख्याचार्य को उसी प्रकार आचार्य कुमारिल जैसे मीमासक को[5] और आचार्य

(१) 'महदादिभूत प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानो, नाप्यकारण। अकारणत्वे ह्यत्यन्ताभावोऽत्यन्तभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादानः चितिशक्तेरपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतो, निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवात् ...' इत्यादि। सारयकारिका ५६ पर तत्वकौमुदी।

(२) देखिए बाल गगाधर तिलक गीता रहस्य, पृष्ठ १६३

(३) साख्य सूत्र १।९९ साख्य प्रकृतिवाद और इनके खडन के लिये देखिये सौन्दरनन्द १६।१७; बुद्धचरित सर्ग १८

(४) मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धि। साख्य प्रवचन सूत्र १।९३; उभयथाप्यसत्करत्वम्। वहीं १।९४

(५) देखिए आगे इसी प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और मीमासा दर्शन' पर विचार।

गौडपाद[1] जैसे अद्वैत वेदान्ती को भी उद्वेलित करती है। करुणा की भावना से प्रवृत्त होकर रचना असम्भव है, यह तर्क साख्यप्रवचनसूत्रकार, कुमारिल और बुद्ध तीनो का ही समान है[2]। बुद्ध की तरह साख्याचार्य भी कर्म को ही इसके लिए पर्याप्त मानने का प्रस्ताव रखते है।[3] प्रमाण शास्त्र से ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती, ऐसा भी साख्य का मत है।[4] जितने भी ईश्वर के गुणो का वर्णन है, उन्हे साख्य दर्शन केवल मुक्त आत्माओ के ही गुण मानता है[5], कुछ-कुछ उसी भावना में जिस प्रकार मीमासक उपनिषदो में ब्रह्म का निरूपण करने वाली श्रुतियो को केवल अनुष्ठानकर्ताओ की प्रशसा करने वाली मानते है[6]। शिव, विष्णु आदि देवो में भी साख्य की कुछ विशेष श्रद्धा नही है, उनको आचार्य शकर की तरह वह भी एक निम्न कोटि में डाल देता है[7]। उत्तरकालीन आचार्यो ने अपनी-अपनी प्रवृत्तियो के अनुसार साख्य दर्शन के अनीश्वरवाद को लेकर उस पर वडी लीपापोती की है और कुछ हालतो में उसकी कमियो को पूरा भी किया है। वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु और नागेश ने प्राय: इस प्रकार की प्रवृत्तियो में विशेष भाग लिया है। पुरुष के कैवल्य की आवश्यकता के लिए प्रकृति अपने आप किस प्रकार कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, इस कठिनता को देख वाचस्पति मिश्र ने इसके लिए ईश्वर के

---

(१) देखिए आगे इसी प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन' पर विचार।

(२) कुमारिल के मत के विषय में आगे देखिए 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा' का विवेचन, बुद्ध के दृष्टिकोण के लिए मिलाइये पीछे 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध अनीश्वरवादी है ?' पर विचार; देखिये बुद्धचरित १८।२०-२९

(३) देखिए साख्यप्रवचन सूत्र ५।१ 'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः'। यह मत बौद्ध दर्शन के अनुकूल है।

(४) प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः। सांख्य प्रवचन सूत्र ५।१२

(५) मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा। सांख्यप्रवचन सूत्र १।९५; मिलाइये वहीं ३।५४-५६ भी।

(६) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमासा' का दर्शन विवेचन।

(७) देखिए सांख्य प्रवचन सूत्र, ३।५७; शंकर का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा 'मायामात्रमेतत् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनम्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।१।१

अधिष्ठान तत्व को स्वीकार कर लिया है[1] जो साख्य की मूल भावना के विपरीत है। विज्ञानभिक्षु ने साख्य अनीश्वरवाद की अपने मतानुकूल व्याख्या करने एव उसकी सगति लगाने में एक प्रकार से हद ही कर दी है। कभी तो वे कहते हैं कि साख्य अनीश्वरवाद केवल एक उग्र 'प्रौढिवाद' है, यह दिखाने के लिए कि यह दर्शन विना ईश्वर के भी ठहर सकता है। कभी वे कहते हैं कि यह उन लोगो के लिए, जो ईश्वर में श्रद्धा नही जमा सकते है, केवल आश्वासन के लिए एक 'अम्युपगमवाद' है अर्थात् वास्तविक उपदेश का उनकी सहूलियत और शान्ति के लिए' कुछ नीचा करना है। कभी वे यह भी कहते हैं कि साख्य दर्शन का प्रवर्तन केवल मूढबुद्धियो के विमोहन के लिए हुआ है, पापियो के ज्ञान में प्रतिवन्ध डालने के लिए है। कभी वह साख्य सिद्धातो की वेदान्त से एकात्मता भी दिखाते है और कभी करते है 'पुरुष वहुत्व' को 'एक व्रह्म' की कोटि में लाने का प्रयत्न भी[2]। इस प्रकार भारतीय दर्शन मे हम एक अद्‌भुत वात देखते हैं। न केवल वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु आदि ने ही किन्तु अन्य अनेक आचार्यों ने निश्चित रूप से निरीश्वरवादी साख्य (जैसा कि वह सारयकारिका मे विशेपत उपलव्ध है)को तो लाने की कोशिश की है भिन्न उपायो से ईश्वरवादी की कोटि में और सम्यक् सम्वुद्ध, जिनके विपय मे कभी कोई निष्पक्ष विचार करने पर यह कहने का दावा नही कर सकता कि वे अनीश्वरवादी है, उनको मदा डालने का प्रयत्न किया है न केवल 'नास्तिक' की ही किन्तुअनीश्वरवादी की कोटि में भी। इसका रहस्य क्या है? हमारी समझ मे इसका रहस्य साख्य के इन शव्दो मे विद्यमान है—'आप्तश्रुतिराप्तवचन हि'। साख्याचार्य ने जव एक वार वेद के प्रामाण्य को स्वीकार कर लिया तो हिन्दू-जनता निश्चित हो गई, फिर वह उनके उपदेशो में किसी-न-किसी प्रकार समन्वय-समाधान कर लेगी। वेद के लिए वह ईश्वर को छोड सकती है, क्योंकि वेद रहेगा तो ईश्वर की सिद्धि तो किसी-न-किसी प्रकार कर ही ली जायगी, किन्तु वेद के चले जाने पर तो ईश्वर सदा के लिए ही चला जाता है। 'अस्तीति व्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते।' उत्तरकालीन वौद्ध आचार्यो ने ईश्वरवाद का कडा प्रत्याख्यान कर उसे भगवान् वुद्ध पर

(१) ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिवन्धापनय एव व्यापार। राधाकृष्णन्: इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३१९, पद सकेत १ में उद्धृत।
(२) देखिए साख्य प्रवचन भाष्य १।६९; ३।६६; ३।५७; ५।१२

भी आरोपित कर दिया जो सम्भवत ठीक नही था। कुछ भी हो, यदि साख्य दर्शन में अनीश्वरवादियो के लिए आश्वासन है, जैसा कि विज्ञान-भिक्षु ने हमें ठीक ही बताया है, तो हम कह सकते है कि उस आश्वासन की मात्रा वुद्ध के विचार में कुछ कम नही है और उसे हमें लेना चाहिए। अव हम दोनो दर्शनो के ससार, पुनर्जन्म, मोक्ष और आचारतत्व सम्वन्धी विचारो पर आते है। ससार और दु ख की भावनायें साख्य दर्शन में वौद्ध दर्शन की तरह ही व्यापक है। 'जरामरण-कृत दु ख को चेतन पुरुष पाता है जव तक कि उसके लिंग शरीर की निवृत्ति नही हो जाती। इसलिए स्वभाव से ही दु ख है[1]।' 'न कुत्रापि कोऽपि सुखीति[2] ससरण तो नित्य लगा ही हुआ है, फिर सुख कहा से हो? किन्तु ससरण यदि यह वास्तव में वद्ध प्राणी का ही हो तव तो उसकी निवृत्ति ही अशक्य है। 'न स्वभावतो वद्धस्य मोक्षसाधनोपदेश विधि[3]।' जो स्वभाव से ही वद्ध है उसके लिए मोक्षसावन के उपदेश की विधि व्यर्थ है। अत ससरण तो वास्तव में पुरुष नही करता, प्रकृति करती है[4] और पुरुष उसके व्यापारो में, जिनकी प्रतिच्छाया वुद्धि में पडती है, 'अह' के रूप में ग्रहण कर लेता है और यही उसके वन्धन का कारण होता है। यदि पुरुष वुद्धि में पडे प्रकृति के प्रतिविम्व को देख सके कि यह व्यापार प्रकृति का है तो उसका वास्तविक अ-कर्तृभाव स्फुरण होने लगता है और उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है।

साख्य ने इस अपने मन्तव्य को वडी अच्छी तरह से दिखाया है। प्रेक्षकवत् होकर जव पुरुष प्रकृति को देखता है और साक्षात्कार करता है कि किस प्रकार इसके व्यापारो का उपचार मुझमें हो रहा है, तो प्रकृति सहम जाती है और सदा के लिए निवृत्त हो जाती है। प्रकृति और पुरुष के सवध का (जो पुरुष के ही विमोक्षार्थ था[5]) सदा के लिए ध्वस हो जाता है, फिर कृतकृत्यता सम्पादित

(१) तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुष । लिंगस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन। साख्य कारिका ५५

(२) सांख्य सूत्र ६।७

(३) सांख्य सूत्र १।७

(४) तस्मान्न वध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति.॥ साख्य कारिका ६२

(५) पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्। कारिका ५८; मिलाइये पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य। कारिका ५७

हो जाती है। साख्यकारिकाकार ने प्रकृति को एक सुकुमार कुलवधू के समान माना है जो पर-पुरुष को देखते ही सहम कर छिप जाती है कि कही यह फिर मुझे न देख ले[1]। अथवा वह एक नर्तकी है जो रगमच पर अपना नृत्य दिखाकर वापस चली जाती है[2]। 'देख ली मैने' इस प्रकार एक (पुरुष) उपेक्षक हो जाता है और 'देख ली गई मै' इस प्रकार दूसरी (प्रकृति) विरमण कर जाती है, सयोग यदि दोनो में बाद में वना भी रहे तो भी फिर सर्ग का प्रयोजन नही रहता[3]। जिसको प्रकृति और पुरुष की विभिन्नता की ख्याति (ज्ञान) हो गई उसको शब्दादि योग बन्धन मे नही डाल सकते क्योकि उसमें जो पुनर्जन्म के बीज रूप 'मै' और 'मेरा' थे वे तो दग्ध कर दिए गए, फिर पुन सर्ग का प्रयोजन क्या रहा? यही केवल विशुद्ध ज्ञान है। साख्यकारिका के मार्मिक शब्दो मे इस ज्ञान की उत्पत्ति का यह उपाय है—'एव तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहम् इत्यपरिशेपम्। अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्।'[4] ये शब्द भारतीय तत्वचितन में अत्यन्त स्मरणीय एव बौद्ध मन्तव्य की साख्य-चितन के साथ तुलना करने मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब साख्य के मतानुसार तत्वाभ्यास किया जाय तो इस प्रकार की बुद्धि का स्फुरण होता है 'नास्मि, न मे नाह'। 'नास्मि' का अर्थ है कि पुरुष सदा इस प्रकार अनुभव करे कि मेरे अन्दर कोई भी बाह्य या आध्यात्मिक व्यापार नही है। "नास्मि इत्यात्मनि क्रियामात्र निपेधति' (तत्वकौमुदी)। 'न मे' का अर्थ है कि मेरे अन्दर स्वामिता नही है। कर्तृत्व का निपेध ही 'नाहम्' का रहस्य है।[5] इसके जानने मे सम्पूर्ण ज्ञान हो

(१) प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य। कारिका ६१

(२) 'रगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति। कारिका ५९

(३) दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमिति विरमत्यन्या। सति सयोगेऽपि तयोः प्रयोजन नास्ति सर्गस्य। कारिका ६६

(४) कारिका ६४

(५) यह व्याख्या वाचस्पति मिश्र की साख्य तत्व कौमुदी के अनुसार है। अन्य व्याख्याओं के लिए देखिए डा० झा और शर्मा का साख्यतत्व-कौमुदी का सस्करण, बोधिनी भाग (नोट्स इस कारिका पर)।

जाता है। यही 'अपरिशेष' ज्ञान है, सशय और विपर्यय से रहित, अत सदा विशुद्ध। 'नास्मि न मे नाहम्' ये शब्द कितनी गहराई से भारतीय अध्यात्म-साधना में छिपे पड़े हैं और विभिन्न प्रकारो से उसकी प्रतिष्ठा को कायम करते हैं, यह अध्ययन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। निश्चय ही गीता भी कहती है कि 'नाह किंचित् करोमि' इस प्रकार की भावना करो। इस पर और उसके समस्त अनासक्तिवाद पर हम 'बौद्ध दर्शन और गीता' के प्रसग में आयेंगे। योग भी कहता है 'द्रष्ट्रदृश्ययो योगो हेयहेतु' (८-१७) ॥[१] महर्षि गार्ग्यायिन भी कहते हैं 'अहमेतत् न' और वेदान्ती भी कहते हैं, 'नाह देहो'। अत प्रकृति और पुरुष के विच्छेद को अपने-अपने प्रकारो से प्राय सभी कल्याण का मार्ग समझते हैं। भक्त भी तो गोस्वामी तुलसीदास जी को प्रतिनिधि बना कर विवशतापूर्वक यही भाव दिखाते हैं 'जड चेतनहिं ग्रन्थि पडि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई'। इतना ही नही, भारतीय विचारो से प्रभावित मुसलमान साधक भी 'हौं हौं करत सबै मति खोई' इस प्रकार इस गम्भीर दार्शनिक सिद्धात का प्रख्यापन करने लगते हैं। अस्तु, साख्य जब कहता है कि प्रकृति के धर्मों को पुरुष को अपने में आरोपित नही करना चाहिए, बल्कि उनमें नास्मि, न मे, नाह की भावना करनी चाहिए और जब भगवान बुद्ध कहते हैं 'भिक्षुओ! जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी सज्ञा है, जितने भी सस्कार है, जितना भी विज्ञान है, चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा हो चाहे भला, चाहे दूर हो अथवा समीप—वह 'न मेरा है, न वह मैं हूँ, न वह मेरा आत्मा है[२]', तो इनमें साधना का विभेद क्या है, यह समझ में नही आता। रूप वेदना आदि पचस्कन्ध भी तो एक प्रकार से प्रकृति के ही व्यापारो का विभागीकरण है, दोनो स्थूल और सूक्ष्म का। साख्य अपने पच्चीस तत्वो में यदि 'नास्मि न मे नाह' का तत्वाभ्यास करने का आदेश देकर पुरुष की विमुक्ति का मार्ग देखता है तो तथागत हमें पचस्कन्धो में, 'न वे मेरे है, न वे मैं

---

(१) मिलाइये, विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः २।२६ तथा विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्ति ४।२५ भी।

(२) संयुत्त० २१।५ देखिए चतुर्थ प्रकरण में अनात्मवाद का विवेचन।

जोर दिया ही है। श्रुति के सम्बन्ध में साख्यसूत्रकार एक स्थान पर कहते है कि श्रुति का विरोध रागियो के लिए वैराग्य का कारण नही होता[1] और श्रुति के विरोध से कुतर्की को आत्मलाभ नही होता[2] किन्तु दूसरी जगह 'नानुश्रविकादपि तत्सिद्धि[3]' ऐसा भी कहते है। ये सब बातें अत्यन्त विचारणीय है। साख्यसूत्रो ने अपने पाचवें अध्याय में 'न सर्वोच्छित्ति[4]' 'एव शून्यमपि'[5] आदि रूप से शून्यवाद या 'अभाव' वाद का तथा अन्य अनेक सिद्धान्तो का खण्डन किया है जो उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायो के सिद्धान्तो से बहुत कुछ समानता रखते है। चूकि सभी 'आस्तिकवादी' दर्शनो के इस विषयक तर्क प्राय एक से ही है और 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' के पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने के प्रसग में हम शकर के द्वारा किए गए बौद्ध सम्प्रदायो के प्रत्याख्यानो पर आएँगे ही, अत यहा इनका निरूपण न कर हम केवल इतना ही कहना चाहते है कि साख्य एक यथार्थवादी और जगन् की वास्तविकता में विश्वास करने वाला दर्शन है, अत उन विज्ञानवादियो अथवा चेतनाद्वैतवादियो से इसका गहरा भेद है जो भौतिक पदार्थो को चेतना की धारा में ही परिणत करने के पक्षपाती है। इस प्रकार हमने बौद्ध दर्शन के साथ साख्य दर्शन का कुछ अध्ययन किया, ऐतिहासिक रूप में भी और तात्विक रूप में भी। जबकि उनके विचारो मे एक गहरी समानता है, उनके कुछ पारस्परिक विभेद भी है, जिन पर हम दृष्टिपात कर चुके है। भगवान् तथागत जब कि जीवन की गम्भीर समस्याओ को लेकर जीवन के एक शास्ता के रूप में हमारे सामने आते है तो साख्यकार अधिकतर प्रकृति-पुरुष गवेषणा ही करते है जिसमें ज्ञान और विचार तो उपलब्ध होता है किन्तु हृदय नही मिलता, मानवता की अनुभूतियो के साथ एकात्मता नही मिलती, और यह दर्शन की एक बडी आवश्यकता है। कपिल मुख्यत सृष्टि के

---

(१) न श्रुतिविरोधो रागिणा वैराग्याय तत्सिद्धे। साख्यसूत्र ६।५१
(२) श्रुति विरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभ । साख्यसूत्र ६।३४
(३) नानुश्रविकादपि तत्सिद्धि साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् । साख्यसूत्र १।८२
(४) न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् । साख्यसूत्र ६।७८
(५) साख्य सूत्र ६।७९

विचारक है और बुद्ध मानव-जीवव के। वैसे इन दोनो के दर्शनो ने मनुष्य के स्वतत्र विचार को वडा प्रोत्साहन दिया है, बुद्ध के समान कपिल के सिद्धान्त में मानवीय मस्तिष्क की स्वतत्र शक्ति की अनुभूति है और इस दृष्टि से दोनो ही दर्शन भारतीय दर्शन में अद्वितीय स्थान प्राप्त करते है, ऐसा हम कह सकते है। अब हम योग दर्शन पर आते हैं।

योग दर्शन साधना का दर्शन है। अत वह एक 'मार्ग' है और इस अर्थ में वह बुद्ध के मार्ग से एक बडी समानता रखता है। किन्तु फिर भी उसकी तात्विक परिस्थिति बौद्ध दर्शन के समान न होकर साख्य दर्शन की ही है, अथवा जैसा कि हम पहले कह चुके है, वह उसका एक उत्तर भाग ही है। विभिन्न तात्विक परिस्थितियो के होते हुए भी दो दर्शन अपने साधना-मार्ग में कितने समान हो सकते हैं, इसका एक अनुत्तर उदाहरण हम बौद्ध दर्शन और योग दर्शन मे पाते है। यहा हमें साधना का जो मार्ग बुद्ध के उपदेशो में निहित है, उसकी तुलना पातञ्जल योग में निहित साधना से करनी है जो 'राजयोग' भी कहलाती है और जिससे अतिरिक्त मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग ये तीन विभाग योग के और उपलब्ध होते है[1] जिनके विवेचन में हम यहा सम्भवत नही जा सकेंगे, किन्तु चतुर्थ अध्याय में मन्त्रयान और वज्रयान आदि बौद्ध धर्म के जिन सम्प्रदायो का वर्णन हम कर आए है, उनकी प्रवृत्तिया ही योग के इन तीन विभागो का उपलक्षण करती है, इतना ही इनके लिए यहा कहना पर्याप्त होगा।

बौद्ध दर्शन और योग सूत्र

'योग' शब्द 'युज्' धातु से व्युत्पन्न है, अत इसका अर्थ होता है 'युक्त करना'। इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद तथा अनेक उपनिषदो में उपलब्ध होता है[2], ऋग्वेद में हम मुनियो को तपस्या करते देखते है[3] और 'तपस्' की

(१) यह योग का चतुर्विध विभाग योगतत्व उपनिषद् में उपलब्ध होता है। योग के एक छ. प्रकार के विभाग के लिए देखिए मैत्रायणी उप० ६।१८

(२) ऋ० १।३४।९; ७।६७-८; ३।२७।११; १०।३०।११; १०।११४।९; ४।२४।४; १।५।३; १।३०।७; शतपथ ब्राह्मण १४।७।१।११; मैत्रायणी० ६।१०; देखिए राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३२९ 'योग' के 'साधन' के अर्थ में रूप को हृदयंगम करने के लिए देखिए गीता० ३।३

(३) देखिए ऋ० १०।१३६

ही चतुर्व्यूह क्यो न हो[1] ? कहने की आवश्यकता नही कि बौद्ध दर्शन और योग-दर्शन ने इस तत्व को भली प्रकार समझा है और इस प्रकार दोनो ने समान रूप से एक ही सामान्य भारतीय परम्परा का प्रवर्तन किया है। फिर भी चार आर्य सत्यो का सिद्धान्त मूलत बुद्ध धर्म की देन है, और सभी भारतीय दर्शनो के विना किसी अपवाद के उसे स्वीकार किया है[2], ऐसा भी कहा जा सकता है। 'अद्वितीय भिषक्' (अनुत्तरो भिसक्को) की पदवी चूकि समग्र भारतीय साधना में केवल बुद्ध ने ही धारण की, अत चिकित्साशास्त्र की चतुर्व्यूहता जैसे उनके चार आर्य सत्यो पर घटती है वैसे पातजल दर्शन पर नही। अतः कुछ न कुछ बौद्ध ऋण तो योग-सूत्रो पर मानना ही पडेगा, फिर चाहे आयुर्वेद की चतुर्व्यूहता बुद्ध-पूर्व युग की ही क्यो न हो। अस्तु, दु:ख की व्यापकता पर दोनो दर्शन अत्यधिक जोर देते है। योग-दर्शन 'दु:खमेव सर्वं विवेकिन[3]' कह कर प्रथम आर्य-सत्य की कुछ कम गम्भीर व्याख्या नही करता, किन्तु उसकी निवृत्ति के उपाय को लेकर साधना-पक्ष में जव कि वह बुद्ध के अनुकूल मार्ग पर ही चलता है, अपने तात्विक पक्ष में वह साख्य-सम्मत 'शाश्वतवाद' को ही सम्यक् दर्शन और मुक्ति का मार्ग समझता है[4] जिसके समर्थन में अथवा खण्डन में बुद्ध का कोई प्रयोजन नही। बुद्ध न तो शाश्वत-वादी है और न अशाश्वतवादी ही क्योकि उन्होने इन दोनो अतियो को छोड कर 'मध्यमा प्रतिपद्' का मार्ग निकाला है, जो शाश्वतवाद की सिद्धि होने पर भी अथवा न होने पर भी कायम रह सकता है। यहा हम पहले साधन-पक्ष को ले जो दोनो दर्शनो की एक प्रकार से आत्मा है।

एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा संसार. संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय एवेति। व्यासभाष्य २।१५

(१) दार्शनिक मानसिक रोगों के चिकित्सक होते है, इस विचार के लिए देखिए पीछे पृ० १४३-१४४

(२) देखिये चेरवास्की . दि कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण, पृष्ठ ५४-५५ (लेनिनग्राड, १९२७)

(३) परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिनः। योगसूत्र २।१५

(४) तत्र हातु स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति। हाने तस्योच्छेद-वादप्रसंग। उपादाने च हेतुवाद.। उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम्। व्यासभाष्य २।१५

चित्त की वृत्तियो का निरोध ही योग है[१]। किन्तु चित्त क्या है और उसकी वृत्तिया क्या है और उनके निरोध से क्या तात्पर्य है, इन वातो पर भी तो आवश्यक रूप से विचार करना ही ठहरा, यदि योग को अपनी तात्विक स्थिति रखनी है। और यह कार्य योगदर्शन ने किया भी है। किन्तु उसने ध्यान या समाधि के रूप में ही इस समस्या पर विचार किया है, जव कि 'मौलिक्य' वौद्ध दर्शन में, जैसा कि हमने पहले देखा, उसकी 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्ममयी व्याख्या की गई है। योगदर्शन के अनुसार चित्त की पाच भूमिया हैं, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। साख्यो ने जिसे 'महत्' कहा है, उसे ही योग 'चित्त' कह कर पुकारता है। अत वाचस्पति मिश्र के साक्ष्य पर इसमें अन्त करण भी स्वत उपलक्षित है ही[२]। वौद्ध मनोविज्ञान में चित्त का क्या स्वरूप है, इसके लिए तो चतुर्थ प्रकरण ही द्रष्टव्य है। प्रकाश (प्रख्या), प्रवृत्ति और स्थिति युक्त होने से चित्त त्रिगुणात्मक है[३]। चित्त के समष्टि और व्यष्टि स्वरूपो को लेकर द्विविध विभाग भी है, यथा 'कारण चित्त' और 'कार्य-चित्त'। रजस् और तमस् के निरोध के द्वारा चित्त को उसके 'कारण चित्त' स्वरूप मे अनुप्रवेश करा देना ही योग का लक्ष्य है। चित्त के द्वारा ही हम वाह्य पदार्थों के ससर्ग में आते है[४], अतः चित्त और वाह्य पदार्थों की हम एक ही साथ अनुभूति नही कर सकते[५] और न दो विचार साथ ही उत्पत्ति में आ सकते हैं[६]। चित्त के व्यापारो के कारण ही यह भव-चक्र निरन्तर आवर्तन हुआ चला जा रहा करता है। इसी के कारण कामनाएँ, अहकार आदि उत्पन्न होते है और पुरुष वन्धन में पडता है। अत चित्त की वृत्तियो का निरोध अत्यन्त आवश्यक है। चित्त की वृत्तिया पाच है यथा, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पुन. दो स्वरूपो वाली होती है, यथा क्लिष्ट और अक्लिष्ट[७]। क्लिष्ट वे है जो क्लेश

---

(१) योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.। योगसूत्र १।२
(२) चित्त शब्देन अन्त करणं वुद्धिम् उपलक्षयति।
(३) चित्त हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। व्यासभाष्य० १।२
(४) द्रष्टव्य योगसूत्र २।१६, १७,२०
(५) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।२० व्यास भाष्य-सहित।
(६) द्रष्टव्य योगसूत्र ४।१९ व्यास भाष्य-सहित।
(७) वृत्तयः पञ्चतय्य. क्लिष्टाक्लिष्टा.। योगसूत्र १।५; प्रमाण-विपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः। योगसूत्र १।६

की कारण है और कर्माशय प्रचय में जो क्षेत्रीभूत हो गई हैं, इनके अतिरिक्त जो ज्ञान की कारण तथा क्लेश करने वाली नही है, वे वृत्तिया अक्लिष्ट है[1] । इस विभाग की कुछ समानता हम 'कुशल' और 'अकुशल' चित्तो से कर सकते हैं, किन्तु इस समानता को हमें अधिक वढाना नही चाहिए। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही पाच क्लेश है[2] । अनित्य, अशुचि, दु ख और अनात्म पदार्थों में क्रमश नित्य, शुचि, सुख और आत्मा की ख्याति अथवा भावना करना ही अविद्या है[3] । कहने की आवश्यकता नही कि चतुरार्य सत्य सम्बन्धी अज्ञान जो 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में अविद्या का पर्यायवाची है[4], इस योग की 'अविद्या' की परिभाषा से वहुत कुछ सम्वन्ध रखता है। यह कहना कि दु ख को जो सुख करके माने, दु ख के समुदय को जो सुख का समुदय माने, दु ख के निरोव को जो उसके विपरीत माने और दु ख निरोध गामी मार्ग को जो न जाने, विलकुल उसी तरह कहना है जैसे कि अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दु ख को सुख और अनात्मा को आत्मा मानना। पञ्चस्कन्ध अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान सभी क्लेश रूप ही है, फिर उनमे सुख की कल्पना, उन अनात्म पदार्थों मे 'आत्मा' की कल्पना, उन अनित्य पदार्थों में नित्य की कल्पना करना यह भी तो अविद्या स्वरूप ही सव भगवान् ने वताया था, 'इसे कहते है भिक्षुओ! मतवाद मे जा पडना . यह सव अविद्या ही अविद्या है' ऐसा कह कर[5] । अत जिस नैतिक अर्थ में अर्थात् अनित्य, अशुचि, दु ख और अनात्म पदार्थों से उनके विपरीत पदार्थों के पृथक् करने की भावना में योग दर्शन 'अविद्या' का अर्थ लेता है, उस अर्थ में वह 'मौलिक्य' वौद्ध दर्शन मे निहित 'अविद्या' (जहा कारणवाद से उसका कोई सम्वन्ध नहीं) के कुछ समान ही है, क्योकि यथा अविद्या से सस्कारो आदि के

---

(१) मिलाइये, क्लेशहेतुका· कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूता क्लिष्टा । ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टा । व्यासभाष्य १।५

(२) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा· । योगसूत्र २।३

(३) अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्याशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । योगसूत्र २।५

(४) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' विवेचन; देखिए स्थविर ज्ञानातिलोक के 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक के अन्त में 'पटिच्च-समुप्पाद' का विवेचन भी।

(५) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन ।

बीच में होते हुए जन्म, जरा, मरण, दु ख, मानसिक उद्वेग आदि का 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन प्रख्यापन करता है उसी प्रकार योग-दर्शन की भी यह अप्रतिहत आवाज़ है 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्'[१] अर्थात् अविद्या ही इन उपर्युक्त अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप क्लेशो की प्रसवभूमि है और ये अस्मिता आदि भी चार प्रकार से कल्पित हो सकते है, यथा प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। इस विषय को बिना आगे बढाए (यह बहुत आगे बढाया जा सकता है, बौद्ध मनोविज्ञान के सहारे) हम आगे चलते है। दृक् और दर्शन की शक्तियो की एकात्मता ही अस्मिता है[२]। बौद्ध दर्शन में 'अह' भाव की उत्पत्ति पञ्चस्कन्धो से कैसे उठ खडी होती है, यह चतुर्थ प्रकरण में ही द्रष्टव्य है[३]। यहा पर हम बौद्ध दर्शन की विशेष समानता योग दर्शन से नही दे सकते। बौद्ध दर्शन निषेधात्मक दिशा में अधिक पग बढाए चला जाता है जब कि योग का सभी प्रयत्न एक स्थिर तत्व की स्थापना करने के लिए ही है। सुख या उसके साधन मे गर्द्ध, तृष्णा या लोभ रखना ही योग के अनुसार राग है[४] और दु ख या उसके साधन में, प्रतिघ, मन्यु, जिघासा या क्रोध रखना ही द्वेष है[५]। 'ऐसा कभी न हो कि मै कभी न होऊँ, मैं तो सदा होऊँ ही' इस प्रकार जो स्वभावत ही सब प्राणियो का अभिनिवेश है,(बौद्ध आत्मोपादान की कितनी समानता है—कुछ उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य तो इसको 'आत्माभिनिवेश' कहते भी है[६]) वही 'अभिनिवेश' कहलाता

---

(१) योगसूत्र २।४

(२) दृग्दर्शनशक्तयोकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २।६, मिलाइये, पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धि· दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। उक्त पर व्यास भाष्य।

(३) 'अनात्मवाद' के विवेचन में।

(४) सुखानुशयी रागः। योगसूत्र २।७; सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभ. स राग.। उक्त पर व्यासभाष्य।

(५) दु खानुशयी द्वेष। योगसूत्र २।८; दु खे तत्साधने वा य प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोध. स द्वेष। उक्त पर व्यासभाष्य।

(६) 'आत्मवाद', 'सत्काय दृष्टि', 'आत्मग्रह', 'आत्मदृष्टि', 'आत्माभिनिवेश', ये सब बौद्ध दर्शन में पर्यायवाची शब्द है, देखिये पं० विधुशेखर भट्टाचार्य. दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७८, पदसंकेत ३०

की कारण हैं और कर्माशय प्रचय में जो क्षेत्रीभूत हो गई हैं, इनके अतिरिक्त जो ज्ञान की कारण तथा क्लेश करने वाली नही है, वे वृत्तिया अक्लिष्ट है[1] । इस विभाग की कुछ समानता हम 'कुशल' और 'अकुशल' चित्तो से कर सकते है, किन्तु इस समानता को हमे अधिक वढाना नही चाहिए । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही पाच क्लेश है[2] । अनित्य, अशुचि, दु ख और अनात्म पदार्थों में क्रमश नित्य, शुचि, सुख और आत्मा की ख्याति अथवा भावना करना ही अविद्या है[3] । कहने की आवश्यकता नही कि चतुरार्य सत्य सम्बन्धी अज्ञान जो 'मौलिक्य' वौद्ध दर्शन में अविद्या का पर्यायवाची है[4], इस योग की 'अविद्या' की परिभाषा से बहुत कुछ सम्वन्ध रखता है । यह कहना कि दु ख को जो सुख करके माने, दु ख के समुदय को जो सुख का समुदय माने, दु ख के निरोध को जो उसके विपरीत माने और दु ख निरोध गामी मार्ग को जो न जाने, विलकुल उसी तरह कहना है जैसे कि अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दु ख को सुख और अनात्मा को आत्मा मानना । पञ्चस्कन्ध अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान सभी क्लेश रूप ही है, फिर उनमें सुख की कल्पना, उन अनात्म पदार्थों में 'आत्मा' की कल्पना, उन अनित्य पदार्थों मे नित्य की कल्पना करना यह भी तो अविद्या स्वरुप ही सव भगवान् ने वताया था, 'इसे कहते है भिक्षुओ ! मतवाद में जा पडना . यह सव अविद्या ही अविद्या है' ऐसा कह कर[5] । अत जिस नैतिक अर्थ में अर्थात् अनित्य, अशुचि, दु ख और अनात्म पदार्थो से उनके विपरीत पदार्थों के पृथक् करने की भावना में योग दर्शन 'अविद्या' का अर्थ लेता है, उस अर्थ में वह 'मौलिक्य' वौद्ध दर्शन मे निहित 'अविद्या' (जहा कारणवाद से उसका कोई सम्वन्ध नही) के कुछ समान ही है, क्योंकि यथा अविद्या से सस्कारो आदि के

---

(१) मिलाइये, क्लेशहेतुका कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूता· क्लिष्टा । ख्याति-विषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टा । व्यासभाष्य १।५

(२) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा. । योगसूत्र २।३

(३) अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्याशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । योगसूत्र २।५

(४) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' विवेचन; देखिए स्थविर ज्ञानातिलोक के 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक के अन्त में 'पटिच्च-समुप्पाद' का विवेचन भी ।

(५) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन ।

बीच में होते हुए जन्म, जरा, मरण, दु ख, मानसिक उद्वेग आदि का 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन प्रख्यापन करता है उसी प्रकार योग-दर्शन की भी यह अप्रतिहत आवाज़ है 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्'[१] अर्थात् अविद्या ही इन उपर्युक्त अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप क्लेशो की प्रसवभूमि है और ये अस्मिता आदि भी चार प्रकार से कल्पित हो सकते है, यथा प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। इस विषय को विना आगे वढाए (यह वहुत आगे वढाया जा सकता है, वौद्ध मनोविज्ञान के सहारे) हम आगे चलते है। दृक् और दर्शन की शक्तियो की एकात्मता ही अस्मिता है[२]। वौद्ध दर्शन में 'अह' भाव की उत्पत्ति पञ्चस्कन्धो से कैसे उठ खडी होती है, यह चतुर्थ प्रकरण में ही द्रष्टव्य है[३]। यहा पर हम बौद्ध दर्शन की विशेप समानता योग दर्शन से नही दे सकते। वौद्ध दर्शन निषेधात्मक दिशा में अधिक पग वढाए चला जाता है जव कि योग का सभी प्रयत्न एक स्थिर तत्व की स्थापना करने के लिए ही है। सुख या उसके साधन में गर्द्ध, तृष्णा या लोभ रखना ही योग के अनुसार राग है[४] और दु ख या उसके साधन में, प्रतिघ, मन्यु, जिघासा या क्रोध रखना ही द्वेष है[५]। 'ऐसा कभी न हो कि मै कभी न होऊँ, मैतो सदा होऊँ ही' इस प्रकार जो स्वभावत ही सव प्राणियो का अभिनिवेश है, (वौद्ध आत्मोपादान की कितनी समानता है—कुछ उत्तरकालीन वौद्ध आचार्य तो इसको 'आत्माभिनिवेश' कहते भी है[६]) वही 'अभिनिवेश' कहलाता

---

(१) योगसूत्र २।४

(२) दृग्दर्शनशक्तयोकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २।६, मिलाइये, पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिः दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। उक्त पर व्यास भाष्य।

(३) 'अनात्मवाद' के विवेचन में।

(४) सुखानुशयी राग। योगसूत्र २।७; सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभ स राग.। उक्त पर व्यासभाष्य।

(५) दु.खानुशयी द्वेषः। योगसूत्र २।८; दु.खे तत्साधने वा य प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोध स द्वेष.। उक्त पर व्यासभाष्य।

(६) 'आत्मवाद', 'सत्काय दृष्टि', 'आत्मग्रह', 'आत्मदृष्टि', 'आत्माभिनिवेश', ये सव वौद्ध दर्शन में पर्यायवाची शब्द है, देखिये पं० विधुशेखर भट्टाचार्यः दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ वुद्धिज्म, पृष्ठ ७८, पदसकेत ३०

है[1]। यहा तक तो दोनो समान हैं, किन्तु आगे दोनों अलग-अलग रास्ता ले लेते हैं। बुद्ध कहते हैं कि जब 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ इन बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों में मिलता ही नही तो 'अभिनिवेश' किसके लिए बढाना, जब 'मैं' वास्तव में है ही नही तो शोक किसके लिये करना, सच्ची समाधि तो लगनी है। इसके व्यतिरिक्त योग कहता है कि जब वास्तविक स्वरूप शाश्वत, स्वच्छ, आत्म स्वरूप और सुख स्वरूप है तो फिर अनित्य, अशुचि, अनात्म और दु ख पदार्थों में अभिनिवेश क्यो करना ? यहा भी तो समाधि लगनी ही है। 'एक गाठि कई फेरे।' अब हम वृत्तियो पर लौटते हैं। प्रमाण को योगसूत्र ने एक वृत्ति के रूप मे लिया है और उसके तीन प्रकार किए हैं, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम[2]। अन्य वृत्तियों में मिथ्याज्ञान ही सक्षेपत विपर्यय[3], वस्तुशून्यत्व होने पर भी शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धन मात्र व्यवहार ही विकल्प[4], अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति ही निद्रा[5] और अनुभूत विषयो का ग्रहण ही स्मृति है[6]। इन सब उपर्युक्त वृत्तियो के निरोध के द्वारा ही सम्प्रज्ञात और बाद में असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है जो योग दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। किन्तु इस पर आने से पूर्व हम साधन को देखें, जो भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

हम जानते हैं कि बुद्ध के समय में अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थी। बुद्ध ने भी उरुवेला में अनेक प्रकार की तपस्याएँ की थी जिनका वर्णन हम चतुर्थ प्रकरण में कर चुके है। बुद्ध योगी थे।

योग बौद्ध और पातञ्जल स्व १ आचार्य शकर ने उन्हे अपने एक स्तोत्र[1] में 'योगिना चक्रवर्ती' कहा है। बुद्ध-धर्म की व्याख्या

---

(१) स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश.। योगसूत्र २।९;
सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मानभूव भूयासमिति . ..यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढ । कस्मात् समाना हि तयो. कुशलाकुशलयो मरणदु खानुभवादियं वासना । उक्त पर व्यासभाष्य ।

(२) द्रष्टव्य योगसूत्र १।७

(३) द्रष्टव्य योगसूत्र १।८

(४) द्रष्टव्य योगसूत्र १।९

(५) द्रष्टव्य योगसूत्र १।१०

(६) द्रष्टव्य योगसूत्र १।११

योग की एक शाखा के रूप में भली प्रकार की जा सकती है। उनके मार्ग की पातञ्जल योग से क्या समानता है, यही अब हमें देखना है। योगदर्शन अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियो का निरोध सम्भव मानता है[1] और हम देख चुके है कि बुद्ध ने निर्वेद के प्राप्त कराने के लिए ही अनात्मवाद का उपदेश दिया था। फिर सम्यक् सम्बुद्ध 'सम्यक् प्रधान' वादी थे, इस पर भी यहा जोर देने की जरूरत नही। अभ्यास बुद्ध-धर्म का सार है और उसी पर वह प्रतिष्ठित है। योग दर्शन का मत है कि दीर्घकाल तक तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा से सेवन किया हुआ अभ्यास और सभी विषयो में वशीकार सज्ञा रूप वैराग्य[2] ही सप्रज्ञात समाधि के कारण होते है। यह सम्प्रज्ञात अथवा सालम्बन समाधि चार श्रेणियो मे विभाजित की गई है, यथा (१) सवितर्क, (२) वितर्कविकल सविचार, (३) विचारविकल सानन्द तथा (४) आनन्द-विकल केवल अस्मिता मात्र[3]। देखिए इस चतुर्विध सप्रज्ञात समाधि की बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट इन चार ध्यानो से कितनी समानता है : 'भिक्षुओ ! भिक्षु चित्त के उपक्लेश, प्रज्ञा को दुर्बल करने वाले पाच बन्धनो को छोड, काय वितर्क से रहित हो, बुरे विचारो से रहित हो, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विचरता है, जिसमें वितर्क और विचार है तथा जो एकान्त वास से उत्पन्न होता है और जिसमें प्रीति और सुख रहते है। भिक्षुओ ! प्रथम ध्यान में वितर्क रहता है, विचार रहता है, प्रीति रहती है, सुख रहता है और रहती है चित्त की एकाग्रता'। 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु वितर्क और विचारो के उपशम से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय ध्यान को प्राप्त होता है, जिसमें न वितर्क होते है, न विचार, जो समाधि से उत्पन्न

---

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध.। योगसूत्र १।१२

(२) जिसको ही वह ज्ञान की पराकाष्ठा और कैवल्य का ही एक प्रकार से अपर नाम कहता है 'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकम् कैवल्यमिति'। व्यासभाष्य १।१६; अभ्यास और वैराग्य की परिभाषाओं के लिए देखिए क्रमश. योगसूत्र १।१३ एवं १।१५

(३) वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः। योगसूत्र १।१७; तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधि. सवितर्क. द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारस्तृतीयो विचारविकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः। उक्त पर व्यासभाष्य।

होता है और जिसमें प्रीति तथा सुख रहते हैं'। 'और फिर भिक्षुओ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो उपेक्षावान् बन विचरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पण्डितजन उपेक्षावान्, स्मृतिवान्, सुखपूर्वक विहार करने वाला कहते हैं'। 'और फिर भिक्षुओ! भिक्षु सुख और दुख, दोनो के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनो के पहले से अस्त हुए रहने से, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है जिसमें न दुख होता है न सुख और केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि ही होती है'[१]। यदि लक्ष्य एक हो और साधन एक हो तो दूर-दूर नहीं जा सकते। फिर असप्रज्ञात समाधि[२] के लिए भी जिन पाच साधनो यथा श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का विधान योग दर्शन में किया गया है[३], वे बिलकुल वैसे-के-वैसे ही तो बुद्ध के उपदेशो पाच इन्द्रियो के रूप मे निहित हैं। इतना ही नही, चित्त के प्रसादन के लिए जिन चार भावनाओ यथा मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओ का उपदेश योग-दर्शन मे दिया गया है[४], वे भी बिलकुल उसी रूप में 'चार ब्रह्म विहारो' के रूप में बुद्ध के उपदेशो में रक्खी हुई है, जिनके विषय में यहा कुछ बताने की जरूरत नही है। इसी प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप जो योग के आठ अग हैं, इनमें से भी अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह रूप जो यम हैं जो जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न सार्वभौम महाव्रत हैं, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान (इसको तो छोडकर) रूप जो नियम हैं[५], वे भी सब वोधिपक्षीय धर्मों में तो क्या केवल आर्य अष्टागिक मार्ग में ही निहित हैं, ऐसा मर्मज्ञ जन जान सकते है। इनके फलो का भी जो

(१) चूलहत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम निकाय), महावेदल्लसुत्त (मज्झिम निकाय), भगवान् बुद्ध ने सम्बोधि लाभ करते हुए किस प्रकार इन चारों ध्यानों की प्राप्ति की थी, इसके लिए देखिये ब्राह्मण वेरञ्जक सुत्त (अगुत्तर० ८।१।२।१) तथा चौथे प्रकरण मे देखिये 'बुद्ध-धर्म-सघ' भी।

(२) जिसका स्वरूप इस प्रकार है 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः सस्कारशेषोऽन्य। योगसूत्र १।१८

(३) श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्। योगसूत्र १।२०

(४) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुख दुख पुण्यापुण्य विषयाणा भावनातश्चित्त-प्रसादनम्। योगसूत्र १।३३

(५) देखिए योगसूत्र २।२९-३२

वर्णन है[1] वह भी योग दर्शन का जैसा ही प्रायः बुद्ध के द्वारा वर्णित हुआ है और विशेष बात यह है कि दोनो इसी जन्म में साक्षात्करणीय वस्तुओं को लेकर चलते हैं यथा योग में 'अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग'[2], उसी प्रकार भगवान् तथागत के द्वारा भी 'भिक्षुओ ! जो कोई भिक्षु इन चार स्मृति-प्रस्थानो की सात वर्ष तक भावना करे उसे दो फलो में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी.... छ वर्ष, पाच वर्ष, सप्ताह भर भी भावना करे ... इत्यादि[3]।'

भगवान् बुद्ध ने आनापान-सति के रूप में प्राणायाम का उपदेश दिया ही था[4] यद्यपि साधारण पुरुषो के लिए उनका शील और अप्रमाद का ही उपदेश था। भगवान् पतञ्जलि ने भी यमनियमादि के बाद ही इस प्रसग को उठाया है और फिर अत्यन्त साधारण रूप में ही इस पर अपने सूत्रो मे विचार किया है। सक्षेप में हम कह सकते है कि बौद्ध साधना मार्ग और पातञ्जल मार्ग में व्यावहारिक रूप से विभेद नही है। जो व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, दर्शन-अलब्ध- भूमिकत्व, अनवस्थित्वऔर चित्तविक्षेप रूपी अन्तराय एव इनके साथ होने वाले दु ख, दौर्मनस्य, अगमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास और विक्षेप[5] रूपी विघ्न एक पातञ्जल योगी के लिए है उसी प्रकार वे बौद्ध मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए भी है, भेद केवल इतना ही है कि वह (बौद्ध) उन्हे या तो पाच नीवरण यथा कामच्छन्द, व्यापाद स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा कह कर पुकारता है या दस सयोजन यथा सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शील व्रत परामर्श, कामराग, व्यापाद, रूप-राग, अरूप-राग, मान, उद्धतता और अविद्या के रूप में देखकर उनसे बचने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी मार्ग उस साधना के लिए अपेक्षित है जहा से जाता हुआ मनुष्य पातजल सूत्रो की भाषा में ही कह सके 'तत· परमावश्तेन्द्रियाणा'[6] वह मार्ग भगवान् पतञ्जलि समान के भगवान् बुद्ध को भी सम्मत है। एक विशेष बात जो योग सूत्रो में मिलती है वह है 'ईश्वर प्रणिधान' का वैकल्पिक महत्व। 'ईश्वरप्रणिधान' को भगवान् पतञ्जलि ने

(१) देखिए योगसूत्र २।३५-४५
(२) योगसूत्र २।३५
(३) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ निकाय)
(४) देखिए आनापाण सति सुत्त (मज्झिम निकाय)
(५) देखिए योगसूत्र १।३०-३१
(६) योगसूत्र २।५५

कहलाता है, इसी प्रकार काल का भी अपकर्ष करते-करते जब अन्तिम दशा पर पहुच जाते है जिससे परे कि उसका अपकर्ष नही हो सकता, तब उसे क्षण कहते है। अथवा उतने कालमात्र को हम क्षण कह सकते है जितनी देर में कि एक परमाणु अपने पूर्व स्थान को छोडकर किसी दूसरे स्थान पर पहुचता है।

इन क्षणो के प्रवाह का निरन्तर चलते रहना ही उनका क्रम है। क्षण और उनके क्रमो का वस्तुत समाहार नही है अर्थात् वे वस्तुओ के समाहार नही है। मुहूर्त, दिन और रात केवल बुद्धि समाहार है। इस प्रकार यह काल स्वय वस्तु-शून्य होता हुआ भी, केवल बुद्धिनिर्माण मात्र होता हुआ भी, और मस्तिष्क में केवल शब्दज्ञान के रूप में आता हुआ भी, उन मनुष्यो को जिनकी प्रवृत्तिया बहिर्मुख है, वस्तुसत् या वस्तुस्वरूप सा दिखाई देता है। किन्तु क्षण तो सत्ताशील वस्तु की ही श्रेणी मे आता है और वह क्रम का आलम्बन करने वाला है। क्षणस्तु वस्तुपतित क्रमावलम्बी। (व्यास भाष्य ३।५१)। यह क्रम ही क्षणो के एक के बाद एक के आने के भाव (आनन्तर्य) पर व्यवस्थित होता है। उसी को काल जानने वाले योगी काल कहते है। अत क्षण तो वास्तव में एक सत्ता-शील वस्तु है, क्रम इसको एक मात्र आधार देता है और वह आधार ही केवल बुद्धिनिर्माण है, क्षण नही। जो क्षण भूत है या जो भावी है, वे सब परिणामान्वित ही है और उस एक ही क्षण से लोक परिणाम का अनुभव करता है और उसी एक क्षण मे उपारुढ ये सब धर्म है। उस क्षण और उसके क्रम के सयम से उनका साक्षात्कार होता है और फिर उसमे विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है जिसके द्वारा योगी क्षण-भेद का अपनी बुद्धि से अवगमन करता है जबकि साधारण जन जाति, लक्षण और देश के विभेदो से ही वैसा करने में समर्थ होते है।[1] बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध योग का प्रधान तर्क यह है कि असत् की विद्यमानता नही है और सत् का विनाश नही है, अत अतीत और अनागत वस्तुत ही सत्ता रखते है। भविष्यत् वह है जो अनागत में व्यक्त होने वाली वस्तु है और जो अनुभूत वस्तु है वही अतीत है और जो व्यापार इस समय उपारुढ है वह वर्तमान है। ये तीनो ही वस्तुए

---

(१) विस्तार से इस विषय में योग दर्शन की दृष्टि को देखने के लिए व्यासभाष्य ३।५१-५२ द्रष्टव्य है।

ज्ञान की ज्ञेय हैं। यदि ये वस्तुए वास्तव में होती ही नही, तो ज्ञान ही कैसे उत्पन्न हो जाता? ज्ञेय वस्तु के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव है? अत अतीत और अनागत भी स्वरूपत है ही। (त्रय चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषय ज्ञानमुदपत्स्यत तस्माद-तीतानागत स्वरूपतोऽस्तीति। व्यासभाष्य ४।१२)। फिर कर्मो के फल की दृष्टि से भी योग दर्शन सत्ता के तीन मार्गों यथा भूत्, वर्तमान और भविष्यत् की वास्तविक स्थिति को स्वीकार करता है[1]। वह अभाव से भी उनके उद्गमन को सम्भव नही मानता।[2] विज्ञानवाद के विरुद्ध योग दर्शन का सबसे तीव्र शब्द यह है 'परिणामैकत्वात् वस्तुतत्वम्'[3] अर्थात् प्रख्या, (प्रकाश,) क्रिया और स्थितिशील गुणो का करण (इन्द्रियो) के रूप मे एक ही परिणाम होता है। पृथ्वी परमाणु शब्द का परिणाम है जो मूर्ति के साथ अवस्थित है। यह तन्मात्रा का ही अवयव है। इन परमाणुओ के एक परिणाम ही पृथिवी, गौ, वृक्ष, पर्वत आदि है। अत. कोई ऐसा अर्थ तो नही है जो विज्ञान के विना हो। किन्तु ज्ञान अर्थ के विना भी हो सकता है, यथा स्वप्नादि मे कल्पितज्ञान। (नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचर। अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचर स्वप्नादौ कल्पितम्। व्यासभाष्य ४।१४)। अत विज्ञान-वादियो की ही ओर स्पष्ट लक्ष्य कर व्यास भाष्य में कहा गया है 'अनया दशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते ज्ञानपरिकल्पनामात्र वस्तु। स्वप्नविषयोपम तु न परमार्थतोऽस्ति इति ये आहुस्ते तथेति। प्रत्युपस्थितमिद स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानवलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचना स्यु'[4] इन्ही विज्ञानवादियो की ओर लक्ष्य कर एक अन्य स्थान में व्यासभाष्य में ही कहा गया है 'केचिदाहु.। ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्य-त्वात् सुखादिवदिति। त एतया द्वारा साधारणत्व बाधमाना. पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तु-

---

(१) किञ्च भोगभागीयस्य वाऽपवर्गभागीयस्य वा कर्मण फलमुत्पित्सु यदि निरूपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठान न युज्येत। सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वोपजनने सिद्ध निमित्तं नैमित्तिक-स्य विशेषानुग्रह कुरुते नापूर्वमुत्पादयतीति। व्यासभाष्य ४।१२

(२) देखिए व्यासभाष्य ४।१२ ही।

(३) योगसूत्र ४।१४

(४) " ४।१४ ही।

ए—बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा

पूर्व मीमासा को भी भारतीय दर्शन का एक अग मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो गया, यह केवल उसकी और समग्र भारतीय विचार-परम्परा की वेद-भक्ति के कारण। वैसे तो व्याकरण आदि को

उपोद्घात

भी दर्शन मानकर हम पाणिनि-दर्शन आदि जैसी वात कह सकते हैं (यहा भारतीय व्याकरण शास्त्र के दर्शनत्व का प्रत्याख्यान करने का हमारा उद्देश्य नही)[१] किन्तु यदि जीवन की गहनतम समस्याओ का तात्त्विक निरूपण करने वाली विद्या को ही 'दर्शन' कहा जाय तो हम कह सकते है कि पूर्व मीमासा में 'दर्शनत्व' कम है। किन्तु मीमासा के आचार्यों के सामने ऐसी वात कहना कुछ भयावह है। प्राचीन परम्परा में भारतीय दर्शन के विचारको मे जितने अधिक पाडित्यसम्पन्न और तर्कशील आचार्य मीमासको में हुए है, उतने सम्भवत नैयायिको को छोड और किसी परम्परा में नही हुए, और नैयायिको और मीमासको का प्राचीन सम्वन्ध भी सम्भवत एकात्मता का ही है, ऐसा कुछ विद्वान् विचार करने का प्रस्ताव करते हैं। कुछ भी हो, शकर जैसे महान् तार्किक दार्शनिक को भी सवसे पहले मीमासको का ही प्रत्याख्यान करना पडा (ब्रह्मसूत्र-भाष्य चतु सूत्री में) और वौद्धो की भी जो प्रवलतम मुठभेडें अन्य प्रतिद्वन्द्वी दर्शन सम्प्रदायो के आचार्यो से हुई उनमें नैयायिको के वाद मीमासको ने ही सम्भवत सवसे अधिक भाग लिया। अत इस दृष्टि से मीमासा की परम्परा भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। एक प्रकार से इसे वैदिक मत में विश्वास करने वालो की प्रहरीशाला ही कहना चाहिए जिसका विध्वस करने का उत्तर-कालीन वौद्ध आचार्यो ने वार-वार प्रयत्न किया किन्तु सफल नही हो सके, यद्यपि उनके प्रयत्नो के परिणामस्वरूप इस दर्शन का कई वार पुन-र्निर्माण और कभी-कभी तो नव-निर्माण भी करना पडा। कहने की आव-

(१) अपितु 'वैयाकरणा हि प्रथमे विद्वास सर्वशून्यवादिन वार्ताक्षौदुम्व-रायणादीन् स्फोटवादेन निराचक्रु यथा वेदान्तिनो ब्रह्मवादेन शून्यवा-दिनो माध्यमिकादीन्' लक्ष्मीपुरं श्री निवासाचार्य विरचित 'दर्शनोदय पृष्ठ १०१

श्यकता नही कि इन सवके परिणामस्वरूप ही दोनो दार्शनिक परम्पराओ, अर्थात् बौद्ध आचार्यों और पूर्व मीमासको, के विचारो का सशोधन हुआ और उनका मार्ग भी वहुत कुछ प्रशस्त हुआ । मीमासा दर्शन के स्थापको और उसकी महत्ता को प्रख्यापित करने वालो में आचार्य कुमारिल का नाम अमर रहेगा और वौद्धो के साथ उनकी जो अनेक मुठभेडे हुई उनने भारतीय विचार की परम्परा निश्चय ही वहुत कुछ विस्तृत हुई। 'कुमारिल' निश्चय ही भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में एक वडा नाम है। इन मनीषी आचार्य के 'श्लोकवार्तिक' और 'तन्त्रवार्तिक' ग्रन्थ बौद्ध विचार की परिस्थिति के तीव्रतम खण्डन और कही-कही मण्डन भी उपस्थित करते है, जिनमे महान् तात्विक और ऐतिहासिक सम्पत्ति भरी हुई पडी है।

पूर्व-मीमांसा में दर्शनत्व और बौद्ध विचार के साथ उसका सम्बन्ध

पूर्व मीमासा का उदय वैदिक काल में ही हुआ। वेद के अर्थो का निरूपण करने के लिए वाद-विवाद के रूप में प्रयत्न अत्यन्त प्राचीन काल में ही होने लगा था और उसी को एक व्यवस्थित स्वरूप महर्षि जैमिनि ने दिया। पूर्व मीमासा का निश्चित विषय धर्म की जिज्ञासा करना एव उसके स्वरूप का निर्णय करना है। 'धर्म' का यहा कोई विशेष व्यापक अर्थ नही है जैसा कि 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन मे 'धम्म' शब्द का। मीमासा में तो धर्म' से तात्पर्य केवल 'क्रिया का प्रवर्तक', 'यागादि' कर्म अथवा 'वेद प्रतिपाद्य प्रयोजनवद् अर्थ' से ही है[1] जिसके लिए इस समग्र दर्शन का प्रवर्तन हुआ है। धर्म के 'वेदप्रतिपाद्य' स्वरूप को आरम्भ से ही ग्रहण कर लेने के कारण मीमासा दर्शन में वेद का कितना अधिक महत्व रहा, इसके वताने की जरूरत नही। वेद में प्रतिपादित ही जव धर्म है और धर्म की हमें गवेषणा करनी है, तो सवसे पहले हमारे लिए यही

---

(१) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। मीमांसा सूत्र १।१।२; चोदनेति प्रवर्तकशब्दो नाम। उपर्युक्त पर शावर भाष्य; मिलाइये वहीं 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्; मिलाइये यागादिरेव धर्म, तल्लक्षणं 'वेदं प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म.' इति। अर्थ सग्रह, किमाद्यपेक्षितै. पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ। तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिन् चोदनोच्यते। श्लोकवार्तिक० १।१।२।३

को पाते हैं। जैमिनि ने मीमासा सूत्र लिखे और ये सम्भवत सबसे प्राचीन सूत्र हैं। भगवान् कुमारिल का मत है कि मीमासा सूत्रो मे कुछ बौद्ध सिद्धान्तो का खण्डन उपलब्ध होता है।[1] मीमासा सूत्रो पर सबसे प्रथम उपलब्ध भाष्य शाबर का है[2] जिस पर अन्य सभी उत्तरकालीन मीमासा सम्बन्धी साहित्य आधारित है। शाबर भाष्य में बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन मिलता है।[3] जैमिनि और शाबर के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम मीमासा के क्षेत्र मे आचार्य कुमारिल का है। इन्होने वेद के प्रामाण्य और पौरोहित्य की खोई हुई महिमा को फिर बढाने की कोशिश की। बौद्धो से निश्चय ही इन्हे सघर्ष में आना ही पडा। बौद्धो को कुमारिल ने जितनी फटकारें बताई हैं और जिस तीव्र भाषा में उनका प्रत्याख्यान किया है, उसकी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। बौद्धो के इस प्रलाप को कि उनके ग्रन्थ भी प्रमाण कोटि में आ सकते है, उनके इस विचार को कि वेद का प्रामाण्य कसे हो सकता है? कुमारिल ने बडी तीव्रता के साथ खण्डन किया है, यहा तक कि क्षत्रिय धर्म का अतिक्रमण कर बुद्ध के प्रव्रजित होकर ब्राह्मण-वृत्ति को स्वीकार करने की वर्णनिषिद्ध प्रवृत्ति की भी इन्होने निन्दा की है[4]। इन्ही कुमारिल के शिष्य, किन्तु अपनी बुद्धि की प्रखरता के कारण स्वय इन्ही से 'गुरु' नाम पाए हुए, प्रभाकर भी मीमासा दर्शन के एक दीप्तिमान् विचारक हैं जिनका कुमारिल के समान एक सम्प्रदाय ही अलग है जो 'प्रभाकर' सम्प्रदाय या 'गुरु' मत कहा जाता है जबकि कुमारिल का मत

---

(१) देखिए श्लोकवार्तिक १।१।३, ५-६

(२) यद्यपि भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष के इनसे भी पूर्व भाष्य थे, किन्तु आज ये अनुपलब्ध एव कालविप्लुत हैं।

(३) देखिए राधाकृष्णन् · इण्डियन फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३७६, पदसकेत २

(४) स्वधर्मातिरेकेण च क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्व प्रतिग्रही प्रतिपन्नौ .... बुद्धादे पुनरयमेवातिक्रमोऽलंकार बुद्धौ स्थित । येनैवमाह कलिकलुष-कृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यता तु लोक इति स किल लोकहितार्थं क्षत्रियधर्ममतिक्रम्य ब्राह्मणवृत्तिं प्रवक्तृत्वं प्रतिपद्य प्रति-षेधातिक्रममसमर्थैर्ब्राह्मणैरननुशिष्ट धर्मं बाह्यजनानुशास्तिं धर्मपीडा-मप्यात्मनागीकृत्य परानुग्रह कृतवानित्येवं विधैरेव गुणै. स्तूयते ।

'भाट्ट' मत कहलाता है। किन्तु हम तो यहा बौद्ध दर्शन का सम्वन्ध मीमासा दर्शन के साथ दिखाते समय केवल सश्लेषणात्मक दृष्टि से ही विचार करेंगे और कुमारिल के मत का कुछ अधिक वर्णन करेंगे क्योकि बौद्ध धर्म और दर्शन से वे ही अधिकतर सघर्ष में आए थे।

प्रामाण्यवाद, ईश्वर-वाद और नैतिक तत्त्व को लेकर बौद्ध और पूर्व-मीमांसा दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

महर्षि जैमिनि को तीन प्रमाण स्वीकृत हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को भी स्वीकार किया है और कुमारिल ने इन सबके ऊपर वढा दिया है अनुपलब्धि को भी। ऐतिह्य और स्मृति को इस दर्शन में प्रमाण नही माना गया। मीमासा के दार्शनिको के अनुसार प्रत्यक्ष वुद्धि अर्थ-विषयक होती है न कि वुद्धि-विषयक। इसलिए प्रत्यक्ष पदार्थों का होता है न कि पदार्थों के ज्ञान का। सवित् (ज्ञान) सवेद्य नही हो सकती। सवित् की अनुभूति सवित् के ही रूप में हो सकती है, सवेद्य के रूप में कभी नही, इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान मात्र अनुमेय है, ज्ञान की उपस्थिति केवल अनुमान से ही जानी जाती है, ज्ञान दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, किन्तु अपने को नही। कहने की आवश्यकता नही कि वौद्ध सैद्धान्तिक इससे विलकुल विभिन्न सिद्धान्त मानते हैं। उनके अनुसार विज्ञानो का प्रत्यक्ष होता है और पदार्थो का केवल अनुमान, किन्तु यहा तो वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान है और उनके ज्ञान या सवित् का केवल अनुमान। दोनो एक दूसरे के ठीक विपरीत सिद्धान्त हैं। प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष की हुई वस्तुएँ द्रव्य भी हो सकती है, गुण भी और जाति भी। प्रत्यक्ष प्रमाण को मीमासको ने भी दो भागो में वाटा है, यथा सविकल्पक प्रत्यक्ष और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। कुमारिल के मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान मे वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नही होती। प्रभाकर के मत मे दोनो का अस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। प्रभाकर और कुमारिल दोनो ही सामान्य की स्थिति को स्वीकार करते हैं और उसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय वतलाते हैं। यह वात वौद्धो के मत के विपरीत है, क्योकि वहा विशेष धर्म ही केवल अपनी स्थिति रखता है और सामान्य तो केवल कल्पना की चीज है 'विकल्पाकारमात्र सामान्यम्'। कुमारिल और मीमासाचार्य पार्थसारथि दोनो ने ही वौद्धो के इस मत को प्रत्याख्यान का विषय वनाया है। मीमासको के अनुसार प्रत्यक्ष दोनो ही 'अनुवृत्त'

और 'व्यावृत्त' होता है और विना 'सामान्य' की स्थिति माने यह 'अनुवृत्त' प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है ? अत सामान्य है। फिर यदि बौद्ध यह कहें कि सामान्य की सत्यता नही है क्योकि विशेष धर्म से इसकी पृथक् अनुभूति ही नही होती, तो यह भी ठीक नही है। क्योकि यह केवल कहना ही कि जो कुछ है, वह भिन्न अथवा अभिन्न होना ही चाहिए 'सामान्य' के वस्तुत्व को स्वीकार कर लेना है, क्योकि जो 'है' वही तो भिन्न या अभिन्न हो सकता है! 'यद् वस्तु तद् भिन्नम् अभिन्नम् वा भवति।' मीमासक 'सामान्य' को सादृश्य भी नही मानते। 'न च सादृश्यमेव सामान्यम्'। सामान्य और विशेप एव अवयवी और अवयव को लेकर मीमासको ने बडा विचार किया है और कुमारिल और प्रभाकर दोनो के ही इस विषय में अलग-अलग महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, किन्तु उनमें हम इस समय नही जा सकते। मीमासक योग के द्वारा सत्य के प्रत्यक्ष करने में विश्वास नही करते। उनके लिए भूत और भविष्यत् की चीजें केवल वेद से ही जानी जा सकती है, जो उनके दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है। अनुमान प्रमाण के विषय मे शावर का मत है कि जव दो वस्तुओ का सम्वन्ध ज्ञात हो जाय ताकि जव हम उनमे से एक को देखें तो दूसरी का ज्ञान हो जाय, तो यह वाद का ज्ञान ही अनुमान है। 'ज्ञातसम्वन्वस्यैकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि'। शावर ने अनुमान को दो भागो में वाटा है, यथा प्रत्यक्षतोदृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। अस्तु, अव हम शब्द प्रमाण पर आते है, जिसको लेकर मीमासको ने एक अत्यन्त महनीय और विस्तृत विचार उपस्थित किया है और जो हमारे दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मीमासा का लक्ष्य ही धर्म अर्थात् वेद में निहित यज्ञ यागादि मय विधानो की व्याख्या करना है। यज्ञ विधानो की प्रक्रिया क्या है? किन यज्ञो को कव करना चाहिए, किस प्रकार करना चाहिए और किसलिए करना चाहिए?' आदि प्रश्नो के निर्णय के लिए मीमासा दर्शन का आविर्भाव ही हुआ, जव उनके प्रमाण को वह सर्वोपरि प्रधानता क्यो न देता? इसीलिए तो वेद को मीमासको ने अपौरुषेय और नित्य माना। अपौरुषेय, अर्थात् किसी पुरुष ने भी नही वनाया, ईश्वर ने भी नही वनाया। जिन शब्दो मे वेद निर्मित है, वे नित्य है। शब्द मात्र की नित्यता सिद्ध करने के लिए मीमासकों की अनेक युक्तिया है। उनके अनुसार शब्द वर्णसमूह का नाम है। प्रत्येक वर्ण सर्वव्यापक, निरवयव अतएव नित्य है। वेद में विधिसम्वन्धी

ऽजितने वाक्य हैं (और उनके अतिरिक्त जैमिनि के मतानुसार तो सवकी ही अनर्थकता है[1]) उनका मिथ्यात्व कभी भी, किसी भी काल में अथवा किसी भी अवस्था में निष्पन्न नही हो सकता। वे सभी अवस्थाओ, कालों और स्थानो में स्वतन्त्ररूप से सत्य है[1]। वेदो का प्रामाण्य स्वतः ही है। अवैदिक जितने भी कयन है, उनमें आन्तरिक प्रामाण्य जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नही हो सकती,[2] उनकी तो सिद्धि अनुमान से ही हो सकती है। वेदो के नित्य होने के कारग उनका कोई कर्त्ता नही, अत. उनमें कोई दोप नही और उनकी अप्रामाणिकता तो ध्यान में भी नही लाई जा सकती[3]। यदि मानवीय शब्दो के भी उच्चारण करने वाले आप्त पुरुप हो तो कुमारिल की घोपणा है कि वे भी शब्द प्रमाण की कोटि मे आ सकते है। मीमासक यह नही मानते कि वेद ईश्वर की रचना है। जव वेद नित्य ही है तो उनके निर्माण का सवाल ही नही उठता। मीमासा सूत्रो[4] ने वेदो की नित्यता को वडे विस्तार के साय प्रतिपादित किया है। मीमासको का कहना है कि ईश्वर अशरीरी है, अत ग्रन्थ रचना जैसी वस्तु उससे नही वन सकती। यदि कहा जाय कि वह इसके लिए शरीर धारण करता है, तो फिर वह भी उन सभी कमियो और दोषों का शिकार हो जायगा जिनके मनुष्य है और फिर उसके वचनो का प्रमाण ही क्या रहेगा? फिर इस प्रकार की कोई परम्परा भी तो नही। ऋपियो के नाम उनमें पाए जाने से वेदो को हम उनकी रचनाए नही कह सकते, क्योंकि उनके नामो का तात्पर्य केवल यही है कि उन्होने स्वय उनका अध्ययन और अध्यापन कराया। ऐतिहासिक नाम भी वेद में केवल प्राकृतिक शक्तियो का द्योतन करने के लिए ही अथवा सार्वभौम तत्त्वो को दिखाने के लिए

---

(१) देखिए शावर भाष्य १।१।२; मिलाइये 'शब्द ब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते। तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना'। तन्त्रवार्तिक।

(२) प्रकरण पञ्चिका ५।३०; कुसुमाञ्जलि ३।१६; मिलाइये, राधाकृष्णन्: इण्डियन फिलासफी, जिल्द दूसरी पृष्ठ ३८९

(३) श्लोकवार्तिक २।६२-६९

(४) यथा १।१।२४-३१; मीमासकों के इस मत से कि ईश्वर ने वेद को नहीं वनाया, नैयायिक सहमत नहीं। देखिए उनके द्वारा मीमासकों के तर्कों के प्रत्याख्यान के लिए सर्व दर्शन-संग्रह, अध्याय १२

ही आए हैं, अत मीमासा शास्त्र के अनुसार उनमें इतिहास नही है। बौद्धो के द्वारा इस विषय में कडे प्रत्याख्यान किए जाने पर भगवान् कुमारिल ने भी निश्चय ही बडे कडे रूप से उत्तर दिए है। बौद्ध जब कुछ उपहास पूर्वक कुमारिल से पूछते हैं कि यदि वेद अकर्तृक होने के कारण कर्तृदोष से दूषित नही होते हैं तो वेद के समान ही बुद्ध-वाक्यो का भी प्रमाण मानो क्योकि उनमें भी कर्तृत्व भाव का अभाव है। अकर्तृत्व या द्रष्ट्रत्व के रूप में ही बुद्ध ने उपदेश दिया है, उनके कर्तृत्व के रूप मे नही। जो कुछ भी वेद प्रामाण्य की सिद्धि के लिए तुम कहते हो, वही सब हम बुद्ध-वाक्यो के विषय में कहते हैं, तो फिर उनका भी वेद वाक्यो के समान प्रामाण्य क्यो नही है[1]? इस पर कुमारिल तीव्र रूप से क्रोधित होकर उग्र स्वर में प्रतिवादियो का निराकरण करते हुए कहते हैं 'ये शाक्य, वैशेषिक और अन्य प्रतिकूलवादी जो श्रद्धावान् मीमासको के द्वारा विभ्रमित और भयान्वित कर दिए गए हैं, हमारे ही शब्दो को लेकर वकवाद करते हैं जैसे कि मानो छाया को ही वे पकडना चाहते हैं। वे कहते हैं कि उनके शास्त्र नित्य हैं, किन्तु वे मूढ वुद्धि है और केवल द्वेप के कारण ही वे इस वात का प्रचार करते हैं कि वेद पुराणतम ग्रन्थ नही है। ये कुतार्किक यह भी तो घोषणा करते हैं कि उनके कुछ सिद्धान्त, जैसे सर्व-मैत्रीभाव आदि (जिनको उन्होने हमसे चुराया है) वेद में से उन्होने नही लिए, जवकि वुद्ध के और कुछ वचन वेद के स्पष्ट विरुद्ध हैं वे अपनी कठिनाई को छिपाने के लिए हमारे ही उन तर्कों का अनुकरण करते हैं जो हम वेद के नित्यत्व को प्रख्यापित करने के लिए

(१) अकर्तृकतया नापि कर्तृदोषेण दुष्यति।
वेदवद् वुद्धवाक्यादि कर्तृस्मरणवर्जनात् ॥
वुद्धवाक्यसमाख्यापि प्रवक्तृत्वनिवन्धना ।
तद्द्रष्टत्व निमित्ता वा काठकागिरसादिवत् ॥
यावदेवोदिन किञ्चिद्वेदप्रामाण्यसिद्धये ।
तत्सर्वं वुद्धवाक्यानामतिदेशेन गम्यते ॥ तन्त्रवार्तिक, मिलाइये,
सुगनो यदि धर्मज्ञ कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतिभेद कथं तयो. ॥
पूर्ण विवेचन के लिए, देखिए मैक्समूलर : हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर (पाणिनि ऑफिस संस्करण) पृष्ठ ५२

उपस्थित करते हैं। वे जानते हैं कि मीमासको ने यह सिद्ध कर दिया है कि अतीत विषयो पर मनुष्य के कोई भी वचन प्रमाणत्व प्राप्त नही कर सकते, वे यह भी जानते हैं कि वेद के प्रमाणत्व का प्रत्याख्यान नही किया जा सकता .इसलिए कुछ भी उत्तर देने में असमर्थ, उनके युक्तिहीन वचनो के विभ्रम के काट दिए जाने पर, वे उस मूर्ख दूल्हे के समान हैं जो एक दुल्हिन की कामना करता हुआ आकर कहता है 'मेरा कुल उतना ही उच्च है जितना तुम्हारा।'[१] इस प्रकार उग्र रूप से प्रत्याख्यान करते हुए आचार्य कुमारिल ने अन्त मे यह कहकर भी उन्हें फटकारा है कि 'क्षणिक-वाद' 'क्षणिकवाद' पुकारने वाले बौद्धो का शाश्वतवाद के विषय में बात करने का प्रयोजन ही क्या है? इसी प्रकार जब वेद के देवतातत्त्व को लेकर अहल्या और प्रजापति के अनाचार-प्रसङ्ग की बात कुमारिल को याद दिलाई जाती है तो वे एक कुशल मीमासक की तरह झट कहने लगते हैं कि प्रजापति नाम है सूर्य का, उनकी कन्या है उषस् देवी और जब यह कहा जाता है कि उन्होने उसके साथ प्रेम किया तो इसका तात्पर्य यही है कि सूर्योदय के समय सूर्य उषस् का पीछा करता हुआ दौडता है। इसी प्रकार कुमारिल अहल्या और इन्द्र के प्रसग को यह कह कर व्याख्यात करते हैं कि अहल्या अर्थात् रात्रि इन्द्र रूपी सूर्य के द्वारा विभ्रमित और नष्ट कर दी जाती है, यही वेद का तात्पर्य है, व्यभिचार का प्रख्यापन करना नही।[२] मीमासको के कर्मकाण्डमय धर्म और उसके फल की सिद्धि किन्ही निश्चित मानवीय बुद्धि के उपकरणो से नही हो सकती थी,

---

(१) तन्त्रवार्तिक; इस पर विशेष विवेचन के लिए देखिए मैक्समुलर: हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट सस्कृत लिटरेचर (पाणिनि ऑफिस सस्करण) पृष्ठ ४३-४४

(२) प्रजापतिस्तावत्प्रजापालनाधिकारादादित्य एवोच्यते; स चारुणोदय-वेलायामुषसमुद्यन्नन्येति सा तदागमनादेवोपजायत इति तद्दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्या चारुण किरणाख्य बीजनिक्षेपात् स्त्री पुरुष सयोगवदुपचार.। एवं समस्त तेजा परमेश्वरत्वनिमित्तेन्द्रशब्दवाच्यः सवितैवाहनि लीयमानतया रात्रेरहल्याशब्दवाच्याया क्षयात्मक जरण हेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मादनेन वोदितेन वेत्यहल्याजार इत्युच्यते न परस्त्री-व्यभिचारात्।

गवेषको और उच्चतम निष्पक्ष विचारको में उन्हे कितना ऊचा वैठा देती है इसकी कुछ कल्पना हम नही कर सकते । कुमारिल जैसे आचार्य के द्वारा वौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रभवत्व' स्वीकार कर लेना निश्चय ही एक ऐसा तथ्य है जिसकी पूरी महत्ता को समझने का हमें यत्न करना चाहिए। भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए इससे अधिक महत्व-पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन और कोई नही हो सकता। अस्तु, अव हम पूर्व मीमासा के ईश्वरवाद पर आते है।

पूर्वमीमासक ईश्वरवादी नही, किन्तु 'अपूर्व'वादी है, देवबहुत्ववादी है। जैमिनि ने ईश्वर की समस्या को स्पर्श नही किया, वुद्ध की तरह ही, किन्तु एक विलकुल विभिन्न प्रयोजन को लेकर । वुद्ध ने तो इसलिए नही किया कि उनके नैतिक आदर्शवाद मे इतनी स्वय परिपूर्णता थी कि वे उससे अनपेक्ष रह सकते थे और जैमिनि ने इसलिए नही किया कि यज्ञयागादि विधान उनके लिए भी स्वत परिपूर्ण था क्योकि एक विशेप विधि से करने पर वह स्वय ही 'अपूर्व' के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप फल-प्राप्ति करा सकता था, फिर ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता थी? ईश्वर को तो माना ही नही, पूर्व मीमासको ने सृष्टि और प्रलय को भी नही माना, जिसे अन्य सव 'आस्तिक' दर्शन प्राय मानते है। 'य सर्वज्ञ' आदि श्रुतियाँ भी यज्ञो के अनुष्ठाताओ की प्रशसारूप ही मीमासको ने मानी, व्रह्म या ईश्वर के स्वरूप निर्णय सम्वन्वी नही। जिस प्रकार वुद्ध ने समग्र दृष्टि यज्ञयागादिमय कर्म-काण्ड और ईश्वर से हटा कर नैतिक आदर्शवाद में लगा रक्खी थी, उसी प्रकार विपरीत प्रकार से, किन्तु ईश्वर के प्रति समानता के भाव को लेकर, मीमामको ने वेद और उसके प्रतिपाद्य यज्ञयागादि को ही लिया और उसके अभिनिवेश मे न केवल ईश्वर को ही, किन्तु किसी परिनिष्ठित वस्तु विपयक ज्ञान को भी (जो निश्चय ही स्वतन्त्र रूप से वेद में प्रतिपादित है) तथा सृष्टि और प्रलय को भी, वे विलकुल भूल गए। कुमारिल ने ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व के विरोव मे जो तर्क दिए है वे अपने एक अग मे विलकुल वही है जो भगवान् वुद्ध ने दिए थे। भगवान् कुमारिल का कथन है कि विना उद्देश्य के प्रवृत्ति नही हो सकती। फिर किस उद्देश्य से ईश्वर ने सृष्टि को वनाया? यदि उसके पास कोई उद्देश्य था तो फिर क्या वह अपूर्ण नही हुआ? फिर उसने ऐसी दु खमय सृष्टि क्यो वनाई? जव वह सर्वशक्ति-मान् ही है तो क्या दु ख-रहित सृष्टि की वह रचना नही कर सकता था?

करुणा की प्रवृत्ति से तो उसने सृष्टि नही बनाई। जब प्राणी पहले थे ही नही तो 'कर्म' की भी सगति क्या लगेगी ?[1] इस प्रकार कुमारिल ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व निष्पन्न नही होता। किन्तु यह स्थिति अधिक नही चल सकती थी। जब विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद पर आधारित तथागत का मार्ग ही मनुष्य के निर्बल हृदय को तृप्त नही कर सका तो कर्मकाण्ड पर प्रतिष्ठित अनेक देवताओ को मानने वाले इन मीमासको के लिए ही उनके एक प्रतिष्ठापक ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्यो न पडती ? स्वभावत मीमासा का भी एक महायान सस्करण हुआ । कुमारिल ने भी शिव की प्रार्थना की[2], लौगाक्षि भास्कर ने भी यज्ञयागादि विधान उसी को समर्पित करने की विनती की[3] और वेदान्तदेशिक ने तो मीमासा का एक नवीन सस्करण ही निकाल दिया जिसकी दिशा कुछ-कुछ कुमारिल ही प्रस्थापित कर गए थे[4] और जो भारतीय दर्शन में 'सेश्वर मीमासा' के नाम से प्रसिद्ध है। आत्मवाद के सम्बन्ध में भी हमे पूर्वमीमासा और बौद्ध दर्शनो को देख जाना चाहिए । महर्षि जैमिनि ने आत्म-सिद्धि करने का प्रयत्न नही किया, क्योकि यह उनके दर्शन के बाहर की चीज थी । दोनो मीमासाओ के वृत्तिकार उपवर्ष भी ऐसा ही मानते थे और सम्भवत भाष्यकार शावर भी[5] । आचार्य कुमारिल ने कहा है 'इस प्रकार भाष्यकार (शावर) ने नास्तिकवाद के निराकरण की इच्छा करते हुए आत्मा

---

(१) श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप परिहार, एवं मिलाइये चतुर्थ प्रकरण में 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध निरीश्वरवादी हैं' ? पर विवेचन ।

(२) श्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में 'विशुद्ध ज्ञान देहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेय. प्राप्ति निमित्ताय नम. सोमार्धधारिणे' ।।

(३) सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहित. तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतु । ईश्वरार्पण-बुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतु । अर्थसग्रह का उपसहार ।

(४) स्वयं अपने विषय में यह कह कर,
प्रायेणैव हि मीमासा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्न. कृतो मया ।।
श्लोक वार्तिक १।१०

(५) देखिए मीमासा-सूत्र-शावरभाष्य १।१।५

और परिनिर्वाण की भावनाएँ पाई जाती है, वैसी कोई बात मीमासा दर्शन में उपलब्ध नही होती। यह उसकी एक विशेषता है। प्रभाकर के मतानुसार देह का जब आत्यन्तिक उच्छेद हो जाय और धर्म और अधर्मों का निशेष परिक्षय हो जाय, तब वह मोक्ष होता है[१]। शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि से युक्त आत्मज्ञान से साधना करने पर शारीरिक जीवन से मुक्ति मिल जाती है। कुमारिल के मतानुसार मोक्ष परम आत्मा की प्राप्ति की अवस्था मात्र है[२] और कुमारिल का यह भी तात्पर्य है कि मोक्ष तब तक शाश्वत नही हो सकता जब तक कि वह निषेधात्मक न हो[३]। इस विरोधात्मक प्रख्यापन में हम सम्भवत तथागत के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का स्पष्टीकरण देख सकते है। किन्तु फिर भी कुमारिल मोक्ष को भाव रूप मानते है। परन्तु समानता अधिक नही बढाई जा सकती।

इस प्रकार पूर्वमीमासा दर्शन को बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में हमने देखा। दोनो के सर्वोत्तम तत्व ही हमने सामने रक्खे। अनेक बातो में दोनो की विभिन्नता पाई, बल्कि यो कहना चाहिए कि दोनो के दृष्टिकोण को ही विपरीत पाया। किन्तु किन बातो में ? ज्ञान के उपकरणो और परिधानो में ही, उसके स्वरूप मे नही। मीमासा तो अपने बन्धन मे बँधे रहने के कारण इच्छा रहते भी कुछ नही कह सकी, क्योकि वह 'पूर्व' की ही जो मीमासा थी। जैमिनि, शाबर और उपवर्ष इन सब ने इसी परम्परा को रक्खा। कुमारिल जरूर कुछ बाहर निकल आए, किन्तु ज्ञान-मार्ग में प्रवेश नही कर सके वे भी। उनका भी आत्मवाद वेदान्त कोटि को नही पहुँचा। बौद्ध आचार्यो ने मीमा-

---

(१) आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निशेषधर्माधर्मनिबन्धनपरिक्षयो।
तत्वालोक (शालिकनाथ कृत)।

(२) परमात्मप्राप्त्यवस्थामात्रम्। तथा विस्तार से श्लोकवार्तिक में इस प्रकार 'ज्ञान मोक्षनिमित्त च गम्यते नेन्द्रियादिना। आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्॥ तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वाभावेन मुच्यते। न ह्यभावात्मक मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम् न च क्रियाया कस्याश्चिदभाव फलमिष्यते। तत्र ज्ञातात्मतत्वाना भोगात् पूर्वक्रियाक्षये॥ उत्तर प्रचयाभावाद्देहो नोत्पद्यते पुन ।तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते॥

(३) देखिए श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार।

सको के तीव्र प्रत्याख्यान किए और उनके उत्तर में उन्हे वे ही मिले, वल्कि सम्भवत कुमारिल के हाथो तो तीव्रतर! किन्तु उनको यही आश्वासन कम न होना चाहिए कि उनके प्रतिकूल दर्शन का भी उन अप्रतिम 'नास्तिक्य-निराकरिष्णु' (यह उपपद कुमारिल ने शावर के लिए प्रयुक्त किया है, किन्तु उनके लिए भी यह प्रयुक्त किया जा सकता है।) आचार्य के द्वारा 'उपनिषत्प्रभवत्व' मानकर अपने ढग से महत्व स्वीकार किया गया और उसी प्रकार मीमासको को भी वौद्ध आचार्यो का कुछ कम कृतज्ञ न होना चाहिए जिनके सत आगाह करने के फल स्वरूप ही वे सम्भवत यज्ञादि की फल-प्राप्ति के विमोह से अपने मन को हटाकर उसे निष्काम यज्ञ में जोडने वाले हुए। दोनो ने एक दूसरे का विरोध कर एक दूसरे को दान ही दिया है, जिससे दोनो का ही कल्याण और दोनो का ही मार्ग प्रशस्त हुआ है।

ऐ—बौद्ध दर्शन और वेदान्त

'वेदान्त' शव्द से तात्पर्य भारतीय दर्शन में अपने पारिभाषिक अर्थो में उपनिषदो और उनके उपकारी शारीरक सूत्र आदि शास्त्रो से है[1]। उपनिषदें प्राचीनतम वेदान्त-ग्रन्थ है। वे ज्ञान के चरम निष्कर्ष हैं जिन्हे भारतीय मनीषा ने प्राप्त किया है। उपनिषदो के दर्शन का विकास विभिन्न ऋषियो ने किया था, यह हम पहले देख चुके हैं। अत उनके प्रज्ञानो मे जहा-तहा विभिन्नता भी है। सृष्टि-क्रम-चिन्तन को लेकर भारी मतभेद उपनिषदो के ऋषियो में था। उपनिषदो के दर्शन को एक समन्वित रूप देने का प्रयत्न सर्व प्रथम ब्रह्मसूत्र में किया गया। ब्रह्मसूत्र का ही दूसरा नाम शारीरक-सूत्र या वेदान्त-सूत्र भी है। 'शारीरक' शव्द का अर्थ है शरीर में रहने वाले जीव का विवेचन करने वाला शास्त्र। शरीर में उत्पन्न अर्थात् जीव। 'शरीरमेव शरीरकम्। शरीरके भव शारीरकः जीव'। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र जीव-शास्त्र या आत्म शास्त्र है। गीता को भी प्राय वेदान्त-ग्रन्थ माना जाता है, क्योकि वह स्वय उपनिषदो रूपी गायो से कृष्ण द्वारा दुहा हुआ अमृत ही है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता वेदान्त के 'प्रस्थान त्रय' अर्थात् तीन प्रस्थान कहलाते हैं। उपनिषदो और गीता के साथ बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध-विवेचन हम पहले कर चुके है। यहा ब्रह्मसूत्र और

उपोद्घात

(१) वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाण तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्त-सार।

उस पर आधारित वेदान्त-दर्शन की विकास-परम्परा को लेकर कुछ कहना इष्ट होगा ।

वेदान्त दर्शन भारतीय विचार की सर्वोत्तम उपज है । उसे हम भारत का प्रतिनिधि राष्ट्रीय दर्शन कह सकते है, जब कि भारतीय दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वजनीन स्वरूप की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति बौद्ध दर्शन में ही हुई है । औपनिषद ज्ञान एक है, किन्तु उस एकता में अनेकता की उपलब्धि होती है । यही कारण है कि जिन ब्रह्मसूत्रो में उपनिषदो के मन्तव्य के एकीकरण का प्रयत्न किया गया, स्वय उनकी अलग-अलग पाच व्याख्याएँ कालान्तर में की गई जो विभिन्न वेदान्त-सम्प्रदायो के रूप में वाद में विकसित हो गई ।

महर्षि वादरायण ने ब्रह्मसूत्रो की रचना की। डा० दासगुप्त के मतानुसार ब्रह्मसूत्रो का रचना-काल ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी है[1] । अन्य विद्वानो ने दूसरे मत भी प्रकट किये है[2] । इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मसूत्रो का प्रणयन वुद्ध-काल के काफी वाद हुआ । ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य के रूप में सर्वप्रथम बौधायन और उपवर्ष ने वृत्तिया लिखी थी, जो आज प्राप्त नही हैं। बौधायन-वृत्ति का उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (श्रीभाष्य) में दिया है । ब्रह्मसूत्रो के उपलब्ध भाष्यो मे सब से प्राचीन आचार्य शकर का है, जिसकी रचना आठवी शताब्दी में हुई । इस भाष्य के ऊपर एक विशाल उपकारी साहित्य वाद की शताब्दियो मे लिखा गया । शकर और उनके अनुयायियो के द्वारा वेदान्त के निर्विशेषाद्वैत स्वरूप का समर्थन किया गया । यही शकर का मत था । रामानुजाचार्य ने ग्यारहवी शताब्दी मे ब्रह्मसूत्रो पर अपने प्रसिद्ध 'श्रीभाष्य' की रचना की। उनका मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज के मत की पुष्टि में भी प्रभूत साहित्य लिखा गया । आचार्य निम्बार्क ने भी ग्यारहवी शताब्दी में ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य लिखा । उनका मत द्वैताद्वैत या भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है। आनन्दतीर्थ ने तेरहवी शताब्दी में ब्रह्मसूत्रो पर अपना भाष्य लिखा जिसमें ब्रह्मसूत्रो की द्वैतमयी व्याख्या की गई थी । यह भाष्य ही माध्व सम्प्रदाय का आधार है । आचार्य वल्लभ ने पन्द्रहवी शताब्दी में

वेदान्त-दर्शन के पचमुखी विकास पर एक विहंगम दृष्टि

(१) हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४१८
(२) देखिये राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४३३

अपने शुद्धाद्वैत मत की पुष्टि करते हुए ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य लिखा। इस प्रकार पाच प्रकार की विभिन्न व्याख्याएँ ब्रह्मसूत्रो की हुई। शकर के अलावा शेष चार सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय कहलाते है, जब कि शकर को हम शैव कह सकते है या सब से अतीत केवल अद्वैतवादी भी। यह ध्यान रखने की बात है कि ये पाचो आचार्य दक्षिण के ही निवासी थे। आचार्य शकर मलबार के, रामानुज तमिल के, निम्बार्क तेलगू प्रदेश के और आनन्दतीर्थ और वल्लभ क्रमश कर्नाटक और तेलगू प्रदेश के।

ब्रह्मसूत्रो और वेदान्त के उपर्युक्त पाच सम्प्रदायो के मध्य में कुछ उपनिषद्-उपकारी अन्य साहित्य भी है जो अपनी महत्ता और प्रभावशीलता के कारण 'वेदान्त' की ही कोटि में आता है। इसमें प्रथम ग्रन्थ तो है योग-वासिष्ठ जो हमारे देश में साधको को अत्यन्त प्रिय है और जिसकी-सी सरलता और निर्व्याज वेदान्त-देशना अन्यत्र मिलनी दुर्लभ है। दूसरा ग्रन्थ जो इसी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है वह है महामनीषी आचार्य गौडपाद की अद्वितीय दार्शनिक और काव्यमय कृति 'माण्डूक्य कारिका' या 'आगशास्त्र'। इनके बाद ही वेदान्त का पचमुखी विकास प्रारम्भ होता है। अत अपने विवेचन में हम पहले ब्रह्मसूत्रो को लेंगे, फिर योग वासिष्ठ को और तदन्तर आचार्य गौडपाद और उनकी 'माण्डूक्य कारिका' को लेकर क्रमश वेदान्त के पचमुखी विकास पर आयेगे। पहले हम ब्रह्मसूत्रो को लेते है।

हम पहले कह चुके है कि ब्रह्मसूत्रो की पाच विभिन्न व्याख्याएँ वेदान्त के आचार्यो ने की है। हम इनके सहारे ही ब्रह्मसूत्रो के मन्तव्यो को जानने का प्रयत्न करते है। इनके व्यतिरिक्त, स्वय बादरायण का मत क्या था, यदि यह हम जानने की खोज करें, तो भाष्यो का सहारा छोड देना ही पडेगा। उस हालत में महर्षि बादरायण के मन्तव्य का पता लगाना हमारे लिये बडा कठिन हो जायगा, यद्यपि वह अत्यन्त आवश्यक होगा। शेक्सपियर के सम्बन्ध में हमने अग्रेजी समालोचको को अक्सर कहते सुना है 'हम पूछते-ही-पूछते रह जाते है, किन्तु तुम स्मित करते हो और चुप रह जाते हो, ज्ञान का अतिक्रमण करते हुए'[१]। महर्षि बादरायण के सम्बन्ध में यह बात शेक्सपियर से भी अधिक ठीक है। दो-दो चार-चार अक्षरो के सूत्र-समूह से क्या अर्थ निकालें? फिर भी प्रयत्न करना मानवीय बुद्धि का काम है।

(१) We ask and ask, thou smilest and art still, out-topping Knowledge!

ब्रह्मसूत्र दर्शन और बौद्ध दर्शन से उसकी तुलना

'ब्रह्मसूत्र', 'वेदान्त सूत्र' अथवा 'शारीरक सूत्र' 'ब्रह्म' अथवा 'शारीर' की मुख्य चिन्ता को लेकर प्रवृत्त होता है, जैसा कि उसके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (अब आगे ब्रह्म की जिज्ञासा) से स्पष्ट विदित है। ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय है। प्रथम अध्याय ब्रह्म के स्वरूप एव जीव और जगत् के साथ उसके सम्बन्ध का निरूपण करता है। द्वितीय अध्याय में इसी स्थिति का स्पष्टीकरण एव इसके विरुद्ध मतो का प्रत्याख्यान है। तृतीय अध्याय में साधनसम्पत्ति का वर्णन है और चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मविद्या के फल का वर्णन है। इसीलिए इनका नामकरण भी क्रमश समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय है। यही इस चतुराध्यायी शारीरक मीमासा की सक्षिप्त विपय-सूची है। सब वेदान्त-वाक्यो का ब्रह्म में ही तात्पर्य है, यह तो ब्रह्म सूत्रकार ने भली प्रकार दिखाया है, किन्तु उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है, इसके विपय में उन्होने कुछ स्पष्ट उत्तर मनुष्यो को सम्भवत नही दिया। महर्षि वादरायण वेद को शाश्वत मानते है[1]। और शास्त्र को देते है अत्यन्त महत्व और प्रमाणवत्ता[2]। तर्क के द्वारा परम सत्य गम्य नही है[3], यह उनका स्पष्ट विचार है। अत वेद के विपय में बुद्ध का ब्रह्मसूत्रकार से विपरीत मत है, किन्तु तर्क के विपय में प्राय समान ही मत है। प्रत्यक्ष और अनुमान अथवा यो कहिए कि श्रुति और स्मृति, य दो प्रमाण वादरायण को मान्य है[4]। निरुक्त अवस्था में तो ब्रह्मसूत्रकार तर्क का उपयोग आवश्यक मानते है किन्तु अनिरुक्त में शास्त्र ही उनके लिए एक मात्र प्रमाण है[5]। तथागत तो निरुक्त को छोड अनिरुक्त में गए ही नही, केवल उसकी एक झलक ही अनुभूति से उन्होने

(१) अतएव च नित्यत्वम् ।१।३।२९; मीमासकों के यह मत समान ही है।

(२) क्योंकि ब्रह्म की सिद्धि ही शास्त्र पर अवलम्बित है 'शास्त्रयोनित्वात्'। १।१।३

(३) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्ष प्रसग.। २।१।११

(४) शब्द इति चेन्नात. प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। १।३।२८, अपि च सराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ३।२।२४, दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने। ४।४।२०

(५) श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। २।१।२७

मनुष्यो को दी। तर्क को अनुभूति मे निम्न श्रेणी में रखने के वादरायण भी पक्षपाती हैं[1]' और सराधन, ज्ञान-प्रसाद और विशुद्ध-सत्व होने पर ही सत्य को देखने योग्य दृष्टि मिल सकती है[2], इसमे तो वादरायण के समान ही तथागत को भी क्या आपत्ति हो सकती है, वल्कि इस सावन-सम्पत्ति की अविक विस्तृत, व्यापक और तात्विक व्याख्या करना तो उनका कार्य ही है। यदि सावन अच्छे हैं तो साध्य भी अच्छा होना ही चाहिए। ब्रह्म को जगत् का उत्पत्ति, स्थिति और लय वताना[3], 'स्वाप्ययात्'[4] कह कर उसकी सिद्धि करना, प्रवान से उसे व्यक्तिरिक्त और सव गुणो का अधिष्ठान वताना[5], सर्वज्ञत्व, विशुद्धत्व आदि गुणो का उसमें होना वताना[6], जगत् का प्राण[7], आत्मा का प्रकाश[8] और मनुष्य की हृदय रूप गुहा में उसे रहने वाला ठहराना[9] और इन सव से ऊपर उसमें निष्ठा के द्वारा ही मोक्ष का उपदेश करना[10] ये सव वातें वादरायण की ज्ञान-गरिमा की सूचक है, किन्तु तथागत की प्रज्ञापारमिता इनसे अनपेक्ष हैं। वह 'कर्म' के रूप में विश्व के एक 'अन्तस्तद्धर्म' (ब्रह्मसूत्रकार के शब्द[11]) की ओर सकेत तो करती है, किन्तु ब्रह्मसूत्रकार

(१) दृश्यते तु। २।१।६; तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंग। २।१।११
(२) अपि च सरायने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ३।२।२४; मिलाइये 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्व ....पश्यते निष्कलं ध्यायमान।मुण्डक० ३।१।८; 'कश्चिद्धीर. प्रत्यगात्मानमैक्षत् ...' कठ० ४।१
(३) जन्माद्यस्य यत.। १।१।२
(४) १।१।९
(५) सर्वधर्मोपपत्तेश्च। २।१।३७
(६) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। १।२।१; विवक्षितगुणोपपत्तेश्च। १।२।२ सर्वोपेता च तद्दर्शनात्। २।१।३०
(७) अतएव प्राण। १।१।२३; मिलाइए 'प्राणस्य प्राण'। वृहदारण्यक० ४।४।१८
(८) ज्योतिश्चरणाभिधानात्। १।१।२४
(९) अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च। १।२।७; मिलाइये एष म आत्मान्तर्हृदये। उपनिषद्
(१०) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। १।१।७
(११) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्। १।१।२०

की ही तरह उसका प्रत्याख्यापन नही करती, कारण कि वह 'उपशान्तोऽयमात्मा' की ओर ही अधिक प्रवण दीखती है, ब्रह्म को छोड कर ब्रह्म-मार्ग पर ही अधिक निबद्ध-दृष्टि दीखती है। इस 'मार्ग' (मग्ग) में ही निष्ठा करने से उसके यहा मोक्ष के उपदेश का विधान है। 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'। इसी प्रकार भगवान् सूत्रकार का जीव, ब्रह्म और जगत् पर विचार करना, कारणवाद की समस्या को सुलझाना, आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण करना आदि बातें ऐसी है जिनके प्रतिकूल सिद्धान्त हमें उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों की परम्परा मे जिन्होने नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद आदि सिद्धान्तो को प्रतिपादित किया, बहुत मिल सकते है, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध इन सब वादो और प्रतिवादो से परे थे। ब्रह्मसूत्रकार ने ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान दोनो ही कारण माना है[१]। कारण और कार्य के गुण विभिन्न हुआ करें, किन्तु वे दोनो एक ही चीज होते है, ऐसा भी उन्होने कहा है[२]। ब्रह्म और जगत् को उन्होने अनन्य और अभिन्न ही माना है, जैसे मिट्टी के बर्तन से मिट्टी को[३]। मायावाद को कदाचित् उन्होने नही माना है[४]। उन्होने माना है कि ब्रह्म अपनी ही क्रीडा के लिए जगत् के रूप में प्रवेश कर जाता है और उसमें कोई विकार नही आता[५]। इस प्रकार जीव, जगत् और ब्रह्म के विषय को लेकर बहुत कुछ कहा है और इस दृष्टि से उत्तरकालीन बौद्ध विचार में जो कुछ भी उनको अपनी स्थिति के प्रतिकूल जँचा है, उस सबका प्रत्याख्यान उन्होने स्वय दूसरे अध्याय के दूसरे पाद में कर दिया है, जिस पर विचार इस समय न कर शाकर दर्शन पर विचार करते समय आगे करेंगे। हा, एक बात कहना और जरूरी है। नीति-तत्व ब्रह्मसूत्रकार ने स्पष्ट रूप मे उपनिषदो का ही माना है[६]। अत जो बात बुद्ध के दर्शन की औपनिषद दर्शन के साथ तुलना करते समय हम कह चुके हैं वह यहा भी ठीक है। 'अपशूद्राधिकरण'[७] मे शूद्रो के लिए कुछ भी आश्वासन

(१) १।४।२३-२७
(२) द्रष्टव्य २।१।१४-२०
(३) द्रष्टव्य २।१।१४, १।४।२२
(४) मायामात्र तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। ३।२।३
(५) मिलाइये २।१।३३, १।४।२६; २।१।२७
(६) देखिए २।३।४०-४२
(७) १।३।३४-३८

भगवान् वादरायण ने नही दिया है, यह उनके गौरव में एक वडी हानि लाने वाली वात है । वेदान्त-दर्शन की सारी महत्ता यहा धराशायी हो जाती है और घवराया हुआ आधुनिक विद्यार्थी सोचने लगता है कि अन्तत वेदान्त का यह सव ज्ञान–विवेचन क्या वौद्धिक ही है ? शूद्र के सम्वन्ध मे वादरायण की स्थिति की जो व्याख्या हम यहा ले रहे है, वह गलत नही है, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रसग में शकर और रामानुज जैसे विरोधी आचार्य भी जैसे एक दूसरे से शूद्र का अपलाप करने में प्रतिस्पर्द्धा-सी करते है । शूद्र को यज्ञ का अधिकार नही है, वह सस्कार के योग्य नही है, वेद पढना उसको वर्जित है, इन वातो में वादरायण, शकर और रामानुज में कोई अन्तर नही है । यही हमें भगवान् वुद्ध की 'चातुर्वर्णी शुद्धि' के वास्तविक महत्त्व का भान होने लगता है, 'अस्सलायण सुत्तन्त' की हमें याद आने लगती है जहा भगवान् ने शूद्र के अधिकार का घोषणापत्र तैयार किया था। यही हम सवसे अधिक अनुभूति कर सकते है कि भारतीय समाज के लिए छठी शताव्दी ईसवी पूर्व भगवान् वुद्ध ने क्या दिया था और उसका क्या महत्त्व था । समचर्यापरायण वुद्ध के केवल एक शव्द पर इन तथोक्त अभेदवादियो के सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रपद और भाष्य न्योछावर है । वैराग्य की महिमा भगवान् सूत्रकार ने स्वीकार की है[१]- और कर्म और ज्ञान को मिलाने का भी प्रस्ताव किया है[२]। मनुष्य की निर्वलता को स्वीकार कर प्रतीक उपासना का भी निर्देश किया है[३] और निर्देश किया है देवो की पूजा का भी, चाहे वे ब्रह्म के अधीन ही क्यो न हो[४] ? किन्तु विशेष जोर तो सूत्रकार भगवान् ने सराधन पर ही दिया है, जिससे वे अव्यक्त ब्रह्म की भी अनुभूति सम्भव मानते है[५] । फिर एक वात यह है कि वादरायण जीवन्मुक्ति में भी विश्वास करते है और इस प्रकार जीते जी निर्वाण के विचार ने यहा कुछ सादृश्य दिखाई पडता है, किन्तु जव कि वुद्ध उसकी नैतिक स्थिति पर जोर देकर ही ऐसा उपदेश देते है, जीवन में उसका आचरण देखना चाहते है, वादरायण ने केवल वौद्धिक दृष्टिकोण से ही विचार किया है[६] । मनुष्य-मनुष्य में भेद

(१) ३।४।१

(२) ३।४।३२-३५

(३) ४।१।४

(४) ३।२।३८-४१

(५) ३।२।२३-२४

(६) तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ४।१।१३; इतरस्या-

देखने से जो विरत नही, ज्ञान पर जो द्विजातियो के एकाधिकार को मानता है, शूद्र के प्रति जिसकी निश्चयत घृणा-बुद्धि है, वह जीवन्मुक्ति का क्या अनुभव करेगा, कुछ समझ में नही आता। साधन और साध्य की, मोक्ष और उसके मार्ग की, जैसी सगति बौद्ध दर्शन में है, अभेद की जैसी निष्ठा—समाज की शिराओ को व्याप्त करने वाली निष्ठा—उन उद्भुत 'वेदान्तज्ञ' (वेदन्तगू) के धर्म में है, उसकी शताश भी ब्रह्मसूत्रों में नही मिलती और इसका प्रमाण है 'अपशूद्राधिकरण।' अब हम योगवासिष्ठ के साथ बौद्ध दर्शन की कुछ तुलना करेंगे।

बौद्ध दर्शन और योगवासिष्ठ

योगवासिष्ठ को हम साधनात्मक वेदान्त का ग्रन्थ कह सकते है। मुमुक्षुओ के विचार के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है और उनमें लोकप्रिय भी है। शम और विवेक का तो इस ग्रन्थ को निधान ही कहना चाहिये। चित्त को शान्ति से भर देना, जो ब्रह्मनिष्ठा का लक्षण है, इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। जीवन्मुक्ति की अनुभूतियो से यह महाग्रन्थ स्पन्दित है। योग-वासिष्ठ में वसिष्ठ मुनि ने राम के प्रति योग-वेदान्त का उपदेश दिया है। जो ज्ञान योग-वासिष्ठ में निहित है, उसकी परम्परा वहा अत्यन्त प्राचीन बताई गई है। वसिष्ठ मुनि ने कहा है कि यह ज्ञान उन्हे ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था। 'इदमुक्त पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना'[1]। वसिष्ठ द्वारा राम को दिये गये इस उपदेश को महर्षि वाल्मीकि ने योग-वासिष्ठ के रूप मे ग्रन्थ-बद्ध किया है, ऐसी प्राचीन मान्यता है। परन्तु आज जिस रूप में योग-वासिष्ठ हमें मिलता है, वह महर्षि वाल्मीकि की रचना नही माना जा सकता। योग वासिष्ठ का प्रणयन-काल अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन है। परन्तु योग वासिष्ठ का रचयिता चाहे जो रहा हो और कुछ भी उसका काल हो, वह जीवन्मुक्त, अखिल-ज्ञान-दर्शी महापुरुष अवश्य था, इसमे सन्देह नही।

बौद्ध दर्शन के साथ योगवासिष्ठ-दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा करने से पूर्व हमारे लिये योग वासिष्ठ के युग को जान लेना आवश्यक है। उसकी कुछ

प्येवमसश्लेष पाते तु।४।१।१४; अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधे.। ४।१।१५, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते।४।१।१९

(१) योगवासिष्ठ २।१०।९, मिलाइये वहीं 'पूर्वमुक्त भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना .. . . तदिदं कथयाम्यहम्। २।२।१

अवगति प्राप्त कर लेने पर हम उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को अच्छी तरह देख सकेंगे जो बौद्ध धर्म और दर्शन ने योग वासिष्ठ की साधना-पद्धति के लिये प्रस्तुत की है और जिसका प्रभाव वेदान्त दर्शन के विकास पर भी काफी पडा है। योग वासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण में गीता के २७१ श्लोक उद्धृत है[1], इससे स्पष्ट है कि योग वासिष्ठ गीता के बाद की रचना है। परन्तु इसने उसकी अर्वाचीनता का हमे कोई ठीक बोध नही होता। भिन्न-भिन्न विद्वानो ने योग वासिष्ठ के रचना-काल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये है। डा० फार्कुहार के मतानुसार योग-वासिष्ठ की रचना तेरहवी और चौदहवी शताब्दियो मे हुई[2]। विन्टरनित्ज के मतानुसार योग-वासिष्ठ शकराचार्य की समकालीन रचना है, अर्थात् उसका प्रणयन आठवी शताब्दी के अन्त या नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, जो प्राय शकराचार्य का समय माना जाता है[3]। एक अन्य विद्वान् (प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य) ने दसवी शताब्दी से लेकर बारहवी शताब्दी तक का समय योग-वासिष्ठ का रचना-काल माना है[4]। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने सातवी या आठवी शताब्दी में योग-वासिष्ठ की रचना सम्भव मानी है[5]। योग-वासिष्ठ के रचना-काल की समस्या का पूर्ण समाधान हमें डा० भीखनलाल जी आत्रेय के इस सम्बन्धी अध्ययन में मिलता है, जिसे प्राय सभी आधुनिक पूर्वी और पश्चिमी विद्वानो ने स्वीकार भी कर लिया है। योगवासिष्ठ-दर्शन का सर्वप्रथम व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत करने का श्रेय डा० आत्रेय जी को ही है और जिस ऐतिहासिक सन्तुलन तथा निष्पक्ष समीक्षात्मक पद्धति से उन्होने इसके प्रणयन-काल की समस्या को सुलझाया है, उसे हम सर्वांश में प्रामाणिक मान सकते है। डा० आत्रेय जी के मतानुसार योग-वासिष्ठ का रचना-काल कालिदास से पीछे और भर्तृहरि

---

(१) देखिये डा० भीखनलाल आत्रेय: योग वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ६७-६९

(२) एन आउट लाइन ऑव दि रिलीजस लिटरेचर ऑव इण्डिया, पृष्ठ २२८

(३) हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४४३-४४४, भीखन लाल आत्रेय: योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ २३ में उद्धृत।

(४) देखिये डा० भीखनलाल आत्रेय: योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३३

(५) इण्डियन आइडियलिज्म, पृष्ठ १५४

से पहले का है[1]। 'मेघदूत' की कथा का सक्षिप्त विवरण योग-वासिष्ठ में है और कही-कही महाकवि के शब्दो का भी अनुवर्तन किया गया है[2]। भर्तृहरि के 'वाक्य पदीय' और 'वैराग्य-शतक' के अनेक श्लोको के साथ योग-वासिष्ठ के समानार्थक श्लोको का तुलनात्मक अध्ययन कर डा० आत्रेय जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि योग-वासिष्ठ भर्तृहरि के उपर्युक्त ग्रन्थो से पूर्वकालीन रचना है[3]। भर्तृहरि का समय प्राय सातवी शताब्दी ईसवी का मध्य-भाग माना जाता है। अतः यह निश्चित है कि सातवी शताब्दी ईसवी से पूर्व योग-वासिष्ठ अवश्य विद्यमान रहा होगा। सातवी शताब्दी से पूर्व योग-वासिष्ठ की स्थिति स्वीकार कर लेने पर हमारे लिये यह मानना अवश्यम्भावी हो जाता है कि योग-वासिष्ठ शकर और गौडपाद से पूर्व काल की रचना है। विशेषत विवेक चूडामणि और माण्डूक्य कारिका के साथ योग-वासिष्ठ का तुलनात्मक अध्ययन कर और इन ग्रन्थो से भाषा और भाव में समान अनेक श्लोको का उद्धरण कर डा० आत्रेय जी ने विद्वत्तापूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योग-वासिष्ठ में प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त शकर और गौडपाद से पूर्वकालीन है और इन दोनो आचार्यों ने योग-वासिष्ठ के विचारो को मौखिक परम्परा द्वारा प्राप्त किया था[4]। इसका अर्थ यह है कि उपनिषदो के बाद अद्वैत वेदान्त का सर्वप्रथम निरूपण हमें योग-वासिष्ठ में मिलता है, जिसका अनुसरण कुछ मात्रा में आचार्य गौडपाद और उनके शिष्य के शिष्य आचार्य शकर ने भी किया है। कुछ उत्तरकालीन उपनिषदो से भी योग-वासिष्ठ पूर्वकालीन है। योग-वासिष्ठ के अनेक श्लोक महोपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद् और मैत्रेय्युपनिषद् आदि उपनिषदो में पाये जाते है और डा० आत्रेय जी के मतानुसार ये श्लोक मूलत योगवासिष्ठ के है और इनका अलग-अलग सकलन कर उपनिषदो के रूप में अन्तर्भुक्त कर दिया गया है[5]। इस सब विवेचन में हमारे लिये जो बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि योग-वासिष्ठ गौडपाद, शकर और भर्तृहरि से पूर्व की रचना है और पूर्वकालीन उपनिषदो के बाद अद्वैतवाद का

---

(१) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ३४
(२) उद्धरणों के लिये देखिये 'योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त', पृष्ठ ३१
(३) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ २५-२७
(४) योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ १४-२२
(५) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ ४५-५९

सर्व प्रथम ग्रन्थ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम बौद्ध दर्शन के साथ उसके तात्त्विक सम्बन्ध की विवेचना करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार पूर्व-शंकरयुग से अद्वैत वेदान्तियो में बौद्ध दर्शन के साथ अद्वैत-तत्त्व की एकता स्थापित करने की चेष्टा काम करती चली आ रही थी और किस प्रकार योग-साधना के आलम्बन के रूप मे बुद्ध के समान ऐतिहासिक व्यक्तित्व का अभाव उन्हे खटक रहा था, जिसकी पूर्ति उन्होंने पहले राम और कृष्ण को भगवान् विष्णु के अवतार के रूप मे लाकर की, परन्तु उससे पूरा काम चलता न देख कर उन्होंने राम के एक दूसरे रूप की स्थापना योग-वासिष्ठ में की, जो मुमुक्षुओ के लिये अधिक अनुकूल थी, जिस पर हम अभी विचार करेंगे।

योग-वासिष्ठ का प्रथम अध्याय वैराग्य-प्रकरण है। उसमे राम के वैराग्य का वर्णन किया गया है, जबकि वे शैशव और यौवन की वय सन्धि में थे। तरुण राम का यह संवेग गीतोक्त अर्जुन के विषाद का-सा नही है। यद्यपि अर्जुन के भी गात्र ढीले पड गये थे, उसके शरीर में भी कँपकँपी थी, गाण्डीव हाथ से गिरा पडता था, खड़ा भी उससे नही हुआ जाता था और वह भिक्षान्न खाकर जीवन-यापन करना अपने लिये अधिक श्रेयस्कर समझने लगा था, परन्तु राम के वैराग्य की रेखाएँ इनसे अधिक गहरे रंगो से अंकित है। योग-वासिष्ठ के 'वैराग्य-प्रकरण' को हम आसानी से वैराग्य का महाकाव्य कह सकते है। गीता के 'अर्जुन-विषाद-योग' की अपेक्षा उनका विषाद अधिक गम्भीर और दार्शनिक है। राम को जीवन में कुछ सार दिखाई नही पडता। उनकी अनित्यता का चिन्तन करते-करते वे सासारिक कार्यों में अपनी सारी रुचि खो बैठते है। उन्हें सब कुछ जलता-सा दिखाई पडता है। राज्य का सम्पूर्ण वैभव भी उन्हें तृप्त नही कर सकता। उनके सेवको ने उनकी वैराग्य-दशा का वर्णन इन शब्दो मे राजा दशरथ के पास जाकर किया था, "राजन्! कुमार रामचन्द्र की दशा अत्यन्त ही शोचनीय होती जा रही है। हमारी समझ में नही आता कि उन्हे क्या हो गया है? बहुत बार याद दिलाने पर वे अपने नित्य कर्मों के करने में प्रवृत्त होते है और उनको किसी प्रकार का उत्साह नही है। सदा ही खिन्न वदन रहते है। स्नान, देवार्चन, दान, भोजन, आदि कभी करते है, कभी नही करते। जरा-जरा-सी बातो पर उनको क्रोध आ जाता है, क्योंकि जो कुछ भी उन्हे करना पड़ता है, वे मन से नही करते। कोई भूषण उनको पसन्द नही आता। जो युवतियां उनको प्रसन्न करने

के लिये उनके पास छोडी गई है, उनसे उनको बहुत ही घृणा होती है। जितने सुन्दर, स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक चढा लेते हैं। सदा ही मौन रहते है। एकान्त पसन्द करते है। यदि कभी हम उन्हें बोलते सुनते हैं तो ऐसे शब्द हमारे कानो में पडते है—'सम्पत्ति से क्या ? विपत्ति से क्या ? घर-वार से क्या ? राग-रग से क्या ? सब कुछ व्यर्थ है। किसी वस्तु से परम सुख नही मिलता।' हम नही जानते कि वे क्या चाहते है, किस चीज का ध्यान करते है। हम केवल यही जानते है कि वे प्रति दिन कृश होते जा रहे है, पीले पडते जा रहे हैं। उनकी हालत को देखकर उनके और भाई भी दु खी रहते है। माताओ को भी वडी चिन्ता लगी रही है। राजन्! हम नही जानते कि उनके लिये क्या किया जाय। इसलिये आपको सूचना देने हम आये है।" दशरथ ने जब राम को बुलाया तो उन्होने वसिष्ठ और विश्वामित्र के सामने अपने मन की व्यथा इन शब्दो में सुनाई, "ज्यो-ज्यो मेरी शैशवावस्था व्यतीत होती जा रही है, मेरे मन में यह विचार दृढ होता जा रहा है कि ससार में कोई भी सार वस्तु नही है। जगत् में मुझे कुछ भी आस्था नही रही। मेरी समझ में नही आता कि राज्य करने से, भोगो के पीछे दौडने से, लक्ष्मी का उपार्जन करने से, सुन्दर स्त्रियो के सग से, मनुष्य को कैसे सुख की प्राप्ति हो सकती है ? रात-दिन मैं देखता हूँ कि जिनको ये सब वस्तुएँ प्राप्त है वे भी महा दु खी है। ससार के भोगो से सुख की आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णा है। इन्द्रियो के भोग विषधारी सर्प के फण के समान दु ख-दायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में कभी और कही भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है, हम नही जानते। हम कहा से आते हैं, कहा जाते हैं, कुछ मालूम नहीं है। यह ससार क्या है, क्यो है, और इसका अन्त क्या है, हम कुछ नहीं जानते। मुझे तो ससार में किसी वस्तु की वाछा नहीं है। मुझे इस जीवन से प्रेम नही, क्योकि इसमें मुझे कुछ भी सार दिखाई नही पडता। मुझे आप वह मार्ग वतावें जिस पर चलने से मुझे ससार रूपी गड्ढे में न गिरना पडे। यदि आप मुझे ऐसा कोई उपाय न वतलावेंगे तो मैं स्वय अपने आप ही सोच कर किसी उपाय को ढूढूगा। और यदि मैं अपने निज के प्रयत्न से भी ससार से पार न हो सका और परमपद और सत्य की प्राप्ति न कर सका, तो मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जल का त्याग कर, एक स्थान पर बैठ कर, चिन्तन करते-करते इस शरीर का त्याग कर दूगा।" राम की इस उदात्त मनोदशा का वर्णन 'वैराग्य-प्रकरण' में अत्यन्त

मार्मिक ढग से किया गया है, जो मुमुक्षुओ के लिये पठनीय है । डा० आत्रेय जी का कहना है कि जीवन की असारता का इतना भावपूर्ण वर्णन जर्मन तत्त्वज्ञ शॉपेनहार के लेखो के अतिरिक्त शायद ही कही अन्यत्र मिले[१] । हम जानते है कि शॉपेनहार बौद्ध दर्शन से अत्यन्त प्रभावित थे और वही प्रथम यूरोपीय विचारक थे जिन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन को यूरोप में लोकप्रिय बनाया । यहा यह बताना अप्रासगिक न होगा कि महामति शॉपेनहार सदा अपने पास एक बुद्ध-मूर्ति ध्यान के लिये रखते थे, जो लिखते समय प्राय उनकी दृष्टि के सामने ही रहती थी। अत शॉपेनहार के लेखो में जो विरागमय प्रभाव है, उसे हम समझ सकते है, परन्तु यहाँ तो हमें यह जानकर भी आश्चर्य नही करना चाहिये कि इस छठी-सातवी शताब्दी ईसवी के 'योग-वासिष्ठ' के राम-वैराग्य-प्रकरण की प्रेरणा का स्रोत भी प्राय वही बुद्ध-जीवन रहा है जो शॉपेनहार के लेखो का था । यदि राम का वैराग्य एक ऐतिहासिक घटना थी तो योग-वासिष्ठ से पूर्व के किसी ग्रन्थ मे उसका वर्णन क्यो नही है ? क्या वाल्मीकि ने उसका निर्देश किया है ? 'को न्वस्मिन् साम्प्रत लोके' से प्रारम्भ कर महर्षि वाल्मीकि ने राम के जिन गुणो की लम्बी सूची दी है, उनमे राम के इस विरागी स्वरूप की तो कही गन्ध भी नही है । बल्कि वाल्मीकि की दृष्टि तो, योग-वासिष्ठ की तुलना मे तो अवश्य ही, भोग-प्रधान ही कही जा सकती है। उत्तर रामचरित मे, जो योग-वासिष्ठ से पूर्व की रचना है, राम को सीता के स्पर्श से मोहान्ध होता हुआ दिखाया गया है । 'स्पर्श. .. जडता पुनरातनोति' । कालिदास के राम भी शृगार के ही आराधक है। रघुओ के प्रति सामान्यत कही जाने वाली 'यौवने विषयैषिणाम्' वाली बात राम पर भी पूरी तरह लागू होती है । राम-चरित के गायक प्राय किसी प्राचीन कवि ने राम के उस विरागी रूप को नही लिया है, जिसे योग-वासिष्ठकार ने चित्रित किया है । तो फिर योग-वासिष्ठ को राम का यह रूप कहा से मिला ? उसका ऐतिहासिक आधार क्या है ? यह कम आश्चर्यजनक नही है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी, जिन्होने राम को अवतार और धर्म सस्थापक माना है, बालकाण्ड या अयोध्या काण्ड मे कही भी राम के उस विरागी रूप से हमारा परिचय नही कराया है जो योग-वासिष्ठ में विस्तार से अकित है । अत हमारे लिये यह जानना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि राम का यह रूप कहा से आया है ?

(१) योग-वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृष्ठ १६०

राम की वैराग्य-दशा के वर्णन में जो बातें हमें अधिक महत्वपूर्ण लगती हैं उनमें प्रथम तो यह है कि वहा यह स्वीकार किया गया है कि वसिष्ठ के द्वारा उपदेश देने और उसके अनुकूल साधना करने से पूर्व राम अज्ञानी थे। यहा उनके मानव-रूप की पूर्ण स्वीकृति है। 'राम चरित-मानस' के समान, जिसकी दृष्टि अवतारवादी है, यहा राम जन्म के अवसर पर ही कौशल्या को अपना विश्व-रूप नही दिखा देते, बल्कि बुद्ध के समान वे पहले विषाद करते हैं, व्यथित होते है, जीवन की समस्या पर विचार करते है। फिर एक वडी वात जो ऊपर के उद्धरण में दृष्टिगोचर होती है यह है कि राम स्वय अपने ही आप, 'अपने निज के प्रयत्न से' ससार-सागर को पार होने की वात सोचते है। अपने निज के प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त करना, यह एक ऐसी मौलिक वात है जिसे प्रथम वार विश्व के साधको में भगवान् वुद्ध ने ही कहा है। 'जो कुछ पुरुष के उद्यम द्वारा, पुरुषार्थ द्वारा, लभ्य है उसे विना प्राप्त किये मेरा प्रयत्न नहीं रुकेगा' ऐसी गम्भीर वाणी सर्व प्रथम भारतीय ज्ञानाकाश में भगवान् बुद्ध ने ही कही थी। यह उनके साधना-मार्ग की एक वडी विशेपता है। वुद्ध के जीवन की सव से वडी वात ही यह है कि उन्होंने अपने तीव्र प्रयत्नो से सत्य को प्राप्त कर (तीव्रै प्रयत्नैरधिगम्य सत्य—वुद्ध-चरित) सत्यान्वेपको को 'आत्मदीप वनो, आत्मशरण वनो' की वीर्यमयी वाणी से आश्वस्त किया था। छठी-सातवी शताब्दी ईसवी के वेद या वेदान्त परम्परा के ग्रन्थ में जव हम प्रथम वार 'अपने निज के प्रयत्न से' मुक्ति-उपाय ढूढने का सकल्प सुनते है, तो हमारा विस्मित हो जाना स्वाभाविक है। यहाँ तो 'यमेवैप वृणुते' की ही वात थी, 'तत्प्रसादात्' परम शान्ति प्राप्त करने की वात थी, यह नई वात कहां से आ गई ? इस विस्मय का रहस्योद्घाटन योग-वासिष्ठ की साधना-पद्धति पर निश्चित वौद्ध प्रभाव ही है। राम के परम्परागत भोगी रूप की मुमुक्षुओ के लिये अनुपयुक्तता और आकर्पणहीनता देखकर ही यहा उसे वुद्ध-जीवन के साचे में ढालने का प्रयत्न किया गया है। यह काम प्राय उसी समय (गुप्त-साम्राज्य के पतन के समय) किया गया जव उससे कुछ शताब्दियो पूर्व राम और कृष्ण की उपास्य के रूप में प्रतिष्ठा वुद्धदेव के स्थान पर की जा चुकी थी और मुमुक्षुओ के लिये उसकी आकर्पणहीनता दिखाई देने लगी थी। वाल्मीकि-रामायण में राम का लौकिक रूप अंकित था, उसी की पूर्ति-स्वरूप उनका अध्यात्म-साधक का रूप 'योग वासिष्ठ' में दिखाया गया और राम के जीवन की आध्यात्मिक व्याख्या प्राय इसी समय

'अध्यात्म रामायण' के रूप में भी की गई। 'योग-वासिष्ठ' को 'महा रामायण' कहने में लौकिक के ऊपर आध्यात्मिक की प्रतिष्ठा ही ध्वनित है और इसे भी ऐतिहासिक गौरव देने के लिये वाल्मीकि के नाम के साथ संयुक्त कर दिया गया है। लोक-मर्यादा और लोक-मंगल के लिये राम का वह मर्यादा-परायण और दैत्यविनाशकारी रूप जो रामायण में अंकित है और अध्यात्म साधकों के लिये 'योग-वासिष्ठ' का विरागी रूप, इस द्विविध प्रणाली ने एक ही रामरूप में लोक-धर्म की स्थापना के साथ-साथ उसे बौद्ध साधना से प्राप्त विरासत से भी संयुक्त करने का प्रयत्न किया गया, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। राम और बुद्ध में हमें कोई भेद-बुद्धि नहीं है। शाक्यमुनि भी सूर्यवंशी हैं और इक्ष्वाकु उनके पूर्वज हैं। राम हो चाहे बुद्ध, हमारे लिये ऐक्ष्वाकुओं की अधीनता समान ही है। परन्तु योग-वासिष्ठ में तो राम ने बिलकुल तथागत-रूप ही धारण कर लिया है, यदि करुणामय प्रभु ऐसा न करते तो राम-भक्तों को अनायास ही बुद्ध-धर्म की फल-प्राप्ति कैसे होती? सचमुच यहां 'केशव धृत बुद्ध शरीर' यह जयदेव की वाणी अक्षरशः सत्य हो गई है। राम साधकों के लिये भी आकर्षक बनें, इसके लिये यह आवश्यक है कि वे अपने धनुष-बाण को छोड़कर विरागी रूप में हमारे सामने आयें। इसी तथ्य की स्वीकृति योगवासिष्ठ में, विशेषतः उसके वैराग्य-प्रकरण में, हुई है, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है।

सिद्धान्तों का आकलन करने पर तो योग-वासिष्ठ पर बौद्ध प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट होने लगता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, योग-वासिष्ठ साधनात्मक वेदान्त का ग्रन्थ है, गौडपाद और शंकर के समान सैद्धान्तिक या तर्कात्मक पद्धति वहां नहीं है। स्वमत-मंडन और परमत-खंडन में वहां रुचि नहीं दिखाई गई है। जहां साधना है, वहां मतवाद को—दृष्टिवाद को—कभी प्रधानता नहीं मिल सकती। भगवान् बुद्ध के समान योग-वासिष्ठकार की भी मान्यता है कि विवाद में फँसी हुई बुद्धि सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती। सत्य का साक्षात्कार शान्त, समाहित चित्त में ही हो सकता है और उसके लिये वाद-विरति आवश्यक है। मुक्त पुरुष विवाद में नहीं पड़ते। जिसने सत्य को जान लिया है, वह दार्शनिक वाद-विवाद में नहीं पड़ता। भगवान् बुद्ध ने ऐसे तार्किकों की निन्दा की थी, जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और कहते हैं कि 'यही सत्य है'—इदमेव सच्चति विवादयन्ति। ऐसे पुरुष अपने ही मत में शुद्धि मानते हैं, दूसरे में नहीं। वे अपने मत में आसक्त होकर उसी

के गुण गाते हैं। विवाद के इच्छुक वे परिषद् में जाकर एक दूसरे को मूर्ख बताते हैं। प्रशसा के इच्छुक वे अपने को कुशल वादी समझ कर अपने धर्म में आसक्त हो विवाद में पडते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषो के पास तो विवाद रूपी युद्ध के लिये कोई कारण ही शेष नही रह जाता। ज्ञानी लोक में किसी से विवाद नही करता। विभिन्न मतो के कारण मनुष्य विवाद करते है और नाना सत्यो को बताते हैं। परन्तु वस्तुत तो सत्य एक ही है। अत जो धारणाओ और मतवादो को छोडता है, वह विवाद मे नही पडता। दृष्टिवाद सम्बन्धी कुछ बुद्ध-वचनो को योग-वासिष्ठकार के वचनो से मिलाना उचित होगा।

भगवान् बुद्ध कहते है, "लोग अपनी-अपनी दृष्टि में स्थिर हो, विवाद में पडकर अनेक प्रकार से अपने को कुशल बताते है और कहते है कि जो इसे जानता है वह धर्म को जानता है, और जो इसकी निन्दा करता है, वह पूर्ण ज्ञानी नही है[1]।

"कुछ लोग जिसे सत्य कहते है, और लोग उसे प्रलाप और असत्य बताते हैं। इस प्रकार वे विग्रह मे पडकर विवाद करते है। श्रमण एक ही बात क्यो नही बतलाते[2] ?

"लोग नाना सत्यो को क्यो बतलाते है ? वे अपने को कुशल कह कर क्यो विवाद करते है ?[3]"

"जिसके कारण मनुष्य दूसरे को मूर्ख बनाता है, उसी कारण अपने को कुशल बताता है। अपने को कुशल बताने वाला वह उसी कारण दूसरे की अवज्ञा करता है।

"शुद्धि यही है, दूसरे धर्मों में शुद्धि नही है—इस प्रकार वे विवाद करते हैं—

"जो अपनी दृष्टि का दृढ ग्राही होकर दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बताने वाला वह स्वय कलह का आह्वान करता है"।

योग-वासिष्ठकार ने भी कहा है —"परमार्थ के अज्ञान के कारण अथवा विपरीत ज्ञान के कारण मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार पथिक अपने ही मार्ग को सर्वोत्तम समझते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने-अपने सिद्धान्तो को ही प्रशसा करते हैं।"

---

(१) सुत्त-निपात।
(२) सुत्त-निपात।
(३) सुत्त-निपात।

वस्तुत' सत्य तो एक ही है। भगवान् बुद्ध ने जोर देकर कहा है "सत्य एक ही है दूसरा नही, जिसके विषय मे मनुष्य मनुष्य से विवाद करे" धारणा ही अनेक सत्यो का निर्माण करती है। "ससार में नाना और बहुत सत्य है ही नही।" वस्तुतः धारणा या मत-वाद ही कलह-मूल है। "किसी धारणा पर स्थित हो वह उसकी तुलना कर ससार में विवाद करता है। किन्तु जो सभी धारणाओ को त्याग देता है, वह मनुष्य ससार में कलह नही करता।" जीवन-शोधन सभी मतवादों से ऊपर है। इसी तथ्य को योगवासिष्ठकार ने इन शब्दों में रक्खा है—

सर्वैरेव च गन्तव्य तै. पदं पारमार्थिकम् ।
विचित्र देशकालोत्थै. पुरमेकमिवाध्वगै. ॥३।९६।५१

जिस प्रकार बहुत से पथिक नाना देशो से आते हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं, उसी प्रकार सव दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पद को नाना देश और काल में ज्ञात मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। जीवन-शोधन के मार्ग में जो साधन हितकारी है, वे सव योग-वासिष्ठ को मान्य है। "जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है उस मार्ग पर चले विना उसकी गति शोभा नही देती, न सुख देती और न उसके लिये हित और शुभ फल वाली होती है।" योग-वासिष्ठ के काल तक विज्ञानवाद और शून्यवाद की विचार-पद्धतियो का पूर्ण विकास हो चुका था। औपनिषद मन्तव्य के साथ उनके सम्बन्ध की समस्या अवश्य ही भारतीय विचारको को काफी समय से व्यस्त कर रही थी। योगवासिष्ठकार ने इस समस्या का समाधान करते हुए स्मरणीय शब्दो में कहा है —

यच्छून्यवादिना शून्य ब्रह्म ब्रह्मविदा वरम् ।
विज्ञानमात्र विज्ञानविदा यदमलं पदम् ॥५।८७।१८

... ...

मध्य माध्यमिकाना च .. ..॥५।८७।२०

इसका अर्थ यह है कि परम तत्त्व के विषय में योग-वासिष्ठकार की अविवाद दृष्टि है। जिसे शून्यवादी शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञान मात्र और माध्यमिक लोग मध्यम कहते है, वह एक ही है। शकर-पूर्व वेदान्त ग्रन्थ के लिये यह कहना ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त सार्थक वात है। शकर के निर्गुण ब्रह्म और शून्यवादियो के शून्य में तथा विज्ञानवादियो की विज्ञानमात्रता में कहां क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह समस्या आगे आयेगी। शंकर इस वात को कहेंगे कि उनका ब्रह्म कुछ लोगो को वौद्धो का शून्य सा लगता है, विज्ञानमात्रता

जैसे पत्थर गन्ने का स्वाद नहीं जानता[1]।' यही विशुद्ध चेतनाद्वैत है योगवासिष्ठकार को सब जगत् ही चेतनामय दिखाई देता है, सम्भवत उसी रूप में जैसे कि दशभूमीश्वर सूत्र में 'चित्तमात्र भो जिनपुत्रा यद् उत त्रैधातुकम्'। योगवासिष्ठकार कहते है 'यह सारा ब्रह्माण्ड बोध रूप है, जैसे वायु केवल स्पन्दन है और समुद्र जलमात्र है। ये तीनो लोक मन के मनन के द्वारा ही निर्मित है, मनोमय है। द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदिया, दिशाये ये सब अन्त करण तत्व के भाग ही है जो बाहर स्थित है[2]।' इस प्रकार सभी विश्व के पदार्थ बोधमय हैं। फिर विज्ञानवाद की परम्परा के अनुकूल ही योगवासिष्ठकार जाग्रत् दशा और स्वप्नदशा में कोई भेद नही समझते[3] किन्तु इस सवका तात्पर्य यह नही कि कोई शाबर उन्हे आकर यही याद दिला सके कि 'अर्थविषया प्रत्यक्षबुद्धिर्न बुद्धिविषया' जैसा कि उन्होने विज्ञानवादियों को दिलाया। योगवासिष्ठकार एक वेदान्ती है और एक वेदान्ती की ही तरह वे एक ज्ञानातिरिक्त ज्ञाता में विश्वास रखते हैं जो स्थिर है, फिर चाहे उसके निर्देश में योगवासिष्ठकार भी भले ही अन्य निर्विशेषाद्वैतवादियो की तरह ही 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्व'—('शून्य' के लिए नागार्जुन के द्वारा प्रयुक्त नाम) से अधिक कुछ न कह सके हो। फिर जिसे कार्यकारण का अन्त में अपलाप करना है 'केन क विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जैसी कोई बात कहनी है, अविद्याकल्पित 'वेद्यवेदितृवेदनादिभेद' का परम तत्व के विषय में उपनयन करना है, उसे तो फिर 'अस्ति' 'नास्ति' आदि की माध्यमिको वाली चार कोटियो से विनिर्मुक्त तत्व में अपने आप प्रवेश कर जाना ही होगा.

---

(१) द्रष्ट्दृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके। तद् दृश्यास्वादमज्ञ· स्यान्ना दृष्ट्वे क्षुभिवोपल.। योगवासिष्ठ ६।३८।९; मिलाइये वहीं 'यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद् बोधरूपता। तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव ॥ ६।२५।१५

(२) सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिद ततम्। स्पन्दमात्र यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णव। योगवासिष्ठ ६।२५।१७; मनोमननिर्माणमात्रमेतज्जगत् त्रयम्। वही ४।११।२३; द्यौ क्षमा वायुराकाशं पर्वता. सरितो दिशः। अन्त करणस्य तत्वस्य भागा बहिरिव स्थिता। वहीं ५।५६।३५

(३) जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरतास्थिरते विना। समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयो। वहीं ४।१९।११

न चैक तदन्यद् द्वितीय कुत स्याद्
न वा केवलत्व न चाकेवलत्वम्।
न शून्य न चाशून्यमद्वैतकत्वात्
कथ सर्ववेदान्तसिद्ध ब्रवीमि॥'

भगवान् योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म का निरूपण कुछ इसी प्रकार किया है

"न चेतनो न च जडो न चैवासन्नसन्मय।
नाह नान्यो न चैवेको नानेको नाप्यनेकवान्[1]॥"
"यस्य चात्मादिका सञ्ज्ञा. कल्पिता न स्वभावजा[2]"
"न च नास्तीति तद्वक्तु युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तु युक्त शान्तमल तदा[3]"
"न सन्नासन्न मव्यान्त न सर्व सर्वमेव च
मनोवाचाभिरग्राह्य शून्याच्छून्य सुखात्सुखम्[4]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक उच्छ्वास में यदि योगवासिष्ठकार 'न चेतनो न च जडो' कहते हे, 'न चैवासन्न सन्मय' कहते हैं 'न च नास्तीति चैवास्तीति तद्वक्तु युक्त' कहते हे, 'न सन्नासन्न' कहते हे, 'शून्याच्छून्य' कहते है तो दूसरे ही उच्छ्वास में उसे 'चिद्वपु' कहते है, 'शान्तमल' कहते हे, 'सुखात्सुखम्' कहते हैं। निश्चय ही यह बौद्ध दर्शन नही, किन्तु वेदान्त दर्शन है—ऐसा वेदान्त जिसमें बौद्धो की कठिनाइयो की सम्यक् अनुभूति है, उनके साथ सहानुभूति भी है और औपनिषद मन्तव्य के साथ उसको मिलाने की कल्याणमयी चेष्टा भी। योगवासिष्ठकार एक वेदान्ती है। ब्रह्म के विषय में योगवासिष्ठकार कहते हैं 'सर्वशक्ति पर ब्रह्म सर्ववस्तुमय ततम्। सर्वथा सर्वदा सर्व सर्वं सर्वत्र सर्वगम्'[5] परम तत्व की 'आत्मा' सञ्ज्ञा को कल्पित कहते हुए मनीषी योगवासिष्ठकार कहते है 'आत्मैव स्पन्दते विश्व वस्तु जातैरिवोदितम्। तरगकणकल्लोलैरनन्ताम्ब्वम्बुधाविव[6]॥' समस्त जगत् उन्हे ब्रह्ममय, ब्रह्मा-

(१) योगवासिष्ठ ५।७२।४१
(२) वहीं ३।५।५
(३) वहीं ६।५३।९
(४) वहीं ३।११९।८३
(५) योगवासिष्ठ ६।१४।८
(६) वहीं ५।७२।२३

नन्द की हिलोरें मारते हुए समुद्र की तरह दिखाई पड़ता है जिसकी तह में एकत्व के रूप में सभी कुछ छिपा हुआ पड़ा है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी और आकाश सभी ब्रह्म रूप हैं, वही ब्रह्म के अंकुरों में लीन होता है, वही पत्तों में रस बन जाता है, जल की लहरों में क्रीडा करता है, शिला के उदर में नृत्य करता है, मेघ बन कर बरसता है और शिला बन कर स्थिर होता है। सब जगत् की वस्तुएँ ब्रह्म है[1]। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इस प्रकार योगवासिष्ठकार का तत्वचिंतन औपनिषद ज्ञान के अनुकूल है। साधना के क्षेत्र में वे अनुभूति के बड़े पक्षपाती है[2] और यह बुद्ध के विचार के साथ बड़ी समानता है। बुद्ध और उपनिषद् अनुभूति को ही प्रधान मानते हैं। पुरुषकार की योगवासिष्ठकार ने बड़ी महिमा गाई है[3] और इस रूप में बुद्ध के मन्तव्य से उनका साम्य है। समाधि निरूपण में भी बहुत कुछ साम्य है, किन्तु योगवासिष्ठ का एक इतना परिपूर्ण दर्शन है और उसमें इतनी विभिन्न साधनायें एकत्र हुई है कि जितना साम्य दिखाया जा सकता है उतना अनेक बातों में असाम्य भी। समग्र रूप में बौद्ध साधकों के लिये भी यह ग्रन्थ उतना ही उपयोगी और आदरणीय है, जितना अन्य किसी के लिए। यदि इस महाग्रन्थ का चीनी और जापानी भाषाओं में अनुवाद हो जाय तो हमें विश्वास है कि ध्यान (ज़ेन) सम्प्रदाय के बौद्धों में इसे उससे कम श्रद्धालु और मननशील पाठक नहीं मिलेंगे जितने कि भारत में। अब हम गौडपाद के दर्शन पर आते है।

---

(१) परमार्थघन शैलाः परमार्थघन द्रुमाः। परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नमः॥ लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसीभवति पल्लवे। उल्लसत्यम्बुवीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे॥ प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते। ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम्। योगवासिष्ठ।

(२) अनुभूति विना रूप नात्मनश्चानुभूयते। सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः। योगवासिष्ठ।

(३) न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना। यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः। योग वासिष्ठ ३।९३।९; मिलाइये बुद्ध का बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अविचल सकल्पः 'पुरुष के उद्यम के द्वारा जो कुछ प्राप्य है, उसे बिना पाए मेरा वीर्य न रुकेगा'।

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए आचार्य गौडपाद और उनकी माण्डूक्यकारिका से अधिक विचारणीय बात संभवतः और कुछ नहीं है। अतः यहाँ तो कुछ विस्तार भी क्षम्य होगा। ऐसा न करना तो इस प्रथम वेदान्त के आचार्य के प्रति अवमानना भी होगी, क्योंकि जिन्होंने औपनिषद ज्ञान की प्रतिष्ठा लेकर 'द्विपदावरं' बुद्धों को नमस्कार किया, उन्हीं के सामने यह बौद्ध दर्शन की रथ-यात्रा जो सभी दर्शनकारों के पास थोड़ी थोड़ी देर टिक कर उन्हें अपने दर्शन देकर और उनके दर्शन लेकर ले जाई जा रही है, यदि कुछ अधिक देर तक न ठहराई जाय ताकि वे मनीषी आचार्य उसकी आरती उतार लें, तो क्या यह उन मनीषी को दुःख नहीं देगी? अतः ठहरते हैं।

गौड (बंगाल) देश के निवासी आचार्य गौडपाद अद्वैत वेदान्त के प्रथम आचार्य हैं। भगवान् शंकर के गुरु 'गोविन्द भगवत्पूज्यपाद' के ये कदाचित् गुरु थे। इसीलिये शंकर ने माण्डूक्यकारिका-भाष्य में उन्हें 'पूज्याभिपूज्य परमगुरु' कह कर नमस्कार किया है। 'तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुं नतोऽस्मि'। उनका काल ईसा की आठवीं शताब्दी का प्रारम्भिक अथवा सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। कुछ विद्वानों के मत में उनका काल करीब ५५० ईस्वी के करीब है।[1] जैकोबी के मतानुसार उन्होंने उत्तर गीता पर भी टीका लिखी थी। कुछ भी हो, हम तो यहां उनकी एकमात्र प्रसिद्धतम कृति 'माण्डूक्यकारिका' को ही अपने विचार का विषय बनायेंगे। 'माण्डूक्यकारिका' एक प्रकार से माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है। किन्तु इसके चार प्रकरणों में से केवल प्रथम प्रकरण ही माण्डूक्य उपनिषद् से संबंध रखता है और शेष तीन प्रकरण स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में हैं। आचार्य शंकर ने माण्डूक्यकारिका पर टीका लिखी है जिसे 'गोविन्द भगवत्पूज्यपाद' के शिष्य, ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकर्ता, 'आद्य' शंकराचार्य की कृति होने के रूप में आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने संदेह का विषय बनाया है।[2] हम स्वतंत्र रूप से ही 'माण्डूक्यकारिका' के दर्शन और

---

(१) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४५२

(२) देखिए उनका इस विषय में लेख 'विश्व भारती'——(शान्ति-निकेतन)——पत्रिका में; पौष १९९९, पृष्ठ ११-१७; आचार्यपाद कहते हैं 'मेरी

नन्द की हिलोरें मारते हुए समुद्र की तरह दिखाई पड़ता है जिसकी तह में एकत्व के रूप में सभी कुछ छिपा हुआ पड़ा है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी और आकाश सभी ब्रह्म रूप हैं। वही ब्रह्म के अंकुरों में लीन होता है, वही पत्तों में रस बन जाता है, जल की लहरों में क्रीडा करता है, शिला के उदर में नृत्य करता है, मेघ बन कर बरसता है और शिला बन कर स्थिर होता है। सब जगत् की वस्तुएं ब्रह्म है[1]। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। इस प्रकार योगवासिष्ठकार का तत्त्वचिंतन औपनिषद ज्ञान के अनुकूल है। साधना के क्षेत्र में वे अनुभूति के बड़े पक्षपाती हैं[2] और यह बुद्ध के विचार के साथ बड़ी समानता है। बुद्ध और उपनिषद् अनुभूति को ही प्रधान मानते हैं। पुरुषकार की योगवासिष्ठकार ने बड़ी महिमा गाई है[3] और इस रूप में बुद्ध के मन्तव्य से उनका साम्य है। समाधि निरूपण में भी बहुत कुछ साम्य है, किन्तु योगवासिष्ठ का एक इतना परिपूर्ण दर्शन है और उसमें इतनी विभिन्न साधनायें एकत्र हुई है कि जितना साम्य दिखाया जा सकता है उतना अनेक बातों में असाम्य भी। समग्र रूप में बौद्ध साधकों के लिये भी यह ग्रन्थ उतना ही उपयोगी और आदरणीय है, जितना अन्य किसी के लिए। यदि इस महाग्रन्थ का चीनी और जापानी भाषाओं में अनुवाद हो जाय तो हमें विश्वास है कि ध्यान (ज़ेन) सम्प्रदाय के बौद्धों में इसे उससे कम श्रद्धालु और मननशील पाठक नहीं मिलेंगे जितने कि भारत में। अब हम गौडपाद के दर्शन पर आते हैं।

---

(१) यस्मादेवन शैलाः यस्मादेवन द्रुमाः। यस्मादेवनं पृथ्वी यस्मादेवनं नभः॥ लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसीभवति पल्लवे। उल्लसत्यम्बुवीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे॥ प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते। ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम्। योगवासिष्ठ।

(२) अनुभूतिं विना रूपं नात्मनस्त्वानुभूयते। सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः। योगवासिष्ठ।

(३) न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना। यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः। योग वासिष्ठ ३।६२।८; मिलाइये बुद्ध का बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अविचल मन्तव्य 'पुरुष के उद्यम के द्वारा जो कुछ प्राप्य है, उसे बिना पाए मेरा वीर्य न रुकेगा'।

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

बौद्ध दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए आचार्य गौडपाद और उनकी माण्डूक्यकारिका से अधिक विचारणीय बात संभवतः और कुछ नहीं है। अतः यहाँ तो कुछ विस्तार भी क्षम्य होगा। ऐसा न करना तो इस प्रथम वेदान्त के आचार्य के प्रति अवमानना भी होगी, क्योंकि जिन्होंने औपनिषद नाम की प्रतिष्ठा लेकर 'द्विपदांवरं' बुद्धों को नमस्कार किया, उन्हीं के सामने यह बौद्ध दर्शन की रथ-यात्रा जो सभी दर्शनकारों के पास थोड़ी थोड़ी देर टिक कर उन्हें अपने दर्शन देकर और उनके दर्शन लेकर ले जाई जा रही है, यदि कुछ अधिक देर तक न ठहराई जाय ताकि वे मनीषी आचार्य उसकी आरती उतार लें, तो क्या यह उन मनीषी को दुःख नहीं देगी? अतः ठहरते हैं।

बौद्ध दर्शन और आचार्य गौडपाद

गौड (बंगाल) देश के निवासी आचार्य गौडपाद अद्वैत वेदान्त के प्रथम आचार्य हैं। भगवान् शंकर के गुरु 'गोविन्द भगवत्पूज्यपाद' के वे कदाचित् गुरु थे। इसीलिये शंकर ने माण्डूक्यकारिका-भाष्य में उन्हें 'पूज्याभिपूज्य परमगुरु' कह कर नमस्कार किया है। 'तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुं नतोऽस्मि'। उनका काल ईसा की आठवीं शताब्दी का प्रारम्भिक अथवा सातवी शताब्दी का अन्तिम भाग है। कुछ विद्वानों के मत में उनका काल करीब ५५० ईस्वी के करीब है।[1] जैकोबी के मतानुसार उन्होंने उत्तर गीता पर भी टीका लिखी थी। कुछ भी हो, हम तो यहां उनकी एकमात्र प्रसिद्धतम कृति 'माण्डूक्यकारिका' को ही अपने विचार का विषय बनायेंगे। 'माण्डूक्यकारिका' एक प्रकार से माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर व्याख्या के रूप में ही लिखी गई है। किन्तु इसके चार प्रकरणों में से केवल प्रथम प्रकरण ही माण्डूक्य उपनिषद् से संबंध रखता है और शेष तीन प्रकरण स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में हैं। आचार्य शंकर ने माण्डूक्यकारिका पर टीका लिखी है जिसे 'गोविन्द भगवत्पूज्यपाद' के शिष्य, ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकर्ता, 'आद्य' शंकराचार्य की कृति होने के रूप में आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने संदेह का विषय बनाया है।[2] हम स्वतंत्र रूप से ही 'माण्डूक्यकारिका' के दर्शन और

(१) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४५२
(२) देखिए उनका इस विषय में लेख 'विश्व भारती'—(शान्ति-निकेतन) —पत्रिका में; पौष १९९९, पृष्ठ ११-१७; आचार्यवाद कहते हैं 'मेरी

बौद्ध दर्शन के संबंध को निरूपित करने का प्रयत्न करेंगे। चूंकि यह विषय बहुत विषम है और केवल एक दो स्थानों की समानताओं और असमानताओं अथवा शब्दसाम्यों के आधार पर ही कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दिया जा सकता, इसलिए हम यहां प्रथम तो माण्डूक्यकारिका के समग्र दर्शन को उसके संग्राहक रूप में देखने का प्रयत्न करेंगे और फिर बाद में उसके ऊपर समीक्षा करने का। इसलिए पहले हम 'माण्डूक्यकारिका' की संक्षिप्त विषय-वस्तु में प्रवृत्त होते हैं।

माण्डूक्यकारिका चार प्रकरणों में विभक्त है, आगम-प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण, और अलात-शान्ति प्रकरण। गौडपादाचार्य का कहना है कि उनके द्वारा उपदिष्ट अद्वैत श्रुति और युक्ति दोनों के द्वारा सिद्ध है[1]। प्रथम प्रकरण में आचार्यपाद ने माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या की है। द्वितीय वैतथ्य प्रकरण में जगन्मिथ्यात्व को उपपन्न किया है और द्वैत के मिथ्यात्व को भी दिखलाया है। तृतीय अद्वैत प्रकरण में अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन है और चतुर्थ अलात-शान्ति प्रकरण में प्रपञ्चोपशम का मार्ग दिखाया गया है[2]। अलात कहते हैं जलती हुई मसाल की लौ को जो निरन्तर घूमती हुई प्राणियों को तप्त करती है। इसी की शान्ति के लिए आचार्य ने उपाय बताया है।

दृढ़ धारणा है कि माण्डूक्य भाष्य के रचयिता सिर्फ ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आदि-शंकर से ही भिन्न नहीं हैं, वे नृसिंहतापनीय उपनिषद् के भाष्यकार से भी भिन्न है।" वहीं पृष्ठ १४

(१) निश्चितं युक्तियुक्तञ्च यत्तद्भवति नेतरत्। माण्डूक्य कारिका ३।२३; देखिए इसी पर शांकर भाष्य 'श्रुत्या निश्चित यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं युक्त्या च सम्पन्नम्'।

(२) 'तत्र तावदोंकारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्य उपशमेऽद्वैतप्रतिपत्तौ रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्ति. तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीय प्रकरणम्। तथा अद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसंगप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीय प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि सन्ति तेषामन्योऽन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्'। शांकर भाष्य का प्रारम्भ।

जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, 'अलात-शान्ति' शब्द आचार्य ने बौद्धो से लिया है और उन्ही के अर्थों में प्राय उसका प्रयोग किया है, यद्यपि मैत्रायणी उपनिषद् में भी यह शब्द मिलता है[1]। अभी हम माण्डूक्य-कारिका की विषय वस्तु को ही कुछ अधिक विस्तार से देखें, उसके समग्र रूप से अभिज्ञा प्राप्त करने के लिए।

आगम प्रकरण—यह प्रथम प्रकरण माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या के रूप में है, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं। मूल माण्डूक्य उपनिषद् का प्रारम्भ आत्मतत्व की प्राप्ति के उपायभूत ओंकारोपासना के माहात्म्य से प्रारम्भ होता है। 'ओमित्यक्षरमिद सर्व तस्योपव्याख्यान भूत भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कारमेव'। इसके वाद आचार्यदेव माडूक्य उपनिषद् के व्याख्यान स्वरूप 'चतुष्पात्' आत्मा के विवरण देने में प्रवृत्त होते हैं, जो इस प्रकार है (१) जागरित स्थान, वहि प्रज्ञ, स्थूलभुक्, वैश्वानर आत्मा (२) स्वप्न स्थान अन्त प्रज्ञ, प्रविविक्त भुक्, तैजस आत्मा (३) सुषुप्त स्थान एकीभूत प्रज्ञाघन आनन्दमय चेतोमुख प्राज्ञ (४) न अन्त. प्रज्ञ, न वहिः प्रज्ञ, न उभयत प्रज्ञ, न प्रज्ञाघन, न प्रज्ञ, न अप्रज्ञ, किन्तु अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शात, शिव, अद्वैत, आत्मा। यही चतुर्थ आत्मा है, जिसके विषय में उपनिषदो की वाणिया, 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', तत्सत्यम्, 'स आत्मा,' 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' 'स वाह्याभ्यन्तरो ह्यज', 'आत्मैवेद सर्वं', 'ओमित्येवोपासीत्', इत्यादि रूप से प्रवृत्त होती है। फिर ओ की तीनो मात्राओ अकार, उकार और मकार के अर्थों का विवेचन है। जागरित स्थान वैश्वानर ही ओकार की प्रथम मात्रा है, स्वप्न स्थान तैजस ही द्वितीय मात्रा और स्वप्न स्थान प्राज्ञ ही तृतीय मात्रा है। विना मात्राओ के चौथा (तुरीय) आत्मा अव्यवहार्य, प्रपञ्च का उपशम करने वाला, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओकार आत्मा ही है। आत्मा से आत्मा में ही वह प्रवेश करता है, जो इस प्रकार जानता है। इतनी ही माण्डूक्य उपनिषद् है। इसके भाष्य स्वरूप आचार्य गौडपाद ने आगम प्रकरण मे २९ कारिकाए लिखी है। प्रथम पाच कारिकाओ में आत्मा के तीन प्रस्फुरणो अर्थात् विश्व अथवा वैश्वानर आत्मा (२) तैजस आत्मा और (३) प्राज्ञ का विवरण दिया गया है। विश्व, तैजस और प्राज्ञ नाम से

---

(१) ६।२४

अभिहित त्रिधाभूत भोक्ता वास्तव में एक ही है। एक ही तीन प्रकार से स्मरण किया गया है।[1] ऐसा जो जानता है, वह अनुभव करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।[2] इनमें से विश्व बहिःप्रज्ञ स्थूल भुक् है, तैजस अन्तः प्रज्ञ प्रविविक्त भुक् है और प्राज्ञ घनप्रज्ञ आनन्द भुक् है।[3] इसके बाद जगत् की सृष्टि के संबंध में विभिन्न मतों का विचार है। कुछ का मत है कि प्राण से जगत् की उत्पत्ति हुई है, कुछ के अनुसार सृष्टि अपने कारण का प्रसारण मात्र (विभूति) है (विभूतिर्विस्तारः—शाङ्कर भाष्य), कुछ के मतानुसार सृष्टि स्वप्न और माया के समान है। कुछ कहते हैं कि सृष्टि केवल प्रभु की इच्छा मात्र है और काल के विषय में चिन्तन करने वाले कहते हैं कि काल ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। कुछ कहते हैं कि यह ईश्वर के भोगार्थ है, कुछ कहते हैं कि उसके क्रीड़ार्थ है, फिर कुछ यह भी कहते हैं कि यह तो ईश्वर का स्वभाव है कि वह सृजन करता है फिर भी कोई इच्छा नहीं रखता क्योंकि वह आप्तकाम है।[4] सृष्टि-चिन्तकों के इन मतों की विशेष

---

(१) एक एव त्रिधा स्मृतः। माण्डूक्य कारिका १।१

(२) त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः। वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते। माण्डूक्य कारिका १।५

(३) विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ स्त्रिधा भोगं निबोधत। माण्डूक्य कारिका १।३; बहिः प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः। घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः। माण्डूक्य कारिका १।१

(४) प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः। सर्वं जनयति प्राणश्चेतो-ंशून्पुरुषः पृथक् ॥ १।६ विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः। स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ १।७ इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः। कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः। १।८; भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे। देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ १।९; किंकारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठिताः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रारम्भ।

व्याख्या न कर परमार्थचिन्तक आचार्य गौडपाद आत्मा की उस चतुर्थ दशा के स्वरूप-निरूपण करने में लगते हैं जो अदृश्य, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शांत, शिव और अद्वैत है। उसी को वे परम जानने योग्य वस्तु मानते हैं। अनादि माया के द्वारा सोया हुआ यह संसारी जीव जब जागता है तभी उसे अज, सभी भावों और विकारों से वर्जित, अनिद्र और अस्वप्न अद्वैत तत्त्व का बोध होता है।[1] इस जगने की अवस्था के प्राप्त होने पर यह प्रपञ्च अर्थात् दृश्य जगत् नहीं रहता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा तो तब कहा जा सकता था जब पहले यह कहीं होता और फिर बाद में निवृत्त होता। यदि पहले होता भी तभी तो इसकी निवृत्ति भी हो सकती थी, किन्तु यह सब द्वैत तो केवल मायामात्र ही है। न तो इसकी प्रवृत्ति ही है और न निवृत्ति ही। परमार्थ तत्त्व तो केवल अद्वैत है।[2] इस प्रकार 'यत्र हि द्वैतमिव भवति' 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्', 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्', 'एकमेवाद्वितीयम्,' आदि श्रुतियों के आधार पर 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' इस प्रकार अद्वैत की स्थापना कर आचार्य गौडपाद अपनी कारिकाओं के दूसरे प्रकरण पर आते हैं, जिसका नाम वैतथ्य प्रकरण है और जिसमें ३८ कारिकाएँ हैं। इस प्रकरण में भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि सभी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थ स्वप्न हैं, वितथ हैं। उनमें अन्तर केवल अन्तःशरीरसंवृतत्व और काल के अदीर्घत्व का है।

वैतथ्य प्रकरण

आचार्य के प्रशस्त शब्दों में, जिनसे वे इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं: 'वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः। अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना।। अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति। प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते।। अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्। वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम्'।। जाग्रत् अवस्था

---

(१) अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा। माण्डूक्य कारिका १।१६

(२) प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः।। माण्डूक्य कारिका १।१७; विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्। उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते। वहीं १।१८

के अनुभवो मे और स्वप्नावस्था के अनुभवो में आचार्य कोई विभेद नही देखते। वे दोनो को समान रूप से असत्य मानते हैं "स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिण। भेदाना हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना॥ २।५" गौडपादाचार्य का तर्क यह है कि जो आदि में भी नही है और जो अन्त में भी नही है, वह वास्तव मे वर्तमान में भी नही है। अत वह वितथ है, असत्य है। 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सदृशा सतोऽवितथा इव लक्षिता'॥ २।६। यदि जागरित अवस्था के अनुभवो की सप्रयोजनता को लेकर कुछ कहा जाय तो यह भी मनीषी आचार्य को मान्य नहीं है। 'सप्रयोजनता तेषा स्वप्ने विप्रतिपद्यते। तस्मादाद्यन्तवत्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता' २।७॥ जगी हुई अवस्था में खा-पीकर भी तो स्वप्नावस्था में मनुष्य भूख के स्वप्न देख सकता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्था में खा-पीकर भी जगने पर भूखा रह सकता है। तो फिर जागरित अवस्था की विशेषता क्या रही? सिर्फ काल के दीर्घत्व और अदीर्घत्व का ही तो सवाल रहा। स्वप्न मे दृश्यभाव अन्तःस्थान होते हैं और आपेक्षिक होते हैं (सवृतत्वेन), यही उनका जागरित अवस्था के दृश्य भावों मे विभेद हो सकता है, किन्तु दृश्यत्व और असत्यत्व तो दोनो जगह समान ही है 'दृश्यत्वमसत्यत्वच अविशिष्टमुभयत्र' (शाकर भाष्य, माण्डूक्य कारिका २।४ पर)। इस स्वप्न के दृष्टान्त को आचार्य गौडपाद ने बहुत विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है और यदि इस विषय में हमें उनकी तुलना विचार और भाषा दोनो की दृष्टि से बौद्ध आचार्यो के साथ करनी है, तो कुछ अधिक विस्तार भी यहा क्षम्य होना चाहिए। गौडपादाचार्य ने फिर-फिर कर पुनरुक्ति करते हुए प्रवाहशील भाषा मे इस भाव को दिखाया है कि स्वप्न मे वस्तुए आतरिक रूप मे कल्पित होती है किन्तु बाह्य जगत् में बाह्य अनुभूति है, परन्तु वास्तव मे वे दोनो असत्य ही है। चित्त के द्वारा जो कुछ देखा जाता है वह उसी समय की अनुभूति होती है, और बाह्य पदार्थों के अस्तित्व के दो काल होते हैं, एक अनुभूति के पहले और एक अनुभूति के समय पर, किंतु ये दोनो ही कल्पित हैं, अत स्वप्न और जागरित अवस्थाओ के अनुभवो में कोई तात्त्विक भेद नहीं है 'चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहि। कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुक' २।१४॥ आभ्यंतरिक पदार्थ अव्यक्त है और बाह्य पदार्थ स्फुट, किन्तु दोनो ही समान रूप से कल्पित हैं, भेद केवल इन्द्रिय का है जिसके द्वारा उन दोनो की अनुभूति होती है 'अव्यक्ता एव

येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहि । कल्पिता एव ते सर्वे विशेपस्तित्वन्द्रियान्तरे ।' २।१५। अब प्रश्न यह होता है कि यदि जाग्रत् अवस्था के पदार्थ भी स्वप्नवत् ही है तो फिर इन्हे बोध कौन करता है और इनका आलम्बन क्या है? इस प्रश्न को गौडपादाचार्य उठाना भूल नही गये है और यह वेदान्त का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यही से उसका बौद्ध दर्शन से मार्ग विभिन्न होता है। 'उभयोरपि वैतथ्य भेदाना स्यानयोर्यदि। क एतान् बुध्यते भेदान् को वै तेषा विकल्पक'२।१२। आचार्य गौडपाद निश्चयात्मक शब्दो में वेदान्त का साक्ष्य देकर कहते है कि आत्मा ही अपनी माया से अपने को भेदो मे कल्पित करता है और वही उनका बोध भी करता है। 'कल्पयत्यात्मनात्मान आत्मा देव. स्वमायया। स एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तनिश्चय'। '२।१२। यदि ऐसा ही है, तो फिर इस कल्पना का कि 'मै करता हू, 'मेरे सुख दुख है' मूल क्या है? इस पर विचार करते हुए भगवान् गौडपाद कहते है कि पहले जीव की कल्पना होती है और फिर उसके बाद विविध बाह्य और आध्यात्मिक भावो की। 'जीव कल्पयते पूर्व ततो भावान् पृथग्विधान्। बाह्यानाध्यात्मिकाश्चैव यथाविद्यस्तथा स्मृति ॥' २।१६। यह उस देव की माया ही है जिसके द्वारा आत्मा प्राणादि भावो मे विकलित होता है'प्राणादिभिरनन्तस्तु भावैरेतैर्विकल्पित । मायैषा तस्य देवस्य ययाय मोहित स्वय' ॥ २।१९। जिस प्रकार अधेरे में रज्जु में सर्प की कल्पना होती है, उसी प्रकार आत्मा अपनी माया के कारण अनेक रूपो में प्रतिभासित होता हुआ अपने को देखता है। किन्तु जैसे रस्सी का ठीक ज्ञान हो जाने पर सर्पादि का भ्रम दूर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का निश्चित ज्ञान हो जाने पर अद्वैत ज्ञान प्रस्फुटित होता है। 'निश्चिताया यथा रज्ज्वा विकल्पो विनिवर्तते। रज्जुरेवेति चाद्वैत तद्वदात्मविनिश्चय ।' २।१८। परमार्थावस्था का विवरण भी बौद्ध और वेदान्त दर्शनो की तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्यदेव कहते है कि वास्तव में न तो निरोध है और न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त। 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक'। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' २।३२। यहा पृथक् और अपृथक् कुछ नही है। राग, भय और क्रोध से रहित मुनियो ने यहा सब निर्विकल्प, प्रपञ्चोपशम और अद्वयतत्व ही देखा है। 'न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्वविदो विदु २।३४। वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगै। निर्विकल्पो ह्यय दृष्ट प्रपञ्चोपशमोऽद्वय ।' २।३५। फिर इस अखंड

सत्ता की अपेक्षा में विश्व तो स्वप्न मात्र होना ही ठहरा, 'स्वप्न माये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तविचक्षणैः। २।३१। इतनी ही इस प्रकरण की संक्षिप्त विषय-वस्तु है।

अद्वैत प्रकरण तृतीय प्रकरण (अद्वैतप्रकरण) में गौडपादाचार्य ने युक्तियों के सहारे अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया है और साथ ही मायावाद का भी। आत्मा को उन्होंने आकाश के समान कहा है, सूक्ष्म, निरवयव और सर्वगत। क्षेत्रज्ञ रूप घटाकाशों के समान हैं। घटादि के विलीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी आकाश रूप आत्मा में विलीन हो जाते हैं[1]। एक प्राणी के सुख-दुःख में, एकात्मा के होने पर, अन्य को भी ऐसा क्यों नहीं होता, इसका उत्तर घटाकाश का उदाहरण देकर आचार्यदेव ने दिया है[2]। उनका मत है कि आत्मा में भेद करना व्यर्थ है। जैसे घटाकाश आकाश का न तो विकार है और न अवयव, इसी प्रकार जीव न आत्मा का विकार है और न अवयव है[3]। मूढ जन जिस प्रकार मलिनता को आकाश में आक्षिप्त करते हैं उसी प्रकार आत्मा को अनेक मल-रूप उपाधियों से मलिनीकृत करता है[4]। देहादि संघात सभी स्वप्नवत् हैं और आत्मा की माया के द्वारा उद्भूत हैं। परमार्थ रूप में वे अपनी सत्ता नहीं रखते। प्राणियों की विशेषता या समता का कोई हेतु नहीं है, क्योंकि सब अविद्याकृत हैं और परमार्थ में वे हैं ही नहीं[5]। इस प्रकार परमार्थ सत्य की भूमि में कारणवाद रहता ही नहीं। द्वैतवादी आपस में भले ही लड़ते रहें, किन्तु अद्वैत तत्त्व तो उनसे अविरुद्ध है। अद्वैत ही

(१) घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि। ३।४

(२) इस प्रकार, यथैकस्मिन् घटाकाशे रजो धूमादिभिर्युते। न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ३।५

(३) नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा। नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा। ३।७

(४) यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः। तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः। ३।८। मिलाइए ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य का उपोद्घात।

(५) संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः। आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ३।१०

परमार्थ है और द्वैत उसका भेद है[1]। कारणवाद परमार्थ सत्य पर जाकर समाप्त हो जाता है, इसे गौडपादाचार्य ने इस प्रकरण में बड़ी अच्छी तरह से दिखाया है। मायावाद की भी सिद्धि एवं 'अजातिवाद' का निरूपण इस प्रकरण के अन्य महत्त्वपूर्ण विषय हैं[2]। समग्र चराचर जगत् को आचार्यदेव ने 'मनोदृश्य' कहा है और उसे ही दिखाया है द्वैत भावना का मूल कारण भी[3]। योग की अंतिम अवस्था को उन्होंने संज्ञा दी है 'अस्पर्शयोग' की और यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि इस 'अभय' स्थान में योगियों का भय देखना सावकाश नहीं है[4]। गौडपादाचार्य ने यह भी कहा है कि सब को दुःख ही अनुस्मरण कर कामनाओं से निवृत्ति लेनी चाहिए और 'अज' सत्य का अनुस्मरण कर 'जात' को देखना ही नहीं चाहिए, क्योंकि 'उत्तम सत्य' यही है कि 'कुछ उत्पन्न नहीं होता[5]।' इसी से 'स्वस्थ', 'शांत' 'अकथ्य' 'उत्तम' 'सुख' 'सनिर्वाण' प्राप्त होता है[6]।

(१) जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते। नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्। ३।१३; स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते। ३।१७; अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते। ३।१८

(२) नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि। अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः। ३।२४; स एव नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः। सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते॥ ३।२६; सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः। तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते। ३।२७; असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते। वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥ ३।२८

(३) मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्। मनसोऽमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते। ३।३१

(४) अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः। ३।३९

(५) दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्। अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव पश्यति। ३।४३; न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते। एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते। ३।४८

(६) स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्। अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते। ३।४७

अब हम 'माण्डूक्यकारिका के चतुर्थ प्रकरण 'अलातशाति' पर आते है, जो हमारी दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महामहोपाध्याय प० विधुशेखर जी भट्टाचार्य ने इस प्रकरण का (और वैसे तो

अलातशान्ति प्रकरण समग्र माण्डूक्य कारिका का ही) बौद्ध दर्शन के साथ एक अनुत्तर तुलनात्मक अध्ययन हमारे लिए उपस्थित किया है[1], किंतु उससे लाभ उठाने और कुछ प्रकाश पाने के पहले हमें स्वय इस 'अलातशाति' प्रकरण की विषय-वस्तु को ही देख जाना चाहिए। गौडपादाचार्य ने इस प्रकरण के प्रारभ में 'अस्पर्शयोग' के उपदेष्टा किसी 'सम्बुद्ध' 'द्विपदा वरम्' की बन्दना की है जिसने 'गगनोपम धर्मों' का उपदेश किया है और जिसके द्वारा उपदिष्ट 'अस्पर्शयोग' अविवाद और अविरुद्ध है' तथा सब प्राणियो को सुख देने वाला एव हितकारी है :

'अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्वसुखो हित ।
अविवादो ऽविरुद्धश्च देशितस्त नमाम्यहम् ।
ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्त वन्हे द्विपदा वरम् ।।

यह 'गगनोपम' धर्मो का शास्ता कौन है और 'अस्पर्शयोग' को किस 'सम्बुद्ध' ने सिखाया है, इसके विषय मे 'मूलमाध्यमिक कारिका' और 'लकावतारसूत्र' जैसे ग्रथो के विचार और उनकी भाषा से परिचित आधुनिक निष्पक्ष विद्यार्थियो को कुछ कठिनाई नही हो सकती, किन्तु इन कारिकाओ के भाष्यकार ने तो बुद्ध की ओर इस स्पष्ट सकेत को उडाकर केवल ईश्वर, नारायण या पुरुषोत्तम की वन्दना करते हुए आचार्य को दिखाया है।[2] निश्चय ही यह सत्य-निष्ठा की द्योतक पद्धति नही है। परन्तु अभी

---

(१) देखिए श्री विधुशेखर जी भट्टाचार्य का 'गौडपाद' शीर्षक लेख 'प्रवासी' आश्विन १३४४, देखिए इसी वर्ष का ज्येष्ठ अक भी। इन्हीं गम्भीर विद्वान् ने हमारे देश में सर्व प्रथम 'माण्डूक्य कारिका' का बौद्ध दर्शन के साथ व्यापक और विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया है। उनका यह अध्ययन 'दि आगमशास्त्र ऑव गौडपाद' शीर्षक से अग्रेजी में पुस्तकाकार प्रकाशित भी हो चुका है।

(२) ईश्वरो यो नारायणाख्यस्त वन्देऽभिवादये। द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणा वर प्रधान पुरुषोत्तममित्यभिप्राय.। शाकर भाष्य।

तो हमें विवेचन बिलकुल न कर केवल मूल विषय-वस्तु पर ही अपनी दृष्टि जमानी चाहिए। वन्दना समाप्त करके ही गौडपादाचार्य पुन. अपने विषय 'अजातिवाद' पर आजाते हे। एक लबे तौर से वे इसका विवेचन करते है। भगवान् गौडपादाचार्य को साख्यो के और न्याय-वैशेषिक के कारण-वाद सबधी सिद्धात (क्रमश सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद) मान्य नही हैं; उनको तो केवल 'अजातिवाद' ही मान्य है —

'भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिन केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा. विवदन्त परस्परम्॥
भूतं न जायते किंचिदभूत नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥

फिर अन्य प्रभावशाली तर्कों के द्वारा आचार्य गौडपाद विरोधी सिद्धातो का खडन करते हुए (जिनसे हमें यहा विशेष सबध नही है) इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि 'बुद्धों' ने सदा 'अजाति' वाद का ही उपदेश दिया है, 'एव हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता' (४।१९)। न 'स्वत' ही और न 'परतः' कोई वस्तु उत्पन्न होती है। 'सत्' 'असत्' 'सदसत्' कोई वस्तु उत्पन्न नही होती[1]। अत 'चित्त' भी उत्पन्न नही होता और न 'चित्तदृश्य'। उसकी उत्पत्ति को जो देखते है वे आकाश मे स्थान को ही देखते है[2]। इस प्रकार परमार्थ में कार्य-कारण भाव का सर्वथा लोप वतलाते हुए भगवान् गौडपाद कहते है कि यह अजातिवाद ही बुद्धों का निश्चित सिद्धात है, किन्तु साधारण जनो को यह कुछ भय का कारण होता है क्योकि 'अस्तित्व' सबंधी वे एक गलत विचार लिए हुए होते है। अत. बुद्धों ने उनके भय को हटाने के लिये कही-कही 'जाति' वाद का भी ख्यापन किया है :—

उपलम्भात् समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्। जातिस्तु देशिता बुद्धैरजाते-स्त्रसतां सदा।' ४।४२। वास्तव में तो न चित्त और न धर्म उत्पन्न ही होते हैं क्योकि वे अज है (एवं न जायते चित्तमेव धर्मा अजा स्मृता ४।४६। आदि में भी वे नही है, अन्त में भी वे नही हैं, अत निश्चय ही वर्तमान में भी वे नही हैं। वे तो वितथ पदार्थों के ही सदृश हैं, क्योकि वे आदि और अन्तवान् है :—

(१) स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते। सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।४।२२

(२) तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते। तस्य पश्यन्ति ये जाति खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।४।२८

आद्यावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

जब 'अजाति' वाद ही परम सत्य है तो विषय-विषयि भाव से भासता क्या है? भगवान् गौडपाद का उत्तर है 'विज्ञान'। ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा। ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा' ४।४८। सीधे और टेढ़े का आभास जिस प्रकार मशाल के स्पन्दन करने से होता है, उसी प्रकार ग्रहण और ग्राहक अर्थात् विषयी और विषय का आभास भी विज्ञान के स्पन्दित होने के कारण ही होता है। अलात अर्थात् जलती हुई मशाल जब जलती है तो उसका आभास या प्रकाश कहीं अन्य से उत्पन्न नहीं होता और जब वह बुझ जाती है तो उसका प्रकाश कहीं अन्यत्र प्रवेश नहीं कर जाता, किन्तु स्वयं में ही समा जाता है। यही हालत स्पन्दित और अस्पन्दित विज्ञान की भी है—

'अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निष्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते॥
अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा॥
न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः॥

अतः निश्चय ही यह जो कुछ भी ग्राह्य-ग्राहक भाव है, सब चित्त का स्पन्दन ही है। 'चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्' (४।७२)। स्वप्नमय जीव का जैसे मरना और जीना है, मायामय जीव का जैसे मरना और जीना है, निर्मितक जीव का जैसे जीना और मरना है, वैसे ही इस संसार में सारे प्राणी जीते और मरते हैं। भगवान् गौडपादाचार्य के ही काव्यमय और प्रांजल शब्दों में,

'यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥
यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥
यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥

तो क्या फिर अन्तिम सत्य उच्छेदवाद ही है? आचार्य उत्तर देते हैं, नहीं। 'संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै। सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन

नास्ति वै'। 'संवृति' से यह सब उत्पन्न होता है, इसलिए शाश्वत नहीं है। सद्भाव से तो अज ही है, अतः उच्छेद नहीं है। यह 'संवृति' क्या है, इसको कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् वेदान्तविद् कहते हैं कि जो संवृति से कल्पित है, वह परमार्थ में नहीं है। 'योऽस्तिकल्पित संवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ। परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ (४।७३)। अतः फिर आचार्य गौडपाद घूम फिर कर यहीं आ जाते हैं कि सब धर्म अनादि और आकाश के समान ही हैं और उनमें नानात्व कहीं कुछ नहीं है। 'प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः। विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन' (४।९१)। यह 'साम्य' 'अज' और 'अद्वय' तत्त्व ही 'बुद्धों' का सदा विषय रहा है 'विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्'। यही 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' तत्त्व (नागार्जुन का वाक्यांश क्षम्य हो, यहाँ समता ही इतनी अधिक है।) परम 'अद्वय' 'ब्राह्मण्य' पद है, जो 'बुद्धों' के द्वारा प्रकीर्तित है और जिससे अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है—

'अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥
प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते। ......
यस्यैव भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥'

यहीं पर उपसंहार करते हुए भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि 'बुद्ध' (एकवचन, जैसे इस प्रकरण के आरम्भ में) का आकाशकल्प ज्ञान धर्मों में कहीं संक्रमित नहीं होता, किन्तु यह ज्ञान बुद्ध ने कहा नहीं—'क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः। सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम्'। इस श्लोक का क्या ठीक तात्पर्य है, इसके विषय में बड़ी विप्रतिपत्ति हो सकती है। किन्तु एक बात यहाँ निश्चित है कि जैसे माण्डूक्य कारिका के भाष्यकार (शंकर) ने 'अलातशान्ति' प्रकरण के प्रथम श्लोकों में बुद्ध के एक वचन के प्रयोग को 'पुरुषोत्तम या 'नारायण' के रूप में लिया वैसा यहाँ नहीं किया जा सकता, क्योंकि फिर 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। और यदि हम साधारण 'ज्ञानी' से ही 'बुद्ध' पद का तात्पर्य लें जैसे कि माण्डूक्य कारिका के भाष्यकार 'बुद्ध' शब्द के बहुवचन के प्रयोग से इस 'कारिका' में अनेक

बहुत पीछे छोडकर, आचार्य गौडपाद विज्ञानवादी बौद्धो से जा मिले है और फिर उनको भी एक धक्का देकर उन्होने सीधे माध्यमिको से जाकर सयोग की गाठ जोडी है, किन्तु उनके भी उच्छेदवाद का समुच्छेदन कर अन्त में वे सवृति और परमार्थ तत्व का चक्कर काटते हुए स्वय अनिर्वचनीयत्व को प्राप्त हुए है, ऐसा कुछ अस्पष्ट सम्बन्ध हमें आचार्य गौडपाद की स्वय की विचार-पद्धति का बौद्ध दर्शन के साथ मालूम पडता है। स्वप्न और जागरित अवस्थाओ में आचार्य गौडपाद ने कुछ भेद नही रक्खा है। उनका सीधा कहना यह है कि जागरित अवस्था की चीजें सच्ची नही है क्योकि वे दिखाई देती है और इस प्रकार स्वप्नावस्था की चीजो के समान है जो भी दिखाई देती है, किन्तु स्वप्नावस्था की चीजें वितथ है, असत्य है, अत निश्चय ही जागरित अवस्था की भी ऐसी ही हुई। समग्र 'वैतथ्य' प्रकरण की मूल भावना यही है। शकर इतने आगे विज्ञानवादियो से मिलने कभी नही गए। बल्कि यो कहना चाहिए कि यही तो दृष्टि है, जिसका तीव्र प्रत्याख्यान उन्होने ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८-३२ में किया है, जिस पर कि अभी हम कुछ देर बाद आएँगे। आचार्य गौडपाद ने भी यह स्वीकार किया है कि जागरित अवस्था में दिखाई देने वाले पदार्थ हम सबको सामान्य रूप से दिखाई देते है और स्वप्न अवस्था के केवल स्वप्न देखने वाले को। (कारिका २।१४)। फिर भी मिथ्यात्मता तो उन्हे दोनो की ही समान रूप से मान्य है। (कारिका २।४)। सब जगह कारणवाद में उन्हे सापेक्षता ही सापेक्षता दृष्टिगोचर होती है। (कारिकाएँ ४।११-१५, २१,२३,२५) और कारणवाद सत्स्वरूप दिखाई नही पडता (४।४०)। इसीलिए तो उन्होने सत्, असत् अथवा सदसत् किसी भी वस्तु का किसी भी प्रकार उत्पन्न न होना मानकर 'अजातिवाद' की ही स्थापना की है (४।२२), जिसे वे बुद्धो का मार्ग समझते है। जब तक इस अजातिवाद की अनुभूति नही होती तभी तक कारणवाद का झमेला है और तभी तक सासारिक पदार्थ सत्य प्रतिभासित होते है (४।५५-५६, ४।४२)। सत्य और 'प्रपञ्चोपशम' पद पर पहुँचने के लिए हमे सभी कारणवादो और सापेक्षताओ का अतिक्रमण करना होगा (२।३५)। किन्तु कहा पर्यन्त ? आचार्य गौडपाद ने सभी कार्यकारण व्यवहार को 'विज्ञान स्पन्दित' ही बना दिया है, 'मनोदृश्य' ही कर दिया है, जिसके कारण शकर जैसे वेदान्ती आचार्य भी अपने परमगुरु की विज्ञानवादी दृष्टि से आश्चर्यान्वित हुए विना नही रह सके (कारिका

४।२१,२५-२७ पर शांकर भाष्य)[1]। किन्तु विज्ञानवाद का प्रतिपादन करना आचार्य गौडपाद का उद्देश्य नही था। विज्ञानवाद के मूलभूत सिद्धान्त को उन्होंने 'तस्मान्न जायते चित्त' 'एव न जायते चित्त' 'एव न चित्तजा धर्मा' आदि कह कर उडा दिया है और सम्भवत उन्हे विभ्रमित न होने के लिए आग्रह भी कर दिया है 'एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये'। अत आचार्य गौडपाद विज्ञानवादियो के अत्यन्त सामीप्य में तो है, किन्तु उनसे एकात्मभाव उन्होने नही किया है। वे नागार्जुन की दिशा में भी प्रवृत्त हुए है। 'प्रपञ्चोपशम' तत्व को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व कहना न केवल बिलकुल आचार्य नागार्जुन का विचार ही है, किन्तु उनकी भाषा भी। कारणवाद का निषेध (२।३२; ४।४।७, २२, ५९) आचार्य गौडपाद और नागार्जुन का समान ही है और इस विषय में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, दोनो की भाषा में भी बहुत कुछ साम्य है। 'न निरोधो न चोत्पत्ति' आदि रूप से परमार्थता का वर्णन करने वाले आचार्य गौडपाद भी 'अनिरोधमनुत्पादम्' तत्व के उपदेष्टा नागार्जुन से कही दूर नही गए है, न भाषा में, न विचार में, ऐसा कहा जा सकता है। अनेक बातें इस प्रकार माध्यमिको और आचार्य गौडपाद की समान है। किन्तु यदि यही पूर्ण स्थिति होती तो हम उपनिषदो के ज्ञान के व्याख्याता के रूप में गौडपादाचार्य को स्मरण नही कर सकते थे, बुद्ध-मन्तव्य के साथ औपनिषद ज्ञान की एकता सिखाने वाले के रूप में तो कुछ कहना ही नहीं। आचार्य गौडपाद के अनुसार 'अस्पर्शयोग' का अभूतपूर्व उपदेश सम्यक् सम्बुद्ध ने दिया है। यह 'अस्पर्शयोग' क्या है ? आचार्य दासगुप्त हमें बताते है कि यह भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट निर्वाण है[2]। प० विधुशेखर जी भट्टाचार्य कहते है कि यह 'सज्ञा वेदयित निरोध' है[3]। जो 'सज्ञावेदयित निरोध' समाधि है, वही निर्वाण की अवस्था है। अतः दोनो ही विद्वानो के मत ठीक दिखाई पड़ते है। अब 'सज्ञावेदयित निरोध' अथवा 'निर्वाण

(१) इसी हद तक विज्ञानवाद योगवासिष्ठ में भी पहुँच गया है, मिलाइए, 'जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो स्थिरतास्थिरते विना। सम. सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः।४।१९।११; इस सम्बन्धी समन्वय-भावना के लिये देखिए पीछे योगवासिष्ठ-दर्शन का विवेचन।

(२) देखिए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२३-४२४

(३) देखिए, प्रवासी, आस्विन् १३४४

है। यह एक विशिष्ट बौद्ध प्रयोग है और भगवान् बुद्ध के लिये बौद्ध सस्कृत साहित्य में गौडपाद और शकर से काफी पूर्व इसका प्रयोग किया गया था। गौडपाद ने इसे लिया है, परन्तु उनकी कारिकाओ के भाष्यकार को इसका पारिभाषिक अर्थ ज्ञात नही है। शकर ने 'तायिन' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है 'तायी—जिसका ताय अर्थात् विस्तार हो उसे तायी कहते हैं। क्योकि तायी—सन्तानवान्—निरन्तर अर्थात् आकाश सदृश पूजावान् अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध—परमार्थदर्शी—तायी-बुद्ध'[1]। 'तायी' शब्द का बौद्ध पारिभाषिक अर्थ है अपने पुरुषार्थ से मार्ग प्राप्त करने वाले शास्ता भगवान् बुद्ध। 'बोधिचर्यावतार' में कहा गया है 'तायिना स्वाधिगतमार्गदेशकानाम्'[2] अर्थात् 'तायी' वे उपदेष्टा है जो अपने आप मार्ग प्राप्त करते है। इसी अर्थ में आचार्य दिङ्नाग ने 'तायी' बुद्ध को नमस्कार किया है[3]। तो आकाशकल्प ज्ञान वाले बुद्ध ने 'तुरीय' आत्मा स्वरूप परमार्थ तत्त्व का भाषण नही किया है, प्रज्ञप्त नही किया है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि जिसे बुद्ध ने अप्रज्ञप्त छोडा है, वह उपनिपदो के द्वारा प्रज्ञापनीय है, जिसे बुद्ध ने अभाषित किया है, उसे उपनिषदो ने भाषित किया है। इस प्रकार हम उपनिषदो का बुद्ध के मन्तव्य के प्रति पूरकत्व प्रख्यापित कर सकते है। आचार्य गौडपाद को उपनिषदो का बुद्ध-

नागार्जुन आदि बौद्ध आचार्यों ने भी की थी। चतुर्थ प्रकरण मे हम देख आए हैं कि किस प्रकार 'मिलिन्द प्रश्न'कार ने यह प्रश्न उठाया है 'यदि भन्ते नागसेन भगवता भणित न' 'त्वा' नन्द तथागतस्स धम्मेसु अचरियमुट्ठीति, तेन हि थेरस्स-मालुक्य पुत्तस्य अजानन्तेन न व्याकत। यदि अजानन्तेन न व्याकत, तेन हि अत्थि तथागतस्स आचरियमुट्ठी। अय पि उभतो कोटिको पञ्हो तवानुप्पतो' और इसके उत्तर मे साराश रूप से केवल यही कहा गया है 'न तस्स दीपनाय हेतु वा कारण वा अत्थि, तस्मा सो पञ्हो ठपनीयो। नत्थि भगवन्तान बुद्धान अकारणमहेतुक गिरमुदीरणति'। इसका सक्षिप्त साराश यही है कि तथागत ने इसके भाषण को निष्प्रयोजन समझा। इसी प्रकार भगवान् नागार्जुन ने भी कहा है 'मौना हि भगवन्तस्तथागता 'न मौनं तथागतं भाषितम्' और इस प्रकार अपने 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' तत्व के लिए एक अच्छा अवसर ढूढ निकाला है जो बुद्ध को निषेधात्मक दिशा मे ही ले जाने का अधिक प्रस्ताव करता है। किन्तु हमारा विचार है कि इन बौद्ध विचारको की अपेक्षा आचार्य गौडपाद ने बुद्ध-मौन को अधिक अच्छी तरह समझा है, जो कहते है 'क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञान धर्मेषु तायिन। सर्वे धर्मास्तथा ज्ञान नैतद् बुद्धेन भाषितम'। विज्ञानवाद और शून्यवाद के विचारो से बहुत ऊँचे उठकर (जिसका अर्थ यही है कि एक मूल प्रतिष्ठा को स्वीकार कर, अन्यथा अन्य किसी बात में इन विचारको से ऊपर उठना कदाचित् मानवीय तर्क के लिए सम्भव ही नही है) 'गगनोपम' धर्मो मे, दुर्दर्श, 'अनानात्व' पद मे, स्वच्छन्दतापूर्वक चक्रमण करते हुए तथागत की सम्यक् सम्बोधि को आचार्य गौडपाद ने देखा है और इसलिए उनके मन्तव्य के पास वे कदाचित् नागार्जुन आदि बौद्ध विचा-रको की अपेक्षा अधिक पहुँच गए है। नागार्जुन आदि ने तो 'अस्ति नास्तीति' आदि कोटियो से रहित 'गगनोपम' तत्व को 'शून्य' या 'अभाव' की ओर ही ले जाने का प्रस्ताव अधिक किया है, किन्तु यहा तो गौडपादाचार्य ने उनकी ही शब्दावली का आश्रय लेकर उसी 'गगनोपम' को 'ख ब्रह्म' ('ख' अर्थात् आकाश) की औपनिषद परिभाषा में बडी अच्छी तरह व्यक्त किया है 'ख यथा सप्रकाशित' (४।११) इसीलिए तो मनीषी शङ्कर भी यहा इस गौडपादीय 'गगनोपम' और 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' तत्व को 'अभावावसान प्रतिषेध' नही कह सकते क्योंकि यहा 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध ही सर्वत्र स्पष्ट उपलक्षित है जिसको ही आचार्य गौडपाद ने सम्यक् सम्बुद्ध का भी मन्तव्य बताया है। 'विषय. स हि बुद्धानां

न निश्चय ही एक उपनिषद् ग्रन्थ पर कारिकाएँ लिखते समय उनके लिये यह आवश्यक था। बुद्ध के प्रति इतनी श्रद्धा दिखाकर और उनके द्वारा उपदिष्ट 'अस्पर्शयोग' को औपनिषद मन्तव्य के साथ 'अविवाद और अविरोध' दिखाने की प्रतिज्ञा करके फिर अन्त में जाकर किस प्रकार केवल श्रौत परम्परा के श्रद्धालु अनुयायियो को प्रसन्न करने के लिए वे इस प्रकार कह सकते थे कि मैंने जिस सिद्धान्त का प्रख्यापन किया है वह बुद्ध के द्वारा कहा ही नही गया है, अत. उसे बुद्ध-मन्तव्य या बौद्ध धर्म से नहीं मिलाना चाहिए। ऐसा कहना उनकी सब उदारता और तत्वपक्षपातता को ले लेता है जिसकी महिमा सर्वातिशायिनी है। फिर दूसरी बात यह है कि आचार्य गौडपाद ने बुद्ध-मन्तव्य की औपनिषद मन्तव्य से एकता दिखाने की कोशिश की है, बौद्ध आचार्यों के मन्तव्यो की नही। अत जब वे बौद्ध आचार्यों के मतो का खण्डन करते है या उनके कन्धो पर चढ़कर कुछ आगे देखने का प्रयत्न करते है, तो इसका तात्पर्य यह नही कि वे उतने से ही बुद्ध-मन्तव्य को भी निराकृत कर देते हैं, किन्तु वास्तव में जो वे करते है वह तो यह है कि वे उनके कन्धो पर चढकर (अर्थात् विज्ञानवाद और शून्यवाद के कन्धो पर चढकर) ने बुद्ध-मन्तव्य की झाकी करना चाहते है, किन्तु सिवाय धुन्ध के और कुछ नही देख पाते, अत उन्हे पटक देते हैं और फिर जब औपनिषद ज्ञान के स्वच्छ शीशे मे होकर देखते हैं जिस पर 'ख ब्रह्म' की पालिश हो रही है, तो उन्हें वह 'दुर्दर्श', 'अनानात्व', 'पद', 'गगनोपम' बडी स्वच्छ तरह से दीखने लगता है। अत जिस वस्तु को वे गिराते हैं वे तो 'विज्ञानवाद' और 'शून्यवाद' है, जो 'अस्पर्शयोग' के उपदेष्टा वन्दनीय 'द्विपदा वर' को हमारे सामने दिखाने में सर्वथा असमर्थ है, किन्तु उस 'द्विपदा वर' के 'अविववाद और अविरुद्ध' मन्तव्य को वे भगवान् गौडपादाचार्य वेदान्त के मन्तव्य से विलग कर देखने के पक्षपाती किस प्रकार हो सकते हैं जब कि चतुर्थ प्रकरण की प्रथम कारिका में वे 'द्विपदा वर' बुद्ध की वन्दना करते है और अपनी बिलकुल अन्तिम कारिका में ही वे हमसे यह कह कर विदाई लेते है 'दुर्दर्शमतिगम्भीरमज साम्य विशारदम्। बुद्ध्वा पदमनानात्व नमस्कुर्मो यथाबलम्'। अत यह कहना बिलकुल गलत है कि गौडपाद की यह दिखाने की लालसा है कि उनके मत को बुद्ध-मत से न मिलाया जाय। प्रत्युत वे तो उसकी एकात्मता दिखाने के ही अधिक लालसा रखते है जिसे उन्होंने अनेक सकेतो से व्यक्त भी किया है। 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' में आचार्य ने केवल यह दिखाया है कि यद्यपि अद्वैत रूप परमार्थ बुद्ध-मत का

आधार है, परन्तु बुद्ध ने इसे भाषित नही किया है, बौद्ध निरुक्ति में, व्याकृत नही किया है। 'यह अद्वैत रूप परमार्थ तत्त्व तो वेदान्त मे ही विज्ञेय है' (इद तु परमार्थतत्त्वमद्वैत वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थ) ऐसा शकर का कहना पूरी तरह आचार्य गौडपाद का अभिप्राय नही हो सकता क्योकि इससे वेदान्त की श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है जब कि आचार्य गौडपाद को दोनो का 'अविवाद' और 'अविरोध' स्वरूप दिखाना ही अधिक इष्ट था। इसीलिये उन्होने 'अज' और 'अद्वय' तत्त्व को बुद्धो का विषय बताया है। इस सबमे आचार्य गौडपाद की यह लालसा कि उनके द्वारा प्रतिपादित अद्वैत मत बौद्ध धर्म के साथ न मिलाया जाय क्योकि 'बुद्ध के द्वारा यह कहा ही नही गया', कहा विवेचित हुई ? उक्त कारणो से हम पूर्वोद्धृत मनीषी डा० राधाकृष्णन् के मत से सहमत नही है। इस प्रकार हम बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद की दार्शनिक परिस्थिति को देखकर अब हम इस बात के कुछ निदर्शन देंगे कि आचार्य गौडपाद ने बौद्ध ग्रन्थो का कितना अनुशीलन किया था और उनकी कारिकाओ में कही-कही पूर्वकालीन बौद्ध ग्रन्थो के वाक्याशो की कितनी अधिक छाया है और कही-कही कितनी अधिक विचित्र समानताएँ है जो आकस्मिक नही हो सकती। बौद्ध आचार्यो के ऋण को गौडपाद पर स्वीकार न करना अकृतज्ञता होगी, किन्तु इसके कारण गौडपादाचार्य की ऊपर निर्दिष्ट दार्शनिक परिस्थिति में कुछ भी सशोधन करना ठीक न होगा। समान वाक्यो का पाया जाना समान अर्थो या दर्शन का अनिवार्य द्योतक नही होता। हम अपने विरोधियो के शब्दो को भी प्रयुक्त कर उनका प्रत्याख्यान करते है, अत इस क्षेत्र में हम बौद्ध आचार्यो के महान् ऋण को तो आचार्य गौडपाद पर स्वीकार करते है किन्तु गौडपाद का जो समग्र दर्शन है वह एक अत्यन्त मौलिक देन है और वेदान्त की परम्परा में उसने एक नये विचार का सूत्रपात किया है जिसे शकर और वाचस्पति अधिक आगे नही बढा सके।

'धर्म' शब्द का प्रयोग आचार्य गौडपाद ने बिलकुल बौद्ध अर्थो को लेकर किया है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग बौद्ध दर्शन मे प्राय चार अर्थो को लेकर हुआ है, यथा, गुण, हेतु, निःसत्व और निर्जीव (अत्तनो पन सभाव धारेन्तीति धम्मा, धारेन्ति वा पच्चयेहि, धारेन्ति वा यथा सभावतो धम्मा— अट्टसालिनी (धम्मसगणि पर अट्ठकथा)। इसी प्रकार 'अभिधर्मकोश' (वसुबन्धु रचित) में धर्म शब्द का प्रयोग वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ, प्रमेय आदि के लिए हुआ है। माण्डूक्य कारिका में करीब २२ से अधिक बार धर्म

उपलक्षित है। इसी प्रकार 'प्रपञ्चोपशम' का भी प्रयोग सम्भवत सबसे पहले बौद्ध आचार्यों ने ही किया था[1] और इस विषय में आचार्य गौडपाद न केवल इस शब्द के लिए ही किन्तु इसके साथ जाने वाले सभी भाव के लिए भी बौद्धो के ऋणी है। किन्तु अलग शब्दो को छोडकर हम कुछ वाक्याशो के ही उद्धरण देकर और कही-कही तो पूरी कारिकाओ के उद्धरण देकर ही यह दिखायेंगे कि आचार्य गौडपाद अपने पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्यों से कितने प्रभावित थे, फिर चाहे उनके मतो से वे भले ही अन्ततोगत्वा पूर्णत सहमत न हो।

मूलमाध्यमिक कारिका में,

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिगर्मम्।
य प्रतीत्यसमुत्पादम् प्रपञ्चोपशम शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदता वरम्॥ 'अनुत्पन्नाः प्रकृत्या गगनोपमा'। लकावतारसूत्र।

माण्डूक्य कारिका में,

न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधक· ५।३२
निर्विकल्पो ह्यय दृष्ट प्रपञ्चोपशमोऽद्वय। २।३५
ज्ञानेनागाशभिन्नेन धर्मान् यो गगनोपमान्। ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्त वन्दे द्विपदा वरम्।

बोधिचर्यावतार में,

एव च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्वत।
अजातमनिरुद्ध च तस्मात्सर्वमिद जगत्॥

माण्डूक्य कारिका में,

भूत न जायते किञ्चिदभूत नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजाति ख्यापयन्ति ते॥ ४।४
हेतुर्न जायतेऽनादे, ४।२३
न कश्चिज्जायते जीव सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तम सत्य यत्र किञ्चिन्न जायते॥४।७१

---

(१) So far as I know the Buddhists were the first to use the words प्रपञ्चोपशमं शिवम्'। दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२५

मूल माध्यमिक कारिका में,

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः ।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः ॥

माण्डूक्य कारिका में,

अलब्धावरणा सर्वे धर्मा प्रकृतिनिर्मलाः........
....नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥ ४।९८-९९

बोधिचर्यावतार में,

न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्या नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन ॥

माण्डूक्य कारिका में,

स्वतो वा परतो वापि, न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ॥४।२२

बोधिचर्यावतार मे,

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः ॥

माण्डूक्य कारिका में,

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥४।८३

लकावतार सूत्र में,

अथ वैचित्र्य सस्थान विकल्पो यदि जायते ।
आकाशे शशशृगे च अर्थभास भविष्यति ।।
स्वप्न केशोण्डूक माया गन्धर्व मृग तृष्णिका ।
अहेतुकाऽपि दृश्यन्ते तथा लोक-विचित्रता ।।
आकाश शशशृगश्च वन्ध्याया एव पुत्र च ।
असन्तश्चाभिलप्यन्ते तथा भावेषु कल्पना ।।

बोधिचर्यावतार मे,

कदलीस्वप्नमायाभ लोक पश्येद्विकल्पितम् । . . . .
अन्यतो नापि चायात न तिष्ठति न गच्छति ।
मायात को विशषोऽस्य यन्मूढै सत्यत कृतम् ।।
मायया निर्मित यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।
आयाति तत् कुत कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ।।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ।।
स्वप्नोपमास्तु गतय विचारे कदलीसमा ।

माण्डूक्य कारिका में,

यथा मायामयो जीव . यथा स्वप्नमयो
जीव । ४।६८-७०
धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्वत ।
जन्म मायोपम तेषा सा च माया न विद्यते ।।४।४८
सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्वत ।
सत्वतो जायते यस्य जात तस्य हि जायते ।।३।२९
असतो मायया जन्म तत्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्वेन मायया वापि जायते ।।३।२८
स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिण ।
. अवितथा इव लक्षिता . . . .
मिथ्यैव खलु ते स्मृत । कल्पिता एव
ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुक, आदि, आदि ।

इस प्रकार हम देखते है कि भगवान् गौडपादाचार्य की विज्ञानवाद और शून्यवाद के सिद्धान्तो से कई स्थानो पर बडी समानताएँ है और इन बौद्ध दार्शनिक पद्धतियो का उनके ऊपर बडा प्रभाव भी पडा है। किन्तु इन समानताओ को हम अधिक नही बढा सकते। जितने समानता के ऊपर उद्धरण दिये गए है, उनसे कुछ कम असमानताओ के भी दिए जा सकते है। किन्तु इन समानताओ और असमानताओ को लेकर हम कही नही पहुँच सकते। हमारे लिए जो बात महत्वपूर्ण ठहरती है वह यह है कि आचार्य गौडपाद ने उपनिषदो के मन्तव्य और बुद्ध के मन्तव्य में एकता स्थापित करने की कोशिश की थी। और इस तरह बुद्ध-मन्तव्य की व्याख्या उनकी बौद्ध आचार्यों से भिन्न थी। गौडपाद वेदान्तविद् आचार्य थे, परन्तु उनकी बुद्ध-भक्ति में सन्देह नही किया जा सकता। भगवान् बुद्ध की परिपूर्ण बोधि में उनकी अटूट श्रद्धा थी। समग्र भारतीय दर्शन में यही एक महान् आचार्य है जिन्होने वैदिक परम्परा से आकर बुद्ध-मन्तव्य की एकात्मता औपनिषद मन्तव्य के साथ दिखाने की कोशिश की है, अन्यथा अन्य तो इस परम्परा के प्राय. सभी प्राचीन और उसी ढग के अर्वाचीन विद्वान् भी (जिनकी ऐतिहासिक मार्ग में श्रद्धा नही है) परम्परा से यही मानते आए है कि या तो बौद्धो के अनात्मवाद के निराकरण के लिए ही उपनिषदो के आत्मज्ञान का उपयोग है या फिर उपनिषदो के आत्मज्ञान पर चोट करने के लिए ही, प्रजाओ को विमोहन करने की प्रतिज्ञा धारण करने वाले, उन विष्णु रूप भगवान् बुद्ध ने, 'अनात्मवाद' का उपदेश देकर जगत् का अकल्याण सम्पादित किया है, जिससे बचे रहने में ही हित है। हमारा विनम्र विचार है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियो को हटाने के लिए आचार्य गौडपाद की दिखाई दिशा के अनुसार आज फिर आधुनिक उपकरणो का आश्रय लेकर हमारे लिए यह आवश्यक है कि मूल त्रिपिटक के आधार पर विशुद्ध तात्विक दृष्टि से हम बुद्ध और उपनिषदो के मन्तव्यो का समन्वय-अनुमापन करे ताकि आचार्य गौडपाद का काम पूरा हो और भगवान् तथागत हमारे सामने एक नई ज्योति से मडित होकर आवे जो इस लोक के और विशेषत आर्य-धर्म के कल्याण और सुख के लिए हो। किन्तु हम यहां बहुत ठहर गए। आचार्य गौडपाद के बाद ही वे गम्भीर दृष्टि वाले तपस्वी शकर हमारे सामने आते है जो आठवी शताब्दी के भारत में, साक्षात् अदम्य संन्यास-धर्म के साकार रूप जैसे, धर्म प्रचारार्थ चारो ओर परिव्रजन करते हुए दृष्टिगोचर होते है।

भगवान् शंकर और उनके पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्य

भगवान् शकर भारतीय दर्शनाकाश के एक प्रखर मार्तण्ड है। अद्वितीय प्रतिभा, तेजस्वितापूर्ण व्यक्तित्व, अप्रतिहत बुद्धि-बल और सर्वत परिपूर्ण दर्शन, यह हमें शकर में मिलता है। इन मनीषी का आचार्यत्व जितना गम्भीर था उतना ही उनका तपस्, चारित्र्य और साधन भी महान् था। सम्भवत. यही उनकी महत्ता का प्रधान कारण है। जो उनके केवल आचार्यत्व को देखते है, वे उन्हे कभी नही समझ सकते। भगवान् शकर के साथ मिलकर वाचस्पति मिश्र अमर हो गए, किन्तु भगवान् शकर की महत्ता का कारण 'भामती' नही है[1]। भगवान् शकर के पहले बहुत से बौद्ध आचार्य हो चुके थे और भगवान् शकर उनसे बहुत कुछ प्रभावित थे और बहुत सी बातों में उनके ऋणी भी थे। निश्चय ही अश्वघोष, नागार्जुन, असग, वसुबन्धु और अनेक बौद्ध विचारक और नैयायिक जिनकी दार्शनिक प्रक्रिया अद्वितीय है, शकर से पहले हुए थे, किन्तु इससे शकर की एक मौलिक विचारक होने के नाते महत्ता में कुछ अन्तर नही आता। प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और विचारको के अनुभवो से लाभ उठाता है और कभी कभी तो उनकी शब्दावली का भी प्रयोग करता है, किन्तु इससे उसकी महत्ता को कुछ क्षति नही पहुँचती यदि वह कुछ अपना भी लोक को देता है। इस तरह हम देखते है कि बौद्ध आचार्यों का तो कहना क्या, जिनकी अनेक बातो का शकर ने प्रत्याख्यान किया है, अपनी परम पूजा के स्थान श्रुतियो और ब्रह्मसूत्रो तक को उस मनीषी ने इस व्यापकता के साथ अपने मौलिक विचार से अभिव्याप्त कर दिया है कि आज हम जब उपनिषदो और ब्रह्मसूत्रों को समझने की बात कहते है तो सबसे पहले ध्यान शकर का ही आता है। जैसे वे हमें समझाते है वैसे ही हम मानते है, यद्यपि जानने वाले ही जानते है कि उसमें कितना उपनिषदो या ब्रह्मसूत्रो का मूल मन्तव्य है और कितना शकर के स्वय का दर्शन का। इसीलिए तो केवल भाष्यकार होते हुए भी हम उन्हे एक स्वतन्त्र दार्शनिक कहते है और 'शाकर दर्शन' जैसी वस्तु की चर्चा करते है। कहा जाता है कि शकर ने ब्रह्मसूत्रो के मन्तव्यो को उनके वास्तविक स्वरूप में व्याख्यात नही किया है

---

(१) इसके विरुद्ध मत के लिए देखिए राहुल साकृत्यायन की 'बुद्धचर्या' की भूमिका।

किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि उपनिषदो के मन्तव्यो को सबसे अच्छी तरह उन्होने ही प्रख्यापित किया है। फिर महर्षि बादरायण ने तो उपनिषदो के ही मन्तव्यो के समन्वित स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है तो क्या स्वय भगवान् शकर ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से हम सबको विभ्रमित ही नही किया ? अत जब हम उनके तर्कों में बौद्ध आचार्यों के ही तर्कों का प्रत्यावर्तन देखें, जब श्रीहर्ष की तरह हम उन्हे भी माध्यमिको के तर्क को ही विरोधी सिद्धान्तो का प्रत्याख्यान करने के लिए प्रयुक्त करते देखे, तो हमे यह न समझना चाहिए कि शकर के पास मौलिक कुछ नही है और वे एक उच्चतम कोटि के स्वतन्त्र विचारक नही है।

शकर का दर्शन अपने मूल रूप मे वैसा ही है जैसा उपनिषदो का। उनके दर्शन की प्रतिष्ठा नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादि-साधन सम्पत् और मुमुक्षुत्व, इन चार साधनो की तैयारी पर अवलम्बित है[1], अत समग्र बौद्ध नैतिक आदर्शवाद को वह अपने गर्भ में छिपाये है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भगवान् शकर ने वेदान्त दर्शन का प्रयोजन आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति को स्वीकार किया है[2]। अत इस रूप में बुद्ध के अभिप्राय से उनका कोई विभेद नही हो सकता। इतना ही नही, प्रतीत्य समुत्पाद का खण्डन प्रस्तुत करते समय आचार्य ने उसका केवल तात्विक दृष्टि से ही खण्डन किया है, किन्तु जहा तक दु:ख निवृत्ति रूप नैतिक तत्त्व से सम्बन्ध है उसको उन्होने स्पर्श नही किया है और उसकी सम्भवता भी स्वीकार की है। यदि अविद्यादि प्रत्ययो से लेकर जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दु:ख और दौर्मनस्य तक सभी प्रत्ययो का निमित्त-नैमित्तिक भाव से घटीयन्त्र के समान समुदय और निरोध होता है तो इसमें शकर को कुछ नही कहना, उनका तो विरोध इसी में है कि बिना एक स्थिर आत्मा के इनका सघात

शंकर और बौद्ध दर्शन

---

(१) देखिए ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।१

(२) क्लेशानास्पदत्वात् सम्यग्दर्शनं इत्यद्वैतदर्शनं प्रस्तूयते। माण्डूक्य-कारिका ३।१ पर शाकर भाष्य; रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता। तथा दु:खात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता। माण्डूक्य कारिका भाष्य के प्रारम्भ में; एवमयमनादिरनन्तो....... अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय.... ...सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य का उपोद्घात।

सिद्ध कैसे होगा ? 'इतरेतरोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वमविद्यादीना यदि भवेद् भवतु नाम न तु सघात सिद्धयेत्'[१]। अत तात्विक व्याख्या में विभेद है, किन्तु एक साधक विना यह प्रश्न उठाए कि एक स्थिर आत्म तत्त्व है अथवा नही, यदि दु:ख के समुदय और निरोध को उपर्युक्त नियम के अनुसार समझ कर आचरण करे तो क्या उसकी दु ख-निवृत्ति नही होगी ? शकर के प्रत्याख्यान का तात्पर्य यही हो सकता है कि बिना औपनिषद ज्ञान की प्रतिष्ठा लिये बुद्ध के नैतिक मार्ग की व्याख्या नही की जा सकती, उसकी सगति नही बैठ सकती और इस विषय में सम्भवत आचार्य शकर ठीक है। बुद्ध के मन्तव्य की निषेधात्मक व्याख्या कर धर्मकीर्ति और दिङ्नाग जैसे बौद्ध आचार्यों ने अपने शास्ता की सम्भवतः अधिक असेवा की है जितनी कि शकर के सब प्रत्याख्यानो ने भी नही की। किन्तु इस विषय पर बाद में। बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद से शकर को कोई विभेद नही हो सकता, हा उसकी व्याख्या में वे और बौद्ध आचार्य विभिन्न-मत वाले हो सकते है। फिर भगवान् शकर कर्मकाण्ड के भी तो विरोधी हैं और कम से कम ज्ञान की अपेक्षा में वे उसे अधिक मूल्य देने को तैयार नही[२]। इस विषय में वेद का भी प्रमाण उन्हे उसी अर्थ में मान्य नही जिस प्रकार कि मीमासको को। श्रुति भगवान् शकर के लिए सहस्र कल्याणकारी माता पिताओ से भी अधिक है और वह इसीलिए कि अन्धकार से हटा कर ज्ञान के प्रकाश मे ले जाती है। शकर का ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान वैसा ही है जसा उपनिषदो का, अत जो बात वहा कह आए है वह यहा भी समझना चाहिए। शकर तर्क को अधिक महत्त्व नही देते और 'कुतार्किको' के वडे भारी निन्दक भी है। अत अध्यात्म और बुद्धितत्त्व का एक उचित सम्मिश्रण

---

(१) ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य २।२।१९

(२) अलंकारो ह्ययमस्माकं यत् ब्रह्मात्मावगतौ सत्या सर्वकर्तव्यताहानिः कृत-कृत्यता चेति :...यो हि वहिर्मुख प्रवर्तते पुरुषः इष्ट मे भूयादनिष्टं मा भूदिति न च तत्रान्तिक पुरुषार्थं लभते, तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविककार्यसंघातप्रवृत्तिगोचराद्विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य.' इत्यादीनि।.....अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्य केनचिद् दर्शयितुम्।.....तत्रैव सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञान न चोदनातन्त्रम्। ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य १।१।४

शकर के दशन मे हुआ है और वौद्ध दर्शन में श्रद्धा के महत्व की जो स्वीकृति है, वह भी इसके अनुकूल ही है । शकर को तीन प्रमाण मान्य है, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति । किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से वे ब्रह्म की सिद्धि नही मानते[1] । उसके लिए श्रुतिया और स्वानुभूति ही यथा सम्भव प्रमाण है, क्योकि ब्रह्मज्ञान का अवसान अनुभव है और एक परिनिष्ठित वस्तु उसका विपय है[2] । केवल अतीन्द्रिय क्षेत्र मे ही वेद के प्रमाण की स्थापना है[3] । वैसे तर्क की महिमा भी शकर के मत में सुरक्षित है[4] । तर्क की निन्दा उन्होने इसीलिए की है कि वह स्वानुभूति का मार्ग छोडकर कही उच्छृङ्खल न हो जाय[5] । वैसे अनुभूति और तर्क का एक अत्यन्त सामञ्जस्य पूर्ण रूप शकर में दिखाई देता है और वह इस अत्यन्त छोटे से वाक्य में अपने पूर्ण प्रभाव के साथ द्योतित हो गया है, 'श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवागत्वेनाश्रीयते ।' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।६) । श्रुति से अनुगृहीत तर्क का ही, अनुभव का अग होने के कारण, भगवान् शकर ने आश्रय लिया है और यह उनकी सत्य की गवेषणा मे सहायक ही हुई है, वाधक कभी नही । श्रुति-विरोव की समस्या उपस्थित होने पर वे उसे परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य के द्वारा वचा ले गए है । अन्यथा तो किसी प्रकार उपनिपदो का समन्वय करना और निर्गुण ब्रह्म के सृष्टिकर्ता होकर भी निर्विकार वने रहना कभी

(१) न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादिविषयत्त्व ब्रह्मण. । ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य १।१।४

(२) श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणं अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य । ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य १।१।२

(३) श्रुतिश्च न. प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ । ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य २।३।१ मिलाइये सायण भी यथा, 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न वुध्यते । एतम् इच्छति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥ तैत्तिरीय भाष्य भूमिका में ॥ प्रत्यक्षानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते । एनं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता । सायण भाष्योपक्रमणिका पृष्ठ ३४ में उद्धृत, देखिए पीछे साख्य दर्शन का विवेचन भी ।

(४) देखिए गीता भाष्य २।२१; माण्डूक्य कारिका भाष्य ३।१

(५) शंकर के द्वारा कुतर्क और कुतार्किको की निन्दा के कुछ उदाहरणो के लिए देखिए प्रथम प्रकरण में 'भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद और वुद्धिवाद' पर विवेचन ।

और भौतिक पदार्थों की ओर और दूसरा पञ्चस्कन्धो की ओर[1], तो फिर इन दोनो प्रकार के सघातो के इस प्रकार समानान्तर रूप से चलने पर उनके सघात के तथ्य की ही असम्भवता हो जायगी। 'समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थ'। उनके समुदाय के भाव की ही उपपत्ति नही हो सकेगी। और इसके लिए शकर ने पाच हेतु दिए है, (१) जो 'धर्म' (शकर का प्रयोग नही, किन्तु उनके अर्थ को प्रकट करने के लिए यह प्रयोग क्षम्य हो) सघात उत्पन्न करने जा रहे है, वे तो स्वय अचेतन है 'समुदायिनामचेतनत्वात्'। अत वे भूत और भौतिक और चित्त और चैत्त (चेतसिक) की सृष्टि कैसे कर सकते है ? (२) चित्त का अभिज्वलन अर्थात् परमाणुओ में से चित्त धारा का स्फुरण तो उनके समुदाय या सघात पर निर्भर है। 'चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्ध्यधीनत्वात्'। जब समुदाय ही (प्रथम तर्क के अनुसार) सिद्ध नही हुआ, तो उसमें से चित्त-चैत्त आदि का भी 'अभिज्वलन' कैसे बन सकता है ? (३) सघात को स्थिति में कौन लाएगा ? 'समुदाय' की प्रतिष्ठा कौन

विवेचन करना नहीं था। फिर पहले वे कह ही चुके हैं कि 'पृथिव्यादयः परमाणव ....सहन्यन्त'। अत उसी अर्थ में हमें यहां 'अणु' शब्द को लेना चाहिए। वैसे निश्चित वैज्ञानिक शब्दावली की दृष्टि से (जो निश्चय ही दार्शनिक प्रज्ञानों में होनी चाहिए) सोजन का कहना निस्सार नहीं है और शंकर गलत शब्द के प्रयोग के दोषी हैं। यदि इससे अधिक कुछ शंकर के प्रति पक्षपात चाहते हैं, तो देखिए बेलवलकर : ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृष्ठ ६३; सोजन की स्थिति के दृढ़ीकरण के लिए देखिए अभिधर्म कोश ३।८६, जहां पांच परमाणुओं को एक अणु के बराबर बताया गया है।

(१) शाकर भाष्य में शब्द 'पञ्चस्कन्धी रूप' है। इसमें 'रूप' शब्द पर यामाकामी सोजन ने आपत्ति की है कि यह बौद्ध दृष्टि से इस शब्द का अपारिभाषिक प्रयोग है। निश्चय ही यामाकामी सोजन यहा गलत है। रूप शब्द यहा पञ्चस्कन्धो के 'रूप' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, किन्तु केवल जिस प्रकार हम कहते हैं मित्र-रूप, विपत्ति-रूप आदि। हमारे लिये ये प्रयोग कितने स्वाभाविक है ! और फिर 'पञ्चस्कन्धी' में द्विगु समास है, इसकी भी सम्यक् अनुभूति यामाकामी सोजन ने नहीं की है। देखिए बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृष्ठ ६३-६४। सोजन के तर्क को समझने के लिए देखिए 'सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६३।

बनेगा ? तुम किसी 'अन्य' 'स्थिर' 'चेतन' तत्त्व की तो सत्ता ही स्वीकार नही करते ? किसी को इस 'समुदाय' या सघात का भोक्ता और शासनकर्ता तो मानते नही, फिर यह तुम्हारा सघात कैसे बनेगा ? कौन इसको स्थिति में लाएगा ? यह तुम्हारे सघात का तो अभ्युपगम होता नही । 'अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तु प्रशासितुर्वा स्थिरस्य सहन्तुरनभ्युपगमात्' । (४) यदि तुम कहो कि परमाणुओ की यह प्रवृत्ति किसी उपर्युक्त प्रकार से कहे हुए स्थिर चेतन तत्त्व की अपेक्षा नही रखती, किन्तु बिना किसी प्रवर्तक कारण के ही परमाणुओ की सघात के प्रति प्रवृत्ति होने लगती है, तो फिर इस प्रवृत्ति का उपरम या उपशम भी तो कभी होगा नही, क्योकि उसका कोई शासक तो है ही नही । अत निर्वाण भी तुम्हारा कहा सिद्ध होगा ? साराश यह कि यदि किसी सघातकर्ता को नही मानते और उससे निरपेक्ष ही प्रवृत्ति का अभ्युपगम स्वीकार करते हो, तो प्रवृत्ति के अनुपरम प्रसग से तुम मुख नही मोड सकते 'सहन्तुरनभ्युपगमात् निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरम-प्रसगात्' । (५) यदि यह कहो कि ('सन्तान रूप') आशय[1] ही यह सब

---

(१) 'आशय' क्या है ? सर्वास्तिवादी शास्त्रो में इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता । सम्भव है शंकर ने किसी ऐसे ग्रन्थ को आधार बनाया हो जो अब प्राप्त नहीं है । किन्तु तात्विक रूप से उनके अर्थ को समझना कठिन नहीं है और न वह किसी प्रकार अनुपयुक्त ही है । जैसा कि हम चतुर्थ प्रकरण में देख आए हैं, सर्वास्तिवादियो का एक सम्प्रदाय अवश्य था जो पञ्चस्कन्धो से व्यतिरिक्त एक चित्त की धारा की स्थिति मानता था जो क्षणिक होने पर भी वेदान्तियो की 'आत्मा' से कुछ समानता रखती थी और इसीलिये सर्वास्तिवादियों ने प्रधानत उसे अन्य तीर्थिको की चीज समझ कर स्वीकार नहीं किया था । उसी चित्त-धारा की ओर निर्देश करते हुए आचार्य शंकर ने यहा कहा है । वैसे हम जानते है कि इसी 'चित्तधारा' का निरूपण बाद में चलकर 'आलय विज्ञान' के नाम से विज्ञानवादियो ने किया था । यहा 'आलय विज्ञान' शब्द का प्रयोग शंकर ने नहीं किया है, किन्तु उनके व्याख्याकारो ने उसे इसी अर्थ में लिया है । 'भामती' और 'रत्नप्रभा' ने 'आशय' का अर्थ 'आलय विज्ञान' किया है और आनन्दगिरि ने भी उसे 'सन्तान' का पर्यायवाची बताया है, जो भी एक

काम कर लेता है तो इसके विरोध में हमारे चार तर्क है (अ) सघात से यह भिन्न है अथवा अभिन्न है, इसका ही तुम निश्चय नही कर सकते 'आशयस्याप्यन्यत्वानन्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात्' (अ) यह तो एक क्षणिक 'धर्म' (लेखक का ही प्रयोग !)[1] है 'क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च' (इ) अत इसमें व्यापार सम्भव नही हो सकता 'निर्व्यापारत्वात्' (ई) अत प्रवृत्ति की उपपत्ति नही होती 'प्रवृत्त्यनुपपत्ते'। यही परमाणुवाद के विरोधी तर्कों के प्रसग में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का भी प्रश्न आ जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

भगवान् शकर (सूत्रकार का ही अनुसरण कर[2]) कहते है कि यदि सर्वास्तिवादियो की ओर से यह कहा जाय कि परमाणुओ के सघात के लिए स्थिर चेतन तत्त्व मानने की जरूरत नही है, द्वादशाग प्रतीत्यसमुत्पाद ही यह सब काम कर लेगा, क्योकि उसमें सभी निदान एक दूसरे के प्रति कारण भाव से परिनिवद्ध रहते है, तो वेदान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ऐसा कभी हो नही सकता, क्योकि इससे तो केवल उत्पत्तिमात्र हो जायगी, सघात तो इससे होगा नही। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सघात का कारण नही हो सकता, इसके लिए शकर का प्रधान तर्क यही है कि वहा कोई स्थिर चैतन्य भोक्ता नही है, जो या तो प्रथम निदान स्वरूप अविद्या को प्रवृत्त कर सके, या जिसके लिए सघात के उपभोग की सगति मिलाई जा सके। चूकि ये बातें प्रतीत्यसमुत्पाद में उपलब्ध नही होती, अत वह विभिन्न परस्पर-आश्रित निदानो की उत्पत्ति में भले ही कारण स्वरूप हो सके, किन्तु उससे सघात व्याख्यात नही होता।

ही बात है। मिलाइए 'आशेरतेऽस्मिन् कर्मानुभववासना इत्याशय', 'तत्स्यादालयविज्ञान यद्भवेदहमास्पदम्। तत् स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्'॥ विज्ञानवादियों के आलय-विज्ञान या आशय सम्बन्धी विचार को सर्वास्तिवादियो के मत्थे मढ कर आचार्य शंकर ने बौद्ध सम्प्रदायों सम्बन्धी अपनी अनभिज्ञता को प्रकट किया है, ऐसा अवश्य कहा जा सकता है।

(१) आश्चर्य है कि 'माण्डूक्य कारिका' के भाष्यकार होने पर भी आचार्य शकर ने 'धर्म' शब्द का बौद्ध प्रयोग अपने भाष्य में (जहा कि सम्भवत. उसकी सबसे अधिक जरुरत थी) नहीं किया !

(२) इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्न उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। ब्रह्मसूत्र २।२।१९

यहाँ हमें कुछ विस्तार से शकर के इस विषय सम्बन्धी तर्कों को समझना चाहिए। यहा यह कह देना भी आवश्यक है कि शकर ने कुछ सक्षेप से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का विवरण भी दे दिया है (जिसकी वाचस्पति मिश्र ने वडी विस्तृत और अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है, जिसके सहारे ही वे विद्यार्थी जिन्होने वौद्ध स्रोतो से 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का ज्ञान सम्पादन नही किया है, उसके स्वरूप को वहुत कुछ समझने का प्रयत्न करते हैं—चूकि हम चौथे प्रकरण में स्यविरवाद परम्परा के अनुसार 'प्रतीत्य समुत्पाद' का विस्तृत वर्णन दे आए है और उसी प्रकरण के उत्तर भाग में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ने धीरे-धीरे विकसित होते हुए जो 'शून्यवाद' मे अन्तर्भाव प्राप्त कर लिया, उसे भी दिखा आए है, इसलिए इच्छा रहते हुए भी हमे यहा 'भामती' के उद्धरण करने के लोभ का सवरण करना पडता है, अति पुनरुक्ति के डर से—अत भगवान् शकर तक ही हम सीमित रहना चाहते है) और साथ ही उन्होने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वाक्य यह भी कहा है' ....एवजातीयका इतरेतरहेतुका सौगते समये क्वचित् सक्षिप्ता निर्दिष्टा. क्वचित्प्रपञ्चिता.'। जो वौद्ध शास्त्रो से और विशेषत: पालि-त्रिपिटक से अभिज्ञ है, वे देख सकते है कि शकर का यह कहना ठीक है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नही कि पालि-त्रिपिटक शकर को उपलब्ध था, हमें केवल यही कहना है कि शकर जव 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के निदानो के विषय मे 'क्वचित् सक्षिप्ता निर्दिष्टा. क्वचित्प्रपञ्चिता:' कहते है तो वे वौद्ध ग्रन्थो के स्वय देखने का साक्ष्य देते है। अव हम अपने प्रधान विषय पर आते है। भगवान् शकर का कहना है कि 'सघात' की सगति तो हम तभी लगा सकते है जव कि सघात का कोई प्रवर्तक कारण माना जाय 'भवेदुपपन्न-सघातो यदि सघातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्यते'। किन्तु वह तो यहा मिलता नही। 'न त्ववगम्यते'। अगर यह मान लो और इसे मानने मे हमें कोई हर्ज नही है कि अविद्या आदि निदान एक दूसरे से कारण और कार्य भाव से सम्बद्ध रहते है, फिर भी तो पूर्व-पूर्व का प्रत्यय या निदान उत्तरोत्तर प्रत्यय या निदान की उत्पत्ति मात्र का ही तो कारण हो सकता है, किन्तु इतने से ही हमें सघात के निर्माण का तो कोई कारण यहा उपलव्ध होता नही। 'न तु सघातोत्पत्ते. किञ्चिन्निमित्त सम्भवति'। यदि सर्वास्तिवादी (जिनके ही सिद्धान्त के रूप में आचार्य शकर ने इसको यहा प्रधानत उपस्थित किया है) यह कहे कि अविद्यादि को ही क्या सघात के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता, क्या उनसे ही सघात आक्षिप्त नही हो जाता, तो इस पर शकर

की दृष्टि यह है कि जब यह कहा जाता है कि प्रतीत्य समुत्पन्न निदान ही सघात को अक्षिप्त कर सकते है, तो इसके दो ही अभिप्राय हो सकते है। (१) या तो यह अभिप्राय हो सकता है कि चूकि अविद्यादि निदान बिना सघात की उपस्थिति के अपनी स्थिति कायम नही रख सकते इसलिए निश्चयत ही सघात की विद्यमानता उनमें निहित है, अथवा (२) यह अभिप्राय प्रतिपक्षी का हो सकता है कि अविद्यादि स्वय ही सघात के कारण है। इन दोनो परिस्थितियो का आचार्य शकर ने इस प्रकार निराकरण किया है। प्रथम आपत्ति के विषय में उनका कहना है कि यदि हम यह मान ले कि अविद्या आदि निदानो से सघात स्वय ही आक्षिप्त हो जाता है और उसकी अनुपस्थिति में हम अविद्यादि की भी स्थिति को नही समझ सकते तो आचार्य शकर फिर यही कहते है कि उसके लिए कोई निमित्त लाओ 'ततस्तस्य सघा-तस्य निमित्त वक्तव्यम्'। यह निमित्त तो न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद में भी उपलब्ध नही होता जहा कि 'नित्य' अणु है और आश्रय आश्रयि स्वरूप जहा अनेक भोक्ता है, तो हे अग! (प्रियवर! प्रतिपक्षी को प्रेम पूर्वक सम्बोधन!) तुम्हरे यहा तो 'क्षणिक' धर्म परमाणु है, जो भी अनात्म है, अत वहा निमित्त की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? 'नित्येष्वपि अणुषु अभ्युपगम्यमानेषु आश्रयाश्रयिभृतेषु ('आस्रवाश्रयिभूतेषु' भी पाठ है) च भोक्तृषु सत्सु न सम्भवतीत्युक्त वैशेषिकपरीक्षाया। किमग! पुन क्षणिकेष्वपि अणुषु भोक्तृरहितेषु आश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु सम्भवेत्'। फिर यदि अविद्यादि निदान सघात को आक्षिप्त करते है तो यदि इसका दूसरा उपर्युक्त तात्पर्य यह लिया जाय कि अविद्यादि स्वय ही सघात के कारण है तो उसके विरुद्ध शकर का तर्क यह है कि जो अविद्यादि स्वय अपनी स्थिति के लिए सघात पर निर्भर है, वे स्वय उस सघात के ही कारण किस प्रकार हो सकते है? 'कथ तमेवाश्रित्यात्मान लभमानास्तस्यैव निमित्त स्यु'। अत. सघात अविद्यादि के द्वारा आक्षिप्त नही किया जाता और जिन दो अर्थों में सघात का अविद्यादि के द्वारा आक्षिप्त होना दिखाया जा सकता है, उन दोनो अर्थो का शकर ने निराकरण कर दिया है। किन्तु बौद्धो के इतने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को इस प्रकार आसानी से आचार्य शकर नही छोड सकते। वे फिर कहते है कि यदि यह मान लिया जाय कि इस अनादि ससार में सघात पूर्व से ही स्थित है और अविद्यादि निदान उन्ही पर आश्रित है, तो यह पूछा जा सकता है कि एक नया सघात, जो एक पूर्व सघात से उत्पन्न होगा, वह क्या नियम से

पूर्व सघात के सदृश ही होगा अथवा विना किसी नियम के सदृश और विसदृश दोनो हो सकता है। 'सघातात्सघातान्तरमुत्पद्यमान नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत अनियमेन वा सदृश विसदृश वोत्पद्येत'। दोनो ही हालतो में सघात की सिद्धि नही होती। किस प्रकार ? यदि नियम ने एक सघात से समान सघात की उत्पत्ति हम मानें तो भिन्न-भिन्न योनियो में कर्मानुसार मनुष्य के ससरण की सगति नही मिल सकती। 'नियमाभ्युपगमे मनुष्य-पुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्यभाव प्राप्नुयात्' और यदि अनियम से ही एक सघात से सदृश अथवा विसदृश सघात की उत्पत्ति को हम मानें तो हमें मनुष्य के शरीर को एक क्षण मे हाथी, एक क्षण मे देव और फिर एक क्षण में मनुष्य के रूप में आता हुआ मानना पडेगा। 'अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गल कदाचित्क्षणेण हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेत्'। अत न तो एक सघात के दूसरे सघात से नियम पूर्वक सदृश उत्पन्न होने पर और न अनियम से सदृश या विसदृश उत्पन्न होने पर ही, प्रतिपक्षियो का यह अभ्युपगम कि अनादि ससार में सघात पूर्व से ही अवस्थित है और अविद्यादि उन्ही पर आश्रित है, नही ठहरता, वल्कि दोनो ही उपर्युक्त सिद्धान्त (निराकृत किए जाने पर) उसके (अभ्युपगम के) विरुद्ध ही ठहरते है। 'उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्'। फिर इस विषय में उपसहार की ओर आते हुए आचार्य शकर अपने प्रधान तर्क पर आते है (जिसका निर्देश पहले भी कर दिया जा चुका है और जो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है न केवल वौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन के सम्वन्ध को समझने के लिए ही वल्कि शाकर दर्शन के वौद्ध दर्शन से मूल विभेद को हृदयंगम करने के लिए भी)। वौद्ध दर्शन के अनुयायी से उनका गम्भीर निनाद है 'यद्भोगार्थ. सघात स्यात्स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगम'। तुम्हारे दर्शन में उस स्थिर भोक्ता (अनुभवकर्ता) आत्मा के लिए तो कोई स्थान ही नही है जिसके लिए सघात के भोग (अनुभव) की कल्पना की जाती है। अतः निश्चय ही भोग (अनुभव) के लिए ही तो यह सघात रूप भोग उपस्थित है, अत मोक्ष केवल मोक्ष के लिए ही तो रही, मुमुक्षु कहा रहा ? यदि मानते हो कि मुमुक्षु है, तो क्षणिकवाद का उपदेश क्यो देते हो ? भोग और मोक्ष दोनो कालो में ही तो मुमुक्षु को स्थायी रहना चाहिए। अत. यदि एक ओर स्थिर आत्मा मानते हो तो दूसरी ओर तुम्हारा क्षणिकवाद नही रहता और यदि क्षणिकवाद पर आग्रह करते हो तो प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा सघात सिद्ध करने के मोह को छोडो ! एक से दूसरे की उत्पत्ति की व्याख्या करनी है तो भले ही तुम

कर लो, किन्तु सघात की सिद्धि तो तुम प्रतीत्यसमुत्पाद से नही कर सकते। 'इतरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीना यदि भवेद् भवतु नाम न तु सघातः सिद्धयेत्'। इस प्रकार आचार्य शकर ने सर्वास्तिवादियो के परमाणुवाद का खण्डन किया है और साथ ही दिखाई है प्रतीत्य समुत्पाद की भी कारणवाद के रूप में अपर्याप्तता।

लेखक के द्वारा कुछ प्रसङ्गान्तर

किन्तु सबसे वडी वात जो अब तक ऊपर किए गए शकर के प्रत्याख्यानो में हम देखते हैं वह यह है कि बौद्ध दर्शन के कर्म, निर्वाण, साधन-पथ आदि की सगति विना स्थिर आत्म तत्व स्वीकार किए नही लगती। यदि स्थिर आत्म तत्व की विद्यमानता हम बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा में न मानें तो उसका कोई भी सिद्धान्त पृथ्वी पर गिरे विना नही रहता। निश्चय ही यद्यपि शकर ने 'मूल माध्यमिककारिकाकार' के समान विस्तार नही किया है, किन्तु उनके गम्भीर और सूक्ष्म तर्कों को देखकर हम कह सकते है कि जिस प्रकार माध्यमिको ने ससार की सभी वस्तुओ के प्रति कहा था, विलकुल वही वात, यदि हम स्थिर आत्मतत्त्व की सत्ता बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा में स्वीकार न करें तो, उसके प्रत्येक प्रज्ञान, प्रत्येक नैतिक आदर्शवाद के सिद्धान्त, यहा तक कि कर्म, निर्वाण और पुनर्जन्म आदि सभी के विषय में कही जा सकती है 'वुद्धया विवेच्यमानाना स्वरूपो नावधार्यते। यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। निश्चय ही ब्रह्मसूत्र भाष्य में यह काम शकर ने कर दिखाया है। स्थिर आत्मतत्त्व के विना उन्हे बौद्ध दर्शन 'वैनाशिक समय' (विनाशवादी सिद्धान्त) ही लगा है और जैसे-जैसे उसकी उपयुक्तता की उन्होने परीक्षा की है, वह सिकता-कूप के समान विदीर्ण होता गया है[1]। किन्तु इससे क्या वुद्ध-दर्शन की महिमा नष्ट होती है, क्या उसकी सत्यता घटती है? शकर का अभिप्राय चाहे जो कुछ रहा हो (हम देखेंगे कि उनका अभिप्राय विभिन्न था) किन्तु उन्होने अपने प्रत्याख्यानो से वुद्ध के धर्म और दर्शन की महिमा वढाई ही है, उसकी परिशुद्धि ही की है, उसके तेज को और प्रकाश ही दिया है। यह एक विरोधाभास-सा दीख सकता है, किन्तु यह एक महान् सत्य है। शकर के समस्त प्रत्याख्यानो का और उनके व्याख्याकारो के समस्त विस्तारो

---

(१) 'सर्वप्रकारेण यथायथाय वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते तथा तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव। ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।२।३२

का, इससे अधिक और तात्पर्य क्या हो सकता है कि सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी और सर्वशून्यवादी (जिनके 'विषय में तो कहना ही क्या—आचार्य शकर ने जिनके सिद्धान्तो में से एक के भी निराकरण करने तक का भी आदर नही दिखाया) सभी परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्तो को लिए हुए अँधेरे में टटोल रहे हैं जहा उनके आचारतत्व और तत्वज्ञान की कोई सगति नही लगती और जो एक अतीत स्थिर आत्मा की स्थिति माने विना सभी प्रकार के प्रकाश और ज्ञान से रहित है। किन्तु इतने से वुद्ध-मन्तव्य निराकृत नही हो जाता, उसकी नागार्जुन, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग आदि की (अश्वघोष और वसुवन्धु की नही—भूततथता और विज्ञानमात्रता की ओर शकर के तर्क यहाँ लक्ष्य नही करते और न वे उन पर प्रयुक्त हो सकते हैं) की हुई निषेधात्मक अथवा अर्द्ध-निषेधात्मक व्याख्याएँ केवल निराकृत होती है। वुद्ध-मौन की निषेधात्मक व्याख्या कुछ वौद्ध आचार्यो ने की। इसका नतीजा यह हुआ कि वे अपने शास्ता के मन्तव्य से दूर निकल गए (सृष्टि के अन्तस्तल में जिस धर्मनियामता–सत्य की नियमवत्ता–को तथागत ने देखा था, उसकी वे ठीक व्याख्या न कर सके) और निरन्तर निषेधात्मक विरोधो में जाते हुए सिवाय पेचीदगियो के और किसी प्रकार वोधिपक्षीय धर्मो के शास्ता के मन्तव्यो की सगति ही न लगा सके। शकर का काम वुद्ध का व्याख्याकार होना नही था और न 'सुगत' के प्रति श्रद्धा ही उन्होंने दिखाई है (आगे देखेंगे), किन्तु अनायास रूप से उन्होंने वौद्ध आचार्यो की विरुद्धार्थप्रतिपत्तिया दिखाकर वुद्ध-मन्तव्य को नवीन ढग से व्याख्यात करने की एक दिशा अवश्य दिखाई है जिसको भी वुद्ध के मौन को व्याख्या करने मे उतना ही अवकाश प्राप्त है जितना कि नागार्जुन आदि की निषेधात्मक दिशाओ को। जिन दिशा का प्रवर्तन अश्वघोष और वसुवन्धु ने किया, उसी का वेदान्तिक रूप हमे गौडपाद में दिखाई पडा। अश्वघोष ने हमें वताया कि शायद शास्ता ने 'भूततथता' कहा होगा, वसुवन्धु ने उसे 'विज्ञप्तिमात्रता' कहा, गौडपाद ने औपनिषद ज्ञान को समर्पित कर कहा कि सम्भवत यह उन 'देशिक' का मन्तव्य रहा होगा किन्तु दूसरे ही क्षण ध्यान आया 'नैतद् वुद्धेन भाषितम्'। कारिकाएँ वन्द कर दी। अव दार्शनिक शकर रगमञ्च पर आते हैं। उन्हे अद्वैत मत की सिद्धि करनी इष्ट है और वैदिक मत की स्थापना। वुद्ध के मन्तव्य के जिस चीज होने की सम्भावना आचार्य गौडपाद हमें अभिज्ञतापूर्वक और समझ वूझकर देते है, आचार्य शकर अनायास ही और सम्भवत विना अनुभव किए हुए ही (अन्यथा

'स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्वद्धप्रलापित्व' ऐसा क्यो कहते) हमें यह वतला देते हैं कि वुद्ध यदि वास्तव में परमार्थ ज्ञानी है, यदि वास्तव में कर्म की प्रतिष्ठा वे चाहते है, यदि पुनर्जन्म मे उनका कुछ भी विश्वास है, यदि उनके द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का कोई भी समझने योग्य अर्थ है, यदि उनके आर्य-मार्ग की कोई भी प्रतिष्ठा है, यदि जीवन की कोई भी महत्ता उनकी दृष्टि में है, किसी भी प्रकार की व्यवस्था में उनका विश्वास है (जो सब वातें उनमें हैं) तो यह नाम-रूपात्मक जगत् से अतीत और उसमें समाई हुई किसी सत्यता के वल पर ही हो सकता है, उसका निषेध करके नही। अत हम अपने उद्देश्य के लिए कह सकते हैं कि शकर ने एक प्रकार से बुद्ध के मन्तव्य की निषेधात्मक व्याख्याओ से परिशुद्धि ही की है और इस प्रकार उन्होने वुद्ध के वास्तविक मन्तव्य को समझने के लिए अधिक प्रोत्साहन ही उत्पन्न किया है, अनुत्साह नही। प्रश्न यहा यह विलकुल नही कि तो फिर क्या नागार्जुन आदि ने बुद्ध-मन्तव्य की गलत व्याख्याएँ ही की है ? अपने मूल विषय से हम हट तो ही आए है, इसमें पडकर तो और भी हटना होगा ! इतना ही कह सकते है कि शकर और नागार्जुन की प्रज्ञाएँ उन 'अनोमदर्शी' (बुद्ध) के चीवर के छोर को भी स्पर्श नही करती। सम्यक् सम्बुद्ध नागार्जुन और शकर दोनो की पहुँच से वाहर हैं। हा, गौडपाद की ओर देखकर वे जरूर कह सकते हैं 'साधु गौडपाद ! साधु गौडपाद' ! (साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र ! की तरह—सुत्तपिटक में अनेक वार प्रयुक्त। प्रधानतया देखिए सगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)। हम खोए हुए धागे को पकडते है।

शंकर और बौद्ध क्षणिकवाद

हम अभी इस वात का निरूपण कर रहे थे सर्वास्तिवादियो के परमाणुवाद का खण्डन करते हुए आचार्य शकर ने अनेक प्रभावशाली तर्क देकर इस वात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि परमाणुओ का सघात, जो सभी भूत और भौतिक तथा चित्त और चैत्त सम्वन्धी सृष्टि के लिए अनिवार्यत आवश्यक है, उनके मान्य सिद्धान्तो के अनुसार नही वनता और वे एक विरुद्धार्थ-प्रतिपत्ति में जा पडते है। इसके लिए जितने तर्क आचार्य शकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दिए है वे सव ऊपर उपस्थित कर दिए गये है। साथ ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त में भी क्या विरुद्धत्व भरा पडा है और परमाणुओ के सघात को सिद्ध करने की उसकी भी कितनी अशक्तता है, इसके विषय में भी शकर के सभी प्रभावशाली तर्कों को ऊपर हम दे चुके है। हमने

ऊपर देखा था कि 'प्रतीत्य समुत्पाद' से सघात की सर्वथा असिद्धि दिखाते समय भगवान् शकर यह कह गए थे कि इससे अविद्यादि का एक दूसरे के प्रति 'निमित्तमात्र निमितत्व' (पहले व्याख्या कर चुके है) तो दिखाया भी जा सकता है। 'इतरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीना यदि भवेद् भवेतु नाम'। किन्तु यह उन्होने अपने मत की अपेक्षा से कहा था। जब वे यह दिखाने को प्रवृत्त होते हैं कि स्वय बौद्धो के मतानुसार तो इतना भी नही दिखाया जा सकता। निश्चय ही बौद्ध बडी विरुद्धप्रतिपत्तियो में जा फँसे हैं। बौद्ध मत सर्वथा असगत है। 'असगत सौगत मतम्'। किस प्रकार ? क्षणिकवादी या क्षणभगवादी यह स्थापना करता है कि एक उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का क्षण निरुद्ध हो जाता है। जब ऐसा ही है तो पूर्व और उत्तर क्षणो मे कारण-कार्य-भाव कैसे स्थापित किया जा सकता है ? 'न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयो क्षणयोर्हेतुफलभाव शक्यते सम्पादयितुम्'। जो एक निरुध्यमान (निरुद्ध होने वाला) अथवा निरुद्ध (अतीत) पूर्वक्षण है, वह तो अभाव को ही प्राप्त हो गया, तो फिर वह एक उत्तर क्षण का हेतु किस प्रकार हो सकता है ? 'निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तर-क्षणहेतुत्वानुपपत्ते'। यदि यह कहा जाय कि एक ऐसा पूर्व क्षण, जिसने भाव अर्थात् सत्ता का स्वरूप धारण कर लिया है और जिसने अपनी अवस्था को परिपूर्ण रूप से विकसित कर लिया है, एक उत्तर क्षण का कारण होता है, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि यदि ऐसे क्षण के प्रति फिर व्यापार या प्रवृत्ति की कल्पना की जाय तो एक क्षण की दूसरे क्षण के साथ सम्बन्ध मे आने की आपत्ति आ जायगी। 'अथ भावभूत परिनिष्पन्नावस्थ. पूर्वक्षण उत्तर-क्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते। भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनाया क्षणान्तरसम्बन्धप्रसगात्'। यदि यह कहा जाय कि भाव ही इसका (पूर्वक्षण का) व्यापार होता है तब भी ठीक नही है क्योकि कोई भी कार्य जो अपने कारण के स्वभाव से उपरक्त नही हुआ है, कभी स्थिति में ही नही आ सकता। 'अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि नैवोपपद्यते। हेतुस्वभावानुप-रक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसम्भवात्[1]'। और यदि कार्य का कारण से उपरक्त

(१) यहा शकर की समालोचना के लिए भी और उनके समर्थन के लिए भी काफी मसाला मिल सकता है। यहा पर विचार यह है कि एक वस्तु किसी अन्य पूर्व वस्तु के कार्य स्वरूप उत्पन्न होती है और स्वय किसी

होना ही माना जाय तब चूंकि कारण के स्वभाव का स्थायित्व कार्य की उत्पत्ति के क्षण तक मानना पडता है, अत क्षणभगवाद के ही उठा फेक देने का प्रसग उठ खडा होता है। 'स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभगाभ्युपगमत्यागप्रसग'। पुन यदि यह माना जाय कि बिना ही कारण के स्वभाव से उपरक्त हुए कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है, तो फिर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकेगा क्योकि कार्य का कारण के स्वभाव के साथ उपराग का अभाव तो सर्वत्र ही दृष्टिगोचर हो सकता है, अत इस तरह अति प्रसग का दोष आ जाता है 'विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छत सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसग'। फिर

दूसरी वस्तु का कारण बन कर निरुद्ध हो जाती है। अब वस्तु का जो 'कार्य' स्वरूप होता है, उसमें 'कारण' उपरक्त हुआ रहता है, अत. वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती है, अथवा यह कहना चाहिए कि उसकी सत्ता के तीन क्षण होते है (१) उसका कार्य के रूप में उत्पन्न होना (२) कारण के रूप में उसका उपरक्त होना (३) एक दूसरी वस्तु की उत्पत्ति की परम्परा को जन्म देकर स्वय निरुद्ध हो जाना। यही है किसी वस्तु का तीन क्षण तक स्थायी रहना, उसका 'त्रिक्षण-स्थायित्व भाव'। अब वास्तव में बात यह है कि इस प्रकार का मत न्याय-वैशेषिक को मान्य है (देखिए पाचवें प्रकरण में न्याय-वैशेषिक का विवेचन) बौद्धों को नहीं (अन्यथा उनका क्षणिकवाद ही कहा ठहरता है ?) । अत शकर के विरोधी कह सकते हैं कि उन्होने सर्वास्तिवाद पर उस सिद्धान्त का आरोप किया है, जिसे वे नहीं मानते। किन्तु सर्वथा बात ऐसी नहीं है। यह बात ठीक है कि क्षणिकवाद पर प्रतिष्ठित कोई भी बौद्ध सम्प्रदाय वस्तु के 'त्रिक्षण स्थायित्व' को नहीं मान सकता, किन्तु निश्चय ही ऐतिहासिक रूप से सर्वास्तिवादियो का एक ऐसा सम्प्रदाय अवश्य था जो इस प्रकार के सिद्धान्त को मानता था (देखिए चौथे प्रकरण में सर्वास्तिवादियों के काल सम्बन्धी विचार का विवेचन) । अत शंकर का आधार वह मत हो सकता है। और फिर 'परिणामिनित्यत्व' को तो सर्वास्तिवादी मानते ही है। अतः इस दृष्टि से भी शंकर पर दोष नहीं लगाया जा सकता। विस्तृत विवेचन के लिए देखिये बेलवेलकर : ब्रह्मसूत्र, नोट्स पृष्ठ ७७-७८

किसी वस्तु की उत्पत्ति और निरोध में इतनी बातो में से एक अवश्य होनी चाहिए। या तो वह वस्तु का स्वरूप ही हो (वस्तुन स्वरूपमेव) या एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ हो (अवस्थान्तर वा) अथवा उस वस्तु से विभिन्न ही कोई वस्तु हो (वस्त्वन्तरमेव वा)[1] । इन तीनो की ही भगवान् शकर अनुपयुक्तता दिखाते हैं। यदि वस्तु का स्वरूप ही उत्पाद और निरोध हो, तव तो वस्तु शब्द और उत्पाद-और-निरोध शब्द पर्यायवाची होने चाहिए। किन्तु यदि यहा यह कहा जाय उपर्युक्त दोनो शब्दो मे कुछ तो विभिन्नता है ही और उत्पाद और निरोध केवल एक ही वस्तु की दो अवस्थाओ को दिखाते हैं अर्थात् प्रारम्भिक और अन्तिम को, जिनके बीच का विन्दु ही वास्तविक सत् वस्तु है, तव तो वह वस्तु तीन क्षणो के सम्वन्ध में आ गई अर्थात् प्रारम्भिक मध्यम और अन्तिम, तो फिर छोडो अपने क्षणभगवाद को। 'अथास्ति कश्चिद्विशेप इति मन्येतोत्पादनिरोधशब्दाभ्या मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये-अवस्थे अभिलप्येते इति। एवमप्याद्यन्तमध्यक्षणत्रयसम्वन्धित्वाद्वस्तुन क्षणिकत्वाभ्युपगमहानि'। पुन' यदि उत्पत्ति और निरोध, दो विलकुल विभिन्न वस्तुएँ हो, जिस प्रकार कि घोडा और भैंस, तव तो वस्तु किसी भी प्रकार उत्पत्ति और निरोध के सम्वन्ध में ही नही आती, क्योकि फिर तो इसे शाश्वत ही मानना पडेगा 'अथात्यन्तव्यतिरिक्तावेवोत्पादनिरोधौ वस्तुन' स्यातामश्वमहिपवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामससृष्टमिति वस्तुन. शाश्वतत्वप्रसग.'[2] । अन्त मे यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु की उत्पत्ति और निरोध का तात्पर्य केवल उसके दिखाई देने या न दिखाई देने से है, तव भी तो देखना या न देखना तो देखने वाले के ही धर्म हैं, वस्तु के तो नही, अत फिर वही वस्तुओ के शाश्वतवाद का प्रश्न उठ खडा होता है। अत इस प्रकार भी क्षणिकवाद पर प्रतिष्ठित सौगत मत असगत ही ठहरता है। अत क्षणभगवाद में किसी भी प्रकार पूर्व-पूर्व क्षण निरुद्ध हो जाने पर वह उत्तरोत्तर क्षण का कारण वन ही नही सकता। 'क्षणभगवादे पूर्वक्षणोनिरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवति'। पुनः

---

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण के उत्तर भाग में सर्वास्तिवादियो के तत्वज्ञान का विवेचन।

(२) इसी प्रकार के तर्क को समझ कर आचार्य नागार्जुन ने 'अनिरोधमनुत्पादम्' परम तत्त्व के सम्बन्ध में कहा था। देखिए, चतुर्थ प्रकरण में शून्यवाद का विवेचन, तथा इसी पाचवें प्रकरण में गौडपाद के दर्शन पर विवेचन भी।

यदि बौद्ध यह कहे कि विना ही कारण के फल की उत्पत्ति हो जाती है, तो भी गलत है, क्योकि इस प्रकार उन की स्वय की प्रतिज्ञा ही टूटती है। 'प्रतिज्ञोपरोध स्यात्'। किस प्रकार ? बौद्ध लोग मानते है कि चार ही हेतुओ[1] के प्रत्यय से चित्त और चैत्त उत्पन्न होते है। अब यदि उनके नये सिद्धान्त में बिना हेतु के ही फल की उत्पत्ति होने लगे, तब तो चाहे जो कोई चीज़ चाहे किसी भी चीज़ को उत्पन्न कर देगी, क्योकि वहा कोई प्रतिबन्ध तो है ही नही। 'निर्हेतुकाया चोत्पत्तावप्रतिबन्धात् सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत'। पुन यदि यह कहा जाय कि पूर्व क्षण तब तक ठहरता है जब तक कि उत्तर क्षण उत्पन्न न हो जाय, तब भी तो हेतु और फल का साथ-साथ होना ही सिद्ध हो जाता है जो भी क्षणिकवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध पडता है, अर्थात् सभी 'सस्कार' क्षणिक है', यह प्रतिज्ञा कटती है। 'क्षणिका' सर्वे सस्कारा इतीय प्रतिज्ञोपरुध्येत'। किन्तु क्षणिकवाद के इतने प्रत्याख्यान से ही आचार्य सन्तुष्ट नही हो जाते और न वे सर्वास्तिवादियो तक ही अपनी सीमा रखते हैं। उनके लिए सब बौद्ध समान है, अर्थात् सभी वैनाशिक है, केवल स्तरो का विभेद है। हम जानते हैं कि क्षणभगवाद प्राय सभी उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों का समान सिद्धान्त है, यद्यपि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातत्रिक' विज्ञानवादियो ने इसका विशेष रूप से प्रख्यापन किया है। शकर के इन प्रत्याख्यानो को हम असगत नही कह सकते, किन्तु जब वे 'वैनाशिको' के नाम से, किन्तु सर्वास्तित्ववादियो के प्रसग में, 'क्षणिकवाद' का खण्डन करते है, तो इससे हमें यही जान पडता है कि आचार्य को बौद्ध सम्प्रदायो का ठीक ज्ञान नही था। वैनाशिक (सर्वास्तिवादी) कहते है कि प्रतिसख्यानिरोध, अप्रतिसख्या निरोध तथा आकाश[2] को छोडकर शेष धर्म सस्कृत है[3], क्षणिक है और बुद्धि के द्वारा बोध्य है। उपर्युक्त तीन असस्कृत धर्मों (अर्थात् प्रतिसख्यानिरोध, अप्रतिसख्या निरोध तथा आकाश) के विषय में सर्वास्तिवादी कहते है कि ये पदार्थ 'अवस्तु' है,

---

(१) यथा आलम्बन प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, तथा सहकारि प्रत्यय।

(२) ये तीन सर्वास्तिवादियो के 'असस्कृत' अथवा 'अनास्रव' धर्म कहलाते हैं। देखिए चतुर्थ प्रकरण के उत्तरार्द्ध में सर्वास्तिवादी-दर्शन का विवेचन।

(३) जो सख्या में ७२ हैं। देखिए चतुर्थ प्रकरण में सर्वास्तिवादियों के दर्शन का विवेचन।

'अभाव स्वरूप' है तथा 'निरुपाख्य' है[1]। भगवान् शंकर सूत्रकार का अनुगमन करते हुए प्रतिसख्यानिरोध, अप्रतिसख्यानिरोध तथा आकाश सम्बन्धी सर्वास्तिवादियो के सिद्धान्तो के खण्डन में प्रवृत्त होते है। उनका कहना है कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसख्यानिरोध सम्भव नही है। किन्तु इससे पहले हम आचार्य की प्रतिसख्यानिरोव' और 'अप्रतिसख्यानिरोव' की परिभाषाओ को देख लें। उनके अनुसार सर्वास्तिवादियो का कथन है कि बुद्धि की निश्चित क्रिया के पूर्व के पदार्थों का विनाश 'प्रतिसख्यानिरोव' कहलाता है 'बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसख्यानिरोवो नाम भाष्यते' और उसके विपरीत 'अप्रतिसख्यानिरोव' "तद्विपरीतोऽप्रतिसख्यानिरोव'। शकर कहते है कि 'प्रतिसख्यानिरोव' और 'अप्रतिसख्यानिरोव' का बनना ही असम्भव है। क्यो ? 'अविच्छेदात्'। अर्थात् इस तरह—ये दोनो निरोव या तो क्षणिक चित्त-धारा से सम्बन्धित होने चाहिए या फिर किसी एक भाव से 'एतौ हि प्रतिसख्याऽप्रतिसख्यानिरोवौ सन्तानगोचरौ वा स्याता भावगोचरौ वा।' अब शकर का तर्क यह है कि उपर्युक्त दोनो 'निरोव' 'सन्तानगोचर'[2] नही हो सकते अर्थात् विज्ञान या चित्त की सतत परिवर्तनशील धारा में उनका अधिवास नही हो सकता। विज्ञान-सन्तति मे तो निरन्तर ही हेतु और प्रत्यय के रूप में उस विज्ञान-सन्तति के विभिन्न अग अविच्छिन्न रूप से चला करते है, फिर विज्ञान-सन्तति का एकदम स्थिर होकर ठहर जाना किस प्रकार सम्भव है ? 'सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्'। फिर यदि यह कहा जाय कि प्रतिसख्यानिरोध और अप्रतिसख्यानिरोव दोनो ही विज्ञानसन्तति के अग स्वरूप भावो में रहते है, तो उनका भावगोचर होना भी तो हम सम्भव नही मान सकते। क्यो ? इसलिए कि यह कभी नही

---

(१) यहा शकर के 'अभावस्वरूप' पर आपत्ति की जा सकती है, सर्वास्तिवादी दृष्टि से, किन्तु उसे वे 'वैनाशिक' का बाना पहले ही पहना चुके है, जो उचित नहीं है। फिर 'अभाव स्वरूप' के साथ-ही-साथ 'निरुपाख्य' शब्द भी चिन्त्य है, सर्वास्तिवाद के दृष्टिकोण से। 'रूप' के साथ सम्बन्ध मिलाने के लिए यामाकामी सोजन ने 'नीरुपाख्य' पढने का प्रस्ताव किया है जिसके युक्तियुक्त खण्डन के लिए देखिए वेलवलकर: ब्रह्मसूत्र नोट्स, पृष्ठ ८१

(२) सन्तानो नाम भावाना हेतुफलभावेन प्रवाह:। रत्नप्रभा।

माना जा सकता कि किसी भी अवस्था में 'भाव' रूप पदार्थ विनाश के द्वारा अभिभूत कर दिये जायँ और वे अपना कोई निशान तक भी बाकी न छोड़ें, क्योकि सभी अवस्थाओ में यह देखा गया है कि जो एक 'सत्' वस्तु है, वह अपने अन्वयि-स्वरूप गुणो को बिना किसी रुकावट के रखती ही है, और ऐसा हम प्रत्यभिज्ञान के बल पर कह सकते हैं 'न हि भावाना निरन्वयो निरुपाख्यो विनाश सम्भवति सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेद-दर्शनात्'। फिर यदि कुछ थोडी सी अवस्थाओ में यह प्रत्यभिज्ञान ठीक तरह से स्पष्ट न भी हो तब भी हमें अनुमान के आधार पर यह मानना ही पडेगा कि यहा भी अन्वयि-धर्मों के विच्छेद की अनुपस्थिति ही है 'अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद्दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात्'। अत॰ प्रतिपक्षी बौद्धो के द्वारा परिकल्पित दोनो निरोधो की उपपत्ति नही बनती। 'तस्मात् परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्ति'। निश्चय ही शकर को बौद्धो का क्षणभगवाद एक ऐसा सिद्धान्त मिल गया है जिसके द्वारा वे बौद्धो के अन्य सभी सिद्धान्तो को उखाड फेंकते है। अभी वे क्षणिकवाद के विषय को छोडेंगे नही। अविद्या आदि का निरोध भी क्षणभगवाद को स्वीकार कर सम्भव नही है और यदि स्वीकार करें तो भगवान् शकर कहते है कि दोनो ही प्रकार से दोष आ जायगा 'उभयथा च दोषात्' (ब्रह्मसूत्र० २।२।३)। किस प्रकार? बौद्ध कहते है कि अविद्या आदि का निरोध प्रतिसख्या निरोध में ही सम्मिलित है, किन्तु शकर कहते है कि वह अविद्यादि निरोध दो ही हालतो में प्रवर्तित हो सकता है, या तो वह सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न हो जिसमें यमनियमादि परिकरो की भावना भी सनिहित है अथवा फिर वह स्वत ही उत्पन्न हो जाय। इन दो को छोड और कोई हालत नही है। इनमें से यदि पहली हालत को हम मानें तो शकर कहते है कि 'निर्हेतुक विनाशाभ्युपगम' सिद्धान्त, जो बौद्धो को मान्य है (शकर के अनुसार!), वही असिद्ध होता है 'निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसग'। यहा पर यह 'निर्हेतुकविनाशाभ्युपगम' सर्वास्तिवादियो के किस सिद्धान्त का सूचक है, यह ठीक समझ में नही आता। कदाचित् इससे यह मालूम पडता है कि शकर अपने प्रतिपक्षियो पर इस सिद्धान्त का आक्षेप करना चाहते है कि वस्तुएँ 'निर्हेतुक' अर्थात् बिना किसी कारण के विनाश को प्राप्त होती है। हम जानते है कि सर्वास्तिवादियो का या बौद्ध धर्म के अन्य किसी सम्प्रदाय का ऐसा अभिप्राय कभी नही रहा है। अत यही कहना पडेगा कि शकर ने सर्वास्तिवादियो की

दृष्टि को उसके मूल रूप में नही समझा है। हम पहले कह चुके है कि शकर ने सर्वास्तिवादियो को 'वैनाशिक' कह कर उनको भी शून्यवाद से उपरक्त करना चाहा है और इसी का परिणाम यह हुआ है कि 'निर्हेतुक विनाश' का प्रसग उन्होने सर्वास्तिवादियो के भी मत्थे मढ दिया है। माध्यमिको के 'मायया निर्मित यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम्। आयाति तत् कुत कुत्र याति चेति निरूप्यताम्' तथा 'सतीदस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते' जैसे विचारो मे शकर के 'निर्हेतुक विनाश' को कुछ अवकाश मिल सकता है, किन्तु फिर जब माध्यमिक भी 'न स्वतो नापि परत न द्वाभ्या नाप्यहेतुत'। कहते हुए निर्वचनीयता के ही आकाशकल्प वायुमण्डल में विहार करने लगते है तब तो 'निर्हेतुक विनाश' का आक्षेप उन पर भी करना अन्याय ही होगा, सर्वास्तिवादियो की तो बात ही क्या! सर्वास्तिवादियो ने तो प्रतीत्य समुत्पाद को उसके भावात्मक रूप में ही स्वीकार किया है (अन्यथा वे सर्वास्तित्ववादी ही किस बात के है, कम-से-कम उनके नाम के प्रति तो अन्याय नही होना चाहिए) और हेतु-प्रत्ययो से वे वस्तुओ को उत्पन्न और निरुद्ध मानते है और इसीलिए मानते है उन्हे क्षणिक भी। 'निर्हेतुक विनाश' तो वे कभी मान नही सकते क्योकि क्षणभगवाद का अर्थ यही है कि प्रत्येक पूर्व-पूर्व क्षण एक उत्तरोत्तर क्षण का कारण होता जाता है और उसके उत्पन्न होने पर स्वय निरुद्ध होता जाता है, अत यह हेतु-प्रत्यय पर आश्रित प्रवाह 'निर्हेतुक विनाश' नही कहा जा सकता। अत किसी भी प्रकार देखें (यहा तक कि सर्वास्तिवाद को 'वैनाशिक' मत से उपरक्त करके भी हम देखें, जैसा कि ऐतिहासिक या तात्त्विक किसी रूप से हमे नही करना चाहिए, किन्तु जैसा कि शकर ने किया है) 'निर्हेतुक विनाश' के सिद्धान्त का आक्षेप तो सामान्यता बौद्ध दर्शन पर और विशेषतया 'सर्वास्तिवाद' पर किसी भी प्रकार किया ही नही जा सकता, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। और चाहे जिन बातो में उत्तरकालीन बौद्ध आचार्य अपने शास्ता से दूर चले गये हो (और वे बहुत बातो में दूर गए है) किन्तु एक बात का तो उन सब ने ही ध्यान रक्खा है। 'ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतु तथागतो आह। तेस च यो निरोधो। एवं वादी महासमणो'। बुद्ध-शासन की इस आधारभूत मान्यता का सब ने अनुगमन किया है। इसीलिए तो सबका अपलाप करने वाले भदन्त नागार्जुन को भी 'नाप्यहेतुत' (अ-हेतु से नहीं) कहना पडा। (अन्यथा वे अपनी कारिकाओं में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के शास्ता की वन्दना न कर किसी 'अधिच्च समुप्पाद' के

आचार्य की वन्दना करने वाले होते !)। तो फिर विवश होकर यही कहना पडता है कि आचार्य शकर ने यहा सर्वास्तिवाद के मूल सिद्धान्त को नही समझा है और उसे एक ऐसा गलत रूप प्रदान किया है जो उसका नही है। जापानी बौद्ध विद्वान् यामाकामी सोजन ने यहा शकर को एक गम्भीर गलत प्रस्तुतीकरण का अपराधी बताया है। ये कडे शब्द है[1]। आचार्य श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर ने यह कह कर कि सम्भवत शकर अपने मस्तिष्क में किसी अज्ञात बौद्ध सिद्धान्त को रखकर ऐसा कहने में प्रवृत्त हुए है[2], शकर की स्थिति को सुधारने अथवा बिगाडने का प्रयत्न किया है जो हमारी समझ में उनका श्रद्धामात्र विजृम्भण ही है, जिसके अनुगामी हम नही बन सकते। हमारी दृष्टि तो इसी में अच्छी तरह प्रकटित होती है कि 'सर्व सर्व न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन'। स्वय भगवान् शकर भी इसे अश्रद्धा का प्रकाशन नही समझेंगे, ऐसा हमें विश्वास है। स्वय 'सर्वज्ञ' महामुनि कपिल के विषय मे शकर ने कहा था कि उनकी सिद्धि सापेक्ष थी[3]। शकर का ज्ञान भी सापेक्ष था। उसमें गलती हो जाना सम्भव था और ऐसा ही हुआ भी है। अस्तु, हम आगे बढ़ते है। दूसरा कारण, जिससे अविद्यादि के निरोध की सम्भवता असिद्ध हो जाती है शकर के मतानुसार यह है कि यदि सम्यक् ज्ञान को स्वत उत्पन्न हुआ मानें तो मोक्ष-मार्ग के उपदेश की ही व्यर्थता उपपादित हो जाती है 'उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसग'[4]। इसलिए इन दोनो ही प्रकार

---

(१) 'शकर is here guilty of a grave misrepresentation' सोजन 'सिस्टम्स् आव बुद्धिस्टिक थाट', पृष्ठ १६८

(२) "We rather think that शकराचार्य is thinking of some Buddhistic doctrine whichs holds that निर्वाण or cessation of क्लेश is something which every one is going to achieve one day or the other" ब्रह्मसूत्र, नोट्स, पृष्ठ ८४

(३) देखिए ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१ 'शक्यं कपिलादीनां सिद्धानामप्रतिहत-ज्ञानत्वादिति चेन् ? न। सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्'।

(४) आश्चर्य है कि आत्मसाक्षात्कार-स्वरूप मोक्ष को स्वय 'अनुत्पाद्य', 'अविकार्य', 'अप्राप्य', 'असस्कार्य' मानने वाले (ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४) और निश्चय ही ऐसा होने पर भी साधन-सम्पद् का उसके साथ कोई विरोध

से इस दर्शन की असमञ्जसता सिद्ध होती है 'एवमुभयथापि दोषप्रसंगादसमञ्जसमिद दर्शनम्'। अब सर्वास्तिवादियो के तृतीय असस्कृत धर्म 'आकाश' पर आते है। आकाश है सभी दिशाओ में आवरण का अभाव मात्र 'आवरणाभावमात्रमाकाशिति'[1]। यह स्थापना कि आकाश 'निरुपाख्य' अर्थात् अवस्तु स्वरूप है, ठीक नही 'आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगम'॥ कारण कि जिस प्रकार 'प्रतिसख्यानिरोध' एव 'अप्रतिसख्यानिरोध' में उसी प्रकार आकाश में भी समान रूप से 'वस्तुत्व प्रतीति' होती है 'प्रतिसख्याऽप्रतिसख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात्'। शकर के लिए इतना ही कहना काफी था, किन्तु श्रुति-प्रामाण्य देने के लोभ का वह यहा सवरण नही कर सके है।

न देखने वाले शकर भी किस प्रकार बौद्ध निर्वाण के भी उसी प्रकार के स्वरूप प्राप्त होने पर उसमें 'मार्गोपदेशानर्थक्य' के देखने वाले हुए। ऐसा करके तो वे निश्चय ही राजा मिलिन्द के द्वारा रक्खे हुए उस पूर्वपक्ष को ही अपने पूर्ण रूप में रखने में समर्थ हुए है, जिसकी अभिज्ञता नागसेन जैसे प्राचीन स्थविरवाद-परम्परा के आचार्य तक को थी। अविरुद्ध होने पर भी विरुद्धत्व क्यों कल्पित किया जाता है, हे महावेदान्तिन्! देखिए भदन्त नागसेन आपसे ७०० वर्ष पूर्व आपके ही मन्तव्य को स्पष्ट करते है 'निब्बान महाराज अकम्मजं अहेतुजं अनुतुजं।.....मा भन्ते नागसेन जिनवचन मक्खेहि, मा अजानित्वा पञ्ह व्याकरोहीति।.....। अनेक सतेहि पन भन्ते नागसेन कारणेहि भगवता सावकानं निब्बानस्स सच्छिकिरियाय मग्गो अक्खातो। अय च पन त्वं एव वदेसि अहेतुजं निब्बानं ति।........एवमेव खो महाराज सक्का निब्बानस्स सच्छिकिरियाय मग्गो अक्खातुं न सक्का निब्बानस्स उप्पादाय हेतु दस्सेतु. .. असंखतं निब्बान, न केहिचि कत। निब्बान महाराज न वत्तब्बं उप्पन्न ति वा अनुप्पन ति वा, उप्पादनियं ति वा, अतीत ति वा, अनागतं ति वा, पच्चुप्पनं ति वा, चक्खुविञ्ञेय्यं ति वा, सोतविञ्ञेय्यं ति वा... काय-विञ्ञेय्य ति वा।' मिलिन्द पञ्हो, मेण्डक पञ्हो, पृष्ठ २६४-२६५—(बम्बई विश्वविद्यालय का सस्करण); एक अन्य दृष्टि से बौद्ध परिस्थिति के समर्थन के लिए देखिए सोजन : 'सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट', पृष्ठ १६८

(१) मिलाइये, तत्राकाशमनावृत्ति। अभिधर्म कोश १।५

बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के प्रसग में यह प्रथम ही अवसर है जब कि शकर ने श्रुति को उद्धृत किया है और इसके बाद उन्होने एक बार भी श्रुति का उद्धरण नही किया, जब तक कि बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान समाप्त न कर दिया। यह मौन सुप्रयुक्त ही है। 'आकाश' के विषय में तो वह यह कहना नही भूले है कि 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' (आत्मन आकाश सम्भूत । (तैत्तिरीय २।१) अत आकाश का वस्तुत्व प्रसिद्ध है। किन्तु आत्मा के 'वस्तुत्व' में क्या प्रमाण ? जिस श्रुति का उद्धरण करते हो, उसका क्या प्रमाण ? हे वेदान्तिन् ! यह तो तुम्हारा सब ज्ञान 'श्रद्धावन्तो' में ही शोभा देता है 'श्रद्धानेषु शोभते'। 'वय तु युक्ति प्रार्थयामहे'। हम तो युक्ति की ही आपसे प्रार्थना करते है और उसी की आप से आशा रखते है"। ऐसा यदि कोई बौद्ध तार्किक (जो सम्भवत शकर के लिए 'कुतार्किक' ही होगा) शकर से कह बैठे, तो शकर उसकी सम्भावना भी बडी अच्छी तरह पहले से ही समझ लेते है और प्रतिवादिभयकर निर्मम 'युक्तिशरण' का रूप धारण कर कहते है 'विप्रतिपन्नान् प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्व वक्तव्य, गन्धादीना गुणाना पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात्' अर्थात् श्रुति-प्रामाण्य में जिनकी श्रद्धा नही है, उनको जानना चाहिए कि जिस प्रकार गन्धादि गुणो की स्थिति और आश्रयत्व पृथिवी आदि वस्तुसत् पदार्थों में ही देखा जाता है, उसी प्रकार हम अनुमान कर सकते है कि शब्दगुण का आश्रय रूप आकाश भी वस्तुसत् ही होना चाहिए। फिर आचार्य शकर का तर्क यह है कि सर्वास्तिवादियो के मतानुसार आकाश 'आवरणाभाव मात्र' है, किन्तु यदि एक आवरण हमें कोई उपलब्ध हो जाय जैसा कि घटाकाश आदि में वह उपलब्ध होता है, तो हमें आकाश में विभाग मानने पडते है और विभाग एक वस्तुस्वरूप पदार्थ में ही सम्भव है, अत आकाश वस्तु स्वरूप है। इसको यो समझना चाहिए कि जैसे मान ले किसी कमरे में घडे का अभाव है तो यदि कोई वहा एक घडा ले आए तो उस कमरे में घटाभाव दूर होता है। इस प्रकार जिस किसी वस्तु का अभाव है, उसको यदि कही से ले आया जाय, तो स्वभावत ही उसका अभाव समाप्त होता है। अब आकाश आवरण का अभाव है, यदि आवरण को कोई कही से ले आवे तो निश्चय ही आकाश का भी अभाव होता है। अब मान लें किसी कमरे में अब तक घट नही था, किन्तु अभी कोई वहा घट ले आवे तो घटाभाव उस कमरे से दूर होता है, किन्तु सर्वत्र ही दूर नही होता। ऐसा क्यो ? इसीलिए कि आकाश भागो में विभाज्य है। भागो में विभाजित कोई वस्तुस्वरूप पदार्थ ही हो

सकता है, अभाव स्वरूप नही । शकर ने एक चिडिया का उदाहरण दिया है। एक चिडिया उडती है। वह आकाश में उडती हुई चली जाती है। आकाश में जब वह उडती है तो कुछ तो आवरण वह करती ही है । किन्तु तुम कहते हो कि आकाश आवरण का अभाव है और यह चिडिया करती है आवरण की उपस्थिति । तो यदि एक दूसरी चिडिया आकाश में उडना चाहे तो उसे कहा उडाओगे, जब तक कि यह न मानो कि अभावो में भी उनके अनुयोगो के अनुसार विभेद होता है अर्थात् एक वृहत्तर आकाश में, जो अनावृत है, यदि एक दिशा भी आवृत हो जाती है तो उससे वह सारा आकाश ही आवृत नही हो जाता (जैसा कि उसके 'आवरणाभाव मात्र' होने पर उसे मानना पडेगा) किन्तु उसमें अभावो की भी सीमाओ और विस्तारो (अनुयोगो) के अनुसार विभागीकरण मानने पडते हैं (तभी तो एक दूसरी चिडिया का उडना सम्भव हो सकता है) और जहा अभावो के भी विभेद की बात है, वहा तो वस्तुभूत ही आकाश को मानना पडेगा । नही जानते कि कहा तक शकर के सूक्ष्म तर्क को समझाने में हम समर्थ हुए है । मूल से ही कठिनता का पता लगा सकते है 'अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात् सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनवकाशत्वप्रसग । यत्रावरणाभाव तत्र पतिष्यतीति चेत् । येनावरणाभावो विशेष्यते तर्त्हि वस्तुभूतमेवाकाश स्यात् नावरणाभावमात्रम्' । फिर शकर स्वय बौद्धो के क्षेत्र में ही घुसकर उन्हे स्मरण कराते है कि वे अपनी तर्कपरम्पराओ में अपने ही शास्ता के मार्ग से कितने पथभ्रष्ट होगयेहै । स्वय उनके धार्मिक ग्रन्थ में (द्रष्टव्य अभिधर्म कोश व्याख्या, पृष्ठ १६) वायु को आकाश पर प्रतिष्ठित बताया गया है[१] । यदि आकाश को वहा वस्तुभूत ही नहीं माना गया होता तो ऐसी कोई बात कैसे कही जा सकती थी ? 'तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जस स्यात्' । अत आकाश अवस्तु है, ऐसा कहना ठीक नहीं । 'तस्मादप्युक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्' । पुन यदि सब से अन्त में यह कहा जाय कि उपर्युक्त तीनो 'असंस्कृत धर्म'

---

(१) शंकर का यह कहना न केवल सर्वास्तिवाद-परम्परा के लिए ही किन्तु स्थविरवाद-परम्परा के लिए भी ठीक है, मिलाइए 'भन्ते नागसेन तुम्हे भणथ—अय महापठवी उदके पतिट्ठिता, उदकं वाते पतिट्ठितं, वातो आकासे पतिट्ठितोति ।' मिलिन्द पञ्हो, विमतिच्छेदनपञ्हो, पृष्ठ ७१ (बम्बई यूनीवर्सिटी का संस्करण)

बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के प्रसग में यह प्रथम ही अवसर है जब कि शकर ने श्रुति को उद्धृत किया है और इसके बाद उन्होने एक बार भी श्रुति का उद्धरण नही किया, जब तक कि बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान समाप्त न कर दिया। यह मौन सुप्रयुक्त ही है। 'आकाश' के विषय में तो वह यह कहना नही भूले है कि 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' (आत्मन आकाश सम्भूत । (तैत्तिरीय २।१) अत आकाश का वस्तुत्व प्रसिद्ध है। किन्तु आत्मा के 'वस्तुत्व' में क्या प्रमाण ? जिस श्रुति का उद्धरण करते हो, उसका क्या प्रमाण ? हे वेदान्तिन् ! यह तो तुम्हारा सब ज्ञान 'श्रद्धावन्तो' में ही शोभा देता है 'श्रद्दधानेषु शोभते'। 'वय तु युक्ति प्रार्थयामहे'। हम तो युक्ति की ही आपसे प्रार्थना करते हैं और उसी की आप से आशा रखते हैं"। ऐसा यदि कोई बौद्ध तार्किक (जो सम्भवत शकर के लिए 'कुतार्किक' ही होगा) शकर से कह बैठे, तो शकर उसकी सम्भावना भी बडी अच्छी तरह पहले से ही समझ लेते है और प्रतिवादिभयकर निर्मम 'युक्तिशरण' का रूप धारण कर कहते है 'विप्रतिपन्नान् प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्व वक्तव्य, गन्धादीना गुणाना पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात्' अर्थात् श्रुति-प्रामाण्य में जिनकी श्रद्धा नही है, उनको जानना चाहिए कि जिस प्रकार गन्धादि गुणो की स्थिति और आश्रयत्व पृथिवी आदि वस्तुसत् पदार्थों में ही देखा जाता है, उसी प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि शब्दगुण का आश्रय रूप आकाश भी वस्तुसत् ही होना चाहिए। फिर आचार्य शकर का तर्क यह है कि सर्वास्तिवादियो के मतानुसार आकाश 'आवरणाभाव मात्र' है, किन्तु यदि एक आवरण हमें कोई उपलब्ध हो जाय जैसा कि घटाकाश आदि में वह उपलब्ध होता है, तो हमें आकाश में विभाग मानने पडते है और विभाग एक वस्तुस्वरूप पदार्थ में ही सम्भव है, अत आकाश वस्तु स्वरूप है। इसको यो समझना चाहिए कि जैसे मान ले किसी कमरे में घडे का अभाव है तो यदि कोई वहा एक घडा ले आए तो उस कमरे में घटाभाव दूर होता है। इस प्रकार जिस किसी वस्तु का अभाव है, उसको यदि कही से ले आया जाय, तो स्वभावत ही उसका अभाव समाप्त होता है। अब आकाश आवरण का अभाव है, यदि आवरण को कोई कही से ले आवे तो निश्चय ही आकाश का भी अभाव होता है। अब मान लें किसी कमरे में अब तक घट नही था, किन्तु अभी कोई वहा घट ले आवे तो घटाभाव उस कमरे से दूर होता है, किन्तु सर्वत्र ही दूर नही होता। ऐसा क्यो ? इसीलिए कि आकाश भागो में विभाज्य है। भागो में विभाजित कोई वस्तुस्वरूप पदार्थ ही हो

सकता है, अभाव स्वरूप नही। शकर ने एक चिडिया का उदाहरण दिया है। एक चिडिया उडती है। वह आकाश में उडती हुई चली जाती है। आकाश में जब वह उडती है तो कुछ तो आवरण वह करती ही है। किन्तु तुम कहते हो कि आकाश आवरण का अभाव है और यह चिटिया करती है आवरण की उपस्थिति। तो यदि एक दूसरी चिडिया आकाश में उडना चाहे तो उसे कहा उडाओगे, जब तक कि यह न मानो कि अभावो में भी उनके अनुयोगो के अनुसार विभेद होता है अर्थात् एक बृहत्तर आकाश में, जो अनावृत है, यदि एक दिशा भी आवृत हो जाती है तो उससे वह सारा आकाश ही आवृत नही हो जाता (जैसा कि उसके 'आवरणाभाव मात्र' होने पर उसे मानना पडेगा) किन्तु उसमे अभावो की भी सीमाओ और विस्तारो (अनुयोगो) के अनुसार विभागीकरण मानने पडते है (तभी तो एक दूसरी चिडिया का उडना सम्भव हो सकता है) और जहा अभावो के भी विभेद की बात है, वहा तो वस्तुभूत ही आकाश को मानना पडेगा। नही जानते कि कहा तक शकर के सूक्ष्म तर्क को समझाने में हम समर्थ हुए है। मूल से ही कठिनता का पता लगा सकते है 'अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन्सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात् सुपर्णान्तरस्योत्पित्सतोऽनकाशत्वप्रसग। यत्रावरणाभाव तत्र पतिष्यतीति चेत्। येनावरणाभावो विशेष्यते तर्हि वस्तुभूतमेवाकाश स्यात् नावरणाभावमात्रम्'। फिर शकर स्वय बौद्धो के क्षेत्र मे ही घुसकर उन्हे स्मरण कराते है कि वे अपनी तर्कपरम्पराओ मे अपने ही शास्ता के मार्ग से कितने पथभ्रष्ट होगयेहै। स्वय उनके धार्मिक ग्रन्थ में (द्रष्टव्य अभिधर्म कोश व्याख्या, पृष्ठ १६) वायु को आकाश पर प्रतिष्ठित बताया गया है[१]। यदि आकाश को वहा वस्तुभूत ही नही माना गया होता तो ऐसी कोई बात कैसे कही जा सकती थी ? 'तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जस स्यात्'। अत आकाश अवस्तु है, ऐसा कहना ठीक नही। 'तस्मादप्युक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्'। पुन यदि सब से अन्त में यह कहा जाय कि उपर्युक्त तीनो 'असस्कृत धर्म'

---

(१) शकर का यह कहना न केवल सर्वास्तिवाद-परम्परा के लिए ही किन्तु स्थविरवाद-परम्परा के लिए भी ठीक है, मिलाइए 'भन्ते नागसेन तुम्हे भणथ--अयं महापठवी उदके पतिट्ठिता, उदक वाते पतिट्ठित, वातो आकासे पतिट्ठितोति।' मिलिन्द पञ्हो, विमतिच्छेदनपञ्हो, पृष्ठ ७१ (बम्बई यूनीवर्सिटी का संस्करण)

को ही वे क्षणिक बताने के पक्षपाती हैं। इस विषय में उनके विभिन्न आचार्यों के मत हमने 'अभिधर्म कोश' के अनुसार वहा उद्धृत किए है। निश्चय ही सर्वास्तिवादियो ने तो भगवान् बुद्ध के वचनो के उदाहरण देकर इस बात की स्थापना की है कि वस्तुओ के तीन मार्ग (अध्वान) होने ही चाहिए, अर्थात्, अतीत, वर्तमान और अनागत[1]। इसमें सन्देह नहीं कि वे भी अन्य बौद्ध दार्शनिको की तरह क्षणिकवादी है, किन्तु उनके क्षणिकवाद का केवल तात्पर्य यही है कि कारण कभी विनष्ट नही होता किन्तु केवल अपना नाम परिवर्तित करदेता है जब वह कार्य रूप मे परिणत होता है और अवस्थान्तर होने से एक परिवर्तित स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। मिट्टी अपनी अवस्था को छोडकर घडा बन जाती है और इस अवस्था में केवल 'नाम' मिट्टी 'नाम' घडा हो जाता है, मिट्टी का तो क्षणिकत्व उपपन्न नही होता[2]। जापानी पडित यामाकामी सोजन का कथन है कि शकर ने जिस सिद्धान्त को उन पर आरोपित किया है वह उन्हे (सर्वास्तिवादियो को) मालूम था और उस से उन्होने पहले ही अपने दर्शन की रक्षा कर ली थी। यह सम्भव हो सकता हैकि शकर की सूचना का स्रोत एक ऐसा सर्वास्तिवादियो का सम्प्रदाय रहा हो (जिसको सर्वास्तिवादियो ने अपना कभी स्वीकार नही किया) जिसके आधार पर वस्तुओ की क्षणिकता के सिद्धान्त का आरोप वे सर्वास्तिवादियों पर कर सके। यह शकर की स्थिति का एक स्पष्टीकरण हो सकता है। फिर क्षणिकवाद तो बौद्धों के सभी सम्प्रदायो का एक सामान्य सिद्धान्त है, अत उसके प्रत्याख्यान में जब कोई (ब्रह्मसूत्रकार या शकर) प्रवृत्त होता है, तो वह अपने को निश्चय ही सर्वास्तिवादियो तक ही सीमित नही रख सकता। यही सम्भवत शकर के 'वैनाशिक' शब्द के इस प्रसग में प्रयोग का रहस्य है और इसी से उनके 'क्षणिकवाद' के व्याख्यान और प्रत्याख्यान की सगति भी लग जाती है। डा० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर ने कहा है कि शकर तो सर्वप्रथम ब्रह्मसूत्रो का भाष्य ही कर रहे है और ब्रह्मसूत्रो की रचना के समय उपर्युक्त सर्वास्तिवादियो के

---

(१) सर्वास्तिवादियों के द्वारा एतद्विषयक बुद्ध-वचनो के उदाहरणों के लिए देखिए चौथे प्रकरण का उत्तरार्द्ध।

(२) निरुद्धे चेत् फलं हेतौ हेतो. संक्रमणं भवेत्। पूर्वजातस्य हेतोश्च पुनर्जन्म प्रसज्यते। सोजन: सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १४०, पद सकेत १ में उद्धृत।

सिद्धान्त (कि एक व्यक्ति या वस्तु की अवस्थाएँ ही परिवर्तित होती हैं जब कि उनका प्रतिष्ठान शाश्वत रहता है) का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था, अत शकर, जिनको ब्रह्मसूत्रकार के मन्तव्य का ही सर्वप्रथम अनुवर्तन करना था, उस मार्ग से विभिन्न नही जा सकते थे[१]। यदि ऐसी बात है तो ठीक हैं। परन्तु निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव मे ऐसा कहना साहसिक ही हैं। किन्तु यदि इसी स्थिति को हम स्वीकार कर लें तो फिर ब्रह्मसूत्रो में निर्दिष्ट और शकराचार्य के द्वारा व्याख्यात सर्वास्तिवादी प्रत्याख्यानो का हमें ऐतिहासिक रूप से बौद्ध सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय पर ही आरोप करने का क्या अधिकार हैं ? ऐसा करके क्या हम उसके वास्तविक स्वरूप के विषय मे भ्रान्ति ही नही फैलाते ? या तो ब्रह्मसूत्र वास्तविक ऐतिहासिक बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो के सिद्धान्तो को ठीक प्रस्तुत नही करते या फिर शकर को बौद्ध दर्शन के मौलिक विचारो से अनभिज्ञ होना ही चाहिए। हम दोनो ही ओर तर्क को अपने पक्ष मे नही ले जा सकते। ये सब प्रश्न विचारणीय हैं। अब हम शकर के द्वारा बौद्धो के इस सिद्धान्त पर किए हुए प्रत्याख्यान पर आते हैं कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। शकर का कथन है कि जगत् का कोई स्थिर कारण न मानने के कारण वैनाशिक लोग 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति दिखाते हैं। वैनाशिक कहते हैं कि जो बीज विनष्ट हो गया उसी से अकुर की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार विनष्ट दूध से दधि की तथा विनष्ट मिट्टी से घडे की उत्पत्ति वे कहते हैं। शकर कहते हैं कि यदि 'कूटस्थ' कारण से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है तब तो फिर कोई विशेष ही नही रहता और

---

(१) सोजन के मत की अनुपयुक्तता और अपूर्णता दिखाते हुए वे लिखते हैं "He (सोजन) conveniently ignores that Shankar is merely expounding the ब्रह्मसूत्रs ......It must, therefore, be assumed that the doctrine that 'the place of a thing or person changes every moment while its substratum is eternal and permanent' is a later development within the school and not the original doctrine as known to the author of the ब्रह्मसूत्रs" ब्रह्मसूत्र भाष्य—नोट्स, पृष्ठ ८७; सोजन का मत अधिक दृढ बुनियादों पर स्थित हैं।

प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न हो जानी चाहिए। 'कूटस्थाच्चेत् कारणात् कार्य-मुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत'। किन्तु यह होता नही। लोक मे ऐसा कही देखा जाता नही, अत अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि अभाव से भाव उत्पन्न होता तब तो फि र शशविषाण आदि से भी अकुर उत्पन्न होने लगते। किस प्रकार ? हम मानते है कि विशेप कारणो से ही विशेष कार्यों की उत्पत्ति होती है। अब जब बीज दग्ध होता है तो उसका अभाव होता है और इस अभाव तथा शश-विषाण के अभाव में कोई विशेषता नही है, अत जब कोई विशेषता ही नही है और असत् से सत् की उत्पत्ति मानने के कारण तुम विशेष कारणो से विशेष कार्यों की उत्पत्ति भी नही मानने को मजवूर हो, तव तो फिर 'असत्' बीज को कोई भी वस्तु उत्पन्न कर देनी चाहिए। बीज अकुर ही उत्पन्न क्यो करे ? दूध दही ही उत्पन्न क्यो करे ? मिट्टी घडा ही उत्पन्न क्यो करे ? जब मिट्टी नष्ट होकर घडा बन रही है तो वहा घडे का भी पहले तो अभाव ही है और ऐसे ही अभाव है शश-विषाण का भी। अत दोनो अभाव समान हैं, तो फिर शश-विषाण उत्पन्न न होकर घडे की ही उत्पत्ति क्यो होती है ? फिर यदि तुम यह मानने लगो कि अभाव का भी कोई विशेष होता है, जिस प्रकार कि नीलापन कमल में, तब तो फिर यह अभाव को ही भाव देना हो गया, कमल आदि के समान 'विशेपत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत'। प्रत्येक वस्तु 'सत्' रूप में ही अवस्थित है और उसी रूप में दिखाई भी देती है, किन्तु यदि असत् से वह उत्पन्न हुई होती तव तो उसकी प्रतीति 'असत्' के रूप में ही होनी चाहिए थी, किन्तु ऐसी नही होती, अत अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नही। अपने-अपने रूप में प्रत्येक वस्तु यहा भावमय ही तो दिखाई देती है, किन्तु यदि अभाव से वह उत्पन्न हुई होती तो उसे अभावान्वित रूप में ही दिखाई देना चाहिए था, किन्तु ऐसा दिखाई कब देता है ? अत अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त नही है। 'असत्' शशविषाणादि से सत् की उत्पत्ति कही नही देखी गई, सुवर्णादि सत् पदार्थों से ही सत् की उत्पत्ति देखी जाती है, अत अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना ठीक सिद्धान्त नही है। 'असद्भ्य शशविपाणादिभ्य सदुत्पत्यदर्शना-त्सद्भ्यश्च सुवर्णादिभ्य सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्यभ्युप-गम'। फिर शकर सर्वास्तित्ववादियो की परस्परविरुद्धता पर भी आक्षेप करते हुए कहते है कि ये वौद्ध एक तरफ तो परमाणुवादी है अर्थात् यह मानते हैं कि चतुर्विध कारणवाद से चित्त और चैत्त उत्पन्न होते है और परमाणुओ

से समुदाय उत्पन्न होता है तो फिर उसी के साथ ये इस प्रकार कैसे मान सकते है कि अभाव से भाव उत्पन्न होता है । इन वैनाशिको ने तो लोक को ही व्याकुल कर रक्खा है । 'वैनाशिकै सर्वो लोक आकुलीक्रियते'[१] । विनोद-मिश्रित व्यग के रूप में हमे शकर के इस कथन को लेना चाहिए । इससे यह भी प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म उस समय जीवित रूप में विद्यमान था। अभाव से भाव की उत्पत्ति होने के विरुद्ध एक और कारण दे कर भगवान् शकर सर्वास्तिवादियो के प्रकरण को समाप्त करते है । यह कारण इस प्रकार है— यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो जाती तो उदासीन रूप से अकर्मण्य होकर बैठने वाले आदमियो को भी इष्टसिद्धि होनी चाहिए थी क्योकि अभाव तो सर्वत्र ही सुलभ है । चुपचाप बिना काम किए बैठे रहना किसे अच्छा नही लगता । कुम्हार को क्या जरूरत है कि चाक चलाए, बर्तन (भाव) तो वैसे ही अभाव से बन जायेंगे, बौद्धो ने जो सिखाया है ! इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती । यही पर सर्वास्तिवादियो का खण्डन समाप्त होता है। हमने विस्तार से सर्वास्तिवाद के विरुद्ध शकर ने जितने तर्क दिए है उनका निरूपण कर दिया है। सक्षेप मे फिर से उन्हे यहा रख देना अनावश्यक न होगा ।

शंकर के द्वारा सर्वास्तित्ववाद का खण्डन

(१) अणुहेतुक भूत-भौतिक सघात तथा स्कन्धहेतुक पञ्चस्कन्धी सघात, यह दोनो प्रकार का समुदाय असम्भव है, क्योकि कोई स्थिर, चेतन भोक्ता या शासन-कर्ता नही है ।

(२) 'प्रतीत्यसमुत्पाद' उत्पत्ति मात्र की व्याख्या कर सकता है, सघात की सगति नही लगा सकता, भोक्ता के अभाव होने के कारण ।

(३) क्षणिकवाद के मानने पर प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पत्ति की भी सगति नही लगा सकता । क्षणिकवाद अनेक प्रकार से असिद्ध सिद्धान्त है ।

(४) प्रतिसख्या निरोध और अप्रतिसख्या निरोध असम्भव है, क्योकि वे न 'सन्तान गोचर' है, न 'भावगोचर' ।

---

(१) शकर की खोज स्वाभाविक है । हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि शास्त्र' (अब संस्कृत में अप्राप्त) सर्वधर्मशून्यता का निरूपण करता है, और अन्य सर्वास्तिवादी परमाणुवादी हैं । आज भी यह सवाल है कि हरिवर्मा को सर्वास्तिवादियों में रखा जाय या शून्यवादियों में । वे एक भी नहीं हैं और उभय हैं । ऐसी विचित्रता है ।

(५) अविद्यादि का निरोध भी असम्भव है। क्योकि सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न होने पर 'निर्हेतुक विनाश' तथा स्वयमेव उत्पन्न होने पर मार्गोपदेश की अनर्थकता निष्पन्न होती है।

(६) आकाश का निरूपाख्यत्व सम्भव नही है, क्योकि आकाश वस्तुभूत है। एक ही साथ आकाश निरूपाख्य, अवस्तु और नित्य नही हो सकता, क्योकि अवस्तु का नित्यत्व या अनित्यत्व नही हुआ करता।

(७) मानसिक अनुभव (अनुस्मृति) के तथ्य के विरुद्ध जाने के कारण क्षणिकवाद अत्यन्त गलत सिद्धान्त है। क्षणिकवाद में कोई उपपत्ति नहीहै।

(८) असत् से सत् की सत्पत्ति सम्भव नही है, क्योकि (१) स्थिर-स्वभाव पदार्थों में ही परिवर्तन सम्भव है (२) भाव से ही सब कुछ सुलभ है, अभाव से नही।

शंकर और बौद्ध विज्ञानवाद

अब हम शकर के विज्ञानवाद सम्बन्धी प्रत्याख्यानो पर आते है, जो ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२८-३२ में मिलते है। उपर्युक्त सूत्रो पर भाष्य करते हुए आचार्य शकर ने छह पूर्वपक्ष उठाए है जिनका उत्तर उन्होने दिया है तथा चार स्वतन्त्र तर्क दिए है। इस प्रकार कुल दस तर्क भगवान् शकर ने बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध उपर्युक्त सूत्रो के भाष्य में दिए है, जिनका अब हमें क्रमश विश्लेषण करना है।

(१) विज्ञानवादी बौद्ध कहता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य अर्थ नही है। 'न विज्ञानव्यतिरिक्तो वाह्योऽर्थोऽस्तीति'। शकर इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते है कि वाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि इसकी उपलब्धि हमें होती है 'उपलब्धे'। वाह्य पदार्थ हमें अपने भीतर स्थित विचारो के अनुरूप ही दिखाई पडते है और हम यह अनुभव करते है कि यह घडा है, यह स्तम्भ है, आदि। जो वस्तु उपलभ्यमान है उसका अभाव नही हो सकता। खाना खाते हुए भी कोई कहे कि मैं खाना नही खा रहा हूँ, इसी प्रकार यदि इन्द्रिय-सनिकर्ष से वाह्य पदार्थों को देखता हुआ भी कोई कहे कि 'मै नही देखता हूँ' तो क्या उसका मुह पकडा जाता है ? वास्तव में वात तो यही रहेगी कि जिसकी उपलब्धि होती है, वह अभाव नही हो सकता। 'नाभाव उपलब्धे'। किन्तु विज्ञानवादी आकर कह सकता है 'मैं कव यह कहता हूँ कि मै वस्तु को नही देखता। मै तो केवल यही कहता हूँ कि उपलब्धि से व्यतिरिक्त 'मै कुछ उपलब्ध नही करता'। वच्चे को जैसे फटकारते हुए आचार्य

शकर विज्ञानवादी के कान पकडते हुए, कुछ उसके प्रति मुसकराते हुए (मेरे जैसे ही तो बोल रहा है !) कहते हैं 'अच्छा बच्चे ! कहे जाओ, तुम्हारे मुह पर लगाम तो है ही नही' 'वादमेव ब्रवीपि निरकुशत्वात्त तुण्डस्य'। उसके तर्क को लेते हुए उत्तर देते है कि सभी मनुष्य इसी प्रकार की उपलब्धि करते है कि स्तम्भ आदि वाह्य पदार्थ विपय रूप से स्थित है। कोई इस प्रकार अनुभव नही करता कि वाह्य पदार्थ ही स्वय उपलब्धि है। सभी मनुष्य वाह्य पदार्थों को उपलब्धि के विपय रूप मे देखते है, इसमे प्रमाण यह है कि जो वाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नही करते वे भी उसकी सत्ता को स्वीकार करने वाले ही ठहरते है। किस प्रकार ? तुम कहते हो कि भीतर अवस्थित ज्ञेय ही वाहर स्थित जैसा भासता है। 'अन्तर्ज्ञेय रूप तद्वहिर्वत् अवभासत इति'। किन्तु इस कथन मे ही तो तुम वाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हो। 'वाहर जैसा' ('वहिर्वद्') तुम क्यो कहते हो ? जव वाहर किसी चीज़ को मानते हो तभी तो ऐसा कहते हो कि ,,मेरा भीतर स्थित विचार वाहर पदार्थ के जैसे भासता है। विष्णुमित्र वन्ध्या पुत्र की तरह भासता है ऐसा तो कोई नही कहता। वन्ध्यापुत्र कही हो तब तो कोई कहे ? अत जब तुम 'वाहर जैसा' कहते हो तो निश्चय ही इसका यही अर्थ होता है कि लोक की अनुभूति के सदृश ही तुम भी वाह्य पदार्थों की उपलब्धि करते हो। इसलिए उपलब्धि होने के कारण वाह्य पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'न खल्वभावो वाह्यस्यार्थस्याध्यवसितु शक्यते'।

(२) विज्ञानवादी तर्क-सूत्र को पकडता हुआ फिर कहता है कि अच्छा यदि तुम यह कहते हो कि वाह्य पदार्थ है तो फिर यह तो सोचो कि या तो ये परमाणु होने चाहिए या उनके समूह। किन्तु वाह्य पदार्थो यथा स्तम्भादि को घोपित करने वाले विचार तो परमाणुओ का द्योतन नही करा सकते, क्योकि जव हमें स्तम्भादि वाह्य वस्तुओ की उपलब्धि होती है तो इस उपलब्धि को हम परमाणुओ की उपलब्धि पर तो आलिप्त नही कर सकते और न स्तम्भादि परमाणुओ के समूह ही समझे जा सकते है, क्योकि परमाणुओ से उनका अन्यत्व अथवा अनन्यत्व ही निश्चित रूप मे निर्णीत नही किया जा सकता। भगवान् शकर इसका उत्तर देते हुए कहते है कि सम्भव और असम्भव को प्रमाण-प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक मानना, न कि प्रमाण-प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को सम्भवासम्भवपूर्वक मानना, ठीक अध्यवसाय नही है। जो कुछ प्रत्य-क्षादि प्रमाणो में से किसी के द्वारा भी उपलब्ध नही होता उसी के बारे में

कह सकते हैं कि वह नही है, किन्तु यहा तो सभी प्रमाणो से वाह्य पदार्थ उपलब्ध होते है, अत वे हैं ही ।

(३) यहा पहले विज्ञानवादियो के दो तर्क है, वाह्यार्थ-निषेध के लिए (१) 'एव जात्यादीन् अपि प्रत्याचक्षीत' अर्थात् पहले तर्क अर्थात् अपने द्वारा परमाणुवाद सम्वन्धी प्रत्याख्यान करने के वाद ही विज्ञानवादी कहते हैं—इसी प्रकार 'जाति' भी नही माननी चाहिए । (२) जव हम वस्तुओ को देखते हैं तो हमें 'घट-ज्ञान', 'पट-ज्ञान' ऐसा ज्ञान होता है । चूकि हर एक विषय के प्रति ऐसा ज्ञान होता है, अत हमें ज्ञान में ही कुछ विशेष मानना पडता है, इसलिए अवश्यम्भावी रूप से यह मानना पडता है कि हमारे विज्ञान वस्तुओ के स्वरूप को धारण कर लेते हैं और जब एक वार यह स्वीकार कर लिया कि ज्ञान की विषय से सरूपता है (विषयसारूप्य ज्ञानस्य) तो बाह्य पदार्थों को मानने की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है । भगवान् शकर इन तर्कों का इस प्रकार उत्तर देते है (१) ज्ञान के विषय-सारूप्य होने से विषय का नाश नही माना जा सकता और इसका कारण यह है कि यदि विषय न हो तो विषय-सारूप्य भी नही होता, और विषय उपलब्धि का विषय है। (२) घटज्ञान और पटज्ञान में यह घट और पट रूप विशेषणो में ही भेद है, विशेष्य रूप ज्ञान में नही । इस-लिए पदार्थ और ज्ञान में भेद है ।

(४) विज्ञानवादी कहता है कि सहोपलम्भ नियम से[1] विषय और विज्ञान में अभेद है । इसलिए पदार्थ का अभाव है । शकर का उत्तर है कि जिस प्रकार पूर्वोक्त घट-ज्ञान और पट-ज्ञान में घट-पट रूप विशेषणो में ही भेद है (देखिए ऊपर तीसरा तर्क) उसी प्रकार यहा भी सहोपलम्भ-नियम विज्ञान और विषय में केवल उपाय और उपेय भाव ही दिखाता है, उन दोनो के अभेद को दिखाने वाला तो वह कभी नही है ।

(५) विज्ञानवादी वडा महत्त्वपूर्ण तर्क रखते हैं 'स्वप्नादिवच्चेद द्रष्टव्यम्' । अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न-माया-मरीचि-उदक—गन्धर्वनगरो के प्रत्यय या विचार है जो विना ही वाह्य अर्थ के रूप में उपस्थित हुए ग्राह्य और ग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित अवस्था में भी गोचर होने वाले स्तम्भादि प्रत्ययो वाले होने चाहिए क्योकि प्रत्ययत्व से तो दोनो ही व्यभिचरित

(१) द्रष्टव्य चतुर्थ प्रकरण में विज्ञानवाद का विवेचन । 'सहोपलम्भनिय-मादभेदो नीलतद्धियो.' ।

नही होते 'प्रत्ययत्वाविशेपात्' । 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' २।२।२९ इस समग्र सूत्र के भाष्य में भगवान् शकर ने विज्ञानवादियो की उपर्युक्त मान्यता का खण्डन किया है । भगवान् शकर कहते हैं कि स्वप्नादि प्रत्ययो के समान जागरित अवस्था के प्रत्यय नही हो सकते । इसका कारण यह है कि दोनो में वैधर्म्य है, अर्थात् दोनो के धर्म भिन्न-भिन्न है । किस प्रकार ? दो प्रकारो से । (१) स्वप्न मे उपलब्ध वस्तु वाधित हो जाती है जव मनुष्य जगता है । वह देखता है कि स्वप्न में जो चीजो देखी थी, वे अव नही रही, किन्तु जागरित अवस्था मे उपलब्ध वस्तुएँ यथा स्तम्भादि कभी वाधित नही होते किसी भी अवस्था में 'कस्याचिदप्यवस्थाया' । अत प्रथम तो कारण यह है जिससे स्वप्न के पदार्थ जागरित अवस्था के पदार्थो से वैधर्म्य रखते हैं (२) दूसरी वात यह है कि स्वप्न-दर्शन स्मृति का विपय है और जागरित दर्शन में उपलब्धि होती है । स्मृति और उपलब्धि मे क्या अन्तर है, इसे हम अपने अनुभव से ही जानते है । इसलिए अनुभव का खण्डन कर कुतर्क नही करना चाहिए । 'न स्वानुभवापलाप प्रज्ञामानिभिर्युक्त कर्तुम्' । इन दो कारणो को देते हुए भगवान् शकर यह भी कहते है कि जव अनुभव के आधार पर विज्ञानवादी जागरित प्रत्ययो की निरालम्बता नही दिखा पाते तो वे स्वप्न-प्रत्ययो के साथ उनके साधर्म्य को दिखाकर ऐसा करने का प्रयत्न करते है जो इसी वात से पहले ही असिद्ध हो जाता है कि उपर्युक्त दो कारणो से स्वप्न और जागरित प्रत्ययो में वैधर्म्य है । जो जिसका स्वय का धर्म नही है वह दूसरे के साधर्म्य से उसमें कैसे हो सकता है ? 'न च यो यस्य स्वतो धर्मो न सम्भवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात् तस्य सम्भविष्यति' । इसलिए स्वप्न और जागरित का वैधर्म्य ही है ।

(६) विज्ञानवादी कहते है कि 'वासना-वैचित्र्य' के कारण ही प्रत्ययो की विचित्रता होती है और इसके लिए वाह्य पदार्थो की स्थिति आवश्यक नही । शकर कहते है कि पदार्थों की उपलब्धि स्वरूप ही नाना प्रकार की वासनाएँ हुआ करती है । यदि पदार्थ ही उपलब्ध न हो तो विचित्र प्रकार की वासनाएँ कहा से आ जाएँगी ? वासना का अर्थ है सस्कार-विशेप 'वासना नाम सस्कारविशेपा.' । सस्कार विना आश्रयो के नही हो सकते 'सस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते' । तुम्हारी वासना का कोई आश्रय ही नही है । 'न च तव वासनाश्रय. कश्चिदस्ति' । अत विना पदार्थो के वासना भी सम्भव नही है ।

यहा तक विज्ञानवादियो की तरफ से पूर्वपक्ष उठाकर उनके मतो का

भगवान् शकर ने प्रत्याख्यान किया है। अब स्वतन्त्र रूप से चार तर्क उन्होंने और विज्ञानवाद के विरुद्ध दिए हैं, जिनको भी हम सक्षेप में देख लें।

(७) दो विज्ञान, जो पूर्व और उत्तर काल में उत्पन्न होते हैं और अपना ही अनुभव कर उपक्षीण हो जाते है, तो उनमें एक दूसरे के प्रति ग्राह्य-ग्राहक भाव नही बन सकता।

(८) यदि यह मान लिया जाय कि विज्ञान ही उपलब्धि का विषय है, विज्ञान के स्वरूप से व्यतिरिक्त किसी ग्राहक के द्वारा, तब तो फिर उस ग्राहक (द्रष्टा) को भी किसी तीसरे का ग्राह्य बनना चाहिए और यह अनवस्था बढती ही जायगी। किन्तु यह साक्षी (अर्थात् ग्राहक या द्रष्टा) तो अपने में ही प्रतिष्ठित होता है और इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान नही किया जा सकता 'स्वयसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्'।

(९) शकर ने विज्ञानवादियो के इस सिद्धान्त का यहा खण्डन किया है कि विज्ञान दीपक की ज्योति के समान अपने-ही-आप चमकता है और किसी दूसरी वस्तु को उसे जलाने या प्रकाश देने की जरूरत नही है। शकर अपने तर्क देते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विज्ञान भी दीपक की तरह ही किसी अन्य की उपलब्धि का विषय होना चाहिए। 'प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्याभि प्रसाधितम्'।

(१०) विज्ञान मे क्षणिकत्व का दोष दिखाकर यहा (क्षणिकत्वाच्च २।२।३१) भगवान् शकर ने कहा है कि वह वासनाओ का अधिकरण नहीं हो सकता और स्थिर रूप 'आलय-विज्ञान' का मान नही सकते। इसलिए क्षण-भगवाद के कारण विज्ञानवाद भी गिर जाता है।

इस प्रकार हमने बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रयुक्त शकर के तर्कों की एक सक्षिप्त विवृति दी। 'सर्वास्तिवाद' और 'विज्ञानवाद' का शकर खण्डन कर चुके। अब उन्हे शून्यवाद पर आना चाहिए, किन्तु उसके खण्डन में आचार्य ने आदर नही दिखाया। जब उन्होंने सर्वास्तिवादी और विज्ञानवादी दोनो ही 'वैनाशिक पक्ष' कर दिए, तो फिर अलग से उन्हें शून्यवाद का प्रत्याख्यान करने की क्या जरूरत रही, और फिर कदाचित ब्रह्मसूत्र भी इसके लिए अधिक अवकाश नही देते क्योकि जो कुछ उन्हे कहना है उसकी पूर्णाहुति वे कर देते है केवल इसी एक सूत्र में 'सर्वथानुपपत्तेश्च' (२।२।३२)। शकर कहते है कि यह वैनाशिको का सिद्धान्त जैसे-जैसे परीक्षा का विषय बनाया जाता है, वैसे ही वैसे वह बालू के कुए की तरह विदीर्ण होता चला जाता

है। शकर ने उसमें कोई उपपत्ति नहीं देखी। यह तो सब आचार्य ने ठीक कहा है। किन्तु अन्त में जाकर वे एक ऐसी बात कह जाते हैं जिसे उनके प्रबल समर्थक भी ठीक गले नही उतार पाते[1] और जो एक निष्पक्ष समीक्षक को भी जापानी विद्वान् यामाकामी सोजन के उस मत से सहमत होने को विवश करती है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि शकर को मौलिक स्रोतो के आधार पर बौद्ध दर्शन के अध्ययन का अवसर कदाचित् नही मिला था[2]। बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान को समाप्त करते हुए शकर कहते हैं 'अपि च बाह्यार्थ-विज्ञान-शून्यवाद-त्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्व, प्रद्वेषो वा प्रजानु, विरुद्धार्थ-प्रतिपत्त्या विमुह्येयुरिमा प्रजा इति। सर्वथाऽप्यनादरीणोऽय सुगतसमय श्रेयस्कामैरित्यभिप्राय'। इसमें प्रधानत चार बाते भगवान् शकर ने उपस्थित की है (१) बुद्ध ने असम्बद्ध प्रलाप किया है, क्योंकि उनके द्वारा उपदिष्ट बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धान्तो में परस्पर विरोध है (२) प्रजाओ के प्रति बुद्धने विद्वेष दिखाया है (३) प्रजाओ का उन्होंने विमोहन किया है तथा (४) बौद्ध धर्म कल्याण का मार्ग नही है। हम बद्ध और शकर दोनो की ही प्रतिष्ठा की रक्षा के पक्षपाती हैं। बुद्ध तो 'सम्यक् सम्बुद्ध' हैं ही, शकर में भी 'बुद्धत्व' है, किन्तु यहा 'आचार्यत्व' के आवेश में यह सब लिखे गए हैं जो बुद्ध के जीवन और उपदेशो के प्रकाश में नही किन्तु आठवी शताब्दी में 'सुगतसमय' के नाम से प्रसिद्ध हीन तान्त्रिको की प्रवृत्तियो के प्रकाश में हमारे द्वारा व्याख्यात होना चाहिए। फिर भी आचार्य शकर को मूल बुद्ध-धर्म विषयक अभिज्ञा के अभाव को छोडकर और कोई हेतु उनके इस प्रकार लिखने का नही मिलता। उनकी अवज्ञा में उनका स्वय का अज्ञान या अल्प ज्ञान ही कारण है और उनकी चार बातो में एक भी बात युक्तिसगत मालूम नही पडती। शकर को यह मालूम न था कि भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश क्या थे और किस प्रकार उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो का विकास हुआ। अत. उन्होंने उत्तरकालीन दार्शनिक सिद्धान्तो का बुद्ध पर आरोप कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय दिया। उन्हे देखना चाहिये था कि 'इतरेतर विरुद्ध' सिद्धान्त क्या वैदिक साहित्य में नही हैं? फिर समन्वय-

---

(१) देखिए डा० बेलवेलकर के भी विचार, ब्रह्मसूत्र भाष्य, नोट्स, पृष्ठ १००

(२) देखिए सोजन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १६

विधान तो दोनो जगह ही किया जा सकता है। आदि-कल्याणकारी, मध्य-कल्याणकारी और अन्त-कल्याणकारी मार्ग का उपदेश करने वाले भगवान् शाक्यमुनि भला किस प्रकार प्रजाओ के प्रति द्वेष करने वाले, उसको विमोह में डालने या उसका अकल्याण करने वाले है, यह कुछ समझ में नही आता। ऐसा लगता है कि अभेदवादी शकर भी सम-विषय से बरी नही थे और अरक्षित क्षणो में वे गाली भी दे सकते थे, जो प्राकृत पुरुष के लिये भी योग्य नही है। बुद्ध-जीवन की उच्च मनोभूमि से तो इसकी कोई तुलना ही नही।

इस प्रकार आचार्य शकर के द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान को हमने देखा। एक प्रकार से तो निश्चय ही हमने एतद्विषयक ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य का एक सक्षिप्त विवरण ही उपस्थित किया।

क्या शकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं? क्या उनका निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्म 'शून्य' का ही दूसरा नाम है? अथवा क्या स्वय शांकर वेदान्त शाश्वतवादी औपनिषद आत्मवाद का आवरण ओढ़े हुए विशुद्ध बौद्ध विज्ञानवाद का ही नव संस्करण है? इन बातों की संक्षिप्त समीक्षा

यह एक विशेष उद्देश्य से ही किया गया। शकर की महान् तार्किक शक्ति के साथ ही साथ हमने इसका भी कुछ अनुमान लगा ही लिया है कि बौद्ध दर्शन के प्रति उनकी सामान्यत क्या प्रवृति हो सकती थी। शकर के उपर्युक्त प्रत्याख्यानो को देखकर कोई भी स्पष्ट और सीधे सादे विचारो वाला आदमी यह नही कह सकता कि शकर की विचार-प्रणाली की समता किसी भी प्रकार बौद्ध विचार-प्रणाली से दिखाई जा सकती है। किन्तु भारतीय दर्शन का यह एक विरोधाभास है कि बौद्ध दर्शन की पद-पद पर असमञ्जसता दिखाने वाले शकर भी अपने विरोधियो (जो सम्भवत बौद्धो से भी अधिक शकर के विरोधी हैं)—के द्वारा 'प्रच्छन्न बौद्ध' अर्थात् 'छिपे हुए बौद्ध' तक कहलाए गए है।

यह एक बडे आश्चर्य की बात है (उपर्युक्त प्रत्याख्यानो के प्रकाश में विशेषत) कि शकर को बौद्धो की पक्ति में बिठलाने का प्रस्ताव करने वाले एक दो आचार्य नही, किन्तु अनेक आचार्य

कुछ वैष्णव और अन्य आचार्य शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' बताते हैं

है। किन्तु उनके विचारो को उनका ठीक मूल्य देने के पहले हमें उनके कुछ प्रतिनिधि स्वरूप उद्गारो से परिचित होना चाहिए। सब से पहले शकर के सबसे बडे

प्रतिपक्षी आचार्य रामानुज हैं। आचार्य शकर ने वैदिक धर्म के उद्धार करने का व्रत लिया था (और निश्चय ही उनकी तपस्विता और तेजस्विता ने एक अद्भुत धर्म-सस्कार किया भी था) किन्तु रामानुज उन्हें वेद-पूजा का तो महत्व देने को तैयार है ही नही (शकर के 'आगम' विषयक विचार को लेकर देखिए उनके प्रति उनकी तिरस्कारमयी उक्ति—दूसरे प्रकरण में 'नास्तिक' और 'आस्तिक' मतो के विवेचन मे उद्धृत) उल्टे उन्हे बौद्धो की पक्ति मे बिठलाने का प्रस्ताव करते हैं। पहले उनकी ओजस्विनी सस्कृत-वाणी को ही उद्धृत करते हैं। श्रीभाष्य २।२।२७ में ये वैष्णव आचार्य कहते हैं 'एवरूपेण सकर्मकेण ज्ञातृत्वर्येन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभासमानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति सावयन्त' सर्वलोकोपहासकरण भवन्ति वेदवादच्छद्मप्रच्छन्नबौद्ध निराकरणे निपुणतर प्रपञ्चितम्' इत्यादि। इस समालोचना में दो बातें स्पष्ट हैं। समालोचक शकर के ज्ञानवाद को अच्छा नही समझता या कम-से-कम उसे अपूर्ण समझता है और दूसरी बात यह कि वह (उसी के अनुपम शब्द-चयन में) उन्हे 'वेदवादच्छद्मप्रच्छन्न बौद्ध' समझता है। इसका अर्थ यह है कि शकर का वेदवाद तो कपट है, वास्तव मे वे छिपे बौद्ध हैं। यादव प्रकाश भी अपनी धारा-वाहिक शैली में एक ही श्लोक मे बहुत सी बाते कह जाते हैं—वेदोऽनृतो बुद्ध-कृतागमोऽनृत' प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्। बोद्धाऽनृतो बुद्धि फले तथाऽनृते यूय च बौद्धाश्च समानससद ॥ रामानुज और यादव प्रकाश (११वी शताब्दी) दोनो वैष्णव आचार्य है और शकर के 'प्रच्छन्न बौद्ध' होने के विषय में उनके विचार दे दिए गए हैं। निश्चय ही उन दोनो के वचनो में शकर की कुछ निन्दा अपेक्षित है। अब हम नवी शताब्दी के एक और दार्शनिक के विचार देखते हैं। भास्कर 'भेदाभेद सिद्धान्त' के प्रचारक है और भास्कर भाष्य का स्वरूप साम्प्रदायिक नही है। भास्कर का भी खयाल है कि मायावाद माहायानिक बौद्धो से ही ली हुई चीज है 'माहायानिकबौद्धगायित माया-वादम्' (भास्कर भाष्य १।४।४५)। जिस प्रकार शकर ने बुद्ध के लिए कहा है कि 'ये प्रजाएँ विमोहित हों' 'विमुह्येयुरिमा प्रजा' इसीलिए बुद्ध ने उपदेश दिया है, उसी प्रकार भास्कर ने भी मायावादियो पर आरोप लगाया है कि वे स्वय लोक को विमोहते फिरते हैं और जिस प्रकार ब्रह्मसूत्र-कार ने बौद्धो को निराकृत किया है उसी न्याय से मायावादी वेदान्ती भी निरस्त हो जाते हैं। मायावाद उनका स्वकल्पित सिद्धान्त है अथवा बौद्धो से इसे उन्होने लिया है। वह वैदिक सिद्धान्त नही है। देखिए उन्ही के शब्दो का

नाभावसान' अर्थात् यह हमारा प्रतिषेध ब्रह्म में ही अवसान होने वाला है, अभाव में नही (ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२२)। इसी प्रकार छान्दोग्य-भाष्य ६।२।१ में भी, यथा 'सदभावमात्र तत्व परिकल्पयन्ति बौद्धा । न तु सत्-प्रतिद्वन्द्विवस्त्वन्तरमिच्छन्ति ।' अर्थात् भगवान् शकर कहते है कि सत् के अभाव मात्र तत्व का बौद्ध लोग परिकल्पन करते है, किन्तु वे सत् की प्रतिद्वन्द्वी किसी दूसरी वस्तु को नही चाहते अर्थात् उसकी स्थापना नही करते। इसके विपरीत शकर अपनी प्रतिष्ठा 'ब्रह्म' पर मानकर उसमें केवल रूप-प्रपञ्च का ही निषेध करते है 'तस्मात् ब्रह्मण रूपप्रपञ्च प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम्[1] ।' (ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।२२)। हम पहले देख ही चुके है कि उन्होने शून्यवाद के निराकरण के प्रसग में शून्यवाद के प्रति कितनी घृणा के भाव प्रकट किए है 'न ह्यय सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहार अन्यत्तत्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्' । (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।३१)। माण्डूक्य कारिका पर भाष्य करते हुए भी आचार्य शकर ने कई बार बुद्ध के प्रति निर्देशो को किस प्रकार अन्यथा व्याख्यात कर दिया है, यह हम 'माण्डूक्य-कारिका' के विश्लेषण को उपस्थित करते समय देख चुके है। इस तथ्य से भी यह स्पष्ट है कि शकर बौद्ध दर्शन से व्यतिरिक्त अपने मत को दिखाना चाहते है। माण्डूक्यकारिका-भाष्य में शकर अद्वैतवाद और शून्यवाद का विभेद दिखाते हुए कहते है कि अद्वैतवाद में शून्यवाद का प्रसग उपस्थित नही हो सकता क्योकि अद्वैतवाद वस्तुत्व पर प्रतिष्ठित है 'तथा च सति अद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावात् शून्यवादप्रसग. द्वैतस्य चाभावात् । न । रज्जुसर्पादिकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरित्युक्तमेतत् (२।३२)। अधिक उद्धरण देने की जरूरत नही है। बौद्ध दर्शन का जो प्रत्याख्यान हम शाकर भाष्य के आधार पर दे चुके हैं, वही केवल एक मात्र शकर के इस दृष्टिकोण को दिखाने के लिए पर्याप्त है कि वे अपने दर्शन को उस प्रकार बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित दिखाए जाने का समर्थन नही कर सकते जिस प्रकार कि वैष्णव आचार्यों ने उसे दिखाने का प्रस्ताव किया है। हम कह सकते है कि शकर उसमें अपनी निन्दा अनुभव करते। किन्तु यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अत न केवल शकर के ही किन्तु उनके विचार-सम्प्रदाय के कुछ अन्य विचारको के भी साक्ष्य को सुनना चाहिए कि वे शकर पर लगाए गए इल्जामो के बारे में क्या कहते है।

---

(१) तथा मिलाइए वहीं, 'कल्पित रूप प्रत्याख्यानेन ब्रह्मस्वरूपावेदनमिति निर्णीयते ।

तो सब से पहले सर्व दर्शनशास्त्रनिष्णात 'षड्दर्शनीवल्लभ' वाचस्पति मिश्र की ही बात सुनें। उनका सब से बड़ा आक्षेप यही है कि शंकर ने बाह्य जगत् का अपलाप नहीं किया है किन्तु उसे एक अतीत तत्त्व की अपेक्षा में ही मिथ्या बताया है। किसी का किसी पर आरोप होने के लिए किसी तत्त्व की स्थिति होनी आवश्यक है। निष्प्रपञ्च परमार्थ सत्य ब्रह्म ही जगत् की प्रतिष्ठा में अवस्थित है। 'अपि चारोपितं निर्वचनीयम्। आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानो दृष्टः, यथा शुक्तिकादिषु रजतादेः। न चेदस्ति किञ्चित् तत्त्वं यस्य कल्पितमारोपः तस्मात् निष्प्रपञ्चं परमार्थसत् ब्रह्म अनिर्वाच्य प्रपञ्चारोपणाधिष्ठानमिष्यते। तच्च तत्त्व व्यवस्थायां अज्ञानविलक्षणेन सांव्यवहारिकत्वं प्रमाणानां वावश्योपपद्यते इति युक्तमुत्पश्यामः।' (भामती २-२-३१)।

यद्यपि वाचस्पति मिश्र के उपर्युक्त उद्धरण में हम बौद्ध दर्शन के प्रति कोई संकेत नहीं पाते, किन्तु हमने जिस दृष्टि से उसे उद्धृत किया है वह यह है कि शंकर के जगन्मिथ्यात्व की प्रतिष्ठा में परमार्थसत् ब्रह्म को देखते हैं। वाचस्पति मिश्र। हमने शंकर के विज्ञानवाद के खण्डन में देखा है कि वे किस प्रकार बाह्यार्थ को उपलब्धि में परिवर्तित कर देने के विरुद्ध हैं। एक और आक्षेप देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि ब्रह्मवादी नीलादि की आकार वाली वित्ति को नहीं मानता, किन्तु नील के अनिर्वचनीय को मानता है, अतः माध्यमिक मत में उसका अनुप्रवेश नहीं हो सकता 'न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीयं नीलादिमिति' (भामती २।२।२८)। इसी के अनुकूल मत 'न्यायमकरन्द' के रचयिता आनन्दबोध भट्टारकाचार्य उपस्थित करते हैं जब कि वे वाचस्पति मिश्र के लगभग समान ही शब्दों में कहते हैं 'न हि वयं नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छामः येन माध्यमिकपक्षानुप्रवेशः। किन्तु अनाद्यविद्याविलसितमलीकनीलनिर्भासाकारं प्रपञ्चमाचक्ष्महे।' इस प्रकार शांकर सम्प्रदाय की परम्परा में बहुत बाद में आने वाले इन आचार्य ने भी यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनके दर्शन-सम्प्रदाय का माध्यमिक मत में प्रवेश नहीं होता। ब्रह्मवादियों के यहाँ ब्रह्म की सत्ता प्रतिष्ठित है जिस पर जगत् कल्पित है तथा ब्रह्म से व्यतिरिक्त ही सब का व्यापार इष्ट है। बाह्य जगत् का वे अपलाप नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से तो वह 'विज्ञानाकार' होकर कल्पित हो जायगा और तब तो फिर माध्यमिकों के पक्ष में ही अनुप्रवेश करना दुर्निवार हो जायगा। इसलिए 'न्याय मकरन्द' की यह उक्ति 'न खलु वयं स्वप्नवत् प्रतिभासमानं प्रपञ्चमाचक्ष्महे येनासत्ख्यातिर्न स्यात् इति......प्रतिभासमानत्वस्य

बहिरलापे विज्ञानाकार एवायमाश्रित स्यात् । तथा च माहायानिकपक्षानुप्रवेशो दुर्निवार स्यात् । . ततश्च बाह्यार्थस्यापलापो नास्तीति निर्णय । विद्योदयादनन्तर ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य असत्वलक्षणमपलपनमिष्टमेवेति' ।

इतना ही नही, 'न्यायमकरन्द' ने शकर की इस बात की भी गवाही दी है कि हमारे यहा अभाव आत्यन्तिक नही है किन्तु ब्रह्मपर्यवसान ही है अथवा यो कहिए कि कही-ही-कही है 'न हि निषेधवाक्येषु कस्यचिद् आत्यन्तिको निषेध । किन्तु किञ्चित् क्वचिदिति' । 'पञ्चपादिका' के मनीषी चिन्तक (पद्मपाद, सनन्दन) ने भी इस वात पर जोर दिया है कि वेदान्त में प्रतिष्ठित 'असत्' के स्वरूप से बौद्ध 'असत्' में महान् विभेद है । उनका कहना है कि अध्यस्त वस्तु भी असत् नही हुआ करती, क्योकि यदि वह वैसी हो तो फिर वह प्रतिभास ही नही कर सकती । और माहायानिक मानते है कि सब असत् ही है । 'नाप्यध्यस्तमसदेव,तथात्वे प्रतिभासायोगात् । ननु सर्वमेवेदमसदिति भवतो मतम् ।'

'पञ्चपादिका' पर 'विवरण' लिखने वाले आचार्य प्रकाशात्मन् का भी इस विषय में साक्ष्य सुन लीजिए । वे कहते हैं कि वेदान्तवाद को सुगत-विज्ञानवाद के समान कहना एक 'दुर्जन-रमणीय' वाणी है । 'दुर्जनरमणीया वाच जल्पति सुगतविज्ञानवादसमानोऽय वेदान्तवाद इति' । (पञ्चपादिका-विवरण) । किन्तु शाकर दर्शन का सौगत मत से क्या सम्बन्ध है, इसका सब से अच्छा निरूपण तो प्राय दो के द्वारा ही किया हुआ दिखाई पडता है । अर्थात् सर्वज्ञात्ममुनि (९००) के द्वारा तथा श्रीहर्ष (११९०) के द्वारा । इनमें भी सर्वज्ञात्ममुनि का किया हुआ निरूपण अत्यन्त विशद है और साथ ही काव्यमय भी । पहले ही अपने 'सक्षेप शारीरक' में आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि इस प्रकार समस्या का अवतरण करते है—

'आपका यह दर्शन शाक्यभिक्षु-दर्शन के समान दिखाई पडता है । अगर वाह्य वस्तु मिथ्या है तो फिर ये दोनो दर्शन क्यो नही आपस में समान है ? 'ननु शाक्यभिक्षुसमयेन सम प्रतिभात्यय च भवत समय । यदि वाह्यवस्तु वितथ नु कथ समयाविमौ न सदृशौ भवत ' ॥ २।२५ । फिर आगे यह भी कहते हैं कि यदि 'वोध्य' को छोड 'वोध' को ही तुम परमार्थ का शरीर वताते हो, तव तो मालूम पडता है कि यह सव अपना मत तुमने वुद्ध मुनि से ही लिया हुआ है—

यदि वोध एव परमार्थवपु न तु वोध्यमित्यभिमत भवति । ननु चाश्रित भवति वुद्धमुने मतमेव कृत्स्नमिह मस्करिभि २।२६

तो फिर तुम वैदिक मुनि कैसे हो ? तुम तो भदन्त मुनि (वुद्ध) के समान हो !

उपयन भदन्त मुनिना सदृश कथमेप वैदिकमुनिर्भवति २।२७। इन सव पूर्वपक्षो का समाधान करते हुए सर्वज्ञात्ममुनि कहते है कि 'मिथ्यात्व' तो अद्वैत वेदान्त में है, किन्तु 'असत्व' नही है और फिर वौद्ध दर्शन क्षणिकवाद पर प्रतिष्ठित है और वेदान्त दर्शन स्थिरत्व पर, अत दोनो मे लेश मात्र भी साम्य नही है। इसी तथ्य को उनका यह निम्नलिखित विचित्र श्लोक स्पष्ट करता है—

परमात्मसंश्रयतयोजनितं प्रविभक्तमेव तु परस्परत· ।
स्थिरत्वमभ्युपेतमिह न· समये ननु मातृमानविपय-प्रभृति ॥

सक्षेप शारीरक २।२८

श्री हर्प अपने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' (प्रथम परिच्छेद) में कहते है कि सौगत मतवादियो और ब्रह्मवादियो में यही मुख्य विभेद है कि जव कि सौगत मत सव को अनिर्वचनीय कहता है तो ब्रह्मवादी विज्ञान से व्यतिरिक्त इस विश्व को सत्व और असत्व से अनिर्वचनीय कहते हैं—'एव च सति सौगतब्रह्मवादिनो· को विशेप इति चेदय विशेप यदादिम सर्वमेवानिर्वचनीय वर्णयति . विज्ञानव्यतिरिक्त पुनरिद विश्व सत्वासत्वाभ्यामनिर्वचनीय ब्रह्मवादिन सगिरन्ते'।

इस प्रकार हमने ऊपर दो समानान्तर और परस्परविरुद्ध मतो को देखा है, जो स्वय शकर के सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदायो के आचार्यों के द्वारा शाकर दर्शन के सौगत दर्शन के साथ सम्वन्ध को लेकर प्रकटित किए गये है। यह प्रश्न इतना गूढ और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है कि िना शाकर मत की गूढतम सूक्ष्मताओ का विवेचन किये इसका निर्णय नही किया सकता, और फिर उतना ही जरूरी है उत्तरकालीन वौद्ध दर्शन को उसके ठीक रूप में समझना भी। यदि वौद्ध दर्शन के उसी स्वरूप को हम ठीक समझते है अथवा यो कहिए कि यदि वौद्ध दर्शन की अन्तिम वात वही है जैसी कि वह शकर और उनके अनुयायियो के द्वारा ब्रह्मसूत्र-भाष्य और उसकी टीकाओ मे प्रदर्शित की गई है, तव तो फिर वौद्ध दर्शन के साथ शाकर दर्शन के सम्वन्ध के अधिक विवेचन करने का अवसर ही नही रहता क्योकि फिर तो शकर ने जो वौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान किए है उन्ही से हमे निर्णय दे देना चाहिए। अथवा शाकर दर्शन के ही एक दो और व्याख्याकारो के साक्ष्य को देखकर इसे समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु ऐसा हम नही कर सकते। हमें वैष्णव आचार्यों के मतो को उनका पूरा मूल्य देना होगा और साथ ही यह भी देखना होगा कि वौद्ध दर्शन के जिस रूप का खण्डन शकर ने किया है क्या वही उसका

मौलिक रूप है अथवा जिसे वे अपना मत समझ कर स्थापित कर रहे है क्या वही पूर्वकालीन बौद्ध मत भी है, जिसका उन्हे ज्ञान नही था। हम शाकर दर्शन के मूल भूत सिद्धान्तो में से एक-एक को लेकर दोनो दर्शनो के इस विषयक दृष्टिकोण को उपस्थित करेंगे।

मायावाद

'आत्मैकत्व विज्ञान' शाकर दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है और वह आधारित है उपनिषदो के गम्भीर प्रज्ञानो में जहा से शकर ने उसे लिया है। 'ज्ञानस्य ह्येषा परा काष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम्' (ज्ञान की यह परम काष्ठा है, यह जो कि आत्मा की एकता का ज्ञान) यह एक शकर का वाक्य उनके समग्र दर्शन की पूरी व्याख्या कर देता है। 'आत्मैकत्व विज्ञान' से ही सम्बन्धित समस्या है 'माया' की, जो हमें व्यथित करने के लिए उपस्थित है। स्वरूपत वह कुछ नही है, किन्तु उसने आकुलीकृत कर दिया है दुनिया के श्रेष्ठतम मस्तिष्को को भी। जब शकर नही समझ सके (या कहिए पूर्व मनीषी भी) तो उन्होने माया को निकाला, किन्तु जब हम माया को भी नही समझ पावें तो क्या निकालें ? इस लेखक का विचार है कि वैष्णव आचार्य शकर के मायावाद को समझ नही सके। इसके पचाने के लिए बडे बल की जरूरत है। जब वैष्णव आचार्य शकर के मायावाद को नही पचा सके तो उन्होने शकर की निन्दा करनी शुरू कर दी। निश्चय ही शकर का साहस अपार है। जव हम भास्कर जैसे भेदाभेदवादी को भी 'माहायानिकबौद्धगथित मायावादम्' कहते हुए देखते है तो हमे आश्चर्य होने लगता है कि क्या सचमुच शकर मायावाद के लिये बौद्धो के ऋणी है। निश्चय ही इस प्रकार के प्रस्ताव को देखकर हम मायावाद के प्राचीन इतिहास की ओर देखते है, अर्थात् उपनिषदो मे उसको स्वरूप को देखने की ओर प्रवृत्त होते है। किन्तु यहा भी एक बडा विवाद है। जो आचार्य शकर के 'मायावाद' को 'माहायानिक बौद्धगाथित' कह चुके, वे उपनिपदो में भी उसकी प्रतिष्ठा कैसे होने देंगे[1] ? और फिर वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने वाले विद्वानो के भी तो मत इस विषय में कहा मिलते है ? डायसन और थीवो के इस विषयक मतो में कव समानता है। अत इस

(१) जव कि उनके पास इस प्रकार की पौराणिक भावनाएँ भी तो उपस्थित हैं:-
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्न वौद्धमेव च। पद्मपुराण १।१४
... .
वेदार्थवन् महाशास्त्रं। मायावादमवैदिकम्। पद्मपुराण

सम्बन्ध में बडी सावधानी से चलने की आवश्यकता है। निर्गुण ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु उस निर्गुण, निर्विशेष तत्व में से यह गुणमय, प्रपञ्चमय जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो गया और उत्पन्न होने पर भी वह ब्रह्म निर्विकारी कैसे बना रहा, इसी समस्या के हल के लिए 'माया' का आश्रय शंकर ने लिया है। माया के कारण ही निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित-सा प्रतीत होता है। भेद सभी कल्पित है। एक ही ब्रह्म की सत्ता खण्ड-खण्ड होकर हमें दीखती है। और वह माया के कारण। माया न सत् है और न असत्। वह अनिर्वचनीय है। माया में दो शक्तिया है, आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढँक लेती है और दूसरी शक्ति के आधार पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है (अनिर्वचनीय रूप से)। इसी तथ्य को 'संक्षेप शारीरक' में इस प्रकार समझाया गया है—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्म रूपम्
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगात्
आत्मत्वमात्रविषयाश्रयता बलेन[1] ॥ १।२०

इतना संक्षिप्त रूप से माया के विषय मे कह कर अब हम इस विचार पर आते है कि विज्ञानवादी बौद्धो ने भी इसे प्रयुक्त किया है और प्रपञ्च विषय को ही लेकर, यथा शंकर और उनकी परम्परा के आचार्यों ने। अद्वैत वेदान्त मे भी माया का सम्बन्ध ज्ञेय या विषय से रहता है जब कि अविद्या का ज्ञाता या

(१) मिलाइए 'अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्। आवरणशक्तिस्तावत् अल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञान परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृ बुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्, घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चाति मूढ, तथा बद्धवद्भाति यो मूढ दृष्टे स नित्योपलब्धिः स्वरूपोऽहमात्मा। विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृत रज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेप-शक्तिसाकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यं, तदुक्तम्—विक्षेपशक्तिलिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्। वेदान्तसार (सदानन्द-कृत)।

विषयी से, यद्यपि शकर ने तो इतना विभेद नही भी रक्खा है और कही कहीं क्या बहुत जगह 'अविद्याकल्पितरूपभेदाभ्युपगमात्' आदि कह कर माया और अविद्या के शब्दो के प्रयोग मे बाहर और भीतर का विभेद नही रक्खा है। हमें भी मूल वात ही पकड़नी चाहिए। 'लकावतार सूत्र' में शून्यवादियो और विज्ञानवादियो के एक विवाद का वर्णन है, जो मायावाद के प्रश्न को लेकर है। विज्ञानवादी कहता है सर्वशून्यवादी को सम्बोधित कर—'सर्वं जगत् मायात्मकतया स्वभावशून्यमुपगत माध्यमिकवादिभि तदा मायास्वभावसवृतिग्राहिणी बुद्धिरपि भवता नास्ति वाह्यवत्। तथा च माया केनोपलभ्यते ग्राहकवस्तु सज् ज्ञानमन्तरेण। यस्य तु विज्ञानमेव परमार्थसत् ग्राह्यरूपतया भ्रान्त तथा प्रतिभासते न तस्याय दोष'। अर्थात् बाह्यार्थशून्यवादी सर्वशून्यवादी पर यह आक्षेप करता है कि माध्यमिक सब जगत् को मायात्मक और स्वभावशून्य कहते है, किन्तु जिस प्रकार वे वाह्य पदार्थों का अपलाप करते हैं उसी प्रकार वे वुद्धि की भी तो सत्ता स्वीकार नही करते जो भी उनके लिए माया स्वरूप ही है, तो फिर जब ग्राहक वस्तु रूप सत् वुद्धि है ही नही, तो फिर वे माया का ग्रहण ही किससे करते है ? किन्तु वे, जो परमार्थ ज्ञान विज्ञान को ही मानते है, जो सत् है, उनके लिए तो ग्राह्य रूप जगत् भ्रान्ति के सदृश ही भासता है जो ठीक है। इस पर आपत्ति करते हुए माध्यमिक कहते है कि जब माया ही नही है, तव भ्रान्ति ही किसके द्वारा ग्रहण की जा सकती है ?—'यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते'। जब तुम हाथी इत्यादि बाह्य पदार्थों को ही नही मानते और विज्ञानमात्र की ही सत्यता स्वीकार करते हो तो वाहर का तो पदार्थ तुम्हारे लिए कही है ही नही, तो फिर भास क्या करता है ? 'यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते'। दृश्य तो तुम्हारे यहा (विज्ञानवादियो के यहा) है ही नही, विज्ञान ही तुम्हारे लिए ग्राह्य है और विज्ञान ही ग्राहक। वेद से व्यतिरिक्त सभी वेद्य माया है, तो किसकी किससे प्रतीति तुम करते हो ? चित्त तो चित्त को नही देख सकता और चित्त भी जव माया है, तव कौन किसको ग्रहण करेगा ? 'चित्तमेव यदा माया तदा किं केन गृह्यते। उक्तञ्च लोकनाथेन चित्त चित्त न पश्यति'॥ इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरण में हम देखते है कि मायावाद शकर से भी ५००-६०० वर्ष पूर्व प्रचलित था और विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनो ही उसे अपने-अपने ढगो से स्वीकार करते थे। चूंकि श्रौत परम्परा के प्रसिद्ध आचार्यो ने भी शकर के मायावाद को 'अवैदिक' वताया है, अत यदि हम वौद्ध आचार्यों के ऋण को

शकर पर मानें तो यह अनुचित न होगा। भास्कर जैसे निष्पक्ष आचार्य (भेदाभेदवादी थे और वैसे भी भास्कर भाष्य साम्प्रदायिक दृष्टि से प्राय विमुक्त है) का साक्ष्य भी हमे प्राप्त ही है 'माहायानिक बौद्धगाथितं मायावादम्'। किन्तु ऐसा करना शकर की मौलिकता पर आघात करना होगा। हमारे लिए यह समान ही है कि शकर ने अपने विचार श्रुतियो से लिए है या बौद्ध आचार्यों से (केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही इसका महत्व है, या साम्प्रदायिक दृष्टि से) क्योकि ज्ञान पर हम किसी का एकाधिकार नही मानते। जो बात हमारे लिए महत्वपूर्ण है वह यह है कि शकर ने पूर्व बौद्ध आचार्यों से माया के सिद्धान्त को अपने पूज्याभिपूज्य परमगुरु (गौडपाद) के माध्यम से अथवा अन्य स्रोतो से लिया है किन्तु शकर का मायावाद बिलकुल वही नही है जो बौद्धो का। विज्ञानवादी के लिए बाह्य धर्मों के मायामयत्व का अभ्युपगम नास्तितासाधर्म्य के कारण है और माध्यमिको का है सब के ही दृष्ट-नष्ट-स्वरूप होने के कारण, परन्तु शकर का है सत् और असत् से अनिर्वचनीय होने के कारण ही।

उदाहरण के लिए 'लकावतार सूत्र' के इस उद्धरण को लीजिए 'पुनरपर महामते न माया नास्ति साधर्म्यदर्शनात् सर्वधर्माणा मायोपमत्व भवति। महामतिराह—किं पुनर्भगवन् विचित्रमायाभिनिवेशलक्षणेन सर्वधर्माणा मायोपमत्व भवति ? उत वितथाभिनिवेश लक्षणेन ? तद्यदि भगवन् विचित्रमायाभिनिवेशलक्षणेन सर्वधर्माणा मायोपमत्व भवति हन्त तर्हि भगवन् न भावा मायोपमा। तत्कस्य हेतो ? रूपस्य विचित्रलक्षणाहेतुदर्शनात्। न हि भगवन् ! कश्चिद्धेतुरस्ति येन रूप विचित्रलक्षणाकार ख्यायेत मायावत्। अतएव तस्मात् कारणान्न भगवन् विचित्रलक्षणाभिनिवेश साधर्म्याद्भावा मायोपमा। भगवान् आह—न महामते विचित्र माया लक्षणाऽभिनिवेशसाधर्म्यात् सर्वधर्मा मायोपमा। किं तर्हि महामते वितथाशु विद्युत् सदृश साधर्म्येण सर्वधर्मा मायोपमा। तद्यथा विद्युल्लता क्षणभगदृष्टनष्टदर्शन पुनर्बालाना ख्यायते। एवमेव महामते सर्वभावा स्वविकल्पसामान्यलक्षणा प्रविचयभावान्न ख्यायन्ते रूप लक्षणाभिनिवेशत'। तत्रेदमुच्यते—

न माया नास्ति साधर्म्याद्भावानां कथ्यतेऽस्तिता।
वितथाशुविद्युत्सदृशाः तेन मायोपमा. स्मृता.॥

शकर के द्वारा यह मत खण्डित कर ही दिया गया है, अत फिर अब यहा पिष्टपेषण करने की जरूरत नही। इस प्रकार यह निश्चित है कि शकर

का मायावाद पूर्ववर्ती बौद्ध मायावाद से कुछ विभिन्न स्वरूप का है। परन्तु ज्ञात या अज्ञात रूप से उसका स्रोत तो वही है। वैष्णव आचार्यों ने उसकी इतनी भर्त्सना की है, उसे अवैदिक बताया है और विज्ञानभिक्षु जैसे आचार्य ने उसे 'अप्रामाणिक' माना है, उसका भी रहस्य यही है।

जगत् के दृष्ट-नष्ट-स्वरूप होने के कारण शकर ने उसे वितथ, नास्तित्व-रूप अथवा मायामय नही बताया, किन्तु उसके विचित्र होने के कारण उसे मायामय वताया है और उसके आधारस्वरूप परम

जगन्मिथ्यात्व का स्वरूप

सत्य की अपेक्षा में उसे बताया है मिथ्या। 'नामरूपाभ्यामस्पृष्ट यदित्येतत् तद् ब्रह्म, नाम रूपविलक्षण नाम रूपाभ्यामस्पृष्ट एव लक्षण ब्रह्म' (छान्दोग्य–भाष्य ८।१४।१) 'नाम रूप से अस्पृष्ट जो है वह ब्रह्म है, नाम रूप से विलक्षण, नाम-रूप से अस्पृष्ट, इस लक्षण वाला ब्रह्म'। शकर का यह गम्भीर निनाद बौद्ध प्रज्ञानो मे अलक्षित है—'अविद्या-कल्पितेन दोषेण पारमार्थिक वस्तु न दूष्यति न च मिथ्याज्ञान परमार्थवस्तु दूषयितु समर्थ (गीता भाष्य १३।२) अर्थात् 'अविद्या-कल्पित दोष पारमार्थिक वस्तु को दूषित नही कर सकते, न मिथ्याज्ञान दूषित कर सकता है परमार्थ वस्तु को।' आत्म ज्योति कार्य और कारण से अतीत होने पर भी कार्य और कारण को अवभासित करने वाली है 'कार्यकारणातीत तथापि कार्यकारणावभासक—आत्मज्योति' (बृहदारण्यक भाष्य ४।३।१०)। यह जगत् स्वविषय रूप (अपने क्षेत्र में) सत्य ही है। 'स्व विषये सर्व सत्यमेव' (छान्दोग्य-भाष्य ८।५।४) किन्तु 'अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तदात्मना विनिर्मुक्तमसत् सम्पद्यते' (कठ-भाष्य २।२०) अर्थात् अणु या महान् जो कोई वस्तु है, यदि आत्मा से विरहित करके उसे देखें, तो वह 'असत्' ही है।

अध्यास को भी लें तो मृगतृष्णिका आदि भी बिना किसी आधार के नही होते 'न हि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति'। रज्जु में यदि सर्प की भ्रान्ति करनी है, तो सर्प पहले होना (सत्) ही चाहिये।

अध्यास

'रज्ज्वात्मना अवबोधात् प्राक् सर्प सन्नेव भवति' (बृहदारण्यक-भाष्य १।६)। असत् शशविषाण की कही उत्पत्ति नही देखी गई। 'असत शशविषाणादे समुत्पत्यदर्शनात् (तैत्तिरीय भाष्य २।६)। इस प्रकार शकर ने अनेक तर्कों से दिखाया है कि नामरूपात्मक जगत् अविद्या से प्रत्युपस्थापित है, अविद्याकल्पित है, किन्तु (और यह 'किन्तु' अत्यन्त

महत्वपूर्ण है यदि हमे बौद्ध दर्शन के साथ शकर के विचार को उसके ठीक रूप में मिलाना है) 'नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये' अर्थात् विद्या, और अविद्या केवल नामरूप-पक्ष के ही हैं) । 'न हि परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिद्विकल्प उपपद्यते' (तैत्तिरीय भाष्य २।८) । परमार्थ रूप निर्विकल्प ब्रह्म में कोई विकल्प उत्पन्न नही होता । इतने से सम्भवत हमने दोनो दर्शनो के मायावाद और जगन्मिथ्यात्व सम्वन्वी सिद्धान्तो पर कुछ प्रकाश डाला है । गौडपाद के दर्शन को विवेचित करते समय हम पहले कुछ और उद्धरण माहायानिक आचार्यों के माया वाद सम्वन्वी सिद्धान्तो के दे चुके है, अत उन्हे भी मिलाकर देखने से यह विषय कुछ और स्पष्ट हो जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है ।

व्यवहार और परमार्थ अथवा संवृति और परमार्थ सत्य

सत्य-द्वय के सिद्धान्त के विषय मे शकर पर बौद्ध आचार्यो के ऋण के सम्बन्ध में दो मत नही हो सकते । कुमारिल ने 'सत्य-द्वय-कल्पना' का वडा तीव्र प्रत्याख्यान किया है और उसी के आवार पर 'सर्वं ज्ञानजात यथार्थम्' इस प्रकार कह कर आचार्य रामानुज ने किया है । जो तर्क कुमारिल ने बौद्धो के खिलाफ उठाए है वही तर्क रामानुज ने शकर के विरुद्ध प्रयुक्त किए है । इसलिए कुमारिल और रामानुज के तर्क देख लेने पर इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नही रह जाता कि इस सत्य द्वय के सिद्धान्त के सम्वन्व में शकर बौद्धो के ऋणी हैं । भगवान् शकर ने व्यवहार और परमार्थ सत्यो का वडा व्यापक प्रयोग किया है और उन सवकी समता हम प्राय माध्यमिको मे पाते है । यहा हम केवल शकर के इस विषय सम्वन्वी कुछ उदाहरण देते है और उन्हे चौथे प्रकरण में निर्दिष्ट एव विस्तार से उद्धृत माहायानिको के इस विषय सम्वन्वी विचारो से तथा इसी प्रसग में गौडपाद के दर्शन से भी मिलान करने से यह वात वडी आसानी से समझ मे आती है कि दोनो में अथवा यो कहिये कि तीनो में (अर्थात् शकर, गौडपाद और माहायानिक आचार्यो मे) इस विषय में कितनी गहरी समानताएँ है । शकर के सामने यदि कोई भी विरोधी श्रुति आती है जो उनके अद्वैत से मेल नही खाती तो वे झट कह देते है कि यह तो व्यवहार-अवस्था के लिए है और 'सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।१४) । इस प्रकार के अनेक उदाहरण शकर के भाष्यो में भरे पडे है[1], विशेषत उपनिषदो के भाष्यो मे । किन्तु इस सत्य-द्वय के सिद्धान्त को शकर

(१) विशेषत देखिए वृहदारण्यक भाष्य ३।५।१

ने श्रुतियो या ब्रह्मसूत्रो के भाष्यो तक ही सीमित नही रक्खा है, उसे उन्होने ब्रह्म और जगत् के विभेद को सूचित करने के लिए भी प्रयुक्त किया है 'सत्यमुक्त सत्यत्व विकारणा—तत्तु न परमार्थापेक्षया। किं तर्हि ? इन्द्रियविषयापेक्षया उक्त।' (छान्दोग्य भाष्य ७।१७)। पुन 'सत्य च व्यवहारविषय न परमार्थ सत्य। एकमेव हि परमार्थ सत्य ब्रह्म।' (तैत्तिरीय भाष्य २।६)

माहायानिको ने सवृति को अविद्या कहा था और उसे आवरण करने वाली बताया था 'अभूत ज्ञापयत्यर्थं भूतउावृत्य वर्तते। अविद्या जायमानेव कामलातकवृत्तिवत्'। देखिए किस प्रकार वह वेदान्तियो के 'अज्ञान' के दोनो काम अर्थात् 'आवरण' और 'विक्षेप' निकाल देती है। शकर भी तो कहते हैं 'अविद्यया अन्यत् वस्त्वन्तरमिव पश्यति'[1] (प्रश्न-भाष्य ४।५)। इसी प्रकार शकर ने अनेक स्थलो पर प्रकट किया है व्यवहार की अवस्था से मनुष्य जव उठता है तो परमार्थ अवस्था में उसको व्यवहार नही रहता, अर्थात् फिर ब्रह्म ही ब्रह्म अनुभव होता है, प्रपञ्च नही रहता। (इससे व्यतिरिक्त) माहायानिको ने इस तथ्य को तो नही, किन्तु इसके कुछ सदृश भाव को ही इस प्रकार प्रकट किया है—

सम्यक् मृषा दर्शन लब्ध भाव रूपद्वय विभ्रति सर्वभावा।
सम्यक् दृशा यो विषय. स तत्वं मृषा दृशा सवृतिसत्यमुक्तम्॥
(वोधिचर्यावतार)

असत्य के माध्यम से सत्य की प्राप्ति

इसी सत्य-द्वय के विभाग से स्वभावत हम असत्य से सत्य-प्राप्ति विषयक सिद्धान्त पर आते हैं। व्यावहारिक सत्य एक प्रकार से असत्य का ही नाम है। उस व्यावहारिक सत्य से पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति होती है, ऐसी भावना शकर के दर्शन में वर्तमान है। बौद्धो में भी विलकुल यह इसी प्रकार से है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत सत्य समीहते'। यह भावना दोनो जगह वर्तमान है। आचार्य शकर ने अपने इस मत का दिग्दर्शन ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय और प्रथम पाद के आरम्भणाधिकरण में किया है और रामानुज ने इसका प्रत्याख्यान श्रीभाष्य के जिज्ञासाधिकरण मे किया है[2]।

(१) शाकर सिद्धान्त में अविद्या की निवृत्ति के लिए देखिए वृहदारण्यक भाष्य ४।३।२०, तैत्ति० २।८-९, ५।१।१; वृहदारण्यक० ४।४।२०, ५।१।१; छान्दोग्य० ८।१२।१; वृहदारण्यक० ४।४।६; ४।३।२३,, देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री अद्वैत फिलासफी, पृष्ठ २३२, पदसकेत भी

(२) कुमारिल ने भी ऐसे ही किया है वौद्धो के सिद्धान्त को लेकर 'सवृत्या

माहायानिको के कार्य-कारणभाव के अपलाप करने के विषय मे हम चतुर्थ प्रकरण में ही कह आए हैं। उनके कार्य-कारण भाव के अपलाप की विशेपता यह है कि वह नि स्वभाव में पर्यवसित होता है।

कार्य-कारणभाव का अपलाप

'भावाना नि स्वभावाना न सत्ता विद्यते यत' ।
सतीदमस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते ॥'

शकर की स्थिति इससे भिन्न है। यहा नि स्वभाव नही, किन्तु सभी स्वभावो को देने वाला है, सभी कारणवादो को कारणता प्रदान करने वाला है 'कार्यकारणातीत तथापि कार्य-करणावभासक—आत्मज्योति (वृहदारण्यक-भाष्य ४।३।१०)

'कूटस्थात् . कारणात् कार्यमुत्पद्यते ' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।२६)

'न हि वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति । परमार्थत कारणात् व्यतिरेकेण अभाव कार्यस्य' (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।४)। यही शकर और बौद्ध आचार्यों का इस विषय में विभेद है।

जो बात कारणवाद के स्वरूप में है वही वात प्रमाण-विचार के सम्वन्ध में भी है। प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कुछ माध्यमिको ने नही छोडा है, सब को ही शून्य या नि स्वभाव वना कर उडा दिया है 'प्रमाणमप्रमाण चेत् ननु तत्प्रमित मृषा। तत्वत शून्यता तस्मात् भावाना नोपलभ्यते' ॥ बोधिचर्यावतार। निश्चय ही वाह्यार्थ निषेधवाद का खण्डन करने वाले शकर की ऐसी स्थिति नही हो सकती, किन्तु परमार्थ अवस्था की अपेक्षा मे 'अविद्यावद्विषय' तो उन्होने भी उसे वताया है। उनका तर्क अध्यासवाद पर प्रतिष्ठित है और उसे इस प्रकार हमे समझना चाहिए। 'देह और इन्द्रियो मे जब तक 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान नही है, तब तक प्रमाता होने की भावना का उदय नही हो सकता, अत प्रमाण-प्रवृत्ति भी सम्भव नही हो सकती। इन्द्रियो का विना उपादान किए प्रत्याक्षादि व्यवहार सम्भव नही हो सकता और विना अधिष्ठान के इन्द्रियो का व्यवहार नही हो सकता। और जब तक देह में 'आत्म' भाव का अध्यास नही किया जाय, तब तक देह कुछ नही कर सकती। यदि यह सब कुछ न हो तो असग

प्रमाण-विचार

यत्स्वरूपं हि तद् वाङ्मात्रनिवन्धनम् । हेतुत्व परमार्थस्य प्रतिपत्तु न शक्नुयात् ॥ निरालम्ववाद ।

आत्मा का प्रमातृत्व भी नही बन सकता । और जब प्रमातृत्व नही है, तब प्रमाण-प्रवृत्ति भी नही हो सकती । अत अविद्यावद्विषय ही है सब प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र' ।[1] शकर के तर्कों में एक प्रशान्तवाहिता है, एक अनुद्विग्नता । बौद्ध विचारको में एक वेग है, एक तीव्र प्रतिक्रिया, भीषण तेज । अब हम बौद्ध और शाकर दर्शन के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय पर आते है, अर्थात् शून्य, ब्रह्म और अनिर्वचनीय के सम्बन्ध पर ।

शून्य, निर्गुण और अनिर्वचनीय पर उपसंहाररूप से कुछ कथन

जैसा कि हम पूर्व निर्दिष्ट कर चुके है, अधिकतर पूर्वोद्धृत आचार्यों के मत इसी समस्या की ओर निर्देश करते है । शकर के ब्रह्म और श्रीहर्ष के अनिर्वचनीय को हम अच्छी तरह से जानते है, अत उनके विषय में हमारे मन में कुछ अधिक विकल्प नही उठते क्योकि वे सब सगत है। हम 'शून्य' के विषय में चतुर्थ प्रकरण में भी विचार कर चुके हैं और वहा हमने विशेषत माध्यमिको के इस अनुनय को ठीक रूप में ही स्वीकार करने का प्रस्ताव किया है कि यदि हमें माध्यमिको के साथ न्याय करना है तो निश्चय ही उन मनस्वियो के गम्भीर चिन्तनो में तथाकथित 'अभाव' की कल्पना हमें नही करनी चाहिए। 'अभाव न विकल्पयेत्' । शायद इतने से ही यह समझ लिया जायगा कि यह लेखक कहा जा रहा है । भगवान् शकर ने जो यह कहा है कि हमारा प्रतिषेध तो ब्रह्मावसान है और सौगत मत का अभावावसान, (ब्रह्मावसानोऽय प्रतिषेध न अभावावसान) वह उन भगवान् ने आशिक रूप में ही ठीक कहा है । ब्रह्मवादियो के लिए तो यह कहना ठीक है कि ब्रह्म-पर्यन्त उनका प्रतिषेध है, किन्तु 'वैनाशिको' को तो गलत ही समझा गया है । हमारा विनम्र अभिप्राय है कि यदि शब्दो के पीछे लडना न ही है तो एक अर्थ में 'ब्रह्मावसान' प्रतिषेध शून्यवादियो का भी है । यह एक अत्यन्त साहसिक वचन है, किन्तु देखिए——

(१) देहेन्द्रियादिषु अहममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्ते । नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहार सम्भवति । न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणा व्यवहार. सम्भवति । न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याक्रियते । न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असगस्यात्मन प्रमातृत्वमुपपद्यते । न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य का उपोद्घात ।

तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत् ।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत् ॥
यदि नास्ति स्वभावश्च परभावः कथं भवेत् ।
स्वभावपरभावाभ्यामृते कः स तथागतः ॥

क्या इन चार पक्तियो मे समग्र वेदान्त दर्शन उपस्थित नही हो जाता ? क्या इन चार पक्तिओ के ही प्रकाश में समग्र वेदान्त दर्शन व्याख्यात नही किया जा सकता ? 'ब्रह्म' क्या है ? एक नाम ही तो है जिसके द्वारा परम सत्यता का निर्देश करते हो[1] ? 'आत्मा' भी क्या वैसे ही नही है ? 'तथागत' क्या है ? 'श्री' भी कह सकते हो, 'नारायण' भी कह सकते हो, 'राधा' भी कह सकते हो, 'कृष्ण' भी कह सकते हो और सबका कर सकते हो वेदान्त में समन्वय । 'तथागत' ने क्या विगाडा है ? अब तो शून्य उनमें समा गया। 'शून्य' नही अब 'तथागत' है । और तथागत, तथागत

'तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिद जगत्'

तथागत जिस स्वरूप वाले है उसी स्वरूप वाला यह जगत् है । तथागत मे यह जगत् और जगत् में तथागत है । तो क्या तथागत शून्य नही है ? क्या पाप करते हो ? तथागत और शून्य ?

शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्
उभयं नोभय चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ।

तथागत को शून्य कह कर मत पुकारो, अशून्य भी उन्हें मत कहो, उभय न कहो, अनुभय मत कहो । उनको दिया हुआ नाम केवल प्रज्ञप्ति के लिए है । 'वाचारम्भण विकारो नामधेयम्' । 'स्कन्ध' और 'नैरात्म्य वाद' कहा चले गए, जो अब ब्रह्मवादियो की तरफ बढते हुए चले आ रहे हो, भदन्तो ! उनका क्षेत्र चला गया, व्यवहार में, सवृति के गर्भ मे वे छिप गए। अब तो 'तथागत' के साथ ही तादात्म्य है ।

स्कन्धो न नान्य स्कन्धेभ्यो नास्मिन् स्कन्धा न तेषु स ।
तथागतः स्कन्धवान्न कतमोऽत्र तथागतः ॥

'तथागत' स्कन्ध नही है, स्कन्धो से अन्य भी नही है । तथागत मे स्कन्ध स्थित नही हैं, स्कन्धो मे तथागत स्थित नही है । तो फिर यह तो कोई कुरुक्षेत्र की भूमि से बोलता दिखाई पड़ता है 'मयि सर्वमिद प्रोत.. .. न चाह

---

(१) देखिए पीछे योगवासिष्ठ का दर्शन ।

तेष्ववस्थित'। नही, कुरुक्षेत्र की भूमि से ही नही, याज्ञवल्क्य की यज्ञशाला से भी आवाज आ रही है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। अब यह शब्द 'क ब्रह्म' के रूप में नही, किन्तु 'क' तथागत' के रूप में आ रहा है.

यदि नास्ति स्वभावश्च परभाव कथं भवेत् ।
स्वभावपरभावाभ्यामृते कः स तथागत' ॥

तथागत में 'स्व' का, अपने का, भाव नही, पर का भाव तो होगा कहा से ? 'स्वभाव' और परभाव के विना अब प्रश्न यही है कि वह तथागत 'क' है। 'क स तथागत'। उसी देव को हविया ले जाओ। इस प्रकार नागार्जुन ने स्पष्ट दिखला दिया है—

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता य यस्युज्यते ।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता यस्य न युज्यते ॥

'शून्यता' का और 'सर्व' का कैसा योग ! कैसा समन्वय ! और सभी कारिकाओं के रचयिता महामनीषी नागार्जुन ही। 'सर्व' की भी सिद्धि उसी के लिए, जिस के लिये शून्यता की सिद्धि है। जिसको शून्यता' का योग नही है, उसको 'सर्व' भी क्या युक्त होगा ? 'शून्यता' और 'सर्व' एक ही चीज़ हैं। 'अभाव न विकल्पयेत्'। इस स्थिति मे देखिए कि क्या 'ब्रह्मसिद्धि' कार की यह उक्ति सावकाश होती है या नही

लब्धरूपे क्वचित् कञ्चित् तादृगेव निषिध्यते ।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य सम्भव' ॥

माध्यमिको ने भी परम तत्त्व को 'निरभिलाप्य', 'अवाच्य', 'अनक्षर' और अनिर्वचनीय ही निर्णीत किया है। यह निश्चित है कि नागार्जुन के शून्य का अर्थ असत् नही है बल्कि वह सदसदनिर्वचनीय तत्त्व है। अत शून्य और ब्रह्म में कोई अन्तर नही है और केवल शून्य को बौद्ध आचार्यो के अभिप्राय से विभिन्न रूप में समझते हुए अद्वैत वेदान्ती उससे अपने ब्रह्म की विभिन्नता दिखाते रहे। श्री हर्ष का यह कहना कि बौद्ध दर्शन विज्ञान को भी मिथ्या बताता है जब कि वेदान्त विशुद्ध विज्ञान से अतिरिक्त सब को मिथ्या बताता है, ठीक नही है क्योकि असग और वसुबन्धु जैसे विज्ञानवादियो ने विज्ञप्तिमात्रता को मिथ्या नही बताया है। असग ने महायान सूत्रालकार में तथता-स्वरूप परमार्थ का लक्षण का लक्षण किया है 'न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते। न वर्धते नापि विशुद्धयते पुनर्विशुद्धयते तत् परमार्थ लक्षणम्'॥ क्या इस परमार्थ के लक्षण और वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के लक्षण में एक अक्षर का भी

अन्तर है ? ऐसा लगता है कि असग और वसुवन्धु के ग्रन्थ शकर को प्राप्त नही थे और केवल धर्मकीर्ति और दिङ्नाग जैसे प्रतिक्रियावादी बौद्ध आचार्यों के क्षणिकवाद को ही शकर ने बौद्ध दर्शन का सर्वस्व मान लिया है, जिसका उन्होंने निरसन किया है। अश्वघोष की तथता तो बिलकुल वेदान्त के ब्रह्म के समान है, यह बताने की यहा आवश्यकता नही। अत कुछ वेदान्ती आचार्यों के विरोध के होते हुए भी ब्रह्म और शून्य एक हैं, अनिर्वचनीय हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नही और इसी प्रकार का निश्चित साक्ष्य 'योग वासिष्ठ' का था, यह हम पहले देख चुके हैं। यह एक आश्चर्य का विषय है कि विज्ञानवाद के स्वप्न और माया की उपमाओ के विरुद्ध एक वस्तुवादी का रूप धारण करते हुए शकर ने उनका तो विरोध किया था, किन्तु स्वय अपने मायावाद की स्थापना के लिये उन्ही उपमाओ का उपयोग उन्होंने किया था। वस्तुत, जैसा यामाकामी सोजन ने हमें बताया है, विज्ञानवाद का जन्म तर्क से हुआ ही नही था[1], उसका जन्म और विकास योग की साधना से सम्बद्ध था, इसीलिये उसने 'योगाचार' की सज्ञा भी पाई थी। बौद्ध और वेदान्त दर्शन अपने सम्पूर्ण विकास की परम्परा में इसी समस्या में उलझे रहे कि विज्ञान नित्य है या अनित्य। बौद्ध दर्शन का अधिकतर झुकाव अनित्यता की ओर था और उसका कहना था कि वेदान्तियो का अल्प मात्र दोष परम तत्त्व को नित्य मानना है। दूसरी ओर विमुक्तात्म मुनि और सदानन्द यति जैसे अद्वैतवादी कहते रहे कि यदि बौद्ध विज्ञान को नित्य मान ले, यदि उनका शून्य सदसद्विलक्षण हो जाय, यदि शून्य असत् न रहे, तो उनका बौद्धो से कोई झगडा नही है, बौद्ध दर्शन वेदान्त में प्रवेश कर जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हजारो वर्षो की दार्शनिक चिन्ता के बाद भी भारतीय मनीषा नित्यता-अनित्यतावाद के उस अतिवाद में ही पडी रही जिससे बचने के लिये तथागत ने उपदेश दिया था। राष्ट्र के सर्वोत्तम मस्तिष्को का हजारो वर्ष का श्रम और उनका लौटकर तथागत के मौन पर ही आजाना, यही बौद्ध और वेदान्त दर्शनो के समग्र इतिहास का निष्कर्ष है। ब्रह्म को शून्यत्व की ओर ले जाने के कारण, आत्मा को शाश्वत विज्ञान का रूप देने के कारण, शकर प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध थे, उसी प्रकार जैसे कि तथता और विज्ञप्तिमात्रता को ब्रह्मत्व के पास लाने के कारण अश्वघोष, असग और वसुबन्धु थे प्रच्छन्न या प्रकट ब्रह्मवादी। वैष्णव आचार्यों ने अवज्ञापूर्वक आचार्य शकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा था, किन्तु आज विचारको के जगत् में बौद्ध धर्म अपनी महिमा को

(१) देखिए उनका ग्रन्थ 'सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट', पृष्ठ २१३

पुन प्राप्त कर रहा है और वौद्ध होना, विशेपत एक वेदान्ती के लिये, विशेष गौरव की वात है। यह उसके ज्ञान की सच्चाई की गवाही है, वेदान्त के निश्चयो का स्वाभाविक विकास है। शकर वेदान्त के निष्कर्ष इसी तथ्य की ओर सकेत करते है, ऐसा बौद्ध शास्त्रो के साथ उनका मिलान करने से स्पष्ट हो जाता है। अत हम चाहें तो, वैष्णव आचार्यों से विभिन्न अर्थ मे, शकर को प्रच्छन्न या प्रकट वौद्ध कह सकते है। और यह उनके प्रति निन्दा का नही, वल्कि गौरव का ही सूचक है।

शकर को छोड कर जो चार शेष वेदान्त के आचार्य बचते है, वे तो सीधे बौद्धो के साथ कभी सम्पर्क में नही आए, क्योकि उनके समय तक बौद्धो की परम्परा भारत में रही ही नही थी। इन वैष्णव आचार्यों ने तो शकर पर ही आक्रमण कर बौद्धो पर भी आक्रमण की अपनी सन्तुष्टि मान ली है। जिस भक्ति रस का परिपाक भारत में इन मनीषियो के प्रज्ञानो के परिणामस्वरूप हुआ उसका विवेचन हम आगे करेंगे। चूकि हमारा उद्देश्य यहा स्वतन्त्र रूप से भारतीय दर्शनो का विवेचन नही किन्तु उनको बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में देखना ही हमारा यहा काम है और चूकि इन आचार्यों के भाष्यो में वौद्ध दर्शन के प्रति कोई नई वात कही हम नही पाते, अत वे हमारे विचार के विषय नही है। किन्तु फिर भी 'यस्य पृथिवी शरीरम्' कहने वाले दर्शन के साथ हमारे द्वारा पहले उद्धृत 'तथागतो यत्स्वभाव तत्स्वभावमिद जगत्' जैसे वाक्य मिलाने योग्य है। और फिर हे वैष्णव आचार्यो! आप भी तो सभी मनीषी वेदान्ती हो। अनेक स्तोत्रो को पाठ करने वाले, साथ ही गम्भीर विचारक मनीषियो! आपकी सेवा में एक वौद्ध 'आलमन्दार' उपस्थित करना यहा अनावश्यक न होगा जिसमें आप वैष्णव दर्शन की सर्वोत्तम भावनाएँ सर्वोत्तम रूप मे प्रदर्शित देखेंगे, केवल इस भेद के साथ कि आलम्बन यहा वुद्ध है, स्वय आपके पुराणो के मन्तव्यानुसार भगवत्स्वरूप है। लीजिये आलमन्दार स्तोत्र का यह वौद्ध सकरण!

'अनुकम्पक सत्वेषु सयोगविगमाशय।
अवियोगाशय सौख्याहिताशय नमोऽस्तु ते ॥
सर्वावरण निर्मुक्त सर्वलोकाभिभू मुने।
ज्ञानेन ज्ञेयं व्याप्त ते मुक्तचित नमोऽस्तु ते ॥
अशेषं सर्वसत्वान सर्वक्लेश विनाशक।
क्लेश प्रहारक क्लिष्टसानुक्रोश नमोऽस्तु ते ॥

अनाभोग निरासंग अव्याघाता समाहित ।
सदैव सर्वप्रश्नानां विसर्जक नमोऽस्तु ते ॥

आश्रयेऽथाश्रिते देश्ये वाक्ये ज्ञाने च देशिके ।
अव्याहतमते नित्य सुदेशिक नमोऽस्तु ते ॥

उपेत्य वचनैस्तेषा चरिज्ञ आगतौ गतौ ।
नि.सारे चैव सत्वानां स्ववचाद नमोऽन्तु ते ॥

सत्वौघ्य प्रपद्यन्ते त्वा दृष्ट्वा सर्वदेहिन ।
दृष्टमात्रात्प्रसादस्य विधायक नमोऽस्तु ते ॥

आदान स्थान संत्याग निर्माण परिणामने ।
समाधिज्ञानवशितामनुप्राप्त नमोऽस्तु ते ॥

उपाये शरणे शुद्धौ सत्वाना विप्रवादिने ।
महायाने च निर्याणे मारभञ्ज नमोऽस्तु ते ॥

ज्ञान प्रहाण निर्याण विघ्नकारक देशिक ।
स्वपरार्येऽन्यतीर्थ्याना निरावृत्य नमोऽस्तु ते ॥

विगृह्य वक्ता पर्षत्सु द्वय सक्लेप वर्जित ।
निरारक्ष असमोष गुणकर्ष नमोऽस्तु ते ॥

चारे विहारे सर्वत्र नास्त्यसर्वज्ञ चेष्टितम् ।
सर्वदा तव सर्वज्ञ भूतार्थिक नमोऽस्तु ते ॥

सर्वसत्वार्थ कृत्येषु काल त्व नाति वर्तसे ।
अवन्ध्यकृत्य सततमसंमोष नमोऽस्तु ते ॥

सर्वलोकमहोरात्रं षट्कृत्व प्रत्यवेक्षसे ।
महाकरुणया युक्त हिताशय नमोऽस्तु ते ॥

चारेणाधिगमेनापि ज्ञानेनापि च कर्मणा ।
सर्व श्रावक प्रत्येक वुद्धोत्तम नमोऽस्तु ते ॥

त्रिभि कार्यैर्महाबोधिं सर्वाकारमुपागत ।
सर्वज्ञ सर्व सत्वानां काङ्क्षाच्छिद् नमोऽस्तु ते ॥

निरवग्रह निर्दोष निष्कालुष्यानवस्थित ।
आनिटक्ष्य सर्वधर्मेषु निष्प्रपञ्च नमोऽस्तु ते ॥

निष्पन्नपरमार्थोऽसि सर्वभूमि विनि सृत ।
सर्वसत्वाग्रता प्राप्त सर्वसत्वविमोचक ॥

भक्ति-धारा के अत्यन्त प्रभावशाली भक्त-साधक है। उनका भक्तिवाद न केवल रामानुज और रामानन्द की भक्ति-परम्परा पर ही आधारित है, बल्कि वह सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित भक्ति-धर्म है, 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' भक्ति मत है। 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ' का प्रचार तुलसीदास ने किया है, जो वर्णाश्रम-धर्म की आधार-भूमि पर आधारित है। कृष्णभक्ति शाखा वल्लभाचार्य के मत पर आधारित थी। अत कुल मिलाकर हम सगुण धारा को श्रौत परम्परा की भक्ति-साधना की प्रतिनिधि मान सकते है। निर्गुण धारा की बात दूसरी है। उसका सम्बन्ध श्रमण परम्परा से अधिक है बनिस्बत श्रौत परम्परा से। ब्राह्मण्य और श्रामण्य की परम्परा के भेद को हम क्रमश तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में अच्छी प्रकार समझ सकते है, जो क्रमश इन परम्पराओ के मध्ययुगीन रूपो के प्रतीक है। तुलसी और कबीर में जो अन्तर है वही श्रौत परम्परा और श्रमण-परम्परा में है। तुलसीदास और कबीर में से हम किसे अधिक पसन्द करते है, इससे हमारे मन की यह परीक्षा हो सकती है कि उसका झुकाव वैदिक और बौद्ध विचार-धाराओ में से किसकी ओर अधिक है। अस्तु, कबीर और सामान्यत भक्ति की निर्गुण धारा के ऊपर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात पर हम बाद में आयेंगे। अभी हम भौगोलिक दृष्टि से मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन पर कुछ और विचार कर लें। जैसा हम पहले दिखा चुके है, उत्तरी भारत में सगुण मत और निर्गुणवादी भक्ति-धारा, दक्षिण में वेदान्त भावित वैष्णव धर्म और बगाल मे प्रेम-रूपा भक्ति या 'शृगारिक रहस्यवाद', इन तीन मुख्य रूपो में यह भारतव्यापी भक्ति-आन्दोलन चला। यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि भक्ति का उदय दक्षिण में हुआ। चारो वैष्णव सम्प्रदायो के आचार्य प्राय दक्षिण निवासी थे और उनके पूर्व भी भक्ति की परम्परा वहा प्रचलित थी। 'भक्ति द्राविड ऊपजी'। यह उक्ति ऐतिहासिक प्रकाश में सर्वथा व्याख्यात की जा सकती है। ऐसा लगता है कि दक्षिण से भक्ति पूर्वी भारत मे गई और फिर वहा से उत्तरी भारत मे उसका विकास हुआ। हम पहले दिखा चुके है कि ठीक यही क्रम महायान बौद्ध धर्म के विकास का था[1], जो बौद्ध धर्म में प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व उत्पन्न प्रथम भक्ति-आन्दोलन था। मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को हम ठीक ही श्रुति-स्मृति, पुराण, भागवत, गीता और रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य

(१) देखिये पीछे पृष्ठ ५५६-५५७

आदि आचार्यों की परम्परा से सयुक्त करते हैं, परन्तु एक दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष भी है उसे प्राचीन भारतीय साधना से जोडने का और वह है महायान बौद्ध धर्म के साथ उसका सम्बन्ध।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति-साधना का आरोहण हुआ। सातवी और आठवी शताब्दियो में जब कि पौराणिक धर्म का पुनर्गठन हो रहा था और वर्ण-धर्म के रूप मे जाति-भेद की नीव पुन दृढ की जा रही थी, महायान के विरति और विवेक सम्वन्धी तत्त्वो को शैवो ने और मानवीय और भक्ति-सम्वन्धी तत्त्वो को वैष्णवो ने महायानी बौद्ध साधको से ग्रहण किया। इस प्रकार इन दोनो साधनाओ ने बौद्ध धर्म को आत्मसात् कर लिया। पुराणो के योगी शिव और महायान बौद्ध धर्म के ध्यानी बुद्ध में नाम-मात्र को भी अन्तर नही है। यह सम्मिश्रण या समन्वय नैपाल में सब से अधिक हुआ, जहा बौद्ध और शैव साधनाएँ दोनो साथ-साथ चल रही थी। नैपाल की इस युग की अनेक मूर्तिया ऐसी है जिनके सम्वन्ध में हम पूरी तरह निर्णय नहीं कर सकते कि वे शिव की है या बुद्ध की। इसी एकात्मता के कारण बौद्ध मठ और विहार आसानी से शैव मत के गिरि सम्प्रदाय के साधुओ के हाथ में आ गये, जिनका बौद्ध श्रमणो से नाम-मात्र का भेद था। इसी प्रकार बोध-गया का मन्दिर शैव सम्प्रदाय के हाथ मे चला गया। वही उपासक, वही उपास्य। महायान का शैव और वैष्णव रूपान्तर एक अत्यन्त अदृश्य ढग से हो गया। बारहवी शताब्दी के जयदेव ने पुराणो के आधार पर भगवान् बुद्ध की विष्णु के आठवें अवतार के रूप मे स्तुति की, बाद के वैष्णव कवियो (विशेषत तुलसीदास) ने भी उनको इसी रूप में स्वीकार किया। पता भी नहीं चला कि इतना बडा बौद्ध श्रमण-सघ कहा चला गया। वस्तुत वह गया कही नहीं, मध्ययुगीन भक्ति-साधना में अन्तर्हित हो गया। बुद्ध विष्णु रूप में समा गये। जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा की रथ-यात्रा क्या थी, वह दोनो ओर बोधिसत्त्वो से घिरे हुए बुद्ध की रथ-यात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही थी, जिसे चीनी यात्री फाह्यान् ने पाचवी शताब्दी में देखा था[1]। हम पहले देख चुके है कि किस प्रकार सातवी शताब्दी के बौद्ध भक्त-कवि शान्तिदेव ने दुखी प्राणियो के

---

(१) देखिये यदुनाथ सरकार. इण्डिया थ्रू दि एजेज, पृष्ठ ३२-३३

साथ तादात्म्य की भावना की अभिव्यक्ति की थी जो महायानी साधना की आधार-भूमि है। उसी के आधार पर वैष्णव धर्म की दरिद्र-नारायण की कल्पना का विकास हुआ। हम पहले बोधिसत्व-सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध में दिखा चुके है कि महायान ने ऐतिहासिक बुद्ध के व्यक्तित्व को उनका निर्माण-काय कहा था, जिसे वे नाना लोक-धातुओ के सत्त्वो के कल्याणार्थ धारण करते है। भगवान् विष्णु के अवतार लेने में माया का आश्रय लेकर यह लोक-कल्याण की बात ही वैष्णव साधना मे कही गई है। मायावाद और अवतारवाद के सिद्धान्त पहले बौद्ध साधना मे प्रकट हुए है, यह आश्चर्यकर लगते हुए भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। तथागत जो स्वय नि स्वभाव (निर्गुण) और धर्मता स्वरूप है, लोक के कल्याण के लिये माया-निर्मित रूप को, गौतम बुद्ध आदि अनेक बोधिसत्त्वो के रूप में, धारण करते है। इस प्रकार एक तथागत धर्म-शून्य (ब्रह्म-निर्गुण-निराकार) है और एक उनके मायाश्रित रूप, रूप-काय (सगुण) गौतम बुद्ध। यह विभेद वैष्णव भक्ति के निर्गुण-सगुण रूपों के आविर्भाव से शताब्दियो पूर्व महायान ने कर दिया था। जिस प्रकार राम एक ओर 'एक, अनीह, अरूप, अनामा, अज, सच्चिदानन्द परधामा, अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादी', है, परमार्थ-रूप, अविगत, अलख, अनादि और अनूप है, और दूसरी ओर दाशरथि भी, कौशल्या की गोद में खेलने वाले भी, रावण को मारने वाले भी, लोक-मर्यादा की स्थापना करने वाले भी। वही बात इस वर्गीकरण के शताब्दयो पूर्व तथागत के सम्बन्ध में कह दी गई थी। जैसे कबीर ने कहा था 'हम उस राम को नही मानते थे जो दशरथ के घर उत्पन्न हुआ था, जिसने धनुष् को तोडकर सीता से विवाह किया था, जिसने रावण को सताया था, आदि।' उनकी प्रसिद्ध उक्ति है भी 'दशरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना। राम-नाम का मरम है आना।' बिलकुल यही बात महायानी आचार्यों ने कही थी कि हम उस बुद्ध को नही मानते जिसने शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, जिसने तपस्या की थी, जिसने ज्ञान प्राप्त किया था, जिसने उपदेश दिया था। हमारे बुद्ध तो वे है जिनका कभी इस लोक मे आना ही नहीं हुआ, जिन्होने कभी कोई उपदेश ही नही दिया। जो आये और जिन्होने उपदेश दिया, वे तो हमारे बुद्ध के माया-निर्मित रूप है। वस्तुत बुद्ध तो धर्म-शून्य है, तथता-स्वरूप है, नि स्वभाव है, और इस लोक में जो दिखाई पडता है वह उनकी छाया-मात्र है। जगत् तथागत का प्रतिविम्ब मात्र है। इस प्रकार हम देखते है कि भक्ति की निर्गुण और सगुण दोनो कल्पनाएँ अपने पूर्ण समन्वय

के साथ तथागत के व्यक्तित्त्व में अभिव्यक्ति प्राप्त कर चुकी थी और राम और कृष्ण के अवतारवाद को लेकर इस प्रकार के समन्वय का मार्ग बाद में चलकर मध्ययुगीन भक्ति-साधना में विकसित और समृद्ध हुआ।

हम ऊपर कह चुके है कि जगन्नाथ की रथ-यात्रा का उत्सव भगवान् बुद्ध की रथ-यात्रा के उत्सव के आधार पर विकसित किया गया। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण है जिनके आधार पर हम देख सकते है कि एक अद्भुत ढग से महायानी साधना का वैष्णव रूपान्तर मध्य-युग मे हुआ। इतिहास के मनीषी विद्वान् डा० यदुनाथ सरकार ने हमें बताया है कि मध्ययुग के एक उडिया कवि ने जगन्नाथ भगवान् की स्तुति में 'दारु ब्रह्म' नामक एक कविता लिखी है। उसमें उसने जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध-रूप में स्तुति की है। इस कविता में कवि ने भगवान् जगन्नाथ को यह कहते दिखाया है, "मै बुद्धावतार हूँ। मै कलि-युग के जीवो का उद्धार करूगा[1]।" वस्तुत यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि जगन्नाथ भगवान् की मूर्ति पहले बुद्ध-मूर्ति ही थी। यही बात बदरिकाश्रम की मूर्ति के सम्बन्ध में भी कही जाती है। सारनाथ के समीप शिव की एक प्राचीन मूर्ति 'शिव सघेश्वर' (सघ के स्वामी शिव) के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी बौद्ध धर्म के शैव धर्म के रूप में अन्तर्भावित हो जाने की कहानी को गुप्त रूप से कहती है। दिल्ली के समीप एक गाव में बुद्ध की मूर्ति 'बुड्ढो माता' के नाम से पूजी जाती है। तान्त्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म बडी आसानी से हिन्दु-धर्म में समाविष्ट हो गया। यह कार्य विशेषत पूर्वी बगाल और असम मे सम्पन्न हुआ। इस पर हम अलग प्रकाश डालेगे। यहा यह कह देना आवश्यक होगा कि तान्त्रिक बौद्ध धर्म के देवी-देवताओ को पूरी तरह हिन्दु धर्म के तान्त्रिक साधको ने अपना लिया, अथवा दोनो में कुछ भेद भी था, हमारी दृष्टि से तो यह कहना भी असगत होगा। बौद्ध तान्त्रिक धर्म की तारा और शैवो की शक्ति मे कोई अन्तर नही है। जब भक्ति-धर्म का आविर्भाव हो रहा था, तान्त्रिक धर्मो की साधना का यह सम्मिश्रण बगाल और असम मे चल रहा था, जिसने अपना प्रभाव सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन पर छोडा है।

जहा तक निर्गुणवादी सन्तो की धारा का प्रश्न है, वह उत्तरकालीन बौद्ध साधना से अत्यधिक प्रभावित थी, इस सम्बन्ध में आज इतिहासकारो के दो मत नहीं है। डा० हरप्रसाद शास्त्री ने नैपाली बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में महत्त्व-

---

(१) देखिये यदुनाथ सरकार: इण्डिया थ्रू दि एजेज, पृष्ठ ३३ का पद-संकेत।

पूर्ण गवेषणाएँ की थी और उनके फलितार्थों का निर्गुण सम्प्रदाय के सन्तों की साधना के उद्गम-सम्बन्धी सिद्धान्तो पर बडा प्रभाव पडा है। लामा तारानाथ के इस कथन में सन्देह करने का कोई कारण नही है कि योगी गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। ऊपर जिन तथ्यो के विवरण हम दे चुके ` उनकी पूरी सगति में यह बात है। परन्तु फिर भी खुद कुछ विद्वानो ने लामा तारानाथ की सूचना को सही नही माना है। कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि नाथपथी सम्प्रदाय, जिसके सस्थापक मत्स्येन्द्रनाथ थे जो गोरखनाथ के गुरु थे, अपनी उपासना-पद्धति में भग्न बौद्ध धर्म के प्रभाव के साक्ष्य को लिये हुए है। कबीर नाथपथियो के विरुद्ध थे, परन्तु अपने हठयोग की भाषा के प्रयोग के लिये वे इसी साधना के लिये ऋणी है और उसके माध्यम से बौद्ध तान्त्रिक साधना के भी, जिसका स्वय उन्हे पता नही था। बगाल के न्यारा और सहजिया सम्प्रदाय, जो वैष्णव समझे जाते है, उत्तरकालीन बौद्धो के ठीक वशज है, ऐसा स्वर्गीय डा० हरप्रसाद शास्त्री का निश्चित मत है। पाल वशीय राजा जिन्होने बगाल में आठवी, नवी और दसवी शताब्दियो में शासन किया, बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और बगाल (जिला वर्दवान) में सन् १४३६ में प्रतिलिपि की हुई 'बोधिचर्यावतार' की पाण्डुलिपि का मिलना इस बात का साक्ष्य देता है वहा इस धर्म के कुछ अनुयायी उस समय तक विद्यमान थे, जैसे कि आज भी है। चैतन्य महाप्रभु ने अपनी दक्षिण-यात्रा के समय सन् १५११ में एक बौद्ध नैयायिक को परास्त किया था, अत भक्ति-युग में भी बौद्ध धर्म यद्यपि भारत में लुप्त-प्राय हो गया था, परन्तु उसका सर्वथा तिरोभाव नही हुआ था।[२] बौद्ध धर्म के एक प्रभावशाली स्वतत्र साधना-मार्ग के रूप में विद्यमान न रहते भी मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन में उसने जो हाथ बटाया है, वह अल्प महत्त्व का नही है। वैसे तो स्वय भक्ति के सम्पूर्ण आन्दोलन में महायान छिपा पडा है, यह हम कह चुके है, किन्तु स्वतत्र रूप से उसने जो दान दिया है वह भी अल्प या तुच्छ नही है। भक्ति-साधना की पूर्वभूमि तैयार करने वाले शान्तिदेव की भक्ति-भावना के सम्बन्ध में हम महायान का निर्देश करते समय कह चुके है। उन्हे हमने वस्तुत तुलसीदास का बौद्ध रूप ही कहा है। एक दूसरे बौद्ध कवि जिन्होने भक्ति-साधना का उपयोग तथागत की आराधना

---

(१) देखिये यदुनाथ सरकार · इण्डिया थ्रू दि एजेज, पृष्ठ ३९

(२) देखिये वहीं पृष्ठ ३६

के रूप मे किया है वह है तेरहवी शताब्दी के मध्य-भाग के रामचन्द्र कवि-भारती, जिन्होने बुद्ध की वन्दना-स्वरूप सौ सस्कृत छन्द लिखे है जिनका नाम है 'भक्ति-शतकम्'। रामचन्द्र कवि-भारती एक बगाली ब्राह्मण थे जिनकी बौद्ध धर्म मे दीक्षा लका मे हुई थी। भक्ति के उस युग मे जब चारो ओर राम और कृष्ण की विरुदावली गाई जा रही थी, एक भारतीय ब्राह्मण ने बौद्ध धर्म मे दीक्षित होकर भक्ति के उस समय सहज-उपलब्ध माध्यम के द्वारा तथागत की भी कुछ अर्चना कर दी, यह हमारी सस्कृति और उसके सर्वाश्लेषी रूप के लिये कुछ कम गौरव की वस्तु नही है। 'भक्ति-शतकम्'[1] कोई कम महत्त्व वाली शुष्क नैतिक रचना नही है। उसमे वही आत्म-तल्लीनता, निरभिमानिता, और आराध्य के प्रति एकनिष्ठता मिलती है, जो शान्तिदेव और तुलसीदास जैसे साधक-कवियो की विशेषता है।

भारत में उस समय बौद्ध धर्म के विद्यमान न होने से वह इस सम्बन्ध में अधिक रचनाएँ हमे न दे सका। परन्तु अन्य देशो में जहा वह अपने जीवन्त रूप में उस समय विद्यमान था उसने नाना उपासना-पद्धतियो के अपने समन्वय-कार्य को आगे बढाया और जिस प्रकार तुलसीदास ने सगुण-निर्गुण, ज्ञान-भक्ति, शैव-वैष्णव आदि के भेदो को मिटाकर साधना के अविरोध मार्ग को प्रकाशित किया, उसी प्रकार बौद्ध धर्म ने भी यह कार्य अन्य देशो मे किया। नैपाल का उदाहरण हम दे ही चुके है, जहा शैव और बौद्ध धर्म का समन्वय किया गया। तिब्बत और चीन ने विशेषत बौद्ध धर्म को तान्त्रिक रूप दिया। चीन और जापान मे ध्यान बौद्ध धर्म का विकास हुआ जो उन देशो की प्रकृति के साथ महायान का सम्बन्ध-साधन ही था। वस्तुत. दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो मे भक्ति और महायान का कल्याणकारी समन्वय-विधान सब से अधिक देखने योग्य है। हम देख चुके है कि किस प्रकार हिन्द-चीन में समन्त नामक भिक्षु के द्वारा एक मन्दिर सयुक्त रूप से बुद्ध और शिव के लिये समर्पित किया गया था और उसका समर्पण-वाक्य था 'जिनशकरयो'। हिन्द-चीन के बारहवी शताब्दी के एक अभिलेख मे बोधि-द्रुम की स्तुति इन महत्त्वपूर्ण शब्दो मे की गई है, 'हे महाभाग सनातन वृक्ष! ब्रह्मा तेरी जड है, शिव

---

(१) यह प्रसन्नता की बात है कि पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने इस भक्ति-रस-पूरित रचना का हिन्दी अनुवाद किया है, जिसे मूल-सहित महाबोधि सभा, सारनाथ ने प्रकाशित किया है।

कठिन है । कबीर का ज्ञान अथाह है । सचमुच हम कह सकते है 'कोरी को कोउ मरमु न जाना' । कबीर ने अनेक साधनाओ को स्वीकार किया है और वे स्वय उन सब से ऊपर है । चूकि कबीर इस हद तक मौलिक है, इसीलिये वस्तुतः बुद्ध और बौद्ध धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का भी प्रश्न उठता है ।

कबीर ने अपने जीवन का लक्ष्य बताते हुए कहा है, 'हम समर्थ का परवाना लाये है और हस को उबारने आये है' । 'समरथ का परवाना लाये हस उबारन आये' । समर्थ के परवाने लाने की बात यदि हम छोड दें तो मानव-आत्मा की विमुक्ति का सन्देश लाने वालो में कबीर बुद्ध के साथी है। भक्त नाभादास ने कबीर के जीवन-कार्य का मूल्याकन करते हुए सुन्दर शब्दो में कहा है, "कबीर ने वर्णाश्रम धर्म और षड्दर्शनो की मर्यादा नही रक्खी । उसके वचनो में पक्षपात नही था । उसने सब के हित की बात कही । उसने जगत् को अभिभूत कर किसी के मुख को देखकर बात नही कही ।"

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट् दर्शनी ।
पक्षपात नहि वचन सबन के हित की भाषी ।
आरूढ़ दसा ह्वै जगत् पर मुख देखी,नाहिन भनी ।

उपर्युक्त शब्द भगवान् बुद्ध पर कबीर से भी अधिक लागू है, यह बताने की आवश्यकता नही । कबीर और बुद्ध के युग के व्यवधान को देखते हुए और समाज में बुद्ध (क्षत्रिय राजकुमार) और कबीर (जुलाहे) की स्थिति को भी ध्यान में रखते हुए जाति-भेद का जो प्रतिवाद भगवान् बुद्ध ने किया था और चातुर्वर्ण्य शुद्धि का जो सन्देश उन्होने सुनाया था, उसकी महत्ता का पूरा अनुमान हम नही लगा सकते । बुद्ध भुक्तभोगी नही थे, फिर भी उन कारुणिक शास्ता ने ब्राह्मणो के जातिगत अभिमान के लिये उन्हे फटकारते हुए कहा था कि ब्राह्मणो की स्त्रिया भी अन्य स्त्रियो के समान ऋतुमती और गर्भवती होती हैं, जनन करती है, दूध पिलाती है और जैसे अन्य पुरुष स्त्रियो के गर्भ से उत्पन्न होते है वैसे ही ब्राह्मण होते है, फिर वे कैसे दावा करते है कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए है, वे ही श्रेष्ठ है, अन्य नही[1] । शास्ता के इसी उपदेश को लेते हुए वज्रयानी सिद्ध सरहपा (सरोरुहपाद) ने कहा था, "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए थे । जब हुए होगे तब हुए होगे । इस समय तो वे भी वैसे ही पेट मे पैदा होते है जैसे दूसरे लोग ' अपमान की चोट खाते हुए कबीर ने इसे इस प्रकार रक्खा था

(१) देखिये अस्सलायण-सुत्तन्त (मज्झिम २।५।३)

"तुम कैसे ब्राह्मण और हम कैसे शूद्र ?
क्या हममें लोहू है और तुम में दूध ?"
"तुम कत बाह्मन हम कत सूद ?
हम कत लोहू तुम कत दूध ?"

मानव की आधारभूत एकता की याद दिलाकर वे कहते है

'एकै बूंद, एक मल-मूतर।
एक चाम इक गूदा।
एक जोति ते सब उत्पन्ना।
को बाह्मन को सूदा॥

बिलकुल बुद्ध और सरोरुहपाद के तर्क का अनुसरण करते हुए कहते हैं :

जो तुम बाह्मन बमनी जाये,
अवर राह ते काहे न आये ?
कारी पियरी दूहउ गाई,
तिनकर दूध देहु बिलगाई!
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र कै माही

अन्यत्र भी,

नादे-बिन्दे रुधिर के संगे,
घट ही मँह घट सपचै,
अष्ट कमल दोउ पदुमी आया,
छूत कहा तें उपजी ?

जाति-भेद के सम्बन्ध में कबीर और बुद्ध के विचारो में इतना साम्य है कि कही-कही शब्द बिलकुल अनायास और स्वाभाविक रूप से एक हो गये है। कबीर साहब ने कहा है 'जाति न पूछो साधु की पूछि लीजिये ज्ञान'। यह इस बुद्ध वचन के बिल्कुल समान है, 'जाति मा पुच्छि, चरण च पुच्छि'। इसका अर्थ है 'जाति मत पूछो, आचरण पूछो'। कर्म से मनुष्य ऊँचा या नीचा होता है, जाति या वर्ण से नही, यह बुद्ध के समान कबीर का भी आधारभूत सन्देश था। बुद्ध ने ब्राह्मण के लक्षणो के सम्बन्ध मे जो कहा था वही कबीर ने 'सो ब्राह्मण जो ब्रह्म विचारै' के रूप में कहा है।

कबीर के समतावाद और जाति-भेद-विरोध को हम श्रौत-परम्परा से लिया हुआ न मानकर बौद्ध परम्परा से लिया हुआ मानते है, इसका एक आधारभूत कारण है। श्रौत-परम्परा के साधको ने केवल व्यक्तिगत साधना

में समदृष्टि के महत्त्व को स्वीकार किया है, उसका अभ्यास भी किया है, परन्तु समाज-व्यवस्था में वे समचर्या के पक्षपाती कभी नही रहे। स्वय गीता का दर्शन चातुर्वर्ण्य की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित है। 'पण्डिता समदर्शिन' की व्याख्या वहा चातुर्वर्ण्य की बाधक नही है। इस प्रकार अभेद की पूर्ण निष्ठा श्रौत परम्परा में कभी नही आ सकी। वहा अधिक-से-अधिक समदृष्टि ही रही, समचर्या कभी नही, जो श्रमणता का दूसरा नाम है। तुलसीदास तो परम कारुणिक थे, सब जगत् को रामसीयमय जानकर प्रणाम करते थे, परन्तु समाज-व्यवस्था का प्रश्न आने पर, सामाजिक नीति की मर्यादा का उल्लघन उन्हें पसन्द न था। इसीलिये वे कह सके थे 'पूजिय विप्र सकल गुणहीना। नाहि शूद्र गुण गणहि प्रवीना'। तुलसीदास तो फिर भी स्मार्त वैष्णव थे, महाराष्ट्र-सन्त ज्ञानेश्वर को ही ले लीजिये। वे तो आत्मज्ञानियो में श्रेष्ठ थे, सब प्राणियो में समत्व की भावना करने वाले थे और उन्ही का यह कहना है, 'मान लो कि किसी शूद्र के यहा अच्छे-अच्छे पकवान तैयार हुए है। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यो न हो, फिर तुम्ही बतलाओ। कि क्या कभी उस ब्राह्मण को वे पकवान खाने चाहिये[1]"। इससे हम भली प्रकार समझ सकते है कि वेदान्तियो और भक्तो की समचर्या का क्या स्वरूप है और कबीर की भावनाओ का उससे क्या भेद है। बुद्ध और सरोरुहपाद के उद्धरणो को दे देने के बाद निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता नही रहती कि कबीर के इन सम्बन्धी विचारो का स्रोत क्या है।

सहजयानी सिद्धो की मान्यताओ में गुरु विश्वास पर जोर देना, गुरु को भगवान् से भी बडा मानना भी एक विशेष बात थी। कहने की आवश्यकता नही कि कबीर ने इसे पूरी तरह स्वीकार किया है। उनका प्रयुक्त 'सतगुरु' शब्द उस समय वज्रयानी सिद्धो और नाथपथी साधुओ में समान रूप से व्यवहृत होता था। कबीर ने भगवान् का सर्वोत्तम नाम 'सत नाम' या 'सत्तनाम' कहा है उपनिषदो में सत्य के द्वारा ईश्वर का वर्णन तो किया गया है और गीता में भी[2]। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' में 'सन्त' शब्द पर विचार करते हुए इन उद्धरणो मे से कुछ को दिया है[3]। वस्तुत सत्य

(१) गीता ३।३५ की व्याख्या में, ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ ७५ (रामचन्द्र वर्मा का अनुवाद)

(२) देखिये पीछे पृष्ठ १४-१५

(३) देखिये उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृष्ठ ३-८

का ब्रह्म या ईश्वर के साथ एकाकार तो श्रौत परम्परा के साहित्य में अनेक बार किया गया है, परन्तु स्पष्टत 'सत्यनाम' शब्द ईश्वर या ब्रह्म के लिये व्यवहृत प्राचीन साहित्य में नही किया गया है। हम जानते है कि अगुत्तर-निकाय में बुद्ध को 'सच्चनाम' (सत्यनाम—सत्तनाम) कहा गया है[1]। हमारा दृढ विश्वास है कि सन्त-साधना का 'सत्तनाम' पालि 'सच्चनाम' ही है, जो तथागत का एक नाम है। इसी प्रकार कबीर द्वारा बाहुल्य से प्रयुक्त 'सुरति-निरति' शब्दो की अनेक व्याख्यायें आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एव अन्य सन्त साहित्य के अधिकारी विद्वानो के द्वारा की गई है। इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन यह है कि कबीर की 'सुरति' को बौद्ध साधना की 'स्मृति' से मिलाना चाहिये। 'स्मृति' का निरूपण करते समय इस सम्बन्ध में हम पहले भी कुछ कह चुके है। कबीर की 'निरति' तो वस्तुत. 'विरति' ही है। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन यहा सम्भव नही है।

कबीर की उलटबासियो पर सिद्ध ढेण्डणपाद की उलटबासियो की पूरी झलक है, इसका सकेत हम पहले कर चुके है। यहा कुछ उदाहरण देना आवश्यक होगा

ढेण्डणपाद की उलटबासिया	कबीर की उलटबासिया
बदल बिआएल गविया बाँझे	बैल बियाना गैया बाझ
निते निते षिआला सिंह षम जूझे	नित-नित स्यार सिंह सों जूझै

इस प्रकार अन्य अनेक उलटबासियो की समता दिखाई जा सकती है। वस्तुत सहजयानी बौद्ध इस प्रकार की उलटबासियो का प्रयोग अधिकता से किया करते थे और कबीर ने इन्हें उन्ही की परम्परा से सुनकर रुचि पूर्वक प्रयोग किया था। सहजयान के सहज-मत का परिष्कार भी कबीर ने किया था। कबीर साहब कहते थे 'सहज समाधि भली' और सहज से उनका तात्पर्य था सहज में ही इन्द्रियो पर वशित्व प्राप्त कर लेना। उनका कहना था—

सहज सहज सब कोइ कहै सहज न बूझै कोइ।
सहजै जिन विषया तजी सहज कहीजै सोइ॥

सरोरुहपाद और कबीर की वाणियो में अनेक साम्य है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

---

(१) अगुत्तर-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ३४६; जिल्द चौथी, पृष्ठ २८९ (पालि टेक्स्ट् सोसायटी का संस्करण।)

सरोरुहपाद—जहि मन पवन न सचरह रवि शशि नाइ पवेश।
तहि बट चित्त विशाम करु, सरुहे कहिय उवेश॥
कबीर—जिहि वन सीह न सचरै, पखि उडै नहि जाय।
रैनि दिवस का गम-नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ॥

कबीर ने 'शून्य' शब्द का बहुल प्रयोग किया है, उन्होने शून्य मे समाधि लगाई है। 'गगन-गुफा' से उठने वाला 'असमानी सबद' शून्य ही है। सहस्रार चक्र को उन्होने शून्यचक्र से मिलाया है। ऐसा लगता है कि कबीर ने अलख निरजन और और शून्य तत्त्व को मिला दिया है। इस प्रकार कबीर ने निर्गुण-वादी वेदान्त और शून्यवादी बौद्धमत का हमें समन्वय ही दिया है जब कि उन्होने कहा है, 'कह कबीर जहँ बसहु निरजन तहँ किछु आह कि सून्य'। ब्रह्मवाद और शून्यवाद की परिणति अनिर्वचनीयता मे ही है, यह इस पद की स्पष्ट ध्वनि है।

हठयोग के वर्णन में कबीर ने शरीर में सूर्य, चन्द्र, गगा, यमुना, सरस्वती की स्थापना की है। सूर्य जब चन्द्र से मिल जाता है, तब अमृत की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की सब भाषा और हठयोग सम्बन्धी सब विचार उन्होने बौद्ध योगियो से लिये है। इसी प्रकार कबीर अपने अनेक रहस्यवादी प्रतीको के लिये भी अपने पूर्ववर्ती बौद्ध सिद्धो के ऋणी है। इस विषय का अधिक निरूपण करना हमारे लिये अनावश्यक होगा क्योकि हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वान् इसका निरूपण कर चुके है। इस प्रकार हम देखते है कि कबीर के उपदेशो मे अनेक बाते ऐसी है जिनकी अद्भुत समता बुद्ध के विचारो से है और कबीर के विचारो और उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूपो की इसी प्रकार अनेको बातें ऐसी है जो उन्होने बौद्ध धर्म के अन्तिम अवशिष्ट स्वरूप चौरासी बौद्ध सिद्धो और नाथपथियो से ली है। कहने की आवशयकता नही कि नाथपथियो के अनेक गुरु बौद्ध चौरासी सिद्धो में से ही थे।

अब हम उत्तरी भारत के सगुण भक्तो, पूर्वी भारत के प्रेमरूपा भक्ति के उपासको और महाराष्ट्र सन्तो की ओर मुडते है। तुलसीदास ने भक्ति का स्वरूप रखते हुए कहा है 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ सयुत विरति विवेक'। 'सयुत विरति विवेक' मे उन्होने साधु-मत या सन्त-साधना को अवकाश दिया है, श्री डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के इस मत से हम सहमत है[1]। इतना जोड देना आवश्यक होगा कि विरति और विवेक ही बुद्ध और बौद्ध धर्म के मुख्य

(१) देखिये उनके 'तुलसी-दर्शन' में तुलसीदास के भक्ति-मार्ग का विवेचन।

सन्देश है, और श्रमण-धर्म का अनुवाद ही साधुमत है। तुलसीदास की भक्ति नैतिक अधिष्ठान है, इसलिये वह बौद्ध साधना को मान्य है। तुलसीदास जैसे वेद-भक्त कवि ने देवताओं की निन्दा की है, इन्द्र को ईर्ष्यालु बताया है, उसकी उपमा कुत्ते से दी है। बौद्ध धर्म के अदृश्य किन्तु निश्चित प्रभाव का इसे साक्ष्य माना जा सकता है। महाराष्ट्र के भक्त कवियो की यह एक विशेषता है कि कृष्ण के माधुर्यमय जीवन को लेकर भी उन्होंने समाज-नीति का बहुत अधिक ध्यान रक्खा है और उनके वर्णन ऐकान्तिक भावना में इतने दूर नही चले गये है जितने सूर के या अन्य कृष्णोपासक कवियो के। भक्ति अन्तत एक राग ही है। सूरदास ने अन्त समय कहा था 'खजन नैन रूप रस माते'। भगवान् बुद्ध का कोई उपासक इस प्रकार की बात उनके सम्बन्ध में नही कह सकेगा, यद्यपि बुद्ध में भी अनन्त सौन्दर्य है। भक्ति में रूप की आसक्ति कुछ न कुछ चाहिये, बौद्ध साधना पूर्णत अनासक्तिवाद है। बुद्ध के रूप-काय में हम रस-मत्त नही हो सकते, जैसे कि कृष्ण या राम के पद-पकजो में। जब हम तात्त्विक दृष्टि से बौद्ध विचार और भक्ति-दर्शन का कुछ तुलनात्मक अध्ययन करेगे।

मूल बुद्ध-दर्शन और भक्ति साधना-तत्व का पारस्परिक विचार करते समय सब से पहले यही प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन मुख्य है, प्रतिपद् या
प्रपत्ति ? वास्तव में इस सप्रश्न के हल में
बुद्ध 'प्रतिपद्' (मार्ग) पर बुद्ध के विचार और भक्ति की भावना के
जोर देते हैं, जब कि भक्ति पारस्परिक सम्बन्ध का सारा तत्व निहित
'प्रपत्ति' (शरणागति) से है। सामान्यत ऐसा कहा जा सकता है
अधिक आश्वासन ग्रहण कि बुद्ध-दर्शन में भक्ति का अभाव है।
करती है भक्ति का प्रधान तत्व है शरणागति, पूर्ण
आत्म-विस्मृति और अपने उपास्य देव में
अनन्य निष्ठा। भक्ति दर्शन का उदय चाहे किसी भी रूप मे और किसी भी देश में हो, यह भावना निश्चय ही वहा सब से अधिक बलवती मिलेगी। अनन्य भाव से उपास्य देव के प्रति शरणागति होनी ही चाहिए। इसी को 'प्रपत्ति' कहा जाता है वैष्णव दर्शन मे। क्या दक्षिण के वेदान्ती भक्त, क्या बगदेश के 'प्रेमा' भक्ति में डूबे हुए वैष्णव साधक, क्या निर्गुण में समाधि लगाने वाले उत्तर भारत के सन्त अथवा क्या 'राम चरण रस मत्त' सगुणोपासक भक्त, सभी अनन्य भाव से प्रभु की भक्ति का उपदेश देते है और उसे एकमात्र शान्ति का उपाय समझते है। इतना

व्यापक यह तत्व ह कि इसके उदाहरण न तो वैष्णव-दर्शनो में से ही और न भक्त-कवियो मे से ही यहा देने की आवश्यकता है। सभी एक आवाज़ से अपनी निर्बलता और दीनता को प्रख्यापित करते हुए जैसे तुलसीदास को अपना प्रतिनिधि वनाकर प्रभु से पुकारते है 'विष पियूष सम करहु अगिनि हिम तारि सकहु विनु वेरे। तुम सम और दयालु कृपानिधि पुनि न पाइहो हेरे'। भगवान् की कृपा के विना भक्त का कोई दूसरा सहारा नही है। परन्तु बुद्ध का विचार तो सर्वथा मनुष्य के वीर्य और 'प्रधान' (प्रयत्न) पर ही आश्रित है और उसमें तो मनुष्य का थकित हृदय सिवाय अपने साधन के और शास्ता के उदाहरण के और किसी बात में आश्वासन नही ले सकता। वावरि के सोलह शिष्यो में से उपसीव नामक ब्राह्मण ने जब भगवान् से पूछा था 'हे शक्र! मै अकेले महान् ओघ (ससार-प्रवाह) को निराश्रित हो पार करने की हिम्मत नही रखता। हे समन्त चक्षु! आलम्वन बतलाओ जिसका आश्रय ले मै इस ओघ (भव) को तरूँ'। तो भगवान् का केवल यही उत्तर था 'आकिंचन्य को देख, स्मृतिमान् हो, 'कुछ नही है' को आलम्वन वना कर ओघ पार करो। कामो को छोड, कथाओ से विरत हो, रात दिन तृष्णा-क्षय को देखो'[१]। भक्ति-भावनामय प्राणियो को यहा आश्वासन की गुजायश नही है। फिर जव भिक्षु भगवान् से प्रव्रज्या पाता है, तो उसके योगक्षेम का भार वहाँ वुद्ध 'अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' कह कर अथवा 'तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात्' ऐसा उद्घोष कर या फिर 'तुलसीदास मेरो' ऐसा ही कह कर नही लेते, किन्तु उन कारुणिक शास्ता का कुछ क्रम ही और है 'आ भिक्षु! यह धर्म सु-आख्यात है, अच्छी प्रकार दुःख का क्षय करने के लिए तू ब्रह्मचर्य का आचरण कर'। इस प्रकार भगवान् वुद्ध कहते है। तथागत किसी की जिम्मेवारी अपने ऊपर नही लेते, किन्तु पवित्र जीवनपर्यन्त वे जामिन अवश्य वनते है। उनको अपना शास्ता स्वीकार करने का तात्पर्य यह नही है कि तथागत किसी के परित्राता वन जाते हैं, प्रत्युत वुद्ध तो केवल मार्ग के दिखाने वाले हैं और मार्ग तो स्वय भिक्षु को ही चलना होगा। उनके मार्ग में तो कर्म ही केवल अपना है और 'अत्तदीप' होने का ही तथागत का सर्वोत्तम उपदेश है। 'जो कुछ भी वीर्य के द्वारा प्राप्तव्य है, उसे प्राप्त किए विना

---

(१) देखिए सुत्त निपात—उपसीवमाणव पुच्छा।

मेरा वीर्य न रुकेगा 'ऐसा सकल्पवान् व्यक्ति ही वुद्ध के विचार में आश्वासन प्राप्त कर सकता हैं। यही वुद्ध के दर्शन का भक्ति के तत्त्व से महान् विभेद है। भक्त अपने वल मे विश्वास नही कर सकता, यद्यपि वह नित्य प्रयत्न-शील रहता है, वह जानता है कि विषय-वासनाएँ वुरी हैं और उन्हे जीतने के लिए निरन्तर प्रयत्न भी करता है, किन्तु 'हौ हारयौ करि जतन विविध विधि' की विवशता अन्त मे आ ही जाती है। इसीलिए भक्त कह उठता है 'जानत हूँ अनुराग तहा अति सो हरि तुम्हरे प्रेरे। तुलसिदास यह विपति वागुरो तुम्हहिं सो वनै निवेरे'। गीतोक्त भगवान् कृष्ण की वाणी कि माया का तरना अत्यन्त कठिन होने पर भी भगवान् की अनन्य शरणागति से सरल हो जाता है[1], इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। कहने का तात्पर्य यह है कि पवित्रता के मार्ग पर तो चलने के वुद्ध दर्शन और भक्ति दर्शन दोनो ही इच्छुक है, किन्तु वुद्ध की वीर्यवती वाणी जव कि पुरुपार्थ को प्रधान वस्तु मानती है तो भक्ति की विकलतामयी वाणी उसकी अपर्याप्तता स्वीकार कर भगवत्कृपा भी चाहने वाली होती है। एक आवाज यदि विशुद्ध ज्ञान और पुरुपार्थ की है तो दूसरी अशक्तता और भावना की भी। निर्वल मानवता को कदाचित् दूसरी ही अधिक आकर्पक और आश्वासनकारी मालूम होती है। इसी मे भक्ति और महायान धर्म बौद्ध धर्म की सफलता का सारा रहस्य छिपा है, किन्तु स्थविरवाद की उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारण ही वह भी सभी युगों में वेदान्त दर्शन के साथ ही अधिक विचारशील लोगो के मनन का विषय हुआ है। इस प्रकार वुद्ध-दर्शन और भक्ति दर्शन के सम्वन्ध के समग्र प्रश्न को हमने इस वात मे देखा कि जव कि वुद्ध की वाणी का समग्र जोर 'प्रतिपद्' अथवा मार्ग पर चलने में ही है, भक्ति उसकी सुगमता के लिए भग-वत्कृपा की भी काक्षिणी होती है। यदि भगवत्कृपा कोई वास्तविक और नियमित वस्तु है तो वह 'प्रधान' करने वाले को अवश्य स्वत मिल ही

---

(१) दैवी ह्येपा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते॥
मिलाइये वहीं 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्', 'अनित्यमसुखं . . . भजस्व माम्', 'शृणु मे परम वच—मन्मना भव मद्भक्तो' 'मामेकं शरणं व्रज', 'अनन्येनैव योगेन.......तेपामहं समुद्धर्ता' 'मय्येव मन आधत्स्व' 'भक्तिरव्यभिचारिणी', 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन' आदि, आदि।

रहस्यात्मक तत्व नही। कुछ भी हो, बौद्ध साधना का भी आरम्भ शरणागति से ही है, ऐसा कहा जा सकता है। आचार्य बुद्धघोष ने एक जगह कहा है कि आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ की सूचना देने वाली शरणागति ही है। शरणागति आध्यात्मिक जीवन के उदय का लक्षण है। यह एक महान् आध्यात्मिक सत्य है जिसकी सिद्धि भक्ति-दर्शन के समान स्थविरवाद बौद्ध धर्म में भी हुई है। हम पहले देख चुके है कि श्रद्धा की कितनी महिमा बौद्ध धर्म के आदिम स्वरूप में स्वीकृत है और श्रद्धा की विकसित अवस्था को ही आचार्य बुद्धघोष ने 'भक्ति' (भत्ति) कहा है। फिर गुरु-भक्ति के रूप में तो भक्ति बुद्ध के प्राथमिक शिष्यो में भी विद्यमान थी। भगवान् के परम अग्रणी शिष्य सारिपुत्र का उनके प्रति उद्गार है 'मार सेना को दमन करने वाले बुद्ध, एक ही के प्रति श्रद्धा रखना, एक ही की शरण जाना, एक ही को प्रणाम करना, भवसागर से तार सकता है'[1]। इस एक वाक्य में अनन्य भक्ति के समग्र तत्व हमारी समझ से उपस्थित है। फिर शास्ता के इन्ही परम ज्ञानी शिष्य ने अपने शास्ता के प्रति जो उद्गार अपने परिनिर्वाण के लिए उनसे अन्तिम विदाई लेते समय किये, उनमें ही भक्ति-तत्व का क्या कम परिपाक हुआ है। स्थविर (सारिपुत्र) ने रक्तवर्ण हाथो को फैलाकर शास्ता के चरणो को पकड कर कहा 'भन्ते ! इन चरणो की वन्दना के लिए सौ हजार कल्पो से भी अधिक काल तक मैंने असख्य पारमिताएँ पूरी कीं। वह मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया। अब आपके साथ फिर जन्म ले एक स्थान में एकत्रित होना नही है। अब यह विश्वास छिन्न हो चुका। अनेक शत सहस्र बुद्धो के प्रवेश-स्थान अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय, निर्वाण पुर जाऊँगा। यदि मेरा कोई कायिक या वाचिक कर्म भगवान् को न रुचा हो तो भगवान् क्षमा करें। मेरा जाने का समय है'[2]। इसी प्रकार आनन्द के भी कई उद्गार स्मरणीय है[3]। बीमार भिक्षु वक्कलि तो अपने साथी भिक्षु के द्वारा कहे हुए बुद्ध-वचनो को भी चारपाई पर लेटे हुए नही सुन सकता था। 'मेरे लिये यह उचित नही कि मै चारपाई

---

(१) मिलिन्द प्रश्न में सारिपुत्र-वचन के रूप में उद्धृत, देखिए भिक्षु जगदीश काश्यप का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २९६

(२) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१३

(३) उदाहरणत. उन्होंने परिनिर्वाण के समय कहा 'मैंने परम श्रद्धा के साथ बुद्ध की सेवा की है ... अब मैंने जीवन के विशाल भार को फेंक दिया है"।

पर लेटे शास्ता के वचनो को सुनू ।' धरती पर अपने को उतरवा कर उसने बुद्ध वचनो को सुना । इससे सिद्ध है कि व्यावहारिक रूप में बुद्ध के शिष्य अपने शास्ता को उपास्य दृष्टि से ही देखते थे और यह प्रवृत्ति भिक्षु नागसेन के समय तक तो इतनी पहुँची कि मिलिन्दप्रश्न के स्थविरवाद-परम्परा के ही ग्रन्थ होने पर भी उसमें बुद्ध की पूजा और भक्ति जैसी बहुत सी बातें कही गई हैं[1] । महायान के भक्ति तत्व को निश्चय ही इन से बहुत प्रेरणा मिली होगी । यही बुद्ध के विचार का भक्ति तत्त्व से सक्षिप्त सम्बन्ध-निरूपण है ।

महायान दर्शन और भक्ति तत्त्व

महायान धर्म में भक्ति तत्त्व का किस गूढ रूप से समावेश हो गया, यह हम पहले देख चुके हैं। हमने यह भी पहले देखा है कि बोधिसत्वो आदि की पूजा और भगवान् बुद्ध को जगत् के त्राता और पिता समझने की प्रवृत्ति किस प्रकार बौद्ध धर्म में समा गई और मूलत. विशुद्ध नैतिकवाद पर प्रतिष्ठित बौद्ध धर्म कालान्तर मे एक भक्तिमय स्वरूप प्राप्त कर गया । इन सब बातो का विवेचन हम चतुर्थ प्रकरण मे चुके कर है[2] । यहा इतना कह देना और आवश्यक होगा कि बौद्ध धर्म मे भक्ति के विकास के पूर्वरूप में प्रतिपद् और प्रपत्ति की भावना में समन्वय था, या प्रतिपद् का स्थान कुछ ऊँचा था। इस स्थिति का प्रतीक अश्वघोष का युग है । सौन्दरनन्द में भगवान् बुद्ध नन्द से कहते है, "अभ्यर्थन मे न तथा प्रणामो धर्मे

---

(१) देखिए मिलिन्द प्रश्न, एक तरफ तो महास्थविर नागसेन यह कहते है, 'परिनिब्बुतो महाराज भगवा, न च भगवा पूज सादियति, बोधिमूले येव तथागतस्स सादियना पहीना, किं पन अनुपादिसेसाय निब्बान धातुया परिनिब्बुतस्स' तो दूसरी ओर ही अविरुद्ध भाव से कहने लगते हैं 'न च भगवा पूजं सादियति असादियन्तस्सेव तथागतस्स ञाणरतनारम्मणेन सम्मापटिपत्ति सेवन्ता तिस्सो सम्पत्तियो पटिलभन्ति ......इमिना पि महाराज कारणेन तथागतस्स परिनिब्बुतस्स असादियन्तस्सेव कतो अधिकारो अवञ्झो भवति सफलो', मेण्डक पञ्हो, पृष्ठ १०० (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)। लोकधर्म की भावना को इस प्रकार उत्साह देना ही भक्ति की जडो को प्रकट करना है ।

(२) देखिये पीछे महायान धर्म का विवेचन ।

यथैषा प्रतिपत्तिरेव'[1] अर्थात् मुझे प्रणाम करना मेरा वैसा सम्मान नही है, जैसा कि धर्म का आचरण करना। बाद में बुद्ध की शरणागति प्रधान हो गई और धर्माभ्यास गौण। 'सुखावती-व्यूह' की यही परिस्थिति है। मध्ययुगीन भक्ति से प्राय इसी अवस्था की अधिक समानता है। अब हम सग्राहक रूप से भक्ति-दर्शन और बौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्वन्ध पर आते हैं।

संग्राहक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन और भक्ति दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध—तत्त्व-मीमासा के क्षेत्र में—प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में—आचार-मीमांसा के क्षेत्र में—

भक्ति-दर्शन भी एक मार्ग है जिस प्रकार कि मूलत बुद्ध-दर्शन था। दोनो ही तत्वमीमासा से विशेष सम्बन्ध नही रखते, इसी अर्थ में कि मार्ग उनके लिए प्रधान है। किन्तु यहा एक अन्तर भी है। भक्ति केवल करुणा पर आश्रित है, और बुद्ध में करुणा और बुद्ध दोनो है, बल्कि यो कहना चाहिए कि करुणा से बुद्धि ही कुछ अधिक है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी कहते है 'को जानै को जइहै सुरपुर को तुलसिहि बडो भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को' उसी प्रकार बुद्ध भी साधना के फल को कालान्तर की चीज नही मानते। इस जीवन में भक्तगण इतने 'रामचरणरसमत्त' रहे कि उन्होने पाई हुई मुक्ति का भी निरादर किया। 'धरम न अरथ न काम रुचि पद न चहहुँ निरवान। जनम जनम रति रामपद यह वरदान न आन' ऐसा गोस्वामी तुलसीदास जी ने गाया और महाराष्ट्र में भी सन्त तुकाराम ने योग और मोक्ष को पैरतले पडी हुई चीजें वतलाया। ये सब बातें बताती है कि भक्तो ने इसी जीवन में उस आनन्द को पाया था जिससे परम और कुछ नही है। इसी अत्यन्त सुख रूप निब्वाण को इसी जीवन में साक्षात्कार कर भिक्षु साधक कह सकते थे 'सुसुख वत जीवाम।' हम सुख से जी रहे है। भक्तो ने तत्व मीमासा नही की। वे प्राय वैष्णव आचार्यों के ही तत्त्ववाद पर अपनी प्रतिष्ठा रखते रहे। अत बौद्ध दर्शन की तरह स्वतन्त्र विचार का वीज उनमें कभी नही उग सका। हा कवीरदास जी इसके एक बडे जवरदस्त अपवाद हैं। 'अपनी राह तू चले कवीरा' ऐसा गम्भीर निनाद वही एक व्यक्ति थे जो मध्ययुगीन भारत में कर सकते थे। जातिगत और वशगत श्रेष्ठता के

---

(१) सौन्दरनन्द १८।२२

विचारो को सव से पहले इन्ही महात्मा ने मध्ययुगीन भारत में विश्वसित किया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, कवीर ने जव सृष्टि के आदि कारण का चिन्तन करते हुए यह कहा था 'कह कवीर जहँ वसहु निरजन तहँ किछु आह कि सून्य' तो उन्होने वौद्धो के शून्य और वेदान्त के निर्गुण निर्विकार—जो सन्तो का 'निरजन' है—के वीच मध्यस्थता कर दी थी। 'तहँ किछु आह कि सून्यम्' का उत्तर नासदीय सूक्त के ऋषि से लेकर नागार्जुन, शकर, श्रीहर्ष और सैकडो अन्य मनीषियो की वुद्धिया भी आज तक नही दे सकी है। इसी शून्य में स्नान कर कवीर साहव शीतल हुए थे। 'तपन गई सीतल भया, जव सुन्नि किया असनान।'[1] इतना जवरदस्त प्रभाव मध्ययुगीन साधना पर शून्यवाद का उपलक्षित होता है कि महान् मुसलमान सावक मलिक मुहम्मद जायसी भी विना गाए नही रहे। 'इहै जव तकै पुन्न, यह जप तप सव सावना। जानि परै जव सुन्न मुहमद सोई सिद्ध भा। भा भल सोह सो सुन्नहि जानै। सुन्नहि ते सव जग पहचानै। सुन्नहि तै है सुन्न उपाती। सुन्नहि ते उपजहि वहु भाती। सुन्नहि माह इन्द्र वरम्हण्डा। सुन्नहि ते टीके नवखण्डा। सुन्नहि ते उपजे सव कोई। पुनि वुलाइ सव सुन्नहि होई। सुन्नहि सात सरग उपराही। सुन्नहि सातो धरति तराही। सुन्नहि ठाठ लाग सव एका। जीवहि लाग पिण्ड सगरे का। सुन्नम सुन्नम सव उतराही। सुन्नहि मँह सव रहे समाई'। इतना ही नही, परम तत्त्व को वे 'गुपुत तें, गुपुत सुन्न तें सुन्नू' भी कहते है और फिर शून्य और ब्रह्म अथवा आत्म-स्वरूप का वह समन्वय करते है जिसको आज तक कोई भारतीय दार्शनिक नही कर सका है 'हुता जो सुन्नम सुन्न नावँ ठावँ ना सुर सवद। तहा पाप नहिं पुन्न मुहमद आपुहि आपु आपु महँ'। निश्चय ही यहा नागार्जुन (शून्यवाद) और शकर (ब्रह्मवाद) दोनो के ही अद्वितीय समन्वय को इस सूफी सावक ने हमें दिया है।

जिस प्रकार तत्त्व-मीमासा के क्षेत्र की ओर भक्तो ने विशेष ध्यान नही दिया, उसी प्रकार प्रमाण-मीमासा की भी उन्होने कोई चिन्ता नही की। वेद के प्रामाण्य को तो प्राय सव ने स्वीकार किया ही। 'श्रुति सम्मत हरि भगति पथ' गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा, दक्षिण मे समर्थ रामदास ने भी अपने 'दासवोध' में वेद-भक्ति की शपथ ली, और तो और जायसी भी तो इस पर-

---

(१) मिलाइये अन्यत्र भी—'हद्द छोंडि वेहद गया किया सुन्नि असनान', 'सहज सुन्न में रहै समाना।

म्परा से विरहित नही हो सके। 'वेद पन्थ जो नहिं चलहिं ते भूलहिं वन माझ। झूठ बोल थिर रहै न राचा। पण्डित सोइ वेद मत साचा।। वेद वचन मुख साच जो कहा। सो जुग जुग अहिथिर होइ रहा'। बगीय वैष्णव भक्त तो इससे भी आगे बढ गए। उन्होने न केवल वेद को ही प्रमाण माना, किन्तु श्रीमद्भागवत पुराण को भी सर्वशास्त्रचक्रवर्तित्व का स्वरूप दे दिया। 'भक्ति-सन्दर्भ' में तो 'मदीयलीलाशून्य वैदिकमपि वाच नाम्यसेत्' इसका भी प्रतिपादन किया गया और श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने 'सक्षेप भागवतामृत' में मुक्तिविस्तार करते हुए 'प्रधानत्वात् प्रमाणेषु शब्द एव प्रमाण्यते' यह भी कहा जो बौद्ध विचार की परम्परा के किसी भी स्तर से कोई मेल नही खा सकता। यह दिशा बिलकुल बौद्ध विचार से विपरीत चली गई है। चूकि मनीषी आचार्यों की भक्ति की सिद्धि प्रधानतया वेद से न होकर श्रीमद्भागवत से ही होती है, इसलिए वे इतना भी कहने से नही चूके है 'वेदेर निगूढ अर्थ बूझने ना जाय। पुराण वाक्य सेई अर्थ करये निश्चय'। सम्भवत यह शब्द प्रमाण को उसकी आत्यन्तिक सीमा तक बढाना है। किन्तु सम्भवत यह प्रवृत्ति तत्कालीन कठोर तर्कवाद के प्रति प्रतिक्रिया रूप में ही थी जैसा कि सार्वभौम के इन शब्दो से भी प्रकट है—'तर्क शास्त्रे जड आमि यैछे लौहदण्ड। आमे द्रवाइले तुमि प्रताप प्रचण्ड'। दक्षिण की भक्ति परम्परा, जिसमें वेदान्त की भावना एक गम्भीर रूप से सर्वत्र निहित है, इस विषय में बडी सयत है। उग्र रूप तो कबीर में ही हमें सभी प्रकार के बन्धनो को तोडने का मिलता है, फिर चाहे वे बन्धन वेद के हो या किसी अन्य के।' साधु सती और सूरमा इन पटतर कोउ नाहिं। अगम पन्थ को पग धरें डिगें तौ कहा समाहिं।' जिस अदम्य वीर्य को बुद्ध ने प्रारम्भ किया था, उसी की एक झलक इन शब्दो में कैसी अच्छी मिलती है 'साध का खेल तो विकट बेढा मती सती और सूर की चाल आगे। सूर घमसान है पलक दो चार का सती घमसान पलक एक आगे। साध सग्राम है रैन दिन जूझना। देह पर्यन्त का काम भाई'। बगाल का वैष्णव धर्म जिसका स्वरूप 'शृगारिक रहस्यवाद' का था नैतिक तत्त्वो की कुछ अवहेलना सी करता रहा, कम-से-कम उसने इसे प्रधान स्थान नही दिया और इस कमी को श्री सुशील कुमार दे ने भी स्वीकार किया है[1]। अन्यथा अन्य भक्ति सम्प्रदायो ने स्पष्टतया नीति तत्व

(१) देखिए उनका 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बगाल', अध्याय ६; स्वयं श्री चैतन्य देव अथवा उनके उपदेशो में तो इस कमी का आरोप करना

को एक प्रधान स्थान अपनी भक्ति साधना में दिया है। वाह्य कर्मकाण्ड का भी प्राय सभी जगह अभाव है। 'पाइवे पै जानिवो करम फल भरि भरि वेद परोसो' तुलसीदास ने कहा है, जो यज्ञवादी धर्म के प्रति बौद्ध प्रवृत्ति के अनुकूल ही है।

इस प्रकार एक अनन्यसाधारण आध्यात्मिक वायु-मण्डल मध्ययुगीन भारत में भक्तो की परम्परा के द्वारा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक कहीं साखी सवदी सुना कर, कही 'मगल मुद दैनी' राम कथा का श्रवण कराकर, कही प्रभु की ह्लादिनी शक्ति के साक्षात्कार करा कर, कही 'न तुम्ही सोडवी राम हा अन्तकाली' ऐसा आश्वासन देकर, प्रसारित किया गया जो निश्चय ही निर्वल मनुष्यो में (सशक्त कौन है ?) चारित्र्यगुण का सञ्चार करने का अद्भुत सामर्थ्य रखता है। निश्चय ही इस मार्ग पर जो चलते है वे भी भववन्ध को काटते है, यही अमृत परोसा हुआ अपने लिए देखते है, महान् ओघ को ये तरते है अथवा यो कहिए कि महान् ओघ ही इनके लिए सूख जाता है। 'राम जपत भवसिन्धु सुखाही' यह वाणी सत्य से खाली नही है और न असत्य है भक्ति मार्ग के विषय में कही हुई यह उक्ति ही 'सर्वहि सुलभ सव दिन सव देसा। सेवत सादर समन कलेसा'। सच्चिदानन्दमय राम के हृदय में रहते अज्ञानान्धकार प्रवेश नही कर सकता, काम नही ठहर सकता, विषय की तो वार्ता ही नही रहती। 'राम चरित जे सुनत अघाही। रस विशेष जाना तिन्ह नाही'। अपरिमित आश्वासनप्रद साधना भक्ति है। पापी से पापी के लिये यहा आश्वासन है। ज्ञान और वैराग्य की साधना कलियुग में नही है। 'संन्यास लेते ही मन विगडता है' और 'सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन'। इसी भूमिका को लेकर भक्ति चलती है। वह ज्ञान, विराग और वैदिक ज्ञान को मिथ्या नही कहती। 'सो सव भाति खरो'। परन्तु उसको ग्रहण करने की क्षमता

पाप ही होगा—सवे परस्त्रीरप्रति नाहि परिहास। स्त्री देखि दूरे प्रभु हयेन एक पाश'। इसी प्रकार उनका उपदेश भी 'एइ सव गुण हय वैष्णव लक्षण। सव कहा ना याय करि दिग्दरशन ॥ कृपालु अकृतद्रोह सत्य-सार सम। निर्दोष वदान्य मृदु शुचि अकिंचन ॥ सर्वोपकारक शान्त कृष्णैक शरण। अकाय निरीह स्थिर विजित षड्गुण ॥ मितभुक् अप्रमत्त मानद अमानी। गम्भीर करुण मैत्र कवि दक्ष मौनी ॥' शान्त भिक्षु के लक्षण भी तो यही है!

म्परा से विरहित नही हो सके। 'वेद पन्थ जो नहिं चलहिं ते भूलहिं वन माझ। झुठ बोल थिर रहै न राचा। पण्डित सोइ वेद मत साचा।। वेद वचन मुख साच जो कहा। सो जुग जुग अहिथिर होइ रहा'। वगीय वैष्णव भक्त तो इससे भी आगे बढ गए। उन्होने न केवल वेद को ही प्रमाण माना, किन्तु श्रीमद्भागवत पुराण को भी सर्वशास्त्रचक्रवर्तित्व का स्वरूप दे दिया। 'भक्ति-सन्दर्भ' में तो 'मदीयलीलाशून्य वैदिकमपि वाच नाम्यसेत्' इसका भी प्रतिपादन किया गया और श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने 'सक्षेप भागवतामृत' में मुक्तिविस्तार करते हुए 'प्रधानत्वात् प्रमाणेषु शब्द एव प्रमाण्यते' यह भी कहा जो बौद्ध विचार की परम्परा के किसी भी स्तर से कोई मेल नही खा सकता। यह दिशा बिलकुल बौद्ध विचार से विपरीत चली गई है। चूकि मनीषी आचार्यों की भक्ति की सिद्धि प्रधानतया वेद से न होकर श्रीमद्भागवत से ही होती है, इसलिए वे इतना भी कहने से नही चूके है 'वेदेर निगूढ अर्थ बूझने ना जाय। पुराण वाक्य सेई अर्थ करये निश्चय'। सम्भवत यह शब्द प्रमाण को उसकी आत्यन्तिक सीमा तक बढाना है। किन्तु सम्भवत यह प्रवृत्ति तत्कालीन कठोर तर्कवाद के प्रति प्रतिक्रिया रूप में ही थी जैसा कि सार्वभौम के इन शब्दो से भी प्रकट है—'तर्क शास्त्रे जड आमि यैछे लौहदण्ड। आमे द्रवाइले तुमि प्रताप प्रचण्ड'। दक्षिण की भक्ति परम्परा, जिसमें वेदान्त की भावना एक गम्भीर रूप से सर्वत्र निहित है, इस विषय में बडी सयत है। उग्र रूप तो कबीर में ही हमें सभी प्रकार के बन्धनो को तोडने का मिलता है, फिर चाहे वे बन्धन वेद के हो या किसी अन्य के।' साधु सती और सूरमा इन पटतर कोउ नाहिं। अगम पन्थ को पग धरें डिगें तौ कहा समाहिं।' जिस अदम्य वीर्य को बुद्ध ने प्रारम्भ किया था, उसी की एक झलक इन शब्दो में कैसी अच्छी मिलती है 'साध का खेल तो विकट वेढा मती सती और सूर की चाल आगे। सूर घमसान है पलक दो चार का सती घमसान पलक एक आगे। साध सग्राम है रैन दिन जूझना। देह पर्यन्त का काम भाई'। वगाल का वैष्णव धर्म जिसका स्वरूप 'शृगारिक रहस्यवाद' का था नैतिक तत्वो की कुछ अवहेलना सी करता रहा, कम-से-कम उसने इसे प्रधान स्थान नही दिया और इस कमी को श्री सुशील कुमार दे ने भी स्वीकार किया है[1]। अन्यथा अन्य भक्ति सम्प्रदायो ने स्पष्टतया नीति तत्व

(१) देखिए उनका 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन वगाल', अध्याय ६; स्वयं श्री चैतन्य देव अथवा उनके उपदेशो में तो इस कमी का आरोप करना

को एक प्रधान स्थान अपनी भक्ति साधना में दिया है। बाह्य कर्मकाण्ड का भी प्राय सभी जगह अभाव है। 'पाइवे पै जानिवो करम फल भरि भरि वेद पगेसो' तुलसीदास ने कहा है, जो यज्ञवादी धर्म के प्रति बौद्ध प्रवृत्ति के अनुकूल ही है।

इस प्रकार एक अनन्यसाधारण आध्यात्मिक वायु-मण्डल मध्ययुगीन भारत में भक्तो की परम्परा के द्वारा भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक कहीं साखी सबदी सुना कर, कही 'मगल मुद दैनी' राम कथा का श्रवण कराकर, कही प्रभु की ह्लादिनी शक्ति के साक्षात्कार करा कर, कही 'न तुम्ही सोइबी राम हा अन्तकालीं' ऐसा आश्वासन देकर, प्रसारित किया गया जो निश्चय ही निर्बल मनुष्यो में (सशक्त कौन है ?) चारित्र्यगुण का सञ्चार करने का अद्‌भुत सामर्थ्य रखता है। निश्चय ही इस मार्ग पर जो चलते है वे भी भवबन्ध को काटते है, यही अमृत परोसा हुआ अपने लिए देखते है, महान् ओघ को ये तरते है अथवा यो कहिए कि महान् ओघ ही इनके लिए सूख जाता है। 'राम जपत भवसिन्धु सुखाही' यह वाणी सत्य से खाली नही है और न असत्य है भक्ति मार्ग के विषय में कही हुई यह उक्ति ही 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा'। सच्चिदानन्दमय राम के हृदय में रहते अज्ञानान्धकार प्रवेश नही कर सकता, काम नहीं ठहर सकता, विषय की तो वार्ता ही नही रहती। 'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं'। अपरिमित आश्वासनप्रद साधना भक्ति है। पापी से पापी के लिये यहा आश्वासन है। ज्ञान और वैराग्य की साधना कलियुग में नही है। 'संन्यास लेते ही मन विगडता है' और 'सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन'। इसी भूमिका को लेकर भक्ति चलती है। वह ज्ञान, विराग और वैदिक ज्ञान को मिथ्या नही कहती। 'सो सब भाति खरो'। परन्तु इनको ग्रहण करने की क्षमता

पाप ही होगा—सबे परस्त्रीरप्रति नाहि परिहास। स्त्री देखि दूरे प्रभु हयेन एक पाश'। इसी प्रकार उनका उपदेश भी 'एइ सब गुण हय वैष्णव लक्षण। सब कहा ना याय करि दिग्दरशन॥ कृपालु अकृतद्रोह सत्य-सार सम। निर्दोष वदान्य मृदु शुचि अकिञ्चन॥ सर्वोपकारक शान्त कृष्णैक शरण। अकाम निरीह स्थिर विजित षड्गुण॥ मितभुक् अप्रमत्त मानद अमानी। गम्भीर करुण मैत्र कवि दक्ष मौनी॥' शान्त भिक्षु के लक्षण भी तो यही है!

तान्त्रिक लोग अद्भुत प्रतीको का प्रयोग करते थे और बडे योगी होने का भी दावा करते थे। उनका प्रभाव बौद्धो पर पडा और बौद्धो ने भी उनको बहुत कुछ दान दिया। विशेषत नैपाल और बगाल में शैवों और शाक्तो ने बहुत सी बातें बौद्धो से लीं। किन्तु तात्विक दृष्टि से बुद्ध की शिक्षाओ में और तन्त्र सिद्धान्तो में कुछ भी समन्वय नही था। भगवान बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपद् पर जोर दिया था, अत बौद्ध धर्म में हठयोग, मन्त्र-तन्त्र आदि को प्रोत्साहन नही था, अनर्थकारी बातो को तो होता ही कहा से। अत जब बौद्ध धर्म में चौरासी सिद्धों का युग आया, जिनका वर्णन महापडित राहुल साकृत्यायन ने अपने ग्रन्थ 'पुरातत्व निवन्धावली' में विस्तार से दिया है,[1] तो यह भारत में बौद्ध धर्म के बुरे दिनो का ही सूचक था। उपासना चाहे भैरव भवानी की हो चाहे बुद्ध और तारा की, उस पर बुद्ध-धर्म टिक नही सकता था और ऐसा ही हुआ भी। हम पहले कह चुके है कि तूरानी देशो में बौद्ध धर्म के प्रचार की आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप तान्त्रिकता का समावेश बौद्ध धर्म में हो गया, अथवा यो कहना चाहिये कि उन देशो की तात्रिक पृष्ठभूमि को स्वीकार कर बौद्ध धर्म ने उसके माध्यम से अपना सदेश देना शुरू किया। तिब्वत का लामाई बौद्ध धर्म और चीन और जापान के शिगोन (मन्त्र-यान सम्प्रदाय) इसी प्रवृत्ति के परिणाम है। रहस्यात्मक मन्त्रो के उच्चारण ने बौद्ध धर्म में भी जोर पकडा। 'गते गते परगते परसगते वोधि स्वाहा' (हे वोधि ! पार चले गये, पार चले गये, पार पहुँच गये, स्वाहा) जैसे मन्त्रों की आवृत्ति प्रज्ञापारमिता के प्राप्त्यर्थ होने लगी। मन्त्रवादी सम्प्रदायो में ही नही, ध्यान (जैन) वौद्ध धर्म के लाखों अनुयायी आज भी 'प्रज्ञा पारमिता हृदय सूत्र' के इस मन्त्र का जप प्रतिदिन करते है[2]। 'स्वाहा' शब्द वता रहा है कि वैदिक यज्ञवाद का अनिवार्य प्रभाव भी वौद्ध तन्त्रवाद पर पडा है। बुद्ध के मूल उपदेशो के अनुसार प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये शील और ध्यान का अभ्यास आवश्यक है, मन्त्रो की आवृत्ति से वह नही मिल सकती। परन्तु यह परिवर्तन बौद्ध साधना में आ गया। बुद्ध ने कहा था, 'मन्त्रोच्चारण एव अग्नि आहुति द्वारा जन्म-मरण से मुक्ति नही होती। मन्त्रोच्चारण करने से और आहुति आदि देने से विषयो

बुद्ध-मन्तव्य सरल और केवल मध्यमा-प्रतिपद् पर प्रतिष्ठित

(१) पुरातत्व निवन्धावली, पृष्ठ १३५-१६०

(२) देखिये सुजुकी एसेज इन जैन वुद्धिज्म (थर्ड सीरीज) पृष्ठ २०२-२०७

की तृष्णा दृढतर होती है'[1]। बुद्ध की शिक्षाओ के अनुसार योग की ऋद्धियो में न शान्ति है और न संयम। परन्तु बाद में बौद्ध धर्म में यह सब चल पडा।

उत्तरकालीन बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का समावेश

जब इस प्रकार बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का समावेश हो गया तो, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उसमें अनेक दोष उत्पन्न हो गए जिनका वर्णन तात्विक दृष्टि से यहा उपयुक्त न होगा। न केवल धार्मिक किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में भी नये-नये ग्रन्थ रच कर बुद्ध को अनेक योग की क्रियाओं का उपदेष्टा बताया गया और वह भी विभूतियो को प्राप्त करने के लिए। प्रातिमोक्ष शील भिक्षु-सघ से लुप्त हो गया और वामाचारी लोग मास और मदिरा का भी प्रचार करने लगे।

इसी कारण बौद्ध धर्म और दर्शन के परिष्कार की भी आवश्यकता और आर्य सनातन धर्म रूपी महा समुद्र में नाम और रूप छोड़कर उसका समावेश और लोप

इसीलिए बौद्ध धर्म और दर्शन की परिशुद्धि की भी आवश्यकता प्रतीत हुई और यह काम शकर ने बडी लगन के साथ किया। परिणामत जिस आर्य-सनातन धर्म रूप महानद से बौद्ध धर्म निकला था, उसी में बाद में नामरूप खोकर वह मिल गया और यह काम भारत मे विशेषत. तान्त्रिकता के बौद्ध धर्म मे प्रवेश करने के कारण ही हुआ। यहा यह कह देना अनावश्यक न होगा कि बौद्ध धर्म का यह अन्तिम भग्न तान्त्रिक रूप भी नाथ-पन्थ और सन्त-साधना पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड गया है, जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

अं—बौद्ध दर्शन और आधुनिक भारतीय विचार

उपोद्घात

आधुनिक भारतीय विचार में, और न केवल आधुनिक भारतीय विचार में ही अपि तु समग्र विश्व के चिन्तन में, बौद्ध दर्शन अपने महत्व को पुन प्राप्त कर रहा है। जैसा कि सर वैरन जयतिलक ने कहा है 'बौद्ध धर्म ही भावी ससार का धर्म होगा'[2]। यह श्रद्धा का विजृम्भण ही नही, किन्तु एक सत्य है। धर्म से तात्पर्य युग के सर्वोच्च

---

(१) बुद्ध-चरित १६।५७-५९

(२) देखिए उनका इस विषय पर निबन्ध 'विश्ववाणी' (मई १९४२, बौद्ध सस्कृति अक) पृष्ठ ५२३-५२६

आध्यात्मिक आदर्शों से है और ये आदर्श बौद्ध धर्म ही दे सकता है, क्योंकि सार्वभौम तत्व उसी में सब से अधिक है, नैतिक अनुभूति की व्यापकता उसी की सब से अधिक तीव्र है, कर्मकाण्ड उसी में सब से कम है और वैज्ञानिक निष्कर्षों से उसी का सब से अधिक साम्य है । आध्यात्मिक सस्कृति पर उसी ने सब से अधिक जोर दिया है और लोक-कल्याण के लिए सेवा-धर्म का भी विस्तार उसने किया है । मनस्तत्व का अत्यन्त गम्भीर पर्यवेक्षण करके उसने अपने नैतिक तत्व का निर्माण किया है जिसे मिथ्या धार्मिक विश्वासो से ऊबा हुआ मनुष्य आज चाहता है । साराश यह कि अनेक कारणो से बौद्ध धर्म और दर्शन न केवल भारत के ही किन्तु सम्पूर्ण विश्व के आकर्षण का कारण बन गया है ।

एक लम्बी मूर्च्छा के बाद भारतीय विचार की अभी स्फूर्तिमय जागृति और आत्मस्वरूपानुस्मृति

भारतीय विचार की तो अभी जागृति ही हुई है । उसे अपने आदर्श, पूर्व के चिन्तन आदि कुछ भी स्मरण नही रहे थे । गत शताब्दी में वह खूब सोया, जवकि ससार वैज्ञानिक मार्ग पर बढ रहा था । अभी उसकी मूर्च्छा जगी है । वह सोचता है कि मेरे भी आदर्श है जिन पर मै अपने जीवन का निर्माण कर सकता हूँ । यहा यह कह देना न्याय्य होगा कि इस नव-जागरण में प्रधान कारण वास्तव में वही रहे है जिन्होने उसका सम्मोहन भी किया था । हमें अपने बुद्ध, याज्ञवल्क्य, शकर और अशोक कब स्मरण थे ? जव इन विषयक अध्ययन, गवेषण और मूल्याकन पहले अँग्रेजो ने किया, तभी तो उनके पदचिह्नो पर हम इसमे प्रवृत्त हुए ! बुद्ध और बौद्ध दर्शन के विषय में तो यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से ठीक ही है । 'सर्वदर्शन सग्रह' और 'शकर दिग्विजय' के वर्णनो को छोड कर हम सुगत या उनके धर्म के विषय में क्या अभिज्ञा रखते थे ? बुद्ध को सिवाय नास्तिक, वेदनिन्दक और प्रजाओ के विमोहन करने को आए हुए भगवान् विष्णु के अवतार को छोड और हम क्या जानते थे ? सब से पहले सत्यान्वेषी, गवेषणप्रिय और स्वतन्त्रप्रज्ञ विदेशियो ने ही तो बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया । प्रारम्भिक रूप से 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ज्ञान हमने सब से पहले विदेशी विद्वानो से ही तो तो पाया । पश्चिम में ही तो ट्रेन्कनर, स्पीजल, वैस्टरगार्ड, चाइल्डर्स, जेम्स एल्विस, फौसवॉल, एण्डरसन, बेंडल, पिशल, मिनयफ, एडमण्ड हार्डी, ओल्डनवर्ग, कर्न, विगेन्डेट, रिचार्ड मौरिस, रायज़ डेविड्स, गायगर, वैलेसर, विडिश, ई० जे० कारपेन्टर, चामर्स, पूसॉ, वारेन, ओटो श्रेडर, जैकोबी, लैनमैन,

र्वालगेम, ग्रिम, मूर, सर चार्ल्स इलियट, लियोन फिअर और चेरवास्की, आदि मनीषियो ने सर्वप्रथम पालि ग्रन्थो का सम्पादन, अनूदन और बौद्ध धर्म और दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचने का प्रयत्न किया। हमारे यहा तो भिक्षु उत्तम की यह अन्यतम अभिलाषा ही कि समग्र त्रिपिटक साहित्य अपने मूल रूप में नागरी अक्षरो में ही आ जाय, अभी तक पूरी नही हो पाई है। क्या यह हमारे जागरण का लक्षण है ? क्या पालि टैक्स्ट सोसायटी के कम-से-कम अनुकरण के ही हम योग्य नही हैं ? किन्तु कुछ आत्मानुस्मृति के चिह्न हममें मिलते हैं। यह कुछ प्रसन्नता की बात है कि हम भी अपने यहा बुद्धदत्त, हरप्रसाद शास्त्री, धर्मानन्द कोसम्बी, वेणीमाधव बाडुआ, सतीशचन्द्र विद्याभूषण, सुरियगोड सुमगल, वापट, हरिनाथ दे, अनागारिक धम्मपाल, गुणरत्न, जयतिलक, नारद, सिद्धार्थ, नलिनाक्ष दत्त, साकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप जैसे कतिपय नाम गिना सकते है जिन्होने पालि एव बौद्ध धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे बहुत प्रशसनीय कार्य किया है। किन्तु इतना ही पर्याप्त है, यह कौन कहेगा ? जिस सर्वविध और सब दिशाओ में प्रसरणशील स्फूर्तिमय जागरण के लक्षण हमारे राष्ट्रीय और सास्कृतिक जीवन में कुछ दिनो से प्रकट हो रहे है उनके परिणामस्वरूप बुद्धानुस्मृति को भी तो एक अभिनव रूप धारण कर हमारे हृदय-पटल पर आना ही चाहिए ताकि उन विश्व-गुरु की, उन देव और मनुष्यो के शास्ता की, वीर्यवती वाणी हमारे सर्वविध जीवन का परिष्कार करे और हम उनके सन्देश को सुन सकें, स्वय अपनी ही आज की लोक-भाषा में, राष्ट्र-भाषा हिन्दी में, उसकी गौरव-वृद्धि के लिये।

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण का युग है। सर्वत्र मनुष्यो के विचार मे एक अद्भुत क्रान्ति है। परम्परागत धर्मो के बन्धन ढीले पड गए है। जडवादी वैज्ञानिक तत्ववाद के भी निष्कर्ष आश्वासनकारी नही है। धार्मिक नेताओ की लोलुपता और भोगवादी प्रवृत्ति के कारण विचारको की उनमें श्रद्धा नही रही। कोई नही जानता कि मनुष्य का भविष्य क्या है। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' की उपनिषद् वाणी आज खूब चरितार्थ हो रही है। सभी धर्म और आदर्श आज परीक्षा में होकर गुजर रहे है। महान् हृदय-मन्थन चारो ओर दिखाई पड रहा है। कहने की आवश्यकता

आधुनिक युग सर्वत्र ही एक अभूतपूर्व परीक्षण-युग, स्वभावत ही बौद्ध विचार के प्रति एक नई दिलचस्पी और शाक्य-मुनि का आकर्षण

आविर्भाव लोक-कल्याण के लिए ही हुआ और दोनो ही विश्व के वन्द्य है, एक अतीत के जगे हुए पुरुष है तो दूसरे वर्तमान के। 'नम मैत्रेयाय'।

भगवान् तथागत का उपदेश आधुनिक युग के लिए एक महान् सन्देश रखता है। आधुनिक जगत् में हम सर्वत्र ही क्या देखते है ? लोभ, घृणा और मोह की आग सभी जगह तो धधक रही है।

जड़वाद के निश्चित परिणामों से विह्वल, धार्मिक विश्वास जैसी किसी भी चीज़ के लिए अयोग्य, शान्ति की इच्छुक किन्तु अपने व्यष्टि और समष्टि सभी रूपों में तत्रतत्राभिनन्दिनी तृष्णा की बुरी तरह से शिकार, मानवता के लिए आश्वासन और सन्देश

बडे-से-बडे राजनीतिज्ञो और राज्यो के नियमन करने वालो के भी तो 'अकुशल' चित्त हो रहे है। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता आज कहा है ? सभी जगह तो जडवाद के निश्चित परिणाम उपलब्ध है। भगवान् ने भोगो के दुष्परिणामो के बारे में जो कुछ भी कहा था वे सब तो आज समाज मे दिखाई पड रहे है। क्या शोषित और क्या शोषण करने वाले सभी तो आज कराह रहे है। कर्म की धार क्या कम पैनी है ? ऐसी हालत में सिवाय 'नन्दी' (तृष्णा) को छोडने के और क्या उपाय है ?[1] लिप्सा क्यो नही छोडी जाती, फिर चाहे वह साम्राज्य की हो, चाहे व्यापार की, चाहे विजय की, चाहे सोने के सिक्को की ? "जैसे गृहपति ! गिद्ध, कौआ या चील मास के टुकडे को लेकर उडे, उसको गिद्ध भी, कौए भी, चील भी पीछे उड-उड कर नोचें-खसोटें। तो क्या मानते हो-गृहपति ! क्या गिद्ध, कौए और चील यदि शीघ्र ही उस मास के टुकडे को न छोड दें, तो क्या उसके कारण मरण या मरणान्त दुख को वे न पाएंगे ?" "पाएंगे, भन्ते !" समस्त ससार मे यही तो सब जगह आज हो रहा है। सारा समाज और सब व्यक्ति इसी प्रयत्न में है कि इस मास लगे हड्डी के टुकडे को हम लें कि हम। तथागत के वचन व्यर्थ नहीं

---

(१) 'पूर्ण ! नन्दी (तृष्णा) की उत्पत्ति से दु ख का समुदय कहता हूँ'। पुण्ण-सुत्त (सयुत्त० ३४।४।६);
"ऊपर, नीचे, तिर्यक् और मध्य में सारी संग्रह करने की तृष्णा को छोड दो। लोक में जो संग्रह करना है उसी से मार जन्तुओ का पीछा करता है। संग्रह करने वालों को मृत्यु के हाथ में फँसी प्रजा समझ सारे लोक में कुछ भी संग्रह न करें।' भद्रावुध-माणव-पुच्छा, सुत्तनिपात ५

हो सकते कि यदि वे उस हड्डी के टुकडे को, उस आमिष उपादान को नही छोडते तो वे पाएँगे मरण को या मरणान्त दुःख को। बाहरी विधानो को बनाने से क्या होता है, चार्टरो और उद्घोषणाओ के करने से क्या होता है, जब तक राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति को व्यापक और व्यावहारिक रूप से यह नही सिखाया जाता कि सग्रह से त्याग ही श्रेष्ठ है, सतृष्ण होने से अ-तृष्ण होना ही ठीक है, कामो के प्रापण से उनका छोड देना ही श्रेयस्कर है (जो भारतीय दर्शन का सामान्य और बौद्ध दर्शन का विशेष सन्देश है) तब तक लोक के व्यापक कल्याण की आशा नही। समत्व की स्थापना तब तक न होगी, स्वामित्व लोग तब तक न छोडेंगे। 'हा सन्तप्त! हा पीडित' की आवाज यदि ससार से दूर करनी है तो शास्ता बुद्ध ने जो मार्ग दिखाया था उसी से यह सम्भव हो सकता है, फिर चाहे उनके नाम को हम भले ही छोड दें जिसके लिए उन्हे भी बिलकुल आग्रह नही था। यदि शील और मैत्री की प्रतिष्ठा समाज मे है, पाप के प्रति सलज्जता और भय है तो इसे बौद्ध धर्म का प्रचार ही समझना चाहिये। आज का मनुष्य किसी भी धार्मिक विश्वास जैसी चीज़ के लिए योग्य नही रहा। अनेक आघात-प्रतिघातो के फल-स्वरूप वह इस परिणाम पर आ पाया है। अत जिस धर्म में विमुक्ति है किन्तु देवताओ की दासता नही, जहा अनुत्तर नैतिक आदर्शवाद है किन्तु कर्मकाण्ड नही, जहा कारुणिकता है किन्तु बुद्धि का अभाव नही, जहा परम आश्वासन है किन्तु देववाद की आवश्यकता नही, वह आज मानवता को प्रियकर कैसे नही हो सकता? उसका सार्वभौम स्वरूप किस समय मनुष्य को शान्ति नही दे सकता। चाहे गृही हो चाहे प्रव्रजित, चाहे ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज, चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, सभी के लिए महाश्रमण के मार्ग मे आश्वासन की पर्याप्त सामग्री है। कर्म का मूल्य देकर उसे हम खरीद सकते है।

बौद्ध दर्शन की बहुत सी मान्यताएँ आज विचारको के द्वारा पुनरुज्जीवित की जा रही है, यह बौद्ध विचार की महिमा का एक प्रस्थापन है। इस प्रकार 'अभिधर्म' में जो चित्त-धारा का वर्णन है उसने जग जैसे विचारको का मार्ग प्रदर्शन किया है और उनके विचारो को उसने पूर्णता प्रदान की है[1]। यदि आयस्टन के वैज्ञानिक पारिभाषिक भाग

(१) देखिए ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक के प्राक्कथन में फेलिक्स ए० पेरीरा का वक्तव्य।

को छोड दें तो उनका सापेक्षवाद भी उन्ही तर्कों का प्रवर्तन करता है जिनका कि बौद्ध माध्यमिक मत। इसी प्रकार द्वन्द्व-मूलक तर्क-पद्धति में 'पट्ठान' के कुछ नयो का प्रवर्तन देखा जा सकता है। भगवान् बुद्ध की मनोवैज्ञानिक दिशा एव उनकी तात्विक परिस्थिति को प्रकारान्तर से क्रमश फ्रेंच दार्शनिक बर्गसा और प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने भली प्रकार दिखाया है, इसके निदर्शन में हम यहा प्रवृत्त नही हो सकते। इसी प्रकार चेतनाद्वैतवादी ब्रेडले ने अपने ग्रन्थ 'ऐपियरेन्स एण्ड रिअलटी' में बौद्ध विज्ञानवाद के तर्कों को पुनरुज्जीवित किया है। जर्मन दार्शनिक शोपेनार पर बौद्ध दर्शन का जो विशाल प्रभाव पडा है, वह अविदित नही है। काउट कैसरलिंग, सर फ्रासिस यगहस्बेन्ड और बरट्रैण्ड रसल जैसे उच्चकोटि के विचारको ने बौद्ध दर्शन के प्रभूत महत्त्व को स्वीकार किया है।

अः—संश्लेषणात्मक दृष्टिपात और एक सर्वनिष्ठ संग्राहक तत्व की ओर संकेत

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि का अनुवर्तन कर हमने वैदिक काल से लेकर अब तक की भारतीय विचार-परम्परा का बौद्ध दर्शन के साथ सम्बन्ध देखा। अनेक तत्वज्ञान और प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सम्बन्धी विभिन्नताएँ हमने विभिन्न दर्शनो के विवेचन में देखीं और यदि मनुष्य अपनी विश्लेषणात्मिका प्रवृत्ति को कुछ भी प्रोत्साहन दे तो इन विभिन्नताओ का कोई अन्त नही है। 'नासौ मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्' यह वाणी इसी प्रवृत्ति की परिचायक है, किन्तु सम्पूर्ण सत्य इतना ही नही है। यदि विभाजक बुद्धि के द्वारा ही सत्य पाना सम्भव होता और वही एक मात्र उपकरण उसकी अविगति में कारणस्वरूप होता तो सम्भवत हमको निराश होने का कारण था, किन्तु विचारको के सामान्य मत से स्वानुभूति ही, सहज अन्तर्ज्ञान ही वह वस्तु है जो हमें सत्य के निकट पहुँचा सकती है। इस स्वानुभूति का पाना विना पवित्र जीवन के सम्भव नही है, जो सभी विचार का अन्तिम गन्तव्य स्थान है। आत्म विद्या को यदि अपने अभिमुख करना है तो जीवन को पवित्र

अनेक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी और प्रमाण-प्रमेय विषयक विभिन्नताओं के होते हुए भी जीवन की भूमि में सब दर्शन एक होते हैं

बनाना ही होगा, फिर चाहे दार्शनिक सिद्धान्त कोई भी हमें रुचता हो अथवा न रुचता हो। साधना के क्षेत्र में ही समग्र दार्शनिक नयो का पड़ाव डालने के हम पक्षपाती है। सभी प्राचीन ऋषियो और दर्शनकारो ने यही सिखाया है। दर्शन का अन्य कोई प्रयोजन ही नही है। 'शमार्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभि । स एव सर्वशास्त्रज्ञ यस्य शान्त मन सदा।' यह महाभारत की वाणी भारतीय दर्शन के विद्यार्थियो के लिए भूरि-भूरि स्मरणीय है। निश्चय ही सभी भारतीय दर्शनो का उद्भावन ही, जैसा कि हम पहले विवेचित कर चुके है, इस जीवन की 'हा सन्तप्त ! हा पीडित' अवस्था के शमन के लिए हुआ है। जिसने जीवन में शान्ति पाई है, उसने समग्र भारतीय दर्शनो के लक्ष्य को सम्पादित कर लिया है। जो विभिन्नता चिकित्सा-शास्त्र में वर्णित दवाइयो में होती है, वही विभिन्नता भारतीय दर्शन-प्रणालियो में भी है। अनेक दवाइया होते हुए भी जिस प्रकार रोग के अनुसार उनके देने का विधान होता है और इससे वैद्यक शास्त्र में ही कोई परस्पर विरोधभाव अथवा असम्बद्धत्व नही आ जाता, उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रवृत्तियो और स्वभावो को लेकर उत्पन्न प्राणी भिन्न भिन्न निष्ठाओ और साधनाओ से प्रभावित होते है और उन पर चल कर लक्ष्य को सम्पादन करते है। अत आरोग्य लाभ तो सब को होता ही है, और यही आवश्यक वस्तु भी है। किन्तु यदि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के प्रश्नो को लेकर और जीवन से असम्बद्ध होकर हम चले तो हम कही नही पहुँचते। बुद्धि के विकल्पो का अन्त नही है और उनमें शान्ति नही है। बोध के लिये निर्विकल्प चित्त चाहिये, जो शील के अभ्यास से ही उत्पन्न होता है। सदाचार के बिना ध्यान नही होता और बिना ध्यान के ज्ञान नहीं है। अत ज्ञान का आधार जीवन में है। जो प्रवृत्तिया धर्म के लिए है या जो अधर्म के लिए है, जिनके द्वारा हम ज्ञान, निर्वेद, उपशम, अभिज्ञा और निर्वाण की ओर बढते है अथवा जिनके द्वारा हम अज्ञान, ग्रहण, अशान्ति, अविद्या और बन्धन की ओर प्रवण होते है, उनके विषय में क्या दो दर्शनकारो का भी कोई विभेद है ? क्या गीताकार ने यही बात नही कही ? क्या षड्दर्शनकारो ने प्राय सभी ने साधना-मार्ग का प्रत्यापन कर इसी बात को प्रत्यापित नही किया ? तो फिर विवाद तो जीवन को छोड, उसकी पवित्रता को छोड, बुद्धि के विकल्पो में ही रहा, जो अकिञ्चित्कर है। विशुद्धि सब जगह है, वैदिक दर्शन में भी, जैन दर्शन में भी और बौद्ध दर्शन में भी। आचार्य वसुबन्धु ने कहा है 'श्रामण्य निर्मल मार्ग

'[1] । आगे उन्होने कहा है 'ब्राह्मण्य भी वही है ।'[2] दोनो अनास्रव मार्ग है !
ो फिर क्या शेष रहा ? 'अत्र ह्येते सर्वे एक भवन्ति ।'

---

(१) श्रामण्यम् अमलो मार्गः । अभिधर्मकोश ६।५१
(२) ब्राह्मण्यमेव तत् । वहीं ६।५४

छठा प्रकरण

उपसंहार और भारतीय दर्शन-साधना में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्व का अनुमापन

सिंहावलोकन और अन्तिम निष्कर्ष—'विश्वे सतो महान्त इत्'

गत पृष्ठो मे बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनो का जो पर्यालोचन किया गया है, उससे भारतीय दर्शन के अगभूत बौद्ध दर्शन का तत्समान अन्य दर्शन-प्रणालियो से क्या तात्त्विक और ऐतिहासिक सम्बन्ध है, इसे एक अत्यन्त सक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा है। पहले भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियो और उनकी चिन्ता के मुख्य विषयो पर विचार कर हमने उनके ऐतिहासिक विकास को देखा। फिर 'नास्तिक' नाम से पुकारे जाने वाले बौद्ध दर्शन के प्रति इस परम्पराभुक्त निन्दा बुद्धि का परिहार और निरसन करते हुए हमने एक विशुद्ध, मगलमय एव पक्षपातरहित भूमि मे अपने विषय का उपन्यास किया, पूर्वोक्त भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियो और उनके ऐतिहासिक विकास का आश्रय और प्रकाश लेते हुए। बौद्ध दर्शन के भारत में उद्भव और विकास का एक सक्षिप्त विवेचन उपस्थित कर एव उसके साहित्य, तत्त्वदर्शन, आचारतत्त्व और प्रमाण-दर्शन आदि पर कुछ विचार कर, हमने अन्त में सहोदर भारतीय दर्शनो के साथ उसके सम्बन्ध को अपने अध्ययन का विषय बनाया। वैदिक प्रज्ञान से लेकर आधुनिक भारतीय विचार तक सभी ऐतिहासिक दर्शन-पद्धतियो के साथ हमने बौद्ध दर्शन का एक के बाद एक से मैत्री-पूर्ण आलिंगन कराया और इस प्रकार एक शान्त से दूसरे शान्त की ओर प्रगति करते हुए हम कहा पहुँचे? किस दिशा को हमने अपना गन्तव्य बनाया और किस रूप में हमने समन्वय को देखा? जहा शंकर, कपिल, बुद्ध और याज्ञवल्क्य जैसे मनस्वियो मे झगड़ना है, वहा एक अल्पज्ञ शोध के अन्तिम निष्कर्ष जैसी कोई बात कहना तो केवल अहम्मन्यता ही होगी। एक

मक्षिका का आकाश को नापने जैसा प्रयत्न होगा। पूर्वगत परमर्षियो के सामने हम सब कितने बौने है, इसकी पूरी अनुभूति हम कभी कर ही नही सकते। अत उन पुरुषोत्तमो के विचारो के परीक्षणस्वरूप जो कुछ भी यहा कहा गया है या आगे कहा जायगा, वस्तुत केवल मानव-बुद्धि का सम्मान रखने के लिए ही होगा, हृदय-पक्ष से तो कभी नही। फिर अपनी श्रद्धा का मूल्य चुकाकर ही तो इन सब पूर्व मनीषियो के प्रज्ञानो को, जो विशेषत नैसर्गिक और सहज आन्तरिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित है, हम कदाचित् समझ भी सकें, किन्तु उन उत्तरकालीन महाप्रज्ञ वादियो और प्रतिवादियो की परम्पराओ को लेकर हम क्या करेंगे, जिनका सिवाय तार्किक विरोध के और किसी बात मे साम्य ही नही है। वात्स्यायन और दिङ्नाग, कुमारिल और धर्मकीर्ति, नागार्जुन और श्रीहर्ष, जैसे मनीषियो के तर्कजालो के पास भी हम नही फटक सकते, उनको समझना और उनकी समीक्षा करना तो दूर की बात है। फिर इन दोनो की अर्थात् पूर्व के ऋषियो, सहज अनुभव सम्पन्न महात्माओ और जीवन के शास्ताओ की, और उत्तरकालीन उनके व्याख्याकार आचार्यों की, आपेक्षिक महत्ता की मर्यादा भी हम क्या आकेंगे? क्या हम पूर्व मनीषियो के अपरोक्षानुभूति पर व्यवस्थित प्रज्ञानो पर विशेषत अपनी दृष्टि केन्द्रित कर समन्वय-विधान की प्रतिष्ठा में प्रवृत्त होगे, या उस प्रवृत्ति से विभिन्न मार्ग का अवलम्बन कर, समन्वयवाद का निरसन कर, उत्तरकालीन तार्किको की वाद-परम्परा से ही विशेषत सत्य निकालने की चेष्टा कर, अन्त में उनके पारस्परिक विरोधी तर्को को उनके ही एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त कर, और इस प्रकार उन सब को धराशायी कर और एक प्रकार से नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और श्रीहर्ष की ही वाद-परम्परा का पुनरुज्जीवन कर, और इतना ही नही, आधुनिक सदेहवादी अथवा अविज्ञेयतावादी वैज्ञानिक सिद्धान्तो का भी उसमें समावेश कर, (जैसा साधु शान्तिनाथ ने अपनी 'प्राच्य-दर्शन-समीक्षा' पुस्तक में किया है) अपने मन और बुद्धि को भ्रमित करेंगे। अथवा विशुद्ध वैज्ञानिक मार्ग का अवलम्बन कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच कर केवल वस्तुस्थिति के निर्देश मात्र से ही सन्तोष कर लेगे। जो मनीषी विद्वान् न केवल वैदिक और बौद्ध दर्शनो के ही बल्कि प्राय सभी भारतीय दर्शनो के एक दूसरे के साथ समन्वय-विधान का प्रयत्न करते है, वे उनकी विभिन्नताओ को जानकर ही ऐसा करते है, और जो विश्लेषणात्मक बुद्धि वाले मनीषी उनकी विभिन्नताओ का प्रस्थापन करते नही थकते, वे भी उनकी आधारभूत

समानताओं से अनभिज्ञ होते हों, ऐसी भी बात नही है। और फिर जो मध्यस्थ मार्ग का अवलम्बन कर वैज्ञानिक अध्ययन जैसी वस्तु को उपस्थित करने का प्रयत्न करते है, वे ही किसी विशेष प्रकाश मे रहते हो, ऐसी भी बात नही है। कोई भी ऐसा सुनिश्चित मार्ग नही है जिस पर चलकर साधक विद्यार्थी कह सके 'यहि मग चलत सुलभ मोहिं भाई'। वस्तुस्थिति के समान होने पर भी अन्त में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मनुष्य की श्रद्धा ही प्रधान है। हमने जिस दृष्टि का अवलम्बन लिया है, वह समन्वयात्मक ही कही जा सकती है। मतवादो के चौरस्तो को पारकर हमने जीवन की भूमि में उन सभी पर केवल एक ही अभिलेख पढा है और वह है 'जीवन-विशुद्धि', 'सत्व-शुद्धि'। इसी की अधिगति के लिए सभी महनीय दर्शनो का उदय हुआ है, और इसी मे उनका स्वाभाविक पर्यवसान भी है। अधिकारी-भेद से से, या विशिष्ट ऐतिहासिक और तात्त्विक पृष्ठभूमियो के भेद से, विभिन्न दर्शन-प्रणालियो में भेद है। परन्तु सत्य तो उन सब मे अभिव्याप्त है। अत वे सब समान रूप से महान् है। 'विश्वे सन्तो महान्त इत्'। यदि किसी एक विचार-धारा को किसी दूसरी विचार धारा से श्रेष्ठ भी मान लिया जाय तो भी उस विचार धारा को मानने के कारण किसी व्यक्ति का अपने को श्रेष्ठ मानने लग जाना तो भयकर अनर्थ और नैतिक पतन का कारण होगा। वह तो उस अहभाव का बढाने वाला होगा जो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन-भावनाओ के सम्मिलित साक्ष्य से हीन और त्याज्य है। भिक्षु के मन मे जब भूल से अभिमान आ जाता है तो वह अपने सौन्दर्य विहीन मुडित सिर को छूता है, अपने काषाय वस्त्रो और भिक्षा-पात्र को देखता है। अहभाव के विनाश के लिये ही बौद्ध धर्म की साधना की जाती है और उसकी शिक्षा के अनुसार उस साधना मे भी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं किया जा सकता। कोई भी धर्म हो या दर्शन, अन्तत तो पर वस्तु ही है। वह निर्वाण तरने का एक साधन है। अत उनमें अभिनिवेश का होना अज्ञान का लक्षण है। बन्धन का कारण है। मनुष्य को मिलेगा तो वही जिसे वह अपने कर्म से अर्जित करेगा। अत न कोई दर्शन छोटा है और न बडा। छोटे बडे की धारणा ही मिथ्या है। सब सत्य के उपासक है और साधक अपनी योग्यता, स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार सत्य उनसे ग्रहण करता है। वे जितना हमें दे सकते है वह महान् है। परन्तु महत्तर वह है जिसे वे हमें नही दे सकते, जो उनसे भी अतीत है। वही वास्तविक सत्य है, परम सत्य जो पुस्तको मे उपलब्ध नही होता, शास्त्र जिसे नही दे सकते, दार्शनिक सम्प्रदाय जिसे हमें प्रदान नही

मक्षिका का आकाश को नापने जैसा प्रयत्न होगा। पूर्वगत परमर्षियो के सामने हम सब कितने बौने है, इसकी पूरी अनुभूति हम कभी कर ही नही सकते। अत उन पुरुषोत्तमो के विचारो के परीक्षणस्वरूप जो कुछ भी यहा कहा गया है या आगे कहा जायगा, वस्तुत केवल मानव-बुद्धि का सम्मान रखने के लिए ही होगा, हृदय-पक्ष से तो कभी नही। फिर अपनी श्रद्धा का मूल्य चुकाकर ही तो इन सब पूर्व मनीषियो के प्रज्ञानो को, जो विशेषत नैसर्गिक और सहज आन्तरिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित है, हम कदाचित् समझ भी सकें, किन्तु उन उत्तरकालीन महाप्रज्ञ वादियो और प्रतिवादियो की परम्पराओ को लेकर हम क्या करेंगे, जिनका सिवाय तार्किक विरोध के और किसी बात में साम्य ही नही है। वात्स्यायन और दिङ्नाग, कुमारिल और धर्मकीर्ति, नागार्जुन और श्रीहर्ष, जैसे मनीषियो के तर्कजालो के पास भी हम नही फटक सकते, उनको समझना और उनकी समीक्षा करना तो दूर की बात है। फिर इन दोनो की अर्थात् पूर्व के ऋषियो, सहज अनुभव सम्पन्न महात्माओ और जीवन के शास्ताओ की, और उत्तरकालीन उनके व्याख्याकार आचार्यों की, आपेक्षिक महत्ता की मर्यादा भी हम क्या आकेंगे? क्या हम पूर्व मनीषियो के अपरोक्षानुभूति पर व्यवस्थित प्रज्ञानो पर विशेषत अपनी दृष्टि केन्द्रित कर समन्वय-विधान की प्रतिष्ठा में प्रवृत्त होगे, या उस प्रवृत्ति से विभिन्न मार्ग का अवलम्बन कर, समन्वयवाद का निरसन कर, उत्तरकालीन तार्किको की वाद-परम्परा से ही विशेषत सत्य निकालने की चेष्टा कर, अन्त में उनके पारस्परिक विरोधी तर्कों को उनके ही एक दूसरे के विरुद्ध प्रयुक्त कर, और इस प्रकार उन सब को धराशायी कर और एक प्रकार से नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और श्रीहर्ष की ही वाद-परम्परा का पुनरुज्जीवन कर, और इतना ही नही, आधुनिक संदेहवादी अथवा अविज्ञेयतावादी वैज्ञानिक सिद्धान्तो का भी उसमें समावेश कर, (जैसा साधु शान्तिनाथ ने अपनी 'प्राच्य-दर्शन-समीक्षा' पुस्तक मे किया है) अपने मन और बुद्धि को भ्रमित करेंगे। अथवा विशुद्ध वैज्ञानिक मार्ग का अवलम्बन कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच कर केवल वस्तुस्थिति के निर्देश मात्र से ही सन्तोष कर लेंगे। जो मनीषी विद्वान् न केवल वैदिक और बौद्ध दर्शनो के ही बल्कि प्राय सभी भारतीय दर्शनो के एक दूसरे के साथ समन्वय-विधान का प्रयत्न करते है, वे उनकी विभिन्नताओ को जानकर ही ऐसा करते हैं, और जो विश्लेषणात्मक बुद्धि वाले मनीषी उनकी विभिन्नताओ का प्रख्यापन करते नही थकते, वे भी उनकी आधारभूत

समानताओं से अनभिज्ञ होते हो, ऐसी भी बात नहीं है। और फिर जो मध्यस्थ मार्ग का अवलम्बन कर वैज्ञानिक अध्ययन जैसी वस्तु को उपस्थित करने का प्रयत्न करते है, वे ही किसी विशेष प्रकाश मे रहते हो, ऐसी भी बात नहीं है। कोई भी ऐसा सुनिश्चित मार्ग नही है जिस पर चलकर साधक विद्यार्थी कह सके 'यहि मग चलत सुलभ मोहि भाई'। वस्तुस्थिति के समान होने पर भी अन्त मे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मनुष्य की श्रद्धा ही प्रधान है। हमने जिस दृष्टि का अवलम्बन लिया है, वह समन्वयात्मक ही कही जा सकती है। मतवादो के चौरस्तो को पारकर हमने जीवन की भूमि में उन सभी पर केवल एक ही अभिलेख पढा है और वह है 'जीवन-विशुद्धि', 'सत्व-शुद्धि'। इसी की अधिगति के लिए सभी महनीय दर्शनो का उदय हुआ है, और इसी मे उनका स्वाभाविक पर्यवसान भी है। अधिकारी-भेद से से, या विशिष्ट ऐतिहासिक और तात्त्विक पृष्ठभूमियो के भेद से, विभिन्न दर्शन-प्रणालियो में भेद है। परन्तु सत्य तो उन सब में अभिव्याप्त है। अत वे सब समान रूप से महान् है। 'विश्वे सतो महान्त इत्'। यदि किसी एक विचार-धारा को किसी दूसरी विचार धारा से श्रेष्ठ भी मान लिया जाय तो भी उस विचार धारा को मानने के कारण किसी व्यक्ति का अपने को श्रेष्ठ मानने लग जाना तो भयकर अनर्थ और नैतिक पतन का कारण होगा। वह तो उस अहभाव का बढाने वाला होगा जो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन-साधनाओ के सम्मिलित साध्य मे हीन और त्याज्य है। भिक्षु के मन में जब भूल से अभिमान आ जाता है तो वह अपने सौन्दर्य विहीन मुडित सिर को छूता है, अपने काषाय वस्त्रो और भिक्षा-पात्र को देखता है। अहभाव के विनाश के लिये ही बौद्ध धर्म की साधना की जाती है और उनकी शिक्षा के अनुसार उस साधना मे भी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं किया जा सकता। कोई भी धर्म हो या दर्शन, अन्तत तो पर वस्तु ही है। वह बेडा तरने का एक साधन है। अत उसमें अभिनिवेश का होना अज्ञान का लक्षण है। बन्धन का कारण है। मनुष्य को मिलेगा तो वही जिसे वह अपने कर्म से अर्जित करेगा। अत न कोई दर्शन छोटा है और न बडा। छोटे बडे की धारणा ही मिथ्या है। सब सत्य के उपासक है और साधक अपनी योग्यता, स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार सत्य उनसे ग्रहण करता है। वे जितना हमें दे सकते है वह महान् है। परन्तु महत्तर वह है जिसे वे हमें नही दे सकते, जो उनसे भी अतीत है। वही वास्तविक सत्य है, परम सत्य जो पुस्तकों में उपलब्ध नही होता, शास्त्र जिसे नही दे सकते, दार्शनिक प्रणालियाँ जिसे हमें प्रदान नही

कर सकती। यह सत्य केवल अनुभव से हमें मिल सकता है। अत अनुभव ही सब से बडा दर्शन है। सब दर्शन-प्रणालिया उसी की ओर इगित करती हैं और उसे शब्दो में व्यक्त नही कर सकती। इसलिये हम कह सकते है कि सत्य जब कि सब दर्शन-परम्पराओ में निहित है, सब विचार-धाराओ में अभिव्याप्त है, वह उन सब से अतीत भी है। वह उनमें से किसी में भी नही मिलता। जीवन का स्थान कोई विचार-दर्शन नही ले सकता। वह जीवन के लिए है, अनुभव की व्याख्या के लिये है। जिस प्रकार वैदिक ज्ञान से बुद्ध को शान्ति नही मिली थी, उसी प्रकार केवल बौद्ध ज्ञान से शान्ति प्राप्त करने का प्रयास व्यर्थ ही होगा। स्वय भगवान बुद्ध ने कहा है, 'कठोर योगाचार के बिना केवल मेरे दर्शन से ही मुक्ति नही मिल सकती, जैसे कोई मनुष्य ओषधि-सेवन किये बिना केवल वैद्य को देखकर ही रोग-मुक्त नही हो जाता'।[1] सत्य प्राप्ति से पूर्व प्रत्येक को बुद्ध का जैसा अभ्यास करना होगा और वह शास्त्रो और दर्शनो से नही होता, फिर वे चाहे कोई हो। गीताकार के शब्दो में सम्पूर्ण 'श्रुत' और 'श्रोतव्य' से मनुष्य को निर्वेद अन्तत प्राप्त करना ही पडेगा। दर्शन केवल उसके सहायक हो सकते है, गन्तव्य नही। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो की तुलना एक ही हिमालय की गगनचुम्बी चोटियो से भली प्रकार की जा सकती है। सभी विशाल, सभी महान्, सभी तुषार-धवलित और सभी वीरान! यहा समुद्र की ऐसी कोई स्थिर सतह नहीं मिलती जिससे उनकी आपेक्षिक ऊँचाई नापी जा सके। इसीलिए कह सकते हैं कि वे सभी समान रूप से विशाल है, समान रूप से महान् है। यदि उनका गवेषित विषय दृश्य जगत् या तत्सम्बन्धी ज्ञान होता तो कहा जा सकता था कि अमुक दर्शन अथवा उसका उद्भावक उस अवस्था को पहुँचा और उस पर अमुक दर्शन अथवा दार्शनिक ने विकास इतना किया। किन्तु यहा तो प्रारम्भ से ही अनिरुक्त और अनिर्देश्य को ही, असीम और 'बेहद' को ही, परिनिष्ठित और स्थिर तत्त्व को ही, लक्ष्य बनाया हुआ है। फिर उसके विषय में निश्चित वैज्ञानिक भाषा की क्या गति चले? जो अनन्त को नाप सकता है, निर्विकल्प की कल्पना कर सकता है 'आनीदवात स्वधया तदेक' पर स्वच्छन्द और सुनिश्चित विचार उपस्थित कर सकता है, वही कोई औपनिषद 'यक्ष' बौद्ध दर्शन या अन्य किसी भारतीय दर्शन में निहित आध्यात्मिक विकास को भले ही नाप

---

(१) देखिये बुद्धचरित २।७७-७८

सके, मनुष्य की बुद्धि की तो गति नही है। न्याय और वैशेषिक जैसे दर्शन, जो अधिकाश मे दृश्य जगत् के आधार पर ही समस्या के उद्‌घाटन और समाधान का प्रयत्न करते है, अन्त मे अपनी अपूर्णता को जाने बिना नही रहते, अतः वे भी अज्ञात और असीम के क्षितिज की ओर ही ताकते है, इसमें सन्देह नही। सभी भारतीय दर्शन जीवन की उच्चतम पवित्रता मे अभिव्याप्त है, इसीलिए हम कह सकते है कि हिमालय की चोटियो के समान तुषार-धवलित है। किन्तु साथ ही वे सभी वीरान भी है! ज्ञान के वे पर्याय नही, केवल मार्ग है। ज्ञान का मानसरोवर तो उन सबके पार हिलोरें लेता हुआ दिखाई पडता है, जिसका दर्शन केवल स्वानुभव से ही शक्य है। जिस प्रकार कपिल, गौतम और बादरायण, उसी प्रकार बुद्ध और महावीर भी हमें केवल मार्ग दिखा सकते है, जिस परम सत्य को उन्होने पाया था उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति नही कर सकते। वह तो अवाच्य, निरभिलाप्य और अनिर्वचनीय ही रहेगा। अत सभी दर्शनो और उनके उद्‌भावको के प्रति हम यही श्रद्धा अर्पित कर सकते है 'हे देवो! आप में न तो कोई अल्प है और न कोई तुच्छ। आप सभी समान रूप से महान् है।' समानान्तर रूप से दिगन्त तक फैली हुई हिमालय की पर्वत श्रेणियो की विभिन्नता केवल प्रज्ञप्ति के लिए ही है, वास्तव में वे एक दूसरी से सटी हुई एक ही अगी के विभिन्न अविभाज्य अग है, जिनकी सग्राहक अनुभूति ही 'यह हिमालय है' इस प्रकार होती है। इसी प्रकार यह जैन दर्शन है, यह बौद्ध दर्शन है, यह वैदिक दर्शन है, यह अवैदिक दर्शन है, इस प्रकार के प्रयोग केवल निरुक्ति के लिए है, विश्लेषणात्मक निरूपण की सुविधा के लिए ही है। परमार्थत वे एक-दूसरे से इस प्रकार से सटे हुए है और एक मे अनेक और अनेक में एक की गम्भीर अनुभूति पर इस प्रकार व्यवस्थित है कि मनीषी ऋषि पञ्चशिख के पद-चिन्ह पर चलकर सिवाय 'एकमेव दर्शनम्' कहने के और कोई गति ही हमारे लिये नही है। सभी को समान रूप से महान् कहने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं है। अल्प और महान् कहने में विषमता आ जाती है, भेद-बुद्धि घर कर जाती है। पर ज्ञानियो के लिये सम-विषम कुछ रह ही नही जाता। सत्य की यह अविवाद और समाहारक अनुभूति ही भारतीय दर्शन का अभिप्राय है और यही उसका चरम लक्ष्य और गन्तव्य भी है।

जितने दर्शन हैं, उतने सत्य नहीं हैं। यह वैदिक सत्य है यह बौद्ध सत्य है, यह कहना अज्ञान है। सत्य एक और अखण्ड है। हम पहले [illegible]

'एकमेव दर्शनम्' की भावना मे किसी भी एक दर्शन-प्रणाली को अल्प या महान् कहना उचित नहीं

उद्धृत कर चुके है और उसकी प्रभावशीलता के कारण यहा निष्कर्ष रूप में उसके पुन उद्धरण का हमें लोभ है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'सत्य एक है, दूसरा (सत्य) नही है'। 'एक हि सच्च न दुतियमत्थि'। अद्वैत का इससे अधिक सुन्दर निरूपण अब तक नही किया गया है। सत्य नाना नही है। नाना सत्यो या दर्शनो की कल्पना मिथ्या है। जब दूसरा ही सत्य नही है, तो नाना कहा से होगे? दर्शनो के तत्त्वो मे भेद नही है। भेद केवल उनकी दृष्टियो में है। जिसने जिस दृष्टिकोण से और जितना सत्य देखा है उतना ही अकित किया है, परिपूर्ण सत्य तो परिपूर्ण मानव के लिये ही जानना शक्य है और फिर वह मनुष्य की व्यक्त करने की शक्ति के भी बाहर है। भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय जितना व्यक्त करते है, उससे अधिक वे छिपाते भी है। उनका शान्त मौन उपदेश तो एक है। उसे मौन साधक ही सुनते हैं, दूसरो के लिए वाद-विवाद का मार्ग खुला है। सब भारतीय दर्शन सम्प्रदाय साधना पर प्रतिष्ठित है, सभी दु ख निवृत्ति के मार्ग को बताते है और क्या किसी ने भी परीक्षा करके उनमें से किसी अन्य को भी मिथ्या बताया, तो फिर कुतार्किको की तरह केवल बुद्धि-कौशल को ही दिखाकर हम किसी को किसी से बडा या छोटा दिखाने का प्रयत्न क्यो करें? आचार्यों को छोडकर हमें पूर्व ऋपियो के पास क्यो न जायँ? वहा क्या कोई विभेद शक्य है? सम्यक ज्ञान का रूप केवल बुद्धि के द्वारा कभी जानने योग्य नही है, और न साधना करके किसी ने भी आज तक उसके लिए विवाद रोपा है? ईश्वर, जीव, प्रकृति और परमेश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तो मे तो सदा विवाद रहेगे ही, किन्तु क्या 'अपने' विषय में भी किसी को विवाद है? क्या नाना दु खो से प्रतिक्षण तप्त होने में भी कोई सन्देह है? तो फिर उसका प्रतिकार हम क्यो नही करते? अन्धकार में पडे हुए हम प्रकाश को क्यो नही खोजते? यही तो दर्शन को देना है। नाना दु खो को सहते है, अशान्ति की अग्नि मे निरन्तर जलते है, व्यष्टि और समष्टि की असख्य समस्याएँ हमें घेरे हुए है, अन्धकार हमारे चारो ओर है, तो फिर त्राण को अपने अन्दर क्यो नही देखते। क्यो नही अपने ही शरीर में नाना विपत्तियो और वेदनाओ को नित्यप्रति सहते हुए हम उनके शमन के मार्ग को समझने का प्रयत्न करते? हमें क्यो नही कभी विचार आता कि क्या इनके निरोध का भी कोई मार्ग है? जिस क्षण यह विचार

आ जायगा हम मुमुक्षु हो जाएँगे और भारतीय दर्शन हमारा मार्ग दर्शक बन जायगा। किसी भी उसके अग पर हम अपना चित्त एकाग्र करें मूल वस्तु हम बहुत दूर नहीं जा सकेंगे। अन्त में अनात्म को आत्म से विलग कर उस अक्षय सुख के उत्तराधिकारी हम बनेंगे जो शान्त है, शिव है, अद्वैत है और जिसके लिए सभी भारतीय दर्शनो का समान रूप से उपक्रम है, उद्योग है। इस दृष्टि से किसको छोटा और किसको बडा कहा जाय, सब एक ही अगी के आवश्यक अग है जो सब मिलकर ही परिपूर्णता प्राप्त करते है। 'एकमेव दर्शनम्' की भावना की गूढतम अनुभूति में तो तुलनात्मक अध्ययन भी एक निचली कोटि की चीज रह जाती है। 'एक हि तच्च' जानने वाला किसकी किसके साथ तुलना करेगा ? दूसरा तो है ही नही। 'न दुतियमत्थि'। हमारे अध्ययन की यही भूमिका है और यही उसका उपसहार भी।

अत अन्य दर्शनो के प्रति विरोध अथवा निरादर बुद्धि का सर्वथा परिहार करके, उनके ही सहचर, सहोदर और समान मन्तव्य वाले बौद्ध-दर्शन के प्रति
उनके सम्बन्ध को हम धर्मसेनापति सारिपुत्र के
अतः 'बुद्ध-शासन मनन इन शब्दो के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं कि
करने के लिए अत्यन्त 'बुद्ध-शासन मनन करने के लिए अत्यन्त उत्तम
उत्तम है' धर्मसेनापति है'। इस छोटे से वाक्य मे तथागत के उस
सारिपुत्र के इन सामान्य प्रधान ज्ञानी भिक्षु ने अपने शास्ता के मार्ग
और अत्यन्त उदार शब्दो का समग्र महत्त्व और आकर्षण भर कर उस
में ही समग्र बौद्ध दर्शन के दिया है। तथागत के समान शास्ता इस लोक
महत्त्व का यहां अकन में दुर्लभ है। जो पुरुष अपने को दमन करना
चाहता है, सयम का इच्छुक है, उसके लिए बुद्ध
जैसा 'सारथी' मिलना सम्भव नही है। लोक मे शास्ता और दर्शनकार तो अनेक हे और सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ है, किन्तु शाक्यमुनि जैसे उपदेष्टा दुर्लभ है जो प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर साधिकार कह सके, 'निर्वाण के लिये कोई समय निश्चित नही है। यहा आओ और अमरत्व प्राप्त करो'। तथागत के समान उदात्त और अनन्त कोमल व्यक्तित्व इस विश्व ने नही देखा। उनकी मूर्ति के समान ही उदात्त और मानव-मन का ऐसा उठाने वाली वस्तु विश्व में यूरोप के एक महान् दार्शनिक (काउंट केसरलिंग) को नही मिली, तो फिर उनके साक्षात् व्यक्तित्व के विषय मे तो कहना ही क्या ? जो तत्त्व के एकनिष्ठ उपासक है और जिन्होने सन्निकट से उनकी चरित

है कि वे जीवन की गम्भीरतम समस्याओ पर अपनी परम्परागत भावनाओ पर विजय प्राप्त करके विचार कर सकें और उसे जीवन की साधना में पचा सकें, उनके लिए शाक्यमुनि के उपदेशो के समान मननपूर्ण और कोई चीज नही हो सकती। उपनिषदो का स्मरण इस सम्बन्ध में अवश्य विशेष रूप से होता है और वे भी निश्चय ही बुद्ध के प्रज्ञान के समान सभी मुमुक्षुओ के लिए सदा विचारणीय हैं। मनुष्य के रोग को जिस प्रकार बुद्ध ने ठीक तरह से समझा है, उस पूर्ण पुरुष ने जिस प्रकार दुःखी मानव की समस्याओ की नब्ज पकडी है, वैसा अन्य किसी महात्मा या विचारक के विषय में नही कहा जा सकता। यही कारण है कि आज वैज्ञानिक युग मे भी, जब कि धर्म और दर्शन के नाम से भी मनुष्य चिढने लगे हैं, बुद्ध और बौद्ध धर्म का आकर्षण निरन्तर बढ रहा है और विश्व में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के लक्षण उदय हो रहे हैं। भगवान् बुद्ध विश्व इतिहास के एक युग निर्माता विचारक हैं। और सब से बडी बात तो यह है कि वे मानवता के सब से बडे 'भिषक्' है। जिसे जीवन की समस्याओ पर सोचना होगा, अपना और लोक का कल्याण करना होगा, वह एक बार महाश्रमण की ओर अवश्य देखेगा, इसमें सन्देह नही। किन्तु अन्त मे सकल्प के महान् ही उनके प्रखर तेज के सामने ठहरेंगे, निर्बल और अल्पशक्ति तो कोई अधिक आश्वासनकारी त्राता चाहेंगे जिसकी पीठ पर सवार होकर वे भव पार कर सकें, और उन्हे वे मिल भी जायँगे। किन्तु जो विचार के द्वारा, साधना के द्वारा, अपने ही 'प्रधान' के द्वारा, जीवन के उद्देश्य को सम्पादिन करना चाहेंगे, फिर चाहे वे किसी भी राष्ट्र, किसी भी जाति अथवा किसी भी देश के क्यो न हो, वे बुद्ध के 'धम्मदायाद' बनेंगे। कपिल, बादरायण, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य और शकर के प्रज्ञान भी विचारको के लिए कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही, किन्तु शाक्यमुनि का क्षेत्र इनसे कुछ भिन्न प्रकार का है, और वह यह कि शाक्यमुनि के स्वर में उपर्युक्त मनीषियो की अपेक्षा मनुष्य की गम्भीरतम समस्या दुःख और उसके निरोध को लेकर जो गहन मनन है, वह अन्यत्र उस प्रभाव के साथ नहीं मिलता। पूर्वोक्त मनीषी गण तत्त्वज्ञान पर ही अधिक जोर देते है और उनके व्यक्तित्व ऐतिहासिक रूप से इतने प्रभावशाली नही हैं। तथागत का अन्तर्वेधी ज्ञान भारतीय विचार-शास्त्र के इतिहास में ही नही सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान के इतिहास में अतुलनीय है और इसीलिए वह उतना प्रभावशाली भी है। उनके वचनो के मनन के समान गम्भीर और आश्वासनप्रद वस्तु विश्व के विचारशास्त्र के इतिहास मे दूसरी नही है।

पूर्व-प्रस्तावित 'बहुजन वेदान्त' के रूप में मूल बुद्ध-दर्शन और 'बौद्ध वेदान्त' के रूप में उत्तरकालीन विकसित बौद्ध दर्शन को देखना ही भारतीय दर्शन मे बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्व का सर्वोत्तम अनुमापन है

'बहुजन वेदान्त' या जन वेदान्त के रूप में हमें मूल बुद्ध-दर्शन को देखना चाहिए, यह हम पहले निरूपित कर चुके हैं। उपनिषदों की सर्वोत्तम भावनाएँ ही जन-साधारण के कल्याण के लिए व्यवहार-भाषा में भगवान् बुद्ध के द्वारा व्यक्त की गई, किन्तु उपनिषदों के प्रमाण के आधार पर अथवा उनका साक्ष्य दे देकर नही बल्कि अपने ही साक्षात्कार के बल पर। तथागत की बोधि पूरे अर्थों में मौलिक थी, उपनिषदों के ऊपर का वह ज्ञान था और उसी पर बुद्ध-धर्म आधारित है। बुद्ध का मन्तव्य और प्राचीन उपनिषदों का मन्तव्य एक था, पर यह बताने का काम तथागतों का नहीं, यह तो आचार्यों का काम है। तथागत सिद्धान्त बनाने अथवा उखाड़ने के लिए नही आये थे, उनका आना तो लोक में प्रकाश फैलाने के हेतु ही था। प्रस्तावित 'बहुजन-वेदान्त' या 'जन-वेदान्त' शब्द में यह ध्वनि विद्यमान है कि बुद्ध-धर्म औपनिषद ज्ञान के ऊपर प्रगति के रूप में है। उपनिषदों के लिये जो तत्त्व है, अध्यात्म है, बुद्ध के लिये वही नीति है, जीवन है। उपनिषदों के लिये जो ब्रह्म का साक्षात्कार है, वही बुद्ध के लिये जीवन का कल्याण बन गया है, मैत्री, करुणा, और मुदिता और उपेक्षा के रूप मे वास्तविक 'ब्रह्म विहार' बन गया है। एक ब्रह्म को जानने की बात कहता है, दूसरा उसमें विहार करने की। उपनिषदों के अध्यात्मवाद का बुद्ध-शासन में मानवीकरण है, अतः वह ज्ञान की एक उच्चतर स्थिति मानी जा सकती है। उपनिषदों का गुह्य आदेश यहा बहुजनों के हितार्थ सूर्य और चन्द्रमा की तरह चमका है, उसने आचार्य-मुष्टि के स्थान पर नाना जाति और गोत्र के पुरुषों के लिये, चातुर्वर्णी शुद्धि के आधार पर सत्त्व-शुद्धि का मार्ग खोला है। अतः वह पूरे अर्थों में एक उच्चतम ज्ञान है जो सब जनों के लिये है। इसी अर्थ में उसे यहा 'जन-वेदान्त' या 'बहुजन वेदान्त' कहा गया है। उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन के विकास को हम भली प्रकार 'बौद्ध वेदान्त' पुकार सकते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। जिस प्रकार शकर आदि वेदान्ती आचार्य उपनिषदों के साक्ष्य पर ज्ञान के चरम निष्कर्ष स्वरूप (वेदान्त) को निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार श्रौत प्रमाण का आश्रय न लेकर बल्कि अन्य ही उपादानों से मनीषी बौद्ध आचार्यों ने अन्तिम सत्य को देखने

है[1]। इसी प्रकार प्रज्ञा पारमिता शतसाहस्रिका[2], प्रज्ञा पारमिता अष्ट साहस्रिका[3], समाधिराज[4] और धर्म-संग्रह[5] में, जो सब महायान बौद्ध धर्म के ग्रन्थ हैं, बोधि पक्षीय धर्मों का विवरण किया गया है। फिर भी डा० हरदयाल के इस मत से हम सहमत नहीं हो सकते कि चूंकि 'बोधि पक्षीय' शब्द में 'बोधि' शब्द का प्रयोग है न कि निर्वाण का (निर्वाण के लिये प्राय बोधि शब्द का प्रयोग महायान बौद्ध धर्म की एक विशेषता है) इसलिये 'बोधि पक्षीय' शब्द की उत्पत्ति महायान के पूर्वगामी बौद्ध संस्कृत साहित्य में हुई[6]। बोधि या 'सम्यक् सम्बोधि' (सम्मा सम्बोधि) शब्द उतना ही स्थविरवाद बौद्ध धर्म का है जितना महायान का, जिसका उसने बाद में चलकर कुछ अधिक प्रयोग किया। हमारी निश्चित धारणा है कि 'बोधि पक्षीय धर्म' शब्द स्वयं भगवान् बुद्ध के मुख से निःसृत हुआ था और उन्हीं से उनके सब शिष्यों ने, चाहे वे तथोक्त स्थविरवादी हों, या महायानी, लिया है। हां, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका सर्वप्रथम प्रयोग तो पालि-त्रिपिटक में ही हुआ है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। बोधि पक्षीय धर्मों का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था और स्थविरवादियों के नैतिक दर्शन के समान वह सम्पूर्ण बौद्ध साधना का आधार है। अब हम बोधि पक्षीय धर्मों के संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन पर आते हैं—

बोधि पक्षीय धर्मों का संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन— चार स्मृति प्रस्थान

चार स्मृति-प्रस्थान, जिनका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया है, ये हैं (१) काया में कायानुपश्यना, (२) वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, (३) चित्त में चित्तानुपश्यना और (४) धर्मों में धर्मानुपश्यना। 'स्मृति' शब्द बौद्ध साधना में अत्यन्त व्यापक है। साधारणत 'स्मृति' (पालि सति) शब्द का अर्थ है स्मरण या यादगारी। स्मरण किसका? यादगारी किसकी? अपनी काया और मन से किये जाने वाले प्रत्येक कर्म की। जानने

---

(१) पृष्ठ ४५८
(२) पृष्ठ १४२७
(३) पृष्ठ १९४
(४) पृष्ठ १९३
(५) खण्ड ४३
(६) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन-बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८१

हुए, ज्ञान पूर्वक, प्रत्येक कर्म को करना, यही स्मृति है। मानसिक सावधानी का यह दूसरा नाम है। अपने मौलिक रूप में 'स्मृ' धातु का अर्थ गम्भीर चिन्तन था। बौद्ध प्रयोग में यह अर्थ सम्पूर्ण रूप मे समाविष्ट है। 'स्मृति' का सतत अभ्यास भगवान् बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व किया था। अनेक बार उन्होंने कहा है, "मैंने न दबने वाला वीर्य आरम्भ किया था। उस समय मेरी स्मृति अमुषित और जागृत थी।[1] " वस्तुत 'अमुषितस्मृति' भगवान् बुद्ध का एक उपपद ही है। जहा कही साधक भिक्षु का वर्णन आया है, वहा अनिवार्य रूप से यह कहा गया है, "वहा एक भिक्षु भोजन के बाद, भिक्षा से निवटकर, आसन मार कर, शरीर को सीधा रख, स्मृति को सामने उपस्थित कर ध्यान करता है[2]।" राहुल को उपदेश देते हुए भगवान् ने स्मृति के अभ्यास पर बडा जोर दिया है[3]। इसी प्रकार अन्तिम बार जब आनन्द ने भगवान् से पूछा कि स्त्रियो के दर्शन होने पर हम क्या करेंगे, तो भगवान् ने यही कहा था, 'सति आनन्द उपट्ठापेतब्बा',[4] अर्थात् आनन्द! स्मृति को उपस्थित बनाये रखना। जितनी भी दुष्ट इच्छाएँ है, उनको जीतने का उपाय 'स्मृति' है। वह मार को परास्त करने का अमोघ अस्त्र है। मिथ्या मतवाद रूपी जितने झरने इस लोक में बहते है उनसे वह साधक को बचाती है। भगवान् ने कहा है, "लोक में जितने झरने प्रवाहित हो रहे है, स्मृति उनका निवारण है[5]।" हम पहले देख चुके है कि अपने काल में प्रचलित नाना मिथ्या दार्शनिक दृष्टियो से बचाकर साधको के सामने एक अविवाद मध्यम-मार्ग को रखना तथागत का एक उद्देश्य था। चार स्मृति-प्रस्थान भी ऐसी ही एक मध्यमा प्रतिपदा थी

---

(१) बोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५); महाहत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।८), महासच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।६); वेरजक-ब्राह्मण-सुत्त (अगुत्तर) आदि।

(२) महा सतिपट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)

(३) देखिये महाराहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।२); अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।१); राहुल-सुत्त (सुत्त-निपात)।

(४) महा परिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

(५) यानि सोतानि लोकस्मि सति तेस निवारणं। अजित माणव-पुच्छा (सुत्त-निपात—पारायणवग्गो)

जिसका उपदेश भगवान् ने पूर्वान्त और अपरान्त दृष्टियो के अतिक्रमण के लिये दिया था। उन्होने स्वय कहा है, "पूर्वान्त (जीव और लोक के आदि सम्बन्धी) और अपरान्त (जीव और लोक के अन्त सम्बन्धी) दृष्टियों के दूर करने के लिये, अतिक्रमण करने के लिये, मैंने चार स्मृति प्रस्थानो का उपदेश दिया है[1]।" वस्तुत मध्यम-मार्ग का विचार भगवान् बुद्ध के शासन का आधार-भूत विचार है और न केवल मध्यमा प्रतिपदा रूपी आर्य अष्टागिक मार्ग के ही स्वरूप का बल्कि प्रतीत्य समुत्पाद और बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद के स्वरूप का भी सम्यक् अवधारण हम उनके उपदेश के मध्यम-मार्गी रूप को समझे विना नही कर सकते। स्मृति-प्रस्थानो का उपदेश भी अभ्यास के लिये है, आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नो का निवटारा करने के लिये नही। भगवान् अपने उपदेश की प्रक्रिया में पहले साधक भिक्षु को भोजन की मात्रा का उपदेश देते थे, फिर जागरण में तत्पर रहने का और उसके बाद 'स्मृति' के अभ्यास का[2]। आनापान सति (प्राणायाम के साथ स्मृति) चार स्मृति-प्रस्थान, सात वोध्यग और विमुक्ति को वे निर्वाण-साधना को क्रमिक अवस्थाएँ मानते थे। उनका कहना था कि आनापानसति चार स्मृति-प्रस्थानो को पूर्ण करती है और चार स्मृति-प्रस्थान सात वोध्यगो को। इसी प्रकार सात वोध्यग विद्या और विमुक्ति को पूर्ण करते है[3]।

'स्मृति शब्द के साथ-साथ 'सम्प्रजन्य' शब्द का भी प्रयोग पालि साहित्य में अक्सर दृष्टिगोचर होता है। भिक्षु के लक्षणो के सम्बन्ध में अक्सर कहा गया है कि उसे स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होना चाहिये। 'सतो सम्पजानो' (स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त) साधक भिक्षु का एक बडा लक्षण है[4]। 'सतीमा' (स्मृतिमान्) भिक्षु पर मार कभी अपना वार नही कर सकता। 'अध्यात्मचिन्तक स्मृतिमान् भिक्षु इस दुस्तर भव-बाढ को तर जाता है'।

---

(१) पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६)
(२) गणकमोग्गल्लान-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।७)
(३) आनापान सति सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।८)
(४) जागरो चस्स भिक्खवे भिक्खु विहरेय्य सतो सम्पजानो समाहितो (भिक्षुओ! भिक्षु को चाहिये कि वह जागरूक, स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त तथा समाहित-चित्त होकर विहरे) जागरिय-सुत्त (इतिवुत्तक २।२।१०)

'अज्झत्तचिन्ती सतिमा ओघ तरति दुत्तर'[1] । इसके विपरीत जिसकी स्मृति नष्ट हो गई है, जिसे अपनी शारीरिक और मानसिक क्रियाओ के सम्बन्ध में जानकारी नही है, जागरुकता नहीं है, वह नष्ट हो जाता है । पतित भिक्षु का जहाँ कही वर्णन आया है, उसकी स्मृति को नष्ट अवश्य दिखाया गया है । उसका लेटना, उठना, बैठना सब स्मृति-विहीन होता है जैसे कि साधक-भिक्षु का स्मृति-युक्त । भगवान् बुद्ध के पतित शिष्य देवदत्त का सुधि विहीन अवस्था में सो जाने का वर्णन किया गया है[2] । स्मृति के समान 'सम्प्रजन्य' शब्द का भी यही अर्थ है कि साधक को अपने प्रत्येक कर्म के विषय में ज्ञानवान् होना चाहिये । सोते, जागते, उठने, बैठने, बोलते, चुप रहते, प्रत्येक अवस्था में उसे जागरूक रहना चाहिये कि वह क्या कर रहा है । प्रत्येक सांस के लेने और छोडने की अवस्था मे 'स्मृति' का अभ्यास करना चाहिये । यही आनापान-सति है, अर्थात् प्रत्येक आश्वास (सांस लेना) और प्रश्वास (सांस छोडना) के साथ स्मृति की भावना । 'सासो सांसा नाम जप' की जो बात सन्तो ने नाम के सम्बन्ध मे कही है, वही भगवान् बुद्ध ने चार स्मृति-प्रस्थानो के सम्बन्ध में कही थी। जब प्रत्येक सांस के आने-जाने के साथ स्मृति की भावना चलती है तो मनुष्य की अन्तिम सास जब छूटती है तो वह भी विदित होकर ही लय होती है, बिना विदित हुए नही, ऐसा भगवान् का कहना है[3] । स्मृति और सम्प्रजन्य के द्वारा मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्याधाओ और पीडाओ पर भी विजय पाता है । भगवान् बुद्ध को अनेक बार हम शारीरिक पीडाओ को स्मृति और सम्प्रजन्य के द्वारा सहन करते देखते है । भगवान् बुद्ध के पैर में देवदत्त ने एक पत्थर फेंक कर मारा था जिससे उसमे काफी चोट आ गई थी । भगवान् इस दुख को स्मृति-सम्प्रजन्य पूर्वक सहते थे[4] । वृद्धावस्था के दुख को, जब कि तथागत का शरीर किसी प्रकार बाध-बूध कर चल रहा था, भगवान स्मृति और स्मृतिजन्य पूर्वक विहार करते हुए उसे सहते थे[5] । सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे शिष्यों

(१) हेमवत-सुत्त (सुत्त-निपात)
(२) देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग (सघ-भेदक-खन्ध)
(३) महाराहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।२)
(४) देखिये सकलिक-सुत्त (सयुत्त-निकाय)
(५) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

के चले जाने के दु ख को सहने के लिये शास्ता के पास स्मृति और सम्प्रजन्य ही दो साधन थे[1] और उनके वियोग से दु खी भिक्षुओ के लिये भी उनके पास इससे अधिक और कुछ कहने को नही था, "भिक्षुओ ! वह कहाँ से मिले जो चला जानेवाला है । सब सस्कार अनित्य है । इसलिये भिक्षुओ, आत्म-दीप होकर, स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ विहरो[2]" । स्मृति और सम्प्रजन्य का अभ्यास तथागत की प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रिया में समाया हुआ था । उनका उठना, बैठना, सोना, लेटना सब स्मृति-पूर्वक होता था । उन जैसा जागरूक पुरुष विश्व ने दूसरा नही देखा है ।

बौद्ध योग-साधना में चार स्मृति-प्रस्थानो का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसपर अधिक जोर नही दिया जा सकता । स्वय बोधि पक्षीय धर्मों के वर्गीकरण में स्मृति की गणना चार बार की गई है । आर्य अष्टागिक मार्ग में उसका स्थान सातवाँ है । सात बोध्यगो में वह प्रथम है । इसी प्रकार पाँच बलो में वह तीसरा बल है और पाँच इन्द्रियो में तीसरी इन्द्रिय है । तृतीय और चतुर्थ ध्यान में भी वह विद्यमान रहती है । पाँच प्रकार के सयम (सवर) में भी उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है । पाँच प्रकार के सयम है, प्रातिमोक्ष-सयम, स्मृति-सयम, ज्ञान-सयम, क्षान्ति-सयम और वीर्य-सयम । स्मृति-सयम की परिभाषा करते हुए कहा गया है "(भिक्षु) चक्षु-इन्द्रिय की रक्षा करता है, चक्षु-इन्द्रिय में सयम को प्राप्त करता है, यह है स्मृति-सयम ।"[3] वस्तुत चार आर्य सत्य, आर्य अष्टागिक मार्ग, सप्त बोध्यग, चार ध्यान, अनात्मवाद, सबको स्मृति अपने गर्भ में छिपाये हुए है ।

'स्मृति-प्रस्थान' (पालि सति-पट्ठान) शब्द का अर्थ है स्मृति का प्रस्थान या उदय[4] । स्मृति की भावना चार क्षेत्रो में की जाती है, यथा काया, वेदना,

---

(१,२) देखिये उक्काचेल-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

(३) 'रक्खति चक्खुन्द्रियं, चक्खुन्द्रिये सवरं आपज्जतीति', अय सति-सवरो । विसुद्धि मग्ग १।१८

(४) सति-पट्ठान का ठीक संस्कृत रूपान्तर स्मृति-प्रस्थान ही है । परन्तु महा-यानी बौद्ध संस्कृत साहित्य में इसे 'स्मृत्युपस्थान' कहा गया है, जो व्याकरण की दृष्टि से गलत नहीं है, जैसा भ्रमवश डा० हरदयाल ने उसे सोचा है । डा० हरदयाल ने उसे 'दुर्भाग्यपूर्ण गलती' कहा है । उनके मत के लिये देखिये उनका ग्रन्थ 'दि बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट

चित्त और (बाह्य और आन्तरिक) धर्मों मे । यही क्रमश कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना है । हम पहले कह चुके है कि ये चार स्मृति-प्रस्थान नाना मिथ्या दृष्टियो के अतिक्रमण के लिये है । भगवान् ने इन चार स्मृति-प्रस्थानो को भावना करने योग्य धर्म बताया है[1] । इनकी भावना से अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा उन्होने कहा है[2] । चूकि इन स्मृति-प्रस्थानो का अभ्यास गहरी मानसिक शिक्षा की अपेक्षा रखता है, अत गृही लोग कभी ही कभी इनका अभ्यास कर सकते है[3], जब कि बुद्ध-स्मृति, धर्म-स्मृति और सघ-स्मृति के रूप में स्मृति का अभ्यास वे भी प्रत्येक समय कर सकते है[4] । चार स्मृति-प्रस्थानो की प्रशसा मे भगवान् ने इतना कहा है जितना सम्भवत उन्होने अन्य किसी साधन के सम्बन्ध मे नही कहा । उन्होने स्मृति के इन प्रस्थानो को प्राणियो की विशुद्धि के लिये, शोक तथा कष्ट के उपशमन के लिये, दु ख के विनाश के लिये और ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति के लिये एक मात्र मार्ग माना है । "भिक्षुओ ! ये जो चार स्मृति-प्रस्थान है, वे प्राणियो की विशुद्धि के लिये, शोक तथा कष्ट के उपशमन के लिये , दु ख तथा दौर्मनस्य के नाश के लिये, ज्ञान की प्राप्ति के लिये, निर्वाण के साक्षात्कार के लिये एकायन मार्ग है[5] ।" चूकि तथागत प्रयोजनवादी थे, इसीलिये

सस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ८५ । सस्कृत 'स्मृत्युपस्थान' का पालि रूपान्तर 'सति-पट्ठान' ही होगा, जैसा कि—'स्मृति-प्रस्थान' का भी । यहा पालि के सन्धि-सम्बन्धी नियमो की विवेचना की आवश्यकता नहीं है ।

(१) देखिये दसुत्तर-सुत्त (दीघ० ३।११)

(२) देखिये सयुत्त-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ १८१-१८२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण)

(३) देखिये कन्दरक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।१)

(४) देखिये महानाम-सुत्त (अगुत्तर-निकाय ११।२।२)

(५) एकायन अय भिक्खवे मग्गो सत्तान विसुद्धिया सोकपरिद्दवान समतिक्कमाय दुक्खदोमनस्सानं अत्थगमाय ञाणस्स अधिगमाय निब्बाणस्स सच्छिकिरियाय यदिद चत्तारो सति पट्ठाना'ति । महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।२२); सति पट्ठान-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।१०); कन्दरक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।१), देखिये मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४५३ भी (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

उन्होंने चार स्मृति-प्रस्थानो का उपदेश साधको के कल्याणार्थ दिया है। भिक्षुओ की तो ये चार स्मृति-प्रस्थान वपौती जमीन ही हैं। सब बौद्ध साधको के लिये यह उनके बाप की छोडी हुई जमीन है, जिसपर वे निर्भय होकर विहर सकते हैं। भगवान् ने यह आश्वासन स्वय दिया है, "भिक्षुओ! भिक्षु की स्वकीय पैतृक भूमि क्या है? यही जो कि चार स्मृति-प्रस्थान[1]।" जब तक इस अपनी भूमि पर विचरेंगे, अपने पिता के द्वारा छोडी हुई भूमि पर रहेंगे, बुद्ध-पुत्रो के लिये कोई भय नही है। यह तो उनकी अपनी गोचर-भूमि है। पर जहां मार्ग भ्रष्ट मृगो की तरह[2] या लोभी हिमालय-वासी बन्दरो की तरह[3], जिन दोनो की उपमाएँ भगवान् बुद्ध ने दी थी, भिक्षुओ ने अपनी गोचर-भूमि को छोडा और दूसरी ओर (काम-भोगो की ओर) पग बढ़ाया तो उनका बन्धन निश्चित है। पर वे ऐसा क्यो करने लगे?

अब हम पालि निकायो के आधार पर चार स्मृति-प्रस्थानो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे। पहले कायानुपश्यना को लें। 'भिक्षुओ! भिक्षु कैसे काया में कायानुपश्यी हो कर विहरता है? भिक्षुओ, भिक्षु अरण्य मे, वृक्ष के नीचे, एकान्त घर में, आसन मारकर, शरीर को सीधा कर, स्मृति को सामने कर बैठता है। वह जानते हुए साँस लेता है, जानता हुआ साँस छोडता है, लम्बी सांस लेते हुए वह अनुभव करता है कि लम्बी साँस ले रहा हूँ। लम्बी साँस छोडते हुए अनुभव करता है कि लम्बी साँस छोड रहा हूँ .....सारी काया को अनुभव करते हुए साँस लेना सीखता है। सारी काया को अनुभव करते हुए साँस छोडना सीखता है। काया के सस्कार को शान्त करते हुए स.स लेना सीखता है, काया के सस्कार को शान्त करते हुए साँस छोडना सीखता है। इस प्रकार अपनी काया में कायानुपश्यी होकर विहरता है। अपनी और

---

(१) को च भिक्खुनो भिक्खवे गोचरो सको पेत्तियो विसयो? यदिदं चत्तारो सति पट्ठाना ति। सयुत्त-निकाय।

(२) कुछ मृग चारे के लोभ में अपनी स्वकीय पैतृक चरागाह को छोडकर अन्यत्र चले गये जहा वे बन्धन में पड़ गये। चार स्मृति-प्रस्थान भिक्षुओ की अपनी चरागाह है जिसे छोडने पर बन्धन मिलेगा, यह एक जातक की कथा का साराश है।

(३) अपने स्वकीय क्षेत्र को छोडकर सकट में पडनेवाले हिमालयवासी बन्दरो की सुन्दर उपमा भगवान् ने दी थी।

दूसरों की काया में कायानुपश्यी हो विहरता है। काया में उत्पत्ति-धर्म को देखता विहरता है। काया में विनाश-धर्म को देखता विहरता है। काया में उत्पत्ति-विनाश को देखता विहरता है। 'काया है' करके उसकी स्मृति, ज्ञान और प्रतिस्मृति की प्राप्ति के अर्थ उपस्थित रहती है वह अनाश्रित हो विहरता है, लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' और 'मेरा' करके वह ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भिक्षु काया में कायानपश्यी होकर विहार करता है[1]।' इसी प्रकार जिस-जिस अवस्था में शरीर हो उसका उसी-उसी प्रकार प्रत्यवेक्षण करना और साथ ही 'नित्य दोषानुदर्शन' करना भी काया में कायानुपश्यना करने के लिए, तथागत का उपदेश है। उन्हीं के मार्मिक शब्दों में 'भिक्षुओ! भिक्षु पैर के तलवे से ऊपर, केश मस्तक से नीचे त्वचा से घिरे हुए इस काया को नाना प्रकार की गन्दगी से पूर्ण देखता है। इस काया में है केश, रोम, नख, दांत, चमडी, मांस, स्नायु, मज्जा पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मूत्र। भिक्षुओ! जैसे दोनों ओर मुंह वाली एक बोरी हो और वह नाना प्रकार के अनाज, धान, मूंग, उडद, तिल, तण्डुल आदि से भरी हो, उसे आंख वाला आदमी खोल कर देखे—यह धान है, यह मूंग है, यह उडद है, यह तिल है, यह तण्डुल है। इसी प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु पैर के तलवे से ऊपर, केश मस्तक के नीचे, त्वचा से घिरे हुए, इस काया को नाना प्रकार की गन्दगी से पूर्ण देखता है[2]।' फिर काया को इसकी स्थिति के अनुसार इसके स्वभाव के अनुसार, देखना भी स्मृति-प्रस्थान है। चौदह प्रकार से इस स्मृति का वर्णन दीघ-निकाय के महासत्ति पट्ठान सुत्त में विस्तार से किया गया है। श्मशान-योग का भी वर्णन इस सुत्त में काया-नुपश्यना के रूप में किया गया है। साधक श्मशान में जाकर लाशों को देखता है और उनकी दुरवस्था को अपने शरीर पर घटाता है[3]। काया में कायानु-पश्यना वास्तव में अनात्मवाद का ही एक व्यावहारिक और साधनामय स्वरूप है। जिसने इसे साधा है वह 'लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' या 'मेरा' करके ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! भिक्षु इस प्रकार भी काया में कायानुपश्यी हो विहार करता है'[4]। भगवान् ने कहा है कि जिसने कायानु-

(१) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(२) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(३) मिलाइये बोधिचर्यावतार ८। ३०-३२
(४) महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)

स्मृति का अभ्यास किया है उसे अपूर्व प्रकृति विजय लाभ होता है जिसका उन्होंने 'दस लाभों' के रूप में वर्णन किया है।[१]। कायानुपश्यना ही कायगता स्मृति (कायगता सति) कहलाती है। इसमें शरीर की ३२ गन्दगियो पर मनन किया जाता है। मज्झिम-निकाय के कायगता सति सुत्तन्त में इसका विस्तृत वर्णन है एवं खुद्दक-पाठ के 'द्वत्तिसाकार' में संक्षिप्त उल्लेख। सुत्त-निपात के विजय-सुत्त में भी शरीर की अनित्यता के सम्बन्ध में विचार है। काया के अशुभ, गन्दे स्वरूप के मनन के द्वारा राग-शान्ति का प्रयत्न करना बौद्ध साधना का एक आवश्यक अंग था। इसी को अशुभ-भावना भी कहा गया है। भगवान् ने राहुल को उपदेश देते हुए कहा है, "राहुल! तू अशुभ की भावना कर। जो तेरा राग है, वह चला जायगा[२]।' भगवान् ने नन्दा नामक भिक्षुणी को भी उपदेश देते हुए कहा था, 'असुभाय चित्त भावेहि'[३] अर्थात् 'तू अशुभ की अपने चित्त से भावना कर।' धर्मसेनापति सारि-पुत्र ने अपने एक साथी भिक्षु को, जो राग-विद्ध हो गया था, इसी प्रकार का उपदेश दिया था।'उदान' में भगवान् अपने शिष्यो मौद्गल्यायन और कात्या-यन को कायगता स्मृति-परायण देखकर प्रसन्न उद्गार करते दिखाये गये हैं। अभय माता ने अशुभ भावना के द्वारा अपनी निर्वाण-प्राप्ति की सूचना दी है[४]। विसुद्धि मग्ग में एक भिक्षु की अशुभ भावना का एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है, जो बड़ा प्रभावशाली है[५]। भगवान् ने कहा था कि कायगता स्मृति करनेवाले भिक्षु को चार ध्यानो की प्राप्ति होती है और वह मार को अवसर नही देता। भगवान् ने कहा है कि काय-गता-स्मृति करने वाले भिक्षु को इतना सुख मिलता है कि 'उसके शरीर का कोई भाग विवेकज प्रीति-सुख से अव्याप्त नहीं रहता[६]।" जैसे पातालतोड़ कुएँ में अजस्र जल की धार निकलती है वैसे ही आनन्द का अजस्र स्रोत साधक के हृदय में फूट पड़ता है, जिसकी शीतलता से उसके शरीर का कोई भाग

(१) कायगतासति सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९)
(२) महाराहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।२)
(३) थेरीगाथा, गाथा १९, देखिये गाथा ८२ भी।
(४) थेरी गाथा, गाथाएँ ३३-३४
(५) देखिये विसुद्धि मग्ग १।५५
(६) कायगता सति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९); महासकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

अछूता नही रहता[1]। जैसा कबीर साहब ने कहा था 'रम गगन गुफा तें अजर झरै' वैसी ही हालत कायगता-स्मृति करनेवाले भिक्षु की हो जाती है— 'अमर होइ कबहूँ न मरै'। स्वय भगवान् बुद्ध ने कहा है, "भिक्षुओ! जो कायगता सति का उपभोग नही करते, वे अमृत का उपभोग नही करते, जो कायगता सति का उपभोग करते हैं, वे अमृत का उपभोग करते हैं।"[2] 'भिक्षुओ! भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो कैसे विहरता है?' 'भिक्षुओ! भिक्षु सुख-वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि सुख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ। दु ख-वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि दु ख वेदना अनुभव कर रहा हूँ। अ-दु ख असुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि अ-दु ख असुख वेदना को अनुभव कर रहा हूँ। भोग पदार्थ युक्त सुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि भोग-पदार्थ युक्त सुख वेदना को अनुभव कर रहा हूँ भीतर बाहर की वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है। वेदनाओं में उत्पत्ति धर्म को देखता है। वेदनाओं में विनाश धर्म को देखता है। वेदनाओं में समुदय-विनाश धर्म को देखता है। . वह अनाश्रित हो विहरता है। लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' और 'मेरा' करके ग्रहण नही करता। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है[3]। 'भिक्षुओ! भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी हो कैसे विहरता है?' 'भिक्षुओ! भिक्षु स-राग चित्त को जानता है कि यह स-राग चित्त है। राग-रहित चित्त को जानता है कि यह राग-रहित है। स-द्वेष चित्त को जानता है कि यह सद्वेष चित्त है। द्वेष रहित चित्त को जानता है कि यह द्वेष रहित है इस प्रकार भीतरी चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। बाहरी चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। भीतर बाहर चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। चित्त में उत्पत्ति-धर्म को देखता है। चित्त मे विनाश धर्म को देखता है। लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' और 'मेरा' करके ग्रहण नही करता। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है[4]'

---

(१) कायगता सति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९); महासकुलुदायि सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

(२) मिलाइये सौन्दरनन्द १४।४२

(३) महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)

(४) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ निकाय २।९) ही।

'भिक्षुओ ! भिक्षु धर्मों (मन के विषयो) में धर्मानुपश्यी हो कैसे विहरता है ?' 'भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच नीवरणो[1] को देखता हुआ धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है ।' 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु पांच उपादान स्कन्धो[2] में धर्मानुपश्यी हो विहरता है'। इसी प्रकार छ आन्तरिक और बाहरी आयतनो में[3], सात बोध्यगो में और चार आर्य सत्यो में सम्यक् अनुपश्यना करना धर्मों में धर्मानुपश्यना करना है। इनका नैतिक फल यही मिलता है, ऐसी भगवान् की गवाही है। 'भिक्षुओ ! जो कोई भिक्षु इन चार स्मृति-उपस्थानो की सात वर्ष तक भावना करे, उसे दो फलो में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी—इसी जन्म में अर्हत्त्व, या उपादान अवशिष्ट रहने पर अनागामी भाव। भिक्षुओ ! सात वर्ष रहने दो . छ वर्ष, पाच वर्ष चार वर्ष . . सप्ताह भर भी भावना करे तो उसे दो फलो में से एक फल अवश्य प्राप्त होगा—इसी जन्म में अर्हत्त्व या उपादान अवशिष्ट रहने पर अनागामी फल।' इस प्रकार हमने देखा कि काया, चित्त, वेदनाओ और धर्मों पर विचार करने का जो मार्ग उपर्युक्त स्मृति-प्रस्थानो में प्रख्यापित किया गया है, उसमें अनात्मवाद की अनुभूति कूट कूट कर भरी हुई पडी है, जो सम्पूर्ण बुद्ध-शासन की तात्त्विक प्रतिष्ठा है। पहले हम भगवान् बुद्ध के वचन का उद्धरण देकर दिखा चुके है कि चार स्मृति-प्रस्थान सब बुद्ध-पुत्रो की सामान्य बपौती जमीन हैं। क्या इन ढाई हजार वर्ष के बौद्ध साधक-साधिकाओ ने इसे इस रूप में समझा है ? क्या स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के अन्य रूपो को मानने वालो ने भी इसमें अपना भाग पाया है, यह जानना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। यद्यपि यहाँ हमारा उद्देश्य स्थविरवादी तत्त्वदर्शन और साधना-मार्ग का विवरण उपस्थित करना ही है, परन्तु अपने क्षेत्र का कुछ अतिक्रमण कर हमें यहाँ यह दिखाने की लालसा है कि सब युगो के बौद्ध साधको और विचारको ने, चाहे वे जिस दार्शनिक सम्प्रदाय के हो, स्मृति की भावना के अपने बपौती अधिकार को समझा है और उसका अभ्यास किया है। यहाँ हम महायान बौद्ध धर्म में स्मृति के स्वरूप और महत्त्व को लेकर कुछ कहना चाहेगे।

(१) यथा कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा।

(२) यथा रूप-उपादान-स्कन्ध, वेदना-उपादान-स्कन्ध, संज्ञा-उपादान-स्कन्ध, संस्कार-उपादान-स्कन्ध और विज्ञान-उपादान-स्कन्ध।

(३) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ निकाय २।९) ही।

'ललित विस्तर' में कहा गया है कि स्मृति ससार रूपी वृक्ष की जड काट डालने के लिये कुल्हाडी के समान है। शान्ति देव ने अपने अमर दार्शनिक काव्य 'बोधिचर्यावतार' के पाचवे परिच्छेद मे स्मृति का उपदेश देते हुए कहा है, "जो अपने मन की रक्षा करना चाहते है, उनसे मेरा कहना है 'स्मृति और सम्प्रजन्य की सावधानी से रक्षा करो। मन के द्वार से स्मृति को कभी मत हटने दो। पापी इच्छाएँ चोरो के समान है, जो दरवाजे के अन्दर घुस आना चाहती है[1]।" अत शान्तिदेव ने स्मृति को चित्त रूपी द्वार का पहरेदार बताया है जो बुरी इच्छाओ रूपी चोरो को अन्दर नहीं घुसने देती। परन्तु स्मृति की प्रशसा में सब से अधिक तो आर्य अश्वघोष ने ही कहा है, जिनके शब्दो को बिना उद्धृत किये हम यहां नहीं रह सकते। नन्द को उपदेश देते हुए भगवान् कहते है—

"स्मृति को स्थिर करके तुम्हे स्वभाव से चचल इन्द्रियो को विषयो से हटाना चाहिये[2]।"

"स्मृति रूपी किवाड से इन्द्रिय रूपी बांध को बन्द करके ध्यान और आरोग्य के लिये भोजन की मात्रा को जानो[3]।"

"बैठे, चलते, खडे होते, देखते, बोलते और ऐसे ही दूसरे कार्य करते समय, अपने सभी कार्यो को अच्छी तरह जानते हुए अपनी स्मृति को स्थिर रक्खो।"

"द्वार पर नियुक्त द्वाराध्यक्ष के समान जिसकी स्मृति स्थिर है, उसके ऊपर दोषो का आक्रमण नही होता, जिस प्रकार रक्षित नगर पर शत्रुओ का आक्रमण नही होता।"

"स्मृति सभी अवस्थाओ में साधक के चित्त की इस प्रकार रक्षा करती है जैसे धाई बालक की। जिस मनुष्य ने कायगता स्मृति का अभ्यास किया है, उसे कोई क्लेश नही हो सकता।"

"दोषो का लक्ष्य वही आदमी होता है जो स्मृति रूपी कवच से हीन है, जैसे प्रतिपक्षी शत्रुओ का लक्ष्य वही योद्धा होता है जो कवच से रहित है।"

"स्मृति द्वारा अरक्षित चित्त को वैसे ही अनाथ समझना चाहिये जैसे

---

(१) बोधिचर्यावतार ५।१-५, २३-२९

(२) सौन्दरनन्द १३।३०

(३) सौन्दरनन्द १४।१

पथप्रदर्शक के विना विषम स्थलो पर चलनेवाला अन्धा मनुष्य असहाय होता है।

"लोग अनर्थों मे आसक्त होते है, अपने वास्तविक हित से विमुख रहते है और भय के रहते विराग प्राप्त नही करते, इसका कारण है स्मृति-विनाश।"

"स्मृति अपने-अपने क्षेत्र में रहनेवाले शील आदि सभी सद्गुणो का अनुसरण करती है, जैसे कि गोप विखरी हुई गायो का पीछा करता है।"

"जिसकी स्मृति नष्ट हो गई है, उसका अमृत नष्ट हो गया। जिसकी कायगता स्मृति उपस्थित है, उसके हाथ में अमृत है।

"जिसके पास स्मृति नही है, उसे आर्य सत्य कहाँ से प्राप्त होगा! और जिसके पास आर्य सत्य नही है, उसका सन्मार्ग नष्ट हो गया।

"जिसका सन्मार्ग नष्ट हो गया, उसका अमृत पद नष्ट हो गया। जिसका अमृत पद नष्ट हो गया, वह दुःख से मुक्त नही हो सकता।"

"इसलिये चलते हुए 'चल रहा हूँ', खडे होते 'खडा हो रहा हूँ' एव इसी प्रकार दूसरे कार्य करते समय अपनी स्मृति वनाये रक्खो[1]।"

अन्य वौद्ध सस्कृत साहित्य में चार स्मृति-प्रस्थानो के सम्वन्ध मे विस्तृत विवेचन उपलव्ध है[2] और वह तत्त्वत स्थविरवादी दृष्टि से भिन्न नही है।

भारत ही नहीं, विश्व के ध्यानी साहित्य में स्मृति-प्रस्थानो की भावना के समान गम्भीर और उदात्त वस्तु दूसरी नही मिल सकती। 'स्मृति' शव्द का इतना व्यापक अर्थ कही नही लिया गया है। भगवान् पतजलि ने श्रद्धा, वीर्य, समाधि और प्रज्ञा के साथ (जो स्मृति के साथ मिलकर वौद्ध साधना की पाँच इन्द्रिया है[3]) स्मृति का उल्लेख तो अवश्य किया है[4], किन्तु उसे कोई विशेष महत्त्व नही दिया है। गीताकार ने 'सम्मोह से स्मृति-विनाश और स्मृति-विनाश से वुद्धि का नाश[5]' ऐसा कह कर स्मृति के महत्त्व की ओर इगित तो अवश्य किया है, किन्तु उसे विधानात्मक रूप से साधना के अग के रूप में स्थान नही दिया है। यदि

(१) सौन्दरनन्द १४।३५-४५

(२) जिसके लिये देखिये, महाव्युत्पत्ति, पृष्ठ ७३; धर्मसग्रह, पृष्ठ ९; महायान सूत्रालंकार, पृष्ठ १४०; शिक्षा समुच्चय, पृष्ठ २२८; दशभूमिक सूत्र, पृष्ठ ३८

(३,४) देखिये आगे पाच इन्द्रियो का विवेचन।

(५) २।६३

परमार्थ-वियोगी योगियो का लक्षण वताया है[1] । उन्होने कहा है कि जव प्राणी को सब विषय-विलासो से विरति हो गई तो जानना चाहिये कि वह जग गया[2] । इस जगाने के लिये ही और न केवल जागने वल्कि क्षण-क्षण की जीवन-चर्या में जागरूक रहने के लिये ही तथागत ने स्मृति-प्रस्थानो का उपदेश दिया था जो सव काल के साधको के सम्मिलित साक्ष्य से विशुद्धि का एक अद्वितीय मार्ग और चित्त-शुद्धि का अन्यतम साधन है ।

चार सम्यक् प्रधान[3]

अव हम चार 'सम्यक् प्रधानो' के विवरण पर आते हैं । बुद्ध-शासन में 'प्रधान' शब्द का अर्थ है निर्वाण-सम्बन्धी प्रयत्न, पुरुषार्थ, वीर्य-साधन । यह शब्द ही इस वात की सूचना देता है कि बुद्ध-शासन में अभ्यास ही सव कुछ है । यह शासन उद्योग के लिये है, साधना के लिये है, सिद्धान्तवाद या वौद्धिक आयास के लिये नही । तीव्र प्रयत्न या पुरुषार्थ की साधना से ही सत्य का अधिगम होता है । 'तीव्रैं प्रयत्नैरधिगम्य सत्य'[4] यह वुद्ध के लिये कहा गया था । तीव्र प्रयत्न के द्वारा उन्होने सत्य को प्राप्त किया था और तव ज्ञानमय दीपक वन कर वे विश्व के लिये चमके थे । जिस मार्ग के द्वारा उन्होने सत्य को पाया था उसी मार्ग को वें दूसरो को भी सिखाते थे और वह था साधना का, तीव्र वीर्य-साधना का, मार्ग जिसे वे 'प्रधान' कहते थे । प्रयत्न से निर्वाण मिलता है, इसलिये वही 'प्रधान' है । भगवान् ने 'प्रधान' को सत्य प्राप्ति का 'वहुकारी धर्म' कहा था । इसका अर्थ यह था कि, "यदि कोई प्रधान करता है तो सत्य को प्राप्त करता है और यदि प्रधान नही करता तो सत्य को भी प्राप्त नही करता[5] ।" इसी वात को दुहराते हुए भगवान् ने एक दूसरी जगह कहा था कि विना प्रयत्न (प्रधान) किये मुक्ति साक्षात्कार नही

---

(१) यहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी—रामचरित मानस (अयोध्या काण्ड)

(२) जानिय तवहिं जीव जग जागा । जव सव विषय विलास विरागा— उपर्युक्त के समान ।

(३) चार सम्यक् प्रधानो के विवरण के लिये देखिये महा सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७) तथा संगीति परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)

(४) बुद्ध-चरित १।६९

(५) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)

श्रद्धा जव चित्त मे उत्पन्न होती है तो प्रसन्नता और उत्साह को पैदा करती है। वह सारे चित्त को प्रीति और प्रामोद्य से भर देती है। उत्पन्न होते ही वह चित्त-मलो को नष्ट कर देती है। 'सद्धा उप्पज्जमाना नीवरणे विक्खम्भेति ।' श्रद्धा में प्रतिष्ठित होकर साधक वीर्यारम्भ करने लगता है। अत श्रद्धा से ही वीर्य की उत्पत्ति है। वीर्यारम्भ करनेवाले की स्मृति ठहरती है। जिसकी स्मृति ठहरी हुई है, उसी का चित्त समाधि-मग्न होता है और चित्त की समाधि से ही मनुष्य प्रज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन पाँच इन्द्रियो—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा में क्रमिक सम्बन्ध है। एक के वाद एक वे उत्पन्न होती है। इस साधना-क्रम में, जैसा हम देखते है, श्रद्धा प्रथम और प्रज्ञा अन्तिम है। श्रद्धा का अन्तिम विकास-परिणाम प्रज्ञा है। वुद्ध-धर्म ने जिस प्रकार अन्य अनेक अतिवादो (अन्तो) का समवन्य किया है, उसी प्रकार वह श्रद्धा और वुद्धि का भी समन्वय है। वुद्ध-धर्म प्राय वुद्धिवादी धर्म ही माना जाता है, और यह ठीक भी है। केशपुत्र नामक ग्राम के कालाम क्षत्रियो से भगवान् ने सदा के लिये स्मरणीय शव्दो में कहा था, "कालामो ! न तुम श्रुत के कारण किसी वात को मानो, न तर्क के कारण, न नय-हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिये कि 'श्रमण हमारा गुरु है' यह सोचकर ! वल्कि कालामो ! जव तुम स्वय ही जानो कि ये वातें अच्छी, अदोष, विज्ञो से अनिन्दित है, यह ग्रहण करने पर हित, सुख के लिये होगी, तो कालामो ! तुम उन्हे स्वीकार करो [१]।" भगवान् अन्धविश्वास के कड़े विरोधी थे और वुद्धिवाद के तो वे विश्व में प्रथम आचार्य ही माने जाते है। फिर भी उन्होने श्रद्धा की महत्ता को स्वीकार किया है और उसे वुद्धिवाद द्वारा नियन्त्रित किया है। वुद्ध के प्रत्येक शिष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तथागत की सम्वोधि पर श्रद्धा रक्खे, "वह भगवान् विमुक्त पुरुप, सम्यक् सम्वुद्ध, लोकविद्, अद्वितीय पुरुष-दम्य सारथी, विद्या और आचरण से युक्त, देव और मनुष्यो के शास्ता, भगवान् वुद्ध है।" परन्तु यह श्रद्धा अन्धविश्वास के रूप में न होकर वुद्धि सम्मत अनुभव के रूप में होनी चाहिये। यह ईमान लाना जैसी वस्तु विलकुल नही है। क्योकि भगवान् ने अत्यन्त महत्वपूर्ण शव्दो में कह रक्खा है कि भगवान् वुद्ध ज्ञानी है या नही, यह जानने के लिये

---

(१) अंगुत्तर-निकाय ३।७।५

भिक्षु को समन्वेषण करना चाहिये, खोज करनी चाहिये, मीमासा और परीक्षा करनी चाहिये और परीक्षा करने पर यदि ठीक लगे तो स्वीकार करना चाहिये अन्यथा नही[१]। बुद्ध के विषय में मीमासा करनी चाहिये कि यह भगवान् परमज्ञानी (सम्यक् सम्बुद्ध) है या नही। स्वय सम्यक् सम्बुद्ध का यह अपने शिष्यों से कहना, ढाई हजार वर्ष पूर्व, कितना अभूतपूर्व, कितना आश्वासनमय! यदि भगवान् इस प्रकार न कहते तो मानवता को आज बुद्ध-धर्म के रूप में सब से बडा आश्वासन कैसे मिलता, विश्व के असख्य विचारकों को, जो किसी मसीह, पैगम्बर या अवतार में विश्वास करने को प्रस्तुत नही, शान्ति कैसे मिलती? चाहे बुद्ध हो, चाहे धर्म, चाहे सघ, चाहे अन्य कोई वस्तु "हम मीमासक (वीमसक) होगे, ऐसा तुम्हे सीखना चाहिये[२]।" यही भगवान् का सदा भिक्षुओं से कहना था। जब वे कभी देखते थे कि भिक्षु किसी बात को बिना समझे उनके गौरव से उनकी हाँ में हाँ मिला रहे हैं, तो वे उन्हे टोकते थे, "भिक्षुओ! क्या तुम शास्ता के गौरव से तो 'हा' नही कह रहे हो? . . भिक्षुओ! जो तुमारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया है, क्या उसी को तो तुम कह रहे हो[३]?" इस प्रकार बुद्धि की प्रतिष्ठा कर भगवान् ने श्रद्धा का उपदेश दिया था। इसलिये श्रद्धा और बुद्धि का उनके उपदेशो में समाधान है। तथागत की श्रद्धा 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा' (पञ्ञान्वया सद्धा) है। उसका पर्यवसान प्रज्ञा मे होना आवश्यक है। इसीलिये श्रद्धा पहली इन्द्रिय और प्रज्ञा अन्तिम इन्द्रिय है। श्रद्धा को भगवान् ने पुरुष का श्रेष्ठ धन बताया है[४] और कहा है 'श्रद्धा के द्वारा मनुष्य भव-बाढ को तरता है[५]। अमृत रूपी खेती का भगवान् ने श्रद्धा को बीज बताया है[६]। जहा कही साधक भिक्षु का वर्णन आया है सर्वप्रथम यह कहा गया है 'यहाँ भिक्षु श्रद्धा से युक्त होता है[७]।" प्रव्रज्या श्रद्धा से ही ली जाती है। इसीलिये भिक्षुओ

(१) वीमसक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।७)
(२) बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५)
(३) महा तण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)
(४) सद्धीव वित्त पुरिसस्स सेट्ठ। आलवक-सुत्त (सुत्त-निपात)
(५) सद्धाय तरती ओघ। सुत्त-निपात।
(६) देखिये कसिभारद्वाज-सुत्त (सुत्त-निपात)
(७) इध भिक्खु सद्धाय समन्नागतो होति। मिलाइये बुद्धे अवेच्चप्पसादेन समन्नागता। जनवसभ-सुत्त (दीघ० २।५)

को अनेक बार याद दिलाया गया है 'तुमने श्रद्धा से प्रव्रज्या ग्रहण की है' (सद्धाय पव्वज्जित्त्वा) आदि । अत. यह सुनिश्चित है कि मूल बुद्ध-दर्शन में भी श्रद्धा की साधना आधार-भूमि के रूप में प्रतिष्ठित है । श्रद्धा वास्तविक अर्थों में साधना की अधिपति है, वह बौद्ध साधना के पांच बलो में से एक बल भी है और स्रोत आपन्न अवस्था के भगवान् ने जो चार अग बताये है उनमें वह प्रथम है[1] । सम्पूर्ण पुण्यकारी वस्तुओ (पुञ्ञकिरिया वत्थूनि) का आधार श्रद्धा को बुद्ध-शासन में माना गया है । इसीलिये कहा गया है कि श्रद्धा को सुप्रतिष्ठित, मूल से पकडी हुई, होना चाहिये और जीवन-पर्यन्त उसे कम न होने देना चाहिये[2]। यद्यपि सत्य-प्राप्ति के लिये बहुकारी धर्म तो भगवान् ने प्रधान को ही बतलाया है, परन्तु श्रद्धा से सत्य की अनुरक्षा की जाती है, ऐसा उन्होने कहा है[3] । महानाम शाक्य से भगवान् ने कहा था कि साधक को सात सद्धर्मों से युक्त होना चाहिये । इन सात सद्धर्मों में प्रथम श्रद्धा है और अन्तिम प्रज्ञा[4] । इसी प्रकार बोधि राजकुमार को भगवान् ने निर्वाण-साधना के पाँच अग बताये थे, जिनमें भी प्रथम श्रद्धा और अन्तिम प्रज्ञा है[5] । किसी भी प्रकार देखें, साधना में श्रद्धा प्रथम स्थान ग्रहण करती है और प्रज्ञा अन्त में उसका साथ छोडना नहीं चाहती । बुद्ध-धर्म की यह एक बडी विशेषता है । यदि श्रद्धा को हम हृदय का प्रतीक मानें (और उपनिषद् ने तो कहा भी है—हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता) और प्रज्ञा को बुद्धि का, तो हम कह सकते है कि भगवान् ने हृदय और बुद्धि का समाधान किया है । यही कारण है कि उनका धर्म-विनय करोडों व्यक्तियो के लिये उतना आकर्षक बन सका है और सब प्रकार की प्रकृतियो और स्वभावो के मनुष्य उसमेंआश्वासन ग्रहण करते हैं । अन्त में हम यहाँ यही कहेंगे कि बिना श्रद्धा के साधना आगे नही बढती । भगवान् ने कहा है कि उनकी शिक्षा में क्रमिक विधान है। पहले श्रद्धा अवश्य चाहिये । श्रद्धा होने पर ही मनुष्य ज्ञानी के समीप जाता है, उपासना करता है, कान लगाकर धर्म सुनता है, उसे ग्रहण करता है, ग्रहण किये धर्म की परीक्षा करता है, परीक्षण कर निदिध्यासन करता है । फिर उसे उत्साह होता है

(१) देखिये सगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)
(२) देखिये चवमान-सुत्त (इति वुत्तक)
(३) चंकि सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)
(४) सेख-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।३)
(५) बोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५)

भिक्षु को समन्वेषण करना चाहिये, खोज करनी चाहिये, मीमासा और परीक्षा करनी चाहिये और परीक्षा करने पर यदि ठीक लगे तो स्वीकार करना चाहिये अन्यथा नही[१]। बुद्ध के विषय में मीमासा करनी चाहिये कि यह भगवान् परमज्ञानी (सम्यक् सम्बुद्ध) है या नही। स्वय सम्यक् सम्बुद्ध का यह अपने शिष्यो से कहना, ढाई हजार वर्ष पूर्व, कितना अभूतपूर्व, कितना आश्वासनमय! यदि भगवान् इस प्रकार न कहते तो मानवता को आज बुद्ध-धर्म के रूप में सब से बडा आश्वासन कैसे मिलता, विश्व के असख्य विचारको को, जो किसी मसीह, पैगम्बर या अवतार में विश्वास करने को प्रस्तुत नही, शान्ति कैसे मिलती ? चाहे बुद्ध हो, चाहे धर्म, चाहे सघ, चाहे अन्य कोई वस्तु "हम मीमासक (वीमसक) होगे, ऐसा तुम्हे सीखना चाहिये[२]।" यही भगवान् का सदा भिक्षुओ से कहना था। जब वे कभी देखते थे कि भिक्षु किसी बात को बिना समझे उनके गौरव से उनकी हाँ में हाँ मिला रहे है, तो वे उन्हे टोकते थे, "भिक्षुओ! क्या तुम शास्ता के गौरव से तो 'हा' नही कह रहे हो ? भिक्षुओ! जो तुमारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया है, क्या उसी को तो तुम कह रहे हो[३] ?" इस प्रकार बुद्धि की प्रतिष्ठा कर भगवान् ने श्रद्धा का उपदेश दिया था। इसलिये श्रद्धा और बुद्धि का उनके उपदेशो में समाधान है। तथागत की श्रद्धा 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा' (पञ्ञान्वया सद्धा) है। उसका पर्यवसान प्रज्ञा में होना आवश्यक है। इसीलिये श्रद्धा पहली इन्द्रिय और प्रज्ञा अन्तिम इन्द्रिय है। श्रद्धा को भगवान् ने पुरुष का श्रेष्ठ धन बताया है[४] और कहा है 'श्रद्धा के द्वारा मनुष्य भव-बाढ को तरता है[५]। अमृत रूपी खेती का भगवान् ने श्रद्धा को बीज बताया है[६]। जहा कही साधक भिक्षु का वर्णन आया है सर्वप्रथम यह कहा गया है 'यहाँ भिक्षु श्रद्धा से युक्त होता है[७]।" प्रव्रज्या श्रद्धा से ही ली जाती है। इसीलिये भिक्षुओ

(१) वीमसक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।७)
(२) बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५)
(३) महा तण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)
(४) सद्धीव वित्त पुरिसस्स सेट्ठ। आलवक-सुत्त (सुत्त-निपात)
(५) सद्धाय तरती ओघ। सुत्त-निपात।
(६) देखिये कसिभारद्वाज-सुत्त (सुत्त-निपात)
(७) इध भिक्खु सद्धाय समन्नागतो होति। मिलाइये बुद्धे अवेच्चप्पसादेन समन्नागता। जनवसभ-सुत्त (दीघ० २।५)

को अनेक वार याद दिलाया गया है 'तुमने श्रद्धा से प्रव्रज्या ग्रहण की है' (सद्धाय पव्वज्जित्त्वा) आदि । अत. यह सुनिश्चित है कि मूल वुद्ध-दर्शन में भी श्रद्धा की साधना आधार-भूमि के रूप में प्रतिष्ठित है। श्रद्धा वास्तविक अर्थों में साधना की अधिपति है, वह वौद्ध साधना के पांच वलो में से एक वल भी है और स्रोत आपन्न अवस्था के भगवान् ने जो चार अग वताये हें उनमें वह प्रथम है[1] । सम्पूर्ण पुण्यकारी वस्तुओ (पुञ्ञकिरिया वत्थूनि) का आधार श्रद्धा को वुद्ध-शासन में माना गया है। इसीलिये कहा गया है कि श्रद्धा को सुप्रतिष्ठित, मूल से पकडी हुई, होना चाहिये और जीवन-पर्यन्त उसे कम न होने देना चाहिये[2]। यद्यपि सत्य-प्राप्ति के लिये वहुकारी धर्म तो भगवान् ने प्रधान को ही वतलाया है, परन्तु श्रद्धा से सत्य की अनुरक्षा की जाती है, ऐसा उन्होने कहा है[3] । महानाम शाक्य से भगवान् ने कहा था कि साधक को सात सद्धर्मों से युक्त होना चाहिये। इन सात सद्धर्मों में प्रथम श्रद्धा है और अन्तिम प्रज्ञा[4] । इसी प्रकार वोधि राजकुमार को भगवान् ने निर्वाण-साधना के पांच अग वताये थे, जिनमें भी प्रथम श्रद्धा और अन्तिम प्रज्ञा है[5] । किसी भी प्रकार देखें, साधना में श्रद्धा प्रथम स्थान ग्रहण करती है और प्रज्ञा अन्त में उसका साथ छोड़ना नहीं चाहती। वुद्ध-धर्म की यह एक वडी विशेषता है। यदि श्रद्धा को हम हृदय का प्रतीक मानें (और उपनिषद् ने तो कहा भी है—हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता) और प्रज्ञा को वुद्धि का, तो हम कह सकते हैं कि भगवान् ने हृदय और वुद्धि का समाधान किया है। यही कारण है कि उनका धर्म-विनय करोड़ो व्यक्तियो के लिये उतना आकर्षक वन सका है और सव प्रकार की प्रकृतियो और स्वभावो के मनुष्य उसमेंआश्वासन ग्रहण करते हैं। अन्त में हम यहां यही कहेंगे कि विना श्रद्धा के साधना आगे नही वढती। भगवान् ने कहा है कि उनकी शिक्षा में क्रमिक विधान है। पहले श्रद्धा अवश्य चाहिये। श्रद्धा होने पर ही मनुष्य ज्ञानी के समीप जाता है, उपासना करता है, कान लगाकर धर्म सुनता है, उसे ग्रहण करता है, ग्रहण किये धर्म की परीक्षा करता है, परीक्षण कर निदिध्यासन करता है। फिर उसे उत्साह होता है

(१) देखिये सगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)
(२) देखिये चवमान-सुत्त (इति वुत्तक)
(३) चंकि सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)
(४) सेख-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।३)
(५) वोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५)

और वह वीर्यारम्भ करता है। तदनन्तर समाधि के द्वारा स्वय सत्य का साक्षात्कार करता है, प्रज्ञा से सत्य को बेधता है। "यदि श्रद्धा न हुई तो पास जाना भी न हुआ, कान लगाकर धर्म सुनना भी न हुआ, निदिध्यासन भी न हुआ, सुने धर्म की परीक्षा भी न हुई, पुरुषार्थ भी न हुआ, परम सत्य का साक्षात्कार भी न हुआ। इस प्रकार तो भिक्षुओ! अयोग्य व्यक्ति (मोघ पुरुष) इस धर्म-विनय से बहुत दूर चले जाते है।" यह इस सक्षिप्त विवरण से, आशा है, हम बुद्ध के धर्म-विनय में श्रद्धा के महत्त्वपूर्ण स्थान को दिखाने में समर्थ हो सके है। तथागत की 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा' भारतीय दर्शन की महनीय परम्पराओ के सर्वथा अनुकूल है और आज के अस्तव्यस्त जीव-लोक के लिये, जिसके भावात्मक और बौद्धिक सन्तुलन खोये हुए, हैं वह एक अदभुत वरदान है, इसमें सन्देह नही। पाँच इन्द्रियो में से श्रद्धा के अतिरिक्त वीर्य के सम्बन्ध में जो पहले कहा जा चुका है वह बहुत पर्याप्त है। स्मृति के सम्वन्ध में पहले कह ही चुके है। समाधि और प्रज्ञा के सम्बन्ध में हम आर्य अष्टागिक मार्ग के विवरण के प्रसग में कुछ सक्षिप्त रूप में और बौद्ध दर्शन की योग-दर्शन के साथ तुलना करते समय कुछ विस्तृत रूप से कहेगे।

अब हम यहाँ अपने विषय से कुछ अलग जाकर भी महायान बौद्ध धर्म में श्रद्धा के महत्त्वपूर्ण स्थान को लेकर कुछ और कहना चाहेगे। पाँचो इन्द्रियो और विशेषत श्रद्धा की महिमा एक इन्द्रिय और बल के रूप में महायान बौद्ध धर्म में स्थविरवाद बौद्ध धर्म की अपेक्षा और अधिक गहरे रूप से प्रतिष्ठित है। पाँच इन्द्रियो का उल्लेख महायान बौद्ध धर्म के महा व्युत्पत्ति, महायान सूत्रालकार, दशभूमिक सूत्र, धर्म-सग्रह और प्रज्ञा पारमिता शतसाहस्रिका आदि ग्रन्थो में है। जिस प्रकार पालि साहित्य में कही-कही २२ इन्द्रियो का उल्लेख है[१], उसी प्रकार उसका अनुसरण महाव्युत्पत्ति में भी किया गया है, जहाँ उनकी वही सख्या बताई गई है। नाम भी दोनो के समान ही है। आचार्य वसुबन्धु ने 'इन्द्रिय' शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की ओर लक्ष्य करते हुए कहा है, 'आधिपत्यार्थेन इन्द्रियाण्युच्यन्ते।' यह अर्थ स्थविरवाद-परम्परा को मान्य है। पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेते हुए आचार्य बुद्धघोष ने 'इन्द्रिय' शब्द की जो व्याख्या की है[२],

(१) देखिये विसुद्धिमग्ग १६।१-१२

(२) देखिये 'को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति' आदि; विसुद्धि मग्ग १६।४; मिलाइये पाणिनि० ५।२।९३; देखिये 'अधिपतियट्ठेन इन्द्रियाणि' भी विसुद्धिमग्ग दीपिका २२।३७।

वह आर्य वसुवन्धु के समान है। इसी परिभाषा को अश्वघोष ने स्वीकार किया है जव कि उन्होने कहा है 'प्राधान्यादिन्द्रियमिति[1]' अर्थात् प्रधान होने के कारण इस श्रद्धा को इन्द्रिय कहते है। आचार्य अश्वघोष ने, जिन्होने वौद्ध धर्म में सर्व प्रथम भक्ति-बीज का आरोपण किया, श्रद्धा की प्रशसा में वहुत कुछ अत्यन्त काव्यमय शब्दो में कहा है। उन्होने श्रद्धा को धर्माभ्यास का मूल माना है। विना श्रद्धा के धर्म का अभ्यास हो ही नही सकता। श्रद्धा की आवश्यकता वताते हुए और उसे स्थिर एव सवल वनाने के लिये उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध नन्द से कहते है—

"पृथ्वी के भीतर जल है, यह श्रद्धा जव मनुष्य को होती है, तव प्रयोजन होने पर पृथ्वी को प्रयत्नपूर्वक खोदता है।

"यदि अग्नि से प्रयोजन न हो, या यदि काष्ठ में अग्नि है, यह श्रद्धा न हो तो कोई भी पुरुप काष्ठ को न रगडेगा। किन्तु प्रयोजन और श्रद्धा के होने पर उसे रगडते है।

"भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक को न हो तो वह भूमि में वीज न वोयेगा।

"जैसे दान हाथ ग्रहण करता है, वैसे ही श्रद्धा सद्धर्म को ग्रहण करती है, इसलिये मैंने श्रद्धा को विशेष रूप से हाथ कहा है।

... .धर्म की उत्पत्ति में श्रद्धा उत्तम कारण है, इसलिये इस श्रद्धा रूपी अकुर को तुम्हें वढाना चाहिये, क्योकि इसके वढने से धर्म वैसे ही वढता है जैसे जड के वढने से वृक्ष। जिसका विचार आकुल है, जिसका निश्चय दुर्बल है, उसकी चचल श्रद्धा सफलता के लिये नही है।

"जव तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नही लेता है, तब तक उसकी श्रद्धा वलवती या स्थिर नही होती। सयम के द्वारा इन्द्रियो को जीतकर जिसको तत्त्व का दर्शन हो चुका है उसका श्रद्धा रूपी वृक्ष फल और आश्रय देता है[2]।" इसलिये भगवान् ने नन्द को सव से पहले श्रद्धा के अभ्यास का उपदेश देते हुए कहा, 'अव तुम श्रद्धा रूपी साधन से सुसज्जित होकर हे सौम्य! अमृत की प्राप्ति के लिये अपने शील की रक्षा करो[3]।" श्रद्धा को सर्वश्रेष्ठ वतानेवाले पालि वुद्ध-

(१) सौन्दरनन्द १२।३७
(२) सौन्दरनन्द १२।३३-४३
(३) सौन्दरनन्द १३।१०

आर्य अष्टांगिक मार्ग बुद्ध-शासन में निश्चय ही एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। अपने सर्वप्रथम प्रवचन (धम्मचक्क पवत्तन सुत्त) में भगवान् ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओ को इसका उपदेश

आर्य-अष्टांगिक मार्ग

दिया था और मध्यमा प्रतिपदा के साथ इसकी एकात्मता दिखाई थी। दु ख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग रूपी चतुर्थ आर्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग दोनो एक है। यही वह मार्ग है जिसे तथागत ने खोज निकाला है। मध्यमा प्रति-पदा रूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग 'अरण' धर्म है अर्थात् दु ख-रहित धर्म और वही ठीक मार्ग है[1]। यह मार्ग आँख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देनेवाला है। यह शासन, अभिज्ञा, वोध और निर्वाण की ओर ले जानेवाला है[2]। भगवान् ने कहा है "निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिये यही एक मार्ग है। और कोई दूसरा मार्ग नही। इस मार्ग पर चलने से तुम दु ख का नाश करोगे[3]।" आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाणगामी मार्ग है, इसे एक सुन्दर उपमा के द्वारा समझाते हुए भगवान् ने कहा है, "जिस प्रकार भिक्षुओ ! गगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही नदियाँ पूर्व की ओर वहने वाली, समुद्र की ओर अभिगामिनी होती है, उसी प्रकार भिक्षुओ ! अभ्यास करने पर आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जानेवाला है, निर्वाण की ओर अभिमुख होनेवाला है[4]।" अन्य अनेक प्रकार से भी शास्ता ने आर्य अष्टांगिक मार्ग की महिमा प्रख्यापित की है। भगवान् ने इसे 'कल्याण वर्त्म' कह कर पुकारा है और अक्षुण्ण रूप से इसपर आचरण करने के लिये शिष्यो को उत्साहित किया है। 'आनन्द ! इस समय मैंने भी यह कल्याणवर्त्म स्थापित किया है जो कि एकान्त निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उपशम के लिए, अभिज्ञा के लिए, सम्बोधि के लिए, और निर्वाण के लिए है और वह यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है। 'आनन्द ! यह मैंने कल्याण

---

(१) अरण विभंग सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।९)

(२) धम्म-चक्क पवत्तन-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

(३) एसो व मग्गो नत्यञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया। . एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ। धम्मपद २०।२-३

(४) सयुत्त-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ ३९-४० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

वर्त्म स्थापित किया है । सो आनन्द ! मैं यह कहता हूँ—जिससे तुम मेरे इस स्थापित कल्याण वर्त्म को अनुप्रवर्तित करना । तुम मेरे अन्तिम पुरुष मत बनना[1] । भगवान् ने आर्य अष्टागिक मार्ग को 'स्रोत' (निर्वाणगामी प्रवाह) में पड जाना भी कहा है । 'सारिपुत्र ! स्रोत स्रोत कहा जाता है । सारिपुत्र ! स्रोत क्या है ?' 'भन्ते ! यह आर्य अष्टागिक मार्ग ही स्रोत है, 'साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र ! यह आर्य अष्टागिक मार्ग ही स्रोत है. । 'सारिपुत्र ! स्रोत आपन्न, स्रोत आपन्न कहा जाता है, सारिपुत्र ! स्रोत आपन्न क्या है ?' 'भन्ते ! जो व्यक्ति इस आर्य अष्टागिक मार्ग से युक्त है, वही स्रोत आपन्न कहा जाता है' 'साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र ! यही जो आर्य अष्टागिक मार्ग से युक्त है वही स्रोत आपन्न कहा जाता है'[2] । आर्य अष्टागिक मार्ग को ही भगवान् ने अमृत का मार्ग कहा है[3] । अब हम देखें कि आर्य अष्टागिक मार्ग क्या है ? भगवान् के ही शब्दो में .

'भिक्षुओ ! यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनर्थकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का दु खमय, अनार्य, अनर्थकर जीवन है, इन दोनो अतियो से बचकर तथागत ने मध्यम मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया है, जो कि आँख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देनेवाला है, शमन के लिए, अभिज्ञा के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए होता है[4] ।' यही आर्य अष्टागिक मार्ग दु:ख-निरोध की ओर ले जानेवाला है, जोकि इस प्रकार है —

(१) सम्यक् दृष्टि
(२) सम्यक् सकल्प } प्रज्ञा-स्कन्ध
(३) सम्यक् वाणी

(४) सम्यक् कर्मान्ति } शील-स्कन्ध
(५) सम्यक् आजीव

---

(१) मखादेव-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।३)

(२) सारिपुत्त सुत्त, (संयुत्त० ५४।१।५)

(३) देखिये इसी प्रकरण में आगे 'निब्बाण' का विवेचन ।

(४) मिलाइए 'द्वे मे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थ सहितो यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थ सहितो । एत्ते ते भिक्खवे उभे अन्ते अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा

(६) सम्यक् व्यायाम,
(७) सम्यक् स्मृति समाधि-स्कन्ध
(८) सम्यक् समाधि

ऊपर के कोष्ठको से स्पष्ट है कि आर्य अष्टागिक मार्ग तीन स्कन्धो में अन्तर्भावित है, यथा सम्यक् दृष्टि और सम्यक् सकल्प प्रज्ञा स्कन्ध मे सम्मिलित हैं, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव शील-स्कन्ध में और सम्यक् व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक् समाधि समाधि-स्कन्ध में[1]। आनन्द ने हमें बताया है कि भगवान् इन तीन धर्म-स्कन्धो के बडे प्रशसक थे और उनका प्रयत्न था कि उनके शिष्य इनमें स्थित हो[2]। इन तीन धर्म स्कन्धो को भगवान् ने तीन सम्पत्तियाँ भी कहा था[3] और तीन बडे यज्ञ भी[4]। शील, समाधि और प्रज्ञा के त्रिविध आधारभूत वर्गीकरण में सम्पूर्ण बुद्ध-शासन आ जाता है। शील सदाचार का पर्यायवाची शब्द है। 'भिक्षुओ ! प्रातिमोक्ष-सयम से युक्त होकर विहरो, चक्षु के सयम से युक्त होकर विहरो' आदि रूप से भगवान् ने जो उपदेश दिया है वही शील का स्वरूप है। शील वस्तुत हमारे विचारो और कर्मों का समन्वय ही है। वह काया की, वाणी की और मन की शुचिता है। समाधि हमारे चित्त की एकाग्र अवस्था का ही नाम है। बिना शील के समाधि की प्राप्ति सम्भव नही। समाधि इच्छा, ज्ञान और सकल्पो की समन्वयावस्था है। इसी प्रकार हमारे मन और सत्य की समन्वयावस्था का नाम है प्रज्ञा। प्रज्ञा को कुशल चित्त-युक्त ज्ञान भी कहा गया है। प्रज्ञा की उच्चतम अवस्था ही सम्यक् सम्बोधि है। उद्योगी प्रज्ञावान भिक्षु ही आवागमन रूपी जटा को काटता है। 'आतापी निपको भिक्खु सो अय विजटये जटति।' शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में बौद्ध साधना-पद्धति का विस्तृत विवेचन आचार्य बुद्धघोष

चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय निब्बानाय संवत्तति। धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त (सयुत्तनिकाय)

(१) देखिये चूलवेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)
(२) सुभ-सुत्त (दीघ० १।१०)
(३) देखिये कस्सपसीहनाद-सुत्त (दीघ० १।८); पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १।९)
(४) देखिये कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

ने 'विसुद्धिमग्ग' में किया है, जिसका विस्तृत विवरण हम यहाँ न देकर पातजल योग-साधना के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन के प्रसग में पाँचवें अध्याय में देंगे। अव हम आर्य अष्टागिक मार्ग का सक्षिप्त विवरण पालि निकायो के आधार पर देंगे। सम्यक् दृष्टि, वस्तुत चार आर्य सत्यो को समझना ही है [१]। सम्यक् दृष्टि मुक्ति-मार्ग की पहली सीढी है जिसके विना न शील की प्राप्ति है और न समाधि की। सम्यक् दृष्टि के परिणाम-स्वरूप ही हमें शील मिलता है। 'भिक्षुओ! जिस समय आर्य श्रावक दुराचरण को पहचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को पहचान लेता है; सदाचरण को पहचान लेता है, सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, तव उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है। उसकी इस धर्म में अचल श्रद्धा उत्पन्न हो गई है और वह इस धर्म में आ गया है [२]।' अविद्याश्रित सस्कारो को निर्मल करने का ज्ञानमय सकल्प ही सम्यक् सकल्प है। 'भिक्षुओ! सम्यक् सकल्प क्या है? नैष्कर्म्य सकल्प सम्यक् सकल्प है। अव्यापाद सकल्प सम्यक् सकल्प है। अविहिंसा सकल्प सम्यक् सकल्प है'।[३] विचार का सम्यक् अभ्यास ही सम्यक् वाणी के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। 'भिक्षुओ! सम्यक् वाणी किसे कहते हैं? भिक्षुओ! एक आदमी झूठ वोलना छोड, झूठ वोलने से दूर रह सत्य वोलने वाला, सच्चा, लोक में यथार्थवादी होता है। वह चुगली करना छोडता है, वह कठोर वाणी छोडता है[४]।' इसलिये 'भिक्षुओ! आपस में इकट्ठे होने पर दो वातो में से एक वात होनी चाहिए, या तो धार्मिक वातचीत या फिर आर्य मौन। भिक्षुओ! इसे सम्यक् वाणी कहते है [५]।' सम्यक् कर्मान्त का सम्बन्ध वाह्य जीवन से है। 'भिक्षुओ! सम्यक् कर्मान्त क्या है? एक आदमी जीव-हिंसा को छोड जीव-हिंसा से दूर रहता है। वह दण्ड का प्रयोग नही करता, शस्त्र का प्रयोग नही करता, लज्जाशील, दयावान्, सभी प्राणियो पर अनुकम्पा करनेवाला होता है [६]।' यही सम्यक् कर्मान्त है। इसी प्रकार सम्यक् आजीव व्यक्तिगत और सामा-

(१) सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)
(२) 'वुद्ध वचन', पृष्ठ २१
(३) 'वुद्ध वचन', पृष्ठ ३२
(४) अंगुत्तर १०, 'वुद्धवचन', पृष्ठ ३२,३३
(५) अरिय परियेसन सुत्त (मज्झिम० १।३।६)
(६) अंगुत्तर १०, 'वुद्ध वचन', पृष्ठ ३४

जिक जीवन की शुद्धि के लिये है। 'भिक्षुओ ! सम्यक् आजीव क्या है ? भिक्षुओ ! आर्य श्रावक मिथ्या आजीविका को छोड सम्यक् आजीविका से जीवन निर्वाह करता है। यही सम्यक् आजीव है[१]।' सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) ज्ञानमय अभ्यास है ? 'भिक्षुओ ! चार प्रकार के व्यायाम सम्यक् प्रयत्न है। कौन से चार ? सयम प्रयत्न, प्रहाण प्रयत्न, भावना प्रयत्न तथा अनुरक्षण प्रयत्न[२]।' भगवान् ने निर्वाण की अधिगति में प्रयत्न या 'व्यायाम' स्वरूप 'प्रधान' को ही प्रधान कारण माना है। 'भारद्वाज ! सत्य प्राप्ति का बहुकारी धर्म 'प्रधान' है। यदि 'प्रधान' न करे तो सत्य को भी प्राप्त न करे। चूकि 'प्रधान' करता है, इसीलिए सत्य को प्राप्त करता है। इसीलिए सत्यप्राप्ति के लिए वहुकारी धर्म 'प्रधान' है[३]।' बिना 'व्यायाम' के 'प्रधान' भी कहा सम्भव है ! इसीलिए तो 'चाहे मेरा मास, रक्त सब सूख जाए और बाकी रह जाएँ केवल त्वक्, नसे और हड्डियाँ, किन्तु जब तक उसे जो किसी भी मनुष्य के प्रयत्न से, शक्ति से या पराक्रम से प्राप्य है, प्राप्त नही कर लूगा, चैन नही लूगा'[४] ऐसा वीर्य आरम्भ करना ही पडता है । इसे ही सम्यक् प्रयत्न (व्यायाम) कहते है। अब क्या है, सम्यक् स्मृति ? इसका उत्तर हम चार स्मृति प्रस्थानो के विवरण के समय दे आये है। वस्तुत पूर्वोक्त चार 'स्मृति-प्रस्थान' ही 'सम्यक् स्मृति' है यथा, काया में कायानुपश्यना, वेदनाओ मे वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना। भगवान् ने उपदेश दिया है कि, 'आनन्द ! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण होकर विहरो' और इस पर उन्ही की व्याख्या है कि उपर्युक्त चार स्मृति-प्रस्थानो (जिनका सग्रहात्मक स्वरूप ही 'सम्यक् स्मृति' है) की भावना और आचरण करने का तात्पर्य ही है आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्य शरण होकर विहरना। 'आनन्द ! कैसे भिक्षु आत्मशरण होता है ? आनन्द! यहाँ भिक्षु काया में कायानुपश्यी . इस प्रकार आनन्द ! भिक्षु आत्म-शरण होता है[५]।' तृष्णा और उपादान से विरति के लिये वार वार

(१) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(२) जिनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए 'बुद्ध-वचन', पृष्ठ ३५-३७
(३) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)
(४) देखिए जातकठ्ठकथा (निदानकथा) तथा 'बुद्ध वचन', पृष्ठ ३७
(५) सारिपुत्र के निधन के वाद ये शब्द भगवान् ने कहे, देखिए चुन्द-सुत्त (संयुत्त-निकाय ४५।२।३)

पुनरुक्ति पूर्वक भगवान् ने स्मृति के उपदेश दिये हैं। समाधि की सक्षिप्त परिभाषा हम पहले दे ही चुके हैं। 'भिक्षुओ ! यह जो चित्त की एकाग्रता है—यही समाधि है। चारो स्मृति-प्रस्थान है समाधि के निमित्त और चारो सम्यक् प्रयत्न है समाधि की सामग्री। इन्ही आठो धर्मों के सेवन करने, भावना करने तथा वढाने का नाम है समाधि[1]।' यहा यह कह देना अप्रासगिक न होगा कि वोधि पक्षीय धर्मों के अन्य अगो के समान आर्य अष्टागिक मार्ग के भी प्रभूत महत्त्व को महायान वौद्ध धर्म ने स्वीकार किया है, एव पालि साहित्य के समान महा व्युत्पत्ति, महावस्तु, प्रज्ञा पारमिता शत साहस्रिका, ललित विस्तर, करुणा पुण्डरीक, समाधिराज, अवदान शतक, महायान सूत्रालकार आदि वीसो ग्रथो में आर्य अष्टागिक मार्ग का विवरण आया है।[2] विस्तृत वर्णन उसके यहा उपलब्ध नही है।

इन्हीं की समष्टि का नाम वौद्ध जीवन-पद्धति है

इस प्रकार वोधि पक्षीय धर्मों के स्वरूप की एक झलक हमने देखी, जिनके उपदेश को वार-वार दुहराकर, अनेक पर्यायो से, अपनी चारिकाओ में भगवान् दिया करते थे। तथागत सम्भवत इन्ही के शास्ता के रूप में अपने को स्मरण कराना चाहते थे और जो कुछ भी उन्होंने कहा है वह इन्ही की व्याख्या या सगति स्वरूप है। इनके समग्र रूप में हम वौद्ध आचार तत्त्व को उसके पूर्णतम रूप में देख सकते हैं। 'अभिधर्म' तो उसकी तात्त्विक या मनोवैज्ञानिक व्याख्या मात्र है। भगवान् के मन्तव्य का अन्तिम तात्पर्य अभ्यास में ही है और जव उनके समय में कुछ प्रमादी भिक्षु खीज कर कह देते थे कि 'यह श्रमण तो हमारी जान ही ले लेता है' या सारिपुत्र जैसे साधना-निष्ठ भिक्षु अपने मन को समझाया करते थे कि चाहे जो कुछ हो वुद्ध का शासन तो पूरा करना ही पडेगा, तो वे सभी बुद्ध की आचार तत्त्व पर जोर देने की प्रवृत्ति को ही सूचित किया करते थे। कितनी प्रसन्नता होती थी अन्त में उन्हे जव वे यह अनुभव करते थे कि वुद्ध का शासन कर लिया गया है (कत वुद्धस्स सासन), सव वोझो को उठा

---

(१) चूलवेदल्ल सुत्त (मज्झिम० १।५।४)

(२) इनके आधार पर आर्य अष्टागिक मार्ग के विवरण के लिये देखिये हरदयाल : दि वोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १५५-१६४

श्रमण-ब्राह्मण दुखद तीव्र कटु वेदना नही भोगते । वे ज्ञान-दर्शन, अनुत्तर सबोध के पात्र है । यदि वे प्रयत्नशील श्रमण-ब्राह्मण दुख तीव्र कटु वेदना को भोगें भी तो भी वे ज्ञान-दर्शन अनुत्तर सबोध के पात्र है[1] ।' इस प्रकार हम देखते है कि आवश्यकता के अनुरूप तथागत को शरीर-पीडा इष्ट है और नही भी । इसी प्रकार वे श्रुत से शुद्धि नही मानते और न अ-श्रुत से ही । बुद्ध-शासन तो केवल सम्यक् प्रयत्न चाहता है और उसी पर सब कुछ आधारित है । यहाँ यह भी कह देना उचित है कि इस तपस्या की साधना में बुद्ध के अनुसार जातिवाद का कोई विचार नही । चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय, वैश्य, शद्र या श्रमण, जो कोई स्मृति-प्रस्थानों की भावना करेगा वही निर्वाण का साक्षात्कार करेगा[2] । जाति या ऊँच नीच का विचार तो आवाह-विवाह में होता है, जहाँ मनुष्य कहते है 'तू मेरे योग्य है', 'तू मेरे योग्य नही है' । 'प्रधान' मनुष्यो में विभेद नही करता[3] । 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ'[4] 'मा जाति पुच्छ, चरण च पुच्छ' । यही भगवान् बुद्ध की वाणी है । 'कर्म' से ही वे ब्राह्मणत्व का होना निष्पन्न बताते है और उनके धर्म-ह्रद मे चाहे मनुष्य किसी भी दिशा से आवे और चाहे किसी वर्ण अथवा जाति का हो, समान रूप से शान्ति पाने का अधिकारी है, शर्त यही है कि वह 'प्रधान' करे[5] । यही चातुर्वर्णी शुद्धि का तात्पर्य है[6] । भगवान् बुद्ध मानव-जाति को एक मानते थे । उनका कहना था कि जिस प्रकार कीट, पतग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि

---

(१) बोधिराजकुमार सुत्त (मज्झिम० २।४।५)
(२) अग्गञ्ञ सुत्त (दीघ० ३।४)
(३) 'भन्ते ! चार वर्ण है और यदि वे प्रधानीय अगों से युक्त हो तो क्या भन्ते ! उनमें नानाकरण नहीं होगा ?' 'महाराज ! उनका 'प्रधान' नानात्व नहीं करता ! कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम० २।४।१०); मिलाइये चूल अस्सपुर सुत्त (मज्झिम० १।४।१०)
(४) देखिए सुन्दरिका-भारद्वाज सुत्त (सयुत्त० ७।१।९), मिलाइये सुत्त-निपात ३।४ भी, 'अम्बट्ठ ! जो कोई जातिवाद में फँसे है, गोत्रवाद में फँसे है, मानवाद में फँसे है, आवाह-विवाह में फँसे है, वे अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर है ।' अम्बट्ठ सुत्त (दीघ० १।३)
(५) देखिए चूलअस्सपुर सुत्त (मज्झिम० १।४।१०)
(६) देखिए धम्मपद, ब्राह्मण वग्ग, वासेट्ठ-सुत्त (मज्झिम० २।५।८)

जातियो में जातिगत पृथक् चिन्ह होते हैं वैसे मनुष्यो में नही होते[1]। जहा प्रव्रज्या और गृहस्थ-धर्म का प्रश्न है, भगवान् सब को ही प्रव्रज्या लेने की भी अनुज्ञा नही देते, तपस्सु और भल्लिक को उनकी यही आज्ञा हुई कि तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर है कि घर में रह कर तुम अप्रमाद का जीवन बताओ[2]। गृह-विनय का उपदेश भी भगवान् ने दिया ही है[3]। स्वर्ग-प्राप्ति भी उन्होने गृहस्थ साधको की सम्भव मानी ही है, किन्तु जहा चरम उद्देश्य की प्राप्ति का वर्णन आया है वहाँ तो उन्होने स्पष्ट कहा है कि ऐसा कोई भी आदमी उनको स्मरण नही आता जिसने गृहस्थ हो कर दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त की हो[4]। अर्हत्त्व की अवस्था प्राप्त कर लेने पर गृह-वास सम्भव नही है। भगवान् निश्चय ही गृहस्थ-जीवन को पूर्ण पवित्रता के लिए कुछ अनुपयुक्त स्थान समझते थे, इसलिए यदि उन्होने विशेष साधन सम्पन्न व्यक्तियो (यथा राष्ट्रपाल और काश्यप आदि) को प्रव्रज्या की ओर उत्साहित किया हो, तो यह भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था। । 'यदहरेव विवरेत् तदहरेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा।' यह आदेश उपनिषदो का भी था। जिन विद्वानो ने आश्रम-धर्म के प्रश्न को लेकर बौद्ध और वैदिक जीवन-विधि के स्वरूपो

---

(१) वासेट्ठ-सुत्त (मज्झिम० २।५।८)

(२) 'स्थपतियो! गृहवास बाधा पूर्ण और रागादि मल का आगमन मार्ग है; प्रव्रज्या ही खुली जगह है। किन्तु स्थपतियो! तुम्हारे लिए अप्रमाद से रहना ही युक्त है।' थपति सुत्त, संयुत्त० ५४।१।६); 'सोण! अच्छा हो तू गृहस्थ रहते ही बुद्धों के शासन का अनुगमन कर।' सोण सुत्त (उदान ५।६)

(३) देखिए सिगालोवाद सुत्त (दीघ० ३।८); थपति सुत्त (संयुत्त० ४५।१।६); छव सुत्त (अगुत्तर ४।२।१) आदि।

(४) 'हे गौतम! क्या कोई गृहस्थ है जो गृहस्थ के सयोजनो को विना छोडे काया को छोड दु ख का अन्त करनेवाला हो'? 'नहीं वत्स! ऐसा कोई गृहस्थ नहीं'। 'हे गौतम! क्या कोई ऐसा गृहस्थ है जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े काया छोड़ने पर स्वर्ग को प्राप्त होने वाला हो'? 'वत्स एक ही नहीं सौ...दो सौ....अनेक गृहस्थ हैं जो गृहस्थ के संयोजनो को विना छोडे मरने पर स्वर्गगामी होते हैं'। तेविज्ज-वच्छगोत्त सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

में विभेद किया है, उन्होने मूल भावना को समझा नही है। हाँ, बुद्ध के उपदेशो के प्रति तत्कालीन सामाजिक प्रतिक्रिया को लेकर वे बहुत कुछ बढ़े चले गए है, किन्तु इसी प्रकार उन्होने 'कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो' और 'अत्तकिलमथानुयोगो' इन दोनो ही कोटियो से अलग 'मध्यमा प्रतिपद' पर भी कुछ अधिक ध्यान दिया होता, तो कदाचित् ऐसा वे नही कह सकते थे।

इस प्रकार हमने बौद्ध आचार तत्त्व को उपर्युक्त बोधि-पक्षीय धर्मों के रूप में देखा है और उनमें निहित तपस्या के स्वरूप पर भी कुछ विचार किया है।

नैतिक आदर्शवाद ही बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य

इस सब से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि तथागत का एकतम लक्ष्य नैतिक तत्त्व की प्रतिष्ठा करना ही था और उसे उन्होने विशुद्धतम रूप में प्रस्तुत किया है। उसे हम किन्ही सीमाओ से बाँध नही सकते। वह निरपेक्ष और स्वत परिपूर्ण है। प्रजापती गौतमी से भगवान् ने कहा था, 'हे गौतमी! जिन धर्मों को तू जाने कि ये स-राग के लिए है, विराग के लिए नही, सयोग के लिए है, वियोग के लिए नही, जमा करने के लिए है असग्रह के लिए नही, इच्छाओ को बढाने के लिए है, इच्छाओ को कम करने के लिए नही, असन्तोष के लिए है, सन्तोष के लिए नही, भीड के लिए है, एकान्त के लिए नही, अनुद्योगिता के लिए है, उद्योगिता के लिए नही . तो तू गौतमी! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है, किन्तु इनसे विपरीत जो धर्म है, अर्थात् जो विराग के लिये है, उद्योगिता के लिये है, उन्हे जानना कि ये सोलहो आने तथागत के धर्म है, विनय है, शासन है।[१]" इससे स्पष्ट है कि जो कुछ भी विराग, असग्रह, सन्तोष और उद्योगिता के लिये है, वह सब बुद्ध का शासन है, वह उन्हे मान्य है। उसी के लिये बुद्ध के दर्शन की तात्त्विक व्यवस्था है। सम्पूर्ण, दार्शनिक मतवादो के बीच में होकर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा का आविष्कार किया था, यह इसी कारण कहा जाता है।

शरीर-पीडा और भोगवाद की अतियो से बचकर जिस प्रकार भगवान् ने आर्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में समन्वित जीवन-विधि का विकास किया

---

(१) पजापती पब्बज्जा सुत्त (अगुत्तर० ८।२।१।३)

आर्य अष्टांगिक मार्ग के अलावा मध्यमा प्रतिपदा का एक गम्भीरतर रूप प्रतीत्यसमुत्पाद

उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वय-विधान किया। इस प्रकार उनके द्वारा साक्षात्कृत मध्यमा प्रतिपदा अपने पूर्ण अर्थ में अत्यन्त व्यापक और विस्तृत दृष्टि लिये हुई थी। बुद्ध के सम्पूर्ण शासन की मध्यम-मार्ग के रूप में व्याख्या की जा सकती है। 'मज्झेन तथागतो धम्म देसेति'। मध्यम-मार्ग के द्वारा तथागत धर्म का उपदेश करते है, यह वात आर्य अष्टागिक मार्ग पर ही लागू नहीं है, वुद्ध की सम्पूर्ण तात्त्विक स्थिति की व्याख्या हमें इसी दृष्टि से करनी चाहिये, तभी हम उनकी नैतिक और तात्त्विक परिस्थितियो की पारस्परिक सगति भी मिला सकेंगे। यहाँ हम यही कहना चाहेगे कि जीवन-विधि को लेकर जिस प्रकार तथागत ने सश्लेषणात्मक आर्य अष्टागिक मार्ग हमें दिया, उसी प्रकार जिस तात्त्विक आधार को उन्होने स्वीकार किया वह भी उनके काल में प्रचलित नाना दार्शनिक मतवादो की भूलभुलैयो और उनके अतिवादो से वचकर मौन साधना करने के लिये था, जिससे सत्य प्राप्त होता है। जिन मुख्य अतियो से वचकर तथागत ने अपने सम्यक् दर्शन को प्रस्तुत किया, उन्हे सक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है —

(१) सव्वं अत्थि—सव है—नित्यतावादी मत।
(२) सव्व नत्थी'ति—सव नही है—अनित्यतावादी मत।
(३) सव्वे पुब्बेकतहेतू—सव पूर्वकृत हेतुओ के कारण है, चाहे वह हेतु ईश्वर हो, या भाग्य या काल या अन्य कोई।
(४) सव्वे अहेतू अप्पच्चया—सव का कोई हेतु या प्रत्यय नही है।
(५) सुखदुक्ख सय कतं—सुख-दु ख स्वयकृत है।
(६) सुख दुक्खं परकत—सुख-दु ख पर-कृत है।

इन सव विरोधी अतियो (अन्तो) का समाधान भगवान् ने प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा किया, जिसका विवेचन अव हम करेंगे।

६—प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम

प्रतीत्य समुत्पाद (पालि, पटिच्चसमुप्पाद) का अर्थ है प्रत्ययो से उत्पत्ति का नियम—प्रतीत्य (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता

प्रतीत्य समुत्पाद का संक्षिप्त अर्थ, महत्त्व और उद्देश्य

है) इस सम्बन्धी ज्ञान । इसी परिभाषा में यह भी सम्मिलित है कि इसके न होने से यह नही होता, इसके निरोध से यह भी निरुद्ध हो जाता है[१] । प्रतीत्य समुत्पाद में 'प्रत्यय' शब्द अत्यन्त सार्थक है । इसलिये प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य केवल उत्पत्ति मात्र नही है । 'न उप्पादमत्त पटिच्च समुप्पादो'[२] । केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान प्रतीत्य-समुत्पाद नही है । प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय, कारण, हेतु है, यह प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है । जिसके होने से जो अन्य वस्तु हो, तो वह पहली वस्तु उस दूसरी वस्तु का 'प्रत्यय' कहलाती है[३] । जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का अवश्यम्भावी रूप से आश्रय लेकर स्थित होती है या उत्पन्न होती है, तो वह (दूसरी वस्तु) उस (पहली वस्तु) का 'प्रत्यय' कहलाती है[४] । उपकारक या सहायक होना ही प्रत्यय होने का लक्षण है । जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक या सहायक

---

(१) इमस्मि सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इद उप्पज्जति, इमस्मि असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति । बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५), देखिये महा-तण्हा-संखय सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८) भी; मिलाइये, 'अत्राय धर्म संकेतो यदस्मिन् सति इद भवति अस्योत्पादा-दिवमुत्पद्यत इति । बोधिचर्यावतार पञ्जिका, पृष्ठ ४७४; देखिये माध्य-मिक वृत्ति, पृष्ठ ९ (पूसा का संस्करण) ।

(२) विसुद्धि मग्ग १७।११; प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ हम केवल उत्पत्ति क्यो नहीं ले सकते, इसके लिये आचार्य बुद्धघोष ने चार कारण दिये हैं—(१) सुत्त पिटक में इस सम्बन्धी प्रमाण का अभाव है (सुत्ताभावतो) (२) सुत्तपिटक का इससे स्पष्ट विरोध है (सुत्तविरोधतो) (३) ऐसा अर्थ लेने से गम्भीरता की हानि है (गम्भीरनयासम्भवतो) और (४) व्याकरण सम्बन्धी दोष है (सद्दभेदतो) । इनके विस्तृत विवरण के लिये देखिये विसुद्धि मग्ग, १७।८-१३

(३) पटिच्च एतस्मा एनीति पच्चयो । विसुद्धिमग्ग १७।६८

(४) यो हि धम्मो यं धम्मं अपच्चक्खाय तिट्ठति व उप्पज्जति वा सो तस्स पच्चयो'ति वुत्त होति । विसुद्धिमग्ग १७।६८

हो, तो वह उसका 'प्रत्यय' कहलाती है[१]। इसलिये प्रत्यय-सामग्री के हेतु से ही, उसके विना नही, जो धर्मों (पदार्थों) का स्थिति में आना है, वह प्रतीत्य समुत्पाद है। उत्पत्ति न स्वत. होती है और न विना हेतुओ के ही, वल्कि वह प्रत्ययो के आश्रय से ही या उनके साथ ही होती है, यही प्रतीत्य समुत्पाद सम्वन्धी सिद्धान्त का प्रस्थान-विन्दु है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, समुदय और उद्भव आदि शब्द इस प्रसग में समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं[२]। प्रतीत्य समुत्पाद ही को 'तथता', 'अवितथता', 'अनन्यथता' और 'इदं प्रत्ययता' (इसके होने से यह होने की अवस्था) भी कहा गया है[३]। 'तथता' इसलिये कि उन-उन प्रत्ययो से उन-उन धर्मों, पदार्थों या अवस्थाओ की नियमानुसार उत्पत्ति होती है, उनसे कम या अधिक की नही, 'अवितथता' इसलिये कि प्रत्यय-सामग्री उपस्थित होने पर उससे उत्पन्न होनेवाले धर्म भी अवश्यम्भावी रूप से उपस्थित होते ही हैं, 'अनन्यथता' इसलिये कि किन्ही अन्य पदार्थों रूप प्रत्ययो से किन्ही अन्य पदार्थों की उत्पत्ति नही हो सकती; और 'इद प्रत्ययता' इसलिये कि सभी पदार्थ प्रत्ययो या प्रत्यय-समूहो के द्वारा ही उत्पन्न होनेवाले होते हैं'[४]। पदार्थों की कारण-सामग्री में 'इसके प्रत्यय से यह' यह सम्वन्ध सदा रहता ही है। यही 'इद प्रत्ययता' का अर्थ है।

वैसे तो वुद्ध-शासन में सभी कुछ महान् है, सभी कुछ गम्भीर है। सम्राट् अशोक की वाणी में हम आज भी दुहरा सकते हैं—ये केचि भगवता वुधेन भासिहे सवे से सुभासिते वा[५]। अर्थात् भगवान वुद्ध ने जो कुछ भी कहा है, सव सुन्दर ही कहा है। और फिर धर्म सेनापति सारिपुत्र के शव्दो में वुद्ध-

---

(१) यो हि धम्मो यस्स धम्मस्स ठितिया वा उप्पत्तिया वा उपकारको होति सो तस्स पच्चयोति वुच्चति। विसुद्धिमग्ग १७।६८

(२) पच्चयो, हेतु, कारणं, निदानं, सम्भवो, पभवोति आदि अत्यतो एकं, व्यञ्जनतो नानं। विसुद्धिमग्ग १७।६८

(३) "इति खो, भिक्खवे, या तत्र तथता, अवितथता, अनञ्ञथता, इदप्पच्चयता अयं वुच्चति भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादो।" सयुत्त निकाय, विसुद्धिमग्ग १७।५ में उद्धृत।

(४) देखिये विसुद्धिमग्ग १७।६

(५) भाव्र शिलालेख।

शासन सदा ही मनन करने के लिये अत्यन्त उत्तम है[1]। किन्तु फिर भी जो दार्शनिक गहनता और नैतिक व्यापकता तथा मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट इस प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी सिद्धान्त में निहित हैं, वह दार्शनिक नय में अन्यत्र दुर्लभ है। जिस सिद्धान्त को तथागत पूरी तरह जानने का दावा करते हो, पूरी तरह समझने का दावा करते हो (य तथागतो अभिसम्बुज्झति अभिसमेति) उसमें इतनी गम्भीरता भी क्यो न हो? कहा ही गया है कि सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने के समय ही भगवान् बुद्ध को इस महान् सत्य का साक्षात्कार हुआ था। अभिसम्बोधि प्राप्त करते हुए बुद्धदेव ने प्रथम याम में पूर्व-जन्मो का ज्ञान प्राप्त किया, मध्यम याम में दिव्य चक्षु प्राप्त किये और अन्तिम याम में प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार किया था[2]। प्रतीत्य समुत्पाद का चिन्तन ही, उस पूर्ण ज्ञानी (अभिसम्बुद्ध) पुरुष का सर्वप्रथम ध्यान (विहार) था[3]। बुद्धत्व प्राप्त कर विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए सप्ताह भर एक ही आसन से बैठकर भगवान् ने रात के पहले पहर में 'इसके होने से यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है' इस प्रकार अनुलोम (सीधे प्रकार) से, मध्यम पहर में 'इसके नही होने से यह नही होता है, इसके रुक जाने से यह रुक जाता है' इस प्रकार प्रतिलोम (उल्टे रूप) से, और अन्तिम पहर में 'इसके होने से यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है, इसके नही होने से यह नही होता है, इसके रुक जाने से यह रुक जाता है' इस प्रकार अनुलोम-प्रतिलोम प्रकार से, चिन्तन किया था[4]। जहा कही भी प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया गया है या उसका वर्णन आया है, भगवान् इसकी गम्भीरता पर जोर देते दिखाये गये है। यहाँ तक कि अपने चिर-उपस्थाक और अत्यन्त साधन-सम्पन्न शिष्य आनन्द को भी उन्होंने इसके विषय में एक साधारण दृष्टिकोण लेने से आगाह किया। "आश्चर्य है भन्ते! अद्भुत है भन्ते! कितना

---

(१) देखिये मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४५३ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)
(२) देखिये विनयपिटक—महावग्ग।
(३) ". पटिच्चसमुप्पादमनसिकारो पठमाभिसम्बुद्धविहारो।" विसुद्धिमग्ग १७।९
(४) देखिये विनयपिटक, महावग्ग १।१-३ मिलिन्द प्रश्न २।३।१; उदान १।१-२, विसुद्धिमग्ग १७।९

गम्भीर है और गम्भीर-सा दीखता भी है यह प्रतीत्य समुत्पाद, पर मुझे यह साफ-साफ जान पडता है[१]।" ऐसा एक वार आनन्द ने कहा था। परन्तु शास्ता ने उन्हे रोकते हुए कहा—"ऐसा मत कहो आनन्द! ऐसा मत कहो आनन्द! यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दीखता भी है[२]।" जव भगवान् के सदा पास रहनेवाले शिष्य आनन्द की यह हालत है तो फिर उपनिषद् की भाषा में जिनका 'जियो और मरो'[३] यह तृतीय ही पन्थ है, उन हम अज्ञ पृथग्जनो के विषय में तो कहना ही क्या? "आनन्द! इस धर्म (प्रतीत्य समुत्पाद) को न जानने, न प्रतिवेध करने से ही ये प्रजाएँ उलझे सूतसी, गाँठें पडी रस्सी-सी, मूज वल्वज-सी, दुःख, दुर्गति, पतन, विनिपात को प्राप्त हो, ससार से पार नही हो सकती।"[४] जिन्होने कामो के आस्वादो को ही जीवन का लक्ष्य वना लिया है उनके द्वारा यह प्रतीत्य समुत्पाद रूपी सत्य साक्षात्कार करने के योग्य नही, उनके द्वारा यह परम अणु धर्म विज्ञेय नही। "इन आसक्ति में पडी, आसक्ति में रत, आसक्ति में प्रसन्न, प्रजाओ के लिये यह वहुत कठिन है कि वे कार्य कारण-सम्वन्धी प्रतीत्य समुत्पाद के नियम को समझ सकें[५]।" वास्तव में कारणवाद सम्वन्धी ज्ञान ही भगवान् वुद्ध के

---

(१) अच्छरियं भन्ते! अब्भुतं भन्ते! याव गम्भीरो चायं भन्ते पटिच्च-समुप्पादो गम्भीरावभासो च। अथ च पन मे उत्तान कुत्तानको विय खायतीति। महानिदान-सुत्त (दीघ० २।२)

(२) मा हेवं आनन्द अवच, मा हेवं आनन्द अवच। गम्भीरो चायं आनन्द पटिच्च समुप्पादो गम्भीरावभासो च। उपर्युक्त के समान ही। देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९२ भी (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) 'जायस्व म्रियस्व'। छान्दोग्य० ५।१०।८

(४) एतस्स आनन्द धम्मस्स अननुवोधा अप्पटिवेधा एव अयं पजा तन्ताकुलक-जाता गुलागुण्ठिकजाता (अथवा, कुलकुण्डिकजाता, गुणगण्ठिकजाता, यह भी पाठ) मुञ्जवव्वजभूता अपायं दुग्गतिं विनिपातं ससारं नाति-वत्तति। महानिदान सुत्त (दीघ० २।२)।

(५) आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलयसम्मुदिता। आलयरामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयसम्मुदिताय दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयता पटिच्च समुप्पादो। महापदान सुत्त (दीघ० २।१)।

सम्पूर्ण मन्तव्य का विश्लेषण है, बौद्ध दार्शनिक भाषा में कहे तो "हेतु का ज्ञान ही धर्म-प्रतिसम्विद् है"[१] । हेतु ही धर्म है[२] । स्वय भगवान् बुद्ध ने धर्म और प्रतीत्य समुत्पाद की एकता दिखाते हुए कहा था, "जो कोई प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है, जो कोई धर्म को देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है[३]" । वस्तुत धर्म प्रतीत्यसमुत्पाद ही है । "भिक्षुओ ! मै तुम्हे (धर्म) कहता हूँ" ऐसा कहकर भगवान् ने 'इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है, जैसे कि अविद्या के कारण सस्कार' आदि रूप से प्रतीत्य समुत्पाद का ही उपदेश दिया था[४] । अत हम कह सकते है कि बुद्धोपदिष्ट धर्म और प्रतीत्य समुत्पाद दोनो एक है । यदि तथागत-प्रवेदित धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना है, तो उनके द्वारा उपदिष्ट दुर्धर्ष अटल नियम प्रतीत्य समुत्पाद को समझना ही होगा, और फिर यह नियम तो स्वय तथागत की भी अपेक्षा नही रखता । "चाहे तथागत उत्पन्न हो या चाहे तथागत उत्पन्न न हो, किन्तु यह जो धर्मों की अविचल स्थिति है, धर्म नियामता रूपी धातु (मूल वस्तु) है, इद प्रत्ययता (प्रतीत्य समुत्पाद) है, यह तो हर दशा में सदा ठहरती ही है ।"[५] अत्यन्त व्यवस्थित, प्रतिनियत, देश, काल, निमित्त, क्रिया और फल वाले इस[६] सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक ससार-चक्र के विषय में भगवान् तथागत का यह कहना निश्चय ही विलकुल ठीक ही था । यह किसकी अपेक्षा रखता है ? मनुष्य की साधना की सार्थकता तो इसी में है कि वह इसके रूप को समझे और तदनुकूल वरते

बुद्ध-वचनो के साक्ष्य पर इस प्रकार हमने प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त क

---

(१) हेतुम्हि ञाण धम्मपटिसम्भिदा । विभग, विसुद्धिमग्ग १७।३०६ में उद्धृ

(२) हेतुनो हि धम्मोति नामं । विसुद्धिमग्ग १७।३०६

(३) महाहत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम ० १।३।८)

(४) देखिये महातण्हासखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)

(५) उप्पादा वा तथागतान अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धा धम्मट्ठितता धम्म नियामता इदप्पचयता । संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसर पृष्ठ २५-२६ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण), विसुद्धिम १७।५ में उद्धृत ।

(६) अस्य जगतो ... ...प्रतिनियत देश कालनिमित्त क्रिया फलाश्रयस्य ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य १।१।२

गम्भीरता का कुछ दिग्दर्शन किया है। अब स्थविरवाद-परम्परा और उत्तर-कालीन बौद्ध दार्शनिक विकास इस विषय में क्या कहते हैं, इसपर कुछ तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ विचार कर लेना चाहिये। आचार्य बुद्धघोष के समान तेजस्वी आचार्य और व्याख्याकार स्थविरवाद-परम्परा में कोई दूसरा नही हुआ है। और फिर सच बात तो यह है कि स्वय त्रिपिटक को छोडकर यदि और कही 'प्रतीत्य समुत्पाद' का मूल बुद्ध-दर्शन के अनुसार हमें पूर्णतम विवरण और विवेचन मिल सकता है, तो वह बुद्ध घोषाचार्य के अद्वितीय ग्रन्थ 'विसुद्धि-मग्ग' में ही है। यहाँ पर महास्थविर ने अनेक प्रकार से प्रतीत्य समुत्पाद की गम्भीरता को विवेचित किया है[१]। प्राचीन आचार्यों का उद्धरण देते हुए उन्होने कहा है कि "सत्य, प्राणी, पुनर्जन्म और प्रत्यय (हेतु) इन चार बातो का जानना (देखना) तो कठिन है ही, इनका उपदेश करना तो और भी अधिक कठिन है[२]"। आगम (शास्त्रीय अध्ययन) और अधिगम (आध्यात्मिक साधना) की जिनमें परिपूर्णता है, वही वास्तव में इस 'गम्भीर' दुर्ज्ञेय, दुर्बोध, शान्त, प्रणीत (उत्तम), तर्क से अप्राप्य, विज्ञजनो के द्वारा समझने योग्य' धर्म को साक्षात्कार करने के अधिकारी हैं। स्वय बुद्धघोषाचार्य जैसे साधन-सम्पन्न महास्थविर को भी प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन करते समय ऐसा भान होने लगा जैसे कि वे महासागर का अवगाहन कर रहे है। "पतिट्ठ नाधिगच्छामि अज्झोगाल्हो व सागर।"[३] कोई आश्चर्य नही यदि दर्शन के साधारण विद्यार्थी की भी यही अवस्था हो जाय।

फिर प्रतीत्य समुत्पाद का महत्त्व न केवल स्थविरवादी बौद्ध धर्म के लियेही है, बल्कि समग्र बौद्ध दर्शन के विकास और मूल-बुद्ध दर्शन के साथ उसके सम्बन्ध को समझने के लिये भी हमें प्रतीत्य समुत्पाद के मूल स्वरूप को समझना बहुत आवश्यक है। शून्यवाद (माध्यमिक मत) के प्रभावशाली आचार्य महामति नागार्जुन ने सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध को प्रतीत्य समुत्पाद के उपदेष्टा के रूप में ही स्मरण किया है और प्रतीत्य समुत्पाद पर ही उन्होने अपने सम्पूर्ण शून्य-वादी दर्शन की नीव भी रक्खी है। इसी प्रकार अन्य अनेक उत्तर कालीन बौद्ध

---

(१) विसुद्धिमग्ग १७।३०४-३१४

(२) सच्च सत्तो पटिसन्धि पच्चयाकारमेव च। दुद्दसा चतुरा धम्मा देसेतु च सुदुक्करा ॥ विसुद्धिमग्ग १७।२५ में उद्धृत।

(३) विसुद्धिमग्ग १७।२५

आचार्यों ने भी इस सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की है। तुलनात्मक अध्ययन से ही हम इन सब की विशेषताओ को अलग-अलग समझ सकते है और जान सकते है कि कहाँ तक उन्होने मूल बुद्ध-मन्तव्य का अनुगमन किया है, और कहाँ वे उससे बाहर गये है। पर विशुद्ध बुद्ध-शासन की दृष्टि से भी जो हमारा प्रस्तुत विषय है हमें यही प्रतीत्य समुत्पाद की कुछ प्रधान विशेषताओ पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिये ताकि न केवल आगे विवेचन का विषय बनाये जानेवाले उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक विकास को ही हम उसके पूर्व रूप के साथ मिलाकर ठीक प्रकार अध्ययन कर सकें, बल्कि इसलिये भी कि अभी मूल बुद्ध-दर्शन की परम्परा के अनुसार भी प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन करते समय हम उन विशेषताओ को ध्यान में रक्खें जो स्थविरवाद-परम्परा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यदि चतुरार्य सत्यो को हम बुद्ध धर्म के मूल उपादान मानें और अनत्ता या अनात्मवाद के सिद्धान्त को बुद्ध-शासन की तात्त्विक प्रतिष्ठा, तो हम निश्चय ही कह सकते है कि प्रतीत्य समुत्पाद इन दोनो की मध्यस्थता करता है। अपने एक स्वरूप में जब कि यह नियम द्वितीय और तृतीय आर्य सत्य रूप (दु ख-) समुदय और (दु ख-) निरोध की हेतुसम्मत व्याख्या करता है और अविचल कार्य-कारण-भाव सम्बन्धी नियम के आधार पर दु ख-निरोध की सम्भवता दिखाता है, तो अपने दूसरे रूप में यह सभी बाह्य और आन्तरिक पदार्थों या धर्मों को क्षणिक, अनित्य और प्रतीत्य समुत्पन्न दिखाकर उनमें अनात्म बुद्धि का स्फुरण करता है, जो दु ख और वेदनाओ के निरोध का एकमात्र उपाय है। वह न शाश्वत अस्तित्त्व कहता है और न उच्छेद। इस प्रकार वह मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन करता है। एक दूसरे प्रकार की मध्यस्थता भी प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त करता है। वह इस बात का साक्षी है कि जिस प्रकार महाश्रमण (बुद्ध) का वाद शाश्वतवाद से व्यतिरिक्त है, उसी प्रकार वह उच्छेदवाद, अ-क्रियावाद, अ-कारणवाद और नास्तिकवाद से भी व्यतिरिक्त है। प्रतीत्य समुत्पन्न धर्मों की क्या शाश्वतता और प्रत्ययों से बार-बार उत्पन्न और निरुद्ध होनेवाले धर्मों की कहाँ से उच्छेद-कथा ? वे केवल प्रतीत्य समुत्पन्न है, कारण-सन्तति से प्रवाहित होनेवाले है, यही तो कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जो करता है वही फल उपभोग करता है, (सो करोति सो पटिसवेदति[1]) या 'अन्य करता है

(१) निदान-सयुत्त (सयुत्त-निकाय)

और अन्य फल उपभोग करता है (अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसवेदति[1]) इन दो अतिवादमयी शकाओ से भी प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-मन्तव्य को बचा ले जाता है। "यह विश्वास करना कि कर्म का कर्ता और दूसरे जन्म मे उसके फल का उपभोग करने वाला, ये दोनो एक है, यह एक अति है। इसी प्रकार यह विश्वास करना कि कर्म का करनेवाला और उसके फल का उपभोग करनेवाला, ये दो भिन्न-भिन्न है, यह दूसरी अति है। पूर्ण पुरुष तथागत ने इन दोनो अतियो को छोड दिया है, और इन दोनो के मध्य मे स्थित सत्य को उन्होने सिखाया है[2]।" यही तो प्रतीत्य समुत्पाद है, मध्यमा प्रतिपदा का अत्यन्त उच्चकोटि का दार्शनिक रूप। पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी अनेक सुत्तो, इतिवुत्तको, उदानो और वेय्याकरणो में कारुणिक शास्ता ने प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश दिया है और ऐसा करने मे उनकी करुणा को छोड और क्या कारण हो सकता है? आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि नाना प्रकार से भगवान् ने इसीलिये प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश दिया है कि एक तो यह सिद्धान्त ही सर्वत कल्याणकारी है और फिर स्वय तथागत को उपदेश देने में परिपूर्णता (पारमिता) प्राप्त है[3]। फिर यहा अपूर्व विस्तार क्यो न हो? प्रतीत्य समुत्पाद को हम आसानी से भगवान् तथागत की करुणा का ज्ञानमय परिणाम कह सकते है। ऐतिहासिक विद्वान् जिन्हे भावना से विशेष काम नही है, प्राय समझते है कि अनेक प्रकार के उपदेश तो भिन्न-भिन्न स्थानो और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के प्रति वार्तालाप उपदेश देने के कारण ही है। यह कहना भी ठीक ही है। कुछ यह भी कहते है कि प्रतीत्य समुत्पाद के स्वरूप-निर्णय में ही बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक युग में कुछ विनिश्चितता नही थी, इसलिये भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन इस अव्यवस्थित स्वरूप के कारण मिलते है और उनको एक व्यव-

(१,२) संयुत्त-निकाय।

(३) कस्मा पनेवं देसेतीति? पटिच्च समुप्पादस्स समन्त भद्दकत्ता, सयं च देसनाविलासप्पत्तत्ता। समन्त भद्दको हि पटिच्च-समुप्पादो ततो ततो ञायपटिवेधाय संवत्तति येव। देसना विलासप्पत्तो च भगवा चतुवेसारज्जपटिसम्भिदा योगेन चतुब्बिध गम्भीर भावप्पत्तिया। सो देसनाविलासप्पत्तत्ता नानानयेहेव धम्मं देसेति। विसुद्धिमग्ग १७।३३, मिलाइये विसुद्धि मग्ग १७।२२-२३ भी।

स्थित रूप में बांधना और फिर उसकी मनोयोगपूर्वक रक्षा करना और तर्कों से उसकी सगति दिखाना तो बाद के आचार्यों का काम है। इस मत को गले उतारना कुछ कठिन है, पर इस विवाद में न पडना ही ठीक है। यहाँ तो हमें यही कहना है कि सुत्त-पिटक में (अभिधम्म पिटक में विशेषज्ञ ही आश्वासन पा सकते हैं) जो सवादो के रूप में हमें प्रतीत्य समुत्पाद के विवरण मिलते हैं उनमें दार्शनिक एकरूपता और व्यवस्था चाहे ऊपर से भले ही दिखाई न पडे परन्तु आधारभूत रूप से वह वहाँ विद्यमान है और विभिन्न पात्रो के योग्यता-क्रम से उसका केवल घटा-बढाकर वर्णन किया गया है। थोडी-सी भी सहानुभूति जिसके अन्दर हो वह इन वर्णनो को पढकर आज भी यह कहे विना नही रह सकता 'औंधे को जैसे सीधा कर दे, ढँके को जैसे उघाड दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रख दे ताकि आँख वाले रूप को देखें, ऐसे ही गोतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया।' हमने त्रिपिटक में अनेक बार पढा है कि प्रयोजन को लेकर ही तथागत बोलते है, विना प्रयोजन के तथागत शब्दो का कभी व्यवहार नही करते। तो फिर हमें देखना ही चाहिये कि प्रतीत्य समुत्पाद के उपदेश में उन प्रयोजन-वादी, अर्थार्थी शास्ता का क्या उद्देश्य था ?

चतुरार्य सत्य, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बुद्ध-शासन के मूल उपादान है। वे ही 'बुद्धो की वह उठाने वाली धर्म-देशना' है जिनके द्वारा भगवान् वुद्ध साधको को उच्च मानसिक स्थिति में उठाया करते थे। चतुरार्य सत्यो में आर्य अष्टागिक मार्ग और प्रतीत्य समुत्पाद दोनो अन्तर्भावित हैं, यह हम पहले देख चुके है[१]। भगवान् वुद्ध का सम्पूर्ण मन्तव्य वस्तुत चार आर्य सत्यो में रक्खा हुआ है। और चार आर्य-सत्य भी हम यहा क्यो कहे, दो भी कहना तो पर्याप्त होगा। "भिक्षुओ! दो ही चीजें मै सिखाता हूँ— दु ख और दु ख से विमुक्ति।"[२] इससे अधिक जिन्होंने जानना चाहा वे उनके धर्म-विनय से वापस चले गये। हमारे 'अति प्रश्नो' के लिये तथागत ने कोई स्थान ही नही छोडा है। किन्तु फिर भी हम अनेक प्रकार के 'अति-प्रश्न' वुद्ध-शासन के विषय में करते ही है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' भी भारतीय दार्शनिक विकास में अनेक प्रकार के अति प्रश्नो का शिकार हुआ है। किन्तु

(१) देखिये पीछे चार आर्य सत्यों का विवेचन।

हमें तो यही स्मरण रखना है कि तथागत सिद्धान्तो के प्रख्यापक आचार्य नही है, वे तो मनुष्य-जाति के अद्वितीय भिषक् (अनुत्तरो भिसक्को) ही है। एक चतुर वैद्य के समान वे रोगी के रोग, निदान, भैषज्य, पथ्य और आरोग्य के विषय में तो सब जिज्ञासाओ का सहेतुक उत्तर देने को तैयार हैं, वल्कि अनेक पर्यायो से इसे वताते हुए कारुणिक शास्ता को कभी थकावट या आलस्य ही नही है। किन्तु यदि रोग की विषम अवस्था में रोगी व्यर्थ प्रलाप ही करने लग जाय, सनिपात की अवस्था में वकने ही लग जाय, तो वैद्य उसकी जिज्ञा-साओ को लेकर क्या करेगा ? इस हालत में उसके प्रश्नो को ही गलत वता कर उसे केवल औषध को ही सेवन करने के लिये कहा जा सकता है। अन्य दर्शनकार और विचारक चाहे जो कुछ कहें, और अपनी-अपनी दृष्टियो से सभी को वुद्ध-मन्तव्य की व्याख्या करने का अधिकार है, किन्तु वुद्ध का स्वय का दृष्टिकोण यही मालूम पडता है कि जो न निर्वेद के लिये है, न विराग के लिये है, न निरोध के लिये है, न शान्ति के लिये है, न श्रेष्ठ ज्ञान के लिये है, न परिपूर्ण वोध के लिये है और न निर्वाण के लिये है, उसका वुद्ध-शासन में निश्चय ही कोई स्थान नही है[1]। इन सव वातो के प्रकाश में ही हमें देखना चाहिये कि भगवान् ने प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश किस मन्तव्य को लेकर दिया ? सव से प्रथम वात तो यही है कि वुद्ध के दर्शन की जो सव से वडी विशेपता है वह है उसका हेतुओ पर आश्रित होना। यही एक ऐसी प्रभावशाली वात है जो उन्हे एक ओर तो उन अहेतुकतावादियो, यदृच्छा-वादियो, नास्तिकतावादियो, नियतिवादियो अथवा निराशावादियो से पृथक् करती है जिनके अनुसार दु ख का आगमन किसी कारण को लेकर नही होता अत उसका उच्छेद भी अशक्य अथवा असम्भावित है, और दूसरी ओर उन ऐसे जनो से जो ईश्वर-निर्माण या भवितव्यता के कारण दु ख का उद्गम मानते हैं और जो किसी दूसरे की सहायता से ही (फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, या ईश्वर या काल या स्वभाव या अन्य कोई देवता या मनुष्य विशेप) भव को पार किया चाहते है। भगवान् का स्पष्ट उत्तर है कि दु ख न तो अ-कारण है और न वह ईश्वर-निर्माण या भवितव्यता के कारण है। दुःख है और कारणो के सहित ही वह है और आश्वासन की वात यह है कि उन कारणो के निरोध कर दिये जाने पर दु ख-परम्परा भी निरुद्ध हो जाती है।

---

(१) देखिये पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १।९)

दृष्टियाँ कहकर उन सबसे अतीत और निरपेक्ष सद्धर्म रूप महाजाल में उन सबको निगृहीत ही माना था, सृष्टि के आदि कारण के चिन्तन को तो उन्होने अचिन्त्य और अविज्ञेय ही ठहराया था, उसे और तत्सम्बन्धिनी अन्य जिज्ञासाओ को तो उन्होने अधिकारपूर्ण दृष्टि से 'अव्याकृत' ही किया था और परमार्थ-मार्ग में उन्हे हानिकर ही बताया था। "भिक्षुओ! अविद्या और तृष्णा से सचालित भटकते फिरते प्राणियो के पूर्व कोटि (आरम्भ) का पता नही चलता।"[1] ऐसा गम्भीर सिंहनाद करनेवाले तथागत कभी अविद्या के कारणत्व सम्बन्धी किसी विवादग्रस्त दार्शनिक सिद्धान्त का प्रख्यापन करेंगे, यह सम्भव नही। उनके लिये तो मार्ग या प्रतिपद् का प्रख्यापन ही मुख्य वस्तु है, जिसके द्वारा वे दु ख-निरोध का यही जीते जी साक्षात्कार करने का उपदेश देते है। उनके दर्शन का सबसे बडा अलकार यही है कि "जिसके लिये वे धर्म का उपदेश करते है, वह अपने दु ख के क्षय को प्राप्त कर लेता है"[2]। सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव किसी दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन या मण्डन करने के लिये नही हुआ था, क्योकि इस सबसे वे परे थे। "ब्राह्मण! यह सत्य है, यह किससे कहे, यह झूठ है, यह भी किससे विवाद करे। जिसमें सम-विषम नही है, वह किससे विवाद करे? जो काम से शून्य, अपने लिये भविष्य को न बनानेवाला है, वह मुनि लोक से विग्रह की कथा नही कहता।"[3] जिस एक विचार के अक्ष पर तथागत का सम्पूर्ण धर्मचक्र घूमता है और जिसी के द्वारा वह अपनी विशेषता और मौलिकता प्राप्त करता है, वह है केवल उसकी यह मान्यता कि ससार नन्दी (तृष्णा) के फन्दो से बुरी तरह दु ख में फँस गया है, एक दु ख से दूसरे दु ख में निरन्तर प्रवेश करता हुआ वह उसके निस्सरण को नही जानता, और उसे इसका एक मार्ग बतलाना है। तथागत को सदा ही यह चिन्ता सताती रही "यह ससार बहुत कष्ट में पडा है, जन्म लेता है, वृद्ध होता है, मरता है, च्युत होता है और फिर उत्पन्न होता है। वह इस दु ख से, जरा और मृत्यु से, निस्सरण को नही जानता। वह किस तरह दु ख, जरा और मृत्यु से, निस्सरण को जानेगा[4]।" किस तरह यह प्राणी इस तृष्णा रूपी जटा से,

(१) सयुत्त-निकाय।
(२) महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।२)
(३) सुत्त-निपात।
(४) किच्छं वताय लोको आपन्नो जायति च जीयति च मीयति च चवति च

जिससे वह बाहर भीतर बुरी तरह जकड़ा हुआ है, अपने को सुलझा पायगा ? इसी चिन्ता का समाधान तथागत के द्वारा विशुद्धि-मार्ग के रूप में दिया गया और इसी की वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या स्वरूप प्रतीत्य समुत्पाद भी मनुष्य जाति को विरासत के रूप में मिला। इस विरासत को हमें इसी रूप में देखना चाहिये। तात्विक और तुलनात्मक रूप से बहुत विचार दौड़ा कर और अनेक प्रकार से इस सिद्धान्त को समझने और समालोचित करने का प्रयत्न कर हम दार्शनिक मार्ग को विस्तारित करते भले ही कहे जायें, परन्तु इससे हम बुद्ध-मन्तव्य के कुछ भी अधिक समीप पहुँच सकेंगे, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। अत. हमें तो केवल विशुद्ध स्थविरवाद-परम्परा के अनुसार ही यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। कहने की आवश्यकता नही कि केवल त्रिपिटक और अनु-पिटक साहित्य ही इस विषय में हमारे लिये एकमात्र आश्रय लेने योग्य सामग्री है[1]।

प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण और विवेचन

१–२ अविज्जा-पच्चया सखारा।
२–३ सखार-पच्चया विञ्ञाण।
३–४ विञ्ञाण-पच्चया नामरूप।
४–५ नामरूप-पच्चया सलायतन।
५–६ सलायतन-पच्चया फस्सो।
६–७ फस्स-पच्चया वेदना।
७–८ वेदना-पच्चया तण्हा।

उप्पज्जति चा'ति, आदि। संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०, विसुद्धिमग्ग १७।३४ में उद्धृत।

(१) स्थविरवादी साहित्य में प्रतीत्य समुत्पाद के विवरण के लिये देखिये महा निदान-सुत्त (दीघ० २।२); महातण्हा-संखय-सुत्तन्त (मज्झिम १।४।८); चूल सीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।१) महाहत्थि पदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।८; निदान-संयुत्त (सयुत्त-निकाय); उदान (बोधिवग्ग); सम्पूर्ण 'पट्ठान' प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन ही है; विसुद्धिमग्गो (सत्तरसमो परिच्छेदो); मिलिन्दपञ्हो (लक्खण-पञ्हो)।

८–९ तण्हा-पच्चया उपादान ।
९–१० उपादान-पच्चया भवो ।
१०-११ भव-पच्चया जाति ।
११–१२ जाति-पच्चया जरा-मरण-सोक-परिदेव-
दुक्ख-दोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति ।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति ।
अय वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्चसमुप्पादो ।

अविज्जाय त्वेव असेस-विराग-निरोधा सखार-निरोधो
सखार-निरोधा विञ्ञाण-निरोधो
विञ्ञाण-निरोधा नामरूप-निरोधो
नामरूप-निरोधा सलायतन-निरोधो
सलायतन-निरोधो फस्स-निरोधो
फस्स-निरोधा वेदना-निरोधो
वदना-निरोधा तण्हा-निरोधो
तण्हा-निरोधा उपादान-निरोधो
उपादान-निरोधा भव-निरोधो
भव-निरोधा जाति-निरोधो
जाति-निरोधा जरा-मरण-सोक-परिदेव-
दुक्ख-दोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति ।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति ।
अय वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्च समुप्पादो[1] ।

१—२ अविद्या के प्रत्यय से सस्कार
२—३ मस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान
३—४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप
४—५ नाम-रूप के प्रत्यय से षडायतन
५—६ षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श
६—७ स्पर्श के प्रत्यय से वेदना
७—८ वेदना के प्रत्यय से तृष्णा
८—९ तृष्णा के प्रत्यय से उपादान

---

(१) सयुत्त-निकाय (निदान-संयुत्त); विसुद्धिमग्ग १७।२ में उद्धृत ।

९–१० उपादान के प्रत्यय से भव
१०–११ भव के प्रत्यय से जाति
११–१२ जाति के प्रत्यय से जरा-मरण-शोक-परिदेव-दु ख-दौर्मनस्य और हैरानी-परेशानी उत्पन्न होते हैं।
इस प्रकार इस सम्पूर्ण दु ख-स्कन्ध का समुदय होता है।
यही कहा जाता है, भिक्षुओ, प्रतीत्यसमुत्पाद।

पुन

अविद्या के रुक जाने से सस्कार रुक जाते है
सस्कारो के रुक जाने से विज्ञान रुक जाता है
विज्ञान के रुक जाने से नाम-रूप रुक जाते है
नाम-रूप के रुक जाने से षडायतन रुक जाते है
षडायतन के रुक जाने से स्पर्श रुक जाता है
स्पर्श के रुक जाने से वेदना रुक जाती है
वेदना के रुक जाने से तृष्णा रुक जाती है
तृष्णा के रुक जाने से उपादान रुक जाता है
उपादान के रुक जाने से भव रुक जाता है
भव के रुक जाने से जाति रुक जाती है
जाति के रुक जाने से जरा-मरण-शोक-परिदेव-दु ख-दौर्मनस्य-हैरानी-परेशानी रुक जाते है
इस प्रकार यह सम्पूर्ण दु ख-स्कन्ध रुक जाता है।
यही कहा जाता है, भिक्षुओ! प्रतीत्य समुत्पाद।

अनुलोम और प्रतिलोम के मार्ग से क्रमश समुदय और निरोध का निरूपण करता हुआ यह कार्यकारण भाव रूप नियम भगवान् के द्वारा, जैसा कि हम पहले कह चुके है, विशेषत दु ख के समुदय और निरोध को समझाने के लिए ही सिखाया गया। वैसे सामान्य रूप से हम कह सकते है कि इस नियम के अनुसार आध्यात्मिक या वाह्य जगत् की होनेवाली कोई भी घटना अपनी उत्पत्ति के लिए अपने से पूर्व किसी अन्य घटना के प्रत्यय, हेतु अथवा निदान स्वरूप ही होती है और वह स्वय भी एक अन्य परवर्ती घटना के प्रति प्रत्यय, हेतु अथवा निदान के रूप में कारण बनती है और इस प्रकार यह कार्य-कारण रूप भव-चक्र निरन्तर चलता है। इस नियम के अनुसार मनुष्य यदि आचरण करे तो अपने दुःख का अन्त कर सकता है, अपनी समस्याओ का

हल पा सकता है, भगवान् तथागत गवाही हैं, कारण कि उन्होंने यह सब देखकर ही उपदेश दिया है[1]। प्रतीत्य समुत्पाद का पूर्ण विवरण उपर्युक्त बारह अगो के द्वारा ही किया जाता है, अत इसे द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पाद भी कहा जाता है। किन्तु प्रत्ययो की ठीक सख्या अथवा क्रम के विषय में त्रिपिटक में ही कोई निश्चित नियम बरता गया हो, ऐसा नही कहा जा सकता। अनेक प्रकार से कही सक्षिप्त और कही विस्तृत रूप में, जैसा कि भगवान् शकर ने भी ठीक कहा है[2], इसका विवरण त्रिपिटक में उपलब्ध होता है। भगवान् ने अनेक पर्यायो से इस धर्म का उपदेश दिया है। शास्ता की कारुणिकता ही विभिन्न प्रकार के उपदेशो और पुनरुक्ति के लिए उत्तरदायी है। मुख्यत· जैसा कि आचार्य बुद्धघोष ने प्रकट किया है, चार प्रकार के विवरण इस सिद्धान्त के त्रिपिटक में उपलब्ध होते है[3]। पहले प्रकार का वर्णन तो वही है जो द्वादशाग प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में ऊपर दे दिया गया है। 'उदान' और 'विसुद्धिमग्ग' में इसी प्रकार यह दिया गया है। दूसरा ढग वह है जो सातवें प्रत्यय 'वेदना' से लेकर बारहवें प्रत्यय जरा-मरण आदि तक आता है। 'निदान सयुक्त' में इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध है। तीसरा ढग वह है जो बारहवी कडी अर्थात् जरा-मरण से लेकर प्रथम कडी अर्थात् अविद्या तक आता है। इस प्रकार का वर्णन 'निदान सयुत्त' और 'उदान' में मिलता है। चौथा ढग जो त्रिपिटक में उपलब्ध होता है उसके अनुसार आठवी कडी से उल्टे रूप से प्रत्यय-परम्परा प्रथम कडी अर्थात् अविद्या तक पहुँचती है। उपर्युक्त ढगो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार से प्रतीत्य समुत्पाद का वर्णन त्रिपिटक में उपलब्ध होता है, यथा तीसरी कडी से बारहवी कडी तक (निदान सयुत्त ४९), पाचवी कडी से आठवी कडी तक (निदान सयुत्त ४३) और दीघ निकाय के महानिदान सुत्त में कडिया १–२ और

(१) त तथागतो अभिसम्बुज्झति अभिसमेति, अभिसम्बुजित्वा अभिसमेत्वा आचिक्खति देसेति पञ्ञापेति पट्ठपेति विवरति विभजति उत्तानीकरोति पस्सयाति चाह अविज्जापच्चया भिक्खवे संखारा, आदि। सयुत्त-निकाय, विसुद्धिमग्ग १७।५ में उद्धृत।

(२) देखिए पाचवें प्रकरण में शाकर दर्शन का विवेचन।

(३) देखिए विसुद्धिमग्ग, १७।२८-३४; मिलाइये ञानातिलोक: गाइड टू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १४४-१४५

२–३ तो गायब हैं ही, कही ४–५ भी छोड दी गई है और नाम-रूप से सीधे स्पर्श का समुदय दिखा दिया गया है। 'इसलिए आनन्द! स्पर्श का यही हेतु, यही निदान, यही समुदय और यही प्रत्यय है जो कि नाम-रूप।' कुछ भी हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से तो महानिदान सुत्तन्त का वर्णन ही, जैसा कि डा० रायस डेविड्स ने भी कहा है[1], त्रिपिटक में परिपूर्णतम माना जा सकता है, यद्यपि यह भी ठीक है कि दीघ आभाणको ने यहां भी प्रथम दो कडियो का निर्देश नही किया और वैसे भी इस सुत्तन्त में जरा-मरण रूप दुःख पर इतना जोर नही दिया गया जितना कि अन्यत्र। प्रतीत्यसमुत्पाद के विभिन्न निदानो की जो व्याख्या हम आगे करेंगे उसमें अधिकतर प्रकाश हम इस सुत्तन्त से ही लेंगे यद्यपि अन्य पिटक और अनुपिटक स्रोतो का भी उपयोग आवश्यक होगा, और यह सब एक अत्यन्त सीमित मर्यादा मे ही क्योकि अभिधम्म पिटक के 'विभग' के छठे 'विभग' अर्थात् 'पच्चयाकार विभग' में तो सभी मानसिक और भौतिक जगत् में होनेवाले व्यापारो को उपर्युक्त बारह अगो के रूप मे नही बल्कि चौबीस प्रत्ययो के रूप में व्याख्यात किया गया है जिनका विश्लेषण, जैसा कि महास्थविर ज्ञानातिलोक जी का विचार है, करीब २००० पृष्ठ ले लेगा। फिर स्यामी त्रिपिटक-सस्करण में ३१२० पृष्ठो में समाप्त और प्रतीत्य समुत्पाद के निरूपण करने की दृष्टि से ही 'अनुलोम पट्ठान', 'पच्चनिय पट्ठान', 'अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान' एव 'पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान' इन चार खण्डो में विभक्त महाग्रन्थ 'पट्ठान' का तो एकमात्र विषय ही है प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन, जिसपर उपर्युक्त २४ प्रत्ययो के रूप में ही विचार किया गया है। कितनी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता! कितनी वैज्ञानिक विश्लेषण-प्रियता! फिर इनकी अट्ठकथाओ की, विसुद्धिमग्ग की और उत्तरकालीन प्रतीत्य समुत्पाद-सम्बन्धी निबन्धो यथा सिहल में लिखे गए धर्मरत्न के द्वारा 'पटिच्च समुप्पादय' और 'सत्वोत्पत्ति विनिश्चय' जैसे ग्रन्थो के विषय की तो बात ही क्या? भारतीय दर्शन में कारणवाद सम्बन्धी विचार के एक प्रधान अग भूत स्थविरवाद में प्रतिष्ठित 'पटिच्चसमुप्पाद' के महत्वपूर्ण सिद्धान्त के पूर्णतम निरूपण के लिए महास्थविर ज्ञानातिलोक जी के इस विषय में अन्यतम प्रयत्न के बाद भी अभी बहुत क्षेत्र बाकी है, इसमें सन्देह नही। यहा तो हम, जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर

---

(१) देखिये डॉयलाग्स ऑव दि बुद्ध, भाग दूसरा, पृष्ठ ४२

चुके है, अत्यन्त सामान्य विवेचन से ही आत्मतुष्टि करेंगे और हमारे विषय के क्षेत्र के विचार से यही समीचीन भी होगा। भय तो यह है कि कही यह भी अधिक न हो जाय। किन्तु विषय-गौरव से यह क्षम्य होगा, ऐसा विश्वास है। तो फिर हम द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पाद की प्रथम कडी से ही अनुलोम-क्रम से आगे चलेंगे।

१—२ 'अविद्या के प्रत्यय से सस्कार' (अविज्जा-पच्चया सखारा)। यहा अविद्या क्या है और सस्कार क्या है ? अविद्या का अर्थ है मूल वुद्ध-दर्शन में चतुरार्य सम्बन्धी अज्ञान अथवा प्रतीत्य समुत्पाद सम्वन्धी अज्ञान[1]। साख्य और वेदान्त दर्शनो के अविद्या सम्बन्धी सिद्धान्तो के साथ हमें वुद्ध-सम्मत अविद्या को पारस्परिक गडबडी में नही डाल देना चाहिए। साख्य दार्शन की अविद्या सृष्टि का मूल कारण है, जिसका अन्य कोई कारण नहीं। वुद्ध-दर्शन की अविद्या स्वय अनित्य, सस्कृत और प्रतीत्य समुत्पन्न है। प्रत्ययो से उत्पन्न होनेवाली और प्रत्ययो से निरुद्ध होनेवाली है। 'आस्रवो के समुदय से अविद्या का समुदय होता है[2] इस प्रकार अविद्या का कारण वतलाया गया है। इसीलिये आचार्य वुद्धघोष ने कहा है कि प्रकृति-वादियो (साख्याचार्यो) की प्रकृति के समान अविद्या लोक का मूल कारण नही है[3]। आदि कारण की खोज तथागत ने नही की है। वल्कि उसे उन्होने

(१) तत्थ कतमा अविज्जा ? दुक्खे अञ्ञाणं.......दुक्ख समुदये अञ्ञाणं .....दुक्ख निरोधे अञ्ञाण... दुक्ख निरोध गामिनिया पटिपदाय अञ्ञाण..... . इदप्पचयता पटिच्च समुप्पन्नेसु धम्मेसु अञ्ञाणं। धम्म सगणि, पृष्ठ १९५ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण) ; विभग, पृष्ठ १८१ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण) ; देखिये, "आवुसो ! जो यह दु ख के विपय में अज्ञान, दु ख-समुदय के विषय में अज्ञान, दु.ख-निरोध के विषय में अज्ञान, दु ख निरोध गामिनी प्रतिपद् के विषय में अज्ञान है, इसे आवुसो ! अविद्या कहा जाता है।" सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)

(२) सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)

(३) कस्मा पनेत्थ अविज्जा आदितो वुत्ता ? किं प तिवादीनं पकति विय अविज्जापि अकारण मूलकारण लोकस्सा'ति ? न अकारण। "आसव-समुदया अविज्जा समुदयो'ति हि अविज्जाय कारण वुत्त। विसुद्धिमग्ग १७।३६

मन को निर्बल करनेवाली खोज माना है[1]। आदि कारण उनके लिये 'अकथनीय' है। इसीलिये उन्होने कहा है, "भिक्षुओ यह ससार अनादि है, इसके आरम्भ का पता नही चलता, इसकी पूर्व-कोटि जानी नही जाती।'[2] अविद्या के सम्बन्ध में ही उन्होने कहा है, "भिक्षुओ! अविद्या के आरम्भ का पता नही चलता, जब कि यह कहा जा सके कि इसके पहले अविद्या न थी, इसके बाद वह उत्पन्न हुई[3]।" यही बात उन्होने भव-तृष्णा के बारे में भी दुहराई है[4]। अत किसी मूल कारण की गवेषणास्वरूप अविद्या का उल्लेख यहाँ तथागत ने नही किया है, बल्कि मानवीय अनुभव की सीमा के क्षितिज पर्यन्त दु ख परम्परा के अनुसन्धान करने का यह निश्चित फल है जहां से आगे मनुष्य की आँखें काम नही देती। 'भिक्षुओ। अविद्या और तृष्णा से सञ्चालित, भटकते फिरते मनुष्यो के पूर्वकोटि का पता नही चलता[5]।' जब मनुष्य यह नही देखता कि दु ख का स्वरूप क्या है, उसके समुदय, निरोध और निरोध-मार्ग क्या है, तो वह निश्चय ही बार-बार यम के वश को प्राप्त होता है, नाना योनियो में जन्म-मरण के चक्र में पचता फिरता है, साराश यह कि चतुरार्य सम्बन्धी अज्ञान-रूप अविद्या ही उसकी सभी दु ख-परम्परा की जननी बनती है। भगवान् बुद्ध ने स्वय कहा है कि चार आर्यसत्यो के अज्ञान-

---

(१) अगुत्तर-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ७७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(२) अनमततग्गोय भिक्खवे संसारो पुब्बकोटि न पञ्ञायति। संयुत्त-निकाय अनमतग्ग संयुत्त); जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति अविज्जाय, इतो पुब्बे अविज्जा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीति। अगुत्तर-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ ११३, (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण), विसुद्धिमग्ग १७।३७ में उद्धृत। देखिये मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो) भी।

(४) पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति भवतण्हाय, इतो पुब्बे भवतण्हा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीति। पूर्वोक्त के समान, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ ११६, विसुद्धिमग्ग १७।३७ में उद्धृत। देखिये मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो) भी।

(५) सयुत्त-निकाय।

स्वरूप अविद्या के कारण ही प्राणियो का नाना योनियो में ससरण, आवागमन हो रहा है और उसी के परिणाम-स्वरूप वे स्वय भी अनेक पूर्व-जन्मो में ससार-चक्र में घूमते रहे हैं। "भिक्षुओ ! चार आर्य सत्यो के प्रतिवेध न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन, ससरण हो रहा है जब ये देख लिये जाते हैं तो भव-नेत्री नष्ट हो जाती है, दु ख की जड कट जाती है और फिर आवागमन नही रहता[1] ।" इस विचार-दृष्टि से देखने पर हम कुछ (केवल कुछ) कह सकते हैं कि 'तस्य हेतुरविद्या' कहनेवाले और क्लेशो की परम्परा में उसे ही प्रथम स्थान देनेवाले भगवान् पतञ्जलि निश्चय ही कुछ बुद्ध-मन्तव्य के समीप दीखते हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उस दर्शन में साख्य-दर्शन के समान ही, जिसका कि वह पूरक दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक की अख्याति ही अविद्या-रूप से सज्ञित हुई है और इस प्रकार की कोई वस्तु बुद्ध-दर्शन में नही है। बुद्ध-दर्शन की अविद्या केवल एक प्रत्यय है जो हमारे वर्तमान बाह्य और आन्तरिक जीवन-सस्कारो के लिये उत्तरदायी है। तो फिर यह अविद्या सस्कारो को जन्म देती है। ये सस्कार क्या है ? वही जो कि कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ, जो पुनर्जन्म का कारण बनती है। इन्हें हम मानसिक वासना भी कह सकते हैं। या अधिक विस्तृत अर्थ में जीवन के भौतिक और मानसिक तत्त्वो का नाम ही सस्कार है। ये सस्कार (सखार) तीन प्रकार के होते है, यथा 'पुञ्ञाभिसखार' (पुण्याभिसस्कार) 'अपुञ्ञाभिसखार' (अपुण्याभिसस्कार) और 'आनेञ्ञाभिसखार'। इनमें से 'पुञ्ञाभिसखार' और 'आनेञ्ञाभिसखार' तो सासारिक दष्टि से कुशल अथवा 'लोकिय कुशल' होते है और 'अपुञ्ञाभिसखार' होते है अकुशल। इन्ही सब सस्कारो की, जो पुनर्जन्म के कारण होते है कभी तो होती है अविद्या 'आरम्मण' अर्थात् आलम्बन या विषय, कभी होती है 'उपनिस्सय' अर्थात् निश्चय रूप से आधार या कारण, कभी यह बनती है उनकी 'अनन्तर' अर्थात् अत्यन्त समीपवर्ती, कभी 'समन्तर', कभी रहती है सम्बन्धित यह उनसे 'हेतु' के रूप में, कभी 'सहजात' के रूप में, कही 'अञ्ञमञ्ञ' अर्थात् अन्योन्याश्रयता के रूप में और कभी 'सम्पयुत्त' अर्थात सयोग आदि के रूप में। इस प्रकार अभिधर्म पिटक में, विशेषत 'पट्ठान' में, अनेक प्रकार के

---

(१) महा परिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

हेतुओ, निदानो अथवा प्रत्ययो से अविद्या और सस्कारो के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। कर्म की 'लोकुत्तर कुसल' अथवा 'अव्याकत' अवस्थाओ को यहा नही गिनाया गया क्योकि ये पुनर्जन्म की कारण भूत नही है, अत अविद्या-जनित भी इन्हें नही कह सकते। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि अविद्या सम्बन्धी विचार में बुद्ध के दृष्टिकोण की जितनी अन्य भारतीय दर्शनकारो से विभिन्नता है उतनी ही 'सस्कार' के विषय में भी है, क्योकि अभिधर्म-पिटक की 'सस्कार' सम्बन्धी विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताएँ अपनी है। सब सस्कार व्ययधर्मा हैं (वय धम्मा सखारा), अनित्य है (अनिच्चा वत सखारा), दु ख रूप (सब्बे सखारा दुक्खा) है और है अनात्म (सब्बे सखारा अनत्ता) है। यह बुद्ध-दर्शन की एक आधारभृत मान्यता है, जिसपर विस्तृत विचार हम अनात्मवाद का विवेचन करते समय करेगे।

२–३ सस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान (सखार-पच्चया विञ्ञान) विज्ञान से यहाँ तात्पर्य उन चित्त-धाराओ से है जो पूर्वजन्म में किए हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप यहां प्रकट होती है और जिनके कारण ही मनुष्य को अपने विषय में आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है। यदि अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत सस्कार उत्पन्न न हो तो फिर माता के गर्भ में पुन विज्ञान का बीज पडता ही नही, पुनर्जन्म होता ही नही[1]।

३–४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप (विञ्ञान पच्चया नाम रूप)। 'नाम' और 'रूप' ये दो शब्द न केवल बौद्ध दर्शन में ही किन्तु समस्त भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन शब्दो का बौद्ध पारि-भाषिक अर्थ औपनिषद अर्थ से भिन्न है[2]। बौद्ध दर्शन में समस्त बाह्य और आध्यात्मिक जगद् व्यापार पांच स्कन्धो में विभक्त किया गया है, यथा

---

(१) मिलाइये निदान संयुत्त, ५१; देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दिअभि-धम्म पिटक, पृष्ठ १४८

(२) औपनिषद अर्थ को हृदयगम करने के लिए देखिये छान्दोग्य० ३।२-३; ७।१४।१; मुण्डक० ३।२।८ आदि, मिलाइये विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ८७-८८। राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३९९

स्वरूप अविद्या के कारण ही प्राणियो का नाना योनियो में ससरण, आवागमन हो रहा है और उसी के परिणाम-स्वरूप वे स्वय भी अनेक पूर्व-जन्मो में ससार-चक्र में घूमते रहे हैं। "भिक्षुओ ! चार आर्य सत्यो के प्रतिवेध न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन, ससरण हो रहा है जब ये देख लिये जाते है तो भव-नेत्री नष्ट हो जाती है, दु ख की जड कट जाती है और फिर आवागमन नही रहता[1] ।" इस विचार-दृष्टि से देखने पर हम कुछ (केवल कुछ) कह सकते है कि 'तस्य हेतुरविद्या' कहनेवाले और क्लेशो की परम्परा में उसे ही प्रथम स्थान देनेवाले भगवान् पतञ्जलि निश्चय ही कुछ बुद्ध-मन्तव्य के समीप दीखते है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उस दर्शन में साख्य-दर्शन के समान ही, जिसका कि वह पूरक दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक की अख्याति ही अविद्या-रूप से सज्ञित हुई है और इस प्रकार की कोई वस्तु बुद्ध-दर्शन में नही है। वुद्ध-दर्शन की अविद्या केवल एक प्रत्यय है जो हमारे वर्तमान बाह्य और आन्तरिक जीवन-सस्कारो के लिये उत्तरदायी है। तो फिर यह अविद्या सस्कारो को जन्म देती है। ये सस्कार क्या है ? वही जो कि कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ, जो पुनर्जन्म का कारण बनती है। इन्हे हम मानसिक वासना भी कह सकते है। या अधिक विस्तृत अर्थ में जीवन के भौतिक और मानसिक तत्त्वो का नाम ही सस्कार है। ये सस्कार (सखार) तीन प्रकार के होते है, यथा 'पुञ्ञाभिसखार' (पुण्याभिसस्कार) 'अपुञ्ञाभिसखार' (अपुण्याभिसस्कार) और 'आनेञ्ञाभिसखार'। इनमें से 'पुञ्ञाभिसखार' और 'आनेञ्ञाभिसखार' तो सासारिक दष्टि से कुशल अथवा 'लोकिय कुशल' होते है और 'अपुञ्ञाभिसखार' होते है अकुशल। इन्ही सब सस्कारो की, जो पुनर्जन्म के कारण होते है कभी तो होती है अविद्या 'आरम्मण' अर्थात् आलम्बन या विषय, कभी होती है 'उपनिस्सय' अर्थात् निश्चय रूप से आधार या कारण, कभी यह वनती है उनकी 'अनन्तर' अर्थात् अत्यन्त समीपवर्ती, कभी 'समन्तर', कभी रहती है सम्वन्धित यह उनसे 'हेतु' के रूप में, कभी 'सहजात' के रूप में, कही 'अञ्ञमञ्ञ' अर्थात् अन्योन्याश्रयता के रूप में और कभी 'सम्पयुत्त' अर्थात सयोग आदि के रूप में। इस प्रकार अभिधर्म पिटक में, विशेषत 'पट्ठान' में, अनेक प्रकार के

---

(१) महा परिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

हेतुओ, निदानो अथवा प्रत्ययो से अविद्या और सस्कारो के सम्बन्ध पर विचार किया गया है । कर्म की 'लोकुत्तर कुसल' अथवा 'अव्याकत' अवस्थाओ को यहा नही गिनाया गया क्योकि ये पुनर्जन्म की कारण भूत नही हैं, अत अविद्या-जनित भी इन्हें नही कह सकते । यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अविद्या सम्बन्धी विचार में बुद्ध के दृष्टिकोण की जितनी अन्य भारतीय दर्शनकारो से विभिन्नता है उतनी ही 'सस्कार' के विषय में भी है, क्योकि अभिधर्म-पिटक की 'सस्कार' सम्बन्धी विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताएँ अपनी है । सब सस्कार व्ययधर्मा है (वय धम्मा सखारा), अनित्य है (अनिच्चा वत सखारा), दु ख रूप (सब्बे सखारा दुक्खा) है और है अनात्म (सब्बे सखारा अनत्ता) है । यह बुद्ध-दर्शन की एक आधारभृत मान्यता है, जिसपर विस्तृत विचार हम अनात्मवाद का विवेचन करते समय करेंगे ।

२–३ सस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान (सखार-पच्चया विञ्ञान) विज्ञान से यहाँ तात्पर्य उन चित्त-धाराओ से है जो पूर्वजन्म में किए हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप यहाँ प्रकट होती है और जिनके कारण ही मनुष्य को अपने विषय में आँख, कान, नाक, जीभ, शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है । यदि अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत सस्कार उत्पन्न न हो तो फिर माता के गर्भ में पुनः विज्ञान का बीज पडता ही नही, पुनर्जन्म होता ही नही[१] ।

३–४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप (विञ्ञान पच्चया नाम रूप) । 'नाम' और 'रूप' ये दो शब्द न केवल बौद्ध दर्शन में ही किन्तु समस्त भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन शब्दो का बौद्ध पारिभाषिक अर्थ औपनिषद अर्थ से भिन्न है[२]। बौद्ध दर्शन में समस्त बाह्य और आध्यात्मिक जगद् व्यापार प.च स्कन्धो में विभक्त किया गया है, यथा

---

(१) मिलाइये निदान संयुत्त, ५१; देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दिअभिधम्म पिटक, पृष्ठ १४८

(२) औपनिषद अर्थ को हृदयंगम करने के लिए देखिये छान्दोग्य० ३।२-३; ७।१४।१; मुण्डक० ३।२।८ आदि, मिलाइये विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रेल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ८७-८८ । राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३९९

स्वरूप अविद्या के कारण ही प्राणियो का नाना योनियो में ससरण, आवागमन हो रहा है और उसी के परिणाम-स्वरूप वे स्वय भी अनेक पूर्व-जन्मो में ससार-चक्र में घूमते रहे हैं। "भिक्षुओ ! चार आर्य सत्यो के प्रतिवेध न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन, ससरण हो रहा है जब ये देख लिये जाते है तो भव-नेत्री नष्ट हो जाती है, दुख की जड कट जाती है और फिर आवागमन नही रहता[1] ।" इस विचार-दृष्टि से देखने पर हम कुछ (केवल कुछ) कह सकते है कि 'तस्य हेतुरविद्या' कहनेवाले और क्लेशो की परम्परा में उसे ही प्रथम स्थान देनेवाले भगवान् पतञ्जलि निश्चय ही कुछ बुद्ध-मन्तव्य के समीप दीखते है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उस दर्शन में साख्य-दर्शन के समान ही, जिसका कि वह पूरक दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक की अख्याति ही अविद्या-रूप से सज्ञित हुई है और इस प्रकार की कोई वस्तु बुद्ध-दर्शन में नही है। वुद्ध-दर्शन की अविद्या केवल एक प्रत्यय है जो हमारे वर्तमान बाह्य और आन्तरिक जीवन-सस्कारो के लिये उत्तरदायी है। तो फिर यह अविद्या सस्कारो को जन्म देती है। ये सस्कार क्या है ? वही जो कि कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ, जो पुनर्जन्म का कारण बनती है। इन्हे हम मानसिक वासना भी कह सकते है। या अधिक विस्तृत अर्थ में जीवन के भौतिक और मानसिक तत्वो का नाम ही सस्कार है। ये सस्कार (सखार) तीन प्रकार के होते है, यथा 'पुञ्ञाभिसखार' (पुण्याभिसस्कार) 'अपुञ्ञाभिसखार' (अपुण्याभिसस्कार) और 'आनेञ्जाभिसखार'। इनमें से 'पुञ्ञाभिसखार' और 'आनेञ्जाभिसखार' तो सासारिक दृष्टि से कुशल अथवा 'लोकिय कुशल' होते है और 'अपुञ्ञाभिसखार' होते है अकुशल। इन्ही सब सस्कारो की, जो पुनर्जन्म के कारण होते है कभी तो होती है अविद्या 'आरम्मण' अर्थात् आलम्वन या विषय, कभी होती है 'उपनिस्सय' अर्थात् निश्चय रूप से आधार या कारण, कभी यह वनती है उनकी 'अनन्तर' अर्थात् अत्यन्त समीपवर्ती, कभी 'समन्तर', कभी रहती है सम्वन्धित यह उनसे 'हेतु' के रूप में, कभी 'सहजात' के रूप में, कही 'अञ्ञमञ्ञ' अर्थात् अन्योन्याश्रयता के रूप में और कभी 'सम्पयुत्त' अर्थात् सयोग आदि के रूप में। इस प्रकार अभिधर्म पिटक में, विशेषत 'पट्ठान' में, अनेक प्रकार के

---

(१) महा परिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

हेतुओ, निदानो अथवा प्रत्ययो से अविद्या और सस्कारो के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। कर्म की 'लोकुत्तर कुसल' अथवा 'अव्याकत' अवस्थाओ को यहा नही गिनाया गया क्योकि ये पुनर्जन्म की कारण भूत नही है, अत अविद्या-जनित भी इन्हे नही कह सकते। यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि अविद्या सम्बन्धी विचार में बुद्ध के दृष्टिकोण की जितनी अन्य भारतीय दर्शनकारो से विभिन्नता है उतनी ही 'सस्कार' के विषय में भी है, क्योकि अभिधर्म-पिटक की 'सस्कार' सम्बन्धी विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताएँ अपनी है। सब सस्कार व्ययधर्मा है (वय धम्मा सखारा), अनित्य है (अनिच्चा वत सखारा), दु ख रूप (सब्बे सखारा दुक्खा) है और है अनात्म (सब्बे सखारा अनत्ता) है। यह बुद्ध-दर्शन की एक आधारभूत मान्यता है, जिसपर विस्तृत विचार हम अनात्मवाद का विवेचन करते समय करेंगे।

२–३ सस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान (सखार-पच्चया विञ्ञान) विज्ञान से यहाँ तात्पर्य उन चित्त-धाराओ से है जो पूर्वजन्म में किए हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप यहा प्रकट होती है और जिनके कारण ही मनुष्य को अपने विषय में आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है। यदि अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत सस्कार उत्पन्न न हो तो फिर माता के गर्भ में पुन विज्ञान का बीज पडता ही नही, पुनर्जन्म होता ही नही[1]।

३–४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप (विञ्ञान पच्चया नाम रूप)। 'नाम' और 'रूप' ये दो शब्द न केवल बौद्ध दर्शन मे ही किन्तु समस्त भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन शब्दो का बौद्ध पारिभाषिक अर्थ औपनिषद अर्थ से भिन्न है[2]। बौद्ध दर्शन में समस्त बाह्य और आध्यात्मिक जगद् व्यापार पांच स्कन्धो में विभक्त किया गया है, यथा

---

(१) मिलाइये निदान सयुत्त, ५१; देखिए ञानातिलोक : गाइड थ्रू दिअभिधम्म पिटक, पृष्ठ १४८

(२) औपनिषद अर्थ को हृदयगम करने के लिए देखिये छान्दोग्य० ३।२-३; ७।१४।१; मुण्डक० ३।२।८ आदि, मिलाइये विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ८७-८८। राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३९९

रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान[1]। इनका भी फिर द्विविध विभाग किया गया है यथा 'नाम' और 'रूप'। 'रूप' में तो आता है पूर्वोक्त प्रथम स्कन्ध और 'नाम' में निहित है बाद के चार स्कन्ध यथा, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान[2]। बौद्ध दर्शन में सामान्यत 'नाम' और 'रूप' का यही स्वरूप मान्य है। मिलिन्दप्रश्नकार भी इसीलिए कहते हैं 'जितनी स्थूल चीजें है सभी रूप हैं और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म है सभी नाम हैं'। 'य तत्थ महाराज! ओकारिक एत रूप ये तत्थ सुखुमा चित्तचेतसिका धम्मा एत नामति।'[3]। अत निश्चित ही ये दोनो आपस में अन्योन्याश्रय भाव से सम्बद्ध है (अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता महाराज इमे धम्मा एकतो न उप्पज्जन्तीति—मिलिन्द प्रश्न, लक्खणपञ्हो, दुतियो वग्गो)। 'भिक्षुओ! जितना भी रूप है—चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का, अथवा बाहर का, चाहे स्थूल अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा अथवा भला, चाहे दूर अथवा समीप, वह सब रूप 'रूप-उपादान-स्कन्ध' के अन्तर्गत है[4]।' 'भिक्षुओ! रूप-उपादान-स्कन्ध किसे कहते है? चारो महाभूतो को, तथा चारो महाभूतो के कारण जो रूप उत्पन्न होता है, उसे रूप-उपादान-स्कन्ध कहते है[5]।' चार महाभूत अर्थात् पृथ्वी-धातु, जल-धातु, अग्नि-धातु तथा वायु धातु। इसी प्रकार वेदना-उपादान-स्कन्ध, सज्ञा-उपादान-स्कन्ध, सस्कार-उपादान-स्कन्ध और विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत जो कुछ है वह सब 'नाम' से अभिधेय है। इन्ही 'नाम' और 'रूप' के प्रति विभिन्न प्रत्ययो से अर्थात 'सहजात', 'निस्सय' और 'सम्पयुत्त' आदि के रूप में 'विज्ञान' एक निदान होता है[6]। 'यदि आनन्द! विज्ञान (चित्त-धारा) माता

(१) पञ्चस्कन्ध के विशेष विवेचन के लिए देखिए आगे 'अनात्मवाद' का विवेचन।
(२) मिलाइये सम्मादिट्ठि सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)
(३) मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो); मिलाइये सयुत्त-निकाय (निदान सयुत्त)
(४) महासतिपट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(५) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(६) 'पट्ठान' में निर्दिष्ट चौबीस प्रत्ययो में से किन-किन को लेकर विज्ञान के

के कोख में नही आता तो क्या नाम-रूप सञ्चित होता' ? 'नही भन्ते !' 'आनन्द ! यदि केवल विज्ञान ही माता की कोख में प्रवेश कर निकल जाए, तो क्या नाम-रूप इसके लिए बनेगा ?' 'नही भन्ते !' 'कुमार या कुमारी के अति शिशु रहते ही यदि विज्ञान छिन्न हो जाए, तो क्या आनन्द! नाम-रूप वृद्धि, विरूढि को प्राप्त होगा ? 'नही भन्ते !' 'इसीलिए आनन्द विज्ञान का ही यह हेतु है जो कि यह नाम-रूप, 'आनन्द ! यह जो विज्ञान सहित नाम-रूप है इतने ही से जन्म लेना, बूढा होना, मरना, च्युत होना, उत्पन्न होना हो रहा है। इतने से ही अधिवचन-व्यवहार, इतने ही से निरुक्ति-व्यवहार, इतने ही से प्रज्ञा विषय है, इतने ही से 'इस प्रकार' का जतलाने के लिए मार्ग वर्तमान है'[१]। नाम और रूप सब प्रकार से विज्ञान पर ही आश्रित है और इसीलिए ये जाति, जरा-मरण और दुःख-समुदय दिखाई पड़ते हैं। यदि अविद्या और तृष्णा के निरोध के द्वारा सस्कार उत्पन्न नही हुए होते तो विज्ञान (जीव या चित्तधारा) भी माता की कोख में किस प्रकार पहुँचता ? और फिर क्या नाम और रूप ही उस हालत में उत्पन्न होते ? शास्ता का साक्ष्य है कि कभी नही।

४–५ नाम-रूप के प्रत्यय से षडायतन (नाम-रूप पच्चया सडायतन)। षडायतन से तात्पर्य है पाँच ज्ञानेन्द्रिया, यथा आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, तथा 'मन आयतन' अर्थात् चेतना के विभिन्न स्वरूप अपने सग्रहात्मक रूप में[२]।' जीवन-धारा के प्रवाह में चेतना का उदय 'नाम' और 'रूप' के प्रथम उदय, स्थिति और आश्रय से ही होता है। पाँचो प्रकार की ऐन्द्रिय अनुभूति का आगमन कभी नही होता, यदि पाँचो प्रकार की 'इन्द्रिया' ही आश्रय के रूप में पूर्व उपस्थित नही होती। साराश यह कि यदि वेदना, सज्ञा और सस्कार ('नाम') नही होते, यदि चार महाभूत और इनसे निर्मित विकार ('रूप') नही होते, तो इन्द्रियो की अनुभूतियाँ भी कहाँ से आती, क्योकि ये तो उन्ही से अनेक

प्रत्यय से नाम-रूप उत्पन्न होते है, इसके विशेष विस्तार के लिए देखिए, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १४९

(१) महानिदान सुत्त (दीघ० २।२)

(२) द्रष्टव्य विभंग ३

प्रकार से, विशेषत आश्रय (निस्सय), प्राग् भाव, पुरेजात और उपस्थिति (अत्थि) के रूप में[1], प्रतीत्य समुत्पन्न है। यही इसका तात्पर्य है।

५–६ षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श (सडायतन पच्चया फस्सो)। इन्द्रिय और विषय का सयोग ही स्पर्श है और वह छ, प्रकार का है, आँख का स्पर्श, कान का स्पर्श, नाक का स्पर्श, जीभ का स्पर्श, शरीर का स्पर्श और मन का स्पर्श। ये सभी 'कुशल' या 'अकुशल' कर्म के विपाक है। आश्रय (निस्सय), पूर्वभाव (पुरेजात) इन्द्रिय, विप्रयुक्त (विप्पयुत्त) उपस्थिति (अत्थि) और अविगत के प्रत्ययो से स्पर्श का उदय षडायतन पर आश्रित है[2]।

६–७ स्पर्श के प्रत्यय से वेदना (फस्स-पच्चया वेदना)। इन्द्रिय और विषय के सयोग से उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव का नाम वेदना है। नाक और उसके विषय के स्पर्श से तदनुकूल वेदना, कान और उसके विषय से तदनुकूल वेदना, इसी प्रकार नाक, जीभ, शरीर और मन की वेदनाएँ भी। चेतना से प्रत्येक प्रकार की वेदना अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहती है। यदि स्पर्श हुआ है तो वेदना रोकी नही जा सकती, फिर चाहे वह दु ख रूप हो, चाहे सुख रूप, चाहे दु ख-सुख रूप, चाहे न-दु ख-न-सुख रूप।

७–८ वेदना के प्रत्यय से तृष्णा (वेदना-पच्चया तण्हा)। छ प्रकार के विषयो के प्रति छ प्रकार की ही तृष्णा होती है, यथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मन के विषयो के प्रति तृष्णा। यदि इनमें से किन्ही पदार्थों के प्रति काम वासना को लेकर तृष्णा उदित होती है तो वह 'काम तण्हा' कहलाती है, यदि व्यक्तिगत जीवन की शाश्वत लालसा को लेकर प्रवृत्त होती है तो 'भव तण्हा' और यदि व्यक्तिगत जीवन के विनाश सम्बन्धी विश्वास को लेकर ही यह प्रवृत्त होती है तो यही 'विभव तण्हा' कहलाती है। तथागत का मन्तव्य इस त्रिविध तृष्णा रूप सर्पिणी के विनाश के द्वारा ही दु ख निवृत्ति को सम्पादन करना है। जो इस तृष्णा को ही दवाकर रखता है उससे दु ख उसी प्रकार

(१) द्रष्टव्य, गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १५०–१५१
(२) द्रष्टव्य, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १५२, विभंग २

गिर पडता है जैसे कमल-दल से जल। यह त्रिविध तृष्णा ही सब दु ख की जननी है और यदि यह पूर्ण रूप से निरुद्ध न की जाय तो ससार रूप वृक्ष नित्य उगता ही रहता है।

८–९ तृष्णा के प्रत्यय से उपादान (तण्हा-पच्चया उपादान)। उपादान चार प्रकार के है, (१) कामूपादान अर्थात् कामवासना से चिपटे रहना (२) दिट्ठूपादान अर्थात् मिथ्या सिद्धान्तो से चिपटे रहना, (३) सील-व्वतूपादान अर्थात् केवल व्यर्थ कर्मकाण्ड मे लगे रहना, (४) अत्तवादूपादान अर्थात् आत्मवाद में आसक्ति रखना। काम के प्रति तृष्णा (कामतण्हा) काम के प्रति उपादान (कामुपादान) का 'आश्रय' रूप से प्रत्यय बनती है और इस प्रकार अनर्थ की शृखला बढती है[1]।

९–१० उपादान के प्रत्यय से भव (उपादान-पच्चया भवो)। 'भव' अर्थात् पुनर्जन्म को करनेवाला कर्म। 'भव' दो प्रकार है अर्थात् 'कम्म भव' और 'उप्पत्ति भव'। सभी कर्म जो पुनर्जन्म का करनेवाला है 'कम्म भव' है, अत. 'कम्म भव' पुनर्जन्मकारी चेतना की ही सग्रहात्मक सज्ञा है। जिस-जिस उपादान को लेकर व्यक्ति जिस जिस लोक मे जन्म पाता है यही 'उप्पत्ति भव' से तात्पर्य है। जहा-जहाँ भी जिस-जिस पदार्थ से चिपटना है, वहाँ तक बन्धन का अन्त नही है।

१०–११ भव के प्रत्यय से जाति (भव-पच्चया जाति) जाति से तात्पर्य है बच्चे के माँ की कोख में आने पर रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान रूप पञ्चस्कन्ध का प्रस्फुरण। जब 'भव' है तभी तो 'जाति' है, अन्यथा माता के पेट मे शयन क्यो होता ?

११–१२ जाति के प्रत्यय से जरा-मरण (जाति-पच्चया जरामरण)। जहां जाति अथवा पुनर्जन्म नहीं है, वहाँ जरा, मरण, शोक, परिदेव और उपायास भी नही है ? किन्तु जहाँ पुनर्जन्म है वहाँ तो ये अनिवार्य ही है ! अत इस पुनर्जन्म के निरोध से ही दु ख का

---

(१) पांच उपादान स्कन्ध है, रूप-उपादान स्कन्ध, वेदना-उपादान स्कन्ध, संज्ञा-उपादान स्कन्ध, संस्कार-उपादान स्कन्ध तथा विज्ञान-उपादान स्कन्ध।

निरोध सम्भव है। इसी अर्थ को विस्तारित करते हुए भगवान् कहते हैं "यदि आनन्द! जन्म न होता तो सर्वथा बिल्कुल ही सब किसी की भी जाति न होती, जैसे देवो का देवत्व, गन्धर्वों का गन्धर्वत्व, यक्षो का यक्षत्व, भूतो का भूतत्व, मनुष्यो का मनुष्यत्व, चतुष्पदो (चौपायो) का चतुष्पदत्व, पक्षियो का पक्षित्व, सरीसृपो (रेंगने वालो) का सरीसृपत्व, उन-उन प्राणियो का वह वह होना। यदि जन्म न होता, सर्वथा जन्म का अभाव होता, जन्म का निरोध होता, तो क्या आनन्द! जरा-मरण दिखलाई पड़ेगा[1]।

"नही भन्ते!"

"इसलिए आनन्द! जरामरण का यही हेतु, निदान, समुदय, प्रत्यय है जोकि यह जन्म?"

यदि जरा, मरण, शोक और परिदेव को हटाना है तो पुनर्जन्म को हटाना ही होगा, क्योकि ये उसी पर आश्रित है। पुन यदि पुनर्जन्म नष्ट हो जायगा तो उसका आधार 'भव' भी तो अपने आप नष्ट हो जायगा, इसी प्रकार भव को गिराने के लिए उपादान को, उपादान के निरोध के लिए तृष्णा के निरोध को, तृष्णा के निरोध के लिए वेदना के निरोध को, वेदना को निरुद्ध करने के लिए स्पर्श के निरोध को, स्पर्श को निरुद्ध करने के लिए षडायतन के निरोध को, षडायतन को निरुद्ध करने के लिए नाम रूप के निरोध को, नाम रूप को निरुद्ध करने के लिए विज्ञान के निरोध को, विज्ञान को निरुद्ध करने के लिए सस्कारो के निरोध को और अन्त में सस्कारो को निरुद्ध करने के लिए अविद्या के निरोध को सम्पादित करना ही होगा, जो चतुरार्य-सत्यो की भावना और आचरण के विना अशक्य है। जहाँ तक विश्व की व्याख्या से सम्वन्ध है यह नियम उसके गतिशील स्वरूप का परिचय देता है। जीवन अन्योन्याश्रित सम्वन्धो का केन्द्र है, कारण-कार्य की सहेतुक व्यवस्था पर ठहरा हुआ है जिसे समझ कर मनुष्य अपनी स्वतन्त्र सकल्प-शक्ति का उपयोग कर सकता है और अपने मोक्ष को खोज सकता है। नियति जैसी कोई चीज़ उसकी वाधक वननेवाली नही है। काल की दृष्टि से हम प्रतीत्यसमुत्पाद की वारह कड़ियो को तीन भागो में वांट सकते है, अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् का सम्वन्ध हम तीन

---

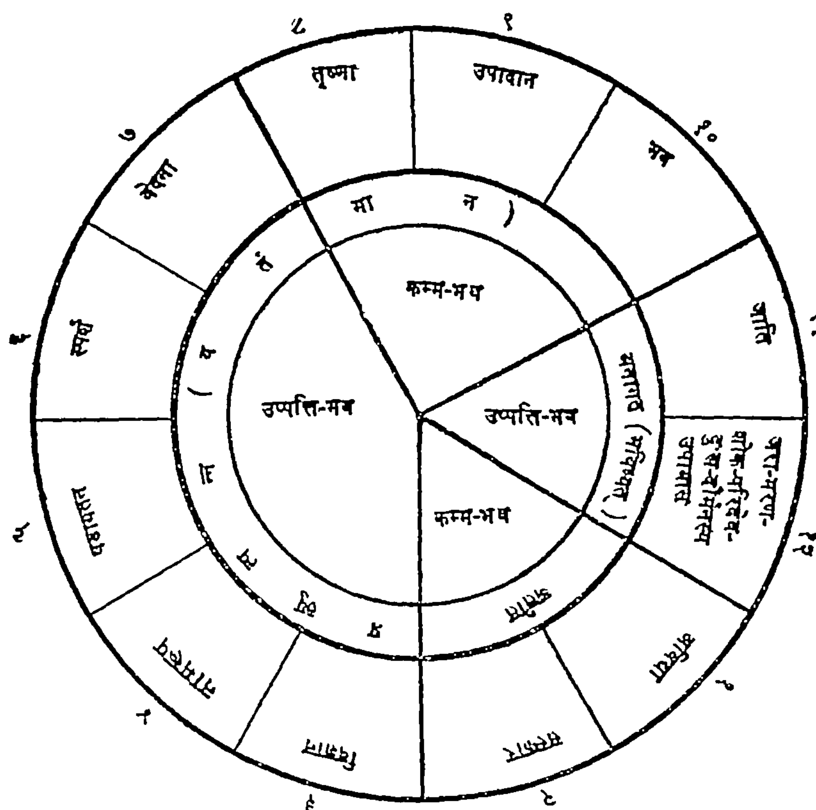
(१) महानिदान-सुत्त (दीघ० २।२)

जन्मो से भी मान सकते हैं अथवा एक ही जन्म या क्षण की तीन क्रमिक अवस्थाओ से भी। वस्तुत बुद्ध-दर्शन की मान्यता के अनुसार चित्त (विज्ञान) की सतत प्रवाहशील धारा के ये तीन लगातार आनेवाले क्षण ही हैं। प्रत्येक क्षण हमारे जन्म और मरण लगातार होते रहते है, अत परमार्थ रूप में इस जन्म और दूसरे जन्मो में कोई अन्तर नही है। जहाँ तक हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य के जन्मो से सम्बन्ध हैं, हमें प्रतीत्य समुत्पाद के सम्बन्ध को समझ लेना चाहिये। अविद्या और सस्कार दोनो मिलकर हमारे पूर्व जन्म की वे रचनात्मक कर्म-शक्तियाँ (कम्म-भव) है, जो सकलित होकर हमारे वर्तमान जन्म (उप्पत्ति-भव) को निश्चित करती हैं। हमारे वर्तमान जीवन के विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना सव उसी के विपाक-स्वरूप हैं। उसके वाद हमारे वर्तमान जीवन की कडियाँ जो तृष्णा, भव और उपादान के रूप में उत्पन्न होती हैं, स्वयं कर्म-भव वन जाती हैं (अतीत जीवन के अविद्या और सस्कार के समान) जिनका विपाक भविष्य के पुनर्जन्म रूप में होता है और वहाँ फिर जरा, मरण और दु ख की सन्तति उत्पन्न हो जाती है, जो वर्तमान जीवन के कर्म-विपाक के समान ही है। इस प्रकार यह भव-चक्र चलता है। प्रतीत्य समुत्पाद के १२ निदानो के इन तीन काल-विभागो मे वर्गीकरण को हम इस तालिका के द्वारा दिखा सकते हैं[1] :

	अतीत	वर्तमान	भविष्यत्
कम्म भव	(१) अविद्या	(८) तृष्णा	
	(२) सस्कार	(९) उपादान	
		(१०) भव	
उप्पत्ति भव		(३) विज्ञान	(११) जन्म
		(४) नाम-रूप	(१२) जरा-मरण-दु ख
		(५) षडायतन	
		(६) स्पर्श	
		(७) वेदना	

(१) देखिये अनागारिक गोविन्द : दि साइकोलोजीकल एटीटयूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ ८२; मिलाइये ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १५८; राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४११

इसे हम चक्र के द्वारा इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते है.—



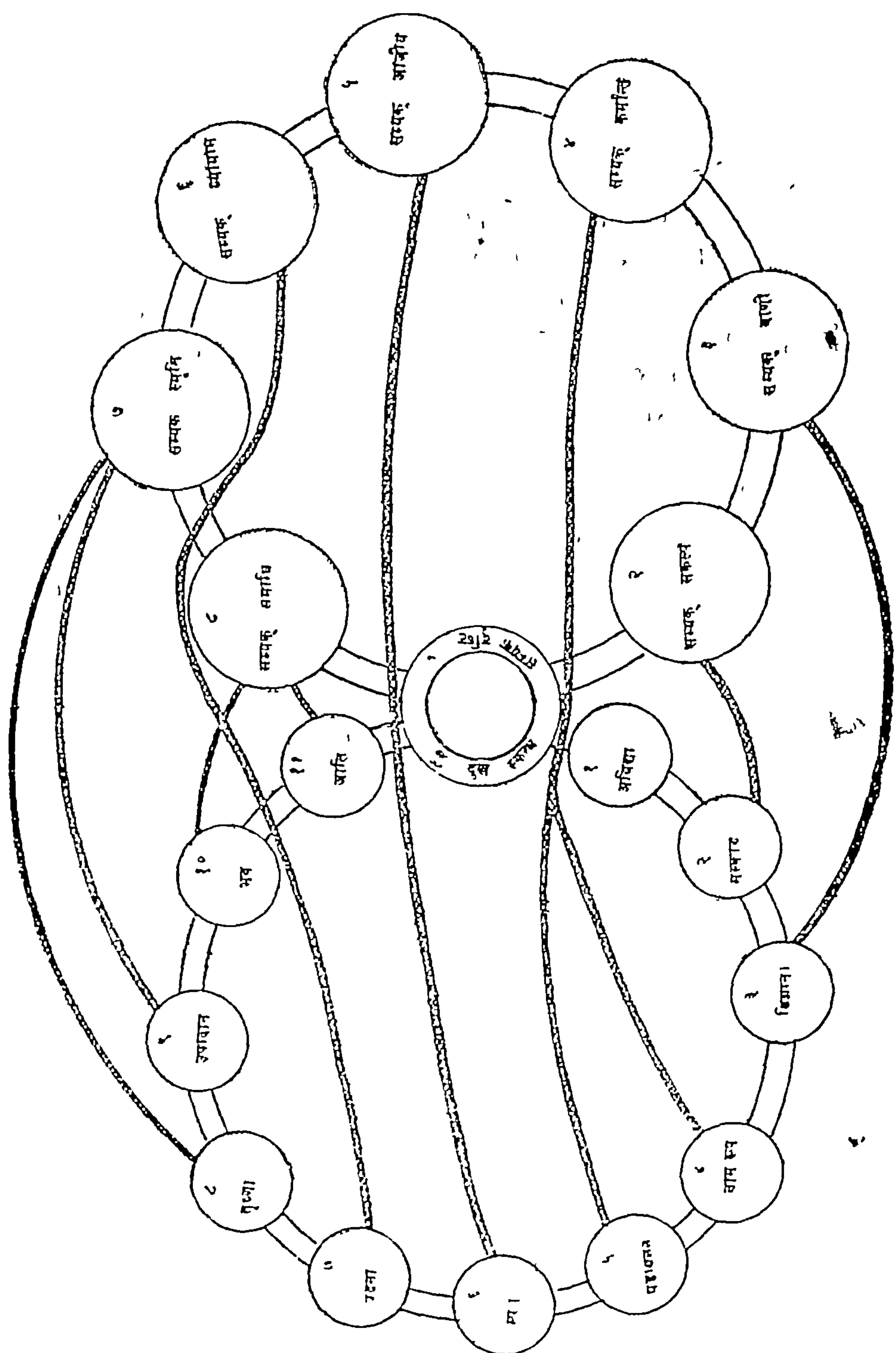
हम पहले कह चुके है कि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल दार्शनिक सिद्धान्त मात्र नही है जिसमें आन्तरिक और वाह्य जीवन के समस्त व्यापारो के समुदय और निरोघ का क्रम हेतुओ और निदानो के अन्योन्याश्रित भाव के आधार पर दिखाया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद जीवन के विकास का क्रम है, दु ख-निरोघ गामी आर्य अष्टागिक मार्ग की वह तात्त्विक व्याख्या है। प्रतीत्य समुत्पाद हमें यह वतलाता है कि किस प्रकार प्राणी अविद्या के कारण नाना अनुभवो और चेतना की अवस्थाओ में भ्रमण करता है। सस्कार, विज्ञान, नाम-रूप आदि क्रम से वह अन्त में जन्म-जरा-मरण-शोक-परिदेव-दु ख-दौर्मनस्य-उपायास की ऐसी अवस्था में आ जाता है जहाँ दु ख इतना स्थूल और शक्तिशाली हो जाता है कि उसे उसके समुदय (कारण) के

बारे में सोचना पडता है। वह दु ख-निरोध का सकल्प करता है। अपनी दृष्टि उसे वदलनी पडती है। जिन हेतुओ और प्रत्ययों से दु ख क्रमशः आया था उन्हें दवाना पडता है। उनके प्रतिपक्षी साधनो का उपयोग करना पडता है। अविद्या-सस्कार-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-तृष्णा-उपादान-भव क्रम से वह जन्म में आकर जरा-मरण शोक-दु ख आदि का भागी बना था। अव इस दु ख को दूर करने के लिये उसे दु ख के स्वभाव पर विचार करना होगा। यही दु ख-निरोध की पहली सीढ़ी है, और यही पहली सीढी है आर्य अष्टागिक मार्ग की भी—सम्यक् दृष्टि—जो दु ख, उसके कारण, और निरोध और निरोधगामी मार्ग को समझनेवाली है। अत. सम्यक् दृष्टि अविद्या की प्रतिपक्षी है। अव कारणवाद का चक्र दु ख-निरोध की ओर मुड चला है। आगे का प्रत्येक अग प्रतीत्य समुत्पाद के किसी-न-किसी प्रत्यय का प्रतिपक्षी है। इस प्रकार क्रमश· सम्यक् संकल्प सस्कार का प्रतिपक्षी है, सम्यक् वाणी विज्ञान का नियमन करती है, सम्यक् कर्मान्त षडायतन का, सम्यक् आजीव स्पर्श का, सम्यक् व्यायाम वेदना का, सम्यक् स्मृति तृष्णा और उपादान का और अन्त में सम्यक् समाधि भव का नियमन करती है, जन्म का विनिश्चय करती है और अन्त में उसका विनाश कर देती है। इस प्रकार सम्पूर्ण दु ख-पुज का विनाश हो जाता है, जो जन्म (जाति) के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद और आर्य अष्टागिक मार्ग का सम्बन्ध है, जिसे अनागारिक गोविन्द द्वारा प्रस्तुत आगे के पृष्ठ पर दी गई तालिका के द्वारा अच्छी प्रकार समझा जा सकता है[१]।

यह है दु ख के उद्गम और निरोध का क्रम। भव-चक्र, धर्म-चक्र या ब्रह्म चक्र, जिसे स्वच्छ दर्पण के समान विश्व की वाह्य और आन्तरिक व्यवस्था में समाया हुआ तथागत ने देखा था। इसे उन्होंने अपनी प्रज्ञा से वेधा था और फिर जगत् के लिये प्रकट किया था। क्या इसके सम्वन्ध में यह कहना अक्षरश· ठीक न होगा, "इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुसरण नहीं करता वह इन्द्रियासक्त पुरुष व्यर्थ ही जीता है[२]।" इसीलिये तथागत ने कहा था—इस मार्ग पर लगकर तुम दु ख का अन्त करोगे।

---

(१) दि साइकोलोजीकल एटीटचूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ १०२
(२) एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।—गीता



(आर्य अष्टांगिक मार्ग के अंगों तथा प्रतीत्य समुत्पाद में सम्बन्ध । मोटी रेखाओं के द्वारा यह दिखाया गया है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग का कौन-सा अंग प्रतीत्य समुत्पाद के किन-किन अंगों पर अपना प्रभाव स्थापित करता है और उनका नियमन करता है ।)

भारतीय दर्शन में कारणवाद सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों के साथ उसकी कुछ तुलना

प्रतीत्य समुत्पाद के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ने विभिन्न उत्तरकालिक बौद्ध सम्प्रदायो में क्या स्वरूप ग्रहण किया, विभिन्न भारतीय दर्शनो में स्वीकृत कारणवादी सिद्धान्तो से उसकी क्या तुलना है, इसके सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नही कहना है। यह कार्य तो हम क्रमश इस परिच्छेद के उत्तरार्द्ध तथा पाँचवें परिच्छेद में करेंगे। परन्तु यहाँ कुछ मोटी-मोटी बातो पर विचार किये बिना नही रहा जा सकता। प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश भगवान् तथागत ने जिस उद्देश्य से और जिस मन्तव्य की सिद्धि के लिए दिया था, उसका विवेचन ऊपर हो चुका है। त्रिपिटक में उपलब्ध इस सिद्धान्त के विवरण के विभिन्न प्रकारो को भी एक अत्यन्त संक्षिप्त दृष्टि से हमने देखा है। यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त न केवल उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के द्वारा ही बल्कि अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायो के आचार्यों के द्वारा भी विवेचन और मीमासा का विषय बनाया गया है। प्रथम बात तो इस विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह है कि आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसवी) के समय से ही लेकर प्राय जिस केन्द्रीय दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को देखा गया है वह मुख्यत द्वितीय और तृतीय आर्यसत्य को प्रख्यापन करनेवाले नियम के रूप में नही है बल्कि शून्यता रूपी अनात्मवाद की सिद्धि के लिए है। इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष का यह निष्कर्ष कि जब सभी धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न है तो इन स्कन्धो को मिलाने या अलग करने वाला कोई कर्ता दिखाई नही पडता, यह भव-चक्र कारक-वेदक-रहित है[1], कर्म का कोई कारक नही है, विपाक नहीं है, केवल शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे है, यही सम्यक् दर्शन है[2] और इसी प्रकार आगे उनका यह कहते जाना कि कर्म फल से शून्य है, कर्म में फल विद्यमान नही रहता, कोई देव या ब्रह्मा इस ससार का कारक नही, हेतु और प्रत्ययो से प्रवण केवल शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे हैं[3], यद्यपि मूल बुद्ध-

(१) भवचक्कमविदितादिमिद कारकवेदकरहित। द्वादसविध सुञ्ञाता-सुञ्ञ सतत समितं पवत्तति ॥ विसुद्धिमग्ग १७।२७३

(२) कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको। सुद्ध धम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सन ॥ यह पुराने आचार्यों का कथन है, जिसे आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग १७।२० में उद्धृत किया है।

(३) फलेन सुञ्ञ तं कम्म फलं कम्मे न विज्जति।

दर्शन की भावना या मान्यता से बाहर नही जाता, किन्तु निश्चय ही यह प्रतीत्य समुत्पाद के प्रधानतम उद्देश्य को कुछ अप्रधान सा अवश्य बना देता है। साथ ही इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी विचार को तार्किक दिशा में भी बढने को बहुत कुछ अग्रसर करता है और उसे अवसर देता है। भगवान् नागार्जुन ने तो जब अपने 'शून्यवाद' के समग्र दर्शन की सिद्धि ही 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सहारे की, तो उन्होने न केवल उसे शून्यवाद के साथ एकाकार ही कर दिया, बल्कि उसे सत्ता सम्बन्धी प्रश्नो के विवाद की कुजी भी बना दिया। किन्तु कहाँ तक यह सब वाद-विवाद बुद्ध-मन्तव्य की दिशा में ही गया, यह सब उस विषय के विचारको को सुलझाने की बात है। प्राथमिक रूप से यहाँ इतना कहा जा सकता है कि वह बुद्ध की मूल प्रतीत्य-समुत्पाद-सम्बन्धी भावना को कुछ निषेधात्मक दिशा में अधिक ले गया है[1]। इस प्रकार के विवेचन और दार्शनिक मन्थन से जो एक बात स्पष्ट रूप से निकली वह यह थी कि प्रतीत्य समुत्पाद का स्वरूप प्रधानत नैतिक आदर्शवाद की सिद्धि के अर्थ न होकर बाद में कारणवाद की समस्या को सुलझाने के लिए बन गया और इसी रूप मे अनेक कमियाँ भी उत्तरकालीन आचार्यों के द्वारा इस सिद्धान्त में दिखाई गईं और वाद और प्रतिवाद की एक लम्बी पर-

---

न हेत्थ देवो ब्रह्मा ससारस्सत्थि कारको।
सुद्ध धम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भारपच्चयाति"

यह भी पुराने आचार्यों का ही कथन है। विसुद्धिमग्ग १७।२० मे उद्धृत।

(१) यह प्रसन्नता की बात है कि स्थविरवाद-परम्परा के आचार्यों ने भी यह अनुभव किया है कि आचार्य नागार्जुन 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त को उसकी मूल भावना से अलग ले गये हैं। आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धि मग्ग १७।२५ में प्रतीत्य समुत्पाद के अर्थ-सम्बन्धी निर्धारण के लिये कुछ नियम निर्दिष्ट किये हे जिनमें एक यह है कि 'ठीक अर्थ को ग्रहण करना चाहिये'। इस पर विसुद्धिमग्ग की एक प्राचीन टीका में कहा गया है "यथा च एके 'अनिरोधं अनुप्पाद'ति (माध्यमिक कारिकाया प्रथम श्लोक.) आदिना पटिच्च समुप्पादस्स अत्थं मिच्छा गाहेन्ति एव गाहे अकत्वा वुत्तनयेनेव अविपरीतं अत्थं गाहेन्तेन।" आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी कृत विसुद्धिमग्ग दीपिका (विसुद्धिमग्ग की टीका), पृष्ठ १२६ में उद्धृत।

म्परा भारतीय विचार मण्डल में इस विषय को लेकर चल पडी। वास्तव में तो प्रतीत्य समुत्पाद का मिलान हमें भारतीय दर्शन के अन्य कारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्तो के साथ करना ही नही चाहिए, क्योकि जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, कारणवाद की समस्या को सुलझाने के लिए भगवान् सुगत ने इसका उपदेश नही दिया था। उन्होंने किसी मूल कारण की खोज स्वरूप प्रतीत्य समुत्पाद को प्राप्त नही किया था। फिर अविद्यमान वस्तु को विद्यमान दिखाने का प्रयत्न कर तो हम तथागत की निन्दा ही करेंगे ? हाँ, यदि भारतीय दर्शन के प्राण दु ख-निवृत्ति के अन्यतम मार्ग के गवेषण में ही स्पन्दित होते है, तो जिस प्रकार उसके विभिन्न सम्प्रदायो में इस अनुत्तर मार्ग की तात्विक व्याख्या की गई है उसके साथ प्रतीत्य समुत्पाद के तुलनात्मक अध्ययन का हम अवश्य विनम्र प्रस्ताव कर सकते है। इस प्रकार न्याय-दर्शन में दु ख निवृत्ति का जो क्रम दिखाया गया है[1], वह प्रतीत्य समुत्पाद के साथ मिलाने योग्य है; उपनिषदो में भी इसके समान जो सिद्धान्त उपलब्ध है[2], उनका भी निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन हम कर सकते है और साख्याचार्यों का 'प्रत्ययसघ' प्रतीत्य समुत्पाद से कितनी समानता रखता है, इसके विषय में तो कुछ कहना ही नही ! कर्न का यह कथन कि प्रतीत्य समुत्पाद की 'अविद्या' साख्यदर्शन के 'प्रधान' के, 'सस्कार', वुद्धि के, 'विज्ञान', 'अहकार' के, 'नाम-रूप' 'तन्मात्राओ' के और 'षडायतन', 'इन्द्रियो' के समानान्तर रूप हैं[3], भारतीय दर्शन के विद्यार्थियो के लिए भूरि-भूरि विचारणीय है, यद्यपि इससे सहमत होना उतना आसान नही है। वैष्णव-दर्शन जो इस समस्या के तात्विक विवेचन में प्रवृत्त ही नही होता वल्कि केवल दु ख-निवृत्ति के एक अद्वितीय मार्ग को ही प्रस्तुत करता है, इस विषय में वौद्ध दर्शन के ठीक विपरीत हैं। तथागत समस्या को ठीक सामने से देखते है और उनके दर्शन मे दु ख-निवृत्ति को किसी देव-विशेष की कृपा पर नही लटकाया गया वल्कि एक दुर्धर्ष प्राकृतिक नियम के आधार पर उन्होंने उसके

---

(१) देखिए पाचवें प्रकरण में 'वौद्ध दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक'।
(२) देखिए वृहदारण्यक ३।२; श्वेताश्वतर ६।१
(३) देखिए उनका मैनुअल ऑव इंडियन वुद्धिज्म, पृष्ठ ४७-४८; मिलाइये एन० के० भागवत: दि वुद्धिस्ट फिलॉसफी ऑव दि थेरवाद स्कूल, पृष्ठ २५-२९, ५०; और अधिक विचार के लिए देखिए पाचवें प्रकरण में 'वौद्ध दर्शन तथा साख्य-योग' पर विचार।

मार्ग को दिखाया है । वैष्णव दर्शन बिना कारण-कार्य की समस्या में पड़े ही भक्ति के द्वारा समस्या को सुलझाने का प्रस्ताव करता है—नाम जपत भव-सिन्धु सुखाही । करहु विचार सन्त मन माँही । इस दृष्टि से देखने पर भगवान् का हेतु-आश्रित मार्ग बडा कडा दिखाई पडेगा । प्रत्ययो से सचालित धर्मों में जहां कर्म का कोई कारक नही और केवल शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे है, हृदय की खोज करना व्यर्थ होगा । इसलिए प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर विचारको और साधको के लिये है । बाह्य और आन्तरिक नियमो की अबाधता और अमोघता दिखाकर वह हमें कडा करना चाहता है। निर्बल मनुष्य सम्भवत इतने के लिये तैयार नही होगा । भक्त-साधक की प्रतीत्य समुत्पाद की ओर क्या दृष्टि होगी, इसे हम प्रह्लाद के इन शब्दो में प्रकट कर सकते है जो एक *अन्य प्रसग में प्रयुक्त हुए है, "बालक के लिये माता-पिता, रोगी के लिये* औषध और समुद्र में डूबते हुए के लिये नौका सदा ही सहायक नही होते [१]।" यही हालत निर्बल मानवता के लिये प्रतीत्य समुत्पाद की भी है। वह बलिष्ठो का साधन है, प्रज्ञावानो का दर्शन है । निर्बलो के लिये उसके अभाव की पूर्ति सर्वप्रथम बुद्ध-भक्ति के रूप में महायान ने की और उसी साधन को वैष्णव साधना में भी बाद को अपनाया गया । वैष्णव-दर्शन सत्य को प्रख्यापित न करता हो, ऐसी गम्भीर विचार की वाणी नही हो सकती । उसकी भी औषध महान् और अनुत्तर है । परन्तु समस्या का सीधे रूप से सामना उसने कभी नही किया । औषधियां सब की अमोघ होने पर भी रोग का सहेतुक निदान और भैषज्य-विधान तो उन 'उत्तम भिषक्' तथागत ने ही सर्वोत्तम रूप से किया है और वही प्रतीत्य समुत्पाद के समग्र रूप में निहित है। इसी रूप मे उसे देखने पर उसके वास्तविक तात्त्विक मर्म को हम समझ सकते है और इसी तरह कदाचित् तथागत के मन्तव्य को भी ।

समीक्षा और उपसंहार

किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में, कोई भी वस्तु केवल एक ही दृष्टिकोण अथवा एक ही पहलू से नही देखी जाती, बल्कि प्रमा की सूक्ष्म डोरियो से ही चारो तरफ नापी जाती है ताकि उसकी सत्यता सर्वविध प्रमाणित हो सके । इस दृष्टिकोण से प्रतीत्य समुत्पाद भी, फिर चाहे बुद्ध-मन्तव्य से व्यभिचरित होकर ही क्यो न हो, अनेक समालोचनाओ का विषय बन गया है । इनपर विशेष

(१) भागवत ७।९।१९

रूप से विचार हम पाँचवें प्रकरण में शाकर दर्शन पर विवेचन करते समय करेंगे। भगवान् शकराचार्य ने सर्वास्तिवादियो के 'परमाणुवाद' का खण्डन उपस्थित करते समय प्रतीत्य समुत्पाद के भी सवाल को उठाया है और वौद्ध क्षणिकवाद की प्रतिष्ठा में उसपर विचार कर दार्शनिक दृष्टि से उसे सर्वथा विशीर्ण कर दिया है, ऐसा हमें कहना चाहिये। वास्तव में एक स्थिर चैतन्य को माने विना कारणवाद की दृष्टि से प्रतीत्य समुत्पाद की सगति नही लग सकती और उसके विषय में भगवान् तथागत का मौन है। आत्मा है या नही, इसका एकाश रूप से निरूपण तथागत ने नही किया है, वल्कि पच स्कन्धो में उसका विश्लेषण कर केवल उनकी अनित्यता, दु खमयता और अनात्मता तथागत ने दिखाई है। इसीलिये वे विभज्यवादी है, विश्लेषणवादी है। 'है' या 'नही' की कोटियो से विमुक्त होकर उन्होंने तथता का, ज्ञान का, साक्षात्कार किया है। किन्तु जो वात हमारे लिए आवश्यक है वह यह है कि चाहे प्रतीत्य समुत्पाद की सगति स्थिर आत्म तत्त्व के मानने पर ही लगती हो अथवा चाहे क्षणिक-वाद की उसमें अभिव्याप्ति मानने पर वह शून्यवाद में पर्यवसित हो जाता हो, प्रतीत्य समुत्पाद के शास्ता का मन्तव्य इन सवसे अतीत था। उन्होंने प्रतीत्य समुत्पाद में कारणवाद देखने को नही कहा था, वल्कि 'धर्म' देखने को कहा था और यदि क्षणिकवाद के सिद्धान्त का हम आत्यन्तिक रूप से वुद्ध में आरोप न करें (और हमें ऐसा करना भी नही चाहिए, क्योकि क्षणिकवाद या क्षणभगवाद तो दार्शनिक दृष्टि से एक व द की चीज है) तो इतना तो निश्चय ही शकर को भी स्वीकार्य है कि इन प्रत्ययो के उत्पत्ति और निरोध का क्रम वन सकता है। तो जो वात स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष है अर्थात् जव यह हम जानते है कि वुद्ध ने दु ख के क्रम के विनाश के लिए ही इस सिद्धान्त को प्रख्यापित किया था तो फिर सर्वाश्लेषी क्षणिकवाद का उनपर आरोप कर (जिसे तथागत ने असस्कृता धातु रूपी निर्वाण पर नही लगाया था, परन्तु जिस पर वाद के आचार्यों ने आरोप कर क्षणिकवाद को सर्वव्यापी सिद्धान्त वना दिया, जिससे शकरादि अद्वैत वेदान्तियो को उसके प्रत्याख्यान करने का अवसर मिला) उनके मूल मन्तव्य को ही हम खटाई में क्यो डाले ? इसी तरह हम भगवान् तथागत के मन्तव्य को समझ सकते है, सन्दिग्ध सिद्धान्तो का उन पर आरोप करके तो हम उनके मूल मन्तव्य पर ही आघात कर देते है। यदि दु खादि का विनाश करना है तो तृष्णादि का त्याग करना ही होगा और इसी के लिए प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश है। तथागत वितथ तो वोलते ही

नही, व्यर्थ भी वे नही बोलते। उनका सदा के लिये साधको से कहना है—'यतो यतो सम्मसति खन्धान उदयब्बय। लभते पीतिपामोज्ज अमत त विजानत।' जैसे जैसे स्कन्धो की उत्पत्ति और व्यय का विचार मनुष्य करता है, वैसे-वैसे उस ज्ञानी को प्रीति और प्रमुदिता रूपी अमृत की प्राप्ति होती है। यदि प्रीति और प्रमुदिता रूपी अमृत की प्राप्ति हमें नही होती तो समझना चाहिये कि तथागत को समझने में कही गलती अवश्य रह गई है। उसे ठीक तरह समझ कर और सगति मिला कर जिस तरह प्रीति और प्रमुदिता मिले उसी समय समझना चाहिये कि बुद्ध मन्तव्य पर हम लग रहे है और यही शास्ता का शासन है।

७—अनात्मवाद बुद्ध-मन्तव्य का तात्त्विक आधार

अनात्मवाद क्रान्तिकारी दर्शन!

'अनात्मवाद' एक अत्यन्त क्रान्तिकारी दर्शन है। भारतीय दर्शन का एक साधारण विद्यार्थी, जो औपनिषद आत्मतत्त्व को ठीक रूप से ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानता है, और जानता है कि 'आत्मा' के ही केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार के लिए औपनिषद ज्ञान का उपयोग है, जब प्रथम बार सुनता है कि तथागत के मत में तो 'आत्मा की स्थिति ही नही है', तो उसके विभ्रमो और भयो की सीमा नही रहती। यदि भावुक हृदय हुआ और ठीक पथ-प्रदर्शन न मिला, तो पागल भी हो सकता है। वह रोमाञ्चित होता है और भयभीत भी। उपनिषदो के ऋषियो के प्रज्ञानो से वह ठीक ही अभिभूत हुआ रहता है, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध को भी तो वह भ्रमित और विमुग्ध नही मान सकता। परिणामत वह दु खी और अश्रद्धालु होता है। 'कपिलो यदि सर्वज्ञ सुगतो नेति का प्रमा। उभयो यदि सर्वज्ञो मतिभेद कथ तयो।' ऐसी कुछ विवशता उसको बुद्ध और उपनिषदो के ऋषियो को लेकर होने लगती है। यदि औपनिषद ऋषि ठीक है तो बुद्ध को गलत होना ही चाहिए, और यदि बुद्ध ठीक है तो उपनिषदो के ऋषियो की क्या हालत है? ऋषियो के 'ऋषित्व' अथवा बुद्ध के 'बुद्धत्व' का अर्थ ही क्या है? इनमें से एक के भी सही होने पर दूसरा विना गलत हुए नही रह सकता, और जहाँ एक भी गलत होता है वहा समग्र भारतीय दर्शन ही गिरता है। फिर भारतीय दर्शन में मनुष्य के आयासित हृदय के लिए आश्वासन ही क्या रहा? जहाँ तक अपने अनुभव

की भी बात है, सभी मनुष्य 'मैं हूँ' ऐसा ही तो अनुभव करते हैं। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव तो किसी को होता नहीं है[1]। अत परम सत्य के विषय में भी 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' कहने वाला ही ठीक मार्ग हो सकता है। ब्रह्म है, ऐसा जो समझेगा, वही तो उसे जान सकेगा। 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद।' फिर यह 'अनात्मवाद' कैसा ? 'दुद्दस्स अनत्त नाम!'

'अनात्मवाद' शब्द सुनकर भी भय लगता है। अन्-आत्म-वाद—नहीं आत्मा, ऐसा सिद्धान्त ! पालि शब्द है अनत्ता—अन्-अत्ता—नही आत्मा।

अनात्मवाद को ठीक प्रकार न समझने के कारण भय और मोह की प्राप्ति

कही आश्वासन नही मिलता। तथागत तो भयो को दूर करने आये थे। फिर यह क्या भयकारी सिद्धान्त सिखला दिया। क्या आत्म-विनाश तथागत को अभिप्रेत था ? क्या मरने के बाद सत्त्वोच्छेद हो जाता है, जीव नही रहता, यही उन्हे कहना था ? तो फिर वासठ प्रचलित धारणाओ में से एक अशाश्वतवादी धारा को ही उन्होने क्यो नही अपना लिया। क्यो उसे उन्होने 'मिथ्या' कह कर पुकारा और साथ ही स्वय 'अन्-अत्ता' ऐसा कहा। युग-युग का साधक इस प्रकार तो तथागत से अर्जुन के शब्दो में यही कहता रहेगा, 'व्यामिश्रेणेन वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे'। यह कुछ कम सम्भव नही है कि पुराणकारो ने जब भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान कर भी उन्हे प्रजाओं को विमोहित करनेवाला बताया, तो वह उनके अनात्मवाद सम्बन्धी सिद्धान्त को पचा न सकने के कारण ही था, जो बौद्ध तत्त्व ज्ञान की प्रतिष्ठा है। बुद्ध पुनर्जन्म की बात कहते हैं, बारम्बार यह कहते है कि उनका धर्म इस लोक और परलोक दोनो के सुख के लिये है[2] और साथ ही कहते है 'अनत्ता', तो यह कुछ समझ में नहीं आता। अनात्मवाद के सिद्धान्त से तथागत का क्या तात्पर्य है ?

---

(१) न हि कश्चित् सदिग्धे अह वा नाह वेति। भामती।

(२) दिट्ठधम्मिकञ्चेव अत्थं सम्परायिक चाति। उभो अत्थ सुत्त (इति-वुत्तक), मिलाइये, "चुन्द ! मैं ऐहिक और पारलौकिक दोनो ही आस्रवो के क्षय के लिये धर्मोपदेश करता हूँ।" पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६); जिसके पाप-कर्म नष्ट हो गये है, वह इस लोक और परलोक दोनों को साधता है, इस भावना के लिये देखिये सिगालोवाद सुत्त (दीघ० ३।८)

"भिक्षुओ ! वेदना आत्मा नही है। भिक्षुओ ! यदि वेदना आत्मा होती तो इसमें रोग न होता और इस वेदना के सम्वन्ध में कह सकते, 'मेरी वेदना ऐसी हो', 'मेरी वेदना ऐसी न हो'। चूकि भिक्षुओ ! वेदना आत्मा नही है, इसलिये वेदना में रोग होता है और हम वेदना के सम्वन्ध में नही कह सकते, 'मेरी वेदना ऐसी हो', 'मेरी वेदना ऐसी न हो'[1]।'

"भिक्षुओ ! सज्ञा आत्मा नही है। भिक्षुओ ! यदि सज्ञा आत्मा होती तो इसमें रोग न होता और हम सज्ञा के सम्वन्ध में कह सकते, 'मेरी सज्ञा ऐसी हो', 'मेरी सज्ञा ऐसी न हो'। चूकि भिक्षुओ ! सज्ञा आत्मा नही है, इसलिये सज्ञा में रोग होता है और हम सज्ञा के सम्वन्ध में नही कह सकते, 'मेरी सज्ञा ऐसी हो', 'मेरी सज्ञा ऐसी न हो'[2]।

"भिक्षुओ ! सस्कार आत्मा नही हैं। भिक्षुओ ! यदि सस्कार आत्मा होते तो उनमें रोग न होता और हम सस्कारो के सम्वन्ध में कह सकते, 'मेरे सस्कार ऐसे हो', 'मेरे सस्कार ऐसे न हो'। चूकि भिक्षुओ ! सस्कार आत्मा नही है, इसलिये सस्कारो में रोग होता है और हम सस्कारो के सम्वन्ध में नही कह सकते, 'मेरे सस्कार ऐसे हो', 'मेरे सस्कार ऐसे न हो'[3]।

---

(१) वेदना भिक्खवे अनत्ता। वेदना च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं वेदना आवाधाय सवत्तेय्य, लब्भेय च वेदनाय एवं मे वेदना होतु, एव मे वेदना मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे वेदना अनत्ता, तस्मा वेदना आवाधाय संवत्तति, न च लब्भति वेदनाय एवं मे वेदना होतु, एवं मे वेदना मा अहोसीति।

(२) सञ्ञा भिक्खवे अनत्ता। सञ्ञा च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं सञ्ञा आवाधाय सवत्तेय्य, लब्भेय च सञ्ञाय एवं मे सञ्ञा होतु, एवं मे सञ्ञा मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे सञ्ञा अनत्ता, तस्मा सञ्ञा आवाधाय संवत्तति, न च लब्भति सञ्ञाय एवं मे सञ्ञा होतु, एव मे सञ्ञा मा अहोसीति।

(३) सखारा भिक्खवे अनत्ता। सखारा च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्संसु, न यिमे सखारा आवाधाय सवत्तेय्यु, लब्भेय च सखारेसु एवं मे सखारा होन्तु, एवं मे सखारा मा अहेसुं ति। यस्मा च खो भिक्खवे संखारा अनत्ता, तस्मा सखारा आवावाय सवत्तन्ति, न च लब्भति सखारेसु एव मे सखारा होन्तु, एवं मे संखारा मा अहेसु ति।

"भिक्षुओ ! विज्ञान आत्मा नहीं है। भिक्षुओ ! यदि विज्ञान आत्मा होता तो उसमें रोग न होता और हम विज्ञान के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरा विज्ञान ऐसा हो', 'मेरा विज्ञान ऐसा न हो'। चूंकि भिक्षुओ ! विज्ञान आत्मा नहीं है, इसलिये विज्ञान में रोग होता है और हम विज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरा विज्ञान ऐसा हो,' 'मेरा विज्ञान ऐसा न हो'[1]।

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है ?"

"नहीं, भन्ते !"[2]

"भिक्षुओ ! वेदना नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है ?"

---

(१) विञ्ञाण भिक्खवे अनत्ता। विञ्ञाणं च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिद विञ्ञाण आवाधाय सवत्तेय्य, लब्भेत च विञ्ञाणे एवं मे विञ्ञाण होतु, एवं मे विञ्ञाणं मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे विञ्ञाणं अनत्ता, तस्मा विञ्ञाणं आवाधाय संवत्तति, न च लब्भति विञ्ञाणे एवं मे विञ्ञाणं होतु, एवं मे विञ्ञाणं मा अहोसीति।

(२) त किं मञ्ञथ भिक्खवे रूपं निच्चं वा अनिच्चं वा ति ? अनिच्चं भन्ते। यं पनानिच्चं, दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति ? दुक्खं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्ल नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोह-

या भविष्यत् की, या वर्तमान की, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब सज्ञा मेरी नही है, वह मै नही हूँ, वह मेरी आत्मा नही है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[1]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी सस्कार यहाँ है, चाहे वे अतीत के हो, या भविष्यत् के, या वर्तमान के, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप के या दूर के, वे सब सस्कार मेरे नही है, वे मै नही हूँ, वे मेरे आत्मा नही है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[2]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी विज्ञान यहाँ है, चाहे वह अतीत का हो या भविष्यत् का, या वर्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप का या दूर का, वह सब विज्ञान मेरा नही है, वह मै नही हूँ, वह मेरा आत्मा नही है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[3]

"भिक्षुओ ! इस प्रकार देखकर श्रुतवान् आर्य-श्रावक रूप में निर्वेद को प्राप्त करता है, वेदना में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, सज्ञा में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, सस्कारो में निर्वेद को प्राप्त करता है और विज्ञान में भी निर्वेद को प्राप्त करता है । निर्वेद प्राप्त कर वह विरक्त होता है । विराग

---

(१) या काचि सञ्ञा अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झत्त वा बहिद्धा वा ओळारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा या दूरे सन्तिके वा सब्बा सञ्ञा नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता ति एव एसा यथाभतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बा ।

(२) ये केचि सखारा अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओळारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा ये दूरे सन्तिके वा सब्बे सखारा नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता ति एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बा ।

(३) य किञ्चि विञ्ञाणं अतीतानागत पच्चुप्पन्नं अज्झत्त वा बहिद्धा वा ओळारिकं वा सुखुम वा हीनं वा पणीतं वा य दूरे सन्तिके वा सब्बं विञ्ञाणं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ताति एवं एत यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं ।

से विमुक्ति प्राप्त करता है। विमुक्त होने पर उसे यह ज्ञान होता है 'मैं विमुक्त हूँ।' जन्म का क्षय हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, करना था सो कर लिया, अब आगे कुछ करने को शेष नही है, ऐसा वह प्रज्ञा के द्वारा जानता है।"[1]

यह है सम्पूर्ण अनात्मवाद का उपदेश जिसे भगवान् ने दिया। कितना विशद और सरल है इसका रूप, जिसे किसी व्याख्या की अपेक्षा नही। तीन बातें भगवान् ने क्रमश अत्यन्त सरल शब्दो में यहाँ कही है। पहली बात यह है कि रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना उचित नही है क्योकि ये बाधाओ से ग्रस्त हैं, रोग के अधीन है। दूसरी बात यह कही है कि रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य है, अत. दु ख है, अत. आत्मा नहीं हो सकते। तीसरी बात यह कही है कि जब ये आत्मा नही हैं तो इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिये, इनसे विरक्त होना चाहिये और इस प्रकार विराग के द्वारा विमुक्ति का साक्षात्कार कर कृतकृत्यता सम्पादित करनी चाहिये। बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद अपने सम्पूर्ण रूप में इतना ही है, न इससे कुछ कम न अधिक।

थोडे-बहुत सम्बोधनो के हेर-फेर से भगवान् ने इसी उपदेश को अपनी चारिकाओ में अनेक बार दिया। अग्निवेश-गोत्री सच्चक नामक नगे साधु ने जब एक बार भगवान् से पूछा कि आप अपने शिष्यो को क्या शिक्षा देते है, तो भगवान् ने उससे यही कहा कि रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान अनित्य, दु ख और अनात्म हैं, यही शिक्षा मैं अपने शिष्यो को देता हूँ[2]। दीघ-निकाय के महानिदान-सुत्त में भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश अपने सेवक-शिष्य आनन्द को दिया। भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश राहुल को भी दिया।[3] अपने एक शिष्य पूर्ण को भी उन्होने इसका उपदेश दिया[4]।

(१) एवं पस्स भिक्खवे सुतवा अरिय सावको रूपस्मि पि निब्बिन्दति, वेदनाय पि निब्बिन्दति, सञ्ञाय पि निब्बिन्दति, संखारेसु पि निब्बिन्दति निब्बिन्दं विरज्जति, विरागा विमुच्चति, विमुत्तस्मिं विमुत्तं होति ञाणं होति खीणा जाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीयं, नापरं इत्थत्तायाति पजानातीति।

(२) देखिए चूल सच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।५)

(३) देखिये चूल राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।५)

(४) देखिये पुण्णोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।३)

पारिलेय्यक वन में सब भिक्षुओ के सामने भगवान् ने यही उपदेश दिया[1] । इन्द्रिय-सयम की शिक्षा देते हुए भगवान् ने यही उपदेश महातण्हा सखय-सुत्तन्त में दिया[2] और इसी प्रकार इन्द्रिय-भावना सुत्तन्त में भी[3] । महा अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९) में भी इसी उद्देश्य से यह उपदेश दिया गया । अनात्मवाद का पूरा उपदेश महापुण्णम-सुत्तन्त में भी निहित है[4] । इसी प्रकार अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२) में भगवान् ने भिक्षुओ से कहा, "भिक्षुओ ! जो तुम्हारा नही है, उसे छोडो । उसका छोडना चिरकाल तक तुम्हारे हित और सुख के लिये होगा । भिक्षुओ ! क्या तुम्हारा नही है ? रूप .. .. वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान. .. भिक्षुओ ! यह सब तुम्हारा नही है । इसे छोडो । यह तुम्हारे लिये चिरकाल तक हित और सुख के लिये होगा ।" यह अनात्मवाद का ही उपदेश था । इसी प्रकार सयुत्त-निकाय के 'न तुम्हाक सुत्त' में भगवान् ने यही कहा, "भिक्षुओ ! चक्षु तुम्हारी नहीं है, रूप तुम्हारा नही है, चक्षु-विज्ञान तुम्हारा नही है । निर्वेद प्राप्त करो ।" पृथ्वी, जल, तेज वायु, श्रुत, स्मृत, विज्ञान सब को 'न मैं', 'न मेरा' समझना चाहिये, यह मूल परियाय-सुत्त का उपदेश है[5] । चूल-वेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४) में कहा गया है कि जो आर्य दर्शन से वचित है, वही रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान को आत्मा के तौर पर देखता है । साराश यह कि पालि निकायो के अनेक सुत्तो मे प्राय समान शब्दो में अनात्मवाद का वर्णन मिलता है और वह भगवान् बुद्ध का प्रमुख उपदेश माना गया है । धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अनात्मवाद को भगवान् का सनातन (नित्य कल्प) शासन कहा है[6] । स्वय सारिपुत्र ने अनात्मवाद का उपदेश मरणासन्न अनाथ पिंडिक को दिया उसकी सान्त्वनार्थ[7] और आत्महत्या करने पर उतारू छन्न को भी उन्होने इसका उपदेश देते हुए उस दुष्कृत्य से उसे

(१) देखिये सयुत्त-निकाय २१।८।९
(२) मज्झिम० १।४।८
(३) मज्झिम० ३।५।१०
(४) मज्झिम० ३।१।९
(५) मज्झिम० १।१।१
(६) छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।२)
(७) देखिये अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।१)

बचाने का प्रयत्न किया[1]। नन्दक नामक भिक्षु ने अनात्मवाद का उपदेश भिक्षुणियो को दिया[2]। अब हमें यह देखना चाहिये कि साधना में रत भिक्षु और भिक्षुणियां और उनके शास्ता क्या सिद्धान्तवादियो की तरह इस सिद्धान्त का प्रचार करते रहते थे या उनका कुछ अन्य प्रयोजन था?

भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद के स्वरूप को पूरी तरह समझने के लिये हमें यह देखना चाहिये कि भगवान् ने किस प्रकार अनात्मवाद का उपदेश दिया और उसकी क्या सीमा बाँधी?

बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद का प्रकार और उसकी सीमा

भगवान् तथागत ने अनात्मवाद का उपदेश किसी स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नही दिया, यद्यपि बाद में इनको वह स्वरूप प्राप्त हो गया। पालि निकायो में अनात्मवाद की किरणें बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में से फूटती निकलती दिखाई पडती हैं और उसी की दार्शनिक प्रतिष्ठाभूमि के रूप में उसका वहाँ उपयोग है। जब कभी भगवान् स्मृति-प्रस्थानो का वर्णन करते है, चार आर्य सत्यो का निदर्शन करते है, प्रतीत्य समुत्पन्न धर्मों की अनित्यता और दु खमयता दिखाते है, अपने शिष्यो को अनासक्तिवाद सिखाते है, उन्हे इन्द्रिय-सयम में लगाते है, उसी समय वे अनात्मवाद के निरूपण में भी सलग्न दिखाई पड़ते है। भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट समग्र बोधिपक्षीय धर्मों की ओर यदि हम ध्यान दें तो उनका अभ्यास साधक के लिये कितना सरल और युक्तियुक्त होता है जब हम यह याद रक्खें कि यह समग्र 'रूप'-मय और चित्त-चेतसिक-मय जगत्, यह समग्र पञ्च स्कन्ध-व्यवहार, जिसके लिये हम दिन-रात हैरान-परेशान रहते हैं, वह हमारा वास्तविक स्वरूप नही है, वह 'आत्मा' नही है, 'अनात्मा' है। भगवान् ने बडे मार्मिक शब्दो में कहा है कि जो अनित्य है, वह दु ख है और जो दु ख है वह 'अपना' (अत्ता) नही हो सकता। फिर उसमें चित्त को फँसा कर दु ख को क्यो बढाया जाय? वह तो विपरिणाम धर्मा है, अवश्य बदलेगा। उसमें चित्त को लगाकर हम दु ख के अलावा परिणाम प्राप्त नही कर सकते। इस प्रकार सभी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों से निर्वेद प्राप्त करने के लिये, जो ज्ञान-प्राप्ति की एक सब से बडी शर्त है, भगवान् ने अनुकम्पा

---

(१) देखिये छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।२)
(२) देखिये नन्दकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।४)

पूर्वक 'अनात्म' अथवा 'अनत्ता' का उपदेश दिया है और यही उसकी सीमा है। इससे आगे बढने में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, भय है और पालि त्रिपटक के आधार पर हम ऐसा कर भी नही सकते ।

अनात्मवाद के उपदेश में भगवान् का प्रयोजन

फिर हमें यह देखना चाहिये कि अनात्मवाद के उपदेश में तथागत का प्रयोजन क्या था ? तथागत ने जिस किसी वस्तु को व्याकृत किया है (मनुष्य-जीवन के लिये जो कुछ भी आवश्यक और उपयोगी है उस सब को तथागत ने व्याकृत किया है), जिस किसी उपदेश को दिया है, उस सब के अन्त में प्राय अवश्य कह दिया है कि चूकि यह वस्तु या उपदेश एकान्त निर्वेद के लिये, विराग के लिये, निरोध के लिये, उपशम के लिये, अभिज्ञा के लिये, सम्बोधि के लिये और निर्वाण के लिये है, इसलिये उसका उपदेश उन्होने दिया है, उसका विभज्य-व्याकरण उन्होने किया है। अनात्मवाद के उपदेश में ऐसा उनका क्या उद्देश्य था ? भगवान् साधको को सिखाते है कि इन्द्रियो में सयम रक्खो। चक्षु से रूप को देखकर निमित्तग्राही और अनुव्यजनग्राही मत बनो। चक्षु-इन्द्रिय में सयम प्राप्त कर विहरो। रूप में राग करोगे, तो चित्त के मल आ चिपटेंगे। चक्षुर्विज्ञान में आसक्ति होने पर दु ख का आक्रमण हो जायगा। इसी प्रकार श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध और जिह्वा और रस आदि में भगवान् वितृष्णता सिखलाते है। इस वितृष्णता की वृद्धि के लिये ही भगवान् ने यह कहा कि 'भिक्षुओ ! यह चक्षु तुम्हारा नही है, यह चक्षुर्विज्ञान तुम्हारा नही है, यह रूप, यह श्रोत्र, ये शब्द, ये वेदनाएँ, ये स्पर्श, तुम्हारे नही है। इन्हे छोड दो।' कितनी विकलता थी तथागत के शब्दो में, "भिक्षुओ ! मै तुम्हे कहता हूँ। मै तुम्हे समझाता हूँ। ऐसा तुम्हे सीखना चाहिये [1]।" क्या किसी कोरे दार्शनिक सिद्धान्त को सिखलाने के लिये तथागत या अन्य कोई शास्ता इतनी तत्परता और इतनी दय की व्याकुलता दिखला सकता था ? जब तक मनुष्य अहभाव को नही छोडता, 'मैं' और 'मेरा' से मुक्ति नही पाता, वह मार-मुक्त नही होता, राग-विसयुक्त नही होता, आर्य नही बनता। "कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु आर्य, मार-मुक्त, राग-विसयुक्त होता है ? भिक्षुओ ! जिस भिक्षु का अभिमान ('अह' का अभिमान) नष्ट हो गया है, भविष्य मे न उत्पन्न होने योग्य हो गया

(१) महा अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९)

है, वही आर्य है, मार-मुक्त है, राग-विसयुक्त है[1] ।" अनात्मवाद का उपदेश इसी के लिये दिया गया है। सम्पूर्ण भव अनित्य है, दुःख है, अनात्म है, इस प्रकार चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को ज्ञान उत्पन्न होता है, (आध्यात्मिक) प्रीति उत्पन्न होती है, प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति) उत्पन्न होती है, सुख उत्पन्न होता है, अधिमोक्ष (सकल्प) उत्पन्न होता है, उच्चतर विकास (प्रग्रह) उत्पन्न होता है, ऐसा भगवान् ने कहा है[2] । अनात्म के चिन्तन से मनुष्य निमित्त और प्रवृत्त का यथाभूत ज्ञान प्राप्त करता है, उसे सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है। अनात्म के कारण उसे सब धर्म ठीक प्रकार दिखाई देने लगते हैं[3] । यह भी कहा गया है कि अनित्य को देखने से मनुष्य का मान नष्ट होता है, दुःख को देखने से उसकी इच्छाओं की शुद्धि होती है और अनात्म को देखने से उसकी दृष्टि-सम्बन्धी आसक्ति दूर होती है[4] । वैराग्य का उद्देश्य भी पूरा होता है, क्योंकि अनात्म का चिन्तन करते-करते साधक को यह जगत् शून्य ग्राम के समान या माया-मरीचिका के समान या गन्धर्व-नगर के समान रिक्त, तुच्छ और शून्य लगने लगता है और वह सम्पूर्ण भव में भय देखकर उससे विरक्त हो जाता है[5] । विराग से विमुक्ति को प्राप्त करता है। 'विरागा विमुच्चतीति।' अनात्म का दर्शन करनेवाला देहात्म सज्ञा में निर्वेद को प्राप्त करता है,

(१) अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२); मिलाइये, 'अनात्म संज्ञी अभिमान के नाश को प्राप्त होता है, वह इसी जन्म में निर्वाण को प्राप्त करता है।' मेघिय-सुत्त (उदान० ४।१)

(२) अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो मनसि करोतो ञाणं उप्पज्जति....पीति... पस्सद्धि....सुखं...अधिमोक्खो....पग्गहो ..उप्पज्जति। पटि सम्भिदा मग्ग २।१००-१०१, विसुद्धिमग्ग २०।१०६ में उद्धृत।

(३) अनत्ततो मनसि करोन्तो निमित्तं च पवत्तं च यथाभतं जानाति पस्सति। तेन वुच्चति सम्मादस्सनं। एवं तदन्वयेन सब्बे धम्मा अनत्ततो सुदिट्ठा होन्ति। पटि सम्भिदामग्ग २।६२-६३।

(४) अनत्ततो पस्सन्तस्स दिट्ठिसमुग्घाटनं नाम होति अनिच्चतो पस्सन्तस्स नाम होति। पटि सम्भिदामग्ग, विसुद्धिमग्ग २०।८७ में उद्धृत।

(५) अनत्ततो मनसिकरोन्तो पन उभयम्पेतं सुञ्ञ गामं विय, मरीचिगन्धब्बनगरादीनि विय च रित्त तुच्छं सुञ्ञ अस्सामिक अपरिणायकं पस्सति। तेनस्स निमित्तञ्च पवत्तञ्च भयतो उपट्ठाति। पटिसम्भिदामग्ग २।६२, विसुद्धिमग्ग २१।३४ में उद्धृत।

नन्दी (तृष्णा) से उसकी विरक्ति हो जाती है, राग की आसक्ति उसके लिये छूटने लगती है, वह दु ख-समुदय के निरोध को खोजने लगता है, वह ग्रहण-रूप आसक्ति को छोड देता है।[1] अनात्म का चिन्तन करने से प्रतिसख्या-ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है[2]। किसी भी प्रकार हम देखें अनित्य—दु ख—अनात्म—निर्वेद—विराग—विमुक्ति—कृतकृत्यता—यही बौद्ध साधना का क्रम है। भगवान् के समग्र उपदेश की धुरी तृष्णाक्षय पर घूमती है। 'पूर्ण ! नन्दी (तृष्णा) के निरोध से दु ख का निरोध कहता हूँ'[3]। यह तृष्णा जब तक निरुद्ध न हो तब तक दु ख की आत्यन्तिक निवृत्ति की आशा नही है और तृष्णा तो स्थूल-से-स्थूल पदार्थ से लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आध्यात्मिक पदार्थ तक होती है। किन्तु सभी बाह्य पदार्थों की तृष्णा छोडकर भी मनुष्य अन्दरी पदार्थ (अपनी आत्मा) की तृष्णा नही छोडता—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति। भगवान् ने इस सभी जगह लुभानेवाली (तत्र तत्राभिनन्दिनी) तृष्णा के सभी निवेशनो को उच्छिन्न करने का प्रयत्न किया है, यहाँ तक कि इसके अन्तिम निवेशन स्वरूप 'आत्मन्' को भी। यही अनात्मवाद है और यही उसका प्रयोजन। 'चक्षु से विज्ञेय रूप इष्ट, कान्त, मनाप, प्रियरूप, कामोपसहित, रजनीय होते है। यदि भिक्षु उन्हे अभिनन्दन करता है, स्वागत करता है, अध्यवसाय करता है, तो अभिनन्दन करते, स्वागत करते, अध्यवसाय करते, उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। पूर्ण। नन्दी की उत्पत्ति से दु ख की उत्पत्ति करता हूँ। पूर्ण ! जिह्वा से विज्ञेय रस इष्ट, कान्त मनाप, प्रियरूप, कामोपसहित, रञ्जनीय होते हैं। यदि भिक्षु उन्हे अभिनन्दन करता है, स्वागत करता है, अध्यवसाय करता है, तो अभिनन्दन करते, स्वागत करते, अध्यवसाय करते, उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। पूर्ण ! नन्दी की उत्पत्ति से दु ख की उत्पत्ति कहता हूँ . [4], इसी प्रकार श्रोत्र (शब्द), घ्राण (गन्ध), काय (स्पर्श) मन (धर्म) आदि के

---

(१) अनत्ततो अनुपस्सन्तो अत्ततञ्ञ निब्बिन्दतो नन्दि विरज्जन्तो राग निरोधेन्तो समुदय पटिनिस्सज्जन्तो आदान पजहतीति। पटिसम्भिदामग्ग १।९७७

(२) अनत्ततो मनसि करोतो .... पटिसखा-ञाणं उप्पज्जति। पटिसम्भिदामग्ग २।६३–६४, विसुद्धिमग्ग में उद्धृत।

(३) पुण्ण सुत्त (सयुत्त० ३४।४।६)

(४) पुण्ण सुत्त (सयुत्त० ३४।४।६)

विषय मे भी। किन्तु इन सब में यदि यह देख लिया जाय कि न ये सब और न इनमें से कोई एक 'मै हूँ' या ये 'मेरे हैं' तो 'भिक्षुओ! ऐसा देख, धर्म को सुननेवाला, आर्य-श्रावक चक्षु से निर्वेद प्राप्त करता है, रूप से निर्वेद प्राप्त करता है, चक्षु-विज्ञान से निर्वेद प्राप्त करता है, चक्षु-सस्पर्श से निर्वेद प्राप्त करता है। चक्षु-सस्पर्श के कारण जो यह वेदना उत्पन्न होती है सुख, दुख, न-सुख-न-दुख, उससे भी निर्वेद को प्राप्त करता है[१]'। उसी प्रकार श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, काय, मन आदि से निर्वेद को प्राप्त करता है। "निर्वेद प्राप्त हो विरक्त होता है। विरक्त होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने पर 'मैं विमुक्त हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। वह जानता है 'जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, सभी कर्तव्य कर चुका, अब यहाँ करने को कुछ शेष नही है'[२]। यही कृतकृत्यता है और यही बुद्ध-मत है। यही अनातमवाद है और यही ब्रह्मचर्य का प्रयोजन भी।

बुद्ध-सम्मत अनात्मवाद का कुछ विस्तृत विवरण और विवेचन

ऊपर हमने अनात्मवाद का जो विवरण दिया है वह रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पच स्कन्धो को लेकर ही दिया है। वस्तुत अनात्म की भावना १२ आयतनो (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म) और अठारह धातुओ (उपर्युक्त ६ इन्द्रियो, उनके ६ विषय और ६ विज्ञानो) यथा चक्षुविज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध मे अलग-अलग और सम्मिलित रूप से की जाती है। स्कन्ध, आयतन और धातुओं की प्रवर्तित परिपाटी का नाम ही संसार है, जिसमें अनात्म की भावना करनी चाहिये। अब विस्तार से छ आध्यात्मिक आयतन है, यथा चक्षु आयतन, श्रोत्र आयतन, घ्राण आयतन, जिह्वा आयतन, काय आयतन और मन-आयतन। छ. है वाह्य आयतन यथा, रूप आयतन, शब्द आयतन, गन्ध आयतन, रस आयतन, स्प्रष्टव्य आयतन, धर्म-आयतन। इसी प्रकार छ. विज्ञान काय है यथा चक्षु द्वारा रूप में चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है और इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के विज्ञान। इन उपर्युक्त तीनो को मिलाकर 'स्पर्श' की उत्पत्ति होती है यथा चक्षु, रूप और चक्षुविज्ञान के सगम से चक्षु-स्पर्श की और इसी प्रकार श्रोत्र स्पर्श, घ्राण स्पर्श आदि के वारे में भी समझना चाहिए।

(१,२) सयुत्त० ४३।३।६; देखिए विनयपिटक, महावग्ग १ भी।

इन विभिन्न स्पर्शों के कारण ही उन-उन विषयक वेदना उठ खड़ी होती है जिससे ही उन-उन विषयक तृष्णा की उत्पत्ति होती है जो दुःख का कारण बनती है। उपर्युक्त ३६ धर्मों को तथागत ने 'अनात्मा' कहा है, अर्थात् ये प्रतीत्य-समुत्पन्न है, उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इनमें से किसी एक में अथवा इनके किसी सघात में इस प्रकार की बुद्धि कि 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा आत्मा है' नही की जा सकती। जो मर्त्य है वह अल्प ही तो है और जो अल्प है उसमें सुख कहाँ है? जो सुख नही वह अपना आत्मा कैसे हो सकता है? ऐसा समझना तो 'सत्कायवाद' होगा। दुःख के निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग तो यही है कि सभी आध्यात्मिक और वाह्य आयतनो, विज्ञानकायो, स्पर्शकायो, वेदनाकायो और तृष्णाकायो को 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा आत्मा है' ऐसा न समझना और यही 'अनात्मवाद' है। 'आत्मा' के रूप में उपर्युक्त ३६ धर्मों में से किसी को ग्रहण मत करो, यही भगवान् का उपदेश है। यदि ये 'मैं या मेरा' करके ग्रहण किए गए तो चक्षुरादि छ इन्द्रियो के द्वारा रूपादि छ विषयो में चक्षुविज्ञान आदि छ विज्ञान भी उत्पन्न होगे, तीनो के सगम से स्पर्श भी होगे, सुखा, दुःखा या असुखा-अदुःखा वेदनाएँ भी होगी, आसक्ति भी होगी, शोक करना, रोना, पीटना सभी होगे, अविद्या अनुशय भी होगा, दुःख होगा ही। फिर बचें कैसे? इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सगम से वेदना तो उत्पन्न होगी ही। यह तो प्राकृतिक व्यापार है जिसका निरोध किया ही नहीं जा सकता (करिष्यसि अवशोऽपितत्—प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्—गीतोक्त वाक्य स्मरणीय) किन्तु यदि भिक्षु (तस्मादसक्त सतत—नैव किंचित् करोमीति—उदासीनवदासीनो, फिर स्मरणीय) 'सुखा वेदना से सयुक्त होने पर अभिनन्दन नही करता, न आसक्त हो ठहरता है, उसे राग अनुशय नही चिपटता। दुःख-वेदना से सयुक्त होने पर वह न शोक करता है, न कलपता है, न विलाप करता है, न छाती पीट-पीटकर रोता है, न मूर्च्छित होता है। उसे प्रतिघ अनुशय नही होता। वह अदुःख-असुखा वेदना से युक्त होने पर उस वेदना के समुदय, विनाश, आस्वाद, दुष्परिणाम और निस्सरण को यथार्थ से जानता है[1]'। इस प्रकार इस अनात्मवाद का व्यावहारिक आचरण और मनन ही महान आत्म-विजय का कारण होता है,

---

(१) छछच्छक सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।६)

अनुत्तर इन्द्रिय भावना की प्रतिष्ठा होती है। भगवान ने कहा है कि उपर्युक्त प्रकार से भावना किया हुआ मनुष्य 'यदि वह चाहता है कि प्रतिकूल को अप्रतिकूल जानकर विहार करूँ तो अप्रतिकूल जानते ही यहाँ विहार करता है। यदि वह चाहता है कि अप्रतिकूल में प्रतिकल जानकर विहार करूँ तो प्रतिकूल जानते ही विहार करता है।.. .. ..यदि वह चाहता है प्रतिकूल-अप्रतिकूल दोनो को ही वर्जित कर स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त हो विहार करूँ तो वह स्मृतिसम्प्रजन्य युक्त उपेक्षक हो विहरता है। इस प्रकार आनन्द ! भावितेन्द्रिय युक्त होता है[1] !' हो भी क्यो नही ? 'यहाँ आनन्द ! चक्षु से रूप को देखकर भिक्षु को मनाप होता है, अ-मनाप होता है, मनाप-अमनाप होता है। वह ऐसा जानता है 'यह मुझे मनाप उत्पन्न हुआ, अ-मनाप, मनाप-अ-मनाप, किन्तु यह सस्कृत, कृत (कृत्रिम) औदारिक, प्रतीत्य समुत्पन्न है। वही शान्त, वही प्रणीत है जो कि यह रूप आदि की उपेक्षा। तव उसका वह उत्पन्न मनाप, अमनाप, मनाप-अ-मनाप निरुद्ध हो जाता है, उपेक्षा ठहरती है। जैसे आनन्द ! आँखवाला मनुष्य पलक चढाकर गिरा दे, पलक गिराकर चढा दे, उसी तरह आनन्द ! जिस किसी को इतना शीघ्र, इतनी जल्दी, इतनी आसानी से उत्पन्न मनाप, उत्पन्न अमनाप, उत्पन्न मनाप—अमनाप निरुद्ध हो जाते हैं, उसकी उपेक्षा ठहरती है[2]'। ऐसी अवस्था में आस्रव या अकुशल कर्म तो कहाँ ठहरेंगे !

---

(१) इद्रिय-भावना सुत्त (मज्झिम० ३।५।१०)। इसी अर्थ को अन्यत्र भी भगवान् ने इस प्रकार दिखाया है 'भिक्षु ! यदि रूप धातु से भिक्षु का राग नष्ट हो गया है तो राग के प्रहाण से आलम्बन (इन्द्रिय विषय) छिन्न होता है, विज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं रहती। यदि वेदना धातु से भिक्षु का राग नष्ट हो गया है, सज्ञा धातु से, सस्कार धातु से, विज्ञान धातु से......तो वह अप्रतिष्ठित विज्ञान न वढकर संस्कार-रहित हो विमुक्त हो जाता है। विमुक्त होने से स्थिर होता है। स्थिर होने से सन्तुष्ट होता है। सन्तुष्ट होने से त्रास नहीं खाता। त्रास न खाने पर इसी शरीर में निर्वाण को प्राप्त करता है। 'जाति क्षीण हो गई ......भिक्षु ! इस प्रकार जानने, देखने पर आश्रवो का क्षय होता है" उदान सुत्त (सयुत्त० २१।१।३); बुद्धचर्या, पृष्ठ ३९२-९३

(२) इन्द्रिय-भावना सुत्त (मज्झिम० ३।५।१०) ही। मिलाइये; पुण्णसुत्त (सयुत्त० ३४।४।६)

त्मिक पदार्थों में आत्मबुद्धि करना, फिर चाहे वह किसी प्रकार की क्यो न हो, मूढता का ही लक्षण है। पृथग्जन अनुचित रूप से विचार करता है 'म भूतकाल में था कि नही था ? मैं भूतकाल में क्या था ? मैं भूतकाल मे क्या होकर फिर क्या क्या हुआ ? मै भविष्यत् काल में होऊँगा कि नही होऊँगा ? मै भविष्यत् काल में क्या होऊँगा ? मैं भविष्यत् काल में कैसे होऊँगा ? मैं भविष्यत् काल में क्या होकर क्या होऊँगा ? अथवा वह वर्तमान काल के सम्बन्ध में सन्देहशील होता है कि मैं हूँ या नही हूँ ? मै क्या हूँ ? मैं कैसे हूँ ? यह सत्व कहाँ से आया ? यह कहाँ जायगा[1]' ? जब सत्ता सम्बन्धी इस प्रकार के प्रश्नो को लेकर अज्ञ जन प्रवृत्त होता है[1] तो या तो वह आत्म-उपादान ही ग्रहण करने वाला होता है, या फिर होता है पूर्ण उच्छेदवादी। दोनो ही मार्ग पतन के हैं। जो पञ्च-स्कन्धो में आत्म-बुद्धि करता है, उसके मन मे ये छ दृष्टियाँ घर कर लेती हैं। या तो वह इस बात को सत्य समझता है कि 'मेरा आत्मा है' या वह इस बात को सच समझता है कि 'मेरा आत्मा नही है', या इस बात को सच समझता है कि मैं आत्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, या वह इस बात को सच समझता है कि 'मै अनात्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, अथवा उसकी ऐसी दृष्टि होती है कि यह जो आत्मा कहलाता है यह ही अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगता है, या फिर अन्त में वह सोचता है कि 'यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, जैसा है वैसा ही रहेगा'[2]। साराश यह कि वह पथभ्रष्ट 'सशयात्मा' और 'अनेक-चित्त-विभ्रान्त' होता है, 'बुद्धि उसकी बहुशाखाओवाली और अनन्त होती हैं' (गीताकार के शब्द क्षम्य हो !) स्वभावत ही सत्ता सम्बन्धी विभिन्न मतवादो में पडता है और मुक्ति नही पाता। 'भिक्षुओ ! इसे कहते हैं मतो में जा पडना, मतो की गहनता, मतो का कान्तार, मतो का दिखावा, मतो का फन्दा तथा मतो का बन्धन। इन मतो के बन्धन में बँधा हुआ आदमी जिसने सद्धर्म को नही सुना जन्म, बुढापे तथा मृत्यु से मुक्त नही होता, शोक से रोने-पीटने से, पीडित होने से, चिन्तित होने से भी वह मुक्त नही होता। मै कहता हूँ कि वह दु ख से पार नही होता[3]।' भगवान् ने कहा है कि जो कोई भी आत्मा को प्रज्ञापन करनेवाला है, वह इन ४ प्रकारो से ही वैसा करता

(१) मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १।१।१)
(२,३) मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १।१।१)

है, यथा (१) 'मेरा आत्मा रूपधारी और अणु है', (२) मेरा आत्मा रूपवान् और अनन्त है', (३) 'मेरा आत्मा अरूप और अणु है' और (४) 'मेरा आत्मा अरूप, अनन्त है'[१]। 'आनन्द! जिस कारण से आत्मा को (पञ्चस्कन्धो में) देखनेवाला देखता है, वे ये है, वह वेदना को 'वेदना मेरा आत्मा है' ऐसा समझता है, अथवा 'वेदना मेरा आत्मा नही, अप्रतिसवेदन मेरा आत्मा है' ऐसा समझता है अथवा 'न वेदना मेरा आत्मा है, न अप्रतिसवेदन मेरा आत्मा है, मेरा आत्मा वेदिन होता है, अत वेदना धर्मवाला मेरा आत्मा है' आनन्द! ऐसे आत्मा का देखनेवाला देखता है'[२]। भगवान् ने इस सब को मूढता ही मूढता कहा है[३]। ऐसे मूढ जन से, जो वेदनाओ और 'आत्मा' में एकात्मता स्थापित करता है, भगवान् का प्रश्न है कि वह आखिर किन वेदनाओ को अपना आत्मा समझता है ? और फिर वेदनाएँ तो सभी अनित्य, सस्कृत, प्रत्यय से उत्पन्न होनेवाली और क्षय होनेवाली है। उनमें 'आत्मत्व' कैसा ? 'भिक्षुओ! यदि कोई ऐसा कहे कि वेदना मेरा आत्मा है तो उससे यो कहना चाहिए कि आयुष्मन्, वेदना तीन तरह की होती है—(१) सुख वेदना, (२) दु ख वेदना, (३) अ-सुख—अ-दु ख वेदना। इन तीन तरह की वेदनाओ में से किस तरह की वेदना को 'आत्मा' समझते हो?' 'क्योकि भिक्षुओ! जिस समय कोई सुख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे दु ख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख-अदु ख वेदना की, उस समय उसे केवल सुख-वेदना की ही अनुभूति होती हो। जिस समय कोई दु ख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय उसे न तो सुख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख-अदु ख वेदना की, उस समय उसे केवल दु ख वेदना की अनुभूति होती है। जिस समय कोई असुख-अदु ख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे सुख वेदना की अनुभूति होती है, न दु ख वेदना की, उस समय उसे केवल असुख-अदु ख

(१,२) महानिदान सुत्त (दीघ० २।२), 'विज्ञान' और 'नाम-रूप' का प्रतीत्य-समुत्पाद के प्रसग में तन्वन्य और प्रतीत्य समुत्पन्न भावो को विवेचित करते ही यहा भगवान् 'अनात्मवाद' के प्रस्थापन में लग जाते है, वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से 'प्रतीत्य समुत्पाद' से ही 'अनात्मवाद' की सिद्धि है, अथवा यो भी कहिए कि दोनो ही एक 'अनात्म' सत्य को प्रस्थापित करने के लिए है।

(३) देखिए सब्बधम्म मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १।१।१)

देखेंगे, भारतीय विचार की सर्वोत्तम परम्परा के अनुकूल ही भगवान् ने निर्घोष किया। ऐसा कह उन कारुणिक शास्ता ने यह भी कहा। 'इसलिए भिक्षुओ! जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी सज्ञा है, जितने भी सस्कार है, जितना भी विज्ञान है—चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा अथवा भला, चाहे दूर अथवा समीप—वह 'न मेरा है न वह मैं हू, न वह मेरा आत्मा है'[१]। 'भिक्षुओ! जैसे गगा नदी में बहुत-सी झाग चली आ रही हो। उस झाग को कोई आँखवाला आदमी देखे, उसपर सोचे और विचार करे और सोचने और विचार करने से उसे वह झाग बिलकुल रिक्त, तुच्छ तथा सारहीन मालूम दे—भिक्षुओ! फेन मे क्या सार हो सकता है? उसी प्रकार भिक्षुओ! जितना भी रूप है—चाहे भूतकाल का, चाहे वर्तमान काल का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म, चाहे बुरा हो अथवा भला, चाहे दूर हो अथवा समीप—उसे भिक्षु देखता है, सोचता है, उस पर अच्छी तरह विचार करता है। उसे देखने पर, सोचने पर, अच्छी तरह विचार करने पर, उसे वह रूप बिलकुल रिक्त, तुच्छ तथा सारहीन दिखाई देगा। भिक्षुओ! रूप मे क्या सार हो सकता है?'[२] तथागत ने उन्मुक्त निर्घोष किया है कि सभी 'सस्कार' (कृत वस्तु) यथा रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान, अनित्य, दुख और अनात्म है, इस दुर्धर्ष नियम को कोई टाल नही सकता। पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी कुछ उद्धरणो का विमोह हटाया नही जा सकता। 'भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हो, चाहे उत्पन्न न हो, यह सदैव यो ही रहता है। सभी सस्कार अनित्य है, जैसे रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, सज्ञा अनित्य है, सस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है'[३]। 'भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हो या न हो। यह सदैव यो ही रहता है। सभी सस्कार दुख है, यथा रूप दुख है, वेदना दुख है, संज्ञा दुख है, सस्कार दुख है, विज्ञान दुख है'[४]। 'भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हो या न हो। यह सदैव यो ही रहता है। सभी सस्कार अनात्म है, यथा रूप अनात्म है, वेदना अनात्म है, सज्ञा अनात्म है, सस्कार अनात्म है, विज्ञान अनात्म है'[५]। अधिक से क्या 'भिक्षुओ! इसके लिए बिलकुल गुजाइश नही, यह बिलकुल असभव है कि कोई

(१,२) सयुत्त निकाय, देखिए बुद्ध वचन, क्रमश पृष्ठ २९ एव ८
(३,४,५) अगुत्तर निकाय, देखिए 'बुद्ध वचन', पृष्ठ २६

आँख वाला आदमी किसी भी 'धर्म' को आत्मा करके ग्रहण करे'[1]। अतः 'भिक्षुओ ! यदि मुझे लोग ऐसा पूछे कि 'तुम पहले समय में थे कि नही थे? तुम भविष्य में होगे कि नही? तुम अब हो कि नही'? तो उनके ऐसा पूछने पर मै उनको यो कहूँगा कि 'मै पहले समय मे था', 'नही था', ऐसा नही है; 'मै भविष्यत् मे होऊँगा', 'नही होऊँगा', ऐसा नही है, 'मै अब हूँ', 'नही हूँ, ऐसा नही है'[2]। सत्ता सम्बधी प्रश्नो का कोई एक उत्तर देकर उन ६२ मिथ्यादृष्टियो का ही, जिनका वर्णन हम पहले 'प्राग्बौद्धकालीन दर्शन व्यवस्था' के प्रसग मे कर आए है, एक अग बन जाना तथागत का काम नही था। सत्ता सबधी प्रश्नो को लेकर 'तथागत का वाद यह है' ऐसा तो निश्चय ही कभी कहा ही नही जा सकता। जो बात निर्विवाद है वह यह है कि सभी बाह्य और आध्यात्मिक धर्मों मे, जिनका विभाजन सुत्त में पचस्कन्धो के रूप में, यथा रूप वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान के रूप में, एव अभिधम्म मे 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' के रूप में किया जाता है, भगवान् पूर्ण अनासक्ति, अस्पर्श अथवा 'अनात्म' की भावना कर उनसे निर्वेद प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त हुए थे, और यही बात एक दर्शनकार के लिए भी महत्वपुर्ण है। 'भिक्षुओ ! यदि कोई पूछे कि भगवान् गौतम किस दृष्टि के है? तो उसे 'भिक्षुओ ! क्या उत्तर दोगे? 'भिक्षुओ ! तथागत किस दृष्टि के है' ऐसी बात ही नही रही है। भिक्षुओ ! तथागत ने यह सब देख लिया है कि यह रूप है, यह रूप का समुदय है, यह रूप का अस्त होना है, यह वेदना है, यह वेदना का समुदय है, यह वेदना का अस्त होना है, यह सज्ञा है, यह सज्ञा का समुदय है, यह सज्ञा का अस्त होना है। ये सस्कार हैं, यह सस्कारो का समुदय होना है, यह सस्कारो का अस्त होना है, यह विज्ञान है, यह विज्ञान का उदय होना है, यह विज्ञान का अस्त होना है। इसलिए कहता हूँ कि सभी मान्यताओ के, सभी अस्तित्वो के, सभी अहकारो के, सभी 'मेरे' के, सभी अभिमानो के, नाश हो जाने से, विराग से, त्याग से, छूटने से, उपादान न रहने से तथागत विमुक्त हो गये है।[3] 'अनुपादा विमुत्ता भिक्खवे तथागता'। यही तो बुद्ध-मत है।

हम ऊपर देख चुके है कि तथागत ने रूप वेदना, सज्ञा, सस्कार और

---

(१) अंगुत्तर १।१५; 'बुद्ध वचन', पृष्ठ २६

(२) पोट्ठपाद सुत्त (दीघ० १।९)

(३) अग्गिवच्छगोत्त सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।२)

विज्ञान इन पांच स्कन्धो में, रूप-आयतन, शब्द-आयतन, गन्ध-आयतन, रस-आयतन, स्पर्श (स्पृष्टव्य)-आयतन, धर्म-आयतन, इन छः बाह्य आयतनो मे, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन इन छह आतरिक आयतनो में, और चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, रूप, शब्द, गन्ध, रस स्पृष्टव्य, धर्म, चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मनोविज्ञान, इन अठारह धातुओं मे, ऐसा कुछ न पाया था जिसे आर्य-धर्म मे विनीत पुरुष कह सके 'यह मेरा है', 'यह मै हू', 'यह मेरा आत्मा है।' 'एत मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता।' ये सब उपर्युक्त धर्म तो अनित्य है। जो अनित्य है, वह दुःख है। 'यदनिच्च त दुक्ख।' और जो दुःख है, वह आत्मा नही है। 'य दुक्ख तदनत्ता'। इसलिए स्वाभाविक तौर पर साधक को इस नाम-रूप जगत् के सबध मे यह भावना करनी चाहिए, 'यह मेरा नही है', 'यह मैं नही हूँ', 'यह मेरा आत्मा नही है'। 'नेत मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता'। इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह निर्वेद को प्राप्त करेगा, निर्वेद से विराग को और राग के प्रहाण होने पर दुःख रूप भव को तर जायगा, विमुक्त हो जायगा। यही अनात्मवाद था जिसे शास्ता ने सिखाया था।

क्या अनात्मवाद उपनिषद्-विपरीत सिद्धात है

अब हमें यह देखना है कि इस अनात्मवाद का उपनिषदो के आत्मवाद से क्या सम्बन्ध है? क्या बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद उपनिषदो के ठीक विपरीत सिद्धात है, अर्थात् क्या वह उस आत्मा का निषेध करता है जिसका उपदेश करना उपनिषदो का परम लक्ष्य है?

हम पहले कह चुके है कि भगवान् बुद्ध के समय मे दो प्रकार की एक दूसरे से बिलकुल विपरीत विचार-धारायें प्रचलित थी। एक थी जिसे हम शाश्वतवाद या नित्यतावाद कह सकते है और दूसरी विचार-धारा थी उच्छेद-वादियो की। पहले मत को माननेवाले विचारको का कहना था कि "यह जो मेरा आत्मा अनुभव कर्त्ता (वेदक) तथा अनुभव होने योग्य है, और जहाँ-तहाँ अपने भले बुरे कर्मों के विपाक को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील है और अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा"[१]।

(१) यो मे अय अत्ता वेदो वेदेय्यो तत्र तत्र कल्याण पापकान कम्मानं विपाकं पटिसवेदेति, सो खो पन मे अय अत्ता निच्चो, धुवो, सस्सतो, अविपरिणामधम्मो, सस्सतिसम तथेव ठस्सतीति। सब्बासव-सत्तन्त (मज्झिम० १।१।२)

उच्छेदवादियो के मत का उद्धरण करते हुए भगवान् ने स्वय कहा है, 'भिक्षुओ ! एक श्रमण और ब्राह्मण उच्छेदवादी है जो विद्यमान (सत्) सत्व (जीव, प्राणी) का उच्छेद, विनाश, प्रज्ञापन करते है।"[1] भगवान् ने शाश्वतवादियो के प्रयत्न को भरपूर मूर्खता 'परिपूरो वालधम्मो' कहा[2] और उच्छेदवादियो से अपने विचार को पूर्ण पृथक रखते हुए पुनर्जन्म और कर्म-फल को उपदिष्ट किया और इहलोक और परलोक दोनो के कल्याण की वात कही। प्रतीत्य समुत्पाद के विवरण में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भगवान् ने दोनो कोटियो से वचकर धर्म का उपदेश दिया। भगवान् ने न शाश्वत कहा और न अशाश्वत, न यह कहा कि आत्मा है और न यह कहा कि आत्मा नही है, केवल पंच स्कन्धो का विश्लेपण करके यह दिखला दिया कि ये तो सब प्रतीत्य समुत्पन्न है, अनित्य और दु ख स्वरूप है, इनमें तो कही 'अत्ता' (आत्मा) मिलता नही। पच स्कन्धो के ऊपर भी कुछ है, प्रतीत्य समुत्पन्न भव से भी अतीत कोई सत्ता है, इसका साक्ष्य निर्वाग के रूप में उन्होने अवश्य उसे 'असस्कृता धातु' कहकर दिया, 'अच्युत', 'ध्रुव', 'अविनाशी' पद कहकर दिया।

अब प्रश्न यह है कि जिस ध्रुव आत्मवाद को भगवान् ने मूर्खतापूर्ण वताया वह क्या उपनिपदो का आत्मवाद है ? पहले हम ध्रुव आत्मा सम्वन्धी उद्धरण को सब्वासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२) से दे चुके है। उसमें कहा गया है कि 'यह जो मेरा आत्मा वेदक और वेदन (अनुभव) करने योग्य है (यो मे अय अत्ता वेदो वेदेय्यो), जो जहा-तहा अपने भले बुरे कर्मों के विपाक को अनुभव करता है (तत्र तत्र कल्याप पापकान विपाक कम्मान विपाक पटि-सवेदेति) वह आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है (अय अत्ता निच्चो, धुवो सस्सतो, अविपरिणाम धम्मो)। इसका अर्थ यह है कि जो आत्मा अनुभव करता है और अनुभव किया जाता है और जो कर्मों के विपाक का उपभोग करता है, वह नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है, यह मत तथागत को मान्य नहीं है। साति भिक्षु को जो शाश्वत आत्मा सम्बन्धी मिथ्या धारणा हुई थी, वह भी ससरणशील वेदक-वेद्य विज्ञान के

(१) सन्ति भिक्खवे एके समण ब्राह्मणा उच्छेदवादा सतो सत्तस्स उच्छेदं विनास पञ्ञापेन्ति। ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१)

(२) सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२)

सम्बन्ध मे हुई थी, यह हम आगे पुनर्जन्म के विवेचन के समय देखेंगे। तो क्या उपनिषदो का आत्मा वेदक और वेद्य और कर्म-फलो का उपभोक्ता है ? नहीं, बिलकुल नही। शकर के ही साक्ष्य को इस सम्बन्ध में क्यो न ले। मनीषी आचार्य ने कहा है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-युक्त 'अहं' प्रत्यय आत्मा उपनिषदो का विषय नही है।[1] देहादि सहत आत्मा, अध्यस्त आत्मा, अपर आत्मा वह आत्मा नही है जिसे उपनिषदो के ऋषि अपने अन्दर खोजते है। यह तो क्षुद्र आत्मा है जिसके सबध में अस्तिमान् को ब्रह्मविद् छोडते है। 'मै यह शरीर नहीं', 'इन्द्रिय नहीं', 'मन नहीं', 'भूत-समुदाय नहीं', जब यह ब्रह्मवादी कहते है तो वे यही तो कहते है कि शरीर आत्मा नहीं, इन्द्रिय आत्मा नहीं, भूत-समुदाय आत्मा नही। एक दूसरे वर्गीकरण का प्रयोग कर बुद्ध ने केवल कह दिया है 'रूप आत्मा नहीं', 'वेदना आत्मा नहीं', 'सज्ञा आत्मा नहीं', 'सस्कार आत्मा नहीं', 'विज्ञान आत्मा नहीं', चक्षु आत्मा नही, आदि। उपनिपदो का इस प्रकार कहना कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त 'अहं' प्रत्यय आत्मा के लिए है। यह तो उस पक्षी के लिए है, जो फल को खाता है। उसको वास्तविक आत्मा (अत्ता) मत समझो, यह उपनिषदो का कहना है और यही प्रकारान्तर से सम्यक् सम्बुद्ध का है। तो फिर उपनिषदो का आत्मा कौन-सा है जिसे ब्रह्मवादी खोजते है ? वह है साक्षी आत्मा। तत्साक्षित्वेन प्रयुक्तत्वात्।[2] उपनिषदो का आत्मा साक्षी आत्मा है, सर्व भूतस्थ, सम, एक, कुटस्थ अनिर्देश्य, अनिर्वचनीय, हेयोपादेय रहित, सर्वातीत, निर्विकल्प, अनुभव से अतीत, कर्मफल के उपभोग से बिलकुल असबधित! यह ऐसा पक्षी है, जो फल नही खाता, यद्यपि रहता उसी डाल पर है जिस पर पहला पक्षी। ऐसे आत्मा के सबध में तथागत ने क्या कहा है ? 'नैतद बुद्धेन भाषितम्'। क्यो ? "क्योकि भिक्षुओ! इसी शरीर में तथागत (आत्मा) अननुवेद्य (अज्ञेय) है—यह कहता हूँ।"[3] जो न सत् है और न असत्, और न दोनो से व्यतिरिक्त, जो सर्वथा अनिर्वचनीय है, उसे व्यवहार-वाणी, जो केवल 'है' या 'नही है' प्रकट कर सकती है, किस प्रकार अभिव्यक्त करेगी ? "कात्यायन! यह ससार द्वैत पर आश्रय लेने का

---

(१) नन्वात्मा अहप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न। तत्साक्षित्वेन प्रयुक्तत्वात् ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य १।१।४

(२) ब्रह्मसूत्र-शाकर भाष्य १।१।४

(३) अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)

अभ्यस्त है—'यह है' इस पर और 'यह नही है' इस पर। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष इस ससार की वस्तुओ की उत्पत्ति के निमान को ज्ञान और दर्शन पूर्वक समझता है उसके लिए न तो है 'यह है' और न है 'यह नही है'"[1]। वह लौकिक निरुक्तियो में नहीं पड़ता। जो वाणी से प्रकट करने योग्य नहीं उसे वाणी से प्रकट करने की गलती नही करता। किसी भी विषय पर बुद्ध के मन्तव्य को जानने के लिए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि भगवान् ने सत्ता सबधी प्रश्नो को विभिन्न कोटियो में परिभ्रमण करने की अनुमति साधको को नही दी है। वे स्वय भी सब मतवादो से ऊपर थे। उनके नाम के साथ यदि हम किसी वाद का सबध किसी अर्थ में जोड सकते है तो वह 'विभज्जवाद' (विभज्यवाद) ही है और इसका तात्पर्य यह है कि तथागत किसी वस्तु के संबध मे एकाश रूप से 'ह' या 'न' नही कहते, अच्छा या बुरा नही कहते।[2] एक तटस्थ सत्य-गवेपी की तरह वे विश्लेपण करते है और सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहते है। सत् को असत् कहना या असत् को सत् कहना तथागत का काम नही था। उन्होने स्वय कहा है "भिक्षुओ! जिसे ससार के विज्ञ पुरुष 'असत्' कहते है उसे मैं भी 'असत्' सिखाता हूँ। और भिक्षुओ! जिसे ससार मे विज्ञ पुरुष 'सत्' पहचानते है, उसे मैं भी 'सत्' सिखाता हूँ[3]।" भगवान् बुद्ध का यह वचन ही एक अन्य भारतीय तत्त्वदर्शी (कृष्ण) के मुख से भी निकला था, "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।" यह तत्त्वदर्शियो का एक सामान्य अनुभूत सिद्धान्त है जिसके तथागत किसी प्रकार अपवाद नही थे।

बुद्ध का एक भी वचन सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक में इस निर्विशेष अर्थ का उद्धृत नही किया जा सकता कि 'आत्मा नही है'। जहा उन्होने अनात्मा कहा है,

---

(१) संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७ (महास्थविर ज्ञानातिलोक का अंग्रेजी अनुवाद), अनागारिक बी० गोविन्द : दि साइकोलोजीकल एटीटयूड ऑव दि अर्ली बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ १०६ में उद्धृत।

(२) तथागत विभज्यवादी है, एकांशवादी नहीं, इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये सुभ-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।९)

(३) संयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १३८ (महास्थविर ज्ञानातिलोक का अंग्रेजी अनुवाद), अनागारिक बी० गोविन्द : दि साइकोलोजीकल एटीटयूड ऑव दि अर्ली बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ १४

वहाँ पञ्च स्कन्धो की अपेक्षा से ही कहा है, बारह आयतनो और अठारह धातुओ के क्षेत्र को लेकर ही कहा है। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण अनुभूत जगत् में अत्ता नही मिलता। तथागत ने सिर्फ इतना ही कहा है और बाह्य और आन्तरिक धर्मों में आसक्ति हटा कर सत्य का साक्षात्कार करने के लिये, जो स्वय अनक्षर है, शब्द रहित है, व्यवहार-वाणी का विषय नही है। इसीलिये तथागत का इस पर मौन है। जब भगवान् 'अनात्मा' कहते है तो वे साधक को आत्मा सम्बन्धी उन सभी मिथ्या दृष्टियो से विमुक्त करना चाहते है जिनका विवरण हम 'प्राग्बौद्धकालीन भारतीय दर्शन की अवस्था' के विवेचन में पहले दे चुके हैं। न भगवान् यह चाहते है कि मनुष्य यह सोचे कि कहीं मै मृत्यु के बाद विनष्ट तो नही हो जाऊँगा। और न वे यह चाहते है कि मनुष्य यह सोचे कि मैं सदा बना रहूँगा। यदि वह यह सोचेगा कि मै नही रहूँगा तो यह तो स्वय भगवान् के शब्दो में आन्तरिक अशनि-त्रास होगा, ऐसा होगा जैसे हृदय पर बिजली गिर पडी। "अहो! मै उच्छिन्न हो जाऊँगा। अहो! मै नष्ट हो जाऊँगा! हाय! मै नही रहूँगा" इस प्रकार अज्ञ पुरुष शोक करता है, मूर्छित होता है। यह बिजली गिरने का भय है, अशनि-त्रास है'[1]। भगवान्, जो भय से त्राण के लिये उपदेश करते है, इस प्रकार स्वय साधको के हृदय पर वज्रपात नही कर सकते। दूसरी ओर अज्ञ मनुष्य सोचता है 'मर कर मै तो नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार होऊँगा और अनन्त वर्षों तक वैसे ही स्थित रहूँगा।" यह अस्तित्व मे उसकी आसक्ति को बढाता है। यही ध्रुव आत्मवाद है जिसका कारुणिक शास्ता ने निषेध किया है, क्योकि उन्होने तृष्णा के उदय से दुःख का उदय देखा था, फिर चाहे वह तृष्णा आत्मा की ही क्यो न हो? मै अतीत काल में था, या नही था, या क्या था? मै क्या हूँ, मै क्या नही हूँ, मै कहा से आया हूँ, कहा जाऊँगा? मेरे आत्मा है? या नही है? आत्मा ही क्या अनात्मा है? अनात्मा ही क्या आत्मा है, क्या मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत है या अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत? इन सब प्रश्नो को तो भगवान् ने 'अमनसिकरणीय' धर्म कहा है[2], इन पर विचार करने को मना किया है क्योकि ये निष्प्रयोजन हैं, मन के आयास मात्र है, ये ज्ञान, सम्बोध, उपशम और निर्वाण की ओर ले जाने वाले नही है। इन्हे भगवान् ने चित्त के मल भी कहा है[3]।

---

(१) अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)
(२,३) सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२)

भगवान् ने न भव-तृष्णा (शाश्वत आत्मवाद) का उपदेश दिया है और न विभव-तृष्णा (उच्छेदवाद) का। जो उन्हे गलती से शाश्वतवादी मान बैठते हैं, वे आत्मवाद-उपादान में फँस जाते है, अह की आसक्ति में बँध जाते है, और जो विभव को माननेवाले उच्छेदवादी उन्हे मान बैठते है, वे जीवन से तग आकर उसके उच्छेद की सोचने लगते है। दोनो ही गलत मार्ग है। जो केवल मध्यमा प्रतिपदा को देखने वाले है, वे ही वास्तव मे सम्यक्दर्शी हैं, उन्होने ही तथागत के मन्तव्य को समझा है और वे दु ख प्रहाण के लिये पुरुषार्थ में लगते है[1]। भगवान् ने पूर्ण स्पष्टता के साथ कहा है, "मैं हूँ" यह गलत विचार है, "मै नही हूँ" यह गलत विचार है, "मै हूँगा" यह गलत विचार है, "मै नही हूँगा" यह गलत विचार है। ये गलत विचार है, रोग है, फोडे है, काँटे है। परन्तु जब भिक्षु सारे गलत विचारो पर काबू कर लेता है, उनका अतिक्रमण कर देता है तो वह शान्त मुनि कहलाता है। शान्त मुनि जन्म-जरा-मरण को प्राप्त नही होता, वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, वह कम्पित नही होता, स्पृहा नही करता[2]।" जब 'मै हूँ' और "मै नही हूँ" दोनो को भगवान् मिथ्या विचार

---

(१) मिलाइये, "भिक्षुओ ! दो मिथ्या धारणाओ में पडे देवता और मनुष्यो में कोई चिपट जाते है, (ओलियन्ति), कोई-कोई अधिक दौड लगा जाते हैं (अति धावन्ति) और केवल कोई-कोई आखवाले ही देखते है। भिक्षुओ! कैसे कोई-कोई चिपट जाते है ? भिक्षुओ! कोई-कोई देवता और मनुष्य भव में रमनेवाले है, भव में रत है, भव में प्रसन्न है। भवनिरोध का उपदेश देते समय उनका चित्त नहीं लगता, नहीं प्रसन्न होता। भिक्षुओ ! कोई-कोई अधिक दौड लगाते है। वे भव से ही घृणा, लज्जा और जुगुप्सा करते हुए विभव (उच्छेद) चाहते है। वे कहते है यह आत्मा शरीर छूटने पर उच्छिन्न हो जाता है, विनष्ट हो जाता है, नहीं रहता है, यही शान्त है, यही उत्तम है, यही यथार्थ है। भिक्षुओ ! यहा कोई ही कोई 'सम्यग्दर्शी' आखवाले देखते है। यहा भिक्षु भूत(पञ्चस्कन्ध)को भूत के तौर पर देखता है, भूत को भूत के तौर पर देखकर निर्वेद, विराग और निरोध के लिये मार्ग के अभ्यास में लग जाता है। भिक्षुओ ! इस प्रकार आखवाले देखते है।" दिट्ठिगत-सुत्त (इतिवुत्तक)

(२) धातु विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०)

कहते है, उन्हे रोग, फोडा और शल्य बतलाते है, तो फिर इनमें से एक में फँसाने का उनका किस प्रकार उद्देश्य हो सकता है ? उन्होने तो यदि शाश्वतवाद को मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त कहा है तो साथ ही उच्छेदवाद की उससे अधिक कडे शब्दो में निन्दा की है[1]। यह तो ठीक है, पर फिर भी अनात्मवाद का निषेधात्मक रूप से वर्णन क्यो है ?

इसे तो उपनिषद् के उदाहरण से ही समझाना ठीक होगा। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मतत्त्व का रहस्य समझाते हुए बृहदारण्यक उपनिषद में कहते है, "जिस प्रकार नमक की डली पानी में डाल देने पर घुल जाती है और फिर निकाली नही जा सकती। वह सम्पूर्ण जल को लवणरसमय कर देती है, और जहा भी जल को निकालें वही लवणरसमय निकलता है। इसी प्रकार यह आत्मा, जो अनन्त, असीम, पूर्ण, प्रज्ञान घन है, वह भूतो से उठकर इन भूतो में ही विनष्ट हो जाता है। मर कर (प्रेत्य) संज्ञा नही है, यह मै कहता हूँ।" मैत्रेयी को स्वय भयभीत होना ही था, जिस प्रकार हम सब इससे भयभीत हो जायेंगे। "भगवान् ने मुझे मोह मे डाल दिया। मै इसे नही समझ सकी।" याज्ञवल्क्य आगे समझाते है, "अरे! मै मोह की बात नही कहता। अविनाशी है अरे यह आत्मा। उच्छिन्न न होने वाला है यह आत्मा। जहा द्वैत हो वहा एक दूसरे को सूघता, चखता, बोलता, सुनता, मनन करता, छूता, विजानन करता है। लेकिन जहा कि सब उसका आत्मा ही है, वहा किससे किसको देखे ? किससे किसको विजानन करे ?' सो यह 'नेति नेति' आत्मा अगृह्य है, असग है। मैत्रेयी! यह जो स्वय सब का ज्ञाता है, इसे किससे जाना जाय ? यह मैत्रेयी! तुम्हे अनुशासना कर दी गई। अरे! इतना ही अमृतत्त्व है'। यह कह कर याज्ञवल्क्य चल दिये।" याज्ञवल्क्य यह नही कहना चाहते कि आत्मा उच्छिन्न होने वाला है, किन्तु उन्हें कहना पडता है 'मरने के बाद सज्ञा नही है।' भाषा की यह माग है, अद्वैत की यह माग है। भाषा द्वैतमयी है, विचार द्वैतमय है। वे अद्वैत को प्रकट नही कर सकते, परम सत्य का निर्देश नही कर सकते। इसीलिये 'न' कहना पडता है, 'नेति नेति' कहना पडता है। जहा याज्ञवल्क्य चल देते है, वही से बुद्ध प्रारम्भ करते है, यह हमें समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त उद्धरण उपनिषदो के आत्म-ज्ञान का अन्तिम प्रगति-चिन्ह है और वही

(१) देखिये आगे 'क्या तथागत उच्छेदवादी है ?' इस सम्बन्धी विवेचन। देखिये आगे पाचवें अध्याय में बौद्ध और नास्तिक दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन भी।

है बुद्ध-दर्शन का प्रस्थान-बिन्दु। जहा उपनिषदो का दर्शन समाप्त होता है वही से बुद्ध-दर्शन का आरम्भ है। इसी कारण बुद्ध-मन्तव्य समझने में अत्यन्त कठिन और अपनी तात्त्विक गम्भीरता में तथागत के समान ही अननुमेय है। यदि इतना हम समझ सकें तो परम सत्ता के सम्बन्ध में तथागत के मौन को हम भली प्रकार समझ सकते हैं और उनके 'अनात्मवाद' को भी।

साधन-पक्ष मे औपनिषद मन्तव्य के साथ अनात्मवाद की एकता किन्तु अतीव सत्य के सम्बन्ध में 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' की कठिनाई और वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य को खोज निकालने में सभी प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का विमोह

भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अनातमवाद का स्वरूप मुख्यत साधनात्मक है, यह हम पहले काफी स्पष्ट कर चुके हैं। वह निर्वेद और विराग के लिये है, अनासक्ति और इन्द्रिय-सयम के लिये है। उससे बोध, उपशम और निर्वाण की प्राप्ति होती है। जिन्होंने इसे इस प्रकार समझा उन्होंने मुक्ति पाई, वे पार हो गये। बाकी लोग, जिनके पल्ले बौद्धिक विवेचन और सिद्धान्तवाद पडा, वे नाव बनाते ही रह गये, ऐसा हम कह सकते हैं। अनातमवाद प्रधानत सिद्धान्त न होकर कुशल, स्वस्तिक, क्षेम मार्ग है। रूप, वेदना और विज्ञानो में निर्वेद प्राप्त किये बिना आज तक किसने शान्ति पाई है? 'अनातमवाद'—'अहवाद' के सयोजन को तो छोडना ही पडेगा? मनुष्य सब जगह से प्रेम काटकर, आसक्ति हटा कर, अन्त में 'अपने' से तो प्रेम काटना नही चाहता। काटे कैसे, अपने को प्रियतम भी तो समझता है। तृष्णा का अन्तिम निवेशन तो यह 'मैं' ही है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, इस 'मैं' के दो स्तर हैं। एक अल्प, तुच्छ स्तर है, जो साधारण व्यवहारावस्था से सम्बन्धित है। दूसरा पारमार्थिक स्तर है, जिसके सम्बन्ध में हम विराट् सूत्रात्मा जैसी बात कहते हैं। एक का सम्बन्ध साधारण अनुभव-जगत् से है और दूसरा है अतीत सत्य-विषयक। वेदान्त अनुभव-जगत् सम्बन्धी 'अह' को अह-कार या अनात्मा कह कर पुकारता है। शकर के ब्रह्मसूत्र-भाष्य के उपोद्घात में सभी वस्तुओ और आन्तरिक क्रियाओ में 'अह' की प्रतीति अज्ञान के फलस्वरूप दिखाई गई है। इसी प्रकार जिन्हे अध्यासवाद मान्य नही है, वे भी दर्शन सामान्यतः द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध-विच्छेद से ही 'नास्मि, न मे, नाहम्' के रूप में अथवा किन्हीं अन्य शब्दों का प्रयोग कर मनुष्य को बाह्य और आन्तरिक बन्धनो से विमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टि से देखने पर 'अनातमवाद' समझा जा

सकता है। उपनिषदो का 'आत्मा' अतीत है, उसका उस 'आत्मवाद-उपादान' से कोई सम्बन्ध नही, जिसको भगवान् तथागत ने सभी अकुशल कर्मों का मूल बताया है। तथागत ने अपने को वही तक सीमित रक्खा है, जहाँ तक मनुष्य मुक्ति-मार्ग की अन्तिम सीमा तक जाता है। जब वहाँ तक पहुँच जाता है तो तथागत जामिनी से बरी हो जाते है। वह स्वय अपने अन्दर उस सत्य को साक्षात्कार करता है जिसे शब्दो में नही रक्खा जा सकता। सिद्धान्तों का निरूपण आचार्यों का काम होता है, 'बुद्धों' का काम नही। 'बुद्ध' न धर्म चलाते है, न दर्शन कायम करते है। वे मार्ग बताते हैं, अभ्यास का शासन करते है। अत. अनात्मवाद एक शासन है। जीवन का एक पूर्ण शासन। इस पर आचरण करने से यदि तृष्णा कम हो, विशुद्धि, बढे, चित्त में प्रसन्नता हो, तो समझना चाहिए कि ठीक समझा है, किन्तु यदि ऐसा न हो तो तथागत का शासन ठीक नही समझा गया। 'अनात्मा' को बुद्ध ने प्रख्यापित किया। किन्तु परम अतीत सत्य के विषय में उन्होंने मौन ही रक्खा। उनके मौन की अनेक व्याख्याएँ की गई है, किन्तु वे सब विमोह की ही सूचक है। तथागत के मार्ग पर तो चलने वाले के लिए उस प्रकार का कुतूहल भी एक मयोजन है। किन्तु फिर भी मनुष्य की बुद्धि नही मानती और वह गवेषणा किए बिना नही रहता। प्रथम प्रतिभाशाली आचार्य जिन्होंने 'अनात्मवाद' की व्याख्या की है, भदन्त नागसेन है। अनेक प्रश्नोत्तरो, उपमाओ और युक्तियो से भदन्त नागसेन ने अपने ग्रन्थ 'मिलिन्दपञ्हो' के प्रारम्भ में ही अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है, जिसके जाने बिना कोई भी आज 'अनात्मवाद' के सिद्धान्त को समझने की बात नही कह सकता। सच बात तो यह है कि इस ग्रन्थ ने एक प्रकार से त्रिपिटक का ही महत्त्व ले लिया है और सम्भवत स्थविरवादी बौद्धो में भी 'अनात्मवाद' की निषेधात्मक व्याख्या के इतने व्यापक प्रचार के लिए मुख्यत यही ग्रन्थ उत्तरदायी है। त्रिपिटक का साक्ष्य तो एक विशेष प्रकार का ही है, यह हम पहले देख चुके है।

भदन्त नागसेन के द्वारा की गई व्याख्या को ठीक रूप से व्याख्यात करने के लिए सिवा उनके सवाद को देने के और कोई गति नही है। कुछ

भदन्त नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या

लम्बा होने पर भी रोचक होगा, ऐसा हम कह सकते है। 'भद्र! आप किस नाम से पुकारे जाते हैं, आपका नाम क्या है?' ग्रीक राजा मिनाडर ने भदन्त नागसेन से पूछा।

'महाराज ! मैं नागसेन के नाम से पुकारा जाता हूँ। मुझे भिक्षु यही कह कर बुलाते हैं। माता पिता अपने बच्चो के इस प्रकार के नाम रखते है जैसे नागसेन, सूरसेन आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए हैं। तात्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति उपलब्ध नही होता। 'न हेत्य पुग्गलो उपलब्भतीति'।

'भद्र नागसेन ! यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नही, तो आपको आपकी आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है ? उन वस्तुओ का उपभोग कौन करता है ? पुण्य कौन करता है ? ध्यान कौन लगाता है ? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है ?. .. .. भले बुरे कर्मों का फिर कोई कर्ता ही नही ? आपका कोई गुरु ही नही ? आप दीक्षित भी नही ? आप कहते है आपको लोग नागसेन के नाम से पुकारते हैं। नागसेन क्या है ? 'क्या केश नागसेन है ?'

'केश किस प्रकार नागसेन हो सकते है ?'

'तो क्या फिर नख, दाँत, चमडी, मास, शरीर नागसेन है ?'

'राजन् ! ये भी नही !'

'तो क्या फिर इन पाँच स्कन्धो का सयोग नागसेन है ?'

'नही राजन् !'

'तो क्या फिर इनसे कोई पृथक् चीज है ? (किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूप वेदना सञ्ञा सखार विञ्ञाण नागसेनोति)

'नही महाराज'   'नहि महाराजाति'

उपमा देकर समझाते है—

'क्या रथ के बास रथ है ?'

'क्या धुरा, चक्र, रस्से, जुआ, पहियो के डण्डे . ...

'तो क्या रथ इन सब से अलग वस्तु है ?'

'नही भन्ते !'

'तो फिर रथ क्या है ?' 'को पनेत्थ रथो' (रथ के बास, पहिए, रथ का ढांचा, पहियो के डण्डे, हांकने की लकडी ....इन भिन्न भिन्न भागो पर रथ का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिए है 'रथेति सखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्त पवत्तीति'

'महाराज !' यही हालत व्यक्ति की है। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान, इन पाँचो स्कन्धो पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। नागसेन शब्द केवल व्यव-

हार मात्र है, यथार्थ में नागसेन नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नही है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नही होती 'परमत्यतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति'।

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने 'अनात्मवाद' की व्याख्या की है। उन्होने अनात्मवाद को पुद्गल नैरात्म्य के रूप में दिखाया है। 'परमत्यतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति'।'इस प्रकार उन्होने निपेधात्मक दिशा में अपना निर्णय दे दिया है। हम नही कह सकते कि कहाँ तक भदन्त नागसेन तथागत के मत के अनुकूल गए है, किन्तु यह निश्चित है कि जिस निपेधात्मक दिशा का उन्होने प्रवर्तन किया उसे स्थविरवाद परम्परा से वाहर के उत्तरकालिक बौद्ध विचारको ने और अधिक वढाया। इस प्रकार पुद्गल नैरात्म्य से आगे वढ़कर धर्म-नैरात्म्य का सिद्धान्त आया, जिसके सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नही कहना है। चाहे विधानात्मक व्याख्या करें चाहे निषेधात्मक, शास्ता का तो यह मन्तव्य पूरा होना चाहिए कि ये दिन-प्रति-दिन के वन्धन कटें, कामना से पीछा छूटे, आसक्ति से पल्ला छूटे, सभी दैवी और मानवीय बन्धनो से विमुक्ति हो। यदि अनात्मवाद की भावना से ये कुछ भी प्राप्त हो गये 'तो भी इतने से वहुत कर लिया।' यही शास्ता का शासन है।

भगवान् बुद्ध के यदि कही दर्शन हो सकते है तो वोधि पक्षीय धर्मों की भावना में ही। अन्य कही हम उन्हे पा नही सकते। कम से कम दार्शनिक नयो और सिद्धान्तो में तो हमें तथागत नही मिलते। नागसेन वडे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इसलिए कह गए कि परमार्थ में पुद्गल की उपलब्धि कही नही होती, किन्तु यदि तथागत आकर उनसे पूछते, जैसा कि उन्होने सारिपुत्र से पूछा था (तथागत की सम्यक् सम्बोधि के विषय को लेकर—महापरिनिव्वाण सुत्त में—उसी के आधार पर यहा लेखक ऐसी कल्पना कर रहा है) 'नागसेन! तुमने यह वडी उदार वाणी कही) बिलकुल सिंहनाद किया। क्या जितना भी भूत का रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान है, उस सबको तुमने चित्त से जान लिया है कि यह रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान इस स्वभाव वाला है, इस उद्गम, सघात और निस्सरणवाला है। नागसेन। क्या, रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान से वाहर का जो है, उसको भी तुमने अपनी प्रज्ञा से देख लिया है कि यह रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान से वाहर का इस उद्गम, सघात और निस्सरण वाला है (यदि वहाँ ये हो)। इसी प्रकार सब वर्तमान के प.चो स्कन्धो से वाहर और भीतर के तथा भविष्य के भी प.चो स्कन्धो के भीतर और वाहर के क्षेत्र को लेकर यदि तथागत इसी प्रकार पूछ सकते, तो हम जानते है कि सारिपुत्र

की ही तरह सहमकर नागसेन या तो कुछ जवाब नहीं दे सकते, चुप हो जाते, या कहते 'नही भन्ते'। 'तो नागसेन ! ऐसा सिहनाद क्यो—'परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति[1]।' यदि कहो कि बुद्ध-वचन के आधार पर तो कालामो के प्रति भगवान् की वाणी को स्मरण करना चाहिये। गति यह है कहा ? यह बुद्ध-शासन है। यदि 'अस्ति' मे तुम नही जाते, तो 'नास्ति' मे भी तुम नही जा सकते ? सिवाय इन्द्रियो, उनके विपयो, विज्ञानो और वेदनाओ आदि में अनासक्त रहने के और दृष्ट रूप पञ्चस्कन्धो मे 'अनात्म' भाव कर विहरने के, बुद्ध के मन में हम प्रवेश नहीं कर सकते। वहा हमारे नागसेन, नागार्जुन, शकर और धर्मकीर्ति सभी वालक है। इसीलिए तथागत ने नही वताया। जो जो वातें तथागत ने वे-कही हुई छोडी और जिस कारण से छोडी वह इस बुद्ध-वचन से स्पष्ट होता है 'भिक्षुओ ! ससार शाश्वत है' ऐसा मत रहने पर भी, 'ससार अशाश्वत है', ऐसा मत रहने पर भी, 'ससार सान्त है' ऐसा मत रहने पर भी, 'ससार अनन्त है' ऐसा मत रहने पर भी, 'जीव वही है जो शरीर है, ऐसा मत रहने पर भी अथवा 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है' ऐसा मत रहने पर भी 'मृत्यु के वाद तथागत रहते है' ऐसा मत रहने पर भी, 'मृत्यु के वाद तथागत नही रहते है' ऐसा मत रहने पर भी, 'मृत्यु के वाद तथागत होते भी है, नही भी होते,' ऐसा मत रहने पर भी, 'मरने के वाद तथागत न होते है, न नही होते है,' ऐसा मत रहने पर भी—जन्म, वुढापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो हर हालत मे है ही, और मै इसी जन्म मे—जीते जी—इन्ही सव के नाश का उपदेश देता हूँ'[2]। उपर्युक्त दस वातें भगवान् ने व्याकृत नही की है, व्याख्यान नही की है। वे अव्याकृत वस्तुएँ है'[3]। भगवान् का स्पष्ट अभि-

---

(१) 'किं पन भन्ते ! अञ्ञत्र रूप वेदना सञ्ञासंखार विञ्ञाण नागसेनोति' 'नहि महाराजाति'। भदन्त नागसेन का यह कहना साधिकार नहीं है; भिक्षुणी वज्रा के भी शब्दो में यह अस्पष्ट ध्वनि भी नहीं, तथा इसके विरुद्ध अन्य प्रमाण है' देखिए आगे 'निर्वाण' का विवेचन। 'हा' या 'ना' कहने का वाद-विवाद उठाना ही बुद्ध-मन्तव्य से दूर चला जाना है।

(२) संयुत्त० २१।५

(३) दस अव्याकृत वस्तुओ के लिए देखिए, चूल मालुङक्य सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।३); अग्गि वच्छगोत्त सुत्तन्त (मज्झिम० २।३२) पासादिक सुत्त (दीघ० ३।६) पोट्ठपाद सुत्त (दीघ० १।९) मिलिन्द पञ्हो

प्राय है कि वे न चित्त की शान्ति के लिए हैं, न विमुक्ति के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न उपशम के लिए, न निर्वाण के लिए । फिर तथागत को व्यर्थ बोलने से क्या प्रयोजन है ? निश्चय ही मिलिन्दप्रश्नकार तथागत के मन्तव्य के अनुकूल ही कहते हैं, 'नेतस्स दीपनाय हेतु वा कारण वा अत्थि, तस्मा सो पञ्हो ठपनीयो । नत्थि भगवन्तान बुद्धान अकारणमहेतुक गिरमुदीरणति' । मालुक्य-पुत्त आकर भगवान् से पूछता है कि मुझे परम तत्त्व का उपदेश करो, अतीत वस्तु को बतलाओ, मै उसको जाने बिना आपके धर्म का अनुसरण नही कर सकता । आप यह बात क्यो नही बतलाते ? मुझे ठीक -ठीक बताओ कि (१) ससार शाश्वत है या (२) अशाश्वत , (३) सान्त है या (४) अनन्त ? (५) जीव वही है जो शरीर या (६) जीव दूसरा है ? (७) मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या (८) मृत्यु के बाद तथागत नही रहते ? (९) क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं, नही भी होते हैं, (१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नही होते हैं । बेचारा बार बार पूछता है किन्तु मौन के सिवाय तथागत से कुछ पाता नही । सो क्यो ? 'भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि मै तथागत के उपदेश पर तब तक नही चलूगा, जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता देगे कि ससार शाश्वत है या अशाश्वत, ससार सान्त है या अनन्त तो भिक्षुओ !

(मेण्डक पञ्हो) । महायान बौद्ध धर्म में अव्याकृत वस्तुओ की सख्या १० से बढ़ा कर चौदह कर दी गई है । लोक की नित्यता-अनित्यता और अनन्तता-सान्तता की समस्या को यहा चार प्रकार से न रख कर आठ प्रकार से रक्खा गया है । इस प्रकार सख्या चौदह हो गई है । इस प्रकार महायान बौद्ध धर्म के अनुसार १४ अव्याकृत वस्तुएँ, जिनका विस्तृत विश्लेषण आचार्य नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने किया है, ये है (१) क्या लोक शाश्वत है ? (२) क्या लोक अशाश्वत है ? (३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है (४) न शाश्वत न अशाश्वत ? (५) क्या लोक सान्त है ? (६) अनन्त ? (७) सान्त और अनन्त ? (८) न सान्त, न अनन्त ? (९) तथागत मरने के बाद रहते हैं ? (१०) नहीं रहते ? (११) रहते भी और नहीं भी रहते ? (१२) न रहते है और नहीं रहते है ? (१३) जीव और शरीर एक है ? (१४) भिन्न हैं ? देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १३३

ये बातें तो तथागत के द्वारा वे कही ही रहेगी और वह मनुष्य यो ही मर जायगा।' जब हृदय में बुझा हुआ तीर लगा है तो 'महाभिषक्' से उसे निकलवाना चाहिए न कि इस पर आग्रह करना चाहिए 'मैं तब तक तीर न निकलवाऊँगा जब तक कि यह न जान लू कि जिस आदमी ने तीर मारा है, उसका नाम क्या है, गोत्र क्या है, वह लम्बा है कि छोटा है अथवा कि मँझले कद का ? तथागत को इन प्रश्नो की अपेक्षा नही है। वे कारुणिक शास्ता है, किन्तु उन्ही के लिए जो उनके विशुद्धि-मार्ग पर चलने का प्रयत्न करेंगे। जो अपने कुतूहल की ही शान्ति चाहते है, वे अपने प्रश्नो के तो उत्तर पायेंगे ही नही, किन्तु पाएँगे 'मरण या मरणान्त दुःख को'। 'ससार शाश्वत है या अशाश्वत' आदि प्रश्नो की व्याख्या में यदि तथागत लग जाते तो इन तीन में से एक अवश्य होते, शाश्वतवादी, अशाश्वतवादी अथवा उच्छेदवादी। तथागत इनमें से एक भी नही है। वे सभी निरुक्तियो से, सभी लौकिक व्यवहारो से, परे है 'अनुपादा विमुत्ता भिक्खवे तथागता'। चूल-मालुक्यपुत्त के चले जाने के बाद आनन्द ने भगवान् से पूछा कि भन्ते ! आपने मालुक्यपुत्त के प्रश्नो का उत्तर क्यो नही दिया, वह निराश होकर चला गया। भगवान् ने अपने चिर-उपस्थाक को बतलाया कि (मेरे उपदेश में कोई 'आचार्य मुष्टि' जैसी चीज नही है, किन्तु) आनन्द ! यदि मैं उसको किसी भी प्रकार उत्तर देता तो इन श्रमण-ब्राह्मणो के ही शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, उच्छेदवाद को उपदेश करता, किन्तु ये तो हीन कोटियाँ है, हीन, ग्राम्य और पृथग्जनो के योग्य। इसलिए तथागत ने व्याकृत नही किया। जो आत्मा की शाश्वतता को लेकर ही फूले रहते हैं, वे तथागत के अनुसार अज्ञान ही अज्ञान मे (अन्धन्तम..... ये विद्याया रता। विमुक्ति प्रशसा मन्दानाम् साख्यसूत्र) है, जो कहते है कि आत्मा शरीर के बाद उच्छिन्न हो जाता है, वे तथागत के उपदेश को मूलत ही उच्छिन्न कर देते है, उसे निःशेष रूप से काट डालते है[1]। उसकी कोई उपयोगिता ही नही छोडते; जो अशाश्वत आत्मा को बतलाते है वे भी उच्छेदवादियो की ही श्रेणी में आते है। तथागत ने यह सब देख लिया है, इसलिए वे इससे परे है। उनके धर्म रूपी श्रेष्ठ जाल मे सभी सत्ता सम्बन्धी मिथ्या दृष्टियाँ पकड ली जाती है। तथागत के मन्तव्य को समझ लेने के बाद इस प्रकार प्रश्नो के लिए

(१) देखिये अलगद्दूपम सुत्त, (मज्झिम० १।३।२) तथा आगे 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध उच्छेदवादी है।' इस पर विवेचन भी।

हृदय में आने का कोई स्थान ही नही होना चाहिए। किन्तु तत्त्व का समीक्षक पूछ सकता है कि सम्भवत कही ऐसा तो न था कि तथागत को ही इन सब बातो का ज्ञान न था, इसलिए उन्होने नही बताया, या उपनिषदो के अर्थ में आत्मा का विवेचन न किया हो। निश्चय ही सन्देह करनेवाला कह सकता है कि तथागत ने पाँच स्कन्धो अर्थात् रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान से बाहर और अतीत कुछ नही देखा, अत वे या तो रहस्यवादी थे या अविज्ञेयतावादी। निश्चय ही डाक्टर कीथ ने उन्हे अविज्ञेयतावादी बताया भी है[1]। किन्तु तथागत को हम अविज्ञेयतावादी कभी नही मान सकते, जब कि उनके ये स्पष्ट प्रभावशाली शब्द है 'अभिञ्ञायाह भिक्खवे धम्म देसेमि नो अनभिञ्ञायाति' "भिक्षुओ ! मै जान कर ही उपदेश देता हूँ, बिना जाने नही।" सम्यक् सम्बुद्ध के ये शब्द समग्र विश्व के विचार मण्डल की उच्चतम कोटि है। जो कुछ भगवान् ने कहा है जानकर और साक्षात्कार कर ही कहा है 'ञात्वा सच्छिकत्वा' ! ऐसे तथागत को अविज्ञेयतावादी कहना ठीक नही है। आनन्द जैसे चिर-उपस्थाक भी, सारिपुत्र जैसे साधक भी, उनकी थाह नही लगा सके और न तथागत को अपेक्षा थी उनके मुख से अपने विषय में कोई उदारवाणी सुनने की ही 'भन्ते ! मुझे ऐसा विश्वास है' सबोधि मे भगवानें से बढकर, भूयस्तर कोई श्रमण या ब्राह्मण न हुआ न होगा और न इस समय है'। 'सारिपुत्र तूने बडी उदार वाणी कही, बिलकुल सिंहनाद किया। सारिपुत्र ! जो वे अतीत काल में अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हुए, क्या तूने उन सब भगवानो को अपने चित्त से जान लिया कि वे भगवान् ऐसे शीलवाले, ऐसी प्रज्ञा वाले, ऐसे विहारवाले, ऐसी विमुक्तिवाले थे ?"

"नही, भन्ते !"

---

(१) कीथ कहते हैं—'It is quite legitimate to hold that the Buddha was a genuine agnostic, that he had studied the various systems of ideas prevalent in his day without deriving any greater satisfaction from them than any of us today from the study of modern systems, *that he had no measured or other conviction on the matter*' बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ ६३; इस विषय में कीथ ने तथागत के मन्तव्य के पल्ले को भी नहीं छुआ।

"सारिपुत्र ! जो वे भविष्यकाल में अर्हत् सम्यक् सम्वुद्ध होंगे, क्या उन सव भगवानो को तूने चित्त से जान लिया ?"

'नही भन्ते !'

"सारिपुत्र ! इस समय में अर्हत् सम्यक् संवुद्ध हूँ। क्या तू चित्त से जानता है कि मै ऐसे शील वाला, ऐसी प्रज्ञावाला, ऐसे विहारवाला, ऐसी विमुक्ति वाला हूँ ?"

'नही भन्ते !'

'.. ..तो सारिपुत्र ! तूने क्यो यह वडी आर्षभी वाणी कही, क्यो यह विलकुल सिंहनाद किया ? 'किञ्च हि ते अय सारिपुत्त उलारा आसभी वाचा भासिता एकसो गहितो सीहनादो नदितो'

श्रद्धालु सारिपुत्र फिर भी कुछ दवी ज़वान से सिंहनाद करते ही गए। शास्ता ने कोई उत्तर नही दिया। जितने शिंशपा के पत्ते भगवान् ने हमे दिखाए हैं, उतने से ही हमें यह आश्वासन करना चाहिए कि ये हमारी अभिज्ञा के लिए, ज्ञान के लिए, उपशम के लिए, और निर्वाण के लिए काफी हैं। किन्तु यदि हम यह मानने लग जायें कि समग्र शिंशपा-वन में ही सिर्फ उतनी ही पत्तियां हैं जितनी कि ये हमारे पास यहां रक्खी हुई है तो अपनी ही निर्वुद्धि दिखाएंगे[1]। सम्यक्

(१) एक वार भगवान् शिंशपा-वन में विहार कर रहे थे। उन्होंने एक शिंशप वृक्ष की कुछ पत्तियो को अपने हाथ में लेकर भिक्षुओ को सम्वोधित किया "भिक्षुओ ! ये शिंशपा की पत्तिया जो मै हाथ में ले रहा हूँ, वे अधिक है या इस सम्पूर्ण शिंशपा-वन की पत्तियां ?" "भन्ते ! आपके हाथ में जो ये पत्तिया है ये तो वहुत अल्प हैं और शिंशपा-वन की सव पत्तिया तो वहुत अधिक है"। "इसी प्रकार भिक्षुओ ! वे वस्तुएँ वहुत अधिक है जिन्हे मै अपनी अभिज्ञा से जानता हूँ परन्तु जिन्हे मैंने तुम्हें नहीं वताया है। उनकी अपेक्षा जो कुछ मैंने तुम्हें वताया है, वह तो सम्पूर्ण शिंशपा-वन की पत्तियो के सामने इस हाथ में रक्खी पत्तियो के समान है। भिक्षुओ ! इन वातो को मैंने तुम्हे क्यो नहीं वताया, क्यो नहीं व्याकृत किया ? क्योंकि भिक्षुओ ! ये न लक्ष्य-सिद्धि के लिए हैं, न ब्रह्मचर्य के लिये उपयोगी है, न निर्वेद, वैराग्य, निरोध, ज्ञान, उपशम और निर्वाण की ओर ले जानेवाली है। इसीलिये मैंने तुम्हें नहीं वतलाया है, नहीं व्याकृत किया है।"संयुत्त-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ ४३७-४३८ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

सम्बुद्ध ने इस सब जगत् और उसकी व्यवस्था को देखा था, यह कोरा विश्वास मात्र नही है। उनके 'अभिसम्बुद्ध' पद का यह स्वाभाविक अभिप्राय है। यदि अभि-सम्बुद्ध वे नही हुए होते तो गौतम जैसे व्यक्ति उसका दावा कभी नही करते। फिर यदि कीथ की तरह मान ले कि उन्हे इस विषय में कोई निश्चित सहेतुक विचार नही था (नो रीज़न्ड कन्विक्शन ऑन दि मैटर) तो तथागत के उपदेश में आश्वासन ही क्या रहा ? क्यो फिर वे सभी 'आश्वासनों' से आश्वासित थे, 'वैशारद्यों' से युक्त थे, 'बलो' से सयुक्त थे ? क्यो वे कहते, "मैं अग्र (श्रेष्ठ) को जानता हूँ ? उससे भी अधिक जानता हूँ।" विना निश्चित विचार रक्खे तो पवित्रता के प्रथम कोष्ठ में भी पदार्पण करना मुश्किल है, 'बुद्धत्व' तो दूर की बात है। यदि यह कहा जाय कि कीथ 'इस विषय मे' कहते हैं, तब भी गलत है। इस प्रकार से सभी उपनिषदो के ऋषियो को अविज्ञेयतावादी मानना पडेगा जिनके उपदेश का क्रम विलकुल उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि बुद्ध का चूल मालुक्य के प्रति, और सब के प्रति :

यही तक बुद्ध और	'स हो वाचाधीहि भो इति'
मालुक्यपुत्र का सवाद	'स तूष्णी बभूव '
	त ह द्वितीये तृतीये वा वचनमुवाच।
यहा तक वाष्कलि	ब्रूम खलु। त्व न विजानासि।
और वाध्व का और आगे चला	उपशान्तोऽयमात्मा[1] ।

'ब्रूम खलु' ऐसा भगवान् तथागत ने परम सत्ता के सम्बन्ध मे कभी नही कहा। क्योकि यदि कहते तो पहले यही कहना पडता 'त्व न विजानासि' जो वे पहले ही कह चुके है, किन्तु इस अज्ञान के लिए फटकार कर के भी 'ब्रूम खलु' की भी तो कोई सगति लगानी ही पडेगी, अत कुछ तो कहना ही चाहिए 'उपशान्तोऽयमात्मा', जो बुद्ध पहले से ही कह चुके है—मालुक्यपुत्र चला जाता है। बुद्ध उपनिषदो की ओर देखते हैं, उपनिषदें लौटकर बुद्ध की ओर आती हैं। ऐसा यह विचित्र सयोग हुआ है तत्त्वज्ञान और नीति का। बुद्ध और उपनिषदें एक समान मौन हैं, और यह मौन भारतीय दर्शन का सर्वोत्तम मगलमय सूत्र है। मालुक्यपुत्र तो उदास होकर चला गया और चला ही जाना चाहिए था, क्योकि 'गति' और 'अगति' को, 'च्युति' और 'स्थिति' को वहाँ कहाँ पूछना था जहाँ कि 'न पृथिवी है, न चन्द्रमा, न सूर्य।' किन्तु भगवान् चाहे व्याकृत

(१) ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य ३।२।१७ में उद्धृत ।

न करते किन्तु उन्हे कोई ऐसा आश्वासन तो देना ही था कि 'कृत', 'जात', 'भूत' और 'सस्कृत' के वन्धन से हटने अर्थात् पञ्चस्कन्धो के प्रतीत्य-समुत्पन्न भावो से व्यतिरिक्त भी कोई स्थिति है जो समुद्र के समान गम्भीर और वचनो से अव्याख्येय है, जिसको 'अकृत', 'अजात' 'अभूत' और 'असस्कृत' के सिवाय और कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु यह उपदेश उनको तो नही दिया जा सकता था जो अभी पवित्र जीवन में प्रविष्ट भी नही हुए और पहले से ही अपनी समस्याओ का हल चाहते हैं। 'अनात्म' का अभ्यास करो 'मै, मेरा' करके वाह्य और आध्यात्मिक जगत् को मत अपनाओ, तो जव निर्वाण की अवस्था पर आओगे तो भगवान् यह उदान किए विना नही मानेंगे 'अत्थि भिक्खवे अजात अभूत अकत असखत', 'तत्र न ठिति वदामि न चुति.... ..न तत्र पिठवी .....न चन्दम-सुरिया'। जो वात भगवान् ने 'आत्मा' के रूप में नही कही है, वही वात उन्होने 'निव्वाण' के रूप में कही है, जो 'शान्त' (सन्त) है। 'निव्वानं सन्त' और 'उपशान्तोऽयमात्मा' में क्या अन्तर है? निर्वाण शान्त है, आत्मा उपशान्त है। सभी जगत् अ-शान्त है 'हा सन्तप्त! हा पीडित! 'अप्पमादेन सम्पादेय' इतना ही तो कहा जा सकता है। इस तथ्य को हम 'निर्वाण' का विवेचन करते समय विस्तार से दिखाएँगे। उपनिषदो में आत्मा को जानने विषयक कठिनता और उसकी अविज्ञेयता को प्रख्यापित करने वाले सहस्रो वाक्य है और उनका निर्देश हम उपनिषदो के दर्शन के प्रसग में पाँचवें प्रकरण में करेंगे। यहाँ उनके उद्धरण देने या उनके प्रकाश में वुद्ध-मौन को अधिक व्याख्यात करने की जरूरत नही, क्योकि जव हम 'उपशान्तोऽयमात्मा' कह चुके तो कुछ शेष नही रहा। 'किमत्र परिशिष्यते' की वाणी चरितार्थ हो गई। यदि उपनिषदो का यह मन्तव्य ठीक है, और ठीक होना ही चाहिए, कि जिसको परम तत्व अविज्ञात है, उसी को वह ज्ञात है, जिसका वह अमत ' उसी का वह मत है, तो हम निश्चय ही कह सकते है कि वुद्ध का वह विज्ञात है, वुद्ध का वह मत है—नात. परमस्ति। 'आत्मा' के जाननेवाले की जो स्थिति होनी चाहिए और जो गुण आत्मवान् में होने चाहिए, उनको वुद्ध में मिलाकर देखने पर वुद्ध 'वेदगू' या 'वेदज्ञ' हैं, इसमें सन्देह नहीं। उत्तरकालीन वौद्ध आचार्यो से यद्यपि हमें यहा विलकुल भी प्रयोजन नही है और उनके प्रज्ञानो की मीमासा हम वाद में ही करेंगे, किन्तु उनमें से भी वहुतो ने कहा है कि तथागत ने 'आत्मा' और 'अनात्मा' दोनो का ही प्रख्यापन किया है[1] और सामान्यत: मनुष्यो के अधिकार को

(१) देखिए आगे उत्तरकालीन वौद्ध दर्शन का विवेचन।

विभिन्नता ही भगवान् के मौन में कारणस्वरूप रही है[1]। नागार्जुन आदि कुछ माहायानिक आचार्यों ने तो तथागत के मौन को एक रहस्यात्मक रूप ही दे डाला है और कहा है कि तथागत ने अभिसम्बोधि प्राप्त करने के समय से लेकर ठीक निर्वाण तक कभी किसी को कोई उपदेश ही नही दिया। इन आचार्यों के मतों का निरूपण (सोद्धरण) हम उनके दर्शन पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ हम यही कहना चाहते हैं कि उपनिषदो ने जिस अज्ञेय, सर्वगत, सर्व नियामक 'आत्मा' का वर्णन किया है, उसकी भावना तथागत के 'निर्वाण', 'धम्म'[2] एव 'कम्म' सम्बधी सिद्धान्तो में भरी पडी है और जिसे तथागत ने 'अनात्म' कहा है वह उपनिषदो की 'आत्मा' नही किन्तु वह हमारी वह तुच्छ अहकार वुद्धि है जो जहाँ भी आनन्द लेना चाहती है, विषयो का उपभोग करना चाहती है और शाश्वत काल तक स्थिति भी चाहती है कि कही ऐसा न हो कि मैं न होऊँ। इसी 'अह' को, इसी 'आत्मा' की लालसा को उच्छिन्न करने के लिए शास्ता का अनात्म एव वोधिपक्षीय धर्म रूपी वज्र उद्यत हुआ है। वज्रमुद्यत . य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। जिस वेदान्त रूप असग शस्त्र के विषय में भगवान् शकर कहते हैं कि यह अश्वत्थ वृक्ष रूप ससार ऐसे ही असग शस्त्र के द्वारा उच्छेदन करने के योग्य है (... . असगशस्त्रकृतोच्छेद एष ससार वृक्ष —कठ भाष्य २।३।१), तो हम कह सकते हैं कि वोधि पक्षीयधर्मों के शास्ता ने भी 'अनात्मवाद' के रूप में ऐसा ही एक वज्र रूप 'असग' शस्त्र हमें दे दिया है जिससे यह ससार (ससरण, जन्म-मरण)

---

(१) देखिए 'एवमाद्येनोत्तरोत्तरक्रमलक्षणविधिना व्याकृतातिपृष्टाः स्थापनीयं भगवता व्याकृतमिति वक्षयन्ति, न तु ते मोघपुरुषा एवं ज्ञास्यन्ति यथा श्रोतृणा बुद्धिविकल्पात् तथागता अरहन्त. सम्यक् सम्बुद्धाः उत्रासपदविवर्जनार्थं सत्वानां न व्याकुर्वन्ति। अव्याकृतान्यपि च महामते तीर्थंकर दृष्टि वादव्युदासार्थं नोपविश्यन्ते तथागतैः।.......... चतुर्विधपदप्रश्नव्याकरणेन महामते तथागता अरहन्तः सम्यक् सम्बुद्धा सत्वेभ्यो धर्मं देशयन्ति। स्थापनीयमिति महामते कालान्तरदेशनैषा मया कृतापरिपक्वेन्द्रियाणां न तु परिपक्वेन्द्रियाणा स्थाप्यं भवति। लकावतार सूत्र, पृष्ठ ११४; विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ १६, पदसंकेत १७ में उद्धृत।

(२) 'धर्म' में हम किस तरह 'वास्तविक आत्मा' के दर्शन कर सकते हैं, इसके लिए देखिए राधाकृष्णन् 'गोतम दि बुद्ध', पृष्ठ ३०; ३६-३९

रूप वृक्ष नि शेष रूप से काट डाला जा सकता है। कैसा है यह वृक्ष ? (शकर के दर्शन का प्रसग उपस्थित न होने पर भी) शकर के शब्दो में ही सुनिए— "जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अनेक अनर्थों से भरा पडा है। क्षण-क्षण में अन्यथा भाव को प्राप्त होनेवाला है, माया मृगतृष्णा के जल और गन्धर्व नगरादि के समान दृप्टनप्टस्वरूप है, तत्व-विजिज्ञासुओ के द्वारा 'इद' रूप से निर्धारित नही किया जा सकता, अविद्या, काम, कर्म और कर्म रूप वीज से उत्पन्न हुआ है . ... तृष्णा रूप जल के सेचन से वढा है .... सुख-दु ख और वेदना रूप अनेक प्रकार के रसो से युक्त है—ब्रह्मा आदि पक्षियो ने इस पर सात लोक रूपी घोसले वना रक्खे हैं—(फिर अन्त में तो) नृत्य, गान, वाद्य, क्रीडा, आस्फोटन, हसी, आक्रन्दन, रोदन हाय-हाय ! छोड-छोड ! इत्यादि अनेक प्र कार के शब्दो की तुमुल ध्वनि से अत्यन्त गुञ्जायमान हो रहा है।' ऐसे ससार-वृक्ष के उच्छेदन करने के लिए भगवान शकर कहते हैं 'ब्रह्मात्मादर्शनासगशस्त्र' को धारण करो। विलकुल ऐसे ही वृक्ष को काटने के लिए शाक्यसिंह का भी अतुल पराक्रम है ('सिंहनादो तवातुल') किन्तु वे अतीत ('ब्रह्मात्मा') को पहले से ही मान कर फिर 'दृश्य' (अनात्मा देहेन्द्रियादि) से उसका 'असग' सम्पादित नही करते, किन्तु 'अनात्म' के सम्वन्ध में सांख्यकार के ही कुछ-कुछ ढग से ('नास्मि, न मे, नाह') 'न ये मेरे हैं, न मै इनका हूँ, न ये मुझ में हैं, न मैं इनमे हूँ' इस प्रकार कहकर निर्वाण के क्षेम, कुशल, मगल, प्रीतिगमनीय मार्ग पर लगा देते है, किन्तु 'अत्ता' को नही वोलते[1]। 'गुरोस्तु मौन व्याख्यान शिष्याः सञ्छिन्नसशया'। वुद्ध की सम्वोधि महान् है ! 'क्रमते न हि वुद्धस्य ज्ञान धर्मेषु तायिन ।' वुद्ध होकर वोलना हो भी नही सकता। इसीलिए 'तथागतै मौनै न किञ्चित् भाषितम्—मौनाः हि भगवन्तस्तथागता ।' चाहे धम्मदिन्ना ने जो कुछ विशाख से कहा उसे हम देखें (मज्झिम० १।५।४), चाहे खेमा ने जो राजा पसेनदि (प्रसेन-जित् कोशलराज) से कहा उसे देखें (संयुत्त निकाय), चाहे सारिपुत्र ने जो यमक से कहा उसकी व्याख्या कर लें और चाहे देख लें वच्छ के प्रति स्वयं भगवान् वुद्ध की ही उक्ति को (अलगद्दूपम सुत्त), अन्त में सारिपुत्र के समान तथागत की अभिसम्वोधि के विषय में वैसी ही उदार

(१) द्रष्टव्य अगुत्तर-निकाय, जिल्द ३, पृष्ठ ३५९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी संस्करण)

वाणी कहनी पडेगी जो उन्होने कही थी अर्थात् 'भगवान् से भूयस्तर ... आदि' अथवा आचार्य गौडपाद के साथ सुर-में-सुर मिलाकर यह भी कह सकते हैं 'क्रमते नहि बुद्धस्य ज्ञान धर्मेषु तायिन'। सर्वे धर्मास्तथा ज्ञान नैतद् बुद्धेन भाषितम्'।

एक बात हम यहा और कह देना चाहते है। यद्यपि हम यह मानते हैं कि अनेक प्रकार से एक इन्द्रियातीत व्यवस्था में बुद्ध ने अपना विश्वास दिखाया है और निश्चय ही 'अजात, अकृत, अभूत, असस्कृत' का उपदेश देकर तो एक अभूत पूर्वरूपसे ही, किन्तु साथ ही हम 'आत्मा' 'पुद्‌गल' आदि शब्दो के आने से ही बुद्ध को 'आत्मवाद' के प्रख्यापक के रूप में नही मान सकते। 'आत्मा' शब्द हमारे दार्शनिक साहित्य में बडा विचित्र है। इसी एक शब्द में समग्र भारतीय दर्शन-परम्परा व्याख्येय है। बुद्ध ने जब इसका प्रयोग किया है तो एक तो तुच्छ 'अह-कार' के रूप में किया है, जैसा कि हम पहले देख चुके है और दूसरे 'अपने' या 'अपना' के अर्थ में किया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब उनके लिए 'अपना' कुछ है ही नही, तो वे इस प्रकार कैसे कह सकते है कि 'आत्म दीप होकर विहार करो, आत्म शरण, अनन्यशरण'—अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा'। जब कोई अपना (आत्मा) होगा तभी तो उसे दीप बनाया जायगा, तभी तो उसकी शरण ली जायगी, यहाँ रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान को तुम अपना बताते नही हो ('अनात्म' कहते हो) और इन पञ्चस्कन्धो से व्यतिरिक्त भी किसी को मानते नही हो (?), तो शरण किसकी लें, दीप किसको बनाएँ? भगवन् 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे'। तो फिर राधाकृष्णन् आदि (पुण्यश्लोक डा० रायज डेविड्स भी उनके साथ है) इन पदो से मानते है कि यहाँ 'अत्त' (आत्मा) का उपदेश उपलक्षित होता है[1]। इस लेखक का मत है कि यदि बुद्ध की भाषा पर ही चला जाय, तो यह अर्थ निष्पन्न नही होता। न तो यह भगवान् निर्देश कर रहे है पञ्चस्कन्धो का ही और न किसी 'सर्वगत' आत्मा जैसी वस्तु का ही, वे तो केवल एक साधारण प्रयोग कर रहे है। यदि 'अनात्म' का उपदेश वे देते है तो इसका तात्पर्य यह नही कि वे 'अपने' शब्द का

---

(१) 1. 'When Buddha asks us to have the self as our light (अत्तदीप), the self as our refuge (अत्तसरण), surely he is referring not to the transitory constituents, but to the universal spirit in us,' गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ४०

प्रयोग भी किसी वस्तु या सम्बन्ध को दिखाने के लिए लौकिक भाषा में न करें। फिर यदि इसको भी नही माना जाय तो यह तो मानना ही चाहिए कि यदि 'आत्मा' की शरण लेने को भगवान् उपदेश करते है, तो मालुक्यपुत्त भी तो आकर उन्हें पकड सकता था कि भगवन्! जिस 'आत्मा' की शरण लेने का उपदेश करते हो उसकी शरण मे लूगा, किन्तु पहले उसका स्वरूप भी तो वतलाओ। फिर क्या भगवान् उसे 'अव्याकृत' कर सकते थे? मालुक्यपुत्त उनके सिर आ जाता और अन्यो को भी उसके प्रति करुणा आ जाती, शाक्यमुनि का तो कहना ही क्या? इसी प्रकार उपसीव-माणव (वावरि जैसे त्रैविद्य का शिष्य) भी आकर तथागत को तग कर डालता कि मै जो अपने आचार्य से रात-दिन आत्मा-परमात्मा की ही वातें पढ़ता रहता हूँ, सो मैंने जब आपसे पूछा कि 'हे समन्त चक्षु! आलम्बन बताओ, आलम्बन! जिससे मै इस ओघ को पार करूँ' तब आपने मुझे तो वतला दिया कि 'आकिञ्चन्य को देख,' 'कुछ नहीं है' को देख' (सुत्तनिपात–५) और अब अपने शिष्यो को यहाँ अकेले उपदेश कर रहे हो, 'विराट सर्वगत आत्मा' (यूनीवर्सल सेल्फ) का! मुझ से कुछ कहते तो मै भी 'शरीर' के विषय मे वाद-विवाद कर आपके छक्के छुडा देता, अब वताइए भगवन् (अब समन्त-चक्षु नही रहे—'अत्ता' का प्रत्यापन जो करने लगे) कि जिस 'अत्त' की शरण लेने को कहते हो, वह 'अत्त' है क्या? 'कीजिये एक नई शारीर-मीमासा तैयार'! निश्चय ही कोई संगति ही नही लगती वुद्ध के समग्र उपदेश के ढग से यदि 'अत्त' शब्द के विखरे हुए प्रयोगो से हम आत्मोपदेश का अर्थ औपनिषद अर्थों में ले लें। फिर सब से बडी बात तो यह है कि स्वय कारुणिक शास्ता ने ही इसकी व्याख्या कर भ्रम अथवा विवाद के लिए कोई जगह ही नही छोड़ी। 'आनन्द! भिक्षु कैसे आत्मदीप होता है? कैसे आत्मशरण? आनन्द! भिक्षु काया में कायानुपश्यी हो विहरता है, वेदनाओ में वेदनानुपश्यी हो विहरता है, चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है, धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है... ऐसे आनन्द! भिक्षु आत्म शरण होता है, आत्म दीप होता है[1]।" यह चार-स्मृति-

(१) चुन्द स्थविर जब सारिपुत्र के धातु-परिस्रावण और पात्र-चीवर आदि को लेकर श्रावस्ती में गए, तब भगवान् ने भिक्षुओ से कहा कि 'आत्मदीप-होओ' और तभी उसकी इस प्रकार व्याख्या की, देखिए चुन्दसुत्त सयुत्त० ४५।२।३ (अट्ठकथा सहित); बुद्धचर्या पृष्ट ५१६-५१७; 'अत्तदीप सुत्त' भी 'अनात्म' का ही उपदेश करता है। अतः यह भी इस व्याख्या का ही समर्थक है।

प्रस्थानो की भावना सिवाय विशुद्ध 'अनात्म' दर्शन के और कुछ नही है, जैसा कि पहले हम बोधि पक्षीय धर्मों के विवरण और विवेचन में उनका जो विस्तृत विश्लेषण उपस्थित कर आए है, उससे स्पष्ट होगा। अत. जब भगवान् 'अत्तदीप' और 'अत्तसरण' होने का उपदेश करते है तो उससे उनका तात्पर्य केवल 'अनात्मवाद' के ही उपदेश से होता है। अत हमें उनकी व्याख्या का ही आदर करना चाहिए, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। इसी प्रकार 'अत्ता हि अत्तनो नाथो' आदि को भी हमें पुरुषार्थ के आधार पर और उपर्युक्त भावना से ही व्याख्यात करना चाहिए, उनमें औपनिषद 'आत्मा' की झलक देकर उपर्युक्त आपत्तिया आती है जिनके विषय में अधिक विस्तार से कहने की यहाँ जरूरत नही। एक और सुन्दर आख्यान को देख ले जो इस सम्बन्ध में औपनिषद आत्मा की गवेषणीयता के लिये उद्धृत किया जाता है। यदि केवल मनीषी डा० राधाकृष्णन् ही यहाँ औपनिषद आत्मा के प्रयोग को बुद्ध-वचन मे पाते[1], तो हमें कोई आश्चर्य नही होता क्योकि बौद्ध और औपनिषद आत्मा सम्बन्धी मन्तव्यो को समीप लाने की उनकी तत्परता सर्वविदित है, परन्तु यहाँ तो कुमारी आई० बी० हार्नर और आनन्द कुमार स्वामी ने भी कहा है कि यहाँ अनात्मवादी शास्ता ने एक महत्तर (greater) आत्मा (self) की भावना करने को कहा है, जिससे उनका तात्पर्य औपनिषद आत्मा से ही होता है[2]। वन-खण्ड में भगवान् समाधि लगाए हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे है। कुछ कोलाहल-सा सुनते है। देखते है कि तीस आदमी इधर-उधर डोल रहे है। (भद्रवर्गीय के नाम से ये पुकारे गए है)। तीसो अपनी-अपनी स्त्रियो को लेकर वन-विहार के लिए निकले है। एक के पास स्त्री नही है, उसके लिए एक वेश्या लाई गई है। वह उनके नशे की हालत में आभूषण आदि लेकर भाग गई है। चारो तरफ वन

---

(१) देखिए राधाकृष्णन् : गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ३९-४०

(२) "We find the very Master in whom the work of self-naughting has been accomplished recommending others to seek for the self—an apparent contradiction–that can only be resolved if we clearly distinguish between the 'selves' referred to—one to be naughted, one to be cultivated" दि लिविंग थॉट्स ऑव गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ५-६ (भूमिका)

को ढूंढते ये सभी भ्रमित युवक भगवान् बुद्ध को वहा बैठे देखते है और स्वभावतः ही पूछते है 'भन्ते! भगवान् ने किसी स्त्री को तो नही देखा ?'

'कुमारो! तुम्हे स्त्री से क्या है ?'

'भन्ते! हम भद्रवर्गीय नामक तीस मित्र.......आभूषण आदि लेकर भाग गई!'

'कुमारो! क्या समझते हो, तुम्हारे लिए क्या उत्तम होगा? क्या यह कि तुम स्त्री को ढूंढो अथवा यह कि तुम अपने आप (आत्मा) को ढूंढो। 'अत्तानं गवेसेय्याथ।'

'भन्ते! हमारे लिए यही उत्तम है कि हम अपने आप को ढूंढें'[1]।

हमारा विनम्र मन्तव्य है कि इस उपर्युक्त आख्यान के 'अत्तानं गवेसेय्याथ' (आत्मा को ढूंढो) में औपनिषद 'आत्मा' के उपदेश को देखना बेकार है, चाहे भले ही डा० राधाकृष्णन्, कुमारस्वामी और आई० बी० हार्नर ने इस प्रकार का अनधिकारपूर्ण प्रयत्न किया हो। प्रथम तो 'कालज्ञ' तथागत भद्रवर्गीयो को ऐसा उपदेश कभी नही देते और दूसरी बात यह है कि जब उन्होने भद्रवर्गीयो से यदि यही कहा कि 'आत्मा' को तलाशो (औपनिषद अर्थ में) तब तो फिर सगत अर्थ यही है कि जब भद्रवर्गीय चुपचाप बैठ जाते हैं उनके उपदेश को सुनने के लिए तो उन्हें 'आत्मोपदेश' ही किया जाय, किन्तु होता तो केवल 'धर्मोपदेश' है, अतः हमें 'अत्त' का अर्थ या तो 'अपना' लेना चाहिए या 'धर्म' लेना चाहिए, औपनिषद आत्मा तो ऐसे प्रयोगो मे नही लेना चाहिए। भगवान् ईसामसीह ने जब कहा कि 'अगर आदमी जगत् को पा ले और अपने (आत्मा-सेल्फ़) को खो दे ......आदि' तो हम इसे औपनिषद 'आत्मा' का प्रख्यापक नही मान सकते, यद्यपि सगति उसकी भी वहाँ बड़ी अच्छी तरह से (और सम्भवतः बौद्ध प्रयोग से अधिक) लग जाती है। सब बातें हमें मूल भावनाओ के आधार पर ही देखनी चाहिए और इस तरह बुद्ध 'अनात्म' का ही प्रख्यापन करनेवाले हैं, 'आत्म' का नहीं, यद्यपि दोनो ही क्रमशः अनुभव-जगत् और अतीत अनुभव के क्षेत्रो को लेकर एक ही सत्य का निरूपण करते है।

इस प्रकार हमने 'अनात्मवाद' के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया और उस सम्बन्धी कुछ समस्याओ को भी देखा। यदि हम अनात्मवाद को बोधिपक्षीय धर्मो की व्याख्या स्वरूप समझते है तो सम्भवतः हम उसे उसके ठीक रूप में

---

(१) राहुल साकृत्यायन का अनुवाद, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ३०

देखते हैं। 'बुद्ध' से अधिक बुद्ध बनने की चेष्टा हमें नहीं करनी चाहिए किन्तु सांसारिक पदार्थों से आसक्ति हटाकर अपना हित-चिन्तन करना चाहिए, यही बुद्ध-धर्म के शास्ता का उपदेश है। यही अन्य भारतीय दार्शनिक नयों का भी 'अविवाद' और 'अविरुद्ध' मन्तव्य है, यह हम आगे पाँचवें प्रकरण में देखेंगे। अनात्मवाद केवल विशुद्धि के लिए मार्ग है, ऐसा हमें जानना चाहिए। इसी में तथागत के भी उपदेश का पर्यवसान है, और यही दु:खों का अन्त भी है। 'एसेवन्तो दुक्खस्सा'ति। बुद्ध ने कहा है कि भव त्रिलक्षण है, अनित्य, दु:ख और अनात्म। यह ऐसा सत्य है जिसे बुद्ध भी नहीं पलट सकते। चाहे तथागत उत्पन्न हो या नहीं, यह तो सदा अविचल ही रहेगा। इसलिये :

"सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया[1] ॥

'सभी संस्कार अनित्य हैं, यह जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दु:ख से निर्वेद को प्राप्त करता है—यही विशुद्धि का मार्ग है'

"सब्बे संखारा दुक्खाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।"[2]

'सभी संस्कार दु:ख हैं'—यह जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दु:खों से निर्वेद को प्राप्त करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।

"सब्बे धम्मा अनत्ताति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया[3] ॥"

(सभी धर्म अनात्म है, यह जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दु:खों से निर्वेद को प्राप्त करता है—यही विशुद्धि का मार्ग है।

इसीलिए तो—

"मैं सब धर्मों में निर्लेप हूँ, सर्वत्यागी हूँ,
तृष्णा के क्षय होने से विमुक्त हूँ[4] "

"भिक्षुओ! जितने भी दिव्य और मानुष पाश है, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ"[5]

यही तो अनात्मवाद है।

(१,२,३) धम्मपद २०।५।७
(४) संयुत्त० ४।१।४; बुद्धचर्या पृष्ठ २९
(५) विनय पिटक—महावग्ग १, बुद्धचर्या, पृष्ठ २१

८—मनोवैज्ञानिक आचारतत्त्व अथवा समग्र आन्तरिक और बाह्य जगत् के मूल उपादान-स्वरूप 'चित्त' 'चेतसिक' और 'रूप' की 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्ममयी व्याख्या।

बौद्ध धर्म का रूप मनोवैज्ञानिक है। धर्म मनोविज्ञान बनकर बौद्ध धर्म-साधना में आया है, यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। प्राचीन वैदिक धर्म बाह्य-परक था, उसमें देवताओं की उपासना थी, जिनका स्वरूप अपने प्रारम्भिक रूप में प्रकृति की शक्तियों के प्रतीक-रूप में था। बाद मे प्रकृति का नियन्त्रण ही वहाँ मानव का प्रथम उद्देश्य था। उसके बाद उपनिषदो में अन्दर की खोज प्रारम्भ हुई। उसी परम्परा का प्रवर्तन हमें बुद्ध के विचार मे मिलता है। परन्तु उपनिषदो में जब कि गवेषणा का स्वरूप तात्त्विक है, भगवान् बुद्ध ने मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण मानवीय दृष्टिकोण से किया है। उपनिषदें परम सत्य की खोज करती है और बुद्ध-शासन मे मनुष्य के चित्त और चेतसिक शक्तियो की खोज इस उद्देश्य से की गई है कि वे कहाँ तक मनुष्य की विमुक्ति मे सहायक है। इसी अर्थ में हम उपनिषदो के मनोविज्ञान को तात्त्विक और बौद्धमनोविज्ञान को मानवीय कहते है। संश्लेषणात्मक दृष्टि दोनो में प्राय. समान है।

बौद्ध धर्म का मनोवैज्ञानिक रूप

भगवान् बुद्ध का यह एक अत्यन्त महान् कार्य माना गया है कि उन्होंने चित्त और चेतसिक धर्मों का विश्लेषण किया है। 'मिलिन्द पञ्हो' में भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहा है, "महाराज! भगवान् ने एक दुष्कर कार्य किया है।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने क्या दुष्कर कार्य किया है?" "महाराज! भगवान् ने अ-रूप चित्त-चेतसिक धर्मों के सम्बन्ध में, जो एक ही आलम्बन में विद्यमान रहते है, अलग-अलग विश्लेषण कर यह दिखाया है, यह स्पर्श है, यह वेदना है, यह संज्ञा है, यह चेतना है। महाराज! भगवान् ने यह दुष्कर कार्य किया है[1]।" निश्चयतः मनोविज्ञान बौद्ध दर्शन का एक

बौद्ध मनोविज्ञान मानवीय है

---

(१) दुक्करं महाराज भगवता कततिं। किं भन्ते नागसेन भगवता दुक्करं कत ति। दुक्करं महाराज भगवता कत यं अरूपीनं चित्तचेतसिकानं धम्मान एकारम्मणे वत्तमानानं ववत्थानं अक्खातं, अयं फस्सो, अयं वेदना, अयं सञ्ञा, अयं चेतना, इदं चित्तं ति। मिलिन्द पञ्हो।

अलंकार है और उसका अध्ययन वहाँ मानव की मुक्ति के लिये किया गया है, जैसा हम अभी कह चुके हैं।

चित्त को भगवान् ने सब से अधिक सूक्ष्म तत्त्व माना है[1]। चित्त और चेतसिक धर्मों का विश्लेषण वस्तुतः सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक का विषय है और

एक अत्यन्त गूढ़ और विस्तृत विषय

उसमें पूर्ण रूप से यहाँ नहीं जाना जा सकता। 'धम्म-सगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का सकलन किया गया है और बाहर और भीतर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या की गई है। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल) अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अव्याख्येय (अव्याकृत) विपाकों के रूप में व्याख्या। २२ 'तिकों' और १०० 'दुकों' के वर्गीकरण द्वारा चित्त और चित्त की अवस्थाओं का वर्गीकरण यहाँ किया गया है, जिसका सूक्ष्मतम निर्देश करना भी यहाँ असम्भव है। 'धम्म सगणि' के अनुसार चित्त की चार भूमियाँ है, जिन पर अग्रसर होता हुआ चित्त इस वहिर्जगत् की चचलताओं से ऊपर उठ कर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। इन चार भूमियों के नाम हैं कामावचर-भूमि, रूपावचर भूमि, अरूपावचर भूमि और लोकोत्तर-भूमि[2]। 'धम्म-सगणि' में चित्त और चेतसिक धर्मों का जो विश्लेपण किया गया है उसका ही विस्तृत विवेचन प्रायः अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थों में किया गया है और उस सबका सक्षेप हमें 'अभिधम्मत्थ सगह' नामक ग्रन्थ में मिलता है जो बौद्ध मनोविज्ञान की पाठ्य-पुस्तक कहा जा सकता है। बौद्ध मनोविज्ञान एक अत्यन्त विस्तृत विषय है। अभिधम्म-साहित्य का विश्लेषण करते समय इस लेखक ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है[3]। अंग्रेजी में पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'अभिधम्म-फिलॉसफी' (दो भाग) इस विषय पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण रचना है। महास्थविर ज्ञानातिलोक-कृत 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' भी अपने विषय की अपूर्व रचना है और बौद्ध मनोविज्ञान पर काफी प्रकाश डालती है। श्रीमती

---

(१) 'नाहं भिक्खवे अञ्ञं एक धम्मपि समनुपस्सामि एवं लहुपरिवत्तं यथयिदं भिक्खवे चित्तंति'। अंगुत्तर-निकाय, एकक निपात।

(२) चित्त की इन चार भूमियों के विस्तृत विवरण के लिये देखिये भरत सिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३७४-३७५

(३) देखिये पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३४-४६४

रायस डेविडस् के धम्मसगणि-अग्रेजी-अनुवाद (ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स) की विस्तृत भूमिका भी विद्वत्तापूर्ण ढग से लिखी गई है। इसी प्रकार अनागारिक बी० गोविन्द के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'दि साइकोलोजीकल एटीट्यूड ऑव दि अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी' की भी प्रशसा किये बिना हम नही रह सकते, जिन्होने इस ग्रन्थ मे बौद्ध मनोविज्ञान के दुरूह तत्त्वो को सफलतापूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है। जो विषय इतना गूढ और विस्तृत है उसकी कुछ मोटी रूप-रेखा का ही सक्षिप्ततम उल्लेख हम यहा कर सकेंगे।

कर्म का चेतनामय स्वरूप

मनुष्य कर्म के ही उत्तराधिकारी है (कम्मदायाद), कर्म ही उनका यहाँ अपना है (कम्मस्सक), कर्म ही उनके उद्भव का कारण है (कम्मयोनि) और कर्म ही उनका अतिम प्रतिशरण है (कम्मपटिसरण) है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने सिखाया। किन्तु 'कर्म' की व्याख्या उनकी अत्यन्त व्यापक थी। उन्होने समग्र चेतना को ही 'कर्म' कहा[१] और उनके वाद के अनुयायी चेतनाद्वैतवादियो (विज्ञानवादियो) ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'चित्त' को छोड 'कर्म' और कुछ है ही नही[२]। किन्तु अभी तो हमे बुद्ध-विचार को ही देखना है। तथागत ने कुछ-कुछ औपनिषद परम्परा के अनुकूल ही व्यावहारिक विशुद्ध नीतिवाद के लिए कर्म के मानसिक स्वरूप पर जोर दिया और उसे तात्विक दृष्टि से भी प्रख्यापित किया, 'चेतना ही भिक्षुओ कर्म है, ऐसा मै कहता हूँ, चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है, काया से, वाणी से या मन से[३]। इन सक्षिप्त शब्दो में 'मौलिक' बौद्ध दर्शन के मनोवैज्ञानिक आचार तत्व का सारा तत्व समाया हुआ है। सभी बाह्य और आध्यात्मिक सृष्टि के मूल उपादान स्वरूप पचस्कन्धो अर्थात् 'रूप', 'वेदना', सज्ञा', 'सस्कार', और 'विज्ञान' का विवेचन और स्वरूप-प्रदर्शन हम

---

(१) चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा। अगुत्तरनिकाय।

(२) सत्वलोकमथ भाजनोलोक चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्। कर्मजं हि जगदुक्तमशेष कर्म चित्तमवधूय च नास्ति। बोधिचर्यावतार-पञ्जिका, पृष्ठ ९९, ४७२।

(३) देखिए पदसकेत १ ऊपर ; मिलाइये 'मनो पुब्बगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया' आदि धम्मपद की प्रथम गाथा।

पहले कर आए हैं (अनात्मवाद के विवेचन में), अत उसके पिष्टपेषण की यहाँ आवश्यकता नही । फिर यह विभाजन तो 'सुत्त पिटक' का है जो व्यवहार भाषा में बोलती है। अभिधर्म पिटक इन्ही का विभागीकरण 'चित्त', चेतसिक', और 'रूप' इन तीन विभागो में करती है जो अधिक तात्विक अथवा मनोवैज्ञानिक है। 'धम्मसगणि' इन्ही तीन धर्मों का फिर विभाजन 'कुशल', 'अकुशल' और अव्याकृत' धर्मों में करती है जो कि नैतिक दृष्टि से है। यही बौद्ध मनोवैज्ञानिक नीतिवाद अथवा आचार तत्व का सर्वोत्तम तत्व और रहस्य है।

'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में चार प्रकार के पदार्थ माने गए है, यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण [1]। 'निर्वाण अच्युत पद', 'अत्यन्त', 'असस्कृत' 'अनुत्तर', 'परम सुख' कहा गया है जो प्रतीत्य समुत्पन्न

'कुशल', 'अकुशल' पदार्थों से अव्यतिरिक्त है और जिसका निर्देश हम अलग और 'अव्याकृत' करेंगे भी। अत यहाँ विचारणीय केवल 'चित्त' 'चेतसिक'

चित्त

और 'रूप' ही है। मनुष्य जिन किन्ही भी प्रवृत्तियो को लेकर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, फिर चाहे वह शुभ हो या अशुभ, बौद्ध दर्शन के अनुसार इन छ भागो में बाँटी जा सकती है, यथा, लोभ, द्वेष, मोह, अलोभ, (परोपकार वृत्ति) अद्वेष (हितचिन्ता) और अमोह (प्रज्ञा)। इनमें लोभ, द्वेष और मोह ये तीन तो 'अकुशल-मूल' अर्थात् सब बुरे कर्मों की जड हैं और 'अ-लोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' जो निषेधात्मक न होकर भावात्मक गुण है, कहलाती है 'कुशल मूल' अर्थात् ये सब शुभकर्मों की जड है। यही प्रवृत्तियाँ 'अभिधम्म' में 'हेतु' की सज्ञा ग्रहण करती है। जो चित्त, मन अथवा बुद्धि (बौद्ध अर्थों में ये प्राय समानार्थवाची है) किसी 'हेतु' से युक्त है उन्हे 'सहेतुक' चित्त कहते है; जो नही हैं, उन्हे 'अहेतुक' चित्त कहते है। पुन 'सहेतुक' चित्त भी तीन प्रकार के होते हैं, यथा, 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत'। 'अलोभ, 'अद्वेष' और 'अमोह' से प्रवृत्त होकर हम जब कोई काम करते हैं तब हम 'कुशल चित्त' में होते हैं, और इसी प्रकार 'लोभ, 'द्वेष' और 'मोह' से प्रवृत होकर जो काम होते हैं, वे सभी 'अकुशल चित्त' हैं। अव्याकृत-सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है, यथा, 'विपाक' और 'क्रिया'। 'कुशल' या 'अकुशल' कर्मों या चित्तो के जो सस्कार रह जाते हैं, वे ही 'विपाक चित्त' कहलाते

---

(१) तत्थ वुत्याभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो । चित्त चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा । अभिधम्मत्थसंगहो ।

है। पुनर्भव अर्थात् जन्म से जन्मान्तर में चित्त की सतति का प्रवाह इसी 'विपाक चित्त' के कारण होता है। 'विपाक चित्त' अव्याकृत इसलिए है कि पहले कृत कर्म का फल होने के कारण न इसे 'कुशल' ही कह सकते हैं और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया-सहेतुक चित्त' वह चित्त है जिसमें यद्यपि 'अलोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' यह तीन प्रवृत्तियाँ विद्यमान तो रहती है किन्तु तृष्णा के क्षय के कारण उनका 'विपाक' नही होता अर्थात् वे पुनर्जन्म के लिए कारणस्वरूप नही वनती। 'क्रिया-सहेतुक-चित्त' अर्हत् का ही हो सकता है। वह चाहे 'अलोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' के कारण कुछ कुशल कर्म सम्पादन भी करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उसका सव कर्म केवल क्रिया मात्र ही रह जाता है। (कुर्वन्नपि न लिप्यते—लिप्यते न स पापेन—तस्य कर्मापि अकर्म सम्पद्यते—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते . स्मर्तव्य)। उनका 'विपाक' सचित नही होता, पुनर्जन्म तो हो ही कैसे सकता है (भिद्यते हृदयग्रन्थि.-स्मरणीय)। इस प्रकार 'यह चित्त' की 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्म-मयी सक्षिप्त व्याख्या है।

वावन चेतसिकधर्म— उनका विश्लेषण और नैतिक व्याख्यान

अव चेतसिको अथवा चित्त के धर्मो या प्रकारो पर आते है। ये सख्या में ५२ अभिधर्मपिटक में गिनाए गए हैं और चित्त के साथ ही ये उत्पन्न और निरुद्ध होते रहते है[1] इन ५२ चेतसिक धर्मो को तीन श्रेणियो में बाँट कर अभिधर्म में दिखाया गया है, यथा 'अन्य समान' नाम से तेरह चेतसिक, 'अकुशल' नाम से चौदह चेतसिक और 'शोभन' नाम से पच्चीस चेतसिक, इस प्रकार वावन चेतसिक धर्म है[2]। अव इनका भी कुछ विश्लेषण करें। पहले १३ 'अन्य-समान' चेतसिक धर्मो को ले। 'अन्य-समान' से क्या तात्पर्य है? चित्त दो प्रकार के होते है 'शोभन' और 'अशोभन' (इस प्रकार के चित्त के विभाजन में हम आगे कहेगे)। जव कोई

---

(१) एकुप्पाद-निरोधा च एकालम्वनवत्थुका। चेतोयुत्ता द्विपंचासा धम्मा चेतसिका मता। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो। (एक साथ उत्पन्न और निरुद्ध होनेवाले, एक ही विषय (आलम्वन) और इन्द्रिय (वस्तु) वाले, ५२ चित्त के धर्मो को 'चेतसिक' कहते है।)

(२) तेरसञ्ञासमाना च चुद्दसा कुसला तथा। सोभना पञ्चवीसाति द्वि-पञ्चास पवुच्चरे। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो।

'चेतसिक' 'शोभन' चित्त से युक्त होता है तब 'अशोभन' से वह अन्य होता है और जब 'अशोभन' से युक्त होता है तब 'शोभन' से अन्य होता है। इसीलिए इसे 'अन्य-समान' कहते हैं। इस 'अन्य-समान' चेतसिक का द्विविध विभाजन है, यथा 'साधारण' चेतसिक और 'प्रकीर्ण' चेतसिक। 'साधारण' चेतसिक धर्म वे हैं जो सभी चित्त में साधारण रूप से रहते हैं और ये सख्या में सात हैं— (१) स्पर्श, (२) वेदना, (३) सज्ञा, (४) चेतना, (५) एकाग्रता, (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार[1]। प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो जब कभी होने वाले हैं। ये सख्या में छ है यथा—(१) वितर्क, (२) विचार, (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य, (५) प्रीति और (६) छन्द[2]। इन उपर्युक्त चेतसिक धर्मों से तात्पर्य क्या है? विषयो को स्पर्श करनेवाले चेतसिक को स्पर्श, विषयो के स्वाद भोगनेवाले को वेदना, विषयो के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को सज्ञा, प्राप्त धर्मों को विषयो में प्रेरणा करनेवाले को चेतना, विषय में स्थिर करनेवाले को एकाग्रता, प्राप्त धर्मों के प्राण होकर उनकी रक्षा करने वाले को मनसिकार कहते हैं[3]। इसी प्रकार 'विषय में चिंतन करनेवाले (चेतसिक) को वितर्क, विषयो पर बार बार सोचनेवाले को विचार, विषयो में प्रवेश कर निश्चय करनेवाले को अधिमोक्ष, उत्पन्न धर्मों में उत्साह करनेवाले को वीर्य, विषयो मे आनन्द करनेवाले को प्रीति, और विषयो को करना चाहनेवाले चेतसिको को छद कहते हैं'।[4] अब हम पूर्वोक्त चौदह 'अकुशल' चेतसिको पर आते है। ये इस प्रकार हैं—मोह, अह्री, अनत्रपा, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि (विपरीत दृष्टि), मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य (पश्चात्तापकारी), स्त्यान (मन को भारी करने वाला), मृद्ध (चेतसिको को भारी करनेवाला) तथा विचिकित्सा[5]। सभी नाम

(१) फस्सो वेदना सञ्ञा चेतना एकग्गता जीवितिन्द्रिय मनसिकारो चेति सत्ति मे चेतसिका सब्बचित्तसाधारणा नाम। अभिधम्मत्थसगहो, चेतसिक कण्डो।

(२) वितक्को विचारो अधिमोक्खो वीरिय पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकिण्णका नाम। उपर्युक्त के समान ही।

(३) भिक्षु नर सम्बोधि अभिधम्मत्थ सगहो का हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ २४, पदसकेत १

(४) उपर्युक्त के समान ही।

(५) मोहो अहिरीक अनोत्तप्प उद्धच्च लोभो दिट्ठि मानो दोसो इस्सा मच्छरियं कुक्कुच्च थिन मिद्ध विचिकिच्छा चेति चुद्दसि मे चेतसिका अकुसला नाम। अभिधम्मत्थ सगहो।

प्राय स्वत व्याख्यात है अत इनके व्याख्यान की यहाँ आवश्यकता नहीं। तो फिर 'अकुशल' चित्त के सयोग से होनेवाले 'अकुशल' चेतसिको को छोड अब हम पूर्वोक्त 'शोभन' चेतसिको के विश्लेषण पर आते है जो 'शोभन' चित्तो के साथ मिलनेवाले होते है और जो सख्या में २५ है, यथा (१) श्रद्धा, (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपत्रपा (पापो से भय करना), (५) अलोभ, (६) अद्वेष, (७) तत्रमध्यस्थता (विषय में उपेक्षा करना), (८) कायप्रश्रब्धि (चेतसिको का शान्त होना), (९) चित्त प्रश्रब्धि (चित्तो का शान्त होना), (१०) कायलघुता (चेतसिको का लघुत्व), (११) चित्तलघुता (चित्त का लघुत्व), (१२) कायमृदुता (चेतसिको का नम्रत्व), (१३) चित्त मृदुता, (१४) कायकर्मण्यता (चेतसिको की काम में योग्यता—'कर्मसु कौशलम्) ,(१५), चित्त कर्मण्यता, (१) कायप्रागुण्य (चेतसिको का समर्थ भाव), (१७) चित्त प्रागुण्य, (१८) कायऋजुता (चेतसिको की ऋजुता), (१९) चित्तऋजुता, (२०) सम्यक् वाणी, (२१) सम्यक् कर्मान्त, (२२) सम्यक् आजीव— जिनको तीन विरतियाँ भी कहा गया है। अभिधम्मत्थ सगहो में ये पूर्वोक्त तीन नामो से, किन्तु 'धम्मसगणि' में 'विरति' नाम से ही गिनाए गए है, बात एक ही है विधि रूप से कहे या निषेधात्मक रूप से, (२३) करुणा, (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)[1]। इस प्रकार ५२ चेतसिकधर्म और उनकी 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्मभयी यह व्याख्या समाप्त हुई। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और इसीलिए बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक' 'चित्त' के इन तीन प्रकारो अर्थात् 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चित्त के ही कुछ कार्य और उसके किंचित् सबध को इन विभिन्न ५२ चेतसिक धर्मों के साथ देखा। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक

---

(१) सद्धा सति हिरी ओत्तप्प अलोभो अदोसो तत्रमज्झत्तता कायपस्सद्धि, चित्तपस्सद्धि कायलहुता चित्तलहुता कायमुदुता चित्तमुदुता कायकम्मञ्ञता, चित्तकम्मञ्ञता, कायपागुञ्ञता, चित्तपागुञ्ञता, कायुजुकता, चित्तुजुकता, चेति एकूनवीसतिमे चेतसिका सोभन साधारणा नाम। अभिधम्मत्थ संगहो, चेतसिक कण्डो। तथा 'सम्मा वाचा सम्मा कम्मन्तो सम्मा आजीवो चेति तिस्सो विरतियो नाम'। एव 'करुणामुदिता अप्पमञ्ञायो नामाति सब्बथापि पञ्ञिन्द्रियेन सद्धिं पञ्चवीसतिमे चेतसिका सोभनाति वेदितब्बानि। अभिधम्मत्थ संगहो, चेतसिक कण्डो।

सूक्ष्मता एव अन्तर्दृष्टि के साथ इसका विश्लेषण और व्याख्यान अभिधर्म पिटक में किया गया है उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहाँ चित्त के चार प्रकार (कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर) ? कहाँ फिर उनमें भी 'कामावचर' चित्त के ५४ प्रकार ? फिर उनकी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त, जिनमें से भी कि (८ लोभमूलक,[1] २ द्वेषमूलक[2] और २ मोह मूलक)[3], १८ अहेतुक चित्त, (जिनका वर्गीकरण भी फिर ७ अकुशल विपाक[4] आठ कुशल विपाक[5] और ३ अहेतुक क्रिय चित्तो में[6] किया गया है। और २४ सहेतुक चित्त

(१) तत्थ कतम कामावचरं ? सोमनस्स सहगत दिट्ठिगत सम्पयुत्तं असखारिकमेकं, ससखारिकमेकं, सोमनस्स सहगत दिट्ठिगत विप्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससखारिकमेकं, सोमनस्ससहगतं दिट्ठिगतसम्पयुत्त असखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, सोमनस्स सहगतं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं असखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, उपेक्खा सहगतं दिट्ठिगत विप्पयुत्तं असखारिकमेकं, ससखारिकमेकन्ति, इमानि अट्ठपि लोभसहगत चित्तानि नाम।

(२) दोमनस्स सहगतं पतिघ सम्पयुत्त असखारिकमेकं, ससखारिकमेकन्ति। इमानि द्वेपि पटिघसम्पयुत्तचित्तानि नाम।

(३) उपेक्खा सहगतं विचिकिच्छा सम्पयुत्तमेकं, उपेक्खा सहगतं उद्धच्च-सम्पयुत्तमेकन्ति, इमानि द्वेपि मोह सम्पयुत्त चित्तानि नाम।

(४) उपेक्खा सहगतं चक्खुविञ्ञाण तथा सोतविञ्ञाणं, घाणविञ्ञाणं, जिह्वाविञ्ञाणं, दुक्ख सहगतं काय विञ्ञाणं, उपेक्खा सहगतं सम्पतिच्छनचित्तं, उपेक्खा सहगतं सन्तीरण चित्तञ्चेति, इमानि सत्तपि अकुसलविपाक चित्तानि नाम।

(५) उपेक्खासहगत कुसलविपाकंचक्खुविञ्ञाणं, तथा सोतविञ्ञाणं, घाण-विञ्ञाणं, जिह्वा विञ्ञाण, सुख सहगत काय विञ्ञाणं, उपेक्खा सहगत सम्पतिच्छनचित्त, सोमनस्स सहगतं सन्तीरण चित्तं, उपेक्खा-सहगतं सन्तीरण चित्तञ्चेति, इमानि अट्ठपि कुसल विपाका हेतुकचित्तानि नाम।

(६) उपेक्खा सहगतं पञ्चद्वारावज्जनचित्तं, तथा मनोद्वारावज्जनचित्तं, सोमनस्ससहगतं हसितुप्पादचित्तञ्चेति, इमानि तीनिपि अहेतुक-क्रियचित्तानि नाम।

(जिनमें भी फिर वेदना, ज्ञान, संस्कार के भेद से वर्गीकरण)[१]। इतना ही क्यों, इन्हीं काम लोक में होनेवाले चित्तों में फिर २३ 'विपाक चित्त' २० 'कुशल' और 'अकुशल' एवं ११ क्रिया चित्त, ऐसा विभाजन[२]। ऊपर निर्दिष्ट द्वितीय चित्त अर्थात् 'रूपावचर' चित्त के भी फिर १५ प्रकार! (जिनमें कि ५ 'कुशल' चित्त[३], ५ 'विपाक' चित्त[४] और पांच क्रिया चित्त[५]। तृतीय चित्त

---

(१) यथा (१) कुशल (२) विपाक और (३) क्रिया चित्त के रूप में, प्रत्येक संख्या में ८ ही।

(अ) सहेतुक-कामावचर-कुशल चित्त, यथा, सोमनस्ससहगतं ञानसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं, सोमनस्ससहगतं ञाण विप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, उपेक्खासहगतं ञानसम्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं, उपेक्खासहगत ञानविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससंखारिकमेकन्ति, इमानि अट्ठपि कामावचर कुशल चित्तानि नाम।

(आ) सहेतुक कामावचर विपाक चित्त, यथा, उपर्युक्त ही आठ 'विपाक चित्त भी हैं।

(इ) सहेतुक कामावचर क्रिया चित्त, यथा, उपर्युक्त ही आठ 'क्रिया' चित्त भी हैं।

(२) कामे ते वीस पाकानि। पुञ्ञा-पुञ्ञानि वीसति। एकादस क्रिया चेति। चतुप्पञ्ञास सब्बथा।

(३) वितक्क विचार पीति सुखेकग्गता सहित पठमज्झान कुसल चित्तं, विचार-पीति सुखेकग्गता-सहितं दुतीयज्झान कुसल चित्तं, पीति सुखेकग्गता सहितं ततीयज्झानकुशल चित्तं, सुखेकग्गता सहित चतुत्थज्झान-कुसल चित्तं, उपेक्खेकग्गतासहित पञ्चमज्झान-कुसल-चित्तञ्चेति, इमानि पञ्चपि रूपावचर कुसल चित्तानि नाम।

(४) वितक्क विचार पीति सुखेकग्गता सहितं पठमज्झान विपाक चित्तं, विचारपीति सुखे-कग्गता-सहितं दुतीयज्झान विपाक चित्तं, पीति सुखेकग्गतासहित ततीयज्झान विपाक चित्तं, सुखेकग्गता सहितं चतुत्थज्झान विपाक चित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानविपाक चित्तञ्चेति, इमानि पञ्चपि रूपावचर विपाक चित्तानि नाम।

(५) उपर्युक्त के समान ही।

अर्थात् 'अरूपावचर' के भी फिर वारह विभागो का निरूपण। जिसमे कि चार 'कुशल चित्त',[१] चार विपाक चित्त[२] और चार क्रिया चित्त[३] ऐसे सूक्ष्म विभाग किए गए। अन्त मे चतुर्थ चित्त 'लोकोत्तर' चित्त के भी ८ प्रकार (जिनमें से चार 'कुशल' चित्त[४] और चार विपाक चित्त[५])। इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तो अर्थात् कुल ८९ चित्त के प्रकारो की परिभाषायें, व्याख्यायें और विस्तृततम अर्थ में 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनका उनका स्वरूप-निर्णय। इतना ही क्यो, चित्त के प्रकारो की सख्या का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण के साथ १२१ तक परिवर्द्धन। सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, ससास्कारिक, असास्कारिक आदि का फिर उनके साथ सवध-विनिर्णय, इतना ही नही पूर्व निर्दिष्ट ५२ चेतसिक धर्मों का भी इन चित्त के प्रकारो के साथ सवध का विनिर्णय। इस सूक्ष्मता, इस विश्लेण-प्रियता, इस गहनता की कोई तुलना ही नही है। निश्चय ही मनोविज्ञानिक आचारतत्व 'मौलिक्य' वौद्ध दर्शन की भारतीय विचार को एक अन्यतम देन है जिसके लिए मनोविज्ञान सम्वधी विश्व मे इतना अध्ययन होने के पश्चात् भी हम अनेक वातो में ऋणी हो सकते है और प्रकाश पा सकते है। दुःख है कि 'अभिधर्म' को पढने और पढानेवाले भारत में वहुत कम है। किन्तु फिर भी उज्जलतम ज्ञान तो वहा चमक ही

---

(१) आकासानञ्चायतन कुसलचित्त, विञ्ञानानञ्चायतन कुसलचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतन-कुसल चित्त, नेवसञ्ञानासञ्ञायतन कुसल चित्तञ्चेति, इमानि चत्तारिपि अरूपावचर कुसल चित्तानि नाम।

(२) उपर्युक्त के समान ही 'विपाक' चित्त भी।

(३) उपर्युक्त के समान ही 'क्रिया' चित्त भी।

(४) सोतापत्ति मग्ग चित्त, सकदागामिमग्ग चित्त, अनागामिमग्गचित्तं, अरहत्तमग्गचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि लोकुत्तर कुसल चित्तानि नाम।

(५) सोतापत्ति फल चित्त, सकदागामि फल चित्तं, अनागामि फल चित्तं, अरहत्त फल चित्तञ्चेति इमानि चत्तारिपि लोकुत्तर विपाक चित्तानि नाम। अभिधम्मत्थ सगहो।

रहा है। आवश्यकता है हमें अभी अपने-देश मे अनेक 'कोसम्बियों'[1] की जो अभिधर्म के रहस्यो को समझने के लिए कठिन तपश्चर्या कर सकें और साथ ही आवश्यकता है कुछ 'कस्सपों'[2] की भी जो यदि समग्र अभिधर्म को सुवर्ण-पत्रो पर अंकित न करवा सकें तो कम-से-कम उन्हें नागराक्षरो में कागज-पत्रो पर तो ला ही दें। किन्तु यह सब तो अप्रासंगिक! 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन का मनोवैज्ञानिक विधान और उसके प्रकाश में उसकी आचारतत्व की व्याख्या निश्चय ही अत्यन्त अनूठी है जिसके समग्र विवेचन में कोई बिना एक स्वतत्र ग्रन्थ की ही सृष्टि किए नही जा सकता। हमने ऊपर चित्त और चेतसिको का तो कुछ निर्देशन कर ही दिया है, अब 'रूप' के विषय में कुछ संक्षिप्त कह इन विषय का किञ्चित् दिग्दर्शन करेंगे। 'रूप' से तात्पर्य, जैसा कि हम पहले कह चुके है, भौतिक पदार्थों के समग्र रूप से है।

बौद्ध दर्शन ने 'नाम' और 'रूप' के महत्व और सम्बन्ध को भली प्रकार समझा है। चार महाभूत और उन पर आधारित सृष्टि क्रम सभी 'रूप' के अन्दर है। कर्म की दृष्टि से 'रूप' 'अव्याकृत' है, अर्थात् न 'रूप' और उसकी 'कुशल' है और न 'अकुशल'। जितना भी चार महाभूतो नैतिक व्याख्या का रचा व्यवहार है वह 'अहेतुक' है अर्थात् उनके अन्दर लोभ, द्वेष, मोह, अथवा अलोभ, अद्वेष, अमोह की प्रवृत्तियाँ नहीं है (देखिए पहले 'हेतु' की व्याख्या) जिनके कारण वह किसी भले या बुरे कार्य मे प्रवृत्त हो सके। वह जड है और प्रतीत्यसमुत्पन्न है। मानसिक संस्कृति से वह अभिभूत नही किया जा सकता, वह क्षणिक है और मन के बन्धनो और संयोजनो को करनेवाला है। 'धम्मसंगणि' में 'रूप' के दो भेद किए गए हैं,

---

(१) आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी हमारे देश के आधुनिक युग में 'अभिधर्म पिटक' के सम्भवतः सबसे प्रथम अध्येता और उच्चकोटि के विद्वान् हुए हैं। देखिए उनकी अभिधम्मत्थ संगहो पर 'नवनीत टीका'।

(२) लंकाधिराज कस्सप पञ्चम (९२९ ई०) जिसने समग्र अभिधर्म पिटक को सोने के पत्रो पर खुदवाया और 'धम्म संगणि' में विशेषतः बहुमूल्य रत्न जड़वाए। देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३ (केनियस एप्पेरीरा का प्राक्कथन)

यथा 'उपादा' अर्थात् रूप के वे विकास जो चार महाभूतो से ही उत्पन्न हैं और 'नो पादा' अर्थात् जो ऐसे नही हैं। प्रथम के उदाहरण स्वरूप शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि २३ धर्म या पदार्थ दिए गए हैं और 'नो उपादा' 'रूपों' में प्रधानत गिनाए हैं चार महाभूत आदि। फिर जड और चेतन में, 'रूप' और 'नाम' में, ग्रन्थि भी पडती है। विपाक स्कन्ध से प्रेरित होकर जब चित्त-सन्तति मरणोपरान्त जन्मान्तर मे प्रवाहित होती है तो वहाँ प्रथम क्षण मे ही नाम-रूप का प्रादुर्भाव होता है, जो चित्त का आधार बनता है। फिर क्रमश दूसरी इन्द्रियाँ भी विकसित होती हैं और फिर स्पर्श, वेदना, तृष्णा आदि का क्रम चलता है। इस प्रकार 'चित्त', 'चेतसिक' और रूप' की यह लघु व्याख्या समाप्त हुई, कर्म के साथ उनके सबध की 'कुशल', 'अकुशल' और अव्याकृत' रूपो मे किंचित् व्याख्या के सहित।

वास्तव में यह एक सत्य है कि 'चेतना' की गहराई तक जितना बौद्ध अभिधर्म पहुँचा है उतने हमारे आधुनिक मनोविज्ञान के गवेषक भी नही पहुँचे हैं जो 'अन्तश्चेतना' को लेकर बडी बडी बातें कहनेवाले

उपसंहार

हैं। किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में हम यहाँ प्रवृत्त न होकर केवल आधुनिक मनोविज्ञान के सम्भवत सर्वश्रेष्ठ विचारक प्रोफेसर चार्ल्स गस्टेव जग के उन शब्दो का उद्धरण कर ही सतोष करते है जो उन्होने बौद्ध मनोविज्ञान से प्रभावित होकर कहे हैं किन्तु जो वैसे सामान्य रूप से समग्र बौद्ध दर्शन के लिए ही सुप्रयुक्त है 'एक तुलनात्मक धर्म के विद्यार्थी के नाते मैं विश्वास करता हूँ कि बौद्ध धर्म ही सबसे अधिक परिपूर्ण धर्म है जिसे ससार ने देखा है। बुद्ध का दर्शन, विकासवाद का सिद्धान्त, कर्म का नियम, ये किसी भी सिद्धान्त से बहुत अधिक श्रेष्ठ है।'[1] उनके चेतना-विज्ञान का तो कहना ही क्या?

९—कर्म और पुनर्जन्मवाद

कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक नय की सामान्य सम्पत्ति हैं। परन्तु भगवान् बुद्ध के लिए कर्म और पुनर्जन्म दार्शनिक सिद्धान्त मात्र न

(१) अंग्रेजी उद्धरण के लिए देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, केसियस ए पेरिरा का प्राक्कथन, पृष्ठ ४

बुद्ध-शासन में कर्म का स्वरूप और महत्व

थे। बोधि प्राप्त करते समय उन्होने स्वयं अपने पुनर्जन्मो को स्मरण किया था और कर्म-सचालित प्राणियों को नाना योनियो में आते-जाते प्रत्यक्ष देखा था[1]। भगवान् बुद्ध को प्रति-समय प्राणियो के कर्मानुसार सुगति-दुर्गतियो में जाने का ज्ञान रहता था। वत्सगोत्र (वच्छगोत्त) नामक परिव्राजक से उन्होने कहा था, "वत्स! मैं जब चाहता हूँ अपने अनेक पूर्वजन्मो को स्मरण कर सकता हूँ। शरीर और नाम के सहित अपने अनेक पूर्वजन्मो को मैं स्मरण करता हूँ। वत्स! मैं जब चाहता हूँ अ-मानुष, विशुद्ध, दिव्यचक्षु से, मरते, उत्पन्न होते, नीच, ऊँच सुवर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, कर्मानुसार गति को प्राप्त प्राणियो को जानता हूँ[2]।" इस प्रकार कर्मानुसार पुनर्जन्म की प्राप्ति का ज्ञान भगवान् बुद्ध के लिए एक स्वसवेद्य अनुभव था। वे अपने को त्रैविद्य (तेविज्ज) अर्थात् तीन विद्याओ का जाननेवाला मानते थे और इन तीन विद्याओ में से दो विद्याओ का सम्बन्ध अपने और अन्य प्राणियो के कर्मानुसार पूर्वजन्मो के स्मरण से था। पारिभाषिक शब्दो में इन्हें पूर्वनिवासानुस्मृति और प्राणियो की उत्पत्ति और च्युति सम्बन्धी ज्ञान कहा गया है[3]। भगवान् बुद्ध के अनेक शिष्य-शिष्याओ को भी पूर्व-जन्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त था। 'तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता', (तीनो विद्यायें प्राप्त कर ली),' तिस्सो विज्जा सच्छिकता' (तीनो विद्यायें साक्षात्कार कर ली), ऐसे अनेक उद्‌गार 'थेरीगाथा' मे भिक्षुणियो ने किये है। भिक्षुणी ऋषिदासी (इसिदासी) ने 'थेरीगाथा' में अपने पूर्वजन्मो का जो वर्णन किया है[4], वह तो अत्यन्त मार्मिक ही है। आर्य महाकाश्यप और धर्मसेनापति सारिपुत्र जैसे भगवान् के महाप्रज्ञ शिष्य पूर्व-जन्म सम्बन्धी ज्ञान से

---

(१) देखिये विनय-पिटक—महावग्ग; बोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५) वेरजक ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)। मिलाइये पोतलिय-सुत्त (मज्झिम० २।१।४)

(२) तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

(३) तीसरी विद्या थी आस्रवों के क्षय से आस्रव-रहित चित्त की विमुक्ति। देखिये तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

(४) देखिये गाथाएँ ४००-४४७

सम्पन्न थे। यह एक अनुभव था, जो उन्हें अन्तर्ज्ञान के परिणामस्वरूप प्राप्त था।

हेतु और प्रत्ययो से सचालित भव-प्रवाह में भगवान् ने 'कम्म' (कर्म) को ही सम्पूर्ण भौतिक और मानसिक व्यापारो का नियामक तत्व पाया था। यही वह 'गहकारक' (गृहकारक) था जिसे उन्होने वोधि प्राप्त करते समय देखा था। "हे गृहकारक! तुम्हें देख लिया! अव तू घर नही वना सकेगा[1]।" यह 'कम्म' के लिये ही कहा गया था। ईश्वरवादी दर्शनो में जो स्थान ईश्वर का है वही स्थान वुद्ध-दर्शन में कर्म ने ले लिया है। परम तत्व के विपय में भगवान् का मौन है, वह केवल इसलिए कि कर्म ही प्रधान है। ईश्वर को वे सृष्टिकर्ता नही मानते, वह केवल इसलिये कि दुःख की सृष्टि भी ईश्वर-कृत माननी पडेगी और फिर ईश्वर कारुणिक कैसे हो सकेगा? ईश्वर को दुःख का कर्ता या स्रष्टा मान लेने पर उसके प्रहाण के लिये पुरुपार्थ को पूर्ण अवकाश भी कैसे मिल सकेगा? दुःख के लिये इस प्रकार क्या मनुष्य ईश्वर को ही उत्तरदायी नही ठहरायेगा? उसकी स्वतत्र सकल्प शक्ति का ह्रास हो जायगा। इसलिये पुरुषार्थ की अन्यर्थता के लिये यही कहना पडेगा कि 'न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु' और यही भगवान् वुद्ध की भी दृष्टि थी। अपने कर्म के अनुसार ही प्राणी दुःख सुख भोगते हैं, अत विश्व की योजना में कर्म ही प्रधान है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। कोई प्राणी किसी दूसरे को दुःख-सुख का देने वाला नही है, सव अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं। ईश्वर को या किसी अन्य को दोप देना व्यर्थ है। यह विचार द्वेप का प्रहाण करता है। कर्म का सिद्धान्त जीवन और जगत् की सगति वैठाता है, इसलिये वह प्राय सव भारतीय दर्शनो को मान्य है।

जीवन में जो भयकर विषमता दिखायी पडती है, उसका कारण क्या है, इसका उत्तर पूछा जाने पर भगवान् का केवल कहना था 'कम्म'। शुभ नामक माणवक (व्राह्मण विद्यार्थी) ने भगवान् वुद्ध से एक वार पूछा था, "हे गोतम! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि मनुष्य ही होते मनुष्य रूपवालों में

(१) गहकारक दिट्ठोसि पुन गेह न काहसि। धम्मपद ११।९

हीनता और उत्तमता दिखायी पडती है ? हे गोतम ! यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में आते हैं और दीर्घायु भी, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-रूपवान्, असमर्थ-समर्थ, दरिद्र-धनवान्, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान् मनुष्य यहा दिखायी पडते हैं। हे गोतम ! क्या कारण है कि यहाँ प्राणियो में इतनी हीनता और प्रणीतता (उत्तमता) दिखाई पडती है[1] ।" इसका उत्तर जो भगवान् ने दिया वह बुद्ध-शासन में कर्म के स्थान को पूर्णत. विनिश्चित कर देता है। भगवान् का उत्तर था, "माणवक ! प्राणी कर्मस्वक (कर्म ही है अपना जिनका) है, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है[2] ।" इस प्रकार इन स्मरणीय शब्दो में भगवान ने स्पष्ट कर दिया है कि वे जीवन की विषमता का मूल कारण कर्म को मानते है। कर्म ही प्राणियो को हीन और उत्तम में बाँटता है। जिसका जैसा कर्म है, वैसा उसका फल है। कोई स्त्री या पुरुष, यदि वह प्राणातिपाती है, क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, लोभी है, अभिमानी है, पाप-कर्मों में चित्त को लगानेवाला है तो वह उस काया को छोड, मरने के बाद, दुर्गति में उत्पन्न होता है और यदि मनुष्य योनि में आता है तो हीन होता है, दरिद्र, और निर्बुद्धि होता है। इसी प्रकार जिसके कर्म शुभ है, वह सुगति में जन्म लेता है और यदि मनुष्य योनि मे आता है तो उत्तम, स्वस्थ, समृद्ध और प्रज्ञावान् होता है[3]। सुगति या दुर्गति का पाना इस प्रकार कर्म के शुभ या अशुभ होने पर निर्भर है।[4] सदाचार से सुगति और दुराचार से दुर्गति प्राप्त होती है[5]। किसी व्यक्ति के चित्त को अपने चित्त से जानकर और उसके कर्मों का अपनी ज्ञान-दृष्टि से प्रत्यक्ष

---

(१) चूल कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।५)

(२) "कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धू कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीततायाति ।" चूल-कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।५)

(३) देखिये चूल कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।५)

(४) महा कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।६)

(५) देखिये सालेय्य-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।१); वेरंजक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।२)

कर भगवान् यह जान जाते थे कि मरने के बाद यह अमुक शुभ या अशुभ योनि में उत्पन्न होगा[1] । इसी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर भगवान् का भिक्षुओ के सामने जामिन वनते हुए यह कहना था, "भिक्षुओ ! क्रोध को छोडो. लोभ को छोडो, द्वेप को छोडो मै तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर इस आवागमन में आना नही पडेगा[2]।" कर्म के नियम की अवावता में भगवान् का जीवित विश्वास था और अनेक वार उन्होने मार्मिक शव्दो में कहा है कि उनके समान यदि अन्य प्राणी भी यह जान जाये कि दुष्कर्म और सुकर्म के परिणामस्वरूप दुर्गति और सुगति प्राप्त होती है तो वे दुष्कर्मों को छोडकर सुकर्म करने लग जायें[3] । जन्म नही किन्तु कर्म ही प्रधान है। कर्म से ही व्राह्मण वनता है, जन्म से नहीं। वुद्धोपदिप्ट 'चातुर्वर्णी शुद्धि' का आधार कर्म ही है। चाहे शूद्र हो या अन्य कोई प्राणी, यदि वह स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना करता है तो निर्वाण को साक्षात्कार करता है[4] । कर्म मनुष्य-मनुष्य मे भेद नही करता । पुण्य कर्म से आयु की वृद्धि होती है[5] और वत्तीस महापुरुप लक्षण भी मनुष्य पूर्व जन्म के किये कर्मों के परिणामस्वरूप पाता है[6] । साराश यह कि विश्व की व्यवस्था में कर्म ही प्रधान है। इसीलिये भगवान् ने कहा है 'कर्म-प्रतिशरण वनो ।' कर्म की शरण लो, अन्य किसी की शरण मत लो। कर्म ही यहाँ तुम्हारा अपना है । वुद्ध की शरण जाना भी अन्तत कर्म की ही शरण जाना है । वुद्ध-शरण और कर्म-शरण में कोई भेद नही है । जिसका कर्म अच्छा है, वह वुद्ध के समीप है चाहे वह उनसे सौ योजन की दूरी पर भी है और जिसका कर्म वुरा है, वह वुद्ध से दूर है चाहे वह उनकी सघाटी के छोर को पकडकर उनके पैरों के पीछे पैर रखता हुआ ही चल रहा है[7] । वुद्ध को तो वस्तुतः

---

(१) देखिये चित्त सुत्त (इति वुत्तक); दुट्ठ चित्त सुत्त (इति वुत्तक); सक्कार सुत्त (इति वुत्तक)
(२) देखिये इतिवुत्तक (पाटिभोग वग्ग)
(३) देखिये दिट्ठ-सुत्त (इति वुत्तक)
(४) अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ० ३।४)
(५) चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ० ३।३)
(६) देखिये लक्खण-सुत्त (दीघ० ३।७)
(७) देखिये संघाटि-सुत्त (इतिवुत्तक)

वही देखता है जो धर्म को देखता है[1] और धर्म को देखने का अर्थ है कर्म करना। भगवान् बुद्ध की हम पर अनुकम्पा है और इस अनुकम्पा का अर्थ केवल यह है कि हम उनके धर्म-दायाद बनें, कर्म करें[2]। "भिक्षुओ ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है। वह क्या ? यही कि तुम मेरे धर्म-दायाद बनो[3]।" जो धर्म-दायाद बनना है, वही कर्म-दायाद बनना है। इसलिये भगवान् ने यह भी कहा है कि कर्म-दायाद बनो। जिसकी बुद्ध के बुद्धत्व और करुणा में श्रद्धा है, उससे भगवान् यही अपेक्षा करते हैं कि वह कर्म करे, धर्म का अभ्यास करे, अकुशल कर्मों का उन्मूलन कर कुशल कर्मों की वृद्धि करे। "भिक्षुओ ! यदि तुम्हे मेरे विषय में यह होता है कि भगवान् हितैषी, अनुकम्पक शास्ता है, अनुकम्पा करके धर्म उपदेश करते है, तो भिक्षुओ ! मेरे उपदिष्ट धर्मों का अभ्यास करो।"[4] कर्म ही भगवान् बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की आधार-शिला है। कर्म ऐसा अव्यर्थ नियम है जिसकी अवहेलना स्वय भगवान बुद्ध भी नही कर सकते। भगवान् इसे जानते हैं। इसीलिये वे अपने शिष्यो से अपने सम्पूर्ण उपदेश को देने के बाद कहते है, "अनुकम्पक शास्ता को तो तुम्हारे हित की दृष्टि से जो कुछ करना चाहिये था, वह कर दिया ! अब भिक्षुओ। ये वृक्ष-मूल हैं, ये सूने घर हैं, ध्यान करो, प्रमाद मत करो।"[5] गवान् जानते हैं कि कर्म ही उद्धार करेगा, उपदेश नही। इसलिये वे अपने धर्म का मूल अभ्यास में ही मानते हैं और यह कर्म की प्रधानता स्वीकार करना ही है। बोधिपक्षीय धर्म कर्म-स्वरूप हैं, और प्रतीत्य समुत्पाद का चक्र कर्म के नियम के कारण ही चलता है। कर्म और विपाक के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्योन्याश्रित भाव से यह ससार-चक्र चलता है, यह कर्म के सिद्धान्त की धुरी है, जिसे तथागत ने सिखाया है·

---

(१) उपर्युक्त के समान, देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १२० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) भी ।

(२) देखिये धम्मदायाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।३)

(३) धम्मदायाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।३)

(४) किन्ति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।३)

कम्मा विपाका वत्तन्ति वपाको कम्म सम्भवो ।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्ततीति ॥

(५) इन्द्रिय-भावना-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।१०)

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो ।
कम्मा पुनब्भवो होति एव लोको पवत्ततीʼति ।[1]

कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और स्वय विपाक कर्म-सम्भव हैं। कर्म से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह ससार प्रवर्तित होता है।

इस प्रकार बुद्ध-शासन की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु भगवान् बुद्ध निर्मम कर्मवाद के उपदेष्टा होने के साथ-साथ कारुणिक शास्ता भी थे। एक वार भिक्षुओ को आमन्त्रित कर भगवान् ने उनसे कहा था 'भिक्षुओ! चिरकाल तक माता के मरने का दुख सहा है, पिता के मरने का दुख सहा है, पुत्र के मरने का दुख सहा है, लडकी के मरने का दुख सहा है, रिश्तेदारो के मरने का दुख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुख सहा है, रोगी होने का दुख सहा है ससार में वार-वार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के सयोग के कारण रो-पीट कर आंसू वहाए हैं। ... तो क्या भिक्षुओ! मानते हो कि चारो महा समुद्रो में जो पानी है, वह अधिक है अथवा यह जो इस ससार में वार-वार जन्म लेने वालो ने प्रिय के वियोग और अप्रिय के सयोग के कारण रो पीट कर आँसू वहाए है?' 'भिक्षुओ! . जो रो पीटकर आसू वहाए है वे ही अधिक है, इन चारो समुद्रो का जल नही[2]।' इस प्रकार उन शास्ता ने कहा। पुन भगवान् ने यह भी कहा 'इस प्रकार भिक्षुओ! दीर्घ काल तक दुख का अनुभव किया है, तीव्र दुख का अनुभव किया है, वडी वडी हानियाँ सही हैं, श्मशान भूमि को पाट दिया है। अव तो भिक्षुओ! सभी सस्कारो से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो[3]।' किन्तु यह सव करें कैसे? व्यथित हृदय को लिये जव 'उपसीव माणव' भगवान् से पूछता है 'हे शक्र! मै अकेले महान् ओघ को निराश्रित हो तरने की हिम्मत नही रखता। हे समन्त चक्षु! अवलम्व वताओ' तो कठोर नियम मे विश्वास रखने वाले बुद्ध ने उसके प्रति यही मात्र कहा 'आकिंचन्य को देख रात दिन तृष्णा के क्षय को देख'[4] इसी प्रकार अन्य व्यक्तियो से भी उनका यही उपदेश था,

---

(१) विभंग, पृष्ठ ४२६, विसुद्धिमग्ग (कङ्खावितरणविसुद्धिनिद्देसो) में उद्धृत।
(२) संयुत्त-निकाय १४।२, भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद 'बुद्धवचन' पृष्ठ ९-१० में।
(३) देखिए 'बुद्धवचन', पृष्ठ १०
(४) देखिये सुत्तनिपात (पारायण वग्ग)

"तुम्हे ही परिश्रम करना पडेगा, तथागत तो केवल मार्ग दिखानेवाले हैं[१] ।" 'आत्मा ही आत्मा का स्वामी है[२]', यह कर्म की निर्वन्ध प्रधानता को दिखाने के लिये ही कहा गया था। तथागत ने अपने शिष्यो को अपनी शरीर-पूजा करने की अनुमति नही दी, यह भी कर्म पर उनके अधिक जोर देने के कारण ही था। महापरिनिर्वाण में प्रवेश करने के लिए तैयार तथागत से आनन्द ने पूछा 'भन्ते ! तथागत के शरीर को हम क्या करेंगे ? 'कथ मय भन्ते तथागतस्स सरीरे पटिपज्जामा'ति' । तथागत ने कहा कि तथागत की शरीर-पूजा करने वाले तो अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय, गृहपति, पण्डित होगे, आनन्द ! तुम्हे इसके विषय में पर्वाह करने की क्या जरूरत है ? (अव्यावटा मा तुम्हे आनन्द होय तथागतस्स सरीर पूजाय)'तुम तो आनन्द ! केवल सदर्थ के लिए प्रयत्न करो, सदर्थ के लिए उद्योग करो, सदर्थ में अप्रमादी, उद्योगी, आत्म-सयमी हो विहरो । 'इव तुम्हे आनन्द सदत्थे घटथ, सदत्थमनुयुञ्जथ, सदत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ'[३] । इसी प्रकार भगवान् ने अपने वाद किसी व्यक्ति-विशेष को सघ का नेता नही चुना, यह भी 'कर्म' की प्रधानता के कारण ही था। अपने महापरिनिर्वाण के वाद तथागत ने भिक्षुओ को 'धम्मदायाद के रूप में ही छोडा, 'आमिषदायाद' वनाकर नही[४] । भगवान् परिनिर्वृत हो गए है। आनन्द से लोग पूछते है 'भो आनन्द ! क्या आप सव में एक भिक्षु को भी उन गौतम ने यह कहकर स्थापित किया है 'मेरे वाद यह तुम्हारा प्रतिशरण होगा ' जिसका कि आप इस समय अनुसरण करते है ।

'नही ब्राह्मण !'

'भो आनन्द ! इस प्रकार प्रतिशरण रहित होने पर एकता का क्या हेतु है ?'

---

(१) तुम्हेहि किच्चं आतप्प अक्खातारो तथागता । धम्मपद २०।४

(२) अत्ताहि अत्तनो नाथो । धम्मपद १२।४, २५।२१

(३) महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३), मिलाइए, 'अकम्मं हेत महाराज जिनपुत्तानं यदिद पूजा। सम्मसन सखारान, योनिसो मनसिकारो, सतिपट्ठानानुपस्सना, आरम्मणतारग्गाहो, किलेसयुद्ध, सदत्थमनुयुञ्जना, एतं जिनपुत्तान करणीय। अवसेसानं देवमनुस्सानं पूजा करणीया'। मिलिन्द पञ्हो, मेण्टक पञ्हो ।

(४) देखिए धम्म दायाद सुत्त (मज्झिम० १।१।३)

'ब्राह्मण ! हम प्रतिशरण रहित नही हैं, हम धर्म प्रतिशरण हैं'[1]

ससार का कोई भी ऐसा धर्म सस्थापक या शास्ता नही है जिसने एक सघवद्ध धर्म को इस प्रकार केवल 'कर्म' या 'धर्म' मात्र प्रतिशरण छोडा हो और फिर भी जिससे ससार की सव से अधिक आत्माएँ शान्ति पाती हो अथवा जिसका शासन वे मानती हो। निश्चय ही दुर्दमनीय अगुलिमाल की तरह यह पथभ्रष्ट सारा जगत् ही शाक्यमुनि को शास्ता पाकर उद्गार कर सकता है :

'कोई दण्ड से दमन करते हैं,
कोई शस्त्र और कोडे से भी,
किन्तु तथागत के द्वारा विना दण्ड और
विना शस्त्र के ही में दमन किया गया हूँ[2]।'

कर्म के तीन स्वरूप अथवा मार्ग हैं, कायिक, वाचसिक और मानसिक, अर्थात् शरीर सवधी, वाणी सम्वन्धी और मन सम्वन्धी। इनमें मन-सम्वन्धी कर्मों को तथागत ने प्रधान माना है। कर्म को वस्तुत उन्होने चेतनामय ही कहा है, यह हम पहले देख चुके हैं। कर्म कुशल हो सकते हैं, अकुशल हो सकते हैं और अव्याकृत भी। कर्म के स्थूल परिणाम के अनुसार नही, वल्कि उसे उत्पन्न करने वाली मानसिक चेतना के अनुसार, कर्म का वर्गीकरण वौद्ध दर्शन में किया गया है। कर्म के मूल में लोभ, द्वेष और मोह हो सकते हैं (अकुशल) और अलोभ, अद्वेष और अमोह भी (कुशल)। इस तथ्य को हम वौद्ध 'मनोवैज्ञानिक आचारतत्त्व' के विवेचन में देख चुके है। कर्मों का शील के रूप में क्या व्यापक स्वरूप होना चाहिए, इसे 'वोधिपक्षीय' धर्मों के विवेचन में दिखा चुके हैं। यहाँ अत्यन्त साधारण दृष्टि से मन, वाणी और शरीर के दस कुशल और अकुशल कर्मों का कुछ निर्देश करना आवश्यक ह। ये दस अकुशल कर्म है :—

(१) प्राणातिपात—प्राणि-हत्या करना।
(२) अदन्नादान—चोरी करना। शरीर के कृत्य
(३) कामेसु मिच्छाचार—काम भोग सम्बन्धी दुराचार।
(४) मुसावाद—असत्य भाषण।
(५) पिसुना वाचा—पिशुन वचन। वाणी के कृत्य
(६) फरुसा वाचा—कठोर वचन।
(७) सम्फलाप—व्यर्थ आलाप।

(१) गोपकमोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम० ३।१।८)
(२) अंगुलिमाल सुत्त (मज्झिम० २।४।६)

(८) अभिज्जा—लोभ
(९) व्यापाद—मानसिक हिंसा। } मन के कृत्य
(१०) मिच्छादिट्ठि—मिथ्या दृष्टि।

ये लोभ, द्वेष और मोह के कारण उत्पन्न होते हैं। इनके विपरीत 'कुशल' कर्म वे हैं जो अ-लोभ, अ-द्वेष और अ-मोह से उत्पन्न होते हैं। लोभ, द्वेष और मोह हमारी भाषा में बडे साधारण शब्द हैं, किन्तु बौद्ध दर्शन में इनकी जो गम्भीर मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है, उसे हम 'मनोवैज्ञानिक आचारतत्व' के विवेचन में स्पष्ट कर आए हैं। हम पहले इस बुद्ध-वचन को उद्धृत कर चुके हैं कि सभी प्राणियो की कर्म से ही उत्पत्ति है अथवा वे कर्म रूपी योनिवाले हैं। निश्चय ही यह बुद्ध-वचन दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बुद्ध ने इस तथ्य को बडी मार्मिकता के साथ प्रकट किया है कि हमारे पूर्व के कर्म, विचार तथा अनुभव के परिणाम स्वरूप ही हमारा आज का व्यक्तित्व है। जो कुछ हमने अनुभव किया है, जो कुछ हमने सोचा है, जो कुछ हमने किया है, वही हमारे वर्तमान व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाला है। हम कर्म के ही उत्तराधिकारी हैं। मन इसमें कितना बडा भाग लेता है, यह हम 'मनोवैज्ञानिक आचारतत्व' के विवेचन में दिखा आए हैं। तथागत ने सब सत्ता 'कर्म' को ही अर्पित कर दी है, अत कुछ को उनके 'निरीश्वरवादी' होने का आभास मिलता है। इस प्रश्न पर हम इसी प्रकरण में 'क्या बुद्ध अनीश्वरवादी हैं ?' पर विचार करते समय आएँगे। अन्य भारतीय दर्शनो के साथ 'कर्म' के विषय को लेकर भगवान् तथागत की क्या असमानता या समानता है, इस पर हम पाँचवें प्रकरण में आएँगे। कर्म से ही स्वभावत पुनर्जन्म की सिद्धि है। तथागत ने भी अन्य भारतीय विचारको की तरह पुनर्जन्म को एक स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में ही स्वीकार किया है, सकारण सिद्ध करने की तो न्याय ने ही अपूर्ण चेष्टा की है, जैसी कि ईश्वर कर्तृवाद की भी।

इस प्रकार हमने देखा कि कर्म का भगवान् ने उपदेश दिया और पुनर्जन्म को उन्होने स्वीकार किया। किन्तु पुनर्जन्म किसका ? स्थिर आत्मा तो है ही नही, कर्ता भोक्ता किसे मानते हो ? कौन कर्म के फिर फल पावेगा ? सभी 'सस्कारो' को तो अनित्य बतलाते हो, फिर नित्य क्या रहेगा ? 'मैं क्या होकर क्या होऊँगा ?' जब 'मैं' ही नही है, तो निर्वाण का उपदेश किसके लिए करते हो ? कर्म का दायाद किसे बनाते हो, जब कर्म का देनेवाला ही कोई नही ?

'अत्त दीप' क्यो कहते हो जब 'अत्ता' को मानते ही नही ? 'कुशल', और 'अकुशल' कर्मों के फल की क्या सगति बैठाते हो, जब कहते हो कि एक क्षण में ही पुद्गल परिवर्तित हो जाता है ? निश्चय ही प्रश्नो की सख्या बहुत दूर तक बढाई जा सकती है। सच बात तो यह है कि इनमें से किसी एक के सफल उत्तर मे ही समग भारतीय दर्शन अच्छी तरह व्याख्यात किया जा सकता है। हमें यहां केवल बुद्ध-मन्तव्य को ही जानने से प्रयोजन है। अन्य दर्शनो की बात पर हम बाद में आएँगे। बुद्ध ने सभी सस्कारो को अनित्य बताया है और उनके प्रतीत्य समुत्पन्न भाव को दिखाया है। इससे स्पष्ट है कि जन्म और मरण की क्रियाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रतिक्षण चला करती है। आचार्य बुद्ध-घोष कहते है 'यथार्थ रूप से देखा जाय तो प्राणियो का जीवन-काल एक चित्त-क्षण मात्र है। जिस प्रकार रथ का पहिया जब चलता है तब पहिए का एक ही भाग पृथिवी पर टिकता हुआ चलता है। जब खडा होता है तब भी एक ही भाग पृथिवी पर टिकते हुए खडा होता है। उसी प्रकार प्राणियो का जीवन-काल एक ही चित्त-क्षण मात्र है। उस चित्त-क्षण के निरोध होने पर 'प्राणी मर गया, निरुद्ध हो गया, कहा जाता है'[1]। इसलिये 'बीते चित्त-क्षण की अवस्था में प्राणी जीता था, न जीता है, न जीएगा, भविष्य के चित्त-क्षण की अवस्था में प्राणी जीएगा, न जीता था, न जीता है, वर्तमान चित्त-क्षण की अवस्था में प्राणी जीता है, न जीता था, न जीएगा[2]।

पुनर्जन्म की समस्या को सुलझाने के लिए हमें भदन्त नागसेन का सहारा लेना पडेगा। स्थविर नागसेन से राजा मिलिन्द ने पूछा—

'भन्ते नागसेन ! कौन उत्पन्न होता है ? क्या वह वही रहता है या अन्य हो जाता है ? 'यो उप्पज्जत्ति सो एव सो उदाहु अञ्ञो'ति ?[3]

(१,२) अभिधम्मत्थ सगहो (स्वर्गीय भिक्षु श्री वर सम्बोधि जी द्वारा अनुवादित) पृष्ठ १६ में उद्धृत।

(३) राजा के इस प्रश्न में क्षणिकवाद और अनात्मवाद की समस्याएँ कितनी गम्भीरता से छिपी पडी है, इसे बताने की यहा जरूरत नही। नागसेन का मत साक्षात् बुद्ध का मत न होने पर भी यहा निरूपण करने के योग्य है, क्योकि न केवल बुद्ध के (जो स्थविरवादियों की परम्परा से ही अन्तत गम्य है) ही किन्तु स्थविरवाद परम्परा के दृष्टिकोण से भी हमें इस प्रकरण में उससे प्रयोजन है।

स्थविर कहते है (निश्चय ही 'विभज्यवादी' बुद्ध की वास्तविक शैली पर जिसे हम बुद्ध-मन्तव्य की परिचायक कह सकते है,) 'न तो वही और न अन्य ही' 'नच सो नच अञ्ञो'ति' । राजा की समझ में यह उत्तर नही आया तो महास्थविर उसे इस प्रकार उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष एक बच्चा होता है और जब वह एक तरुण युवा होता है तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है ? नही, ऐसा नही होता । बालक अन्य होता है और वह तरुण युवा अलग होता है । किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है, तब तो फिर न किसी की कोई माता रहेगी, न पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा महाराज ! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगी कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न-भिन्न है, अन्य से अन्य हो गए है । क्या एक बच्चे की माँ विभिन्न है, एक युवा की माँ से 'अञ्ञा खुद्दकस्स माता अञ्ञा महन्तस्स माता ?' ऐसा होने पर तो महाराज ! विद्यार्थी जब पाठशाला में पढने जाता है तब वह अन्य ही है और जब अपना विद्याध्ययन समाप्त करता है, अन्य ही है ? 'अञ्ञो सिप्प सिक्खति, अञ्ञो सिक्खितो भवति'—अन्य ही शिल्प सीखता है और अन्य ही शिक्षित होता है ! अन्य ही पाप करता है और अन्य ही के दण्ड-स्वरूप हाथ पैर काटे जाते है ? राजा घबरा जाता है क्योकि पहले वह स्वय ही कह आया है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य, अत वह कुछ समझ नही सकता कि वह क्या कहे ? विवश होकर वह नागसेन से कहता है कि भद्र, आप ही मुझे बताइए कि क्या बात है 'त्व पन भन्ते एवं वुत्ते किं वदेय्यासीति' । स्थविर ने उसे उदाहरण देते हुए समझाया कि 'धर्मों के लगातार प्रवाह से, उनके सघात रूप मे आजाने से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और यह काम इस प्रकार होता है जैसे मानो युगपत् । इसलिए न तो (सर्वथा) 'उसी' की तरह और न (सर्वथा) अन्य की तरह, वह जीवन की अन्तिम चेतनावस्था पर आता है[1] । फिर भी नागसेन

(१) एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति, अञ्ञो उप्पज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरिय विय सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिसविञ्ञाणे पच्छिम विञ्ञाणं सगहं गच्छतीति । मिलिन्दपञ्हो, लक्खण पञ्हो, पृष्ठ ४३

मिलिन्द को पूरी तरह से सन्तुष्ट नही कर सकते, और वह पूछता है 'भन्ते नागसेन ! यह क्या है जो जन्म ग्रहण करता है ?' (भन्ते नागसेन को पटिसन्दहतीति) । भदन्त नागसेन उत्तर देते है 'नाम-रूप खो महाराज पटिसन्दहतीति'—'हे महाराज ! नाम रूप जन्म ग्रहण करता है ।'

क्या यही नामरूप जन्म ग्रहण करता है ?' राजा पूछता है। भदन्त उत्तर ते है कि यह नाम-रूप ही जन्म ग्रहण नही करता किन्तु, इस नामरूप के द्वारा शुभ या अशुभ कर्म किए जाते है और उन कर्मों के द्वारा एक अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है, वही ससरण करता है 'न खो महाराज इम येव नाम-रूप पटिसन्दहति इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्म करोति सोभन वा पापक वा, तेन कम्मेन अञ्ञ नामरूप पटिसन्दहतीति'। यह तत्व भी राजा मिलिन्द की समझ में नही आया और वह 'कृतप्रणाश' (इस प्रमार के उद्धरण को क्षम्य माना जाए—देखिए आगे वौद्ध क्षणिकवाद का विवेचन) की आपत्ति उठाता है जिसका सफलतापूर्वक निरसव करते हुए विचित्र उपमाओ से उस का समाधान करते हुए (जो उनकी एक वडी विशेषता है, ज्ञानेश्वर की तरह ही) वे राजा को यह तथ्य वतलाते है, जो हमारे दृष्टिकोण से यहाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण है और जिसकी ओर निदर्शन करने के लिये ही हमने इतने प्रसगान्तर को छेडा है', इसी प्रकार है राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य । किन्तु द्वितीय (नामरूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है'[१] । अत हे महाराज धर्म-सन्तति ही ससरण करती है ।' 'एवमेव खो महाराज धम्म सन्तति सन्दहति'[२] । इस प्रकार उपयुक्त रूप से भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद की भूमि को बिना क्षति पहुचाये हुयेपुनर्जन्म की सगति लगाने का प्रयत्न किया है। यह निश्चित है कि भदन्त नागसेन की यह व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य के सर्वथा अनुकूल है ।

---

(१) एवमेव खो महाराज किंचापि अञ्ञ मारणान्तिकं नामरूपं अञ्ञं पटिसन्धिस्मि नामरूप अपि च ततोयेव त निब्बत्तंति । मिलिन्दपञ्हो (लक्खणपञ्हो)

(२) मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो)

भगवान् बुद्ध के समय में साति केवट्टपुत्र नामक भिक्षु को यह मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई थी कि वही एक विज्ञान आवागमन करता है। इस पर भगवान् ने उसे समझाया था कि विज्ञान तो प्रतीत्यसमुत्पन्न है। चक्षुरादि के प्रत्यय से वह उत्पन्न होता है। वह तो भौतिक पदार्थों की अपेक्षा भी अधिक क्षणिक है[1]। वह शाश्वत रूप से ससरण करने वाला नही हो सकता[2]। वस्तु स्थिति यह है कि एक जन्म के अन्तिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खडा होता है। इस कारण न तो वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है। यही बौद्ध दर्शन की स्थिति है। साति भिक्षु विज्ञान को औपनिषद आत्मा की शाश्वत स्थिति देना चाहता था। ऐसा लगता है कि साति भिक्षुकी मिथ्या धारणा दूर नही हुई और आठवी शताब्दी में वह शकर बनकर भारत में जन्मा। पूर्व-जन्म के सस्कार के कारण वह अपने बौद्ध रूप को नही भुला सका और साथ ही जन्म-जन्म के अभ्यास से प्राप्त अपनी धारणा को भी नही छोड़ सका। क्षणिक और प्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञान को उसने शाश्वत आत्मवादी रूप प्रदान कर दिया, जिसके सम्बन्ध में बाद में। इस प्रकार हम देखते है कि अनात्मवाद के आधार पर पुनर्जन्म की व्यवस्था बौद्ध दर्शन में की गई है और वह कर्म के उत्तरदायित्व पर पूर्ण बल देती है। 'कभी भी पीछा न छोडने वाली छाया के समान कर्म मनुष्य का पीछा करते है[3]' यही कारण है कि बौद्ध आचारतत्व सार्थकता पाता है और हम कह सकते है —

'अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च सवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मि पन्तञ्च सयनासन॥
सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपन एत बुद्धान सासन[4]॥

---

(१) "चारों महाभूतो की यह काया एक-दो-सात वर्ष तक भी विद्यमान देखी जा सकती है, किन्तु यह चित्त, मन या विज्ञान तो रात और दिन में भी दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही विनष्ट होता है।" संयुत्त-निकाय १२।७

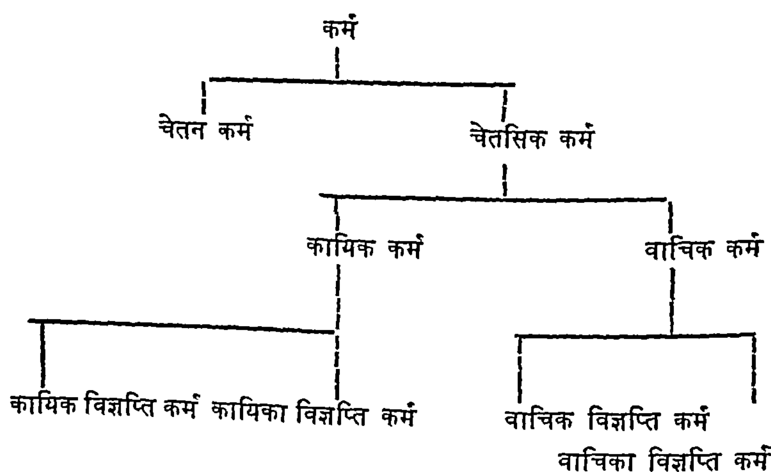
(२) महातण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)

(३) मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो)

(४) धम्मपद। (बुद्धवग्गो)

(निन्दा न करना, घात न करना, प्रतिमोक्ष द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्त में सोना-बैठना, सारे पापो का न करना, पुण्यो का सचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना, यही वुद्धो की शिक्षा है)।

बुद्ध-शासन एक स्वत परिपूर्ण दर्शन है, जिसे न किसी आदि की आवश्यकता है और न किसी अन्त की। वह सत्य के आधार पर निरपेक्ष खडा है, अनादि-और अनन्त! बुद्ध की सम्यक् सम्बोधि इसकी साक्षी है और विशुद्धि का यही एक मात्र मार्ग है। यद्यपि हमे यहा विशुद्ध स्थविरवाद परम्परा के अनुसार ही 'कर्म' का निरूपण इष्ट है और वैसा हमने कर भी दिया है, किन्तु यहाँ सर्वास्तिवादियो के द्वारा 'कर्म' के विभाजन का कुछ निर्देश करना आवश्यक जान पडता है, क्योकि उस में वास्तव में कोई नवीनता नही है, केवल विभाजन सर्वास्तिवादियो का है और मूल बातें सव स्थविरवादियो की है। इस विभाजन का यदि पहले हमारे द्वारा किए गये मनोवैज्ञानिक विवेचन से तथा वही कर्म के किए हुए त्रिविध विभाग से मिलान करेंगे तो बौद्ध दर्शन में कर्म का जो महत्व है वह कुछ स्पष्टता के साथ विदित हो जायगा। 'सर्वास्तिवादी' कर्म का विभाजन इस प्रकार करते हैं[1] —



(१) विशेष विस्तार के लिए देखिए यामाकामी सोजन: सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १५०-१५२

कर्म का सिद्धान्त सभी बौद्ध दार्शनिको को मान्य है और यह उन सबकी विशेषता है। किन्तु निर्वाण-प्राप्ति की अवस्था में कर्म और पुनर्जन्म नही रहते। भव का प्रवाह वहाँ रुक जाता है, तृष्णा का निरोध हो जाता है, कर्म के निवेशनो मे प्राणी नही पडता, बल्कि करणीय कर लिया, ऐसी उसकी भावना जगती है। ज्ञानी के सम्बन्ध में गीता में जो यह कहा गया है 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पडित बुधा' यही बात अक्षरश अर्हत् के लिये भी ठीक है। अर्हत् के चित्त की अवस्था का नाम 'क्रिया-चित्त' है, अर्हत् का चित्त क्रिया मात्र करता है, वस्तुत वह 'निष्क्रिय' रहता है। सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी अर्हत् का कार्य विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है। आगे उसका कोई विपाक नही बनता। ज्ञानाग्नि उसे विदग्ध कर देती है। तभी उसे मोक्ष की सिद्धि है और तभी फिर माता के गर्भ में विज्ञान बनकर जाना नही होता, वह अपगर्भ हो जाता है और सभी प्रकार के सयोजनो से विमुक्ति पाता है। सक्षेप में वह निर्वाण-प्राप्त हो जाता है। उस समय उसके लिए धर्म भी उसी प्रकार की चीज़ रह जाती है जैसे नदी पार करने के बाद नाव, अतः उससे भी अभिनिवेश छोड़ देता है और क्लेश के क्षय हो जाने से केवल शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु, जब तक यह हालत न हो तब तक तो अदम्य वीर्य उत्पादित करना ही पडेगा, और भिक्षुणी तिष्या (तिस्सा) की तरह अपने को सम्बोधित करना ही पडेगा—

निर्वाण में कर्म और पुनर्जन्म का नि.शेष

'तिस्से युञ्जस्सु धम्मेहि खनो त मा उपच्चगा।
खनातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समीप्पता ॥' (थेरी-गाथा)

'हे तिष्ये! धर्म में लग। क्षण को मत बीतने दे। क्षण जिनके बीत गए, वे सोच करते हैं और नरक में गिरते हैं।,

१०—निब्बाण

जहाँ तक भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यो का सम्बन्ध है, निब्बाण (निर्वाण) आध्यात्मिक अनुभव की एक अवस्था का नाम है। कुछ विशिष्ट अर्थो मे उसे चित्त की अवस्था-विशेष भी कहा जा सकता है। बौद्धिक ऊहापोह का तो वह स्थविरवादी तत्त्व दर्शन में कभी विषय बनाया नही गया, जैसा प्राय बौद्ध दर्शन के उत्तरकालीन विकास में किया गया। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण का उपदेश अवश्य

निब्बाण अनुभव की एक अवस्था है, बुद्धिगत चिन्तन का परिणाम नहीं

दिया । परन्तु निवृत्त होकर वे यहाँ, इस जीवन में, रहे। यही उनका सर्वोत्तम उपदेश था। निर्वाण का आधार जीवन में है। वह एक वास्तविकता है, दिट्ठ धम्म (दृष्ट-धर्म) है, देखी हुई वस्तु है। जीवन की विशुद्धि ही विमुक्ति के रूप में साधक के लिये प्रकटित होती है। यही निर्वाण है। विशुद्धि और निब्बाण दोनो एक हैं[1]। साधन और साध्य की यह एकता ही बुद्ध-धर्म का मूल उपदेश है। अत निब्बाण के लिये प्रयत्न करना होगा, उसे जीवन में साक्षात्कार करना पडेगा। बुद्धि के चिन्तन से वह प्राप्य नही। इसीलिये कहा गया है, "निर्वाण का समझना आसान नही है[2]।" वह 'अतर्कावचर' धर्म है। भगवान् बुद्ध ने जिस परम अवस्था को प्राप्त किया वह उनकी उच्चतम साधना से सम्भूत थी न कि बौद्धिक चिन्तन से। 'श्रमण गोतम विमर्श से सोचे, अपने प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करता है'[3] यह तो भगवान् पर सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र जैसे व्यक्तियो द्वारा लगाया गया आरोप था, जो मिथ्या था। वस्तुत भगवान् आर्य-ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठता से युक्त थे, उत्तर-मनुष्य-धर्म से सम्पन्न थे। आस्रवो (चित्तमलो) के क्षय के द्वारा आस्रव रहित चित्त की विमुक्ति का, या दूसरे शब्दो में, प्रज्ञा की विमुक्ति का, उन्होने अपने जीवन में साक्षात्कार किया था। इसी का उपदेश साधको के जगत् को निर्वाण के रूप में मिला है।

निब्बाण—जैसा भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों ने अनुभव किया—अत्यन्त सुख—परम शान्ति

निब्बाण वस्तुत अहंभाव को विसर्जित करनेवाले पुरुष की महासुख अवस्था का ही नाम है। ब्रह्मचर्य का वह अन्तिम फल है। इस फल में प्रतिष्ठित एक साधक भिक्षु को देखकर भगवान् बुद्ध ने उल्लास पूर्वक कहा था, "ऊपर, नीचे सभी ओर से मुक्त हो गया। 'यह मैं'' इस भ्रम में नही पडता। इस प्रकार मुक्त हो भवसागर को पार कर जाता है,

(१) आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है "विसुद्धीति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्ध निब्बानं वेदितब्ब।" विसुद्धिमग्ग १।५; चूल वियूह-सुत्त (सुत्त-निपात) में निर्वाण को अन्तिम शुद्धि कहा गया है।

(२) उदान (पाटिलिगामिय वग्गो)

(३) महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।२)

जिसे पहले पार नही किया था। वह उसमें फिर नही पडता[१]।" एक दूसरे मुक्त पुरुष को देखकर भगवान् ने उद्‌गार किया था, "निर्दोप, शुद्ध, श्वेत आसनवाला एक ही घुरा वाला रथ आ रहा है। इस निष्पाप को आते हुए देखो, जिसका स्रोत वन्द हो गया है, जो वन्धन से छूट गया है[२]।' निव्वाण दुख-विमुक्ति की अवस्था तो है ही, उमे निश्चिततम अर्थों में परम सुख की अवस्था भी कहा गया है[३]। निर्वाण 'अमानुषी रति' है, जो धर्म का सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होती है[४]। वह निर्विषय मन का आनन्द है। ऐसा सुख है, जो निरामिप है, आलम्वन की अपेक्षा से रहित है, अतीन्द्रिय है। इसी सुख का अनुभव करते हुए विना हिले-डुले, खाये-पिये, तथागत कई सप्ताहो तक एक आसन से समाधि अवस्था में वैठे रहे थे[५]। यही आनन्द था जिसके कारण वे अपने को राजा मागध श्रेणिक विम्बिसार से भी अधिक सुखी मानते थे[६]। उनके शिष्यो में से भी अनेक ने इस रस को चक्खा था। 'अहो सुख'! 'अहो सुख'! कहनेवाले भद्दिय स्थविर ने इसी अवस्था का साक्षात्कार किया था[७]। 'अहो मै कितनी सुखी हूँ, मै कितने सुख से घ्यान करती हूँ'[८], यह कहनेवाली भिक्षुणी ने भी इस अमृत को पाया था, यह नि सन्देह है। 'जान लिया', 'जान लिया' का उद्‌गार करनेवाले ज्ञानी कौण्डन्य ने इसी परम सुख की अनुभूति की थी[९]। परन्तु निर्वाण-सम्वन्वी कुछ अत्यन्त सप्रहर्षक उद्‌गार तो भगवान् वुद्ध की औरस कन्याओ स्वरूप कुछ भिक्षुणी-साधिकाओ ने किये है, जिन्होने इस अभूतपूर्व

---

(१) उदान, पृष्ठ १०१ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

(२) उदान (चुल्लवग्ग)

(३) निब्वाणं परमं सुख। मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५) धम्मपद १५।८; मिलाइये, निब्वाण सुखा परं नत्यि। थेरी गाया, गाया ४७६

(४) अमानुसी रती होति सम्मा धम्मं विपस्सतो। धम्मपद २०।१४; मिलाइये विसुद्धिमग्ग २०।११६

(५) देखिये उदान (वोधि वर्ग)

(६) देखिये चूल दुक्ख क्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४)

(७) देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

(८) देखिये थेरीगाया, २४वीं गाया

(९) देखिये धम्म चक्क पवत्तन-सुत्त (सयुत्त-निकाय)

विरासत को अपने शास्ता से पाया था। 'थेरीगाथा' में सात भिक्षुणियो ने अलग-अलग अपनी निर्वाण-प्राप्ति की सूचना देते हुए उल्लासपूर्वक कहा है 'मै निर्वाण प्राप्त कर परमशान्त हुई हूँ। निर्वृत्त होकर मै शीतलता स्वरूप हो गई हूँ, 'सीति भूतम्हि निब्बुता[१]।' परम शान्ति ही इन भिक्षुणियो के लिये निर्वाण है। दो अन्य भिक्षुणियो ने भी अपने सम्बन्ध में अलग-अलग कहा है 'उपसन्तम्हि निब्बुता[२]' अर्थात् 'मै निर्वाण प्राप्त कर उपशान्त हो गई हूँ'। यहाँ भी निर्वाण की प्राप्ति स्वरूप परम शान्त होने की सूचना दी गई है। अत निर्वाण और उत्तम शान्ति दोनो एक है, यह निर्विवाद है। भिक्षुणी वड्ढमाता ने निर्वाण-सुख का अनुभव करते हुए कहा था 'अफुसि सन्तिमुत्तम[३]' अर्थात् 'मैने उत्तम शान्ति में प्रवेश किया है।' इसी प्रकार सुत्त-निपात के मेत्त-सुत्त में निर्वाण के लिये 'शान्त पद' (सन्त पद) शब्द का व्यवहार किया गया है[४]।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार महासमुद्र का केवल एक रस है—लवण-रस, उसी प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म-विनय का भी केवल एक रस है और वह है विमुक्ति-रस[५]।

निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक विवेचन-निर्वाण बुद्ध शासन का सार है— वह चित्त की मुक्ति है एवं ब्रह्मचर्यवास का अंतिम उद्देश्य भी

विमुक्ति का अर्थ यहाँ चित्त की विमुक्ति है जिसका कोई परिमाण नही। चेतो-विमुक्ति को भगवान् ने ब्रह्मचर्य का अन्तिम उद्देश्य माना है[६]। जीवन-विशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग और चार स्मृति प्रस्थानों आदि के अभ्यास सब चित्त की अचल विमुक्ति

(१) थेरी गाथा, गाथाएँ १५,१६,३४,६६,७६ तथा १०१
(२) थेरी गाथा, गाथाएँ १८ तथा ८६
(३) थेरी गाथा, गाथा २१२
(४) करणीयं अत्थ कुसलेन यं तं सन्तं पदं।
(५) सेय्यथापि भिक्खवे महासमुद्दो एकरसो लोणरसो, एवमेव खो भिक्खवे अयं धम्मविनयो एक रसो विमुत्ति रसो। विनय-पिटक—चुल्ल वग्ग।
(६) "भिक्षुओ! यह जो न च्युत होनेवाली चित्त की मुक्ति है, इसी के लिये यह ब्रह्मचर्य है। यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है।" महा-सारोपम सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।९); चूल सारोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।१०)

के लिये ही है[1]। जब साधक भिक्षु ने अशुभ-भावना के द्वारा राग-प्रहीण हो जाने पर कहा था 'ततो चित्त विमुच्चि मे[2]', अर्थात् मेरा चित्त विमुक्त हो गया, तो उसने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हुए निर्वाण के रस को ही चक्खा था। अत विमुक्ति और निर्वाण दोनो एक है। भगवान् ने स्वय कहा भी है, "राध! विमुक्ति का अर्थ है निर्वाण[3]।" भगवान् के इस वचन की पुष्टि एक भिक्षुणी ने अपने अनुभव का वर्णन करते हुए बडे सुन्दर ढग से की है। पटाचारा ने कहा है "दीपक का बुझना (निब्बाणं) था कि उसके साथ मेरे चित्त का भी विमोक्ष (निब्बाण) हो गया। पदीपस्सेव निब्बाण विमोक्खो अहु चेतसो[4]।" अतः निर्वाण और विमुक्ति दोनो एक है। एक अन्य जगह भगवान् ने निर्वाण को विमुक्ति का आधान भी बताया, है,[5] किन्तु निर्वाण के आधान को 'अतिप्रश्न' बताते हुए केवल यह कहा है,"ब्रह्मचर्य निर्वाण-पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है[6]।" पुनरुक्ति करते हुए भगवान् ने धातु-विभग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०) में भी कहा है, "भिक्षु! यही परम आर्य सत्य है जो कि यह अविनाशी निर्वाण"।

निर्वाण अमृत-पद है

भगवान् बुद्ध जन्म, जरा, मरण, दुःख-शोक से विमुक्ति के खोजी थे। उसे उन्होंने निर्वाण के रूप में ही पाया था। निर्वाण आत्यन्तिक दुःख-विमुक्ति की अवस्था थी। वह तथागत की मृत्यु पर विजय थी। पालि त्रिपिटक में अनेक बार निर्वाण

(१) रथविनीत-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।४) में आयुष्मान् मैत्रायणी-पुत्र और धर्मसेनापति सारिपुत्र के बीच आध्यात्मिक संलाप का निष्कर्ष यह है कि शील-विशुद्धि, दृष्टि-विशुद्धि, चित्त-विशुद्धि, ज्ञान-विशुद्धि आदि विशुद्धिया सब निर्वाण के लिये ही है।

(२) थेरगाथा, गाथा ३०१

(३) सयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १८७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(४) थेरीगाथा, गाथा ११६

(५) "भिक्षुओ! विमुक्ति का आधान निर्वाण है।" संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवी, पृष्ठ २१८ (पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

(६) संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ २१८, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८७; चूल वेदल्ल सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)

को अमृत-पद कहा गया है, जो बडा सार्थक है। 'मैंने अमृत को पा लिया है' इन शब्दो में भगवान् ने अपनी सत्य प्राप्ति की सूचना सर्व प्रथम ससार को दी थी[1]। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने भी इन्ही शब्दो में अपनी सत्य-प्राप्ति की सूचना अपने मित्र महामोग्गल्लान को दी थी[2]। भगवान् ने अमृत की ओर ले जाने वाले मार्ग के रूप में ही मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था[3]। उसी के सम्बन्ध में उनका कहना था "भिक्षुओ! ध्यान दो! मैंने अमृत को पाया है। मैं उसका तुम्हें उपदेश करता हूँ" और "मैं अमृत की दुन्दुभी बजाऊँगा[4]।" बोधि-प्राप्ति के बाद भगवान् का पहला उद्‌गार था 'अमृत के द्वार खुल गये है[5]।' वस्तुत बुद्ध-शासन अमृत का द्वार ही है, जिसमें ज्ञान से स्नान किये हुए पुरुष प्रवेश करते है। परन्तु यह अमृत क्या है? बुद्ध शासन-की परिभाषा में राग, द्वेष और मोक्ष का जो क्षय है वही अमृत कहा जाता है[6]। यही अमृत जिसने पा लिया है, उसे भगवान् 'ब्राह्मण' कहते हैं। "जिसमें तृष्णा नही है, जो सशय नही करता, जिसने अमृत को पा लिया है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ।"[7] चार स्मृति प्रस्थानो की भावना से इस अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् ने सयुत्त निकाय में कहा है।[8] भगवान् ने बताया है कि तपस्सु नामक उनके गृहस्थ शिष्य ने (जो भल्लिक के साथ उनका सर्व प्रथम उपासक शिष्य बना था) बुद्ध, धर्म, सघ, आर्य-शील, आर्य-ज्ञान और आर्य-विमुक्ति में अचल श्रद्धा के कारण अमृत का

(१,२) देखिये विनय-पिटक—महावग्ग।

(३) देखिये सयुत-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ ८ तथा ३९-४० (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

(४) अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६) मिलाइये बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५) भी, जहां भगवान ने अपने उपदेश को 'अमृत-दुन्दुभि' कहा है।

(५) विनय-पिटक—महावग्ग, अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६)

(६) देखिये सयुत्त-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ ८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण)

(७) धम्मपद ४११

(८) देखिये जिल्द पाचवीं, पृष्ठ १८१-१८२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण)

दर्शन किया था[1]। एक दूसरी जह भगवान् ने अशुभ-भावना, मृत्यु-स्मरण, स्वाद-त्याग, वैराग्य, अनित्य, दु ख और अनात्म, इन सात वस्तुओ की जानकारी को अमृत की ओर ले जानेवाला मार्ग कहा है[2]। एक सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने निब्बाण को एक रमणीय भूमि-भाग कहा है, जहा जाने के मार्ग को तथागत जानते है। वहाँ जाने का जो सीधा मार्ग है, वही आर्यअष्टाङ्गिक मार्ग है[3]। इसी प्रकार एक अन्य सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने शरीर को एक राजा का नगर वताया है जिसके छ. इन्द्रिय-आयतन छ' दरवाजों के समान है। इस नगर का द्वार-रक्षक स्मृति है और राजा मन है। इस मन रूपी राजा के पास शथम और विपश्यना रूपी दो सन्देशवाहक आते हैं जो सत्य का सन्देश लाते है। जिस मार्ग से ये सन्देश-वाहक आते-जाते है, वह आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है और सत्य के जिस सन्देश को वे लाते है, वह है निर्वाण[4]। इस उपमा के द्वारा भगवान् ने यही दिखाया है कि स्वय उनका सन्देश निर्वाण का ही है और उसका मार्ग है आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग। निर्वाण-रूप अमृत उसकी प्राप्ति का उपाय, इसमे सम्पूर्ण वुद्ध-शासन आजाता है। निर्वाण के सिद्धान्त का प्रख्यापन वुद्ध-शासन की ऐसी कोई भारी विशेपता नही है। उसकी सवसे वडी विशषता तो है निर्वाण और उसकी प्राप्ति के उपाय स्वरूप आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का पारस्परिक समन्वय-विधान। निर्वाण के अनुरूप मार्ग है और मार्ग के अनुरूप निर्वाण है। साधन और साध्य में एकरूपता है। यही तात्पर्य है वुद्ध-धर्म को स्वाख्यात कहने का[5]। "जिस प्रकार गगा की धारा यमुना में मिलती है और मिलकर

---

(१) देखिये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४५०-४५१ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(२) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ४६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) देखियेसंयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १०६ (पालि टैक्स्टसोसायटी का संस्करण)

(४) देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ १९४ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(५) निब्बानानुरूपाय पटिपत्तिया, पटिपदानुरूपस्स च निब्बानस्स अक्खातत्ता स्वाक्खातो। विसुद्धिमग्ग ७।७४

दोनो एक हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाणगामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मेल खाती है, मिलकर एक हो जाती है[1]। निर्वाण के मार्ग का इस जीवन में शीघ्रतापूर्वक विशोधन करना चाहिये[2], इसके लिये बुद्ध-शासन हमे उत्साहित करता है। आस्रवो के क्षय से अपने मन को जब तक पूर्ण विशुद्ध न बनालो, तब तक चैन मत लो, यही उन कल्याणकारी शास्ता का हमारे लिये उपदेश है[3]। अत अप्रमाद की बडी आवश्यकता है निर्वाण-साधना के लिये। इसीलिये कहा गया है "अप्पमादरतो भिक्खु निब्बानस्सेव सन्तिके'[4]। अर्थात् वीर्य-रत भिक्षु निर्वाण के समीप ही है। एक दूसरी जगह साधन-पक्ष को ही ध्यान में रखकर कहा गया है 'जिसमे ध्यान और प्रज्ञा दोनो है वह निर्वाण के समीप है'[5]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि एकान्त चिन्तन करनेवाला भिक्षु निर्वाण के समीप है[6]। जैसे-जैसे साधक पञ्चस्कन्धो की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वह ज्ञानियो की प्रीति और प्रमोद रूपी अमृत को पाता है[7], जिसका ही दूसरा नाम निर्वाण है। भगवान् बुद्ध अमृत पद रूपी निर्वाण का उपदेश करते थे, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य भिक्षुणी चापा ने दिया है जिसने अपने पति उपक के बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध में कहा है, 'उसने सम्यक् सम्बुद्ध को अमृत पद का उपदेश करते देखा[8]।' कृशा गौतमी (किसा गोतमी) ने अपने निर्वाण-प्राप्ति के उल्लास मे गाया था 'अमतमभिगच्छि[9]' अर्थात् मैंने अमृत को प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार भिक्षुणी सुजाता ने कहा था कि उसने निर्मल धर्म रूप 'अमृत पद' को पाया है[10]। खुद्दक-पाठ के रतन-सुत्त में

(१) सेय्ययापि नाम गगोदक यमुनोदकेन सन्सन्दति समेति, एवमेव...... संसन्दति निब्बानञ्च पटिपदा चाति। महागोविन्द-सुत्त (दीघ० २।६)
(२) निब्बानगमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये। धम्मपद २०।१७
(३) भिक्खू विस्सास मापादि अपत्तो आसवक्खयं। धम्मपद १९।१७
(४) धम्मपद २।१२
(५) यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके। धम्मपद २५।१३
(६) विवेकं येव सिक्खेथ ...स वे निब्बानसन्तिके। सुत्त-निपात ५
(७) देखिये धम्मपद २५।१५
(८) सो अद्दसासि सम्बुद्धं देसेन्त अमतं पद। थेरीगाथा, गाथा ३०९
(९) थेरी गाथा, गाथा २२१
(१०) तत्थेव विरज धम्मं फुसयिं अमतं पदं। थेरी गाथा, गाथा १४९

भी निव्वाण के लिये अमृत शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है "जो तृष्णा रहित हो दृढ चित्त से गोतम (बुद्ध) के धर्म में लग गये हैं, वे प्राप्ति को प्राप्त कर अमृत में पैठ अनायास ही विमुक्ति रस का आस्वाद लेते ह[१]।" अत इतने अधिक प्रमाणो से यह कहना कुछ अधिक नही है कि वुद्धोपदिष्ट निर्वाण अमृत-पद है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निर्वाण परमसुख, परम शान्ति, चित्त की विमुक्ति और 'अमृत-पद' है, जिसकी प्राप्ति के लिये भगवान् ने मार्ग का उपदेश दिया है। वस्तुत यह मार्ग ही हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि इसका अभ्यास स्वय निर्वाण-स्वरूप है। हम पहले वुद्ध-वचन के आधार पर कह चुके है कि जिसे अमृत कहा जाता है, वह राग, द्वेष और मोह का क्षय ही है। राग-द्वेप और मोह, ये तीन अकुशल-मूल है। ससार में जितनी वुराइयाँ है उन सवकी जड भगवान् ने राग, द्वेप और मोह को माना है। राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध चित्त कभी सुखी नही रह सकता, कभी शान्त नही रह सकता। इनसे विमुक्ति प्राप्त करना अमृत है, और वही निर्वाण है। साधन ही साध्य वन जाता है। इसीलिये सारिपुत्र ने जव अपने साथी भिक्षुओ से कहा था, "आवुसो! यह जो राग का क्षय, द्वेष का क्षय और मोह का क्षय है, यही कहलाता है निर्वाण[२]" तो इसे हम निर्वाण की सर्वोत्तम परिभाषा मान सकते हैं, क्योकि इसमें जीवन के साथ निर्वाण का सर्वोत्तम सयोग और समीकरण है। भगवान् ने तो केवल यह कहा था कि 'राग, द्वेप और मोह के क्षय से निर्वाण को पाता है[३]।' अथवा 'राग और द्वेष को छेदन कर तुम निर्वाण को प्राप्त करोगे[४]'

निर्वाण राग, द्वेप और मोह का क्षय है

(१) ये सुप्पयुत्ता मनसा दल्हेन निक्कामिनो गोतमसासनम्हि। ते पत्तिपत्ता अमतं विगय्ह लद्धा मुधा निव्वुतिं भुञ्जमाना॥

(२) यो खो आवुसो! रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इदं वुच्चति निव्वाणं। जम्वुखादक-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)। मिलाइये "हे हेमक ! यहां, इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में, छन्द, राग का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है।' हेमक माणव पुच्छा (सुत्त-निपात ५।८)

(३) उदान (पाटलिगामिय वग्गो)

(४) छेत्वा रागं च दोसं च ततो निब्बाणमेहिसि। धम्मपद २५।१०

परन्तु धर्मसेनापति सारिपुत्र ने स्वय राग, द्वेप और मोह के क्षय को ही निर्वाण वताकर बुद्ध के नैतिक शासन को एक ऐसी ठीक दिशा मे वढाया जो उन जैसे महाप्रज्ञ शिष्य के लिये सर्वथा अनुरूप ही था।

इसीलिये तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा जाता है। तण्हाय विप्प-हानेन निब्बाण इति वुचति[1]।

स्वभावत तृष्णा के क्षय के कारण भव रुक जाता है। स्वय भगवान् ने कहा है "भव का रुक जाना ही निर्वाण है[2]।" 'उदान' में उन्होने भावनामय शव्दो में कहा है "मार्ग और इसीलिये भव का निरोध भी कट गया, आशाएँ मिट गई। सूखी हुई धाराएँ नही वहती है। लता कट जाने पर और नहीं फैलती। दु खो का अन्त यही है।"

निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति के लिये कुछ करणीय शेप नही रह जाता। प्राप्तव्य को वह पा चुकता है। 'निर्वेद को प्राप्त कर वह विरक्त होता है। विरक्त होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने पर 'मै विमुक्त हूँ यह ज्ञान उसे उत्पन्न होता है। वह जानता है, जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, कर्त्तव्य कर्म कर लिया गया। अव यहा और कुछ करने को वाकी नही है।"[3] वह सुखमय शान्त पद को प्राप्त करता है।[4] उसका यह अन्तिम देह है।[5] उसका पतन होना सम्भव नही है।[6]

वह परम कृतकृत्यता है

भगवान् ने अनेक वार पुनरुक्ति पूर्वक कहा है कि निर्वाण का साक्षात्कार यहीं, इस जीवन में, होता है। वह कालान्तर में प्राप्त होनेवाली वस्तु

(१) सुत्त-निपात (पारायण वग्ग)

(२) सयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) संयुत्त० ४३।३।६; मिलाइये उदान-सुत्त (सयुत्त० २१।१।३) भी, देखिये, बुद्धचर्या, पृष्ठ ३९२-३९३

(४) अधि गच्छे पदं सन्तं सखारूपसमं सुखं। धम्मपद २५।२२

(५) अन्तिमोयं समुस्सयो। धम्मपद २४।१८; मिलाइये थेरीगाथा, गाथाएँ २२, १६०

(६) अभब्बो परिहाणाय। धम्मपद २।१२

निर्वाण का साक्षात्कार इसी जीवन में होता है

नही है। "इस प्रकार भिक्षुओ! आदमी जीते जी निर्वाण को प्राप्त करता है, जिसके बारे में कहा जाता है आओ और देख लो। जो ऊपर उठानेवाला है तथा जिसे प्रत्येक बुद्धिमान् आदमी स्वय साक्षात् कर सकता है [१]। इसी जन्म में निर्वृत्त होने (दिट्ठधम्माभिनिब्बुता) की बात सुत्त-निपात में भी आई है [२]।

भगवान् बुद्ध ने इस लोक को अशरण कहा है। इसमें कहाँ त्राण है, कहा क्षेम है, इसकी खोज उन्होने स्वय की थी और इसे निर्वाण के रूप में उन्होने पाया था। उन्होने कहा है 'धीर पुरुष निर्वाण में प्रवेश करते है जो अद्वितीय योगक्षेम है [३]।' धीरा नामक भिक्षुणी को उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा था 'धीरे! तू उस निर्वाण की आराधना कर, जो अद्वितीय योगक्षेम है।' [४] इसी प्रकार एक दूसरी भिक्षुणी को निर्वाण साधना में अग्रसर होने के लिये उत्साहित करते हुए शास्ता ने कहा था, 'योगक्षेम की प्राप्ति के लिये तू कुशल धर्मों की वृद्धि कर!' [५]

निर्वाण अद्वितीय योगक्षेम है

अमृत और शान्ति कहने के साथ-साथ भगवान् ने निर्वाण को 'अच्युतपद' भी कहा है। "छन्दरागविरत्तो सो भिक्खु पञ्ञाणवा इधत। अज्झगा अमतं सन्ति निब्बाणपदमच्चुत [६]।" इसका अर्थ यह है कि इच्छा और राग से विरत प्रज्ञावान् भिक्षु अमृत, शान्ति, अच्युतपद निर्वाण को प्राप्त करता है। इसी का साक्ष्य देते एक साधक भिक्षु ने कहा है 'मैंने उत्तम अच्युत पद में प्रवेश किया है'। [७] सकुला नामक भिक्षुणी ने भी स्वसवेद्य अनुभव के आधार पर

निर्वाण अच्युत पद है

(१) अगुत्तर-निकाय, तिक-निपात। देखिये बुद्ध-वचन, पृष्ठ १७

(२) देखिये हेमक माणव पुच्छा (सुत्त-निपात—पारायण वग्गो)

(३) फुसन्ति धीरा निब्बान योगक्खेमं अनुत्तर। धम्मपद २।३

(४) आराधयाहि निब्बाणं योगक्खेम अनुत्तरं। थेरी गाथा, गाथा ६

(५) भावेहि कुसले धम्मे योगक्खेमस्स पत्तिया। थेरी गाथा, गाथा ८, देखिये गाथा ९ भी।

(६) सुत्त-निपात (पारायण वग्ग)

(७) फुसाहितं उत्तममच्चुत पदं। देखिये थेरीगाथा, गाथाएँ २११-२१२

कहा है "मैंने निर्मल धर्म निर्वाण को देखा है, जो अच्युत पद है।" 'अद्दस्स विरज निब्बाण पदमच्चुत[1]।' भगवान् ने ब्राह्मण बावरि के शिष्य हेमक से कहा था, "हे हेमक! यहा इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात मे छन्द (राग) का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है। इसे जान, स्मरणकर, इसी जन्म मे निर्वाण-प्राप्त, उपशान्त होते है और लोक में तृष्णा को पार कर जाते है।'[2]

निर्वाण शिवत्व का स्थान है। भिक्षुणी वाशिष्ठी ने कहा है, 'मैंने शिव-पद का साक्षात्कार किया है।' 'सच्छाकासि पद सिव।[3] धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अपने शरीर के अन्तिम समय को जानकर भगवान् से निर्वाण प्राप्ति के लिये इन शब्दों में आज्ञा मागी थी, "भन्ते! मे अनेक शत-सहस्र बुद्धो के प्रवेश-स्थान अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय, निर्वाण-पुर जाऊँगा।[4]" धर्म-सेनापति ने यहा निर्वाण की पूरी विशेषताओ को सक्षिप्ततम रूप में रख दिया है।

निर्वाण 'शिव पद' है

भगवान् ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है, 'जरा और मरण के विनाश को मै निर्वाण कहता हूँ[5] जन्म और जरा-मरण के विनाश को प्राप्त विर्वृत्त पुरुष का लक्ष्य क्या है, इसके सम्बन्ध में उन्होने कहा है, "जिस ब्राह्मण को तू ज्ञानी, अकिंचन, कामभव मे अनासक्त जाने, अवश्य ही वह इस काम-भव को पार कर गया है! पार हो वह सबसे निरपेक्ष है। भव-अभव में आसक्ति को छोडकर वह विचरता है। वह तृष्णा-रहित, राग-रहित और आशारहित है। वह जन्म-जरा से पार हो गया है, मै कहता हूँ।"[6] इसी प्रकार भगवान् ने कहा है, "लोक

निर्वाण जन्म, जरा, मरण और शोक से विमुक्ति है

---

(१) थेरीगाथा गाथा ९७; मिलाइये निब्बाणपदमच्चुतं। हेमक माणव-पुच्छा (सुत्त-निपात—पारायण वग्गो)
(२) सुत्त-निपात ५।८ (हेमकमाणव-पुच्छा)
(३) थेरीगाथा, गाथा १३७
(४) देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१३
(५) सुत्त-निपात ५।१० (कप्पमाणव-पुच्छा)
(६) सुत्त-निपात (पारायण-वग्ग)

मे वार-पार को जानकर, जिसे लोक में कही भी तृष्णा नही है, जो शान्त, धूम-रहित, आशा-रहित है, वह जन्म-जरा को पार हो गया है, मै कहता हूँ।"[१] भिक्षुणी सुमेधा ने भी निर्वाण के सम्वन्ध में अत्यन्त महत्व-पूर्ण शब्दो मे कहा है—

"यह अजर है, यह अमर है, जरा और मरण से विमुक्त यह स्थान है। यह शोक-रहित है। यहाँ कोई विरोध नही, कोई वाधा नही, यहाँ स्खलन नही, भय नही, ताप नही। वहुतो ने इस अमृत को प्राप्त किया है और आज भी यह प्राप्त किया जा सकता है। जो सम्यक् ध्यान करेंगे, वे इसे प्राप्त करेगे। विना प्रयत्न करनेवाले पुरुष के द्वारा यह प्राप्त करने योग्य नही है।"[२]

निर्वाण भव-बाढ़ के बीच सुरक्षित द्वीप है

निर्वाण इस भव-सागर के वीच सुरक्षित द्वीप है। इसी अर्थ को लेकर भगवान् ने कहा है "अकिंचन, अनादान, यह सर्वोत्तम द्वीप है। इसे मैं जरा-मृत्यु-विनाश रूप निर्वाण कहता हूँ।"[३]

वह भव-बाढ़ (ओघ) का निस्तरण भी है

भगवान् ने निर्वाण को ओघ का निस्तरण भी कहा है। "जो मनुष्य दृष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में राग हटा चुके हैं, जो तृष्णा रहित और राग-रहित है, उन्हें मैं ओघ-पार कहता हूँ।"[४] एक ऐसे ही ओघ-तीर्ण पुरुष को देख कर भगवान् ने उल्लास में कहा था, "जो पुल वाँधकर ऊपर-ही-ऊपर सागर और नदी सभी को पार कर जाते हैं, वे ज्ञानी जन तो पार कर चुके। अन्य लोग वेडा वाँधते रह गये।"[५]

---

(१) सुत्त-निपात (पारायण-वग्ग)

(२) इदमजरं इदमरमिदमजरामरण पदमसोकं। असपत्तं असम्वाधमक्खलित-मभयं निरपतापं॥ अविगतमिदं वहूहि अमतं अज्जापि च लभनीयमिदं। यो योनिसो पयुञ्जति न च सक्का अघटमानेन। थेरी गाथा, गाथाएँ ५१२-५१३

(३) सुत्त-निपात ५।१० (कप्पमाणव-पुच्छा)

(४) सुत्त-निपात (नन्दमाणव पुच्छा)

(५) उदान (पाटिलिगामिय वग्गो)

निर्वाण अविवाद-भूमि है

क्षेम-रूप निर्वाण को भगवान् ने अविवाद-भूमि कहा है। खेमाभिपस्सं अविवादभूमिं।[1] निर्वाण-प्राप्त मुनि विवाद से परे हो जाता है। उसी के सम्बन्ध में कहा गया है, "जिसमें सम-विषम नही है, वह किसके साथ विवाद करे ?[2]

निर्वाण संक्षेप में दुःखों का अन्त है—सर्वतः आदीप्त भव में एकमात्र शीतलता है

निर्वाण क्या है, इसका सक्षिप्ततम उत्तर दिया जाय तो वह केवल यह होगा 'एसेवन्तो दुक्खस्साति' अर्थात् यह दु खो का अन्त है। ऋणी पुरुष को जो प्रसन्नता ऋण चुकाकर होती है, बीमार को जो सुख आरोग्य प्राप्त करने पर होता है, बन्धन और दासता से छूटने पर जो उल्लास बन्दी और दास को होता है, किसी बडे रेगिस्तान को पार कर जो सुख किसी पथिक को होता है, वही सुख तृष्णा-विमुक्त पुरुष को भव-बन्धन से पार होने पर होता है।[3] वह निर्वाण का सुख ही है। भगवान् ने कहा है 'सब कुछ जल रहा है।' 'सब्ब आदित्त'[4]। क्या सब कुछ जल रहा है? रूप जल रहा है। चक्षु जल रही है। चक्षु-विज्ञान जल रहा है। सुख-दु ख वेदनाएँ जल रही हैं। श्रोत्र, घ्राण, काय, नासिका, शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस सब जल रहे हैं। पाँचो उपादान-स्कन्ध जल रहे हैं। किसकी आग से? रागाग्नि से, द्वेषाग्नि से, मोहाग्नि से। जिसे इन्द्रियो का आस्वाद हम कहते हैं, वह वास्तव में जलना ही है। चित्त की शान्ति वहाँ नही है। ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ दु ख है। इस सब दु ख को छोडकर[5], अनित्य, दु ख और अनात्म से दृष्टि को हटाकर जिसने अमृत-पद की ओर चित्त को एकाग्र किया है, वही शीतल हुआ है (सीतिभूत) और उसने निर्वाण के सत्य का साक्षात्कार किया है। राग, द्वेष और मोह की अग्नि के शान्त हो जाने से जो शीतलता मिलती है, वही निर्वाण है। और यह निर्वाण है, यह बुद्ध-शासन का एक निश्चिततम आश्वासन है।[6] इसी निर्वाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यही शान्ति

(१) सुत्त-निपात (महावियूह-सुत्त)

(२) सुत्त-निपात (मागन्दिय-सुत्त)

(३) देखिये महा-अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९)

(४) आदित्तपरियाय-सुत्त (संयुत्त-निकाय); विनय-पिटक—महावग्ग।

(५) सब्बदुक्ख पहाय। धम्मपद २४।१४

(६) देखिये "यथापि उण्हे विज्जन्ते अपर विज्जति सीतलं। एवं तिविधग्गी

उत्तम है जो कि सस्कारो का शमन, सारी उपाधियो का परित्याग, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोघ रूपी निर्वाण।'[1] इसी निर्वाण को हमें सीखना है सव कामनाओ से निर्वेद प्राप्त कर[2], जिसकी ही इच्छा करते हुए साधक पुरुष घर से वेघर हो प्रव्रज्या ले लेते है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणो के द्वारा हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रारम्भिक वौद्ध साधना में निर्वाण आध्यात्मिक अनुभव का उच्चतम स्वरूप था और उसे ब्रह्मचर्यवास का अन्तिम उद्देश्य समझा जाता था। इसी अर्थ में भगवान् ने उसका उपदेश दिया था और उसके मार्ग का अभ्यास वे अपने शिष्यों को सदा सिखाया करते थे।

परन्तु परमार्थ, परम, अतीत सत्य के रूप में भी भगवान् ने निर्वाण का उपदेश दिया था। 'निब्बान परम वदन्ति वुद्धा[4]।' उनका यह उपदेश तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका विवरण अव हम प्रस्तुत करेंगे।

दीपक के वुझ जाने के समान वेदनाओं का ठडा पड़ जाना ही निर्वाण है

'जिस प्रकार भिक्षुओ! तेल के रहने से, वत्ती के रहने से, दीपक जलता है, और उस तेल तथा वत्ती के समाप्त हो जाने तथा दूसरी के न रहने से (अनुपादाना) दीपक वुझ जाता है, (निव्वायति) निर्वाण को प्राप्त होता है, उसी प्रकार भिक्षुओ! शरीर छूटने पर, मरने के वाद, जीवन के परे, अनासक्त रह कर अनुभव की गई ये वेदनाएँ यही ठण्डी पड जाती है[5]।

विज्जन्ते निब्बान इच्छितब्बकं।" जातकट्ठकथा (निदान कथा)। इसका अर्थ यह है, "जैसे कि जहा एक ओर गर्मी है तो दूसरी ओर ठंडक भी है। इसी प्रकार जहा तीन प्रकार की अग्निया रागाग्नि, द्वेषाग्नि, और मोहाग्नि है तो वहा (इनके शमन-स्वरूप) निर्वाण को भी अवश्य विद्यमान होना चाहिये। उसको पाने की इच्छा करनी चाहिये (अवश्य मिलेगा)।

(१) महामालुंक्य-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।४)

(२) निब्बिज्ज सब्बसो कामे सिक्खे निब्बानमत्तनो। सुत्त-निपात (पारायणवग्ग)

(३) निब्बाणपदाभिपत्थयमानो सम्मा सो लोके परिब्बजेय्य। सुत्त-निपात (पारायण-वग्ग)

(४) धम्मपद १४।६

(५) चूल हत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।७); मिलाइये धातु-

"भिक्षुओ! वह एक आयतन है, जहाँ न तो पृथ्वी, न जल, न तेज, न वायु, न आकाशनञ्चायतन, न विज्ञानानञ्चायतन, न आकिञ्चन्यायतन, न नैवसज्ञानासज्ञायतन है। वहाँ, न तो यह लोक है, न परलोक है और न चाँद सूर्य है। भिक्षुओ! न तो मैं उसे 'अगति' और न 'गति' कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ; उसे उत्पत्ति भी नही कहता। वह न तो कही ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दु खो का अन्त है[1]।"

निर्वाण वह आयतन है जहाँ न 'आना' है न 'जाना' जहाँ 'स्थिति' और 'च्युति' नहीं है— वहाँ लोक, परलोक, सूर्य-चन्द्रमा नहीं हैं

'भिक्षुओ! अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत है। भिक्षुओ! यदि वह अजात, अभूत, अकृत और असस्कृत नही होता तो जात, भूत, कृत, और सस्कृत का व्युपशम नही हो सकता। भिक्षुओ! क्योकि वह अजात, अभूत, अकृत और असस्कृत है, इसीलिए जात, भूत, कृत, और सस्कृत का व्युपशम जाना जाता है[2]।

निर्वाण है, इसीलिये इस जगत् की अनुभूति होती है—असीम की सत्ता का सब से बड़ा प्रमाण ससीम का होना है—यदि अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत न होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत से निस्सरण कैसे होता?

विभग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०) देखिये अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय) भी।

(१) "अत्थि भिक्खवे! तदायतनं, यत्थ नेव पठवी न आपो न तेजो न वायो न आकासानञ्चायतनं न विञ्ञाणानञ्चायतन न आकिञ्चञ्ञायतन न नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं नायं लोको न परलोको उभो चन्दिमसुरिया, तदाहं भिक्खवे! नेव आगति वदामि न गति न ठीति न चुति न उपपत्ति, अप्पतिट्ठं अपावत्त अनारम्मणमेव तं एसेवन्तो दुक्खस्साति।" उदान, पाटलिगामिय वग्गो

(२) "अत्थि भिक्खवे! अजात, अभूतं, अकतं, असंखतं, नो चे तं भिक्खवे! अभविस्स अजात, अभूतं, अकतं, असखत, न यिध जातस्स भूतस्स

'लोहे के घन की चोट पडने पर जो चिनगारियाँ उठती है, सो तुरन्त ही बुझ जाती है—कहाँ गईं कुछ पता नही चलता। इसी प्रकार काम,

निर्वाण अनिरुक्त अवस्था है

काम-बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाए हुए, तथा अचल सुख पाए हुए जन की गति का कोई भी पता नही लगा सकता[1]।' 'वायु के वेग से क्षिप्त अर्चि (लौ) जैसे अस्त हो जाती है और इस दिशा में गई, उस दिशा में गई, आदि व्यवहार को प्राप्त नही होती। इसी प्रकार मुनि नाम-काम से मुक्त हो अस्त हो जाता है, व्यवहार को प्राप्त नहीं होता।........ अस्तगत (निर्वाण प्राप्त) के रूप आदि प्रमाण नही है जिससे इसे कहा जा सके कि यह अस्तगत है या नहीं या वह हमेशा के लिए अरोग है। सभी धर्मों के नष्ट हो जाने पर, कथन मार्ग से भी सब धर्म नष्ट होगए[2]।'

निर्वाण का उपदेश भगवान् ने उस अतीत सत्य के रूप में दिया था जो सम्पूर्ण साधना का आश्रय है परन्तु स्वय जिसके आश्रय के सम्बन्ध में कोई उत्तर नही दिया जा सकता। निर्वाण अन्तिम सत्य है।

निर्वाण वह परम अतीत सत्य है जिसका कोई अधिष्ठान नहीं

उसके आगे 'नेति नेति' है। 'अथ त आदेशो नेति नेति' औपनिषद दर्शन में तो ब्रह्म के अधिष्ठान के सम्बन्ध में होती है। वही बात बौद्ध दर्शन में निर्वाण के सम्बन्ध मे है। भिक्षुओ को उपदेश देते हुए भगवान् ने सयुत्तनिकाय में कहा है, "भिक्षुओ! चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और शरीर का आश्रय मन है। मन का आश्रय योनिशः मनसिकार या सम्यक् स्मृति है। विमुक्ति सम्यक् स्मृति का आश्रय है। विमुक्ति का आश्रय निर्वाण है। परन्तु यदि तुम पूछो कि निर्वाण का आश्रय क्या है, तो यह एक अति प्रश्न है जिसका उत्तर नही दिया जा सकता। यह ब्रह्मचर्य, का जीवन

कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायेय। यस्मा च खो भिक्खवे! अत्थि अजात, अभूतं, अकतं, असंखतं, तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स सखतस्स निस्सरण पञ्ञायतीति।" उदान, पाटिलिगामिय वग्गो।

(१) उदान, पृष्ठ १२७ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

(२) सुत्त-निपात (उपसीवमाणव-पुच्छा)

निर्वाण में प्रवेश के लिये ह, निर्वाण तक जाने के लिये है, निर्वाण में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिये है[1]"। यही उपदेश कुछ रूपान्तर के साथ भगवान् ने राध को भी दिया था। "राध! सम्यक् दृष्टि निर्वेद के लिये है। निर्वेद विराग के लिये है, विराग विमुक्ति के लिये है और विमुक्ति निर्वाण के लिये है। परन्तु यदि तुम पूछो कि निर्वाण किसके लिये है तो तुम प्रश्न का अतिक्रमण करते हो और उसका उत्तर नही दिया जा सकता। राध! ब्रह्मचर्य का जीवन निर्वाण में प्रवेश के लिये है, निर्वाण तक पहुँचने के लिये है, निर्वाण में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिये है[2]।" इसी प्रकार हम देखते है कि जब उपासक विशाख ने भगवान बुद्ध की शिष्या भिक्षुणी धम्मदिन्ना से पूछा था, "आर्ये! निर्वाण का प्रतिभाग (सपक्षी) क्या है" ? तो उसने यही उत्तर दिया था, 'आवुस विशाख! तुम प्रश्न का अतिक्रमण कर गये। प्रश्नो की सीमा को पकड कर नही रख सके। आवुस विशाख! ब्रह्मचर्य निर्वाण-पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है।" बाद में शास्ता ने भिक्षुणी धम्मदिन्ना के इस कथन का अनुमोदन किया था और उसे ठीक बताया था।[3] इस प्रसग में हम गार्गी और याज्ञवल्क्य के उस सवाद को याद किये बिना नही रह सकते जिसमें गार्गी के यह पूछने पर कि 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है ?' याज्ञवल्क्य ने कहा था "गार्गी अतिप्रश्न मत कर[4]" अत अतीत सत्य के सम्बन्ध में उपनिषदो का जो 'ब्रह्मलोक' है वही बुद्ध-शासन का निर्वाण है, यह निर्विवाद है। और यह कितना आश्चर्य-जनक है कि चार ब्रह्म-विहारो (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) को भगवान् ने ब्रह्मा की सहव्यता (ब्रह्मलोक) का मार्ग बताया था[5]। चार ब्रह्म-विहार तो निर्वाण की प्राप्ति के लिये है। इसी तथ्य को जब भगवान् ब्राह्मणो को सिखाते थे तो अपनी उदार समन्वयात्मक वृत्ति के अनुरूप ब्राह्मणो की

---

(१) संयुत्त-निकाय, जिल्द पाचवीं, पृष्ठ २१८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी कान संस्करण)

(२) सयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का सस्करण)

(३) चूलवेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)

(४) बृहदारण्यक ३।६।१

(५) सुभ-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।९)

भाषा का ही प्रयोग उनको समझाने के लिये करते थे।[१] इसीलिये उन्होने कहा था कि चार ब्रह्म विहार ब्रह्मा की सलोकता (सहव्यता) के मार्ग हैं। अत हम आज भी कह सकते है कि उपनिपदो का जो ब्रह्मलोक है (ब्रह्म ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुआ है) वही बौद्ध दर्शन का निर्वाण है, यद्यपि बुद्ध शासन में जिस प्रकार निर्वाण और मार्ग का मेल है, उस प्रकार ब्रह्मलोक ने कोई जीवन का मार्ग नही दिखाया। कम से कम मार्ग पर उसमें जोर नही है, वह केवल एक आध्यात्मिक दर्शन है। फिर भी दोनो अन्तिम सत्य है, एक उपनिषदो का दूसरा बुद्ध-शासन का, नाम से अलग-अलग वस्तुत: एक।

निर्वाण असंस्कृत, सत्य, पार, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत शिव, क्षेम, अद्भुत, विशुद्धि, द्वीप और त्राण है

जो विद्वान् एकाश रूप से यह मानते है कि भगवान् बुद्ध ने तो इस भव में केवल अनित्य, दुख और अनात्म को ही देखा था, प्रतीत्यसमुत्पन्न, शून्य और सस्कृत धर्मों तक ही उनकी पहुँच थी और यही तक उन्होने अपनी सीमा बना ली थी, जो यह कहते है कि भगवान् बुद्ध ने किसी परिनिष्ठित वस्तु विषयक कोई उपदेश नही दिया है, उन्हे भगवान् बुद्ध के एक महत्वपूर्ण उपदेश को नही भूल जाना चाहिये। वह उपदेश यह है।

भगवान् बुद्ध ने एक बार अपने भिक्षु-शिष्यो को सबोधित कर कहा था, "भिक्षुओ! अब मै तुम्हें असस्कृत का उपदेश दूगा। सत्य का पार का अजर का ध्रुव का . निष्प्रपच का अमृत का ...

---

(१) धर्मसेनापति सारिपुत्र का भी यही ढंग था। बीमार धानंजानि ब्राह्मण को जब वे उपदेश करने गये तो उन्होंने सोचा, "यह ब्राह्मण ब्रह्मलोक का श्रद्धालु है। क्यो न मैं धानंजानि ब्राह्मण को ब्रह्मा की सहव्यता का मार्ग उपदेश करूँ।" फिर धानंजानि ब्राह्मण से कहा, "धानजानि! ब्रह्मा की सहव्यता के मार्ग का तुझे उपदेश करता हूँ, उसे सुन, अच्छी तरह मन में कर, कहता हूँ।" धानंजानि को आश्चर्य होना ही था, "ब्रह्मलोक सारिपुत्र कह रहे है। ब्रह्मलोक आप सारिपुत्र कह रहे है!" धानंजानि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।७)। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'ब्रह्मलोक' शब्द का प्रयोग स्वयं बुद्ध और प्रारम्भिक बौद्ध साधको ने चार ब्रह्म विहारो के द्वारा प्राप्तव्य सत्य के रूप में ही किया था, जिसका ही दूसरा नाम निर्वाण है।

शिव का . . क्षेम का अद्भुत का विशुद्धि का . . द्वीप का... त्राण का उपदेश करूंगा[1]।" यहां 'ध्रुव' शब्द से क्या तात्पर्य है? क्या यह परिनिष्ठित सत्य का पर्याय नही माना जा सकता? फिर यही निर्वाण को अ-सस्कृत भी तो कहा है। इसका अर्थ है कि वह एक सस्कार नही है। निर्वाण अनित्य नही है। वह अत्यन्त सुख है। अनित्य कैसे होगा? अनित्य तो दु.खरूप होता है। फिर वह सस्कारो की पहुंच से बाहर है। अत निर्वाण नित्य है, ध्रुव है। अजर पहले निर्वाण को कह ही चुके हैं और अमृत भी। जन्म और मरण वहाँ नही रहते। ऊपर निर्वाण-सम्बन्धी जितने भी उद्धरण दिये गये हैं उनमें से एक भी ऐसा नही जो निर्वाण को अभावात्मक बताने की ओर सकेत भी कर सके, उसे एक अनिरुक्त अवस्था अवश्य कहा जा सकता है, जहाँ द्वैतमयी व्यवहार-भाषा की गति नही। निर्वाण सत्य है और वह अविनाशी तत्त्व है। भगवान् ने स्पष्टतम शब्दो में कहा है, "वह मृषा है जो कि नाशवान् है। जो नाशवान् नही है, वह निर्वाण है[2]।" निर्वाण अमोषधर्मा है, अविनाशी तत्त्व है। 'अमोसधम्म निब्बाण'[3]। निर्वाण उच्छेदवाद नही है, यह केवल तृष्णा की आग का उच्छेद हो जाना है, काम की आग का बुझ जाना है। काम तृष्णा और भव तृष्णा मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नही करता। क्योकि तृष्णा के सम्पर्ण निरोध से उपादान निरुद्ध हो जाता है, उपादान निरुद्ध हुआ तो भव निरुद्ध, भव निरुद्ध हुआ तो जन्म निरुद्ध, जन्म निरुद्ध हुआ तो बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीडित होना, चिन्तित होना, परेशान होना यह सब निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दु खस्कन्ध का निरोध होता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद निर्वाण में समाप्त हो जाता है। निश्चय ही

---

(१) "असंखत वो भिक्खवे देसिस्सामि सच्चञ्च .... पारञ्च..... . अजरञ्च...... धुवञ्च. ... निप्पपञ्चञ्च..... अमतञ्च..... .. सिवञ्च.... खेमञ्च .....अब्भुतञ्च.... विसुद्धिञ्च..... दीपञ्च ......ताणञ्च वो भिक्खवे देसिस्सामीति। सयुत्त-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ३६०-३७२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का सस्करण), विसुद्धिमग्ग ८।२४८ में उद्धृत।

(२) धातु विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०)

(३) सुत्त-निपात (पारायण वग्ग)

आचार्य नागार्जुन ने मूल बुद्ध-दर्शन को चाहे जो कुछ निषेधात्मक व्याख्यायें दी हो किन्तु सब प्रतीत्यसमुत्पन्न भावो का निर्वाण में अशेष निरोध हो जाता है और वास्तव मे निर्वाण का अर्थ ही है सभी प्रत्यय और हेतुओं से उत्पन्न और निरुद्ध होनेवाले धर्मों का अशेप निरोध, तृष्णा के बीज का अन्तिम उच्छेद, इस भगवान् बुद्ध के मन्तव्य को उन मनीपी ने सम्य रूप से दिखाया है जो यहाँ उनके (नागार्जुन के) दर्शन के रूप में नही बल्कि बुद्ध-मन्तव्य की विशुद्ध व्याख्या के रूप में ही उद्धृत किया जा सकता है। ऊपर समुद्धृत बुद्ध-वचन को ही वह स्पष्ट पूर्वक दिखाता है, कारणवाद की भाषा में .—

अप्रतीतमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेव निर्वाणमुच्यते ॥
या आजवजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते ॥

हम यहाँ स्थविरवाद तक ही सीमित रह कर यह कहना चाहते हैं कि निर्वाण में कारणवादो की गति नही चलती। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म हैं वे वहाँ नही रहते। निर्वाण असस्कृता धातु है । वह परम सत्य है। वह अभाव से व्यतिरिक्त अवस्या है, अत्थि धम्म है। 'सस्कृत' और 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' धर्मों से व्यतिरिक्त भी अस्तित्व है, इसे भगवान् ने स्वीकार किया है ! और यही निर्वाण है। 'अत्थि भिक्खवे अजात अभूत, अकत, असखत' अर्थात् हे भिक्षुओ ! है वह निव्वाण जो जात, भूत, कृत और सस्कृत से व्यक्तिरिक्त है। 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते'। यदि वह नही होता तो इस जात, भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम ही नही हो सकता था ? 'नोचे त भिक्खवे, अभविस्स अजात अभूत, अकत असखत न यिध जातस्स भूतस्स कतस्स सखतस्स निस्सरण पञ्ञायेथ'। 'इसलिए भिक्षुओ है वह अजात, अभूत, अकृत और असस्कृत जिससे ही जात, भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम जाना जाता है। 'यस्मा च खो भिक्खवे ! अत्थि अजात अभूत अकत असखतं तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स सखतस्स निस्सरण पञ्ञायतीति'। निश्चय ही इस 'अजात् अभूत, अकृत, असस्कृत' को माने विना न तो बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनातमवाद की ही सङ्गति लग सकती है, जैसा कि हम पहले अनातमवाद के विवेचन में विस्तार से दिखा आए है, और न निर्वाण की ही। 'अजात', 'अभूत' तत्त्व की विद्यमानता की ही दूसरी अभिव्यक्ति भगवान् बुद्ध के द्वारा इन शब्दो में हुई है 'अत्थि भिक्खवे तदायतन, यत्थ नेव पठवी

न आपो न तेजो न वायो न आकासानञ्चायतन, न विञ्ञाणानञ्चायतन, न आकिञ्चञ्ञायतन नेव सञ्ञानासञ्ञायतन नाय लोको व परलोको उभो चन्दिमसुरिया, तदाह् भिक्खवे! नेव आगति वदामि न गतिं न ठितिं न चुतिं न उपपत्ति, अपतिट्ठ अपावत्त अनारम्मणमेव त एसेवन्तो दुक्खस्साति[1]।' अर्थात् 'हे भिक्षुओ! वह एक आयतन है जहाँ न पृथ्वी है न जल है, न तेज है, न वायु है। भिक्षुओ! न आकाशानञ्चायतन है, न विज्ञानानञ्चायतन है, न अकिञ्चन्यायतन है, न नैवसज्ञानासज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है और न चन्द्रमा सूर्य है। भिक्षुओ! न तो मैं उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'गति' कहता हूँ। न 'स्थिति' और न 'च्युति कहता हूँ। उसे उत्पत्ति भी नही कहता। वह न तो कही ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुखो का अन्त है।' उस अनिरुक्त अवस्था को भगवान् ने स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु उस अनिरुक्त को उन्होने अनिरुक्त ही रहने दिया है, उसे वाणी का विपय बनाकर विगाडा नही, सिवाय उपशान्त होने के उसके विपय में और उन्हे कुछ सूझा नही। जो 'गति' नही है और जो 'अगति' नही है, जो 'स्थिति' नही है और साथ ही जो 'च्युति' नही है, उस अविज्ञात को किन शब्दो में वर्णित किया जाय? उसके विषय में औपनिषद ऋषि भी 'क' से अधिक क्या कह सके है? तथागत ने तो केवल कहा है 'एसेवन्तो दुक्खस्साति' यह दुःख का अन्त है, 'दिट्ठे धम्मे दुक्खस्स अन्तकरो होति[2]' 'धर्म के देखलेने पर दुःख का अन्त करने वाला होता है। इसके अतिरिक्त जो भी कुछ भगवान् ने कहा है वह निषेधात्मक भाषा मे ही कहना पडा है। व्यावहारिक जीवन से निर्वाण की स्थिति इतनी विभिन्न है कि मानवीय भाषा के निर्बल उपकरणो से उसको किसी भी प्रकार निरुक्त किया ही नही जा सकता। यहाँ सभी कुछ सापेक्ष है सविकल्प, निर्वाण अनपेक्ष है, निर्विकल्प है। यहाँ सभी कुछ प्रतीत्य समुत्पन्न ही है। निर्वाण में प्रत्यय नही है। 'वह अजात, अभूत,

(१) उदान, पाटलिगामियवग्गो; मिलाइए 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकौ' उपनिषद्, देखिए पाचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।

(२) समादिट्ठि सुत्त (मज्झिम० ११९) मिलाइए 'भिद्यते हृदय ग्रन्थि दृष्टे तस्मिन् परावरे' कठोपनिषद्; देखिए पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।

अकृत और असस्कृत हैं'। इससे अधिक विधानात्मक और निषेधात्मक कहा ही क्या जा सकता है। उस परम तत्व के विषय में 'अत्थि' भगवान् ने कहा है। इतना ही हमारे लिए पर्याप्त है। इससे हम अपना काम चला लेंगे। देखिए :

'जातं भूतं समुप्पन्नं कतं संखतमद्धुवं।
जरामरण संखतं रोगनीलं पभंगुरं॥
आहार नेत्तिप्पभवं नालं तदभिनन्दितुं।
तस्स निस्सरणं सन्तं अतक्कावचरं धुवं॥
अजातं असमुप्पन्नं अशोकं विरजंपद[1]।
निरोधो दुक्ख धम्मान सखारूपसमो सुखो॥'

(इतिवुत्तक, अञ्ञात सुत्त)

भव-धम्म है जीवन

'जो पैदा हुआ, जो बनाया हुआ, जो सस्कृत (सघात), अध्रुव, जरामरणशील, रोगो का घर, क्षण भगुर, आहार पर स्थित है, उसका अभिनन्दन करना युक्त नही।' यह विनाशी है।

अत्थि-धम्म है अभूत, अजात, असंस्कृत—निब्बाण

'उससे मुक्ति, शान्त, अतर्कावचर, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, शोक रहित पद है, वही दुख धर्मों का निरोध है, सस्कारो का उपशमन है, सुख है।' वह अविनाशी है।

ऊपर उद्धृत 'उदान' और 'इतिवुत्तक' के बुद्ध-वचनो से (जिनकी विस्तृत व्याख्या में यहां नही जाया जा सकता) यह लेखक यह विनम्र प्रस्ताव रखता है (विशेषत अनात्मवाद के पूरे रास्ते पर जानेवाले बौद्ध विद्वानो और साधको से) कि क्या उपर्युक्त 'अजात, अभूत, अकत, असखत' तत्व (जब तक कि इसकी भी अभावात्मक व्याख्या करके न उडा दी जाय, उस हालत में 'अस्ति' का बल ही क्या रहेगा 'अत्थि भिक्खवे अजात अभूत ..) के प्रकाश में बुद्ध का 'अनात्मवाद' निरुक्त अवस्था को ही उद्दिष्ट कर सिखाया हुआ सिद्धान्त उपपन्न नही होता, अर्थात् क्या उसका क्षेत्र जात, भूत, कृत सस्कृत धर्मों पर ही परिसमाप्त नही हो जाता (जिस प्रकार कि प्रतीत्य समुत्पाद का हो जाता है, देखिए ऊपर निर्वाण की स्थिति में प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का

---

(१) मिलाइए ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः ; तरति शोकमात्मविद्; आदि आदि, देखिये पाचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।

अभाव)। अत जव 'जात, भूत, कृत, और सस्कृत', पदार्थों से व्यतिरिक्त 'अजात, अभूत, अकृत और असस्कृत' तत्व की स्वीकृति 'अत्थि' के रूप मे भगवान् के द्वारा हुई है तो क्या उस 'अजात' की अपेक्षा मे ही, उस 'सन्त' 'असोक' 'विरज पद' की अपेक्षा मे ही, भगवान् बुद्ध ने इस समग्र 'जात, भूत, कृत और सस्कृत' को अनित्य, अनात्म और दु ख वताया, ऐसा क्या निष्पक्ष रूप से सोचा नही जा सकता ? उस हालत में भगवान् के इस प्रकार के वाक्य

'यथा हि अग सम्भारा होति सद्दो रथो इति ।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुति ॥'

अर्थात् 'जिस प्रकार अलग अलग अगो के आधार पर 'रथ' की उसी प्रकार पाँच स्कन्धो के आधार पर व्यक्तित्व के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है।' (जिसकी पूर्ण निषेधात्मक रूप से नागसेन के द्वारा की हुई व्याख्या हम देख आए हैं) और ये वाक्य ही नही किन्तु भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सभी पचस्कन्धो और अनात्मवाद सम्वन्धी वाक्य जिनको सभी को त्रिपिटक में से छान छान कर निकाल लिया जाय तो क्या ये सव वाक्य पूर्ण सगति के साथ ही बुद्ध की मूल भावना को विना आघात पहुचाएँ हुए (अर्थात् अनात्मवाद के प्रकाश में ही) उपर्युक्त 'अजात' अभूत अकृत, असस्कृत' तत्व की अपेक्षा मे ही व्याख्यात नही किए जा सकते ? निश्चय ही भगवान् तो कहते है कि यदि 'वह' अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत न होता तो जात, भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम ही कैसे सभव हो सकता ? 'नो चेत भिक्खवे अभविस्स अजात अभूत, अकत, असखत नयिध जातस्स भूतस्स कतस्स सखतस्स निस्सरण पञ्ञायेथ'। यह लेखक यह कहने का साहस कर सकता है कि इससे अधिक एक शब्द भी शकर ने बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के विषय में नही कहा है। उनके समग्र प्रतिभाशाली और प्रभावशाली (और ऐसे वे होने ही चाहिए जब शकर जैसे आचार्य हो, नैरात्म्यवादी जैसा दर्शन हो, व्यवस्थामय जैसा यह जगत् हो) तर्कों का जोर इसी एक प्रधान तर्क पर है कि 'भवेदुपपन्न सघातो यदि सघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत । न त्ववगम्यते'। यह सब हम विस्तृत और निष्पक्ष रूप से पाचवे प्रकरण मे देखेंगे। यदि शकर के कान में कोई यह बुद्ध-वचन डाल देता 'क्योकि वह अजात, अभूत, अकृत असस्कृत है, अत जात, भूत, कृत और सस्कृत का व्युपशम जाना जाता है' (अत्थि अजात अभूत अकत असखत तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स सखतस्स निस्सरण पञ्ञायतीति) तो वे 'अजातिवाद' के व्याख्यानकर्ता (गौडपाद) के प्रशिष्य (गोविन्द भगवत्पूज्यपाद) के शिष्य

शकर कम से कम 'न त्ववगम्यते' तो किसी भी प्रकार कह ही नही सकते थे, अन्य चाहे जो कुछ कहते, क्योकि जो कमी वे बुद्ध के दर्शन में दिखाना चाहते है उसका परिहार तो भगवान् बुद्ध पहले ही कर चुके है। किन्तु यह सब होता कैसे ? बौद्ध आचार्यों ने भी तो पहले से ही निषेधात्मक दृष्टि पर अधिक जोर दे दिया है। विसुद्धिमग्गकार का यह उद्धरण कि

दुक्खमेव हि न च कोपि दुक्खितो
न कारको क्रिया च विज्जति ।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुम
मग्गं अत्थि गमको न विज्जति ॥

'दुःख ही यहाँ है किन्तु दुःखित कोई नहीं, क्रिया ही मात्र है, कारक कोई नहीं, निर्वाण है किन्तु निर्वृत मनुष्य कोई नहीं, मार्ग है किन्तु उसपर चलने वाला ही नहीं'।

यह उद्धरण यदि आत्यन्तिक रूप से व्याख्यात किया जाय तो यह कब अवकाश देता है कि किसी 'अजात, अभूत, अकृत और असस्कृत' तत्व को माना जाय ? यहाँ तो मार्ग ही मार्ग है, निर्वाण ही निर्वाण है, क्रिया ही क्रिया है, मार्ग पर चलनेवाले का, निर्वाण का 'उपभोग' (अर्थात् अनुभव) करने वाले का अथवा क्रिया के करनेवाले का कहीं पता ही नही, वह कही मिलता ही नही। यदि आत्यन्तिक रूप से ऐसा ही है तो शकर क्या गलती करते हैं यदि वे कहते है 'यद्भोगार्थः सघात. स्यात् स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगम.। ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीय.। तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम्। अन्येन चेत् प्राथ्येतोभयं भोगमोक्ष कालावस्थायिना तेन भवितव्यम्[1]।' यह तो निश्चय ही एक स्वाभाविक निष्कर्ष है। आत्यन्तिक रूप से ही अनात्मवाद का निदर्शन न केवल स्थविरवाद परम्परा के कुछ और आचार्यों ने ही किया है, बल्कि उनसे भी बढ़कर उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने किया है। उन्होंने तो किसी 'अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत' तत्व की पचस्कन्धो या प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों से व्यक्तिरिक्त सत्ता ही नही मानी। इस प्रकार सस्कृत बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध कहते हुए दिखाये गए हैं—

---

(१) देखिए पांचवें प्रकरण में शांकर दर्शन का विवेचन। हिन्दी अनुवाद और विवेचन वहीं उपलब्ध है।

'इति हि भिक्षवोऽस्ति कर्म अस्ति फल कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान् स्कन्धान् विजहाति अन्याश्च स्कन्धान् उपादत्ते अन्यत्र धर्मसकेतात्। अथाय धर्मसकेतो यदस्मिन् सति इद भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यत इति[1]'। (हे भिक्षुओ! कर्म और फल है, किन्तु कारक की कही उपलब्धि नही होती कोई ऐसा कारक नही जो इन स्कन्धो को छोडे अथवा अन्यो का ग्रहण करे सिवाय धर्म सकेत के। और 'धर्म सकेत' यह है कि 'इसके होने से यह होता है, उसके उत्पाद से यह उत्पन्न हो जाता है'।

अब इन दोनो उपर्युक्त उत्तरकालीन आचार्यों के मन्तव्यो की इस बुद्ध-वचन से हम तुलना करें 'अजात असमुप्पन्न असोक विरज पद। निरोधो दुक्खधम्मान सखारूपसमो सुखो'। यदि निर्वाण तत्व या परम तत्व 'अजात' है तो वह कहाँ से आ गया? जो कुछ भी उत्पन्न होता और निरुद्ध होता है वह तो सभी प्रतीत्य समुत्पाद का विपय है और आप कहते है कि प्रतीत्य-समुत्पाद या धर्म सकेत से अन्य कोई है नही जो इन स्कन्धो को ग्रहण करे या छोडे (य इमान् स्कन्धान् विजहाति अन्याश्च स्कन्धान् उपादत्ते अन्यत्र धर्मसकेतात्)। तो फिर यह 'अजात' कहाँ से आ गया? फिर यही वात निर्वाण के असमुत्पन्न स्वरूप के विषय में भी है। इसी प्रकार जितना भी भूत-भौतिक और चित्त-चेतसिक व्यवहार है वह तो दुःख-अनित्य और अनात्म रूप ही है और इस भूत, भौतिक और चित्त और चेतसिक व्यवहार से व्यतिरिक्त तुम कुछ मानते नही हो, तो फिर भदन्तो! 'अजात, असमुत्पन्न, अशोक, विरज पद, सस्कारशम, सुख' की तुम कल्पना कहाँ से करते हो जब तक कि विश्व के शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध के इन शब्दो को ध्यानपूर्वक न सुनो जो तुम्हारे सब नैरात्म्यवादो और वेदान्तियो के नैरात्म्यवाद सम्वन्धी सभी प्रत्याख्यानो को भेदन करते हुए, दुःखो के अन्त और उसकी सगति को इन महनीय शब्दो में उपस्थित करते है जिनकी व्यापक विस्मृति ही हमें यहाँ उन्हें अनेक वार उद्धृत करने को उत्साहित करती है—

'अत्थि भिक्खवे अजात, अभूत, अकत, असखत नो चे त भिक्खवे। अभविस्स अजात, अभूत अकत असखत न यिध जातस्स भूतस्स कतस्स सखतस्स

---

(१) 'वोधिचर्यावतारपञ्जिका' तथा 'माध्यमिकवृत्ति' में उद्धृत। देखिए विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सेन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ वुद्धिज्म, पृष्ठ ९०, पद सकेत ४४

निस्सरणं पञ्ञायेथ। यस्मा च खो भिक्खवे। अत्थि अजात, अभूत, अकत, असखत तस्मा जातस्य भूतस्स कतस्स सखतस्स निस्सरण पञ्ञायतीति'।

अत निष्पक्ष भाव से देखने पर इस लेखक को ऐसा मालूम पडता है ('ऐसी मेरी श्रद्धा है', 'ऐसा मैं जानता हूँ' ऐसा कहते हुए सत्य का आघात नही किया जाता'। वुद्ध वचन के अनुसार ही मैं जानता हूँ कि अच्छी प्रकार से श्रद्धा किया हुआ भी, अच्छी प्रकार से सोचा हुआ भी, गलत हो सकता है और ठीक भी। अत अपने भी मत में मैं अभिनिवेश कैसे रख सकता हूँ— 'तान् असाध्यान् वभापिरे') कि भगवान् तथागत ने अपने को चूंकि अनुभव जगत् से ही अधिक सम्बद्ध रक्खा है, दु खी प्राणियो के दु ख को ही अधिक देखा है, सम्यक् सम्बुद्ध होकर भी मनुष्य को केवल उतना ही वताया है जितना कि उसे जरूरत है (जिसके विवेचन में हम पहले 'अनात्मवाद' के प्रसग मे प्रवृत्त हो चुके है) अतः नाम-रूपात्मक अथवा यो कहिए कि पञ्च-स्कन्धात्मक जगत् में से *किसी भी स्कन्ध की व्यष्टि या समष्टि* रूप में एकात्मत अपने साथ करने की भावना (जो कि सव दु खो का कारण है,—'सभी सस्कार दुःख है—रूप दुःख है, वेदना दु ख है, सज्ञा दु ख है, सस्कार दु ख है, विज्ञान दुःख है' वुद्ध-वचन—'दृष्ट्रदृश्ययो सयोगो हेयहेतुः'—योगसूत्र) का उन्होने निपेध किया है। अत. 'रूप आत्मा नही है' रूपवान् आत्मा नहीं है, रूप में आत्मा नही है, रूप आत्मा में नहीं है' ऐसा उन कारुणिक शास्ता ने सिखाया है, और इसी को अनात्मवाद कहा है अथवा इसी से द्योतित किया है 'आत्मवाद', 'आत्मग्राह', 'आत्मदृष्टि' 'आत्माभिनिवेश' अथवा 'सत्काय दृष्टि' इन सवका उच्छेद भी। जा 'आत्मवाद' का उच्छेद है, वही अनात्मवाद है। किन्तु निश्चय ही यहाँ 'आत्मवाद' से तात्पर्य 'आसक्ति' से ही है, गीता में जिसे 'सग' कहा है उससे ही है, ऐसा हम कह सकते है। 'आत्मावाद-उपादान' शव्द से यही अर्थ स्पष्ट है। 'आसक्ति' ही वन्धन का कारण होती है, 'मै, मेरा और मुझमें' ही मनुष्य को वाँधते है। किसमे ? रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान में। ये रूप, वेदना सज्ञा, सस्कार, विज्ञान किस स्वभाववाले है ? अनित्य, दु ख। उनमें 'मैं, मेरा, मुझमें' करने से क्या सुख मिलेगा ? 'नही'! 'तस्माद्दु ख स्वभावेन' (सास्य के शव्द यहां क्षम्य हो)। इसलिए दु ख तो दु ख ही हुआ। किन्तु तथागत तो दु ख-निवृत्ति के लिए अवतरित (साधारण प्रयोग) हुए है, अत. दु ख निवृत्ति का मार्ग उन्होने वताया है। और यह है वही जो अनात्मवाद अर्थात् पञ्चस्कन्धों में 'न मेरा, 'न मैं' आदि की भावनाएं। किन्तु यदि पञ्चस्कन्धो को ही अन्तिम

तत्व मान लिया जाय और प्रतीत्य समुत्पाद को ही अन्तिम व्यवस्था, तो इन दोनो की विद्यमानता होने पर हम 'अशोक, शान्त, सस्कारशम, सुख' रूप निर्वाण की वात कहने का भी अधिकार नही रखते और चूकि तथागत ने अधिकार पूर्वक उपर्युक्त लक्षणो से विशिष्ट निर्वाण पद का उपदेश दिया है, अत. उसके साथ-ही-साथ हम उसके 'अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत,' तत्व को भी नही भुला सकते जो एक ही साथ उनके द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का स्वरूप है तथा उन दोनो अर्थात् निर्वाण और अनात्मवाद की सगति भी। अतः जव हम भगवान् के इस प्रकार के वचन देखते है 'भिक्षु समझता है कि मेरी क्रियाओ के पीछे कोई करनेवाला नही है, कोई आत्मा नही, क्रिया मात्र है' तो हम उनके इस वचन को विना उनके द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद की मूल भावना पर आघात किए हुए विलकुल उसी अर्थ का द्योतक मान सकते हैं जिस अर्थ में कि गीताकार ने 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते[1]', नाह किञ्चित् करोमीति', 'मूढ कर्ताऽहमिति मन्यते' आदि कहा है[2], या साख्यकार ने 'नास्मि न मे नाह' आदि कहा है[3]। इस अर्थ को लेकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तृष्णा का निरोध बडी अच्छी तरह से व्याख्यात है और इसीलिए स्वभावतः दुःख की निवृत्ति भी जिसको छोड भगवान् तथागत ने और कुछ सिखाने का दावा ही नही किया। किसी अतीत सत्यता के निषेध को दिखलानेवाला तथागत का 'अनात्मवाद' सिद्ध नही किया जा सकता, यही सव हमारे कहने का साराश है। जिस कारण से तथागत ने इसे प्रख्यापित नही किया है उसे हम 'अनात्मवाद' के विवेचन में दिखा चुके है और कुछ यहाँ भी। किन्तु निर्वाण के उपदेश के प्रसग में भगवान् उस वात को दिखा गए है जिसे वे अनात्मवाद के प्रसग में नही दिखा सके, अथवा इसी वात को यो कहना चाहिए कि साधन-पक्ष के प्रसग में जिस बात पर उन्होने मौन रक्खा है, साध्य-पक्ष पर आते समय 'अस्ति' केवल इस एक विधानात्मक शब्द से प्रज्ञापित कर अन्य सव को यहाँ भी अप्रज्ञप्त छोड दिया है क्योकि सिवा 'अस्ति' के और कुछ कहा ही नही जा सकता और जो कुछ कहा भी जायेगा वह निषेधात्मक भाषा में ही होगा, इसलिए 'अत्थि भिक्खवे!

---

(१) जैकोबी ने साख्य 'गुणों' की बौद्ध 'सस्कारो' से समानता दिखाई है। देखिये पाचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन' का विवेचन।

(२) देखिए पाचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और गीता-दर्शन' का सम्बन्ध-विवेचन।

(३) देखिए पाचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन' का सम्बन्ध-विवेचन।

अजात अभूत अकत असखत'। केवल यही कहा गया यही निर्वाण है और दु खो का अन्त भी है यही 'एसेवन्तो दुक्खस्साति'। हमें इस सार्थक तथ्य को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि निर्वाण के भावात्मक और निषेधात्मक रूपो में जिन शब्दो का प्रयोग बौद्ध परिभाषा में किया गया है वे प्राय-पूरी तरह से वेदान्त के ब्रह्म के लिये भी लागू होते है। बुद्धोपदिष्ट निर्वाण के सम्बन्ध में हम पहले उद्धरण के आधार पर दिखा चुके है कि वह विमुक्ति है, अमृतपद है, योगक्षेम है, अच्युत पद है, शान्त है, शिव है, ध्रुव है, त्राण है, द्वीप है, सत्य है, अत्यन्त सुख है, परम अतीत है, निष्प्रपच है, अस्ति-धर्म है, सत् है। यही सब विशेषण वेदान्त ने ब्रह्म के सबध में भी प्रयुक्त किये है। निषेधात्मक रूप में निर्वाण अकृत है, असस्कृत है, राग, द्वेष, मोह का विनाश है, तृष्णा और आस्रवो का नि शेष है, असस्कृता धातु है, और अभिधम्म की पदावली में अव्याकृत है, असस्कृत है, न स्वय विपाक है और न विपाक को उत्पन्न करनेवाला है (विपाक-न-विपाक धम्म) 'अनुपादिन्न' और अप्रमाण (असीम), अहेतु, अपरामृष्ट, चित्त-विप्रयुक्त, चित्त-विससृष्ट, अ-चेतसिक, अनालम्वन, अ-प्रीतिक, अ-परियापन्न, अनुत्तर और अनिय्यानिक आदि है। कहने की आवश्यकता नही कि ये सब विशेषण वेदान्त के निर्गुण-निर्विशेष के लिये भी उसी प्रकार लागू है।

यहाँ हमने निर्वाण के प्रसग में ब्रह्म और अनात्मवाद का प्रसग छेड दिया जो कुछ को अनपेक्षित-सा जान पड सकता है। किन्तु वास्तव में वात ऐसी विलकुल नही है। निर्वाण में अनात्मवाद का सवाल अपने आप अभिव्याप्त है। निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिए अनात्मवाद के स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है और विना 'अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत' स्वरूप निर्वाण को समझे हम अनात्मवाद को कभी समझ ही नही सकते। निर्वाण की ब्रह्म से तुलना करने पर अनात्म तत्त्व के दो स्वरूप की अवगति होती है। इन्ही दो दृष्टिकोणो को सामने रखकर हमने इन दोनो के सम्बन्ध को उपर्युक्त रूप से निरूपित किया है। वास्तव में वात तो यह है कि अनात्मवाद और निर्वाण दोनो का समझना ही कठिन है। 'अनत्त' तो दुर्दर्श है ही, सत्य रूप निर्वाण भी सुख से दर्शन करने योग्य नही है[1]। निश्चय ही जितना वह साक्षात्कार करने में कठिन है उतना ही वर्णन करने में भी[2]। किन्तु यहाँ

---

(१) दुद्दस्सं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं। उदानं, पाटिलिगामिय वग्गो।

(२) प्रसिद्ध जापानी बौद्ध पडित यामाकामी सोजन ने भी यही अनुभव किया है।

यदि साख्यकार की एक उक्ति को स्मरण करने लग जायें जिससे भगवान् तथागत भी असहमत नही हो सकते, अर्थात् यह कि 'विमुक्ति प्रशसा तो मन्दो की ही होती है' 'विमुक्ति-प्रशसा मन्दानाम्' तो हम इन सब बौद्धिक विवेचनो को छोड केवल इसी अनुत्तर सत्य पर डटते हैं कि—

'पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो किञ्चनति ।

अर्थात् ज्ञानी की तृष्णा जब नष्ट हो जाती है तब उसे रागादि क्लेश कुछ नही होते। यही निर्वाण है । 'एतद्वै तत्' । क्या ? वही जो 'अजात अभूत, अकृत, असस्कृत',[*] जिससे निस्सरण जाना जाता है जात, भूत, कृत और सस्कृत का । हमारा बार-बार उसी बिन्दु पर लौटकर आना अशेष नैरात्म्यवाद की पाठशाला में पढे हुए व्यक्तियो को 'सत्काय दृष्टि' पर ही बार-बार लौट आने का आभास दे सकता है और वे निश्चय ही कह सकते है कि हमने केवल मिलिन्द राजा के उठाए हुए कुछ पूर्वपक्षो को ही गलत रूप से रक्खा है[१]। यह हो सकता है क्योकि लेखक की वर्णन-शक्ति और चिन्तन-शक्ति बहुत अल्प है और जब आनन्द जैसे शिष्य को तथागत ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के विषय में एक साधारण दृष्टि लेने से रोका तो हम बपुरे कौन है जो अनात्मवाद या निर्वाण के विषय में एक शब्द भी साधिकार कह सके, जिन्होने न आचरण से और न सम्यक् विचार से कभी यह देखा कि निर्वाण-मार्ग का प्रथम पद भी क्या होता है ? जो कुछ कहा है वह अध्ययन के आधार पर ही कहा है और इसकी सम्यक् अनुभूति है कि जब औपनिषद अर्थ में भी 'आत्मा' जैसी कोई परिनिष्ठित वस्तु बुद्ध के विचार (बौद्ध दर्शन बिलकुल विचार के बाहर है) में देखी जाती है तो यह केवल अर्थापत्ति से ही वहाँ आती है अर्थात् बुद्ध के निर्वाण

'This description of निर्वाण is, I acknowledge, almost as difficult to understand as निर्वाण itself is to realize', सिम्प्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ ४२

(१) निश्चय ही कुछ तो वात्सीय पुत्रियों का ही प्रत्यावर्तन यहां देख सकते है (जिन्होंने बौद्ध धर्म के पूर्व विकास में बुद्ध के शब्दों को तोड-मरोड़ कर 'आत्मा' और 'पुद्गल' वादों की सिद्धि करने की कोशिश की थी—देखिए आगे बौद्ध धर्म और दर्शन का विकास) । किन्तु हम 'वात्सीय-पुत्रिय' नहीं है ।

आदि के उपदेशो को देखकर यह अनुमान लगाना पडता है कि यदि इनकी सगति मिलानी है तो निरुक्त जगत को छोडकर (जहाँ अनात्म ही अनात्म है) अनिरुक्त अवस्था में कोई तत्व अवश्य ऐसा होना चाहिए जो उनकी प्रतिष्ठा स्वरूप हो । इसका अर्थ यह है कि जब बुद्ध अनित्य और दुःख के सम्बन्ध में यह कहते है कि यह 'अत्ता' नही हो सकता, तो जिसे वे स्वय 'अत्यन्त सुख' और 'अच्युत' 'ध्रुव', 'सत्य' और परम शान्त कहते हैं क्या उसे 'अत्ता' कहना ठीक न होगा ? किन्तु यह बुद्ध ने भाषित नही किया है। अत. दोनो ही अर्थ निकल सकते है अर्थात् 'है' भी और 'नही' भी। बौद्ध धर्म और दर्शन के इतिहास में दोनो अर्थ निकाले भी गए हैं, किन्तु उनके विरोधियो ने उन्हे 'न' कहने का ही पक्षपाती अधिक ठहराया है। चूकि यहाँ निर्वाण के प्रसग में हमें स्पष्टत· 'अत्थि' कहा हुआ मिलता है इसलिए हमने उसको जैसा समझा है प्रकट किया है। जो बौद्ध ग्रन्थ (और वे 'मिलिन्द प्रश्न' जैसे स्थविरवादी ग्रन्थ से लेकर अन्य बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो में अनेक हैं) निषेधात्मक रूप से बुद्ध-मन्तव्य को प्रकट करते हैं उनसे निश्चय ही हमारा मत अनुकूल नही पडता है और इस दृष्टि से हम बुद्ध की मूल भावना को समझने मे ही भ्रमित समझे जा सकते हैं, किन्तु हमारा विचार यह है कि अनेक बौद्ध आचार्य ऐसे भी हैं, जिनमें अश्वघोष का नाम सर्वप्रथम स्मरणीय है, जो हमें अपने चिन्तन मे उत्साहित करते है और नागार्जुन की भी यदि परम्परायुक्त व्याख्या न ली जाय तो वे भी हमें काफी आश्वासन दे सकते हैं । किन्तु इन आचार्यों का तो यहां कुछ सवाल ही नही। हमें शकर, अश्वघोष या नागार्जुन से इस समय क्या करना है ? हमें तो बुद्ध-मन्तव्य ही यहा विवेचनीय है । और स्थविरवाद की परम्परा में होने से स्थविर नागसेन हमे अपना साक्ष्य सुना सकते है, किन्तु अन्य मनीषियो का तो आह्वान (शकर भी एक बार तो बुलाए गए !) हमें अपनी एक विशेष व्याख्या को सुस्पष्ट करने के लिए ही करना पडा, जिसको भी उनके साथ ही साथ चले जाना चाहिए । 'साऽपि पश्चात् प्रहीयते ।'

स्थविरवाद-परम्परा में निर्वाण दो प्रकार का माना गया है, (१) सोपाधिशेष निर्वाण और (२) अनुपाधि शेष निर्वाण[१]। लोभादि दस

(१) यह विभेद अन्य बौद्ध सम्प्रदायों को भी मान्य है। देखिए सोजन . सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ ३६

क्लेशो के अत्यन्त विनाश होने को सोपाधिशेष निर्वाण कहत हैं। 'क्लेश'. (पालि किलेस) शब्द स्थविरवाद बौद्ध धर्म में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसके द्वारा मन मलिन किया जाता है (किलिस्सति), जलाया जाता है (उपतप्पति) दुःखित किया जाता है (बाधियति) या प्राणियो को साधारणत जो मलिन भाव (मलिन भाव विहीण भाव) को प्राप्त कराता है, वह क्लेश कहलाता है[1]। ये क्लेश दस हैं[2], यथा लोभ (लोभ), द्वेष (दोसो) मोह (मोहो) मान, दृष्टि (दिट्ठि) विचिकित्सा (विचिकिच्छा) स्त्यान (थीन) औद्धत्य (उद्धच्च) अह्री (अह्रीरिक) तथा अनुत्ताप (अनोत्तप्प) हम पहले देख चुके हैं कि भगवान् तथागत ने 'एहिपस्सक धम्म' का उपदेश दिया है और उनका निर्वाण भी सर्वप्रथम 'एहिपस्सक धम्म' ही है। सोपाधिशेष निर्वाण जीवन की अवस्था का निर्वाण है और निरुपाधि-शेष जीवन की अवस्था के बाद का। निर्वाण का साधारण अर्थ है 'निर्गत बान गमनं यस्मिन् तत् निर्वाणम्' अर्थात् जिसमे गमन या ससरण निवृत्त हो जाए वह निर्वाण है[3]। यह निर्वाण की अवस्था जीवन के पहले भी प्राप्त की जा सकती है और वही वास्तव मे बाद में पुनर्जन्म को हटानेवाली भी होती है। सोपाधि-शेष निर्वाण और निरुपाधि-शेष निर्वाण को ही हम क्रमश निर्वाण और परिनिर्वाण कह सकते हैं। सोपाधिशेष निर्वाण अनुभव जगत् से सम्बन्ध रखता है और निरुपाधि-शेष अतीत जगत् से। इसी दृष्टि से दोनो के स्वरूपो मे भी और वर्णनो में भी विभेद है। तथागत के लिए इस जीवन का निर्वाण कम महत्वपूर्ण नही था और उसीसे हम बाद के निर्वाण को भी अनुमेय कर सकते है, अन्य कोई मार्ग उसे समझने

---

(१) 'क्लेश' शब्द के योग में व्यवहार के लिए देखिए पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध-दर्शन और साख्य-योग' पर विवेचन ।

(२) कभी क्लेश का द्विविध विभाग भी किया जाता है यथा 'भावना हेय क्लेश' तथा 'दर्शन हेय क्लेश' स्थविरवाद परम्परा को दशविध क्लेश ही अधिक मान्य है और 'धम्म सगणि' में वह वैसे ही दिया है।

(३) यूआन-चुआङ के द्वारा दिए हुए चार अर्थों (अशेष भव-विमुक्ति, क्लेश कर्म निर्वृत्ति, पञ्चस्कन्धों आदि के गहन कान्तार में से निकलना, कर्म-सूत्र का नितान्त अभाव या उच्छेद) के लिए देखिए, यामाकामी सोजन: सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ ३०-३१,

का नहीं है। सोपाधिशेष निर्वाण प्राप्त करने की चार सीढियाँ है, यथा स्रोतापन्न होना, सकृदागामि होना, अनागामि होना तथा अर्हत् होना। 'जो कुछ समुदय-धर्म है, वह सब निरोध-धर्म है' (य किंचि समुदयधम्मं सव्व त निरोध धम्मति') ऐसा विमल ज्ञान अर्हत् को होना चाहिए। सोपाधिशेष निर्वाण की अवस्था, जिसे हम जीवन्मुक्ति की अवस्था कह सकते है, निश्चय ही आनन्द से भरी हुई होती है। 'अभितो ब्रह्मनिर्वाण वर्तते विदितात्मनाम्' यह गीता की भावना एक अर्हत् के लिए सर्वथा चरितार्थ होती है। वह आनन्द से भरा रहता है और इसमें तनिक भी हमे आश्चर्य नही करना चाहिए। भगवान् बुध इस प्रकार की अवस्था को 'ब्रह्म प्राप्ति' की अवस्था कहकर पुकारते है और निर्वाण-सुख रूपी चेतोविमुक्ति-सुख का अनुभव कर विहरते हुए अर्हत् को 'ब्रह्मभूत' कहकर पुकारते है। सर्वत्र ही अर्हतों को हम इस प्रकार, 'ब्रह्मानन्द' में डूबते हुए देखते है.—

'सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चन।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा' ॥

'जिन हम लोगो के पास कुछ नही, अहो! हम कितने सुख से जीवन विता रहे है। हम 'आभस्सर' देवो की तरह प्रीति भक्षक है।' गौतम बुद्ध तो अत्यन्त 'सुख विहारी' योगी थे। देखिए मुक्त अर्हतो के उद्गार—

'ठिते मज्झन्तिके काले
सन्निसिन्नेसु पक्खिसु।
सनतेव ब्रह्मारञ्ञा
सा रत्ती पटिभाति मं'

'मध्याह्न काल में महावन में जब पशु-पक्षी तक नीरवता पूर्वक विश्राम कर रहे है, उस समय मेरा आनन्द अपार होता है।'

विसाख ने जब धम्मदिन्ना से पूछा कि निर्वाण क्या है, तो धम्मदिन्ना ने उसके 'अतिप्रश्न' का उत्तर न देकर केवल यही कहा कि धर्म में ही निर्वाण की शाखा प्ररूढ़ है, धर्म का उद्देश्य और आदि तथा अन्त सब कुछ निर्वाण ही है। विसाख ने जब बुद्ध से यही प्रश्न पूछा तब उन्होने भी धम्मदिन्ना की प्रशसा करते हुए यही बताया। निश्चय ही तथागत के लिए इस जीवन का निर्वाण ही अधिक प्रयोजन रखता है। उनके मन्तव्य में भी निश्चय ही 'अद्यैव

ावनीयन्ते' 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' आदि औपनिषद वाणियाँ इसी जीवन में रेतार्थ होनी ही चाहिए। 'ब्रह्मविद् इव सौम्य ते मुख भाति' की बातें रिपुत्र आदि अनेक जीवन्मुक्त महात्माओ के प्रति बौद्ध साधना के क्षेत्र कही गई है। निरुपाधि-शेष निर्वाण के विषय को लेकर हम पहले कह चुके हैं। यहाँ दीपक की ज्योति की उपमा ही अधिक दी जाती । इस प्रकार 'रतनसुत्त' में

'खीनं पुराणं नव नत्थि सम्भवं विरत्तचित्ता आयतिके भवस्मि। ते खीणबीजा अविरूल्हिछन्दा निब्बन्ति धीरा यथाय पदीपो।'

'पुराना (कर्म) क्षीण हो गया, नवीन की उत्पत्ति नही है, पुनर्जन्म मे ात्त विरक्त है, पुनर्जन्म के बीज सब नष्ट हो गए, कोई इच्छा शेष नहीं ही, तो ये धीर (बुझे हुए) प्रदीप की तरह निर्वाण को प्राप्त होते हैं।' ह दीपक का बुझ जाना क्या है? यह है द्वेष, लोभ, मोह का दग्ध हो ाना । इनके समाप्त हो जाने पर वह सामग्री ही नही रहती जिससे सरा जन्म धारण करना पडे। यह एक बौद्ध प्रयोग मात्र है जो इस तथ्य ो सूचित करता है। अभाव का यह पर्यायवाचक नही है क्योकि उस हालत ' 'दीपस्स इव निब्बान विमोक्खो अहु चेतसो' 'अर्थात् मेरे चित्त का विमोक्ष ीपक के बुझने के समान था' ऐसे त्रिपिटक के वचनो का कोई मतलब ी नही निकलेगा। अनुपाधि शेष निर्वाण निश्चय ही एक अनिरुक्त अवस्था और समुद्र के समान वह गम्भीर, अथाह तथा अगम्य है। यही तथ्य भिक्षुणी खेमा ने कोशलराज प्रसेनजित् को बतलाया था। आनन्द ने भी क बार यमक नामक भिक्षु को इस मिथ्यादृष्टि से निकाला था कि ाथागत (जीव) मृत्यु के बाद नही रहते और स्वय बुद्ध ने कहा था कि न बातो का वर्णन नही किया जा सकता, किन्तु ये अज्ञेय और अननुवेद्य अननुवेज्जो' हैं (अलगद्दूपम सुत्त)। यह निर्वाण का अनिर्वचनीय स्वरूप त्रिपिटक मे अनेक बार प्रख्यापित किया गया है और निश्चय ही उस पद के वेषय में जिसके लिए गति और अगति, स्थिति और च्युति एक ही है, ागवान् का यह उदान 'अत्थि भिक्खवे तदायतन, यत्थ नेव पठवी न आपो ा तेजो न उभो चन्दम सुरिया . एसेवन्तो दुखस्साति' सर्वथा ठीक हो ा। ऐसी ही वह अनिरुक्त अवस्था है। तेल और बत्ती जब समाप्त हो गए ो दीपक को बुझ जाना ही चाहिए, वेदनाओ को ठडी पड ही जाना ाहिए, यहा पर समाप्ति हो ही जानी चाहिए। निर्वृत्त पुरुषो के प्रज्ञापन के

लिये मार्ग नही है 'वट्ट तेस नत्थि पञ्ञापनाय'[1]। यह अनिरुक्त अवस्था का ही सूचक है, आत्मविनाश का नही। इसी प्रकार बुद्ध-वचन का आश्रय लेकर जब नागसेन निर्वाण को निरोध कहते हुए परिनिर्वृत्त पुरुष के सम्बन्ध में कहते है 'वह लपट तो बुझ गई' तो हमे बुझने से तात्पर्य या तो राग, द्वेष और मोह की अग्नि के बुझने से लेना चाहिये या उस अनिरुक्त अवस्था से, जिसके सबध में कुछ नही कहा जा सकता। यदि सत्त्वच्छेद अभिप्राय होता तो तथागत स्पष्ट क्यो नही कह देते 'मरने के बाद तथागत नही रहते।' ऐसा उन्होने नही कहा है। इसलिये लपट बुझ जाने में उसी अद्वय अनिरुक्त अवस्था का चिह्न है जिसके सबध में मैत्रेयी को मोह में डालते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा था, 'न प्रेत्य सज्ञास्ति'। चरम सत्य निषेधात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है, क्योकि वहा दूसरा नही रहता। यह अनिरुक्त अवस्था हमारे लिये अनिरुक्त अवस्था के रूप में ही समझने योग्य है और निश्चय ही माध्यमिको के दर्शन मे भले ही अभाव की कल्पना हम कर लें (जो भी यद्यपि नही करनी चाहिए) किन्तु तथागत के अमृत, शान्त, अतर्कावचर, अशोक विरज, सुखप्रद रूप निर्वाण में तो अभाव की कल्पना कर हमें कभी अपने विचार को कलुषित नही बनाना चाहिए क्योकि बुद्धो का गलत समझना अकुशलमूल होता है। उन तथागत के लिए 'वाद' जैसी कोई वस्तु रह ही नही गई थी क्योकि उन्होने यह सब देख लिया था और सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर ली थी। डा० राधाकृष्णन् के ब्रिटिश अकादमी में दिए गए अभिभाषण के इस अश से हम सहमत है जिसमें उन्होने कहा है कि हमें गौतम बुद्ध के सबध में उच्छेदवाद पर आग्रह नही करना चाहिए[2]।

---

(१) उदान ६।८

(२) 'It is unwise to insist on seeing nihilism or agnosticism in teachings where another explanation is not merely possible but probably more in accordance with Buddha's ideas and the spirit of the times ,... .. ...
—'गौतम दि बुद्ध' (पुस्तक के रूप में प्रकाशित, ब्रिटिश एकेडमी के द्वारा, १९३८) पृष्ठ ४६

हमें भगवान् बुद्ध के मन्तव्य को ठीक प्रकार से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। 'अभाव न विकल्पयेत्'। 'निर्वाण' का एक वडा लम्बा इतिहास है, किन्तु

निर्वाण के सम्बन्ध में मिलिन्द प्रश्न' और 'विशुद्धिमार्ग' के विचार

हम तो यहाँ इसके विकास का किञ्चिन्मात्र रूप भी नही दिखा सकते। जहाँ तक स्थविरवाद परम्परा का सम्वन्ध है, 'मिलिन्द प्रश्न' और 'विशुद्धिमार्ग' के एतत्सम्वन्धी विचारो से अवगति प्राप्त कर लेना हमारे लिये आवश्यक है। नागसेन ने निर्वाण के सम्वन्ध मे वहुत कुछ कहा है और इतना अविक कहा है कि उसका सक्षिप्त स्वरूप भी यहाँ देना अत्यन्त कठिन है। फिर नागसेन की विचित्र उपमाओ की वडी कठिन समस्या है। वे इतनी मनोहर और प्रसगानुकूल है कि उन्हे विना उद्धृत किए जी नही मानता, किन्तु साथ ही विस्तार में वे वडी लम्वी भी है। वर्णन-शक्ति वाण के समान, सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि वाचस्पति की-सी, और शकर का-सा प्रशस्त गद्य, यही है हमारे भदन्त नागसेन और उनके कलात्मक वर्णन। यदि निर्वाण के गुण ही गिनाने है तो एक गुण उसमें कमल का दो गुण जल के, तीन गुग दवा के, चार गुण समुद्र के, पाँच गुग अन्न के, दस गुण आकाश के, पाँच गुण पर्वत की चोटी के कोई इयत्ता ही नही दीखती कि न जाने ज्ञानेश्वर जी के समान एक ही उच्छ्वास में वे जाने क्या-क्या न कह जायगे। केवल इतने सूक्ष्म निर्देश से ही हम समझ सकते है कि सोपाधि-शेप निर्वाण को किस स्पष्टता के साथ नागसेन ने देखा है। दूसरी वात जो उनके निर्वाण के वर्णन के विषय में है, वह है उनके द्वारा उसके अनिर्वचनीय स्वरूप पर जोर देना। वे निर्वाण को 'अकम्मज', 'अहेतुज', 'अनुतुज', 'अनुप्पादनीय' और 'असखत' कहते हैं[1], जो निश्चय ही भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अजात', 'अकत', 'अभत' और 'असस्कृत' की ही व्याख्याये है। शाकर दर्शन से इस प्रकार के निर्वाण का क्या सम्वन्ध है, यह पाँचवे प्रकरण में निरूपित करेंगे। यहा यह और कह देना चाहिए कि भदन्त नागसेन की रुचि निर्वाण के वौद्धिक विश्लेषण में होते हुए भी वे अपने शास्ता के महान् नैतिक उद्देश्य को नही भूले है और यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि निर्वाण के साक्षात्कार के लिए आर्य अष्टागिक मार्ग का उपदेश दिया गया है, फिर भी आर्यअष्टागिक

(१) निब्बाणं महाराज अकम्मज अहेतुज अनुतुजं। मिलिन्द पञ्हो, पृष्ठ २६३
(वम्वई विश्वविद्यालय सस्करण)

मार्ग निर्वाण की उत्पत्ति का हेतु नही है[1]। निर्वाण तो अ-कर्मज है, अ-हेतुज है। हम निश्चय पूर्वक वेदान्त की ओर बढ रहे है, जिसके सबन्ध में पाँचवें अध्याय में लिखेंगे।

आचार्य बुद्धघोष की निर्वाण-सम्बन्धी व्याख्या पर भी हमें दृष्टिपात कर लेना चाहिये। बुद्धघोष ने निर्वाण को 'सन्तिलक्खण' कहा है। उसका लक्षण शाति है। अच्युति या आश्वासन प्रदान करना उन्होंने निर्वाण का सार माना है। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात जो आचार्य बुद्धघोष ने निर्वाण के सम्बन्ध में कही है वह यह है कि निर्वाण शश-विषाण के समान अभावात्मक नही है। 'नत्थेव निव्वाण ससविसाणमिव'। वह सत् है, विद्यमान है। उपाय के द्वारा उसकी उपलब्धि होती है। उपायेन 'उपलब्भनीयतो'। निर्वाण के अनुरूप उपाय का आश्रय लेने से वह प्राप्त होता है। 'उपलब्भति हि तदनुरूप पटिपत्तिसखातेन उपायेन'। इसलिये निर्वाण अभावमात्र (अभावमत्त) नही है। यदि निर्वाण न हो तो आर्यअष्टागिक मार्ग और शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास व्यर्थ हो जायेंगे[2]। आर्य मार्ग (बुद्ध-धर्म) की सार्थकता के लिये यह आवश्यक है कि निव्वान भाव-रूप हो। परमार्थत: दुखनिरोध रूपी आर्य-सत्य ही निर्वाण है[3], यही स्थविरवाद परम्परा को अन्त में निर्वाण के सम्बन्ध में वक्तव्य है।

बौद्ध साधना के प्राथमिक और मौलिकतम स्वरूप में निर्वाण को किस रूप में देखा गया है, यह यहा हमने निरूपित किया है। उसके उत्तर-कालिक विकास में निर्वाण को क्या स्वरूप मिला और अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायो के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धातो से उसका क्या सबध है, इसका विवेचन तो हम आशिक रूप से इस परिच्छेद के उत्तरार्द्ध और अन्त में पाचवें परिच्छेद में करेंगे।

---

(१) सच्चं महाराज भगवता..... निव्वानस्स सच्छिकिरियाय मग्गो अक्खातो, न च पन निव्वानस्स उप्पादाय हेतु अक्खातो'ति। मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ २६३ (बम्बई विश्वविद्यालय का सस्करण)

(२) असति हि निब्बाने ... सीलादिक्खन्धत्तय सगहाय सम्मा-पटिपत्तिया वञ्झभावो आपज्जति। विसुद्धिमग्ग १६।६८।

(३) परमत्यतो हि दुक्ख निरोधं अरियसच्चं ति निव्वानं वुच्चति। विसुद्धि-मग्ग १६।६५

११—क्या सम्यक् सम्बुद्ध दुःखवादी, अनीश्वरवादी और उच्छेदवादी है ?

बुद्ध-धर्म सु-आख्यात था और उसके शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध थे। फिर भी बुद्ध का युग अनेक दार्शनिक विचिकित्साओ का युग था, यह हम पहले देख चुके हैं। अनेक अतिवादो से बचकर तथागत ने
बुद्ध के समय मे ही अपने अविवाद नैतिक धर्म का उपदेश दिया था जो उनपर अनेक प्रकार यही जीते जी, प्रति-शरीर, साक्षात्करणीय था और के आक्षेप और जिसके निर्मम बौद्धिक विवेचन और परीक्षण तथागत के द्वारा का मार्ग स्वय उन्होने प्रशस्त कर दिया था। उनका स्पष्टीकरण फिर भी भगवान् बुद्ध के उपदेश के विषय में उनके जीवन-काल में ही अनेक भ्रातियाँ लोगो में फैलने लगी और बाद में तो इस अस्पष्टता को लेकर उनके समग्र धर्म में ही अनेक विवाद उठ खडे हुए जिनका विवरण हम बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास के इतिहास के समय देंगे। महापुरुषो की वाणी साधारण जनता को, जो अल्प वैराग्य और अल्प साधनावाली होती है, शीघ्र ही समझ में नही आती। भगवान् बुद्ध भी पृथग्जनो की इस प्रवृत्ति के शिकार हुए। उनके जीवन-काल में विशेषत ब्राह्मणो, परिब्राजको और निगठो (निर्ग्रन्थो) में उनके सबध में अनेक भ्रमात्मक विचार प्रचलित थे। उदाहरणत. एक ब्राह्मण ने भगवान् से आकर पूछा था, "हे गौतम! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम वृद्ध, वय प्राप्त ब्राह्मणो के आने पर न अभिवादन करता है, न आसन के लिये कहता है। हे गौतम! क्या यह ठीक है?"[१] परिब्राजक भी पूर्वान्त और अपरान्तकल्पिक दृष्टियो को लेकर तथा अन्य दृष्टियो से अनेक प्रकार के मिथ्यारोप भगवान् तथागत पर करते थे।[२] निर्ग्रन्थ साधुओ की दृष्टि भी बुद्ध और बुद्ध-धर्म के प्रति सहानुभूतिपूर्ण न थी।[३] बुद्ध के बढते हुए प्रभाव को देखकर उनका कहना था "श्रमण गौतम मायावी है, आवर्तनी (आवत्तनि) माया जानता है, जिससे दूसरे मतो के

---

(१) वेरजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१); विनय-पिटक-पाराजिका १

(२) देखिये मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५); दिट्ठिवज्ज-सुत्त (अगुत्तर निकाय)

(३) देखिये सीहसुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।२)

शिष्यो को अपनी ओर फेर लेता है[१]।" भगवान् बुद्ध निरभिमानी थे और स्वय साक्षात्कृत धर्म की सत्यता पर उनका गहरा विश्वास था। उनके जीवन में कोई ऐसी वात नही थी जिसके लिये उन्हें कोई लज्जित कर सकता। इसलिये विनम्र किन्तु दृढ शब्दो में वे कहते थे "मेरे विषय में जो तुम्हें सशय या विमति हो, वह प्रश्न करो। मै उसे उत्तर से दूर करूँगा[२]।" हम पहले देख चुके हैं कि उन्होने अपने शिष्यो से कहा था कि उन्हें इस वात की परीक्षा करनी चाहिये कि तथागत सम्यक् सबुद्ध हैं या नही। सत्य की यह अपरोक्षानुभूति और तज्जनित अधिकारपूर्ण वाणी ही तथागत के सदेश को तव से लेकर आज तक सत्य-खोजियो के लिये परम आकर्षण और आश्वास का विषय बनाये हुए है।

जो आरोप भगवान् बुद्ध पर उनके जीवन-काल में लगाये गये थे, उनमें से कुछ इस प्रकार है 'गौतम अ-रसरूप है,' 'गौतम अक्रियावादी है,' 'गौतम उच्छेदवादी है,...जुगुप्सु है वैनयिक (खडन करने वाला) है. . तपस्वी है . अपगर्भ है, आदि[३]। एक आरोप यह भी था कि गौतम 'अप्रज्ञप्तिक' है, अर्थात् किसी वात का प्रतिपादन न करने वाला है[४]। इसी प्रकार एक परिव्राजक ने कहा था, "श्रमण गौतम सभी तपो की निंदा करता है, तपस्वियो को भला बुरा कहता है।"[५] कहने की आवश्यकता नही कि ये सभी आरोप बुद्ध-शासन को ठीक प्रकार से न समझने के परिणाम स्वरूप ही थे। फिर भी कारुणिक शास्ता को उनका निराकरण करना पड़ा ताकि यह उन लोगो के लिये और आगे आनेवाली जनता के लिए चिर कल्याण के लिये हो। आरोपो के निराकरण करने का भगवान् का तरीका भी कितना समन्वयात्मक था। उन्होने उन सव आरोपो को स्वीकार कर लिया जो आरोपकर्ता उन पर लगाते थे। केवल आरोप के शब्दो को दूसरे अर्थ देकर उन्होने यह दिखला दिया कि इन नये अर्थों में तो उन्हे ऐसा कहा भी जा

---

(१) उपालि-सुत्त (मज्झिम० २।२।६); निर्ग्रन्थ साधुओं के बुद्ध और बुद्ध-धर्म पर अन्य आक्षेपों के लिये देखिये पाँचवें प्रकरण में बौद्ध और जैन दर्शन का विवेचन।

(२) अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १।३)

(३) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर ८।१।२।१); विनय-पिटक—पाराजिका १

(४,५) दिट्ठिवज्ज-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)

सकता है। जिसकी सहानुभूति सर्वात्मबोधसम्पन्न थी वह ऐसा ढग क्यो न स्वीकार करता ?

कहा गया था कि गौतम अ-रसरूप हैं, जिसका अभिप्राय था कि गौतम नीरस हैं। इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा था, 'ब्राह्मण, जो वह रूप-रस, शब्द-रस, गन्ध-रस, रस-रस, स्पर्श-रस हैं, वे सभी तथागत के जड मूल से कटे, सिर कटे ताड से, नष्ट और आगे उत्पन्न न होनेवाले हो गए हैं। ब्राह्मण यही कारण है जिससे मुझे 'श्रमण गौतम अ-रस-रूप हैं' ऐसा कहा जा सकता हैं'। 'सत्य ही सबसे स्वादिष्ट रस है। सच्च हवे सादुतर रसानं' कहनेवाले तथागत को यदि लोग नीरस या अ-रस रूप कहते थे तो कोई आश्चर्य नही। इसी प्रकार 'आप गौतम निर्भोग हैं' इस आक्षेप का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा था, ब्राह्मण! ऐसा कारण है जिससे ठीक कहते हुए मुझे 'श्रमण गौतम निर्भोग हैं' ऐसा कहा जा सकता है। ब्राह्मण ! जो वे शब्द-भोग, रूप-भोग, रसभोग, गन्धभोग, स्पर्श-भोग हैं, वे सभी तथागत के नष्ट हो गए है .. जडमूल से कटे ताड से।' 'आप गौतम अक्रियावादी हैं' इसके उत्तर में, 'मैं काया के दुराचार ('प्राणि-हिंसा, चोरी, व्यभिचार) वचन के दुराचार (झूठ, चुगली, कटु वचन, प्रलाप) मन के दुश्चरित (लोभ, द्रोह, मिथ्यादृष्टि) को अक्रिया कहता हूँ, अनेक प्रकार के पापो (अकुशल धर्मों) को मैं अक्रिया कहता हूँ, इसलिये मुझे अक्रियावादी कहा जा सकता हैं', इसी प्रकार "आप गौतम उच्छेदवादी हैं" के उत्तर में 'ब्राह्मण ! मैं राग-द्वेष, मोह का उच्छेदन करना चाहिए कहता हूँ। अनेक प्रकार के अकुशल धर्मों (पापो) का उच्छेद कहता हूँ'। 'आप गौतम जुगुप्सु हैं' के उत्तर में 'मैं कायिक, वाचिक और मानसिक दुराचारो से घृणा करना कहता हूँ, अनेक प्रकार के पापो को घृणा करना कहता हूँ'। 'आप गौतम वैनयिक हैं,' के उत्तर में 'मैं राग' द्वेष, मोह के विनयन (हटाने) के लिए धर्म उपदेश करता हूँ, अनेक प्रकार के पापो को हटाने के लिए उपदेश करता हूँ', 'आप गौतम तपस्वी हैं'— 'ब्राह्मण! मैं अकुशल धर्मों (पापो) को काय, वचन, मन के दुराचारो को, तपानेवाला कहता हूँ। ब्राह्मण ! जिसके अकुशल धर्म, काय-वचन-मन के दुराचार तपानेवाले धर्म नही हो गए, जड मूल से चले गए, सिर कटे ताड़ जैसे हो गए, अभाव को प्राप्त हो गए, भविष्य में न उत्पन्न होने वाले हो गए, उसको मैं तपस्वी कहता हूँ। तथागत के काय......तपाने

वाले धर्म नही रह गए, भविष्य में उत्पन्न न होने लायक हो गए। ब्राह्मण यही कारण है जिससे मैं तपस्वी हूँ।' 'आप गौतम अपगर्भ हैं'। 'ब्राह्मण! जिसका गर्भशयन, आवागमन नष्ट हो गया, जड मूल से चला गया, उसको मैं अपगर्भ कहता हूँ। तथागत का भविष्य का गर्भशयन, आवागमन नष्ट हो गया[१]'। 'ब्राह्मण! अविद्या में पडी, अविद्या रूपी अण्डे से जकडी इस प्रजा में मैं अकेला ही अविद्या के अण्डे के खोल को फोडकर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जाननेवाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण! लोक में ज्येष्ठ हूँ, श्रेष्ठ हूँ[२]'। 'श्रमण गौतम अप्रज्ञप्तिक है' इस आरोप के उत्तर में भगवान् बुद्ध के एक गृहस्थ शिष्य ने कहा था," भगवान् ने यह कुशल है, यह प्रतिपादन किया है, 'यह अकुशल है' यह प्रतिपादन किया है। इस प्रकार कुशल, अकुशल का प्रतिपादन करने के कारण भगवान् सप्रज्ञप्तिक हैं, अप्रज्ञप्तिक नहीं"।[३] इसी प्रकार इस आरोप का कि भगवान् सब तपस्याओ की निन्दा करते है, भगवान् ने स्वय उत्तर देते हुए कहा था कि वे सब तपस्याओ और व्रतो की निन्दा नही करते बल्कि उनका मत है कि जिन तपो या व्रतो को करते किसी मनुष्य के अकुशल धर्म बढते है, कुशल धर्म घटते हैं, तो वे उसे नही करने चाहिये और यदि इसके विपरीत किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढते हैं और अकुशल धर्म घटते है तो वे उसे अवश्य करने चाहिये[४]। एक परिव्राजक (मागन्दिय) ने भगवान् पर यह आरोप भी लगाया था कि वे भ्रूणहा' (भूनहु) है[५]। इससे उसका तात्पर्य कदाचित् यह था कि अपनी पत्नी के साथ सम्भोग छोडकर उन्होने भ्रूण-हत्या का पाप कमाया है। ऋतु के समय जो अपनी पत्नी के साथ सहवास नही करता, वह भ्रूणहत्या का पापी होता है[६]। इस प्राचीन परम्परा के आधार पर मागन्दिय ने भगवान् पर यह आरोप लगाया

(१,२) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१) विनय-पिटक पाराजिका १
(३,४) दिट्ठिवज्ज-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)
(५) मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)
(६) देखिये महाभारत, आदि पर्व ७८।३२-३३; मनु० ८।३२७; इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन के लिये देखिये विसुद्धिमग्ग (आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३-१४ (प्रस्तावना); धर्मदूत, मई-जून १९५३, पृष्ठ ४-५ (त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित लिखित 'पालि अट्ठकथा और उनके लेखक' शीर्षक निबन्ध का अंश)

था। परन्तु भगवान् ने इस आरोप को भी एक दूसरे अर्थ में स्वीकार करते हुए कहा कि इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति छोड देने के कारण वे 'भ्रूणहा' (भूनहू) हैं[1]। अब हम दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उन तीन आरोपो पर विचार करें जो भगावन् पर प्राय लगाते जाते हैं। उन पर विशेषतया दु:खवादी, अनीश्वरवादी और उच्छेदवादी होने के आरोपो को भारतीय तत्व-शास्त्र की भावनाओ के प्रकाश में देखकर हम समीक्षा करेंगे कि कहाँ तक उनके विषय में ये आरोप ठीक हैं या नही।

उत्तरकालीन निषेधात्मक व्याख्या-कारों के कारण स्थिति और अधिक गम्भीर

किन्तु ऐसा करने से पूर्व हम एक और बात पर अपनी दृष्टि डालें। उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने प्राय परम तत्व के विषय में मौन को निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है। अत आत्मवाद प्राय: और ईश्वरवाद जैसे प्रश्नो को लेकर इन मनीषी व्याख्याकारो की व्याख्याओ के प्रकाश में हम स्वय बुद्ध के मन्तव्यो को उनके प्रकृत स्वरूप में नही देख सकते। स्वय नागसेन और आचार्य बुद्धघोष तक बुद्ध-मौन को निषेधात्मक दिशा की ओर ले जाते हैं और वाद के आचार्यों ने ईश्वरवाद का कितना तीव्र खण्डन किया है, इसे भी हम जानते ही है, अत इन प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों के पद-चिन्हो पर ही चलकर हम सत्य का पूर्ण गवेषण नही कर सकते। अत मूल त्रिपिटक के अशो द्वारा जो कि वास्तव में अन्य किसी वस्तु से अधिक प्रमाण कोटि में आते हे हम अपने प्रकाश के अनुसार देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनकी विचार-प्रणाली पर जो आक्षेप लगाए गए या प्राय लगाए जाते है वे कहाँ तक ठीक अथवा गलत हैं।

दुःख-समुदय के द्वारा दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग को दिखाने वाले सुख विहारी शाक्यमुनि दुःखवादी कैसे ?

अक्सर कहा जाता है कि बुद्ध दु:खवादी हैं। इससे अधिक निराधार भ्रान्ति भारतीय दर्शन मे और कोई नही हो सकती। वास्तव में भारतीय वातावरण में और अन्य प्रकार केआरोप तो बौद्ध दर्शन पर लगाए गए, किन्तु उसके उद्भावक को दु:खवादी तो कभी नही बताया गया। सम्भवत यह इसके हेतु स्वरूप हो कि यहाँ के सब विचारक ही प्राय दु:खवादी हैं। किन्तु बात ऐसी नही है। बुद्ध को अथवा सामान्य रूप से समग्र भारतीय दर्शन को दु:खवाद का प्रचारक कहना पश्चिमी भौतिकवाद

(१) मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)

की हमारी विचार-प्रणाली क प्रति एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इसमें तथ्य कुछ भी नही है, अत इसके निराकरण में भी यहाँ विशेष प्रयत्न करना व्यर्थ होगा क्योकि हमारे देश में सम्यक् सम्बुद्ध को कोई दुखवादी कहने का साहस नही कर सकता, अल्पज्ञो अथवा अज्ञो की बात दूसरी है! खवाद है क्या? जीवन में दुःख ही दुःख है, यह कहना दुःखवाद है। नश्चय ही बुद्ध कहते है कि यहाँ सभी जल रहा है। 'सब्ब आदित्त'। क्षु भी और रूप भी और रूप का विज्ञान भी, वेदनाएँ भी, सब सस्कार भी यहाँ जल रहे है।[1] उनके अनुसार यहाँ सभी 'सस्कार' (कृत वस्तुएँ) अनित्य और प्रतीत्य समुत्पन्न है। 'अनिच्चा वत सखारा' और 'वयधम्मा सखारा' की ध्वनि बौद्ध धर्म में प्रधान है। भव या जीवन के यहाँ तीन लक्षण (तिलक्खण) बतलाये गये हैं और वे हैं अनित्य, दुःख और अनातम। सम्पूर्ण ससार और उसकी प्रत्येक वस्तु अनित्य है, दुःख है, अनात्म है। वह सब जल रही है। इसके जलते रहते कहाँ का हँसना और कहाँ का आनन्द! 'को नु हासो किमानन्दो निच्च पज्जलिते सति'। मनुष्य ने आवागमन के चक्कर में जितने अश्रु बहाए हैं, वे चारो महा समुद्रो के जल से भी अधिक हैं। जितने गंगा के सम्पूर्ण प्रवाह में बालुकण नही हैं, उनसे अधिक जन्म लिये जा चुके है और यदि एक पुरुष की पूर्वजन्म की हड्डियो को इकट्ठा किया जाय तो गिरिव्रज से अधिक विशाल शिलोच्चय बनेगा। जन्म, जरा और मृत्यु, यहा सब दुःख ही दुःख है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने जीवन की सबसे प्रथम और बडी सच्चाई दुःख को बताया है।

इस अर्थ में यदि बुद्ध को दुःखवादी कहना अपेक्षित हो तो हम निश्चय ही ऐसा कह सकते है। किन्तु इस प्रकार दुःखवादी की परिभाषा नही होती। दुःख के तत्व को स्वीकार करना दुःखवाद नहीं है, किन्तु उसको अन्तिम तत्त्व मानना ही दुःखवाद है। बुद्ध ने तो दुःख को प्रथम आर्य सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए उसके उदय के कारण, उसके निरोध और उसके निरोध के मार्ग को न केवल सम्भव ही माना है बल्कि स्पष्टतः प्रख्यापित भी किया है। बुद्ध का दुःख-दर्शन अतृप्ति से उत्पन्न होनेवाला दुःख नही है। बुद्ध ने दुःख को विश्व-व्यवस्था के मूल में देखा है। इसलिये उसको देखने पर अशेष जीव-जगत् के लिये करुणा का क्रियात्मक विचार उत्पन्न

---

(१) देखिये आदित्त परियाय-सुत्त (संयुत्त-निकाय), विनय पिटक—महावग्ग बौ० ३४

होता है। दुःख का अधिक वर्णन तथागत ने इसीलिये किया है कि अज्ञानी पुरुष, जो भोगवाद में फँसे है, उसे देखकर भी नही देखते। भगवान् बार-बार स्मरण दिलाते है कि अनेक पूर्वजन्मो मे मर-मरकर तुमने श्मशान को पाट दिया है, अब तो सस्कारो से निर्वेद प्राप्त करो, निर्वाण के लिये प्रयत्न करो। इसलिये दुःख का दर्शन केवल दुःख-निरोध के लिये है, दुःख-निरोध के मार्ग में प्रतिष्ठित होने के लिये है। भगवान् ने स्पष्टतापूर्वक कहा है "भिक्षुओ! जो दुःख को देखता है, वह उसके समुदय को भी देखता है, दुःख निरोध को भी देखता है और देखता है दुःख निरोधगामी मार्ग को भी।"[१] अतः तथागत का मार्ग दुःख का नही, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधगामी मार्ग का है। उसी में उसकी परिणति है। और वह भी बिना किसी देव-विशेष की शरण में गए ही, बिना किसी को आत्मसमर्पण किए ही। इतना वीर्यशाली और आशावादी दर्शन और कहाँ सम्भव हो सकता है? यदि तथागत दुःख का कोई निदान नही करते, हमारी व्यथाओ को इच्छा मात्र अथवा ईश्वर के द्वारा निर्मित मानते तो किसी अर्थ में यह कहा जा सकता था कि उनकी विचार-प्रणाली मे मनुष्य को आश्वासन नही है। किन्तु उन्होंने तो सभी आश्वासनो से पूर्ण आश्वासित होकर ही दुःख-निवृत्ति के लिए उपदेश किया है।[२] और वही उनके मन्तव्य का पर्यवसान भी है। फिर उन्हें दुःखवादी कहने को किस मनीषी की जिह्वा प्रवृत्त हो सकती है? इस जडवाद के युग में मनुष्य विशेषतः सुख की बात बहुत कहता है और उसकी वह गवेषणा करता है उन अनित्य, अनात्म और सस्कृत पदार्थों में जहाँ उसे सिवाय दुःख के और कुछ मिलने की सम्भावना कल्पशत मे भी नही हो सकती। यदि कारुणिक शास्ता ने ऐसा कह दिया कि जो कुछ अनात्म है, वह अनित्य है और जो अनित्य है, वह दुःख है[३] तो क्या

(१) यो भिक्खवे दुक्खं पस्सति दुक्खसमुदयं पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधं पि पस्सति, दुक्ख-निरोधगामिनिपटिपदं पि पस्सति। सयुत्त-निकाय ५।४३७, विसुद्धिमग्ग १६।८४ में उद्धृत।

(२) 'सिंह! मैं परम आश्वास से आश्वासित हूँ, आश्वास के लिए धर्म उपदेश करता हूँ, आश्वास के मार्ग से ही श्रावको को ले जाता हूँ,' सिंह सुत्त (अगुत्तर० ८।१।२।२); बुद्धचर्या, पृष्ठ १४९

(३) 'जो अनित्य है वह दुःख है। जो दुःख है वह अनात्म है। जो अनात्म है वह न मेरा है, न वह मै हूँ, न वह मेरा आत्मा है।' संयुत्त० २१।२

बुरा काम किया? साधक जनो के लिए इसी मे आश्वासन और मूढजनो को इसी में विमोह है। विमूढ को अत्यन्त महान् दुःख भी नही दीखता क्योकि उसके पापो का नाश नही हुआ होता किन्तु मनीषी चिन्तक थोडे ही दुःख से विचार के पखो पर उडकर उसके प्रतीकार का मार्ग खोजते हैं।[1] प्राकृत जन जीते हैं, मरते हैं, दुःख भोगते हैं और उसके समाप्त होने पर हँसने लगते हैं और हँसकर फिर दुःख पडने पर रोने लगते हैं—इसी प्रकार जीवन जाता है, किन्तु दुःख-समुदय या उसके निरोध के चिंतन में प्रवृत्त नही होते। ऐसो के लिए तथागत के दर्शन का उपयोग नही है, उनके लिए तो 'जियो और मरो' यही तीसरा पन्था है। फिर तथागत के दुःखवादी होने का तात्पर्य यह भी लिया जा सकता है कि तथागत शरीर को दुःख देने के पक्षपाती थे, किन्तु इस अर्थ में तो बौद्ध विचार का अत्यन्त प्रारम्भिक विद्यार्थी भी बुद्ध को दुःखवादी स्वीकार न करेगा। भगवान् वास्तव में सुख विहारी थे, दुःख विहारी नही। वे तो यह मानते थे कि वे मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार से भी अधिक सुखी है और इसका माप वे यह मानते थे कि बिना बाह्य उपकरणो के वे सप्ताहो तक रह सकते थे जब कि बिम्बिसार के लिये यह असम्भव था[2]। भगवान् के शिष्य भी सुखी जीवन बिताते थे और प्रसन्न चित्त रहते थे। प्रसेनजित् ने बौद्ध भिक्षुओ का वर्णन करते हुए उनकी इस विशेषता पर जोर दिया था।[3] बौद्ध भिक्षुओ पर तो यह आरोप भी लगाया गया था कि वे आरामपसन्द हैं[4]। अत दुःखवादी होने का

---

(१) मिलाइये, ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतल संस्थं न विद्यते पुंभिः। अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरतिं च पीडां च। करतल सदृशो बालो न वेत्ति संस्कार-दुःखतापाक्ष्म। अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्विजते गाढम्। माध्यमिक कारिका वृत्ति में चन्द्रकीर्ति। देखिये प्रथम प्रकरण में भारतीय दर्शन के अधिकारी पर विवेचन भी; मिलाइये, ज्ञान कि होइ विराग बिनु। —तुलसीदास

(२) देखिये चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४)

(३) "भन्ते! मैं यहां भिक्षओं को प्रहृष्ट, प्रसन्न इन्द्रिय....... मृदु-चित्त से विहार करते देखता हूं।" धम्म-चेतिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।९)

(४) पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६)

आरोप उन पर कैसे लगाया जा सकता है? भगवान् ने एक भिक्षुणी साधिका से कहा था 'भिक्षुणी! तू सुखपूर्वक सो'। 'सुख सुपाहि थेरिके।' दुःखवादी होने की हालत में वे किस प्रकार ऐसा कह सकते थे? बौद्ध मनोविज्ञान के मर्मज्ञ विश्लेपक अनागारिक बी० गोविन्द ने कहा है कि बौद्ध मनोविज्ञान में चित्त की १२१ श्रेणियो में से ६३ सुख सहगत हैं जबकि केवल ३ दुःख और दौर्मनस्य से युक्त हैं। "दुःखवाद का इससे अधिक प्रभावशाली प्रत्याख्यान असम्भव है।"[1] तपस्या उनकी मध्यमा प्रतिपद् पर प्रतिष्ठित थी, यह हम सब देख ही चुके हैं। सभी मलों के नष्ट होने पर भगवान् ने वह प्रसन्नता हासिल की थी जिसे हम 'ब्राह्मी स्थिति' की अवस्था कह सकते हैं और वहा दुःख कहा से रह सकता है? महाराज अजातशत्रु को इसी विमुक्ति-सुख की एक झलक दिखाते हुए भगवान् ने कहा था, 'महाराज! भिक्षु इन पाच नीवरणो के न प्रहीण होने पर अपने में ऋण की तरह, रोग की तरह, बन्धनागार की तरह, दासता की तरह, कान्तार मार्ग की तरह देखता है। और महाराज! इन पाच नीवरणो के प्रहीण होने पर भिक्षु अपने में ऋण से उऋणता, आरोग्य, बन्धन से मोक्ष, अदासता, क्षेमयुक्त भूमि सा देखता है'। अपने भीतर से इन पाच नीवरणो को प्रहीण देखकर उसे प्रामोद्य उत्पन्न होता है, प्रमुदित पुरुष को प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीतियुक्त मन वाले की काया प्रश्रब्ध होती है। प्रश्रब्धकाय सुख का अनुभव करता है, सुखी का चित्त समाहित होता है[2]'। यह सब सुखवाद है कि दुःखवाद? जिसका चित्त

---

(१) दि साइकोलोजीकल एटीट्यूड आॅव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ ८७

(२) सामञ्ञफल सुत्त (दीघ० ११२), मिलाइये 'शान्ति को प्राप्त पुरुष जय-पराजय छोड सुख से सोता है'। सामगाम सुत्त (सयुत्त० ३।२।४; मिलाइये 'प्रसादे सर्वदुःखाना हानिरस्योपजायते...... पर्यवतिष्ठति' गीता। मिलाइये तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३) 'वह अपने को इन पाच नीवरणो... ..प्रमुदित होता है, प्रमुदित प्रीति प्राप्त करता है', आदि; 'निर्वाण प्राप्त ब्राह्मण सदा सुख से सोता है, शीतल हुआ होता है जो कि काम वासनाओ में लिप्त नहीं होता। सारी आसक्तियो को खंडित कर हृदय से डर को हटाकर.... शान्त हो वह सुख से सोता है' विनय-पिटक—चुल्लवग्ग ६।२; बुद्धचर्या, पृष्ठ ६९

सुखी है उसी को तो समाधि लग सकती है। 'सुखिनो चित्त समाधियति'। जिसका चित्त दु खी है, वह क्या ध्यान करेगा ? दु.खी चित्त का होना तृष्णाभिभूत होने का सूचक है, सुखी उससे विमुक्ति का। 'तण्हाभिभूतस्स हि दुक्खा पटिपदा अनभिभूतस्य सुखा'। सुखी चित्त का होना बौद्ध साधना की प्रथम आवश्यक शर्त है। उसके विना प्रथम ध्यान में भी प्रवेश नही किया जा सकता, आगे की तो बात क्या ? फिर भगवान् अपने जीवन में भी तो सुखविहारी ही थे। किस प्रकार ! भगवान् पत्तो पर ही शय्या बना कर घोर शीत के दिनो में सो रहे है। 'भन्ते, भगवान् सुख से तो सोए ?' हस्तक आलवक का यह प्रश्न होता है। 'हा कुमार ! सुख से सोया। जो लोक में सुख से सोते हैं उनमें से मै एक हूँ"। 'भन्ते, यह हेमन्त की रात, हिमपात का समय अन्तराष्टक (माघ के अन्त के चार दिन और फागुन के आदि के चार दिन) है, गोकण्टक-हत कड़ी भूमि है, पर्णासन पतला है, वृक्ष के पत्र विरल है, काषायवस्त्र शीतल है, चौवाई वायु शीतल है, तव भी भगवान् कहते है कि 'मै सुख से सोया। जो लोक में सुख से सोते हैं उनमें से मै एक हूँ।' 'हा कुमार !' क्योकि—

'परिनिर्वृत्त ब्राह्मण सर्वदा सुख से सोता है

जो कि शीतल स्वभाव, उपधि (राग) रहित कामो में लिप्त नही है, सब आसक्तियो को छिन्नकर, हृदय से भय को हटाकर, मन में शान्ति प्राप्त कर, उपशान्त हो वह सुख से सोता है।'[१]

यह था भगवान् का सुख सम्बन्धी विचार जिसके कारण वह सयत मुनि कठिन-से-कठिन शारीरिक दु खो को भी विना शोक करते स्मृतिसप्रजन्य से सहन करते थे[२]। तथागत के 'अह' और 'मम' सभी निःशेप हो चुके थे। लौकिक भाषा में उनका 'प्रिय' कोई अवशेष नही रह गया था, फिर उन्हें दु ख होता कहा से ? 'प्रिय जातिक (प्रिय से उत्पन्न होनेवाला) है गृहपति !

---

(१) आलवक सुत्त (अगुत्तर० ३।४।५), बुद्धचर्या, पृष्ठ ३५०-३५१

(२) देखिये देवदत्त के द्वारा पैर में घायल कर दिए जाने पर भगवान् की मानसिक स्थिति, सकलिक सुत्त (संयुत्त० १।४।८), मिलाइये सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के निधन पर उनके उद्गार 'दिशाए शून्य सी जान पड़ती है, किन्तु आश्चर्य है भिक्षुओ ! तथागत को दु ख नहीं है।' उक्काचेल सुत्त (सयुत्त-निकाय)

शोक, परिदेव, दु:ख, उपायास'[1]। जिनको प्रिय नहीं होता उनको दु:ख नहीं होता। वे शोक रहित, रज (राग) रहित, उपायास रहित हैं, कहता हूं[2]'। लोक में जो शोक, परिदेव नाना प्रकार के दु:ख हैं, वे प्रिय के कारण होते हैं, प्रिय वस्तु न होने पर वे नहीं होते[3]। फिर जिसे ममता नहीं, उसे दु:ख कैसे हो? वह तो अक्षय सुख का अधिकारी होता है। 'सुखमक्षयमश्नुते'।

सन्तुष्ट देखन हार श्रुतधर्मा सुखी एकान्त में
निर्द्वन्द्व सुख है लोक में सयम जो प्राणी मात्र में
सब कामनाएँ छोडना वैराग्य है सुख लोक में
है परम सुख निश्चय यही जो साधना अभियान का[4]।

इस आनन्द को भगवान् ने भरपूर पाया था। सुजाता की खीर को खाकर भगवान् का वही ४९ दिनों के लिए आहार हुआ था। इतने काल तक न उन्होंने कोई दूसरा आहार किया और न किन्हीं बाह्य उपादानों को ही प्रयुक्त किया। केवल ध्यान-सुख, फल-(दु:ख-क्षय) सुख से ही भगवान् ने सात सप्ताहों को बिताया। यह वस्तुत निर्विषय मन का सुख ही था, निरामिष सुख ही था। भगवान् ने अनेक बार कहा है कि यह सुख बिना काम-सुख को छोडे नहीं मिल सकता।[5] काम-सुख तो हीन और अनार्य है। उसे जब साधक छोड देता है, उस पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो उसके हृदय

---

(१) पियजातिक सुत्त (मज्झिम० २।४।७); मिलाइये, पेमतो जायते सोको पेमतो जायते भयं। पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं। धम्मपद।

(२) विसाखा सुत्त, उदान ८।८

(३) विसाखा-सुत्त (उदान० ८।८)

(४) विनय-पिटक-महावग्ग (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

(५) "तो क्या मानते हो मागन्दिय! क्या तुमने कभी देखा या सुना है किसी को विषय-भोगों में लिप्त, विषयों को बिना छोडे, काम-दाह बिना त्यागे, काम-तृष्णा बिना छोड़े, पिपासा रहित होकर अपने अन्दर शान्ति अनुभव करते हुए?" "नहीं, भो गोतम!" "साधु मागन्दिय! मैंने भी नहीं देखा, न सुना। किन्तु मागन्दिय! जो श्रमण-ब्राह्मण पिपासा-रहित बन, अपने अन्दर उपशान्त चित्त हो विहरे हैं, विहरते हैं या आगे विहरेंगे, ये सभी कामों के समुदय, आस्वाद, दोष, निकलने के

में एक निर्मल आध्यात्मिक सुख उत्पन्न होता है।[१] यह सुख पाने पर फिर मनुष्य किसी सासारिक सुख की तृष्णा में नही पड सकता। भिक्षु का सुख यही है। "भिक्षुओ! भिक्षु पाप-कर्म और भोगो से अलग रहकर विवेकज प्रीति सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है ..यही भिक्षु का सुख है।"[२] भगवान् ने कहा है कि जब तक भिक्षु को इस आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति नही होती तब तक वह फिर काम-सुख में लौट सकता है, परन्तु जब यह आनन्द मिल गया, फिर कोई कामनाओ में लौटकर नही आ सकता। स्वानुभव से भगवान् ने कहा है, "महानाम! मुझे भी पहले, सबोधि प्राप्त करने से पूर्व, बोधिसत्त्व होते समय, यह अप्रसन्न करने वाली, बहुत दुःख देने वाली काम-वासना होती थी। तब मै सोचता था इसमें दुष्परिणाम बहुत हैं। ऐसा मै यथार्थत जानकर उससे विरत होता था। परन्तु कामो से अलग प्रीति-सुख, या उनसे श्रेष्ठतर सुख को मैं नही पा सका। इसलिये उतने से कामो की ओर न लौटनेवाला मैंने अपने को नही माना। किन्तु जब महानाम! कामो से अलग ही प्रीति-सुख, उनसे श्रेष्ठतर सुख, को मैंने अनुभव किया, तब मैंने अपने को कामो की ओर न लौटनेवाला जाना।"[३] यही वह सुख है जो राजाओ के राज-सुख और देवताओ के देवत्व सुख से बढकर है। यही आर्य-सुख है, समाधि-सुख है, जिसे जिस किसी क्षण इच्छा होने पर फलसमाधि में प्रवेश कर आर्य प्राप्त करते हैं।[४] अत. स्पष्ट है कि न केवल दुःख से विमुक्ति बल्कि भावात्मक सुख की प्राप्ति बौद्ध साधना का लक्ष्य है। 'दुःख, दुःख'! कहना महाश्रमण का वाद नही है। वे तो सुख का मार्ग सिखाते हैं। 'सुखा सामञ्ञता लोके' (सुखा श्रमणता लोके)

उपाय को ठीक से जानकर, काम-विषयक तृष्णा को छोड़कर, काम विषयक जलन को हटाकर, काम प्यास से मुक्त होकर, अपने अन्दर चित्त की शान्ति को प्राप्त कर विहरते थे, विहरते है और आगे भी विहरेंगे।" मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)

(१) देखिये महातण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)

(२) चक्कवत्तिसीहनाद-सुत्त (दीघ० ३।३)

(३) चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४)

(४) "यथा हि राजा रज्जसुखं देवता दिब्बसुखं अनुभवन्ति, एवं अरिया अरियं लोकुत्तरं सुखं अनुभविस्सामीति ..इच्छितिच्छितक्खणे फलसमापत्तिं समापज्जन्ति। विसुद्धिमग्ग २३।८

का आदर्श राग-द्वेष विमुक्त भिक्षुओ ने समाज के आगे रक्खा था। जैसे चिकित्सा-शास्त्र में रोगो के वर्णन होने से वह दु खवादी नही हो जाता क्योकि उसका मन्तव्य तो रोगो को ठीक करने में ही होता है। इसी प्रकार प्रथम आर्यसत्य से समग्र बुद्ध-मार्ग दु खवादी नही हो जाता क्योकि उसका अन्तिम पर्य-वसान तो दु ख के निरोध एव उसके मार्ग में है। निर्वाण सुख-रूप है। धर्म सेनापति सारिपुत्र ने कहा है, 'सुखमिद आवुसो निब्बाण' अर्थात् 'आयुष्मानो ! निर्वाण सुख है'।[१] रोग से यदि विमुक्ति मिल जाय, ऋण यदि चुका दिया जाय, तो क्या यह दु ख होगा ? तो फिर बुद्ध को किसी भी अर्थ में दु खवादी कहने का साहस क्यो किया जाता है ? अपने शुभ कर्मों का इस प्रकार विनाश करने से क्या प्रयोजन है ? भगवान् बुद्ध दु खवादी नही किन्तु वे तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हैं और उनके मार्ग की एकमात्र विशेषता ही यह है कि जो उस पर चलता है वह यही पर अपने दु ख के क्षय को देखता है। उनके उपदेश के अनुसार आचरण करने पर, जिसके लिए कुलपुत्र घर से बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुत्तर ब्रह्मचर्य फल को इसी जन्म में स्वय जानकर, उपलाभ कर, बौद्ध साधक विचरते हैं।

फिर आरोप है कि भगवान् अनीश्वरवादी अथवा निरीश्वरवादी है। यह आरोप ईश्वरवादियो के द्वारा अक्सर किया गया है किन्तु ईश्वरवाद की समस्या न केवल भारतीय दर्शन में ही बल्कि विश्व के विचार के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्यक् सम्बुद्ध के विषय में ही क्या, ससार के किसी भी व्यक्ति के विषय में पूर्ण निश्चय पूर्वक यह नही कहा जा सकता कि वह ईश्वर-वादी है या नही। जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करता है वह भी तो एक तरह से उसके अस्तित्व को स्वीकार करता ही है और जो ईश्वरवाद के ही गुण गाया करते हैं वे भी श्रुति-प्रामाण्य या ग्रन्थ-प्रामाण्य के अतिरिक्त अन्त मे उसके विषय मे

एक दुर्धर्ष विश्वव्यापी नियम को माननेवाले, नैतिक आदर्श-वाद की अनुपम स्थापना करने वाले, मैत्री भावना का सर्वत्र प्रसार करनेवाले, परमतत्व के विषय में औपनिषद परम्परा के अनुसार ही मौन साधने वाले, उन सम्यक् सम्बुद्ध, शान्त, निर्वाण-प्राप्त मुनि को अनीश्वरवादी कैसे कहा जाय ?

(१) मिलाइये पीछे पृष्ठ ४८९, पद-संकेत ३

क्या जानते है? ईश्वरवादी अथवा अनीश्वरवादी होने की कसौटी क्या है? क्या किसी के कहने या न कहने मात्र से ही हम इसका अनुमान लगा सकते हैं अथवा इसको जानने के अन्य भी कुछ तात्विक उपादान है, ये विषय विचारणीय हैं। अधिक विस्तार में न जाकर हमें इतना तो पहले ही कहने में नही झिझकना चाहिए कि बुद्ध ने सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर को नही माना है[1], स्वय अपने को, निगण्ठ नाटपुत्त को और इसी प्रकार वैदिक ऋषियो को भी शाक्यमुनि ने सर्वांश में सर्वज्ञ नही माना है[2], और न दिया है अपने विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद में उसे कोई स्थान ही, यह स्थिति समझ कर ही हमें आगे चलना है।

ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्न वैसे तो बहुत विस्तृत और विवादग्रस्त है, किन्तु धर्म और दर्शन के वैज्ञानिक ढग के विद्यार्थी के लिए जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि क्या एक व्यक्ति जो एक दुर्धर्ष विश्व-व्यापी नियम में विश्वास रखता है, नैतिक आदर्शवाद की जिसने अनुपम स्थापना की है, मैत्री भावना का जिसने सर्वत्र प्रसार किया है एव औपनिषद ऋषियो की परम्परा में ही जिसके लिए 'जिसे अविज्ञात है उसे ज्ञात है, जिसे ज्ञात है उसे अविज्ञात है' ऐसी वाणी परम तत्व के विषय में उद्देश्य कर निश्चय रूप से ही कही जा सकती है, वह परम ज्ञानी, सम्यक् सम्बुद्ध, शान्त, निर्वाण-प्राप्त मुनि, क्या ईश्वरवादी कहे जा सकते है या अनीश्वर-वादी? निश्चय ही, जैसा कि हमने 'अनात्मवाद' के विवेचन में भी देखा, भगवान् ने परम तत्व के विषय में, उस प्रत्यगात्मा के विषय में जिसे औपनिषद ऋषियो ने निरूपित किया था, मौन साधा किन्तु साथ ही उस 'अभूत' 'अजात' तत्व के विषय में 'अत्थि' ऐसा निश्चयात्मक निर्घोष भी किया और औपनिषद परम्परा में भी तो है 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते'। है, ऐसा कहने के सिवाय उसकी उपलब्धि ही कैसे है? यदि यह भी मान लिया जाय कि 'आत्मा' के औपनिषद अर्थ को अर्थात् किसी एक कारणो के

---

(१) देखिये ब्रह्मनिमन्तनिक सुतन्त (मज्झिम० १।५।९); पाथिक सुत्त (दीघ० ३।१); ऐसा तो आचार्य कुमारिल ने भी किया है, जैसा कि हम पाचवें प्रकरण में 'पूर्वमीमांसा दर्शन' के विवेचन में देखेंगे।

(२) देखिए तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३) कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम० २।४।१०), तेविज्जवच्छगोत्त सुत्त (मज्झिम० २।३।१)

कारण तत्त्व को तथागत ने किसी भी अर्थ मे स्वीकार नही किया है, तो फिर जैसा कि हम पहले भी सूचित कर चुके है, उनके द्वारा भद्रवर्गियो को 'आत्म-गवेषणा' का उपदेश करने का तात्पर्य ही क्या था? 'अत्तदीपो भव अत्तसरणो अनञ्ञसरण' इसमे 'अत्त' (आत्मा) का तात्पर्य क्या है? यदि कहा जाय कि यहा 'अत्त' से तात्पर्य 'आत्मा' से न होकर 'अपने' से ह तो फिर बौद्ध अर्थ में वह 'अपना' भी तो कही नही है। सभी तो प्रतीत्य समुत्पन्न पञ्चस्कन्धो का खेल है, जो अनात्म हैं, दुख हैं और अनित्य हैं। 'अपना' की उपलब्धि यहा कहा है? तो क्या फिर तथागत ने भ्रमित करने के लिए ही उपदेश दिया था? सम्यक् सम्बुद्ध के विषय में ऐसा सोचना उनकी निन्दा करना है और अपने पुण्य कर्मों का क्षय। अत तथागत के उपदेशो की सगति मिलाने के लिए हमें यह अवश्य मानना पडेगा कि तथागत किसी विश्वव्यापी नियम को अवश्य मानते थे जिसे उन्ही के शब्दो में कम्म, धर्म-स्थिति (धम्मट्ठितता) या धर्म नियामता (धम्म नियामता) कहा जा सकता है। यदि इस नियम को ही हम ईश्वर की सज्ञा दें तो निश्चय ही हमें यह मानना पडेगा कि इस अर्थ में तथागत 'ईश्वरवादी' हैं। किन्तु चूकि 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग जन-साधारण में इतना अस्पष्ट और व्यक्तिगत भावनामय है कि एक दर्शन के विद्यार्थी के लिए बुद्ध के विषय में 'ईश्वरवादी' कहना भय से खाली नही है और न वह तथ्यो पर ही आधारित है। हमारा विचार है कि जो विचारक (महात्मा गाधी, रायस डेविड्स आदि) भगवान् बुद्ध को किन्ही भी अर्थों में 'ईश्वरवादी' सोचने का प्रस्ताव करते हैं वे प्राय अविद्यमान से ही विद्यमान को प्रख्यापित करते है। तथागत पर लाछन लगाते है, ऐसा तो सम्भवत हम नही कहेंगे। पुन राहुल साकृत्यायन आदि, जिनके लिए ईश्वर 'मनुष्य के मानस पुत्र' होने के अतिरिक्त और कुछ नही है, जब बुद्ध को 'अनीश्वरवादी' कहते है तो वे सत्य बात कहते हुए भी बुद्ध को ऐसी भूमि पर ले जाना चाहते हैं जो उनकी नही है। बुद्ध के लिए ईश्वर की समस्या ही नही है। वह तो पृथग्जनो के लिए ही है। ईश्वर यदि है तो भी अच्छा है, यदि नही है तो भी अच्छा है। जीवन और कर्म अच्छे होने चाहिये। यदि वे अच्छे हैं तो भगवत्कृपा ही है। अन्यथा ईश्वर को मानकर भी क्या लाभ? 'भिक्षुओ! यदि प्राणी पूर्व किए कर्मों के कारण सुख-दुख भोगते हैं, तो अवश्य भिक्षुओ! तथागत पूर्व में पुण्य कर्म करनेवाले है जो कि इस समय आस्रव-विहीन सुख-वेदना को

अनुभव करते हैं। यदि भिक्षुओ! प्राणी ईश्वर-निर्माण के कारण सुख-दु:ख भोगते हैं, तो अवश्य भिक्षुओ! तथागत अच्छे ईश्वर के द्वारा निर्मित किये गये हैं जो इस समय आस्रव-विहीन सुख-वेदना को अनुभव करते हैं। यदि भिक्षुओ! भवितव्यता के कारण, अभिजाति के कारण, इसी जन्म के उपक्रम के कारण.. सुखवेदना को अनुभव करते हैं—तथागत इस वाद को माननेवाले हैं।'[1] इस बुद्ध-वचन पर विचार करें तो हम कहाँ पहुँचते हैं? तथागत के लिए यह प्रश्न ही महत्वपूर्ण नही है कि हम किसके द्वारा निर्मित हुए हैं अथवा यह सृष्टि कहाँ से आई है? हमारे सामने प्रत्यक्ष जीवन है-और उसकी विशुद्धि हमें करनी है। अपने पुरुषार्थ से हम इसे कर सकते हैं। किसी ईश्वर की शरण लेना आवश्यक नही। तथागत ने अपने वल से ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें किसी भागवती कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ हो, या उसमें किसी ईश्वर की सहायता मिली हो, ऐसा उन्होने नही कहा है। इस अर्थ में यदि हम चाहें तो उन्हें अनीश्वरवादी कह सकते हैं। 'ईश्वर', 'ईश्वर' कहना तथागत का काम नही है, 'कम्म', 'कम्म' कहना तथागत का काम है। जितने भी हेतु से उत्पन्न हमारे रोग होगे, हमारी समस्याए होगी, उनका तथागत समाधान और प्रतिकार करेंगे, किन्तु यदि हम अपनी सन्निपातमय वकवादो और असगत प्रश्नो के भी उत्तर उनसे चाहेंगे तो हम यो ही मर जाएँगे, दु:ख का शल्य तो हमारे हृदय से निकलेगा नही। कुछ विचारक ऐसे हैं जो विना 'ईश्वर' नाम की वस्तु पर आलम्वित हुए नीति तत्व की सिद्धि नही कर सकते और फिर निश्चय ही जहाँ वे उच्चतम आचरण अयवा पवित्र जीवन की प्राप्ति देखते हैं, वहाँ निश्चय ही वे 'ईश्वर' का भी आरोप उस व्यक्ति के ऊपर कर देते हैं। इस दृष्टि से देखने पर तथागत उच्चतम 'ईश्वरवादी' ही कहे जा सकते है, क्योकि उनका-सा आचरण, उनका-सा शील इस जगत् में आज तक किसी का हुआ नही है। किन्तु तथागत का दृष्टिकोण दूसरा है। उनका शील, उनकी समाधि, उनकी प्रज्ञा ईश्वर प्रदत्त नही है जिस प्रकार कि कोई भक्त अपने विषय में कह सके 'तिहारोई नाम गयन्द चढायो'। तथागत ने जो कुछ भी प्राप्त किया उसे अपने अदम्य वीर्य से ही उद्भूत वताया और निर्वाण को भी उन्होने किसी दूसरे की सहायता से नही वल्कि अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्तव्य वताया। फिर 'ईश्वर' की व्याख्या इतनी विस्तृत भी की जा सकती है कि उसे 'कर्म' का प्रतीक

(१) देवदह सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।१)

भी माना जा सकता है। उस अर्थ में 'कर्म' के सिद्धान्त का तथागत से अधिक और किसने निरूपण किया है? वैदिक ऋपियो के भी वरुण को 'ऋत' के रक्षक मानने का अन्य क्या तात्पर्य था ? फिर वुद्ध ने यदि कवित्व का निषेध करके विशुद्ध तत्व को ही स्वीकार किया तो यह तो दार्शनिक विकास की ही एक अवस्था हुई, इसे 'निरीश्वरवाद' का परिचायक कैसे माना जाय ? किन्तु ईश्वरवाद का प्रख्यापन या निरूपण करना भी तो तथागत का काम नही था, सम्भवत इसलिए नही कि वे स्वय 'ईश्वर' थे, किन्तु केवल इसीलिए कि उनका मार्ग ही ऐसा स्वत सिद्ध और स्वत परिपूर्ण था कि उसके लिए सत्ता सम्बन्धी प्रश्न में पडना निरर्थक था। अनेक वातो को 'अव्याकृत' करने का तथागत का तात्पर्य ही यही था। शिशपा वन के जो कुछ पत्ते उन्होने हमें अपने हाथ में लेकर दिखाये हैं उनसे हम यही तात्पर्य क्यो निकालें कि पूरे शिशपा-वन में कुल उतने ही पत्ते हैं। तथागत के पास कुल उतना ही ज्ञान है जितना उन्होने शव्दो में व्यक्त किया है। जो कुछ तथागत ने व्यक्त नही किया है, वह उससे वहुत अधिक है जो उन्होने व्यक्त किया है, यह तो स्वय बुद्ध ने ही कहा है और हम उसको वैसा क्यो न मानें? वैसे यदि 'ईश्वरवाद' के रूप में बुद्ध-मन्तव्य को देखने की लालसा भारतीय हृदय में अधिक जाग ही रही हो तो 'ईश्वरवाद' का बुद्ध पर आरोपण करके ही क्यो किया जाय ? (ईश्वरवाद के भी तो धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से अनेक दोष ठहरे!) उन शव्दो के द्वारा ही क्यो न किया जाय जो भगवान् ने प्रजापती गोतमी से, कालामो से या अपने समय के अनेक अभिमानी और वादी ब्राह्मणो से भिन्न-भिन प्रकार से कहे। ईश्वर में श्रद्धा किस लिए की जाती है? विराग के लिए कि सग्रह के लिए, सयम के लिए कि इन्द्रिय-लिप्सा के लिए, अशान्ति के लिए कि शान्ति के लिए, वन्धन के लिए कि मोक्ष के लिए? क्या भक्त भी अन्त में यही नही गाता "हो अपनायो तब जानिहो . जव मन परिहरिहै... हरखि है न अति आदरे निदरे न जरि मरि है. " क्या निराश होकर वह कभी उपालम्भ नही कर वैठता '. प्रभु नाम हु पाप न जार्यो' तो क्या ईश्वर का उपकरण लेकर वह भी जीवन की विशुद्धि के लिए लालायित नही है और यदि अपने उपास्य देव को वह उपकरण न मानकर अनन्य और निष्काम भाव से ही उपासना करता है तो भी क्या उसकी कसौटी भी वह केवल जीवन की पवित्रता ही नही बनाता 'कबहुँक हो यहि रहनि

रहोगों ऐसी ही विकलतामय वाणी नही कहता ? फिर यदि यही जीवन की सर्वोत्तम विशुद्धि एक व्यक्ति में विद्यमान है तो क्या उसके विषय में ऐसा नही कहा जा सकता कि उसने उसी मार्ग का प्रकारान्तर से साक्षात्कार किया है जिसके लिए सभी आस्तिकवाद या ईश्वरवाद का उपयोग है। फिर बुद्ध जैसे सम्यक् सम्बोधि सम्पन्न पुरुष के विषय में, जिसने न तो शाश्वतवाद, न अशाश्वतवाद और न उच्छेदवाद से ही अपने विचार की एकात्मता दिखाई, न ईश्वरवाद और न अनीश्वरवाद के ही प्रख्यापन में कोई प्रवृत्ति दिखाई, न किसी देव की उपासना और न फिर देवो के अनस्तित्व का ही प्रचार किया।[1] और सबसे अधिक तो स्वय जानकर और साक्षात्कार कर ही उपदेश देने का दावा किया, न कि अनुश्रव और केवल तर्क के द्वारा (जिन्हें उन्होने 'अनाश्वासनिक ब्रह्मचर्य' कहा) ही, ऐसे उस 'अच्छरिय पुरिस' के मत के विषय में भी 'तथागत इस वाद के माननेवाले थे' ऐसा इदमित्य रूप से क्यो कहा जाय, और वह भी 'ईश्वर' की समस्या को लेकर जिसके प्रति उनके दर्शन की उदासीनता का भाव स्पष्ट है। भगवान् ने एक स्थान पर ऐसा भाव दिखाया है कि यदि यह सृष्टि ईश्वर के द्वारा ही निर्मित की गई है तो वह ईश्वर अवश्य ही अत्यन्त निर्दय होगा जिसने ऐसे दुःख-पूर्ण ससार को उत्पन्न किया है[2]। भगवान् का यह वाक्य उनके अनीश्वर-वादी होने के प्रमाण स्वरूप अक्सर उद्धृत किया जाता है और हम भी उस प्राय. वैसा ही मानते है। ईश्वर या ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता नही हो सकता, यह बुद्ध ने इतनी अधिक बार कहा है कि इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। स्वय वेदान्त ने भगवान् के इस विचार को प्रकारान्तर से ग्रहण किया है, ऐसा हम कह सकते हैं। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने पर कर्म का उत्तरदायित्व मनुष्य पर नही रहता। पुरुषार्थ की आवश्यकता जाती रहती है। मनुष्य अपने दुर्भाग्य को ईश्वर के मत्थे मढ सकता है। इस प्रवृत्ति की निन्दा गीताकार जैसे ईश्वरवादी ने भी की है 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति विभु . .तेन मुह्यन्ति जन्तव' इस प्रकार अपने पापो को ईश्वर पर लादने की प्रवृत्ति की निन्दा भक्तो की परम्परा

(१) संगारव सुत्त (मज्झिम० २।५।१०) में बुद्ध ने देवताओं के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है।

(२) देखिए राधाकृष्णन · इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४५६, पदसंकेत १

ने भी की है। 'कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।' भगवान् बुद्ध भी जो नितान्त कर्मवादी थे, इसी प्रवृत्ति को लेकर ईश्वर कर्तृत्व के प्रत्याख्यान में प्रवृत्त हुए थे, ऐसा कहा जा सकता है। जब अपने कर्म के द्वारा ही हम सुख-दुख भोगते हैं तो फिर सृष्टि-कर्तृत्व का किसी 'ईश्वर' पर आरोप कर उसे ही अपने दुखों का उत्तरदायी क्यो ठहराया जाय? बुद्ध का तो मत है कि तुम जहाँ आज हो वह अपने 'कर्म' के ही कारण हो और 'प्राणी जाता भी वहाँ है, जहाँ उसका कर्म ले जाता है'। तो फिर ईश्वर की निष्पत्ति अथवा उसकी मध्यस्थता की यहाँ क्या आवश्यकता है? हाँ, यदि इसी 'कर्म' को 'ईश्वर' को सज्ञा देना अभिप्रेत हो तो शब्दो के विषय में किसी को झगडना नही है, जो जैसा चाहे मान सकता है।

इस प्रकार 'ईश्वरवाद' के प्रश्न को लेकर हमने बुद्ध के विचार को उसके सम्बन्ध मे देखा। हमने देखा कि तथागत का अनुत्तर विशुद्धिमार्ग स्वत परिपूर्ण और सभी 'वादों' से निरपेक्ष है। 'ईश्वरवाद' भी स्वभावत एक वाद है। बुद्ध को 'ईश्वरवादी' कहना उनके विचार में जो अविद्यमान है उसे विद्यमान दिखाना है, किन्तु उनको 'अनीश्वरवादी' कहना तो उनके विचार में जो विद्यमान है उसे ही अविद्यमान कर देना है। जो अनिरुक्त है उसे अनिरुक्त ही रहने देना चाहिए। जो विचार से अतीत है उसे विचार का विषय बनाकर अनादृत नही करना चाहिए। किन्तु सभी ने उसे 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई' के अनुसार कुछ-न-कुछ विचार का विषय बनाकर अनादृत ही किया है। केवल सम्यक् सम्बुद्ध ही समग्र भारतीय दर्शन-साधना में एक ऐसे अपवाद है जो कहे बिना रह गए हैं और इसीलिए सम्भवत वह तत्व उनका ही सबसे अधिक जाना हुआ था, ऐसा हम कहने का प्रस्ताव करते है, यद्यपि कहना यह भी नही चाहिए। तथागत सभी 'वादों' से परे हो गए थे, सभी 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियो से विमुक्त हो चुके थे, उन मुनि को किसी भी 'अस्ति' या 'नास्ति' का प्रख्यापक बनाकर उनकी निन्दा नही करना चाहिए। हा, उनकी ध्यानमय अवस्थाओ के वर्णनो से ही पता लगा लेना चाहिए कि उनके हृदयगत विचार कैसे रहे होगे और उनका साक्ष्य लेना चाहिए विशुद्ध स्वानुभूति से ही, तर्क इसमें कितना असफल होता है यह तो इस विषय (ईश्वर कर्तृवाद) को लेकर नैयायिको और बौद्ध आचार्यों की वाद-परम्परा से ही पता लग जाता है। वे अपने

समग्र महान् तर्कों और प्रज्ञानो के वाद भी मूल समस्या से एक तिलमात्र भी आगे नही वढ पाए है। हमारे लिए तो समस्या का समझ लेना मात्र ही पर्याप्त है। इसका हल मानवीय वुद्धि नही कर सकती। हाँ, निष्कर्ष रूप ों यही एक वात कहना जरूरी है कि यदि ईश्वरवाद निश्चय ही वेराग के लिए है, निरोध के लिए है, उपशम के लिए है, अभिज्ञा के लिए ;, शान्ति के लिए है, तो निश्चय ही उस मात्रा में वह शास्ता का अभिप्राय गी है अथवा ठीक यो कहिए कि उनके अभिप्राय में सनिविप्ट भी हो सकता ;, क्योकि जो कुछ भी उपर्युक्त उद्देश्यो को लेकर किया जाता है वह सव तथागत का सम्मत ही मार्ग है और उसके करने में तथागत को कोई इन्कार नही हो सकता। अत उपर्युक्त रूप से ईश्वरवाद तथागत के मन्तव्य में आश्वासन पा सकता है। 'प्रपत्ति' का पर्यवसान 'प्रतिपद्' में हो सकता है। 'ईश्वरवाद' यदि निर्वलता का भी निशान हो तो भी सवल अर्थात् अपने ही वीर्य से सव कुछ सम्पादन करने का गर्व करनेवाले ससार में अधिक नहीं हो सकते। इसी तथ्य में ही लोकधर्म के रूप में 'स्थविरवाद' की 'महायान धर्म' के सामने 'हीनता' का सारा तत्व स्पष्ट रूप से समाया हुआ है। किन्तु वुद्ध का विशुद्धि मार्ग तो सवलो के लिए है, निर्वलो के लिए नही। उपनिषदो ने कहा था कि उनके आत्मा को समझने के लिए वल चाहिए। 'नायमात्मा वलहीनेन लभ्यः'। वुद्ध के 'अनात्मा' को समझने के लिये कितने वल की आवश्यकता पड़ेगी, यह वताने की आवश्यकता नही है। कुछ भी हो, निर्वलो को अपनी भावना के अनुसार उन अदम्य वीर्य का आरम्भ कर सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करनेवाले 'दशवल' (वुद्ध) के प्रति स्वकल्पित 'ईश्वरवाद' जैसी किसी वात का आरोप नहीं करना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर उन सवल शास्ता के निर्वल अनुयायियो को भी सव काम अपने ही वीर्य से सम्पादित करने का निर्घोप नहीं करना चाहिए। हमें तो विनम्रता पूर्वक इतना ही कहना है कि जो 'ईश्वर' में विश्वास करते हैं वे 'कर्म' को ही पूजते है और जो 'कर्मवादी' है वे 'ईश्वर' से दूर नही होते यदि 'ईश्वर' का तात्पर्य एक जगन्नियामक तत्व से है। महात्मा वुद्ध 'कर्म' को ही यहाँ प्रतिशरण और कर्म को ही केवल अपना वताते थे, अतः उन्हें दूसरा नाम लेने की आवश्यकता ही नही थी। कुछ भी हो 'नत्थि' कहनेवाला उन्हे नही कहा जा सकता, क्योकि यदि वे ऐसा कहनेवाले होते तो वे 'अजित केस कम्वली' ही होते, सम्यक् सम्वुद्ध नहीं। शाश्वतवादी

भी उन्हें नही कह सकते, क्योकि ऐसा होने पर व आलार कालाम क पास ही रह जाते उससे आगे नही बढते, सन्देहवादी, अधीत्य समुत्पादवादी अथवा उच्छेदवादी भी उन्हें नही कहा जा सकता, क्योकि यदि वे ऐसे होते तो 'बुद्ध' पदवी धारण नही करते, सभी आश्वासनो से आश्वासित होकर उपदेश करने का दावा नही करते, कर्म और पुनर्जन्मवाद नही सिखाते, बोधिपक्षीय धर्मों का प्रख्यापन न करते, हेतु से उत्पन्न होनेवाले धर्मो की सकारणता न बताते। यदि उन्हें ईश्वरवादी कहें तो किसी भी देव या ईश्वर की उपासना के विधान का नाम तक भी उनकी विचार-प्रणाली में नही है, यहाँ तक कि 'तथागत की शरीर पूजा' से भी विरत रहने का उपदेश है, यदि अनीश्वरवादी उन्हें कहें तो ससार के विचारक्षेत्र का सबसे अधिक विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद यहाँ उपस्थित है, यदि अनिर्वचनीयता-वादी उन्हें कहे तो कहा जा सकता है कि उन्होने 'आचार्य मुष्टि' जैसी कोई बात नही रक्खी और यदि यह कहा जाय कि उनका तो दृष्टिकोण सदा व्यावहारिक प्रयोजनवादी ही रहा तो याद रखना चाहिए कि भगवान् का दिया हुआ समग्र उपदेश तो शिशपा-वन की पत्तियो के समान है जिनको भगवान् ने दिखाया है और जितना उन्होने दिखाया है उसके अतिरिक्त भी तथागत बहुत कुछ जानते है जिसको उन्होने प्रख्यापित नही किया है, अपनी सम्यक् सम्बोधि के बाद होनेवाली प्रथम आशका के परिणामस्वरूप ही। तो फिर साधक गवेषक इस 'मेण्डक पण्ह' के उत्तर के लिए कि क्या बुद्ध ईश्वरवादी है अथवा अनीश्वरवादी, कहा जाय? निश्चय ही बुद्ध के पास तो जाना ही बेकार है क्योकि सिवाय सन्निपात के प्रवाद के समान 'न कल्लोयपञ्हो' अर्थात् यह प्रश्न ही गलत है, ऐसा कहने के अलावा उनका तो और कुछ उत्तर होगा ही नही, और सम्भवत 'वह देव जो परम व्योम में है' यदि उसके पास भी जाया जाय तो कदाचित् वेद की यह वाणी ही एक अर्थ में ठीक न हो जाय कि सम्भवत 'वह भी इसे जानता है या नही'। 'सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद'। अत अधिक वाग्जाल न बढाकर हमें भी उसे सम्यक् सम्बुद्ध की तरह अनिरुक्त ही रहने देना चाहिए, क्योकि जहाँ देवो तक को विचिकित्सा है वहाँ हमारी क्या गति? और फिर सबको छोड हमें तो केवल यही स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् सभी उपाधियो को विच्छिन्न कर विमुक्त होगए हैं (अनुपादा विमुत्ता भिक्खवे तथागतो)। और वे देव-मनुष्यो के अनुपम शास्ता, पुरुष दम्य-सारथी है जिनके मार्ग पर जो चलेगा वह

यही दुःख के अन्त को देखेगा। इससे परम और कोई धर्म नहीं है। अन्त में धर्म-साधना के एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर सकेत कर हमें इस प्रसग को समाप्त करना चाहिए। स्वीडेन के प्रसिद्ध विद्वान् आर्चविशप नायन सोडर-ब्लोम ने, जिनका वौद्ध धर्म से कुछ सम्वन्ध नही, 'एन्साइक्लोपेडिया ओंव रिलिजन एण्ड एथिक्स' में 'होली' (पवित्र) शब्द के अन्तर्गत विवेचन करते हुए यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि "धर्म का आधारभूत विचार ईश्वर का विचार नहीं है, वल्कि 'पवित्र' का विचार है। ...'विशुद्धि' धर्म में एक महान् शब्द है। ईश्वर के विचार से यह अधिक महत्वपूर्ण है। देवत्व के निश्चित विचार के अभाव में धर्म विद्यमान रह सकता है, किन्तु अच्छे और वुरे के भेद के अभाव में धर्म की विद्यमानता नही है[१]।" क्या कुशल है क्या अकुशल, क्या विशुद्धि क्या अविशुद्धि, क्या सेवनीय है क्या असेवनीय, यह तथागत से अधिक विश्व के किस तथोक्त 'ईश्वरवादी' शास्ता ने वताया है? तथागत से अधिक पवित्र (होली) और कौन है?

उन महाश्रमण को उच्छेदवादी कहना तो अपने ही शुभ का उच्छेद करना है

फिर कहा जाता है कि वुद्ध उच्छेदवादी है। इसका प्रत्याख्यान हम इसी प्रसङ्ग में पहले और कुछ निर्वाण के विषय में विचार करते समय कर आए है। अव इस शका को लेकर कोई विचारक प्रवृत्त नही होता। अत विस्तार से इसमें जाने की आवश्यकता नही। केवल भगवान् के ही इस विषयक एक वाक्य को उद्धृत कर हम मनस्तृप्ति करेंगे। जो लोग कहते है कि श्रमण गौतम उच्छेदवादी है, उच्छेदवाद का उपदेश करता है, शिष्यो को उच्छेदवाद की शिक्षा देता है, यदि वे इन अर्थों में कहते है तो ठीक कहते हैं; 'भिक्षुओ! मैं राग, द्वेष, मोह तथा अनेक प्रकार के पाप कर्मों के उच्छेद का

(१) "Holiness is the great word in religion, it is even more essential than the notion of God. Religion may exist without a definite conception of divinity, but there is no religion without a distinction between good and profane". नायन सोडरब्लोम : दि लिविंग गॉड, पृष्ठ १९ (भूमिका) में उद्धृत। देखिये इसी सम्वन्ध में नायन सोडरब्लोम की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'ऑरीजन ऑव दि विलीफ इन गॉड', आक्सफर्ड, १९१४ भी।

उपदेश करता हूँ[1]।' भगवान बुद्ध 'उच्छेदवादी' तो किसी भी अर्थ में नहीं हैं। न जाने आजीवको आदि ने उनके समय मे ही और निर्वाण के प्रश्न को लेकर यूरोप में भारतीय प्रज्ञान के अध्ययन के प्रारम्भिक युग में कुछ आधुनिक विद्वानो ने भी इस विषय में भ्रान्ति किस प्रकार फैलादी। जिन शास्ता ने यह स्थापन किया है कि यह दु.ख है, यह दुख का समुदय है, यह दुःख का निरोध और यह दुख-निरोध का मार्ग है, वह उच्छेद अथवा विनाश के उपदेष्टा किस प्रकार हो सकते हैं? जिन कारुणिक शास्ता ने यह प्रस्थापन किया है कि ये धर्म कुशल हैं और ये धर्म अकुशल, ये धर्म शान्ति और उपशम के लिए हैं और ये धर्म बन्धन और अशान्ति के लिए, वे भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध उच्छेदवादी किस प्रकार हो सकते हैं? जिन्होने कर्म के आधार पर विश्व की व्यवस्था आधारित मानी है, जिन्होंने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है, वे शास्ता उच्छेदवादी किस प्रकार हैं? जिन्होने प्रतीत्य-समुत्पाद को सिखाया है, जिन्होंने सार्वभौमिक आचार-तत्त्व को प्रथम बार मनुष्यता को सुनाया है, वे सम्यक् सम्बुद्ध उच्छेदवादी किस प्रकार हैं? जिन्होने विचारो की क्रान्ति में मानवता की स्थापना की, मनुष्यो को विनीत बनाया, कुशल और सेवनीय की स्थापना की, उन्हे उच्छेदवादी कहना तो अपने ही पुण्य का उच्छेद करना होगा। परन्तु फिर भी विश्व गुणदोषमय, अमृत-विषमय है। आरोप झूठे भी लगाये जाते है और महान् लोकोत्तर पुरुषो पर भी। तथागत की खिन्नता को हम अच्छी प्रकार समझ सकते हैं जब वे इस आरोप का प्रत्याख्यान करते हुए करुण गम्भीरतापूर्वक कहते हैं, "भिक्षुओ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण असत्य, तुच्छ, मृषा, अभूत (अविद्यमान) से मुझ पर मिथ्या आरोप लगाते हैं—श्रमण गौतम वैनयिक (उच्छेदवादी) है, वह विद्यमान सत्व (जीव) के उच्छेद, विनाश, विभव, का उपदेश करता है। भिक्षुओ! जो कि मैं नही कहता, उसका ये श्रमण-ब्राह्मण मुझ पर आरोप करते है, असत्य, मृषा, अभूत कथन से मुझ पर झूठा आरोप लगाते हैं—श्रमण गौतम उच्छेदवादी है, उच्छेद का उपदेश करता है[2]।'

सत्य अन्त में ठहरता है। तथागत को आज उच्छेदवादी कोई नहीं मानता। वे विश्व में सत्य और धर्म की प्रतिपदा के अद्वितीय स्थापक हैं, लोक और परलोक के कल्याण के मार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।

(१) अंगुत्तर-निकाय, दुकनिपात; देखिये सेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तरनिकाय) भी।
(२) अलगद्दूपम सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)

'उत्तर' बौद्ध दर्शन अथवा उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक विकास

भारत में बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का संक्षिप्त इतिहास

पूर्व निर्दिष्ट स्थविरवाद के अतिरिक्त बौद्ध विचार की अन्य परम्पराएं

बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास में उस परम्परा के स्वरूप और दर्शन के विकास को हमने इस प्रकरण के पूर्वार्द्ध में देखा है जिसे 'स्थविरवाद' कहा जाता है और जो बौद्ध धर्म और दर्शन के एक पूर्वतम अत विशुद्धतम स्वरूप का प्रतीक माना जा सकता है। अब हम उत्तर-कालीन बौद्ध धर्म और दर्शन की परम्पराओ के उद्भव और विकास पर एक सक्षिप्त दृष्टि डालेंगे। जैसा कि हमने बौद्ध संघ की द्वितीय बैठक का वर्णन करते समय पहले सकेत किया था, इस सगीति के परिणाम-स्वरूप महासाघिको का एक प्रभाव-शाली सम्प्रदाय स्थविरवाद परम्परा से अलग उत्पन्न हो गया था जिसने अपनी एक अलग सगीति 'महासगीति' के नाम से की थी और जिसने अपने एक अलग स्वतंत्र साहित्य का भी उद्भावन किया था। उत्तर-कालीन बौद्ध धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायो के स्वरूप और विकास को समझने के लिए हमें इन्ही महासाघिको से शुरू करना होगा। अत. हम वैशाली मे होनेवाली द्वितीय सगीति की ओर लौटते है।

बुद्ध के परिनिर्वाण-काल तक का बौद्ध धर्म स्थविरवाद; साथ ही द्वितीय सङ्गीति के बाद से ही महासांघिकों का उदय

यश काकण्डपुत्र ने वज्जिपुत्तक भिक्षुओ को उनके विनय-विरोधी आचार और विशेषतः उनकी स्वर्ण-रजत के प्रति लोलुपता के लिए फटकारा, यहाँ तक कि वैशाली के उपासको को 'मत आवुसो सघ को कार्षापण दो। शाक्यपुत्रीय श्रमणो को सोना और चाँदी विहित नही है, शाक्यपुत्रीय श्रमण जातरूप-रजत उपभोग नही कर सकते, जात-रूप-रजत स्वीकार नही कर सकते, वे जातरूप-रजत त्यागे हुए हैं।' इस प्रकार समझाया, और अनाथपिण्डिक द्वारा निर्मित प्रसिद्ध जेतवनाराम में एक प्रारम्भिक सभा कर अभिभाषण देते हुए बुद्ध के उन अनुत्तर शब्दो की याद दिलाई कि 'गामणी ! जिसे जातरूप-रजत कल्पित

है उसे पाँच कामगुण भी कल्पित है। जिसको पाँच काम-गुण कल्पित है गामणी! तुम उसको बिल्कुल ही अ-श्रमणधर्मी, अशाक्यपुत्रीय-धर्मी समझना, गामणी! मै ऐसा कहता हूँ। तृण का चाहनेवाला तृण को खोजनेवाला होता है, शकटार्थी को शकट खोजना होता है, पुरुषार्थी को पुरुष, किन्तु गामणी! किसी भी प्रकार मे जातरूप-रजत को स्वादितव्य, पर्येपितव्य नही मानता।' इस प्रकार वज्जिपुत्तक भिक्षुओ के विरुद्ध एक महान् आदोलन का प्रवर्तन और प्रसार करते हुए जब उन्होने अपने आदोलन को आगे बढाया तो वज्जिपुत्तक (वृज्जिपुत्रक) भिक्षु भी चुपचाप नही बैठे रहे। दोनो ओर से एक महान् विवाद उत्पन्न हो गया और निर्णय के लिए पक्ष सग्रह होने लगा। यश काकण्डपुत्त, जो इस सभा के सयोजक थे, वैशाली से कौशाम्बी गये और वहाँ से उन्होने अपने दूत पाठेय्य और अवन्ति-दक्षिणापथ के भिक्षुओ के पास भेजे, जहा से उन्हे सहयोग मिला। यह पश्चिम के भिक्षुओ का दल था। प्राचीन के (पूर्व के) भिक्षुओ के समर्थको में वैशाली के वृज्जिपुत्रक मुख्य थे। पाठेय्यक (पच्छिमवाले) और प्राचीनक (पूर्ववाले) ये दो पक्ष हो गए। पाठेय्यक भिक्षु यश काकण्डपुत्र के समर्थक थे और प्राचीनक वृज्जिपुत्रको के। प्रथम पक्ष के समर्थक भिक्षुओ में यश के अलावा अहोगग पर्वत (हरिद्वार के पास) के निवासी उस समय के प्रसिद्ध साधक भिक्षु, सम्भूत साणवासि और सोरेय्य के निवासी रेवत भिक्षु तथा एक अन्य भिक्षु सुमन मुख्य थे। दूसरे पक्ष के मुख्य भिक्षु थे सब्बकामि, जो आनन्द के शिष्य थे, और साल्ह, जो सहजात के प्रसिद्ध भिक्षु थे। डाक्टर एस० बील का अनुमान है कि वृज्जिपुत्रक भिक्षु वास्तव मे ट्यू-रेनियन जाति की यूची शाखा के थे, और इस प्रकार यह झगडा ट्यूरेनियन बौद्ध भिक्षुओ और भारतीय बौद्ध भिक्षुओ के बीच हुआ था[१]। चूकि यही वृज्जिपुत्रक भिक्षुवाद में महासाधिको के रूप में परिणत होकर अन्त में उस महायान शाखा में परिवर्तित हो गए, जिसका प्रचार उत्तरी तूरानी देशो यथा चीन, जापान आदि में है, यह मत कुछ अवकाश ग्रहण कर सकता है, किन्तु हमें इस सबध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि

---

(१) एस० बील : बुद्धिज्म इन चाइना, पृष्ठ ४३; देखिए रमेशचन्द्र दत्त : हिस्ट्री ऑव सिविलिजेशन इन एन्शियन्ट इन्डिया, जिल्द 'पहली, पृष्ठ ३३६, ३६९

'महावस' और 'दीपवस' के अनुसार 'वृज्जिपुत्रक भिक्षु महासाघिक सम्प्रदाय के सस्थापक नही थे,' वल्कि 'वे' केवल दुष्ट अनाचारी भिक्षु थे जिन्हे सघ से निष्कासित कर दिया गया था। वसुमित्र और भव्य के साक्ष्य पर भी महासाघिक सम्प्रदाय का उदय विलकुल स्वतत्र रूप से हुआ था और उनका वृज्जिपुत्रको से कोई सवघ न था। अन्त में कथावत्यु की अट्ठकथा के अनुसार भी वृज्जिपुत्रक स्थविरवादी शाखा के ही एक अग थे, न कि 'महासाघिक शाखा के[1]। अत 'वृज्जिपुत्रको का महासाघिक सम्प्रदाय से कोई सवघ न होने के कारण हम उन्हे महायान धर्म के पूर्व रूप के साथ नही जोड सकते और इस प्रकार उनको तूरानी जाति के भिक्षु मानने का भी कोई आधार नही रहता। द्वितीय सगीति में प्राचीनक भिक्षु अधर्मवादी और पाठेय्यक धर्मवादी निश्चित किए गए। प्राचीनको को यश काकण्डपुत्र के पक्षपातियो (पाठेय्यको) ने अधर्म-वादी कहा और प्राचीनको ने पाठेयको को 'वुड्ढे लोग' या वुड्ढे लोगो का मत मानने वाले (स्थविरवादी)। स्वयं प्रगतिशील महासघ के निर्माता 'महासाघिक' वने जिनकी एक अलग वैठक कौशाम्वी में उन्ही के पक्ष के दस हजार भिक्षुओ की उपस्थिति में हुई। वैशाली की सगीति में तो सात सौ ही भिक्षु वैठे थे, और महासाघिको की इस वैठक में भाग लेनेवाले भिक्षुओं की सख्या थी दस हजार, अतः उनकी 'महासाघिक' सज्ञा ठीक ही थी। इस प्रकार वैशाली की सगीति में हम वौद्ध सघ को दो भागो यथा स्थविरवाद और महासघ में वँटते देखते है। महासाघिको ने यही से अपने एक स्वतत्र साहित्य का भी उद्भावन करना आरम कर दिया, जिसकी निन्दा और आलोचना स्थविरवादी दृष्टिकोण से 'दीपवस' में की गई है[2]।

---

(१) देखिए ज्ञानातिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७

(२) महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासन।
भिन्दित्वा मूलसंघ अञ्ञं अकसु संघ।
अञ्ञाया संगहितं सुत्तं अञ्ञाया अकरिंसु ते।
अत्यं धम्मञ्च भिन्दिंसु ये निकायेसु पञ्चसु।
परियायदेसितं चापि अयो निप्परियाय देसित।
नीतत्यंचेव नेय्यत्यं अजानित्वान भिक्खवो।
अञ्ञ संधाय भणितं अञ्ञात्यं यापयिंसु ते।
व्यञ्जनच्छायाय ते भिक्खू वहु अत्य विनासयुं।

वैशाली की उपर्युक्त सगीति के वाद से अशोक के समय तक बौद्ध सघइन दो उपर्युक्त सम्प्रदायो की शाखाओ के स्वरूप अनेक सम्प्रदायो या निकायो में वट गया। वैशाली की सगीति के अवसर पर वृज्जिपुत्रको अष्टादश निकाय की अनियमितता के कारण जो दो सम्प्रदाय महासाघिक और स्थविरवाद (थेरवाद) वन चुके थे, वही अव सम्राट् अशोक के समय तक आते-आते १८ भागो में वट गए। इनमें से महासाघिको के (स्वय उनको भी शामिल करके)६ सम्प्रदाय थे और स्थविरवादियो के (स्वय उनको भी शामिल करके) १२ सम्प्रदाय थे। कथावत्थु-अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा-भेद इस प्रकार है[1].—

महासांघिक (कुल ६)
(१)

(२) एकव्यावहारिक (एकब्वोहारिक)
(३) गोकुलिक (गोकुलिक)
(४) प्रज्ञप्ति-वादिन् (पञ्ञातिवादी)
(५) वाहुलिक (बाहुश्रुतिक)
(६) चैत्यवादी (चेतियवादी)

छड्डेत्वा एकदेसं च सुत्तं विनयं च गंभीरं।
पटिरूपं सुत्तविनयं तं च अञ्ञं करिंसु ते।
परिवारं अत्थुघारं अभिधम्मप्पकरणम् ।
पटिसम्भिदां चं निद्देसं एकदेसं च जातकं।
एत्तकं निस्सज्जेत्वान अञ्ञानि अकरिंसु ते।
नामं लिगं परिक्खारं आकप्पकरणाणि च
पकतिभावं विजहेत्वा तं च अञ्ञं अकंसु ते। दीपवंस

(१) देखिए ज्ञानातिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृष्ठ ३६, राहुल साकृत्यायन , विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद) भूमिका, पृष्ठ १, उन्हीं की पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १२१, 'दीपवंस' के अनुसार भी विलकुल यही विभाग हैं, देखिए राहुल साकृत्यायन द्वारा सम्पादित अभिधर्म कोश, भूमिका, पृष्ठ ४, देखिए जर्नल ऑव रोयल एशियाटिक सोसायटी १८९१ एवं जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी (१९०४–१९०५) (दि सैक्ट्स् ऑव दि बुद्धिस्ट्स्)

थेरवादी (कुल १२)
(१)

(२)
महीशासक (महिंसासक)

(८) वात्सीपुत्रीय या वृज्जिपुत्रक
(वज्जिपुत्तक)

(३) सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी)

(४) काश्यपीय (कस्सपिक)

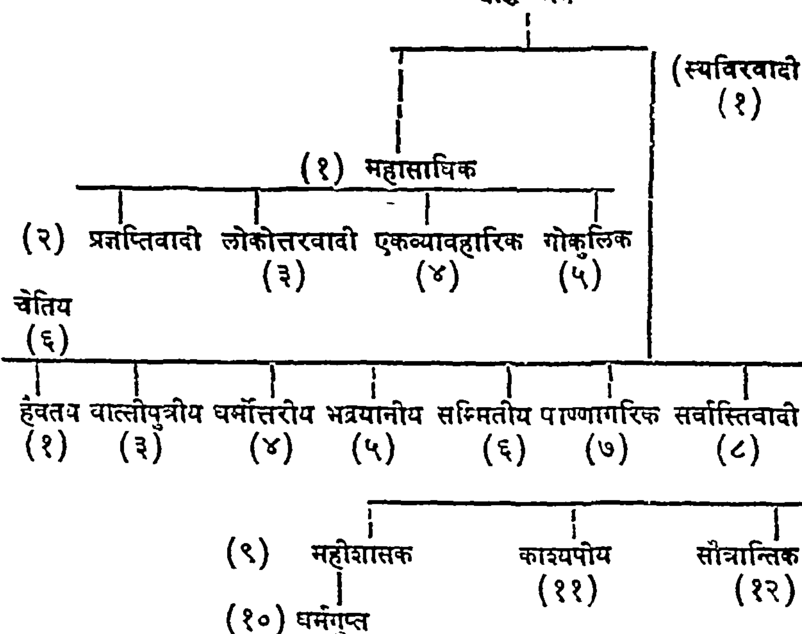
(५) साङ्क्रान्तिक (संक्रन्तिक)

(६) सूत्रवादी या सौत्रान्तिक (सुत्तवादी)

(७) धर्मगुप्तिक
(धम्मगुत्तिक)

(९) धर्मोत्तरीय
(१०) छन्नागारिक
(११) भद्रयानिक
(१२) साम्मित्तिय

वसुमित्र-प्रणीत 'अटादश-निकाय' शास्त्र के अनुसार १८ सम्प्रदायो का विभागीकरण इस प्र [1]:—



(१) देखिए राहुल साकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'अभिधर्मकोश', भूमिका, पृष्ठ ५ एवं उन्हीं का विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, भूमिका पृष्ठ १–२

इस प्रकार सम्राट् अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के समय तक ये १८ बौद्ध सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किए जाने पर ये और भी बढ़ने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ जान ही न पडता था। परिणामत पाटलिपुत्र में एक सगीति वुलाई गई। इस सभा के सभापति थे मोग्गलिपुत्त तिस्स। उन्होने उपर्युक्त सम्प्रदायो में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो वुद्ध का वास्तविक मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' माना और शेष को वुद्ध के मत से वाहर माना । इसी समय से सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदाय जो अव तक स्थविरवादियो की ही शाखा माने जाते थे, अलग हो गए। अत हम कह सकते हैं कि अशोक के समय तक वुद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' जिस नाम से व्यवह्रुत होता रहा वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। अब हमें विरोधी प्रवृत्तियो के इतिहास पर आना चाहिए।

अशोक-सगीति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्स ने विरोधी १७ सम्प्रदायो का निराकरण करने के लिए 'कथावत्थु' ग्रथ की रचना की, जो अभिधर्म पिटक के सात ग्रथो में से एक है । इस
अशोक-युग में अथवा महाग्रथ में न केवल अशोककालीन सिद्धातों का
उसके कुछ पहले से ही खडन-मंडन मिलता है, बल्कि कुछ वाद के
महायान-प्रवृत्तियों का सम्प्रदायो और सिद्धातो का भी इसमें खडन किया
उदय और विकास गया है। अतः राहुल साकृत्यायन तथा अन्य विद्वानो का यह मत है कि इस ग्रथ में कई अश
ईसा की पहली शताब्दी तक जोडे जाते रहे[1]। इस ग्रथ में प्राचीन अर्थात् अशोक के समय तक प्रचलित सिद्धातो में से तो आठ का खडन प्रस्तुत किया गया है, जिनमें से दो तो महासाघिको के सम्प्रदाय है, यथा महासाघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) और गोकुलिक (चौथी शताब्दी ई० पूर्व) तथा छ सम्प्रदाय स्थविरवादियो के है, यथा स्वयं स्थविरवादी, भद्रयाणिक (तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व), महीशासक (चौथी शताब्दी ई० पूर्व), वात्सीपुत्रीय (चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व), सर्वास्तिवादी (चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व) और साम्मितिय (चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व)[2]।

---

(१) देखिए राहुल साकृत्यायन: पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; मिलाइये ज्ञानातिलोक गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७–३८

(२) देखिए ज्ञानातिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृष्ठ ३८

इन उपर्युक्त ८ प्राचीन सिद्धातो या सम्प्रदायो का खंडन कथावत्थु में उसकी अट्ठकथा के अनुसार उपलब्ध होता है। अब कुछ अर्वाचीन सिद्धातों के भी खडन में कथावत्थु प्रवृत्त होती है। ये सम्प्रदाय भी आठ हैं, यथा खधक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक, वैपुल्य (वेतुल्ल), उत्तरापयक और हेतुवादी। इन सब सम्प्रदायो के पारस्परिक सैद्धातिक भेदो का निरूपण हम यहाँ नहीं कर सकते[१]। ऐतिहासिक रूप से यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये प्रायः सभी सम्प्रदाय महासाघिको (चैत्यवादियो) और साम्मितियो के ही भेद हैं[२], यद्यपि उत्तरापथक और हेतुवादियो के विषय में तो अभी कुछ कहा नही जा सकता। इन सब सम्प्रदायो मे से वेतुल्ल (वैपुल्य) वादियो से ही हमें यहाँ विशेष प्रयोजन है और इनके विषय में एक विशेष बात लक्ष्य करने की यह है कि ये 'महाशून्यतावादी' (महासुञ्ञातावादी) कहे गए हैं। इसलिए यह एक निश्चित सिद्धात के रूप में कहा जा सकता है कि महायान के वैपुल्य सूत्र इसी सम्प्रदाय की ओर सकेत करते हैं[३]। अथवा महापडित राहुल साकृत्यायन के शब्दो में हम यह भी कह सकते है कि 'वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरभिक काल में प्रसिद्ध हुआ[४]।' ये वैपुल्यवादी मानते थे कि बुद्ध तो तुषित लोक में ही रहे, वे न तो मनुष्य-लोक मे आए और न उन्होने उपदेश ही दिया[५]। यह सिद्धात आगे चलकर महायान ने ग्रहण कर लिया था[६]।

(१) इसके लिये देखिये लेखक का पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२८–४४९

(२) देखिए राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १२६–१२७

(३) मिलाइये "According to my opinion, Vaitulya is a distortion of Vaipulya, and the Vaipulya Sutras of the Mahayan refer to the above-mentioned heretics, whose ideas, too, apper to be perfectly Mahayanistic". स्थविर ज्ञानातिलोक अपनी 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक' पृष्ठ ६० में।

(४) पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १३१

(५) देखिए कथावत्थु १८।१; १८।२

(६) मिलाइये, न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशित: मलमाध्यमिक कारिका, १५।२४; मिलाइये न मौनं : तथागतं. भाषितम् ॥ मौना हि भगवन्तस्तथागता. । लंकावतार सूत्र ।

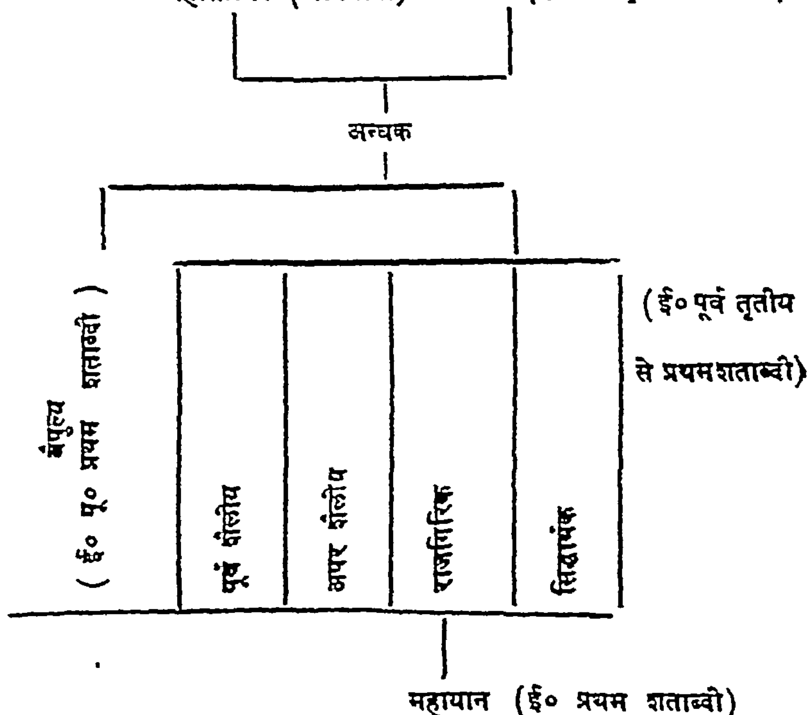
फिर वैपुल्यवादी और अधक एकाभिप्राय से किए मैथुन में भी दोष नही देखते थे[1]। इस प्रवृत्ति में तो हम बौद्ध दर्शन में घुसी हुई वाद की तान्त्रिकता तक के पूर्वतम रूप के दर्शन करते हैं। फिर 'उत्तरापथक' लोग 'तथता' में भी विश्वास रखते थे। 'तथता' अर्थात् भाव, रूप, वेदना, सज्ञा-सस्कार आदि का एक स्थिर स्वभाव[2]। 'तथता' या 'भूततथता' का सिद्धात वाद में आचार्य अश्वघोष के द्वारा अपने महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है जो महायान धर्म के अन्तर्गत 'विज्ञानवाद' सिद्धात का प्रख्यापन करनेवाला और शून्यवाद के साथ उसकी सगति स्थापित करनेवाला ग्रथ है। अत इन सब बातो को देखते हुए हम कह सकते है कि महायान सम्प्रदाय का उदय सबसे पहले उन महासाघिक सम्प्रदायो में हुआ जो अशोक के बाद प्रचलित हुए और जिनमें न केवल अश्वघोष और नागार्जुन के ही प्रतिपादित सिद्धातो की पूर्व झलक हम पाते है, बल्कि वज्रयान और तन्त्रयान के भी बीज जहाँ विद्यमान है। महायान धर्म की उपर्युक्त क्रम से उत्पत्ति को समझने के लिए महापडित राहुल सांकृत्यायन जी की दी हुई यह तालिका उपयोगी सिद्ध होगी[3]:

---

(१) देखिए कथावत्थु २३।१

(२) देखिए ज्ञानातिलोकः गाइड थ्रू दि अभिधम्मपटिक, पृष्ठ ६२

(३) पुरातत्त्व निबधावली, पृष्ठ १२७; डब्लू मैकगवर्न के अनुसार महायान मत का धार्मिक स्वरूप ईसवी-सन् के शुरू होने से कुछ ही दिनों पहले दिखाई दिया। के० सांडर्स ५० ई० पूर्व से ५० ई० तक का समय महायान मत के शुरू होने का निश्चित करते हैं। स्वर्गीय लाला हरदयाल दूसरी शताब्दी ई० पूर्व को बोधिसत्व-मत के विकास का प्रारभ काल मानते थे ।



इस प्रकार महायान धर्म की उत्पत्ति का अस्पष्ट क्रम है। लगभग

हीनयान और महायान— भदन्त नागार्जुन के द्वारा महायान धर्म और दर्शन को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करना

प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी तक अनेक महायान-सूत्र अथवा वैपुल्य-सूत्र संस्कृत अथवा अर्द्ध संस्कृत में लिखे गये जिनके लेखकों के विषय में कुछ विशेष रूप से ज्ञात नहीं है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम ग्रंथ है जिसमें हमें महायान के उपदेशों का वर्णन मिलता है और इस ग्रंथ की रचना-तिथि प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है।

ईसवी शताब्दी के लगभग सर्वास्तिवादी आचार्य अश्वघोष की रचनाओं में हमें महायानी शिक्षाओं के पूर्वरूप के दर्शन होते हैं, जिनको व्यवस्थित रूप देने का कार्य युगविधायक आचार्य नागार्जुन ने किया। आचार्य नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी ईसवी है। लामा तारानाथ

ने अपने ग्रथ 'भारत में वौद्धधर्म का इतिहास' मे लिखा है कि आचार्य नागार्जुन अपने जीवन के अतिम दिनो में दक्षिग भारत के श्री पर्वत (श्रीशैलम्) पर रहे थे। इस तिब्बती परम्परा को आज प्राय सभी प्रामाणिक विद्वान् मानते हैं। डा० वर्गेस का मत है कि श्री पर्वत के समीप धान्यकटक के अमरावती स्तूपो का निर्माण मौलिक रूप से द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व हुआ था और नागार्जुन का घनिष्ठ सवध इस स्थान के वौद्ध मठ से था। अव हमें यहाँ इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान मे रखना चाहिये कि धान्यकटक, चेत्यक (चेतिय), पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओ का प्रधान केन्द्र था और ये तीनो सम्प्रदाय महासाघिक सम्प्रदाय की शाखाएँ मात्र थे, जिससे महायान धर्म का उद्भव हुआ। अत भौगोलिक दृष्टि से भी हमारे इस निष्कर्ष को वल मिलता है कि महायान की उत्पत्ति महासाघिक सम्प्रदाय और उसकी शाखाओ से ही हुई। प्रथम महायानिक आचार्य नागार्जुन का निवास-स्थान श्री पर्वत और धान्यकटक का होना जो चेतिय, पूर्वशैलीय और अपरशैलीय सम्प्रदायो का प्रधान केन्द्र रह चुका था, इस वात की सूचना देता है कि महायान का उदय इन सम्प्रदायो से हुआ और साथ ही इस वात की ओर भी इगित करता है कि महायान की जन्मभूमि दक्षिण भारत ही है। ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह सुप्रमाणित है कि ईसवी सन् के करीब कृष्णा नदी के किनारे पर दक्षिण भारत के गुन्टूर जिले मे महासाघिको का एक प्रभावशाली केन्द्र था। महासाघिको के एक सम्प्रदाय का नाम 'अन्धक' होना इस वात को प्रमाणित करता है कि यह सम्प्रदाय आध्रदेश मे अत्यन्त लोकप्रिय था। अमरावती-अभिलेखो से भी यह भली प्रकार विदित है कि आध्र देश के राजाओ और जनता का सरक्षण 'अन्धक' भिक्षुओ को प्राप्त था, जो महासाघिक सम्प्रदाय की एक शाखा थे[१]। अत हम कह सकते हैं कि महायान का उदय दक्षिण भारत में हुआ जहाँ महासाघिको का प्रभाव अधिक था। परन्तु उसका विकास प्रधानत पूर्वी भारत में हुआ जहाँ सर्वास्तिवादियो का भी प्रावल्य था। लामा तारानाथ ने हमें बताया है कि प्रज्ञापारिमता का सर्वप्रथम उपदेश मजु श्री बोधिसत्व द्वारा आदिविस (उडीसा) में दिया गया था। सपूर्ण प्रज्ञापारमिताओं में पुनरावृत्तिपूर्वक कहा गया है कि महायान धर्म की उत्पत्ति दक्षिणापथ

---

(१) देखिए नलिनाक्ष दत्त: ऐस्पैक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २३

में होगी और वहाँ से वह पूर्वी देशों में (वर्तन्याम्) फैलेगा एव उत्तरी भारत में विशेषरूप से समृद्ध होगा[1]। नालन्दा महायानी शिक्षाओ का पूर्वतम केन्द्र था। यही उसका सर्वास्तिवादी विचार-धारा से सघर्ष और सगम हुआ था। नालन्दा में कुछ दिनो तक आर्य नागार्जुन ने भी निवास किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायात्त की उत्पत्ति कनिष्क के काल से कुछ पूर्व अर्थात् प्रथम शताव्दी ईसवी पूर्व में दक्षिण भारत में हुई एवं नागार्जुन का समर्थन पाकर धीरे-धीरे उसका विकास पूर्व और उत्तर में भी हुआ। नागार्जुन के शिष्य नाग और आर्यदेव ने, जो दक्षिण भारत के निवासी थे, तृतीय शताव्दी के पूर्वार्द्ध में महायान के प्रचार में काफी योग दिया। वाद में मैत्रेयनाथ (परम्परानुसार योगाचार सम्प्रदाय के सस्थापक), असग और वसुवन्धु जैसे प्रभावशाली आचार्य महायान परम्परा में हुए, जिन्होने उसके उपदेशो का प्रचार किया। अश्वघोष और नागार्जुन को हम महायान के प्रथम आचार्य और शातिदेव (सातवी शताव्दी) को अतिम आचार्य मान सकते हैं। इनके वीच में आचार्यों की एक महती परम्परा है। सातवी शताव्दी के वाद के वौद्ध धर्म के विकास को हमें तान्त्रिक वौद्ध धर्म कहना चाहिये और उसे प्रकृत महायान से भिन्न समझना चाहिए।

महायान वौद्ध धर्म की उत्पत्ति का जो विवरण हमने ऊपर दिया है, उससे स्पष्ट है कि उसका जन्म महासाघिको से हुआ। महायान वौद्ध धर्म की साधना अत्यन्त विशाल और विस्तृत है, उसकी दार्शनिक आधार-शिला कई महनीय विचार-धाराओ को अपने अन्दर छिपाये हुए है, जिनका विकास अनेक युगो में सामाजिक और धर्म-प्रचार सवधी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वौद्ध धर्म की चिन्ताओ के स्वाभाविक विकास के परिणाम-स्वरूप हुआ, इस सव पर हम अभी वाद में विचार करेंगे। यहाँ हमें यही समझ लेना चाहिये कि महासाघिको में महायान धर्म के जो वीज विद्यमान थे उनका सवध मुख्यत दो वातो से था। एक था वुद्ध-सवंधी विचार और दूसरा था पारमिताओ पर आधारित वोधिसत्व-सिद्धात। महासाघिको ने, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, पहली वार कहा था कि वुद्ध लोकोत्तर है, वे सदा समाधि में रहते हैं और वे उपदेश नही करते। दूसरी वात महासाघिको ने वोधित्सव के सिद्धात के सवध में कही थी, जिसमें पारमिताओं के अभ्यास की वात सम्मिलित थी। प्रधानत इन दो वातो के लिए ही

(१) देखिए नलिनाक्ष दत्त: एस्पैक्ट्स ऑव महायान वुद्धिज्म, पृष्ठ ४१

महायान महासांघिको का ऋणी है। वस्तुतः महासांघिक भी 'हीनयानी' ही थे, केवल बुद्ध के सबंध में उनके विभिन्न विचार थे।

३५० ईसवी पूर्व से लेकर १०० ईसवी पूर्व तक उत्पन्न और विकसित १८ बौद्ध निकायो या सम्प्रदायो का हमने ऊपर उल्लेख किया है। इनमें सबसे मुख्य तीन थे, स्थविरवाद (थेरवाद), सर्वास्तिवाद और महासांघिक। स्थविरवाद बौद्ध धर्म का प्रचार विशेषत. मध्य और पूर्वी-भारत में था। सर्वास्तिवादियो के मुख्य केन्द्र मथुरा और काश्मीर थे। महासांघिको के सबंध में हम पहले कह ही चुके हैं कि उनके मुख्य केन्द्र आध्र देश में धान्यकटक और श्री पर्वत थे। वैशाली में भी उनका कुछ प्रभाव था। किस प्रकार महासांघिको से महायान की उत्पत्ति हुई, इसपर तो हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अब हमें यह भी देखना चाहिये कि सर्वास्तिवादियो ने भी उसके विकास मे काफ़ी सहयोग दिया है, यद्यपि एक विपरीत दिशा में। सर्वास्तिवादियो के अस्तित्ववाद का कडा प्रतिवाद महायान-धर्म ने किया है। इसे महायानी आचार्य बौद्ध धर्म का अत्यन्त विकृत रूप मानते थे। सर्वास्तिवादी आचार्य यदि एक ओर कहते थे 'सब्ब अत्थि' (सब है) तो महायानी आचार्यों का दूसरे छोर पर बुद्ध तक के सबंध में कहना था 'नाममात्र इद यदुत बुद्ध ति'।[1] इस प्रकार महायान सर्वास्तिवादियो के प्रतिक्रिया स्वरूप भी उठ खडा हुआ धर्म था जिसने 'सर्वम् अस्ति' के स्थान पर कहा 'सर्वं शून्यम्'। "अत: हम कह सकते है कि एक ओर तो महायान ने महासांघिको और उनसे उत्पन्न शाखाओ के बुद्ध सबधी विचारो को आगे बढाया और दूसरी ओर वह सर्वास्तिवादियो के अस्तित्ववाद के सिद्धात के विरुद्ध, जिसे महायानी आचार्य बुद्ध-उपदेशो की आत्यन्तिक तोड-मरोड और विकृति मानते थे, एक विद्रोह था[2]"। इस प्रकार सर्वास्तिवाद और महायान मे भी काफी

(१) शत साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृष्ठ १२०

(२) "We may say that Mahayan is a continuation of the Buddhological speculations of the महासंघिकऽ and their offshoots and a revolt against the अस्तित्ववाद of the सर्वास्तिवादिन्ऽ—a dogma which appeared to the Mahayanists as an utter distortion of Buddha's teachings." नलिनाक्ष दत्त : एस्पेक्ट्स आॅव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २७

सपर्क रहा और एक के वाद एक सर्वास्तिवादी आचार्य महायानी होते गये। आर्य अश्वघोष के सवध में यही वात है और बाद में असग और वसुवन्धु के सवध में भी यही वात घटी। हम पहले कह चुके है कि नालन्दा में सर्वास्तिवाद और महायान का सम्मिलन हुआ और काफी पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ। 'ललितविस्तर' जो महायानी साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रथ माना जाता है, वस्तुत सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार वुद्ध की जीवनी ही है। इसी प्रकार दिव्यावदान मूलत सर्वास्तिवादी ग्रथ है, जिसकी मान्यता महायान मे भी है। अधिक क्या कहे, स्वय आचार्य अश्वघोष के ग्रथ 'वुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' सर्वास्तिवादी परम्परा के हैं, जिनमें महायान की शिक्षाओ का प्रथम वार उपदेश दिया गया है। वस्तुत तथोक्त हीनयान और महायान में जहाँ तक जीवन का सवध था अधिक भेद था भी नही। चीनी यात्री इ-चिङ ने चित्तवर्मा नामक भिक्षु का उल्लेख किया है जो स्वय महायान को माननेवाला था, किन्तु जिसका गुरु हीनयानी था। चीनी यात्री युआन् चुआङ ने अनेक सघारामो का वर्णन किया है जहाँ हीनयानी और महायानी भिक्षु अत्यन्त प्रेम से साथ-साथ रहते थे। उनके विनय-नियमो में छोटे-मोटे अन्तर थे। हीनयान और महायान नामो की अनुपयुक्तता के विषय में हम पहले कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित होगा कि 'हीनयान' और 'महायान' शब्द दोनो 'मार्ग' या 'यान' के द्योतक हो सकते है और इस प्रकार 'हीन' शब्द से अवमानना का भाव भी द्योतित हो सकता है। वस्तुत. भगवान् वुद्ध ने तो एक ही 'यान' सिखाया था और वह था आर्य अष्टागिक मार्ग। उसे उन्होने विशुद्धि का एकायन (एकमात्र) मार्ग कहा था। परन्तु वाद में महायानियो ने उद्भावना की कि स्वय भगवान् वुद्ध ने अनेक 'यानो' की वात कही थी[1]। उत्तरकालीन वौद्ध दर्शन में तीन यान प्रसिद्ध है, यथा श्रावकयान, प्रत्येक वुद्धयान, और महायान[2]। हम जानते हैं कि भगवान् वुद्ध अनेक पर्यायो से उपदेश दिया

(१) देवयानं ब्रह्मयानं श्रावकीयं तथैव च। तथागतं च प्रत्येकं यानानेतान् वेदाम्यहम्। लकावतार सूत्र ; उपायकौशल्य ममैवरूपं यत् त्रीणि यानानि उपदर्शयामि। सद्धर्मपुण्डरीक; मिलाइए अभिधर्मकोश ६।६२, ३।९४; ७।६ आदि (तीन यानो के लिए)

(२) त्रीणि यानानि—श्रावकयानं प्रत्येकवुद्धयानं महायानञ्चेति। धर्म-संग्रह (नागार्जुन कृत, मैक्समुलर द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १; मिलाइये,

करते थे। उनकी शिक्षा में क्रमिक विधान भी था। वे सुननेवाले की योग्यता के अनुसार उपदेश देते थे। इस एक बात के आधार पर महायानिको ने यह कल्पना की कि भगवान् बुद्ध के समीपी शिष्य (श्रावक) जिनका उल्लेख स्थविरवाद परम्परा में है साधारण योग्यता के व्यक्ति थे, इसलिये उन्हे चार आर्य सत्यो और नीतिवाद का उपदेश दिया गया। जो प्रत्येक बुद्ध थे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से जिनमे बुद्धत्व प्राप्त करने की क्षमता थी परन्तु दूसरो को उपदेश देकर उन्हे बुद्धत्व के लिये अग्रसर करने में जो अक्षम थे, उन्हे तथागत ने कुछ और ऊपर का उपदेश दिया। परन्तु उन्होने अपना गुह्य-तम उपदेश तो कुछ चुने हुए योग्यतम उन अल्प शिष्यो को ही दिया जो बोधिसत्व थे, जिनकी परम्परा को प्रवर्तन करने का दावा 'महायान' करता है। उपर्युक्त तीन यानो के अलावा बाद में अनेक यान कल्पित किये गये।[1] सभी 'पुरुषोत्तमो' ने अनेक प्रकार के यानो का प्रवर्तन किया है[2]।' ऐसा महायानिको का कहना था। साथ ही उन्होने इन यानो की एकात्मता की भी कल्पना कर ली थी। यानो में भेद नही है। वास्तव में परमार्थत देखने पर एक ही यान रह जाता है, भिन्न-भिन्न कहना तो अज्ञो को आकृष्ट करने के लिए ही है[3]। लोगों को लक्ष्य तक पहुचाने के लिए ही भगवान् ने तीन प्रकार के यानो का वर्णन किया है, अन्यथा एक से अधिक यान नही है[4]। भगवान् के 'वैद्यराज'

बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता। मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता शास्त्र।

(१) यथा, देवयान, ब्रह्मयान, श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान, हीनयान, महा-यान, मन्त्रयान, वज्रयान आदि; मिलाइये, यानाना नास्ति वै निष्ठा यावच्चित्तं प्रवर्तते। लंकावतार सूत्र।

(२) सर्वेहि तेहि पुरुषोत्तमेहि प्रकाशिता धर्म बहू विशुद्धाः। दृष्टान्तकैः कारण-हेतुभिश्च उपायकौशल्यशतैरनेकैः। लंकावतार सूत्र।

(३) यानव्यवस्था नास्ति यानभेदं वेदयाम्यहम्। परिकर्षणार्थम् बालानां यान-भेदं वेदाम्यहम्। लंकावतार सूत्र; मिलाइये, सर्वे च ते देशयि एक-यानम् एकं च यानमवतारयन्ति। नागार्जुन कृत निरौपम्य स्तव, एकं तु यानं हि नयश्च एक एका इयम् देशना नायकानाम्। सद्धर्मपुण्डरीक।

(४) धर्मधातोरसम्भेदाद् यानभेदोऽस्ति न प्रभो। यानत्रितयमाख्यातं त्वया सत्वावतारतः। अद्वयवज्रसंग्रह।

स्वभाव को प्राय सभी बौद्ध आचार्यों ने भली प्रकार समझा है, और उनका कहना है कि साधको की भिन्न श्रेणियो के अनुसार तथागत ने उपदेश के मूलभूत रूप के एक होते हुए भी अनेक प्रकार से उसका उल्लेख किया है, अत अनेक यान सभव हो ही सकते हैं। किन्तु फिर भी मूलभूत सत्य, जो उनमें निहित है, वह एक है[१]। बौद्ध दर्शन के इतिहास में हम देखते हैं कि प्रायः महायानिको ने ही इस मूलभूत सत्य को अपने सिद्धात में पर्यवसित करने का प्रयत्न अधिक किया है, और श्रावक यान और प्रत्येक बुद्ध-यान को अपने मार्ग तक पहुँचने के लिए केवल सीढियो के रूप में ही माना है[२]। कहने की आवश्यकता नही कि यही बात षड्दर्शनो की परम्पराओ को लेकर अद्वैत वेदान्त ने भी की है और सीढी रूप से सभी के मन्तव्य को अपने में ही पर्यवसित होता हुआ दिखाया है। और फिर इसके लिए अधिक दोष हम उन्हें (माध्यमिको को) क्यो दें? प्रकारान्तर से अद्वैत वेदान्त की ही तरह यह उन्मुक्त निर्घोष भी तो माध्यमिको ने ही किया है 'चित्ते तु वै परावृत्ते न यान न तु यायिन'। इससे अधिक 'हीन' और 'महा' के निराकरण मे और क्या कहा जा सकता

---

(१) वैद्या यथातुरवशात् क्रियाभेदं प्रकुर्वते। न तु शास्त्रस्य भेदोऽस्ति दोषभेदात्तु भिद्यते॥ तथाहं सत्वसन्तानं क्लेशदोषैः विदूषितम्। इन्द्रियाणा बलं ज्ञात्वा नयं देशेमि प्राणिनाम्॥ न क्लेशेन्द्रियभेदेन शासनं भिद्यते मम। एकमेव भवेद् यानं मार्गमष्टाङ्गिकं शिवम्। लंकावतार सूत्र; मिलाइये वहीं, देशनापि यथा चित्रा देश्यतेऽव्यभिचारिणी। देशना हि यदन्यस्य तदन्यस्याप्यदेशना॥ आतुरे आतुरे यद्वत् भिषग् द्रव्यं प्रयच्छति। आतुरि आतुरि भैषज्य यद्वद् भिषक् प्रयच्छति। चित्तमात्रं तथा बुद्धाः सत्वाना देशयन्ति वै। मिलाइये बोधिचित्त-विवरण भी (यथा सर्वदर्शन सग्रह में उद्धृत) देशना लोकनाथाना सत्वाशयवशानुगाः। भिद्यते बहुधा लोक उपायैः बहुभिः पुन.॥

(२) यथा, 'ननु यदि महायाननिर्णीत एवार्थः परमार्थोऽस्ति अयं किमर्थं तर्हि श्रावकप्रत्येकयाने भगवान् देशितवान्। तन्न। महायानप्राप्यप्रापणार्थमेव श्रावकप्रत्येकयाननिर्माणात्। तदुक्तम्—आदिकर्मिकसत्वस्य परमार्थावतारणे। उपायस्त्वय सम्बुद्धैः सोपानमिव निर्मित'॥ अद्वयराजकृत तत्वरत्नावली, विधुशेखर भट्टाचार्य, दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ३२ में उद्धृत।

है ? परमार्थ की साधना महायान ने भी की। 'ब्रह्मावसान' और 'अभावावसान' का तो कोई प्रश्न ही नही है, ब्रह्म भी अभाव हो सकता है और अभाव भी भाव हो सकता है। यह तो परिभाषाओ और निरुक्तियो का सवाल है। हमें तो यही देखना है कि परमार्थ के अस्तित्व की स्वीकृति है या नही। और हम कह कसते है कि अद्वैत वेदान्त के समान माध्यमिको की 'शून्यता' में भी उसकी उपलब्धि होती है। किन्तु इसके विषय में बाद में। अस्तु, इस प्रकार हमने 'यान' शब्द की दार्शनिकता पर कुछ कहा, कुछ तो सभवत· अप्रासगिक भी। अब हमें 'हीनयान' और 'महायान' के ऐतिहासिक स्वरूपो और विभेदो पर सक्षिप्त रूप से आना चाहिये। आचार्य असग ने अपने 'महायान।भिधर्मसगीति-शास्त्र में महायान की सात विशेषताओ का उल्लेख किया है। उन्होने बताया है कि (१) महायान वस्तुत महान् और विशाल है, क्योकि उसमें जीव-मात्र की मुक्ति का सदेश है। (२) महायान में प्राणिमात्र के लिये त्राण का विधान है। (३) महायान का लक्ष्य बोधि-प्राप्ति है। (४) महायान का आदर्श बोधिसत्व है जो समस्त प्राणियो के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है। (५) महायान की मान्यता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने उपाय-कौशल्य से नाना प्रकार के प्राणियो को नाना प्रकार से उपदेश दिया है, जो पारमार्थिक रूप से एक है। (६) बोधिसत्व की दस भूमियो का महायान मे विधान है, और (७) महायान के अनुसार बुद्ध सब मनुष्यो की आध्यात्मिक आवश्यकताए पूर्ण करने में समर्थ हैं[1]। सातवी शताब्दी में भारत मे आने वाले चीनी यात्री इ-त्सिग ने इसी प्रकार की प्रवृत्तियो का उल्लेख महायान के सबध में किया है[2]। हम आगे हीनयान-महायान के भेद की विस्तृत समीक्षा करते हुए इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेगे। यहा दार्शनिक दृष्टि से अभी केवल इतना कह दें कि महायान बौद्ध धर्म के दो दार्शनिक सम्प्रदाय है, विज्ञानवाद (अथवा योगाचार) और शून्यवाद (अथवा माध्यमिक)। इनकी अलग-अलग आचार्यों, साहित्य और सिद्धातो की परम्पराए हैं, जिनपर हम अलग इसी प्रकरण मे विचार करेंगे। इसी प्रकार हीनयानियो के भी दो दार्शनिक सम्प्रदाय है, सौत्रान्तिक और वैभाषिक (जिन दोनो का अन्तर्भाव भगवान् शकर ने ठीक रूप से ही 'सर्वास्तित्ववादियो' मे कर दिया है)। इनकी भी

---

(१) देखिये सुजुकी. आउटलाइन्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ६२-६५
(२) देखिए आचार्य ताकाकुसु 'इ-त्सिग', पृष्ठ १५

अलग-अलग आचार्यों, साहित्य और सिद्धातो की परम्पराए है, जिनपर हम वाद में आयेंगे। अभी हम ऐतिहासिक विकास मे आगे वढें।

उपर्युक्त चार वौद्ध सम्प्रदायो के उद्भव और विकास के परिणामस्वरूप भारतीय दर्शन के इतिहास में एक नए युग का प्रवर्तन हुआ। वौद्ध आचार्यों के वैदिक परम्परा के आचार्यों के साथ महान् वाद विवाद होने लगे। वौद्धो की तरफ से वैसे चारो सम्प्रदायो ने, किन्तु विशेषत विज्ञानवाद और शून्यवाद के आचार्यों ने, दर्शन के महत्वपूर्ण प्रश्नो को लेकर श्रौतपरम्परा के विचारको से विचार-विनिमय किए जिनके परिणामस्वरूप चौथी, पांचवी और छठवी शताब्दयो में भारतीय दार्शनिक मण्डल अनेक मानसिक क्रियाओ से व्याप्त रहा। इस सव पर हम विस्तार से अभी विचार करेंगे। हमें अभी कुछ और आगे वढना चाहिए। आठवीं शताब्दी तक आते-आते वौद्ध-विचार अपनी मौलिकता को खो वैठता है। वह मन्त्रो, धारणियो और योगिनियो का शिकार हो जाता है। तान्त्रिकता का उसमें अदम्य समावेश हो जाता है। यही महायान वौद्धधर्म तात्रिक रूप धारण कर लेता है, मध्यमा प्रतिपदा का कही नाम भी नही सुनाई पडता। आटानाटियसुत्त (दीघ० ३।९) में जिन प्रवृत्तियो का वीज हम स्वय स्थविरो के द्वारा वोया हुआ पाते हैं उसी का अदृष्ट परिणाम वाद में हमें अलौकिक चमत्कारवाद की उन प्रवृत्तियो में मिलता है जो वौद्ध धर्म के पवित्र मन्दिर में प्रवेश कर गई और जिन्होने उसके मौलिक लोककल्याणकारी स्वरूप को लोक-कल्याण की भावना के विलकुल विपरीत वना दिया। अलौकिक वुद्ध की कल्पना के साथ-साथ अन्य अनेक देवी-देवता भी आ धमके। वैपुल्यवादी और वाद में महायान धर्म के आचार्य भी वुद्ध की ऐतिहासिकता का कुछ निषेध तो पहले ही कर चुके थे, अव उसे पूर्ण स्वरूप दे दिया गया। वडे लम्वे सूत्रो और फिर मन्त्रो की रचना होने लगी। यही वौद्ध धर्म का मन्त्रात्मक स्वरूप था जिसे 'मन्त्रयान काल' कहा जा सकता है और इसका विकास-क्रम महापडित राहुल साकृत्यायन के मतानुसार इस प्रकार है[1]।

सूत्ररूप में मन्त्र—ई० पू० ४००—१०० ई० पूर्व
धारणी मन्त्र— ई० पू० १००—४००ई०

---

(१) पुरातत्व निवन्धावली में 'वज्रयान और चौरासी सिद्ध' शीर्षक निवन्ध, पृष्ठ १३७

यन्त्र-मन्त्र— ई० ४००—७००

इसी समय अविलोकितेश्वर और अन्य बोद्धिसत्वो के नाम पर भैरवीचक्र का निर्माण और स्त्री-सम्भोग का प्रारम्भ भी बौद्ध धर्म में हुआ। साराश यह है कि मन्त्र, हठयोग और मैथुन ये तीनो ही तत्व बौद्ध धर्म में इस समय प्रतिष्ठित होगए। यही 'मन्त्रयान' बौद्ध धर्म था (यदि इसके साथ हम कभी भी 'बौद्ध' या उसी अर्थ में 'यान' शब्द का व्यवहार कर सकें।) इस मन्त्रयान में भी हम दो प्रवृत्तियाँ देख सकते है (१) मन्त्रयान (नरम) ई० ४०० से ७०० तक तथा (२) वज्रयान (गरम) ई० ८०० स १२०० तक[१]। इन दोनो कालो में तथाकथित बौद्ध धर्म की प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर रूप से लोक के लिए अनिष्टकारी होती गई। सिद्ध नागार्जुन को भी वज्रयान के साथ अक्सर जोडा जाता है, परन्तु महापडित राहुल साकृत्यायन का विचार है कि सम्भवत. ऐसा हम नही कर सकते[२]। नागार्जुन की शिक्षाओ में मन्त्रो का कुछ अश अवश्य था, किन्तु वज्रयान की मुख्य प्रवृत्तियाँ तो यन्त्र, मद्य, हठयोग और स्त्री ये चार ही थी जो नागार्जुन का मन्तव्य कभी नही हो सकती थी। वज्रयान ने निश्चय ही बौद्ध धर्म के स्वरूप को विकृत कर दिया और आश्चर्य और दु ख तो यह कि उसे ये अपने साहित्य में भी रखना नही भूले[३]। बुद्धो (और एक ही बुद्ध का नही, सब भूत, वर्तमान और भविष्यत् के बुद्धो—जगे हुए लोगो) का परम शाश्वत उपदेश इन वाममार्गियो ने निश्चित किया—प्राणियो का मारना, झूठ बोलना, चोरी करना, पराई स्त्रियो का सेवन करना आदि। 'प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्य च मृषा वच । अदत्त च त्वया ग्राह्य सेवन योषितामपि . एषो हि सर्वबुद्धाना समय परमशाश्वत[४] ।' इस प्रकार हमने बौद्ध धर्म(?) के भारत में अन्तिम परिणामस्वरूप घोर तान्त्रिक मत वज्रयान के कुछ दर्शन किए। तथागत का विशुद्ध नैतिकवाद

---

(१) देखिए पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३९

(२) देखिए पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १४१

(३) वज्रयान-सम्प्रदाय के साहित्य के लिए देखिए, पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १४२-१४३

(४) गुह्यसमाज तन्त्र (गायकवाड़-ओरियन्टल-सीरीज-बडौदा से प्रकाशित) पुरातत्व निबन्धावली में पृष्ठ १४३-१४४ पद सकेत १ में उद्धृत।

महायान धर्म का स्वरूप ग्रहण करता हुआ मन्त्रयान मे से गुजरकर अन्त में वज्रयान के रूप में सामने आया। यह वज्रयान ही भारत में बौद्धधर्म के प्रति अश्रद्धा का प्रधान कारण हुआ, यद्यपि बौद्ध धर्म के आर्य सनातन धर्म में नाम-रूप खोकर विलीन होने के बीज तो उसी समय बोये जा चुके थे जब महायान धर्म का उदय हुआ था और भगवान् बुद्ध को कुछ-कुछ अवतार का स्वरूप प्रदान कर दिया गया था। शकर ने एक जगह कहा है कि मन जब एक बार आदर्श से गिर जाता है तो सीढियो पर से गिरी हुई गेंद के समान वह निरन्तर पतन को ही प्राप्त होता जाता है। माहायानिक आचार्य एक बार भक्ति और मन्त्र का समावेश तथागत के नैतिकवाद में कर उसके निश्चित परिणामो से उसे बचा नही सकते थे। सम्भवत. यह महायान धर्म के महत्व और मूल्य का ठीक अकन न हो। किन्तु इसके विषय में तो अभी बाद में। भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के उपसहार में स्वय बुद्ध पर भी लोक के विद्वेषी और अकल्याण-कर्त्ता होने का आरोप लगाया है। उसे यदि मनीषी पाठक उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर पढेंगे तो वे सम्भवत. आचार्य शकर को उनके अज्ञान के लिये अधिक दोष न दे सकेंगे। आठवी शताब्दी में उत्पन्न होनेवाले शङ्कर (जिन्हें सम्भवत पालि त्रिपिटक उपलब्ध नही था) अपनी आँखो के सम्मुख बौद्ध धर्म के नाम से कहे जानेवाले उस घोर वज्रयान रूप को प्रत्यक्ष देख रहे थे जिसकी घोर अकल्याणकर प्रवृत्तियो का कुछ प्रदर्शन हम ऊपर कर चुके है। वस्तुत बौद्ध धर्म इस समय भारत में अपने मौलिक सन्देश को खो चुका था और अपने शास्ता के मार्ग से भ्रष्ट होकर वह स्वत अपनी मौत मर गया। इस बात पर हम बौद्ध दर्शन के शाङ्कर वेदान्त के साथ सम्बन्ध को प्रख्यापन करने के समय बाद में आयेंगे। इस प्रकार वज्रयान के विनाश के साथ-ही-साथ बौद्ध धर्म भी अत्यन्त स्वाभाविक तौर पर अपने पृथक् नाम-रूप को छोडकर उसी आर्य सनातन धर्म रूपी महासमुद्र में मिल गया जिससे कि वह निकला था। किन्तु यह बौद्ध धर्म के विकास और प्रसार की पूरी कहानी नही है। भारत से इतर देशो में भी बौद्ध धर्म गया और यद्यपि उसका निदर्शन हमारा यहाँ विषय नहीं है, किन्तु उसकी प्रतिच्छाया को न देखना बौद्ध धर्म की देन को पूरी तरह से उसका वास्तविक महत्व न देना होगा। अत अत्यन्त सक्षिप्त रूप से उसमें हम प्रवृत्त होते है।

विदेश में भी बौद्ध धर्म और दर्शन के गमन की संक्षिप्त कथा

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय मुख्यत मध्य-देश में (मज्झिमेसु पदेसु) बुद्ध-धर्म का प्रचार था। मज्झिम-जनपद की सीमाए पूर्व में कजगला निगम तक, दक्षिण-पूर्व में सललवती नदी तक, दक्षिण में सेतकण्णिक निगम तक, पश्चिम में थूण ब्राह्मण-ग्राम तक और उत्तर में उशीर पर्वत तक थी। बाद में दिव्यावदान मे पूर्वी सीमा कजगला के बजाय पुण्ड्रवर्धन कर दी गई है जो उत्तरी बंगाल में एक स्थान से मिलाया गया है। साधारणत. हम कह सकते हैं कि बुद्ध-निर्वाण के समय उत्तर में श्रावस्ती से लेकर दक्षिण में अवन्ती तक और पश्चिम में थूण ब्राह्मण-ग्राम से लेकर पूर्व में राजगृह तक, बुद्ध-धर्म का प्रचार था। कजगला, चम्पा, राजगृह, गया, वाराणसी, नालन्दा, पाटलिपुत्र, वैशाली, श्रावस्ती, कौशाम्बी, सकाश्य, उज्जयिनी, अवन्ती, मधुरा, वेरजा आदि नगरो में बुद्ध-धर्म का बहुत प्रचार था और लिच्छवि, वज्जि, विदेह, मल्ल, भग्ग और कोलिय आदि अनेक जातियो के लोग उसके अनुयायी थे। उत्तर के मद्दरट्ठ (मद्रराष्ट्र) के भी कुछ बुद्ध-अनुयायी शिष्य थे और इसी प्रकार कुरु-प्रदेश के दो ब्राह्मण ग्रामो के भी। पतिट्ठान जैसे दक्षिणी नगरो के भी कुछ लोग बुद्ध-अनुयायी थे। गोदावरी के तट तक भी बुद्ध का कीर्ति-शब्द पहुच चुका था और उस समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण बावरि बुद्ध से प्रभावित हुआ था और अपने शिष्यो के सहित उसने बुद्ध-शरणागति प्राप्त की थी। इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक बिहार, उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश में बुद्ध-निर्वाण के समय बुद्ध-धर्म विद्यमान था, यद्यपि काफी मनुष्य नाना दूरवर्ती जनपदो से भी बुद्ध के पास दर्शनार्थ आते थे और उनके शिष्य भी बन जाते थे। चकि ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध के विषय में कहा था, "श्रमण गौतम को देश के बाहर से, राष्ट्र के बाहर से भी, लोग पूछने आते हैं"।[1] इसी प्रकार रोहिणी ने अपने पिता से बौद्ध भिक्षुओ की प्रशसा करते हुए कहा था कि स्मृतिमान् भिक्षु दूर-दूर तक उपदेश के लिये जाते है[2]। इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि बुद्ध की ख्याति बाहर जाने लगी थी, परन्तु उनके धर्म

---

(१) चकि सुत्तन्त (मज्झिम २।५।५)

(२) दूरगता सतिमन्तो। थेरीगाथा २८१

का प्रचार विशेषत. मध्य-देश मे ही था। गन्धार और तक्षशिला का वर्णन तो पालि निकायो में है, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार की दृष्टि से उनका उल्लेख नही किया गया है। राजा बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त वेणुवन-विहार, श्रावस्ती में विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम विहार, कौशाम्बी का घोषिताराम और अनाथपिण्डिक द्वारा श्रावस्ती में प्रभूत धन व्यय कर बनवाया हुआ जेतवनाराम बुद्ध-धर्म के प्रचार के केन्द्र बन गये थे। अन्य कई विहार भी, जिनमें एक भिक्षुणी-विहार भी था, भगवान् बुद्ध के जीवन-काल मे ही बन गये थे।

भारत के अन्य सूदूर भागो और विदेशो में बौद्ध धर्म के प्रचार का व्यापक कार्य प्रियदर्शी राजा अशोक ने बद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद किया। पाटलिपुत्र में हुई तृतीय सगीति के बाद बौद्धधर्म के प्रचारक न केवल अशोक के विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तो में ही बल्कि सीमान्त देशो में बसनेवाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियो मे और केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यो में भी धर्म प्रचारार्थ भेजे गए। स्वय अशोक के पुत्र और पुत्री महेन्द्र और सघमित्रा लका में धर्मप्रचारार्थ गये। दीपवस, महावस और समन्तपासादिका मे उन भिक्षुओ की नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न-भिन्न देशो में धर्म-प्रचारार्थ भेजा गया था[१]। इतना ही नहीं अशोक ने अपने धर्म प्रचारक अपने समकालिक सिरिया-बैक्ट्रिया, मिश्र, मेसिडोनिया, सिरीन और एपीरस, इन पाँच यूनानी शासको के पास भी भेजे थे। उसके द्वितीय शिलालेख में इन राजाओ के नामो का उल्लेख है।[२] स्थविर महेन्द्र और सघमित्रा के प्रयत्न से सद्धर्म लका में सुप्रतिष्ठित हो गया और तब से वह आज तक प्राय: उसी प्रकार चलता आ रहा है। लका से बौद्ध धर्म बरमा में गया जहाँ स्थविर सोण और उत्तर नामक दो भिक्षुओ ने उसका प्रचार किया। ये दोनो भिक्षु तृतीय सगीति के बाद सुवर्ण-भूमि (दक्षिणी बर्मा) में धर्म-प्रचारार्थ भेजे गये थे। तब से बरमा

---

(१) इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये भरतसिंह उपाध्याय. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८८-८९

(२) विस्तृत विवरण के लिये देखिये भरतसिंह उपाध्याय · पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८९

में बौद्ध धर्म प्राय राष्ट्रीय धर्म के रूप में आज तक चला आ रहा है और सद्धर्म के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन में बरमी लोग किसी अन्य देश से पीछे नहीं है। मध्य-बरमा की १६ वर्गमील भूमि केवल पेगोडाओ से भरी पडी है, इससे बडा साक्ष्य वहा बौद्ध धर्म की समृद्धि का और क्या होगा। लका और बरमा मे सदा धर्म-सम्बन्ध बना रहा और एक दूसरे से सकट-काल मे प्रेरणा और आश्वासन ये दोनो देश ग्रहण करते रहे हैं। इन दोनो देशो में बौद्ध धर्म का वही रूप प्रचलित है जिसे स्थविरवाद कहते ह, यद्यपि बरमा में कुछ प्रचार सस्कृत बौद्ध धर्म का भी रहा है। सम्राट अशोक के ही समय में स्थविरवाद बौद्ध धर्म का प्रवेश स्याम मे हो गया था जहाँ स्थविर सोण और उत्तर ने ही उसका प्रचार किया था। तब से लगातार स्याम की जनता बौद्ध धर्म की अनुयायिनी रही है और उसका राष्ट्रीय धर्म बौद्ध धर्म ही है। स्याम के विधान के अनुसार वहाँ का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी ही हो सकता है। स्याम के इतिहास के सुखोदय-काल में बौद्धधर्म की वहा अत्यधिक उन्नति हुई और नागोर श्री धर्मराज नामक स्थान बौद्ध धर्म का प्रचार केन्द्र बन गया। अयोध्या-काल के अनेक राजा भी प्रसिद्ध बुद्ध-भक्त हुए, जिनके विस्तार मे जाना यहाँ ठीक न होगा। राजा त्रैलोक्य-नाथ (१५वी शताब्दी) तो बौद्ध धर्म के प्रचार मे अत्यधिक रुचि रखते थे और स्वय भावुक कवि भी थे। आज भी स्याम मे बौद्ध धर्म एक जीवन्त धर्म के रूप में है जिस प्रकार लका और बरमा में। भारत-चीन (हिन्द-चीन) में बौद्धधर्म का प्रचार प्राय लका, बरमा और स्याम के साथ ही हुआ। आज वहा स्थविरवाद और महायान दोनो ही रूपो मे बौद्ध धर्म विद्यमान है। कम्बोदिया और लाओस के निवासी अधिकनर स्थविरवाद बौद्ध धर्म को मानने वाले है जबकि अन्नामी लोग बौद्ध धर्म के महायानी रूप को मानते है। अन्नाम का प्राचीन नाम चम्पा था और उन्नीसवी शताब्दी तक उसका यही नाम रहा। भारतीय नगर चम्पा (भागलपुर के समीप चम्पापुर और चम्पानगर) की स्मृति में इस नगर का नामकरण भारतीयो ने किया था। यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था। इस चम्पा (अन्नाम) की भूमि मे बौद्ध और शैव साधनाओं का समन्वय साधन शिव और बुद्ध का एक सयुक्त मन्दिर बनवाकर नवी शताब्दी ईसवी में किया गया था, जिस पर खुदा हुआ समर्पण वाक्य था 'जिन शकरयो'। नवी शताब्दी के बाद महायान का प्रभाव अन्नाम प्रान्त में बढने लगा था। लोकेश्वर बोधिसत्व की अनेक

मूर्तिया यहा मिली हैं। तेरहवी शताब्दी का एक भग्न अभिलेख यहा मिला है जिसके आदि में लिखा हुआ है, 'ओम् नमो वुद्धाय'। अन्नाम के उत्तरी भाग की गुफाओ मे वुद्ध, लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की अनेक प्रतिमाए मिली हैं। इन्दोनेशिया के प्राचीन द्वीप समूहो में भी वौद्धधर्म का प्रचार था, जिसके साक्ष्य स्वरूप सैकडो भग्न स्तूप, शिलालेख आदि वहा प्राप्त हैं। 'जजुर्वेद वुद्धस्तुति' नामक ग्रन्थ जो वाली द्वीप मे मिला है, हिन्दू धर्म और वौद्ध धर्म के सम्मिश्रण का साक्ष्य देता है। 'वुद्धवेद' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ वाली में पाया गया है, जो वैदिक और वौद्ध धर्म के सम्मिलन की सूचना देता है। डा० सिलवा लेवी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। मलाया में वौद्धधर्म का प्रचार कव हुआ, यह अभी तक निश्चयपूर्वक निर्णीत नही हो सका है। परन्तु सम्भव है अशोक के काल मे ही यहा वुद्ध-धर्म का सवाद पहुचा हो। आज वहा कई प्रसिद्ध सघाराम हैं और वौद्ध जनता की सख्या काफी है।

वौद्ध धर्म के प्रचार की दो धाराए भारत से अशोक के काल मे चली थी। एक लका, स्याम, वरमा, जावा, सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो में समुद्री मार्ग से गई और दूसरी हिन्दुकुश और हिमालय को पार कर मध्य एशिया, तिव्वत, चीन, कोरिया और जापान आदि में गई। 'महावस' के वर्णनानुसार अशोक के समय में वौद्ध धर्म काश्मीर, गन्धार, महिषमण्डल, वनवासी, योन, महारट्ठ, हिमवन्त-प्रदेश, स्वर्णभूमि (वर्मा) और लका द्वीप मे फैल गया था। इतना ही नही, अशोक के द्वारा भेजे गए दूत सारी पश्चिमी एशिया में भी फैल गये। इस ओर के उनके कार्य को आगे चलकर सम्राट् कनिष्क ने आगे वढाया और उन्ही को इसमें अधिक सफलता भी मिली। 'महावस' और 'सासनवस' मे हमें भारत में वौद्ध धर्म की प्रगति के सम्वन्ध मे अशोक के कुछ काल वाद तक की सूचना मिलती है और उसके वाद इन ग्रन्थो का उद्देश्य लका में वौद्ध धर्म के इतिहास का वर्णन करना हो जाता है। पालि का 'वस' साहित्य प्राय समग्ररूप से लका में वौद्ध धर्म के इतिहास से सम्वन्धित है। अशोक के वाद हम ईसवी शताब्दी के लगभग भदन्त नागसेन को ग्रीक राजा मेनान्डर (मिलिन्द) को वौद्ध धर्म मे दीक्षित करते देखते हैं।

सर्वास्तिवादी परम्परा के अनुसार लामा तारानाथ ने हमे वताया है कि अशोक के गुरु उपगुप्त (जिन्हें स्मिथ ने मोग्गलिपुत्त तिस्स से मिलाया

है) ने मथुरा में धर्म-प्रचार किया था तथा मध्यन्तिक नामक भिक्षु ने काश्मीर में। सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के दो प्रधान केन्द्र मथुरा और काश्मीर में थे। उपगुप्त के शिष्य दीधिक ने, जिनकी उपसम्पदा मथुरा में हुई थी, तुखार देश के राजा मीनार और उसके पुत्र इम्हास को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। उनके समय के अन्य अनेक भिक्षु काश्मीर से तुखार देश में गये और उन्होने वहा बौद्ध धर्म का प्रचार किया। दीधिक ने तुखार देश में धर्म-प्रचार कर कामरूप की ओर गमन किया और वहा भी धर्म-प्रचार किया। उसके बाद उन्होने मालवा में आकर धर्म-प्रचार किया और अपने जन्मस्थान उज्जयिनी में कुछ दिन वे रहे। दीधिक के शिष्य कृष्ण या काल नामक भिक्षु थे और उनके शिष्य थे भरुकच्छ के सुदर्शन नामक भिक्षु। इन दोनो भिक्षुओ ने भी काश्मीर में धर्म-प्रचार का कार्य किया। कृष्ण ने दक्षिण-भारत, लका और महाचीन में भी धर्म-प्रचार किया। द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में, जैसा हम पहले देख चुके है, आन्ध्र देश के श्रीपर्वत और धान्यकटक स्थान महासाघिको के प्रधान केन्द्र थे। महासघिक विनय के चीनी सस्करण से हमें सूचना मिलती है कि महासाघिको का एक प्रधान केन्द्र वैशाली भी था और इन महासाघिको ने ही सर्व प्रथम अफगानिस्तान में भी धर्म-प्रचार किया था और दक्षिण-भारत में भी। बाद में प्रभावशाली आचार्य नागार्जुन भी द्वितीय शताब्दी ईसवी में श्रीपर्वत पर रहे थे। यहा अभी हाल में एक प्राचीन शिलालेख पाया गया है जिसमें कहा गया है कि इस स्थान पर कुछ उपासको ने गन्धार, चीन, अपरान्त, वग, वनवासी और ताम्रपर्णी द्वीप से आने वाले यात्रियो की सुविधा के लिये चैत्य और विहार बनवाये थे और कुए खुदवाये थे।[1]

महाराज कनिष्क ने ईसवी सन् के करीब जालन्धर मे बौद्ध भिक्षुओ की एक सगीति बुलाई जिसमें लामा तारानाथ के वर्णनानुसार ५०० बोधिसत्वो ने भाग लिया। इस सभा के परिणामस्वरूप तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, अफगानिस्तान और मध्य-एशिया में धर्म प्रचार के कार्य की अत्यधिक प्रगति हुई और यहा बौद्ध धर्म ने अपने पैर जमा लिये।

सर्वास्तिवाद का विशेष प्रचार तिब्बत में हुआ। छठी शताब्दी से लेकर आज तक तिब्बत में बौद्ध धर्म का क्रमिक इतिहास है और सस्कृत बौद्ध

---

(१) देखिये नलिनाक्ष दत्त: एस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २३

धर्म के अनुवादो की जो विशाल सामग्री तिब्बत में भरी पडी है वह अननुमेय है। नालन्दा के आचार्य शान्त रक्षित (आठवी शताब्दी, और विक्रमशिला महाविहार के आचार्य दीपंकर श्री ज्ञान (ग्यारहवीं शताब्दी) ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रशसनीय कार्य किया। तिब्बती अनुवादो में विशाल बौद्ध सस्कृत साहित्य की जो सम्पदा बिखरी पडी है, उसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने सहस्र भिक्षुओ ने कितनी शताब्दियो के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप यह कार्य शाक्यमुनि के उपदेशो के प्रचारार्थ सम्पादन किया होगा। इसी प्रकार चीन में जिस गौरवपूर्ण ढग से बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया उसी का यह परिणाम था कि यूआन्-चुआङ् (६२९–६४५ ई०), इ-चिङ् (६७१–६९५ ई०) और बीसियो अन्य चीनी मनीषियों की ज्ञान-पिपासा और बुद्ध की जन्मभूमि को देखने की उनकी लालसा ने उन्हें सैकडो मील लम्बे दुर्गम रेगिस्तानो, पर्वत-उपत्यकाओ और समुद्रो को पार करने के लिये विवश किया। जितना परिश्रम शाक्यमुनि ने ज्ञान-प्राप्ति के लिये किया था, उससे कम परिश्रम चीनी यात्री युआङ्-चुआङ् ने बुद्ध द्वारा प्राप्त ज्ञान को जानने के लिये नही किया था। इस श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिये बौद्ध भिक्षुओं को कितने महान् ब्रह्मचर्य, कितने महान् ज्ञान और कितनी महती साधना की आवश्यकता पडी होगी, इसे आज कौन बता सकता है। केवल चीन, तिब्बत, जापान और कोरिया के इतिहास इसके प्रमाण है। कुमारजीव (चौथी-पाचवी शताब्दी ईसवी) जैसा चीनी भाषाविद् मर्मज्ञ अनुवादक बौद्धधर्म ने उत्पन्न किया, जिसकी महिमा आज भी चीनी भाषा और साहित्य के इतिहास में सुरक्षित है। कुमारजीव के समान ही मालवा के भिक्षु परमार्थ (छठी शताब्दी) का नाम है जिन्होने सस्कृत के विशाल साहित्य के चीनी अनुवाद में सहायता दी। इनके अतिरिक्त बुद्धभद्र, बुद्धयशस्, धर्मरक्ष, गुणवर्मा, गुणभद्र, सघपाल, बोधिरुचि, परमार्थ आदि सैकडो आचार्यों के नाम गिनाये जा सकते है, जिन्होने धर्म-प्रचार के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग कर चीन में शाक्यमुनि के शासन को प्रतिष्ठित किया। हरिवर्मा (तृतीय शताब्दी ईसवी) ने, जो मध्यभारत के निवासी थे, चीन में 'सत्यसिद्धि' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की जो 'हीनयान' और महायान में मध्यस्थता करता है। दक्षिण भारत के महान् साधक भिक्षु बोधिधर्म (छठी शताब्दी) को भी तो नही भूलना होगा जिन्होने बिना किसी एक पुस्तक को भी छुए, बिना किसी को कभी कोई मौखिक उपदेश दिये, चीन,

कोरिया और जापान में उस विशाल प्रभावशाली सावनात्मक आदोलन को जन्म दिया जो आज भी वहा करोडो साधक-साधिकाओ के लिये आश्वासन बना हुआ है। उन्होने ज़ैन (ध्यान) बौद्ध धर्म की स्थापना चीन में की, जहा से यह साधनात्मक सम्प्रदाय कोरिया मे गया और वहा से जापान में, जहा वह आज भी जीवित रूप में विद्यमान है।

चीन से बौद्ध धर्म कोरिया में गया और कोरिया से जापान में। जापान में छठी शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में बौद्ध धर्म के साथ ही सभ्यता का प्रवेश हुआ। थोडे ही समय में उसने जनता के हृदय में जडे जमाली और वह जापान का राजधर्म हो गया। ५०० ई० से ८००ई० तक का समय जापान में बौद्धधर्म के स्थापित होने का समय है। सन् ८०० ई० से लेकर १००० ई० तक बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदायो की वहा उत्पत्ति हुई। बारहवी शताब्दी तक मुख्य चार बौद्ध सम्प्रदाय जापान में उत्पन्न हो चुके थे, (१) शिङ्गोन् सम्प्रदाय, जो गुह्य मन्त्रवादी सम्प्रदाय था। (२) जोदो सम्प्रदाय या सुखावती सम्प्रदाय, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं (३) रिश्शु सम्प्रदाय, जो विनयवादी सम्प्रदाय था (४) ज़ैन सम्प्रदाय, जिसका उल्लेख हम अभी चीन में बौद्ध धर्म के प्रसग में कर चुके है। यह ध्यानवादी सम्प्रदाय था जिसके उद्भावक भारतीय साधक भिक्षु बोधिधर्म थे। उसके बाद अनेक सम्प्रदायो का आविर्भाव होता रहा है। आज अनेक सम्प्रदाय जापान में विद्यमान हैं और उनके द्वारा शिक्षा की प्रगति में काफी योग मिला है। आज जोदो सम्प्रदाय के अनुयायियो के मुख से 'नम· अमित बुद्धाय' (नमो अमिता बुत्सु), निचिरेन् सम्प्रदाय वालो के मुख से 'नम· सद्धर्म पुण्डरीकाय' (नमु हो रेंगे क्यो) सुनकर भारतवासी कुछ गौरवान्वित अपने को अनुभव कर सकते है। 'सो प्रभाउ केहि केरे।'

बौद्ध धर्म के प्रचारको ने जो महनीय कार्य इस दिशा में किया उसे देखकर कल्पना आज भी स्थगित रह जाती है। अफगानिस्तान, ईरान, मिश्र, कोई देश उनके कार्य से अछूता न रहा था। मुस्लिम यात्री अलबेरुनी ने लिखा है, "पूर्वकाल में खुरासान, परसीस, ईराक, मोसल एव सिरिया की सीमा तक फैले हुए प्रदेश बौद्ध थे ... बाद में इस्लाम आया।"[१] पर्शिया (पो-लि-स्सु) के विषय में सातवी शताब्दी के चीनी धर्म-यात्री युआन्-चुआङ् ने लिखा है कि वहा उस समय दस से अधिक सघाराम थे जहा पाच सौ से अधिक

(१) सचाऊ एलबेरुनीज इन्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ २१

भिक्षु हीनयान के सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय के सूत्रो का अध्ययन करते थे[1]। लङ्-की-लो अथवा लङ्-क-लो नामक प्रदेश के बारे में, जो पर्शिया के अधीन था, वह लिखता है कि वहा १०० बौद्ध विहार थे, जिनमें ६००० से अधिक भिक्षु हीनयान और महायान के अनुसार अपने धर्म-ग्रन्थो का पाठ करते थे।[2] अफगानिस्तान की बामियान घाटी की दो विशाल-काय बुद्ध-मूर्तिया जिनमें एक ११५ फुट और दूसरी १७५ फुट ऊँची है, आज भी स्मृति दिला रही है कि वहा कभी बौद्ध साधको ने ध्यान किया था। इसी प्रकार गोबी के उस महान् तुङ्ग-हूआन् बौद्ध मठ के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, चीनी तुर्किस्तान और कूचा के बौद्ध साधना-केन्द्रो के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, पश्चिमी एशिया में गये भिक्षुओ के द्वारा जिस प्रकार एस्ने लोगो के माध्यम द्वारा प्रारम्भिक ईसाई धर्म की साधना को प्रभावित किया, उसकी क्या चर्चा की जाय, जिस प्रकार बोधिसत्व ग्रीक रोमन चर्च में सन्त 'जोसफत' बन गये, उसका क्या विवरण दिया जाय, जातको के यूरोपीय साहित्य पर प्रभाव की क्या समीक्षा की जाय, यह तो एक अनन्त कहानी है, एक पूरा इतिहास है। अन्य देशो के विषय मे तो कहना क्या, माइक्रोनेसिया में स्थित लार्डनार्थ के द्वीप तक भिक्षु शाक्यमुनि का सन्देश लेकर पहुचे थे।[3] कितना महान् था विश्व को बुद्ध-सन्देश को सुनाने का यह उद्योग जिसे आप्तकाम, अनागार, अकिंचन भिक्षुओ ने केवल विश्व-हित के लिये न कि अपने या अपने देश के किसी स्थूल या सूक्ष्म स्वार्थ के लिये किया!

२—महायान का धार्मिक स्वरूप और हीनयान और महायान का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक सम्बंध

महायान के विकास का संक्षिप्त सिंहावलोकन

महायान बौद्ध धर्म का विकसित स्वरूप है, यह हम पहले देख चुके हैं। शताब्दियो में उसका स्वरूप परिनिष्पन्न हुआ। काल और स्थान की विशाल विभिन्नताओ को लिये हुए नाना युगो और देशो की साधनाए महायान के रूप में एकत्र हुई है जिनको एकरूपता में बाधना अक्सर सम्भव नही होता। उसकी साहित्य-सम्पत्ति

(१) वाटर्स : आन युआन्-चुआङ, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २८५

(२) वही पृष्ठ २५७

(३) जर्नल आँव दि ओरियन्टल सोसायटी, जिल्द पाचवी, पृष्ठ १९४

इतनी विशाल है, इतने युगो और देशो में बिखरी हुई है कि उसका पूर्ण अध्ययन अभी तक किसी विद्वान् के द्वारा सम्भव नही हो सका है। चीन, तिब्बत, कोरिया, और जापान की भाषाओ में जो विशाल ग्रन्थ सम्पत्ति अनुवादो और मौलिक ग्रन्थो के रूप मे पडी हुई है उसके शताश का भी सम्पादन, अनुवाद आदि अभी तक नही हो पाया है। यही कारण है कि महायान के इतिहास का अध्ययन अभी तक पूर्णरूप में सम्भव नही हो सका है। जहा तक भारत का सम्बन्ध है, हमने पहले देखा है कि ३५० ई० पूर्व से लेकर १०० ई० पूर्व के युग मे बौद्ध सघ अनेक भागो में बँट गया था और इस युग की सबसे प्रधान आवश्यकता यह थी कि बुद्ध की शिक्षाओ की किस प्रकार ऐसी नई व्याख्या की जाय जो युग की परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल हो और जिससे बौद्ध धर्म के प्रचार को एक नया जीवन मिले। विदेशो में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरम्भ हो गया था और नई सस्कृतियो, नई भाषाओ और नई विचार-दृष्टियो के लोगो ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उनकी अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ थी। जिस धर्म को उन्होने स्वीकार किया था, उसे वे अपनी प्रवृत्ति और जलवायु के अनुसार अपनाना चाहते थे, अपनी सस्कृति के प्रकाश में उस पर अभ्यास करना चाहते थे, तभी वह पूरी तरह उनके जीवन मे घुल-मिल सकता था। हम जानते हैं कि बौद्ध धर्म के मौलिक रूप ने चीन और जापान की जनता को पहले आकृष्ट नही किया था। बाद में महायानी रूप में वह उन्हें पसन्द आया। अत. यह असदिग्ध है कि नये देशो में प्रचार की आवश्यकता ने भी महायान बौद्ध धर्म के स्वरूप-निर्णय में काफी योग दिया। इस युग में हीनयानी और महायानी प्रवृत्तियो का हमें प्राय मिश्रित रूप दिखाई पडता है। १०० ई० पूर्व से लेकर ३०० ईसवी तक महायान की प्रवृत्तिया स्पष्ट रूप में प्रकाश में आती है और सातवी शताब्दी तक उनका निर्बाध विकास होता है जिसके बाद महायान का प्रवेश भारत में तान्त्रिक बौद्ध धर्म मे हो जाता है। इस प्रकार भा[illegible] धर्म [illegible] महायानी रूप के विकास की यह सक्षिप्त

[illegible]

और हीनयान से उसके भेद और अभेद [illegible] पर विचार करें जिन्होने महायान अधिगति [illegible] करने पर हमारे

महायान के विकास में कारणभूत परिस्थितियाँ

लिये महायान की धार्मिक मान्यताओ का समझना आसान हो जायगा और हीनयान के साथ उसके भेद को भी हम उनकी पृष्ठभूमि में अच्छी तरह समझ सकेगे। डा० हरदयाल ने इस विषय पर विस्तृत विचार उपस्थित करते हुए हमें बताया है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के वाद कई शताब्दियो के विचार के विकास के परिणामस्वरूप जो महायान बौद्ध धर्म हमें मिला उसके स्वरूप-निर्माण में ये छ प्रवृत्तिया कार्य कर रही थीं—

(१) बौद्ध सघ के भीतर की प्रवृत्तियो का स्वाभाविक विकास।

(२) भगवद्गीता और शैव सम्प्रदाय का प्रभाव।

(३) पारसी धर्म और सस्कृति का प्रभाव।

(४) ग्रीक कला का प्रभाव।

(५) अर्द्ध-बर्बर जातियो में धर्म-प्रचार की आवश्यकताओ के कारण परिवर्तन।

(६) ईसाई धर्म का प्रभाव।[1]

उपर्युक्त प्रवृत्तियो और युग-जनित आवश्यकताओ ने महायान के स्वरूप निर्माण में योग दिया। डा० हरदयाल ने इन परिस्थितियो पर विस्तार से विचार किया है, अत हमारे लिये इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक न होगा। हमें यही कहना है कि महायान वस्तुत बौद्धधर्म की चिन्ताओ का स्वाभाविक विकास था जिसके स्वरूप-निर्माण में विभिन्न युगो और देशो की परिस्थितियो ने योग दिया। महायान का कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जिसका मूल बीज बौद्ध धर्म के मौलिक रूप में न दिखाया जा सके। महायान ने उनको लेकर युग और देश की परिस्थितियो के अनुसार उनका विकास किया है। युग-धर्म की भाषा में उनकी नई व्याख्या की है। यही तथोक्त हीनयान और महायान में भेद समझना चाहिये। वस्तुत दोनो भगवान् बुद्ध के जीवन और उपदेशो पर आधारित है। कुछ पश्चिमी विद्वानो ने महायान की ईसाई प्रोटेस्टेन्ट धर्म से तुलना की है और हीनयान की केथोलिक धर्म से, जो बिलकुल गलत है। महायान ने मौलिक बौद्धधर्म को गलत नही बताया, उसका विरोध नही

---

(१) देखिये उनका ग्रन्थ दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३०-४९

किया। उसने बुद्ध-वचनो को केवल एक नई श्रेष्ठतर अर्थवत्ता दी, उनकी एक नई सामाजिक व्याख्या की। अत महायान बौद्ध धर्म वस्तुत मौलिक बौद्धधर्म का ही अपना विकास है, यह आधारभूत दृष्टि महायान को समझने में हमें सदा रखनी चाहिये। भगवद्गीता और शैव सम्प्रदाय का बौद्ध धर्म पर क्या पारस्परिक प्रभाव पडा है, इसकी समीक्षा हम अभी करेंगे। ईरान मे बौद्धधर्म का प्रचार हुआ था और ग्रीस में भी। अत· इन दोनो देशो की सस्कृतियो के तत्वो की अभिव्याप्ति महायान में स्वभावत हो गई। तभी वह वहा लोकप्रिय हो सका। डा० हरदयाल का अनुमान है कि पारसी सूर्य-पूजा ने बोधिसत्वो की कल्पना पर अपना प्रभाव डाला है।[1] गान्धार-कला ग्रीक जाति पर बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई। वह ग्रीक प्रतिभा का बुद्ध-धर्म के प्रति अर्घ्यदान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न देशो में बौद्ध धर्म के प्रचार के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म के रूप में स्वल्प परिवर्तन होते गये जिनका सकलित नाम ही महायान है। यहा यह कह देना भी अनावश्यक न होगा कि महायान की अनेक देनो में से एक मूर्तिपूजा भी है जिसे भारतीय धर्म-साधना को उसने दिया है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में मूर्ति-पूजा का विधान न था। साची और भारहुत के स्तूपो में प्रतीको के द्वारा बुद्ध-धर्म की अभिव्यक्ति की गई है। बुद्ध के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मूर्ति के रूप में सर्वप्रथम ग्रीक कला में ही हुई और इससे धर्म-प्रचार के कार्य में काफी सफलता मिली। भारतीय धर्म-साधना में मूर्ति-पूजन का उपयोग सर्वप्रथम बौद्ध धर्म ने ही किया है, ऐसा कुछ विद्वानो का विचार है।[2] तिब्वत, चीन और मध्य-एशिया की तातार जातियो में बौद्धधर्म के प्रचार के कारण बौद्ध धर्म में विशेषत· तान्त्रिक धर्म का समावेश हुआ जो वहा प्रचलित था। तिब्बत,चीन और जापान के स्थानीय देवी-देवताओ ने किस प्रकार धर्म-प्रचार के परिणामस्वरूप बौद्ध परिधान ग्रहण कर लिये, यह देखते ही बनता है। पह्लव, शक, कुषाण, ग्रीक, पार्थियन और सिथियन आदि जातियो के कुछ देवताओ को बोधित्सव का रूप दे दिया गया है। यह महायान की विराट् समन्वय-भावना

---

(१) दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८-३९।

(२) देखिये यदुनाथ सरकार इण्डिया थ्रू दि एजेज में 'दि गिफ्ट्स आव बुद्धिज्म' सम्बन्धी विवरण।

के परिणामस्वरूप ही था। अनेक प्रकार के विश्वास और पूजा-विधान जिनका आदिम बौद्ध धर्म से कुछ सम्बन्ध न था, इस प्रकार बौद्ध धर्म मे प्रवेश पा गये और इन्ही का समन्वित नाम 'महायान' था। इस प्रकार महायान ने शास्ता के उपदेश के मूल रूप मे कुछ परिवर्तन स्वीकार कर और नाना प्रकृतियो और सस्कृतियो के लोगो के लिये उसे सुगम और अनुकूल बनाकर बौद्ध धर्म को वास्तविक अर्थों में एशिया का धर्म और विश्व का धर्म बनाया। इस कार्य में कितने शत-सहस्र धर्म प्रचारको, अनुवादको और विचारको की सेना का सगठन महायान ने किया, इसे देखकर आज भी आश्चर्यान्वित रह जाना पडता है। डा० हरदयाल ने महायान के उत्तरकालिक विकास पर ईसाई धर्म के प्रभाव की भी बात कही है। उन्होने शान्तिदेव (सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी) की भक्ति-भावना पर, जो उनकी दो अद्वितीय रचनाओ 'बोधिचर्यावतार' और 'शिक्षा समुच्चय' में प्रस्फुटित हुई है, ईसाई धर्म के प्रभाव की बात कही है। कोई गम्भीर कारण इस अपनी मान्यता का डा० हरदयाल ने नही दिया है। आश्चर्य होता है कि डा० हरदयाल जैसे विद्वान् ने इस प्रकार का निराधार मत प्रकट किया है। केवल इसीलिये कि शान्तिदेव ने प्रज्ञा के ऊपर करुणा को स्थान दिया है या अन्य भक्ति से भरे उद्गार प्रकट किये है, उन्हे ईसाई धर्म-साधना से प्रभावित नही माना जा सकता। वस्तुत हरदयाल ने कोई निश्चित उद्धरण या अपनी मान्यता के आधारस्वरूप कारण न देकर शान्तिदेव पर 'विदेशी प्रभाव के कुछ चिह्न' होने की बात मात्र कही है[1] जिसके अधिक विवेचन मे पडना अनावश्यक होगा। किस प्रकार बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म का मिलन मध्य-एशिया और असीरिया मे हुआ, इसके अधिक ऐतिहासिक निदर्शन करने की यहा आवश्यकता नही है। पहले हम कुछ इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म के विदेश-गमन के प्रसग में कह चुके है और कुछ अन्यत्र भी[2]। अब हम महायान धर्म की विशेषताओ और साथ ही इस सम्बन्ध मे तथोक्त 'हीनयान' से उसके भेद की समस्या पर आते है।

---

(१) 'Some traces of foreign influence' दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४३
(२) देखिये पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २९४-२९७

महायान को अपने प्रामाण्य का आधार बताना था। यदि महायान बौद्ध धर्म ही है, बुद्धोपदिष्ट धर्म ही है, तो इसमे प्रमाण क्या है? पालि त्रिपिटक का ऐतिहासिक आधार तो मूल बुद्ध धर्म के पास दो सत्यों की कल्पना था। महायान ने नये शास्त्रों की रचना सस्कृत और अर्द्ध-सस्कृत मे की। परन्तु महायानी आचार्यो के सामने भी यह सवाल आया और आज भी हम पूछते हैं, उनका ऐतिहासिक प्रामाण्य क्या है? सम्भवत इसके उत्तर में ही महायानिक आचार्यों ने इतिहास के प्रश्न को ही उडा दिया। उन्होंने कहा बुद्ध तो इस लोक में आये ही नही, उन्होने तो कोई उपदेश दिया ही नही। जिस बुद्ध महापुरुप का वर्णन पालि त्रिपिटक मे है, वह तो वास्तविक बुद्ध का रूप-काय है, निर्माण-क है, निर्मित काया है, मायावी स्वरूप है। रूपकाय बुद्ध नही है। वास्तविक बुद्ध न कही आता है, न जाता है, न जन्म लेता है, न परिनिर्वाण प्राप्त करता है। वह तो साक्षी रूप से स्थित है। वह तो तथता-रूप है, सत्य-रूप है, धर्मरूपी काया वाला है। बुद्ध लोक में आये, यह एक माया थी। इस प्रकार दो सत्य है, एक परमार्थ सत्य और दूसरा, व्यवहार-सत्य या लोकसवृत्ति-सत्य। व्यवहार रूप में ही बुद्ध उत्पन्न हुए और उन्होने उपदेश दिया। परन्तु इस उपदेश का विधान भी दो प्रकार का था। बुद्ध ने अपने 'उपाय-कौशल्य' के द्वारा दो प्रकार की धर्म-देशना की है। एक गुह्य और दूसरी प्रकट। गुह्य धर्म-देशना भगवान् ने अपने कुछ चुने हुए अत्यन्त योग्यतासम्पन्न शिष्यो के प्रति की जिन्हें 'बोधिसत्व' कहा जाता है। इन बोधिसत्वो का मार्ग ही महायान है। बोधिसत्व-यान और महायान दोनो पर्यायवाची शब्द है। वास्तविक बुद्ध-मार्ग महायान ही है। इसीलिये इसे 'बुद्ध-यान या 'तथागत-यान' भी कहा जाता है।

गुह्य और प्रकट दो सत्य भगवान् ने सिखलाये, यह बात कुछ चौंकाने वाली है। विशेषत स्थविरवाद परम्परा से प्रभावित हम आज इस बात को सुनकर कुछ चौंक उठते हैं। पहली बार जब यह बात उठाई गई होगी तो स्थविरवादी मण्डल में कितना गहरा विचार का आन्दोलन उठ खडा हुआ होगा, यह हम आसानी से समझ सकते है। महासगीतिक भिक्षुओ के नव-उद्भावित साहित्य की जो निन्दा स्थविरवादी दृष्टि से की गई थी, उसे हम पहले उद्धृत कर चुके है[1]। उससे हम इसका कुछ अनुमान लगा

(१) देखिये पीछे बौद्ध धर्म के विकास का विवरण।

सकते है। वस्तुत, जैसा हम पहले कह चुके है, महायानी धर्म की नीव उसी समय से पड गई थी।

जहा तक मूल बुद्ध-धर्म का सम्बन्ध है, जैसा कि वह पालि त्रिपिटक मे निहित है, बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दो सत्यो की महायानी कल्पना को अधिक प्रश्रय नही मिलता, यद्यपि यह कहना भी उतना ही ठीक है कि महायानी कल्पना अन्तत मूल बुद्ध-उपदेशो के स्वरूप पर ही आधारित है। यह कैसे? भगवान् बुद्ध के पास कुछ भी गुह्य हो जिसे वे अपने शिष्यो या कुछ शिष्यो से छिपाकर रखते हो, इसका अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे निराकरण भगवान् ने अपने परिनिर्वाण के समय आनन्द से यह कहते हुए कर दिया था "आनन्द! अन्दर और बाहर (का भेद) न करते हुए मैने धर्म का उपदेश किया है। आनन्द! धर्म के सम्बन्ध मे तथागत को आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नही है।" "देसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तरं अबाहिर करित्वा न तत्थ आनन्द तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि"[1] सूर्य और चन्द्र के समान भगवान् बुद्ध का उपदेश सबके लिये सुलभ था। प्रकाशित होना उसका स्वभाव था। छिपाने को भगवान् मिथ्या सिद्धान्तो का एक लक्षण मानते थे। छिपाना स्त्रियो का या कूटनीति का धर्म था। बुद्ध-धर्म में सब कुछ उद्घाटित था, सब कुछ स्पष्ट था, सब कुछ सु-आख्यात था। इस प्रकार बुद्ध द्वारा गुह्य उपदेश देने की बात गिर जाती है। परन्तु पालि बौद्ध धर्म मे ही कुछ ऐसे बुद्ध-वचन मिलते है जिनके आधार पर उनमे गुह्यता होने का आभास भी मिलता है। बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् बुद्ध की उपदेश सम्बन्धी अनिच्छा को हम भली प्रकार जानते है। विनय-पिटक के महावग्ग, मज्झिम-निकाय के अरियपरियेसन सुत्तन्त तथा अन्य अनेक स्थलो में भगवान् कहते दिखाये गये है कि यह प्रजा तो काम-रत है, काम-प्रसन्न है, और यह धर्म जिसका उन्होने साक्षात्कार किया है 'गम्भीर', 'दुर्दर्श', 'दुरनुबोध' और 'अतर्कावचर' है, काम-रत जनता इसे किस प्रकार समझेगी? उपर्युक्त चारो विशेषण बुद्ध-उपदेश की गुह्यता का कुछ आभास अवश्य देते है। कुछ भी हो, 'सद्धर्मपुण्डरीक' ने, जो महायान बौद्ध धर्म का आधारभूत ग्रन्थ है, उपर्युक्त बुद्ध-वचन को बुद्ध-उपदेशो की गुह्यता के सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप गृहीत

---

(१) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ २।३); देखिये सतिपट्ठान-संयुत्त (संयुत्त निकाय) भी।

महायान को अपने प्रामाण्य का आधार बताना था। यदि महायान बौद्ध धर्म ही है, बुद्धोपदिष्ट धर्म ही है, तो इसमे प्रमाण क्या है ? पालि त्रिपिटक का ऐतिहासिक आधार तो मूल बुद्ध धर्म के पास दो सत्यों की कल्पना था। महायान ने नये शास्त्रों की रचना सस्कृत और अर्द्ध-सस्कृत मे की। परन्तु महायानी आचार्यो के सामने भी यह सवाल आया और आज भी हम पूछते हैं, उनका ऐतिहासिक प्रामाण्य क्या है ? सम्भवत इसके उत्तर में ही महायानिक आचार्यों ने इतिहास के प्रश्न को ही उडा दिया। उन्होने कहा बुद्ध तो इस लोक में आये ही नही, उन्होने तो कोई उपदेश दिया ही नही । जिस बुद्ध महापुरुष का वर्णन पालि त्रिपिटक में है, वह तो वास्तविक बुद्ध का रूप-काय है, निर्माण-क है, निर्मित काया है, मायावी स्वरूप है । रूपकाय बुद्ध नही है । वास्तविक बुद्ध न कही आता है, न जाता है, न जन्म लेता है, न परिनिर्वाण प्राप्त करता है। वह तो साक्षी रूप से स्थित है । वह तो तथता-रूप है, सत्य-रूप है, धर्मरूपी काया वाला है। बुद्ध लोक मे आये, यह एक माया थी। इस प्रकार दो सत्य है, एक परमार्थ सत्य और दूसरा, व्यवहार-सत्य या लोकसवृत्ति-सत्य । व्यवहार रूप में ही बुद्ध उत्पन्न हुए और उन्होंने उपदेश दिया। परन्तु इस उपदेश का विधान भी दो प्रकार का था। बुद्ध ने अपने 'उपाय-कौशल्य' के द्वारा दो प्रकार की धर्म-देशना की है। एक गुह्य और दूसरी प्रकट। गुह्य धर्म-देशना भगवान् ने अपने कुछ चुने हुए अत्यन्त योग्यतासम्पन्न शिष्यो के प्रति की जिन्हे 'बोधिसत्व' कहा जाता है। इन बोधिसत्वो का मार्ग ही महायान है। बोधिसत्व-यान और महायान दोनो पर्यायवाची शब्द है। वास्तविक बुद्ध-मार्ग महायान ही है। इसीलिये इसे 'बुद्ध-यान या 'तथागत-यान' भी कहा जाता है।

गुह्य और प्रकट दो सत्य भगवान् ने सिखलाये, यह बात कुछ चौंकाने वाली है। विशेषत स्थविरवाद परम्परा से प्रभावित हम आज इस बात को सुनकर कुछ चौंक उठते है। पहली बार जब यह बात उठाई गई होगी तो स्थविरवादी मण्डल में कितना गहरा विचार का आन्दोलन उठ खडा हुआ होगा, यह हम आसानी से समझ सकते है। महासगीतिक भिक्षुओ के नव-उद्भावित साहित्य की जो निन्दा स्थविरवादी दृष्टि से की गई थी, उसे हम पहले उद्धृत कर चुके है[1]। उससे हम इसका कुछ अनुमान लगा

(१) देखिये पीछे बौद्ध धर्म के विकास का विवरण ।

सकते हैं। वस्तुत, जैसा हम पहले कह चुके है, महायानी धर्म की नीव उसी समय से पड गई थी।

जहा तक मूल बुद्ध-धर्म का सम्बन्ध है, जैसा कि वह पालि त्रिपिटक में निहित है, बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दो सत्यो की महायानी कल्पना को अधिक प्रश्रय नही मिलता, यद्यपि यह कहना भी उतना ही ठीक हैं कि महायानी कल्पना अन्तत मूल बुद्ध-उपदेशो के स्वरूप पर ही आधारित है। यह कैसे ? भगवान् बुद्ध के पास कुछ भी गुह्य हो जिसे वे अपने शिष्यो या कुछ शिष्यो से छिपाकर रखते हो, इसका अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में निराकरण भगवान् ने अपने परिनिर्वाण के समय आनन्द से यह कहते हुए कर दिया था "आनन्द! अन्दर और वाहर (का भेद) न करते हुए मैंने धर्म का उपदेश किया है। आनन्द! धर्म के सम्बन्ध में तथागत को आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नही है।" "देसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तर अवाहिर करित्वा न तत्थ आनन्द तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि"[१] सूर्य और चन्द्र के समान भगवान् बुद्ध का उपदेश सबके लिये सुलभ था। प्रकाशित होना उसका स्वभाव था। छिपाने को भगवान् मिथ्या सिद्धान्तो का एक लक्षण मानते थे। छिपाना स्त्रियो का या कूटनीति का धर्म था। बुद्ध-धर्म में सब कुछ उद्घाटित था, सब कुछ स्पष्ट था, सब कुछ सु-आख्यात था। इस प्रकार बुद्ध द्वारा गुह्य उपदेश देने की वात गिर जाती है। परन्तु पालि वौद्ध धर्म मे ही कुछ ऐसे बुद्ध-वचन मिलते है जिनके आधार पर उनमें गुह्यता होने का आभास भी मिलता है। वोधि प्राप्त करने के वाद भगवान् बुद्ध की उपदेश सम्बन्धी अनिच्छा को हम भली प्रकार जानते हैं। विनय-पिटक के महावग्ग, मज्झिम-निकाय के अरियपरियेसन सुत्तन्त तथा अन्य अनेक स्थलो मे भगवान् कहते दिखाये गये है कि यह प्रजा तो काम-रत है, काम-प्रसन्न है, और यह धर्म जिसका उन्होने साक्षात्कार किया है 'गम्भीर', 'दुर्दर्श', 'दुरनुवोध' और 'अतर्कावचर' है, काम-रत जनता इसे किस प्रकार समझेगी ? उपर्युक्त चारो विशेषण बुद्ध-उपदेश की गुह्यता का कुछ आभास अवश्य देते है। कुछ भी हो, 'सद्धर्मपुण्डरीक' ने, जो महायान वौद्ध धर्म का आधारभूत ग्रन्थ है, उपर्युक्त बुद्ध-वचन को बुद्ध-उपदेशो की गुह्यता के सम्बन्ध मे प्रमाण-स्वरूप गृहीत

(१) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ २।३); देखिये सतिपट्ठान-संयुत्त (संयुत्त निकाय) भी।

किया हैं। दूसरी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वय भगवान् बुद्ध सबको एकसा उपदेश नही देते थे। वे एक कुशल परचित्तज्ञानसम्पन्न मनोवैज्ञानिक उपदेष्टा थे जो सुनने वाले की योग्यता और जीवन की परिस्थिति पर विचार करके ही उपदेश देते थे। प्राय प्रत्येक कुशल उपदेष्टा इस प्रकार उपदेश करता है। गृहस्थों को भगवान् दान-कथा, शील-कथा, स्वर्ग-कथा, काम दुष्परिणाम-कथा आदि भी कहते थे। बालिकाओ को उपदेश देते समय उन्हे यही बताते थे कि विवाहोपरान्त उन्हे अपने पति के घर पर जाकर क्या करना चाहिये। जिस पुरुष की योग्यता सन्यास के लिये भगवान् नही देखते थे उसे गृहस्थाश्रम से सन्यास की श्रेष्ठता दिखाते हुए भी वे प्राय यही कहते थे, 'परन्तु तुम्हारे लिये अप्रमाद का जीवन ही श्रेष्ठ है।' योग्यतम भिक्षुओं को देखकर ही भगवान चार स्मृति-प्रस्थान आदि गम्भीर विषयो का उपदेश करते थे। शील का उपदेश देने के उपरान्त ही वे प्राय चार आर्य सत्यो का उपदेश देते थे। वे किसी को विवाह करने के लिये नही कहते थे, परन्तु यदि विवाहित पुरुष उनके पास जाते तो भगवान् उन्हे गृहस्थ-धर्म के कर्त्तव्यो के पालन करने का उपदेश करते थे, जो भिक्षु सबधी उपदेश से भिन्न होता था। साराश यह कि बुद्ध की शिक्षा में आवश्यक रूप से क्रम था, और वे साधक की योग्यता आदि का विचार कर ही उपदेश देते थे। मज्झिम-निकाय मे कहा गया है, 'आसयानुसय विदित्वा भगवा धम्म देसेति।' इसी बात की पुनरावृत्ति महायानी ग्रन्थ 'दिव्यावदान' में भी की गई हैं[1]। हम जानते है कि अनाथपिण्डिक की बीमारी के समय धर्मसेनापति सारिपुत्र ने उसे अनात्मवाद का गम्भीर उपदेश दिया था। जब आखो में आसू भरते हुए आध्यात्मिक प्रसन्नता से उच्छ्वसित अनाथ-पिण्डिक ने जो एक गृहस्थ था, सारिपुत्र से पूछा "भन्ते मैने दीर्घकाल से शास्ता की उपासना की है और ध्यान में तत्पर भिक्षुओ की भी। किन्तु भन्ते! मैने ऐसी धार्मिक कथा कभी पहले सुनने को नही पाई"। इसके उत्तर में धर्मसेनापति ने जो कुछ कहा उसमें महायान के गुह्य सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त के लिये महान् आश्वासन छिपा पडा है। "गृहपति! श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थो को ऐसी धार्मिक कथा समझ में नही

---

(१) अथ भगवा तेषां आशयानुशयं विदित्वा धातुं प्रकृतिच ज्ञात्वा तादृशीं धर्मदेशनां करोति : पृष्ठ ९७ (कॉवल का संस्करण)

आती, प्रव्रजित को गृहपति! ऐसी धार्मिक कथा समझ में आती है'[१]।' साधना के स्तर का जो तारतम्य गृहस्थ और भिक्षु में हो सकता है, वही भिक्षुओ मे एक दूसरे की अपेक्षा से हो सकता है। इस प्रकार यह सम्भव है कि साधारण शिष्यो और प्रत्येक वुद्धो को भगवान् ने साधारण नीति आदि का उपदेश दिया हो जिसकी अभिव्यक्ति पालि त्रिपिटक में हुई है और अपना उच्चतर उपदेश उन्होंने उन महासत्त्व प्राणियो को दिया हो जिनकी सज्ञा वोधिसत्त्व है और जिनकी परम्परा के प्रवर्तन का दावा महायान का है। स्थविरवादी तत्त्वदर्शन के अनुसार अनात्मवाद का विवेचन करते समय हम शिशपा-वृक्ष की पत्तियो की उपमा उद्धृत कर चुके हैं। उससे भी यह पता चलता है कि तथागत के पास कुछ गुह्यता अवश्य थी जो कथित सिद्धान्तो से वहुत अधिक थी। इस प्रकार अपेक्षाकृत कम वुद्धि रखने वाले श्रावको और प्रत्येक वुद्धो के प्रति दिये गये उपदेशो को मानने वाले स्थविरवादी 'हीनयानी' ही ठहरेंगे और महायानी माने जायगे उस महान गहन और गुह्य उपदेश के उत्तराधिकारी जो भगवान ने उत्कृष्ट वुद्धि और साधना वाले वोधिसत्त्वो को दिया। महायानी आचार्यों का दावा है कि उनके वैपुल्य-सूत्रो मे (जिनका दूसरा नाम महायान-सूत्र भी है) भगवा ्‌ वुद्ध के ऐसे उपदेशो का सग्रह है जो उन्होंने महाप्राणी वोधिसत्त्वो को दिये थे। हम जानते है कि कोई ऐतिहासिक आधार तो महायानिको की इस मान्यता को प्रमाण मानने का है नही। वल्कि महायान-सूत्रो का और महायान के अन्य साहित्य का जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे, अनैतिहासिक स्वरूप उनकी प्रमाणवत्ता को सन्देह का विषय ही वना देता है। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' और 'लकावतार-सूत्र' आदि अनेक महायानी ग्रन्थो में वुद्ध के 'उपाय-कौशल्य' द्वारा उपदेश की वात इतनी अधिक पुनरुक्तिपूर्वक कही गई है कि कभी कभी आभास होने लगता है कि महायानी आचार्यों ने इसका उपयोग कुशलतापूर्वक केवल अपने एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया है। वह उद्देश्य था वौद्ध धर्म के मौलिक रूप को भी प्रामाणिक मानने के साथ-साथ महायान द्वारा उपदिष्ट सत्य की उच्चतर स्थिति को प्रमाणित करना। यह उन्होंने यह कह कर किया कि चार आर्य सत्य और आर्य अष्टागिक मार्ग आदि सवधी उपदेश को तथागत ने अपने उपाय-कौशल्य के द्वारा अपनी साधारण योग्यता के शिष्यो (श्रावको)

(१) अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।१)

को दिया, जबकि उसके उच्चतर स्वरूप (शून्यता, तथता, धर्मसमता) का उद्घाटन उन्होने अपने केवल कुछ योग्यतम शिष्यो के प्रति किया, जिनकी परम्परा 'महायान' में निहित है[१]। इस प्रकार तथागत के 'उपाय कौशल्य' के सिद्धान्त में महायान का भी 'उपाय-कौशल्य' निहित है, ऐसा हमें जान पडता है। वैसे इस उपाय कौशल्य का भी आधार अन्तत पालि त्रिपिटक ही है। हम जानते है कि अनेक पर्यायो से भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया है (अनेक परियायेहि भगवता धम्मो देसितो), उन्हे उपदेश में पारमि, पारमिता, परिपूर्णता, प्राप्त है, वे चार वैशारद्यो और दस तथागत-बलो से युक्त हैं। इसी के आधार पर 'उपाय-कौशल्य' की बात कही गई है। परन्तु इसका उपयोग महायान की प्रमाणवत्ता और महत्ता को स्थापित करने के लिए ही महायानी साहित्य मे प्राय किया गया है। महायानी आचार्य यह नही कहते कि 'हीनयान' गलत है या अनावश्यक है, वे केवल यह कहते है कि वह आवश्यक होते हुए भी एक निम्न श्रेणी की साधना है, जबकि उच्चतम साधना का रूप महायान है और उसी में 'हीनयान' का पर्यवसान हो जाता है। अनेक सत्यो की बात वस्तुत महायानी भी नही कहते। वे यह नही कहते कि भिन्न-भिन्न सत्यो का उपदेश तथागत ने भिन्न-भिन्न लोगों को दिया। उनका कहना केवल यह है कि तथागत ने अपने उपाय-कौशल्य से एक ही सत्य का उपदेश दिया परन्तु उनके स्थविरवादी शिष्य केवल उसके एक स्थूल अग को समझ सके है।' जापान में जहाँ महायान धर्म आज भी अपने जीवित रूप मे विद्यमान है, यह एक साधारण मान्यता है कि भगवान् ने गुह्य उपदेश बोधिसत्त्वो को दिया था और महायान मे वही निहित है। जापानी विद्वान् सुज़ुकी[२] और किमूरा[३] बुद्ध द्वारा प्रकट और गुह्य दो सत्यो के उपदेश दिये जाने में

---

(१) अश्वघोष ने अपने 'महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र' में इसी प्रकार महायान की प्रामाणिकता स्थापित की है। देखिये सुज़ुकी: 'दि अवेकनिंग ऑव फेथ इन बुद्धिज्म (महायानश्रद्धोत्पाद का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ ४७,

(२) जिनके मत के उद्धरण के लिये देखिये नलिनाक्ष दत्त: एस्पेक्ट्स आव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ६१–६५

(३) देखिये उनका 'ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑव दि टर्म्स हीनयान एण्ड महायान', पृष्ठ ५९–६०

विश्वास करते है। यह बताने की आवश्यकता प्रतीत नही होती कि थियोसोफिकल सोसायटी के उद्भावको, मादम ब्लेवेत्सकी, श्रीमती एनी बीसेन्ट और कर्नल आलकॉटने, जिन्होंने इस शताब्दी के आदि में बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करने का प्रशसनीय उद्योग किया, अपनी बौद्ध धर्म की व्याख्या में बुद्ध द्वारा गुह्य उपदेश दिये जाने की स्थिति को स्वीकार किया है, बल्कि उसे कुछ अतिरजित रूप भी प्रदान किया है। डा० हर दयाल ने बोधिसत्त्व सिद्धान्त का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन किया है, परन्तु बुद्ध के उपदेश में गुह्यता जैसी कोई बात थी, इस सिद्धान्त के प्रति उन्होंने सहमति नही दिखाई है।[1] वस्तुतः निश्चय रूप से इस सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता। केवल महापुरुष (बुद्ध) की महासागर के समान गम्भीर प्रज्ञा पर आश्चर्य करके रह जाना पडता है, जिसने न केवल कुमारिल और शकर जैसे अ-बौद्ध दार्शनिको की ही बुद्धि को भ्रमित किया है, बल्कि जिसके सम्बन्ध में युग-युगो से एक ओर नागसेन, बुद्धघोष, बुद्धदत्त धम्मपाल (स्थविरवादी), वसुमित्र, देवशर्मा, महाकौष्ठिल (वैभाषिक), धर्मपाल, बुद्धदेव, और यशोमित्र (सौत्रान्तिक) जैसे तथोक्त 'हीनयानी' आचार्यों की और दूसरी ओर विश्व-प्रसिद्ध महाप्रज्ञावान् अश्वघोष, मैत्रेय, असग, वसुबधु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति (विज्ञानवादी), नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव (शून्यवादी) जैसे महायानी आचार्यों की बुद्धि भी विमुग्ध होती रही है। महायान की परम्परा में असग, वसुबन्धु और नागार्जुन जैसे आचार्य है जो महायान-सूत्रो में बुद्ध के गुह्य उपदेशो की विद्यमानता मानते है और दूसरी ओर पालि-त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन है, इससे कौन इन्कार कर सकता है? महायान को अधिक महत्त्व देने पर तो यही कहना पडता है कि 'माया-पुत्र' (दोनो अर्थ लेखक को गृहीत है—माहायानिक भारतीय दर्शन में प्रथम मायावादी थे) की माया कुछ समझ मे नही आती और उसके 'उपाय-कौशल्य' को धन्य है, जिसने उसके एक, अद्वय और अ-विवाद मन्तव्य को भी 'हीन' और 'महा' इन दो रूपों मे विभक्त कर दिया है। 'उपाय-कौशल' की मध्यस्थता के बिना 'हीनयान' और 'महायान' दोनो एक है। सचमुच 'उपाय-कौशल्य' उत्तर कालीन बौद्ध धार्मिक विकास में एक महान् शब्द है। वह तथागत की करुणा का ही अन्तत परिचायक है।

---

(३) दी बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ ३०–३१

बुद्ध की तीन कायाएँ अथवा महायान का त्रिकाय-सिद्धान्त

ऊपर हम महायानी आचार्यों द्वारा बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व के निषेध का उल्लेख कर चुके हैं। उसी के सम्वन्ध मे उन्होने अपने त्रिकाय-सम्वन्धी सिद्धान्त का निर्माण किया। बुद्ध के तीन काय हैं रूपकाय, धर्म-काय और सम्भोग-काय। महायान के पूर्व रूप मे, जिसकी अभिव्यक्ति अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता मे हुई है, दो ही कायो (रूप-काय और धर्म-काय) की मान्यता थी। वाद में सम्भोग-काय और जोड दिया गया। रूप-काय से तात्पर्य भगवान् बुद्ध के भौतिक या ऐतिहासिक रूप से है। पालि-त्रिपिटक मे भगवान् बुद्ध के मानव-रूप का जो चित्र हमें मिलता है वह महायानियो के अनुसार उनका रूप-काय है। इसे ही निर्माण-काय भी कहा जाता है, क्योकि यह निर्मित काया है, बुद्ध के द्वारा लोकानुवर्तन के लिये छाया रूप मे वनाई हुई काया है। शाक्यमुनि के द्वारा यह इसलिये धारण की गई है कि मनुष्य समझ सके कि बुद्धत्व की प्राप्ति असभव नही है। महायान सूत्रालकार के वर्णनानुसार निर्माण-काय बुद्ध की वह काया है जिसे वे विभिन्न लोक-धातुओ में प्राणियो के अनुकम्पार्थ धारण करते हैं। परन्तु यह बुद्ध की वास्तविक काया नही है। महायानियो ने बुद्ध को धर्म के साथ एकाकार किया। बुद्ध और धर्म को मिलाकर एक कर दिया और इसको उन्होने कहा धर्म-काय। धर्म-काय ही बुद्ध की वास्तविक काया है। वह उनका आध्यात्मिक शरीर है। इसे ही सद्धर्मकाय, बोधिकाय, बुद्ध-काय, प्रज्ञा-काय और स्वाभाविक काय भी कहा गया है। तथता भी यही है। तथता का अर्थ है सम्पूर्ण सृष्टि में समाई हुई सत्यता। इस प्रकार महायान ने धर्मकाय को तथता के साथ एकाकार करके उसे प्राय वही रूप दे दिया जो ब्रह्म को वेदान्त में प्राप्त है। सम्भोग-काय बुद्ध की वह काया है जिसे हम उनका आनन्दमय स्वरूप कह सकते है। यह उस समय की स्थिति है जब वे तुषित लोक मे निवास करते हैं। इस प्रकार इस काय के द्वारा बुद्ध को प्राय देवताओ का सा स्वर्गीय शरीर दे दिया गया है। सम्भोग-काय सम्वन्धी सिद्धान्त के निर्माण में योगाचारी (विज्ञानवादी) महायानिक आचार्यों का विशेप हाथ था और उन्होने इसे श्रौत परम्परा के ईश्वर की समानता पर विकसित किया है। निर्गुण-निर्विकार तत्त्व धर्म-काय और नाम-रूप मय ईश्वर सम्भोग काय है, इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है। जैसा हम पहले कह चुके है, महायान

का प्राय कोई ऐसा सिद्धान्त नही है जिसके बीज हमे बौद्ध धर्म के पूर्व रूप में न मिलते हो। यही बात महायान के महत्त्वपूर्ण त्रिकाय-सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय मे भी है। रूप-काय और धर्म-काय शब्द हमे पालि-त्रिपिटक में मिलते है, परन्तु स्थविरवादी परम्परा का यह बड़ा गौरव ही मानना पडेगा कि उन्होने बुद्ध के मानवीय रूप को सुरक्षित रक्खा और उसका दैवीकरण नही किया। परन्तु जहा तक व्यक्तित्व के स्थान पर सत्य की प्रतिष्ठा का सवाल है, इसे तथागत ने स्वय स्वीकार किया था और इसी अर्थ मे वहा बुद्ध के रूप-काय से धर्म-काय को श्रेष्ठतर समझा गया है। पालि त्रिपिटक में बुद्ध के रूप-काय से तात्पर्य है उनका मानवीय अस्तित्व और उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म को ही वहा उनका धम्म-काय कहा गया है और रूपकाय से उसकी एकता दिखाई गई है। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय भगवान् ने अपने शिष्यो से कहा था, "आनन्द! जिस धर्म और विनय का मैंने तुम्हे उपदेश दिया है, जिसे मैंने तुम्हे बताया है, वही मेरे बाद तुम्हारा शास्ता होगा"। "यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो सो वो ममच्चयेन सत्था"[१]। इसी प्रकार बीमार वक्कलि भिक्षु से, जिसने भगवान् के दर्शनो की इच्छा प्रकट की थी, और जिसकी इच्छा-पूर्ति के लिये भगवान् स्वय उसके पास गये थे, भगवान् ने कहा था, "वक्कलि! मेरी इस गन्दी काया के देखने से तुझे क्या लाभ! वक्कलि! जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है[२]।" धर्म और बुद्ध की एकता का यह उपदेश भगवान् ने इतिवुत्तक के सघाटि-सुत्त मे भी दिया है और अन्यत्र भी। हम इसे आसानी से महायान के धर्म-काय सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार मान सकते है। दिव्यावदान, ललित विस्तर और अभिधर्मकोश के आधार पर हम यहा इस महत्त्वपूर्ण त्रिकाय-सम्बन्धी सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन मे नही जा सकते[३]। अब हम महायान की एक आधार-भूत विशेषता पर आते है और वह है उसके अन्दर भक्ति का विकास।

---

(१) महा परिनिब्बाण सुत्त (दीघ २।३)

(२) अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति (संयुत्त-निकाय)

(३) जिसके लिये देखिये नलिनाक्ष दत्त एस्पेक्ट्स आव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ १०२–१०८

बुद्ध-भक्ति का समावेश महायान बौद्धधर्म की एक आधारभूत विशेषता है। भगवान् बुद्ध को महायान ने एक उपास्य देव के रूप मे स्वीकार किया और उसे अपनी साधना का एक विशिष्ट अग बनाया। उनका ऐसा करना कहाँ तक स्थविरवाद बौद्धधर्म मे पाई जानेवाली प्रवृत्ति या प्रवृत्तियो का स्वाभाविक विकास था अथवा कहाँ तक वह श्रौत परम्परा की भक्ति-धारा से प्रभावित था, यह एक बडी समस्या है जिसके सुलझाने में कम से कम भारतीय विद्वानो को अत्यन्त बौद्धिक वैराग्य की आवश्यकता पडेगी। हम जानते है कि मूल बुद्ध-धर्म विशेषत आत्म-विमुक्ति का धर्म था। वहाँ मनुष्य को अपनी विमुक्ति स्वय खोजनी पडती है। शास्ता से वह मार्ग दिखाने वाले व्यक्ति से अधिक अपेक्षा नही रख सकता। कम से कम बुद्ध इसके लिये अवकाश नही देते। पुरुषार्थ ही वहा मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान साधन है और सम्पूर्ण उपदेश देने के वाद शास्ता अपने शिष्यो से यही अपेक्षा रखते है कि वे उस पर चलें। मार्ग को वता देना, सु-आख्यात कर देना, यही तथागत की करुणा है। उस पर चलने का काम शिष्यो का है। कर्म के नियम में कोई अपवाद नही है। बुद्ध की सघाटी को पकडकर हम भव से पार नही हो सकते, हमें धर्म का अभ्यास करना चाहिये। पालि धर्म की आधारभूत परिस्थिति यही है। न तो भक्त की सी आर्तता और दीनता की भगवान् भिक्षु से अपेक्षा रखते है और न उसके समान आत्म-समर्पण की। फिर भी भक्ति के कुछ तत्त्व आदिम बौद्ध धर्म की साधना में भी विद्यमान थे, ऐसा हमे मानना पडेगा। सबसे वडी वात यह है कि श्रद्धा के महत्त्व की स्वीकृति बुद्ध के मौलिक उपदेशो में है। हम पहले दिखा चुके हैं कि जहाँ तक श्रद्धा का सम्बन्ध है, उसके महत्त्व की स्वीकृति के सम्बन्ध में पालि और सस्कृत बौद्ध धर्म में कोई विशेष अन्तर नही है। श्रद्धा और भक्ति का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसे दिखाने की यहाँ आवश्यकता नही। आचार्य बुद्धघोष ने श्रद्धा को ही भक्ति कहा है। सारिपुत्र आदि शिष्यो की शास्ता के प्रति कितनी गहरी श्रद्धा और पूजा-बुद्धि थी, इसे यहा दिखाने की आवश्यकता नही। अत हम कह सकते है कि शास्ता के प्रति श्रद्धा के रूप में भक्ति की साधना के वीज आदिम बौद्ध साधना में भी विद्यमान थे, यद्यपि हमे यहाँ सावधानीपूर्वक स्मरण रखना चाहिये कि वुद्ध में श्रद्धा का होना वुद्धि के द्वारा वहा भली प्रकार सन्तुलित कर दिया गया था। शास्ता ने स्वय कहा था कि तथागत बोधि-प्राप्त है

या नही, इसकी सम्यक् गवेपणा साधक को करनी चाहिये। इस प्रकार वुद्धि और श्रद्धा का समन्वय आदिम वौद्ध साधना मे था। उसकी श्रद्धा सर्वांश मे 'प्रज्ञान्वया' थी ।।फिर त्रिशरण- गमन की वात है। 'वुद्ध सरण गच्छामि' मे भक्ति का विमल रूप झाक रहा है, इसे वताने की आवश्यकता नही। ऐसा माना जा सकता है कि इसी शरणागति से वाद मे उपास्य देवता के रूप मे वुद्ध-भक्ति का विकास हुआ जिसके आलम्वन न केवल वुद्ध वल्कि अनेक वोधिसत्व आगे आने वाले युगो में वनाये गये। पूर्व वौद्ध साधना मे कर्म ही मनुप्य का सहायक था, वहाँ कोई देवता न था, न ईश्वर, न व्रह्मा। वाद में वुद्ध ही महायान में ईश्वर वना दिये गये जिनकी पूजा करना और जिनमे श्रद्धा रखना धर्म का एक अग हो गया। इसमें कोई सन्देह नही वुद्ध के मौलिक नैतिक उपदेश और इस नये भक्ति-सन्देश के वीच एक गहरी खाई थी, दोनो मे एक न पाटने योग्य व्यवधान था, परन्तु सवसे वड़े सतोष की वात यह है कि इस प्रकार जो व्यक्ति पूजा का आलम्वन वनाया गया वह एक ऐतिहासिक मनुप्य था, कोई पौराणिक देवता नही। यही एक ऐसी अतिशय महत्त्वपूर्ण वात है जो महायानी भक्ति-साधना को न केवल हमें स्थविरवादी भक्ति-तत्त्वो के विकास स्वरूप मानने को वाध्य करती है, वल्कि जो यह भी सकेत कर देती है कि राम और कृप्ण को आलम्वन मान कर प्रचलित भक्ति साधना-पद्धतियो का विकास वाद मे इसी के अनुकरण पर, देवताओ का आकर्पण कम हो जाने पर, किया गया। हम अपने मन्तव्य को अभी स्पप्ट करेगे।

महायान वौद्धधर्म में भक्ति और मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। वुद्धत्व प्राप्त करने के वाद भगवान् के मन मे निर्वाण सुख का अनुभव करते ही जीवन विताने की इच्छा हुई थी। उपदेश करना वे नही चाहते थे, क्योकि उनका प्राथमिक विचार यह था कि जनता उसे नही समझेगी। परन्तु भगवान् ने अपनी इस उदासीनता को जीत लिया और प्राणियो को विमुक्त करने का सकल्प उन्होने किया। 'अमृत की दुन्दुभी में वजाऊँगा' ऐसा सकल्प उन्होने किया। इसी का परिणाम वुद्ध -धर्म हुआ, जिसका इतिहास साक्ष्य देता है। भगवान् वुद्ध का प्राणियों को विमुक्त करने का सकल्प एक ऐतिहासिक तथ्य है और उसीका परिणाम वौद्धधर्म है। महायान के भक्तिवाद की पूरी प्रतिप्ठा भगवान् के उपर्युक्त सकल्प पर ही आश्रित है। मुक्ति का यह आश्वासन जो एक ऐतिहासिक घटना के रूप में

बुद्ध-जीवन में विद्यमान था महायानी भक्तिवाद का आलम्बन बना। भगवान् बुद्ध के पूर्व भक्ति की साधना भले ही विद्यमान रही हो, यह विशेषता उसमें किसी प्रकार नही थी। ऋग्वेद मे ऋषियो ने वरुण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये थे। वह देवता-भक्ति ही कही जा सकती है। बाद में जब देवताओ का आकर्षण कम हो गया तो यह भक्ति भी निष्प्रभ हो गई। कीथ ने उपनिषदो में भक्ति के बीज होने की बात कही है[1], जो केवल आशिक रूप मे सत्य कही जा सकती है। उपनिषदो में बुद्ध जैसा कोई ऐतिहासिक महापुरुष नही है जिसके प्रति सच्चे भक्ति-दर्शन का विकास हो सकता। उनके निर्गुण-निराकार की भक्ति नही की जा सकती और देवताओ के लिये न अधिक अवकाश उपनिषदो ने दिया और न उनका कोई विशेष प्रभाव उपनिषदो के युग में रह गया था, जिससे उनकी भक्ति की जा सकती। विष्णु (वेण्हु) और शिव (ईसाण) गौण देवताओ के रूप मे पालि बौद्ध साहित्य में वर्णित है[2] और उनका स्थान शक्र और ब्रह्मा की अपेक्षा निम्नतर है। बुद्ध-काल में उनकी उपासना-पद्धतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नही हो सकती थी। छान्दोग्य २/१७/१ में कृष्ण देवकीपुत्र (कृष्णाय देवकीपुत्राय) और कौषीतकि ब्राह्मण ३।९ में कृष्ण आगिरस का वर्णन आने के कारण हम कृष्ण को बुद्ध-पूर्व युग का महापुरुष तो मान सकते है, सम्भवत वासुदेव-पूजा की स्थिति भी ईसा से ६-७ शताब्दी पूर्व मान सकते है, परन्तु कृष्ण-भक्ति का प्रचार बुद्ध-पूर्व युग में मानना इतिहास के साक्ष्य के विरुद्ध होगा। कृष्ण-भक्ति का प्रचार बुद्ध-युग के बाद वासुदेव कृष्ण को भागवत सम्प्रदाय के भगवान् के साथ एकाकार करने के परिणाम स्वरूप हुआ। भागवत सम्प्रदाय का उदय पाचवी शताब्दी ईसवी पूर्व उत्तरी भारत मे हुआ था। द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व के बेसनगर शिलालेख मे ग्रीक हेलियेडोरस को 'भागवत' की उपाधि दी गई है। इससे भागवत सम्प्रदाय की द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व विद्यमानता स्पष्ट प्रकट होती है। छान्दोग्य, ३।१४ में शाण्डिल्य के उपदेश का वर्णन है। यही शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रो के भी रचयिता थे या नही, यह निश्चित नही है। परन्तु हम छान्दोग्य उपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरणो के आधार पर यह अवश्य कह सकते हैं कि भक्ति-

---

(१) जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०६, पृष्ठ ४९३
(२) महासमय-सुत्त (दीघ० २।७)

साधना की धारा किसी न किसी रूप में सातवीं और छठी शताब्दी ईसवी पूर्व प्रचलित अवश्य थी। ईशोपनिषद् में उपास्य के रूप में ईश्वर का वर्णन है। बाद मे श्वेताश्वर मे भक्ति के सिद्धान्तो की चर्चा है। महेश्वर, शिव और ईश आदि शब्द भक्ति-साधना की विद्यमानता को स्पष्ट करते है। ये सब प्राचीन भक्ति धारा के क्षीण विकास के परिचायक है। ऊपर हम भागवत सम्प्रदाय के द्वारा कृष्ण वासुदेव के भगवान् के साथ एकाकार कर देने की बात कह चुके है। वस्तुत. उसी से कृष्ण को विष्णु का अवतार माने जाने का आधार मिला और कृष्ण-पूजा आरम्भ हुई। छान्दोग्य उपनिषद् के वासुदेव कृष्ण या देवकीपुत्र कृष्ण का दैवीकरण चाहे छठी -सातवीं ईसवी पूर्व हो गया हो, परन्तु कृष्ण-भक्ति का प्रचार उनके भगवान् बनने के बाद ही हुआ और इस कार्य मे कई शताब्दियाँ लगी। पालि महानिद्देस में वासुदेव-सम्प्रदाय का उल्लेख है, 'वासुदेववत्तिका वा होन्ति'। इसे हमे साधारण वासुदेव-पूजा के रूप मे समझना चाहिये। देवता के रूप मे वासुदेव का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वु' (४ ३ ९८)। द्वितीय शताब्दी पूर्व वासुदेव-पूजा का भारत में प्रचार था, यह उस समय के कुछ शिला-लेखो से भी विदित होता है। बेसनगर शिलालेख, जो द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व का है वासुदेव-पूजा का स्पष्ट साक्ष्य देता है। उसका एक अंश है 'देव देवास वासुदेवस गरुडध्वजोऽयम्'। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वासुदेव की प्रतिष्ठा भगवान के अवतार के रूप में उस समय तक हो चुकी थी। इसी प्रकार घसुण्डी शिलालेख का साक्ष्य है "जना भगवभ्यां संकर्षण वासु-देवाभ्याम्"। ग्रीक राजदूत मेगेस्थनीज (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) ने शूरसेन-प्रदेश में हेराक्लीज (Herakles) की पूजा की बात कही है। 'हेराक्लीज' कृष्ण का ही ग्रीक रूपान्तर है। इससे भी स्पष्ट प्रकट होता है कि कृष्ण-पूजा चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व व्रज में प्रचलित हो चुकी थी और मथुरा उसका केन्द्र था[1]। इस प्रकार प्रभूत ऐतिहासिक साक्ष्य हमें इस बात के मिलते है कि बुद्ध-धर्म के उदय की शताब्दियो से लेकर वासुदेव-पूजा किसी न किसी रूप में भारत में चली आ रही थी और उससे निश्चित निष्कर्ष किसी न किसी मात्रा मे हम यह निकाल ही सकते है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व जब महायान मे बुद्ध-भक्ति का उदय हुआ तो उसने किसी न किसी प्रकार यज्ञात या अज्ञात रूप से वासुदेव सम्प्रदाय से अवश्य प्रेरणा प्राप्त की।

(१) देखिये मेकक्रिंडल : एन्शियन्ट इन्डिया, पृष्ठ २११

यहाँ कुछ दृष्टिपात हमे शैव सम्प्रदाय की ओर भी करना चाहिये। भागवत धर्म की प्रगति क साथ-साथ प्राय. समानान्तर रूप से शैव साधना का विकास हुआ था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को भगवान् माना गया है। "सर्वव्यापी भगवास्तस्मात् सर्वगत शिव"[1]। श्वेताश्वतर उपनिषद् निश्चयत बुद्ध-काल के काफी बाद की उपनिषद् है। पतजलि ने अपने महाभाष्य में, जिसका प्रणयन-काल लगभग १५० ईसवी पूर्व है, एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[2]। मिलिन्द-प्रश्न मे, जो ईसवी सन् के करीब की रचना है, वासुदेव सम्प्रदाय के साथ-साथ शैव सम्प्रदाय का भी उल्लेख है। 'सिवा वासुदेवा घनिका'। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायियो की स्थिति द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व थी, ऐसा स्वर्गीय डा० आर० जी० भाण्डारकर ने प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन युगो मे महायान बौद्धधर्म का उदय हो रहा था, भारतीय समाज में भागवत धर्म के साथ-साथ शैव साधना भी विद्यमान थी, यद्यपि उसका इतना प्रभाव बौद्ध धर्म पर उपलक्षित नही होता। बाद में चल कर मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा में बगाल, आसाम और विशेषत नैपाल में शैव धर्म ने महायान बौद्ध धर्म के तत्कालीन रूप को अत्यधिक प्रभावित किया और शिव और बुद्ध दोनो मिलकर किस प्रकार प्राय एक हो गये, यह हम मध्ययुगीन भक्ति-दर्शन के विकास पर आते समय पाँचवें परिच्छेद में देखेंगे।

अब हमें महायान के उदय की ओर जाकर यह देखना चाहिये कि गीता के भक्तिवाद का उससे क्या सम्बन्ध है? कहाँ तक गीता के भक्तिवाद के प्रभाव को महायान बौद्ध धर्म पर स्वीकार करना चाहिये या नही, यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। गीता का काल निर्णय अभी प्राय निश्चित रूप से नही हो सका है, परन्तु महाभारत के एक अश के रूप में वह महायान के उत्पत्ति काल की अपेक्षा एक अर्वाचीन रचना ही मानी जा सकती है। रिचार्ड गार्बे के मतानुसार गीता के मौलिक स्वरूप का प्रणयन-काल ३००–२५० ईसवी पूर्व है।

---

(१) श्वेताश्वर ३।११
(२) उद्धरण के लिये देखिए हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८
(३) आर० जी० भाण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृष्ठ ११६–११७

डा० हरदयाल ने इस सवध में अत्यन्त सन्तुलित विवेचन के वाद गीता के प्रणयन-काल की सीमा २०० ईसवी पूर्व से लेकर २०० ई० तक निश्चित की है[१]। हम प्राय डा० हरदयाल के मत से सहमत है।

अव प्रश्न यह है कि गीता के भक्तिवाद ने महायान से या महायान के भक्तिवाद ने गीता से कितना लिया है? इस सम्वन्ध में अधिकतर पश्चिमी विद्वान् गीता को अधिक महत्त्व देकर उसके प्रभाव को महायान पर स्वीकार करते है। विन्टरनित्ज के मतानुसार भगवद्गीता के भक्तिवाद के आधार पर और उसके प्रभाव स्वरूप महायान वौद्ध धर्म का विकास हुआ[२]। एच० कर्न ने भी महायान वौद्ध धर्म पर गीता के प्रभाव को स्वीकार किया है[३]। सेना का भी प्राय यही मत है कि भक्ति का विचार महायान ने भागवत धर्म से लिया[४]। के०जे० साडर्स ने भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सद्धर्म पुण्डरीक ने गीता से वहुत कुछ लिया है[५]। वेल्जियन विद्वान् पूसा ने तो महायान को 'हिन्दू धर्म का एक रूप' (Modality of Hinduism) . . . . ही कहा है[६]। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानो का एक वडा समूह भगवद्गीता के ऋण को महायान पर मानने के पक्ष में है। परन्तु हमे स्मरण रखना चाहिये कि ये प्राय सव विद्वान् इस शताव्दी के पूर्व भाग के है और तव से इस सम्वन्व में काफी अव्ययन हो चुका है जिससे नये तथ्य प्रकाश मे आये है। आज हम कह सकते हैं कि गीता के भक्तिवाद ने महायान के विकास में काफी योग दिया है परन्तु स्वय गीता मे कृष्ण जिस प्रकार मुक्तिदाता प्रभु के रूप में चित्रित किये गये है, वह वुद्ध के अनुकरण पर है। हम पहले दिखा चुके है कि मुक्ति का आश्वासन महायान वौद्ध धर्म मे एक ऐतिहासिक तथ्य अर्थात् तथागत की वोधि-प्राप्ति और उनके

---

(१) दि वोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३
(२) सम प्रॉवलम्स इन इडियन लिटरेचर, पृष्ठ ६३
(३) मैनुअल ऑव इंडियन वुद्धिज्म, पृष्ठ १२२
(४) उद्धरण के लिये देखिये हरदयाल : दि वोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१
(५) दि गॉस्पल फॉर एशिया, पृष्ठ ५९
(६) देखिये हरदयाल : दि वोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१

प्राणियों की विमुक्त्यर्थ उपदेश करने के निर्णय पर आधारित है। धार्मिक इतिहास में यह एक महान् बात है, जो श्रौत परम्परा में नही मिलती, क्योकि वहाँ भक्ति देवताओ पर अवलम्बित थी, जिनमे ऐतिहासिक मानवत्व का लेशमात्र न था। बुद्ध जैसे ऐतिहासिक महापुरुष को भक्ति का आलम्बन बनाकर महायान को अभूतपूर्व सहायता मिली। इसीसे प्रेरणा प्राप्त कर श्रौत परम्परा ने, जिससे मूलत भक्ति के विचार को महायान ने लिया था, राम और कृष्ण जैसे ऐतिहासिक महापुरुषो को लाकर उन्हे भगवान विष्णु से एकाकार करने का प्रयत्न किया (जिस प्रकार तथागत के सम्बन्ध में धर्मकाय के रूप मे महायान ने किया था) और यह कार्य महायान बौद्धधर्म के उदय हो जाने के बाद और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप किया गया। श्रौत परम्परा के देवता, निर्गुण या सगुण, शाक्यमुनि के समान प्रभावशाली नहीं थे। इसीलिये राम और कृष्ण भगवान् बनकर सामने आये। ये महापुरुष बुद्ध के बाद ही और उनके अनुकरण पर ही देवता बन कर आये, अपनी शरणागति द्वारा मुक्ति का सन्देश सुनाने लगे, इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि इनका मुक्ति का सन्देश देने और इनके स्वय के जीवन में कोई सगति नही है, वह तो बुद्ध के अनुकरण पर गढी हुई चीज है, जिसमें उसकी सी मौलिक दृढता नही। भगवान् कृष्ण कहते हैं 'मेरी शरण आओ, मैं तुम्हे ससार-सागर से तार दूगा'। क्या आधार है कृष्ण के जीवन में जो उन्हें ऐसा कहने का अधिकार देता है ? क्या है उनकी जीवन-साधना ? कहा है उनके पुरुषार्थ का, उनकी तपश्चर्या का, उनकी सत्य-प्राप्ति का वर्णन ! प्राणियो को मुक्त करने का उनका गीता मे सकल्प तो है, परन्तु कहा है उनके स्वय जीवन मे उसका आधार ? उसका कही पता नहीं चलता। केवल यही कह देने भर मे गति है 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। भागवतकार ने इसी की रट लगाई है। परन्तु इसी पर तो सच्चा भक्ति दर्शन खडा नही हो सकता। सच्ची भक्ति के लिये यह आवश्यक है कि मुक्ति का आश्वासन ऐतिहासिक घटना पर आश्रित हो। उसके लिये एक ऐतिहासिक मुक्तिदाता चाहिये, मनुष्य के आश्वासन के लिये ऐतिहासिक आलम्बन चाहिये। महायान ने यही वस्तु भारतीय साधना को दी। इसलिये जिस भक्ति का विकास महायान ने किया वह उसकी अपनी थी, उसका आलम्बन बुद्ध द्वारा मुक्ति का उपदेश देना था, उसका आधार बुद्ध का जीवन था जहाँ सच्ची भक्ति टिक सकती है। न यह बात राम-भक्ति में मिलती है और न

कृष्ण-भक्ति में। वल्कि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इन दोनो महापुरुषो का दैवीकरण किया ही इसलिये गया कि वुद्ध के अनुरूप भक्ति का आलम्बन श्रौत परम्परा के साधको को मिले। परन्तु इसमें उन्हे पूरी सफलता नही मिली। कृष्ण-भक्ति के सम्वन्ध मे तो हम कह ही चुके है, राम-भक्ति की भी यही दशा है। राम का तो, जहाँ तक उनके प्रत्यक्ष जीवन का सम्वन्ध है, मुक्ति देने का ढग ही अजीव था। सुवाहु और ताडका को मार कर मुक्ति दी गई। और तो क्या वेचारे निरपराध मृगो को भी इसलिये मरना पडता था क उन्हे करुणासागर राम के द्वारा मुक्ति मिलनी थी। तुलसीदास ने ही लिखा है, "जे मृग राम वान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे"। इस प्रकार के मुक्तिदाता राम स्वय अपने जीवन में थे। उन्ही से मुक्तिदाता प्रभु राम का जन्म हुआ। राम का नाम जपने से भव-सागर सूख जाता है। ठीक है। पर स्वय राम के जीवन में भव-सागर को सुखाने का क्या आधार है? क्या उन्होनें स्वय भव-प्रवाह को सुखाने के लिये कोई उद्योग किया? जिस मुक्ति को वे दूसरो को वाँटते फिरते है क्या उन्होनें भी अपने जीवन में कभी उसे साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया? क्या उनके रागी और भौतिक जीवन में अध्यात्म-साधना को कुछ अवकाश मिलता है? सिवाय दैवी अधिकार के दाशरथि को प्राणियो को मुक्त करने का क्या अधिकार है? अत· जिस प्रकार कृष्ण के जीवन मे उसी प्रकार राम के जीवन में मुक्ति के आश्वासन का कोई ऐतिहासिक आधार हमें नही मिलता। वह ऊपर से जोडी हुई चीज है, महायान वौद्ध धर्म के प्रभावशाली उपास्यदेव शाक्यमुनि के अनुकरण पर और इसीलिये उसमें अधिक वल नही है और आवश्यक असगति भी वहाँ आ गई है। जहाँ तक राम-भक्ति का सम्वन्ध है, यह वात उस परम्परा के साधको को भी खटकी थी और इसी अभाव की पूर्ति के लिये उन्होंने छठी शताब्दी ईसवी में राम का एक वह रूप गढ डाला जो वाल्मीकि-रामायण के राम से विलकुल भिन्न था, परन्तु जिसमें मुक्तिदाता राम के रूप के साथ सगति थी और जो अध्यात्म साधको को भी आकर्षित करने की क्षमता रखता था। राम का यह रूप था योगवासिष्ठ के राम का रूप, जहाँ राम किशोरावस्था से ही विरागी सिद्धार्थ का सा रूप धारण कर लेते हैं और ससार की समस्याओ पर विचार करते हुए पीले पड़ जाते है। स्पष्ट है कि इस रूप का प्राचीन ऐतिहासिक आधार कुछ नही है और इसका निर्माण विलकुल वुद्ध-जीवन के अनुकरण पर किया गया

है, राम के जीवन को साधकों के लिये भी आकर्षक बनाने के लिये, जो वह मौलिक रूप में नही है। हम इस विषय पर पाँचवें अध्याय में योगवासिष्ठ दर्शन के साथ बौद्ध दर्शन की तुलना करते समय आयेंगे। अत यहाँ इस सम्बध में अधिक कहना उचित न होगा।

ऊपर हमने विवेचन की जो दिशा स्वीकार की है उससे हम दो निष्कर्षों की ओर स्वाभाविक तौर पर उन्मुख होते है। एक तो यह है कि काफी हद तक महायान का भक्तिवाद भक्ति-सम्बन्धी उन प्रवृत्तियो का स्वाभाविक विकास है जो हमे बुद्ध के मूल उपदेशो या स्थविरवाद बौद्धधर्म में मिलती है। मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित होना एक ऐसी ही विशेषता है जो महायान की अपनी है। महायान की इस परम्परा को श्रौत परम्परा की भक्ति-धारा ने भी लेने का प्रयत्न किया है और इसी रूप में कृष्ण और राम के उपास्य रूपो का बहुत कुछ उद्भावन हुआ है, यह हम दिखा चुके है। बौद्धधर्म के लिये, जो मूल रूप में एक ज्ञानवादी धर्म था, यह कुछ कम गौरव की बात नही है कि अपने पारिभाषिक धार्मिक अर्थ में 'भक्ति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमे बौद्ध-साहित्य मे ही मिलता है, किसी वैदिक शास्त्रीय ग्रन्थ में नही। थेरगाथा में कहा गया है "सो भत्तिमा नाम च होति पण्डितो ञत्वा च धम्मेसु विसेसि अस्स"। इस प्रकार अत्यन्त सावधानी के साथ हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि 'पूर्वतम काल से भक्ति बौद्ध आदर्श का एक आन्तरिक अविभाज्य अग था'[1] और "इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक था कि भक्ति का विचार पहले बौद्धो में ही उगा और समृद्ध हुआ, न कि हिन्दुओ में"[2]। बौद्ध धर्म मे भक्ति के जिस विशिष्ट रूप का विकास हुआ, उसको देखते हुए डा० हरदयाल के ये कथन ठीक है।

परन्तु हमारे विवेचन की दिशा और ऊपर उद्धृत तथ्यो का अविवाद प्रभावशाली साक्ष्य हमें एक दूसरे निष्कर्ष की ओर भी उन्मुख करता है, जो तत्वत. पहले निष्कर्ष के विरोध में नही है। वह निष्कर्ष यह है कि भक्ति की साधना किसी न किसी रूप में बुद्ध-धर्म के आविर्भाव-काल बल्कि उसके कुछ पूर्व से ही प्रचलित थी और उसने अवश्यम्भावी रूप से महायान के

---

(१) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३२
(२) वहीं पृष्ठ ३३

भक्तिवाद को प्रभावित किया है। आदिम वौद्ध धर्म मे भक्ति का जितना तत्त्व था उसका ही विकास महायान में नही हुआ है, उससे कुछ अधिक भी वहाँ आगया है और वह निश्चयत गीता और श्रौत परम्परा के भक्तिवाद की देन है। स्थविरवाद वौद्धधर्म के वुद्ध वडे निर्मम व्यक्ति है। वे कर्म चाहते हैं, शरण नही। कर्म-दायाद होना और वुद्ध-दायाद होना या वुद्ध की शरण जाना वहाँ दोनो प्राय समानार्थक है। परन्तु महायान ने शरणागति को अत्यधिक महत्त्व दे दिया है, जो गीता के भक्तिवाद के प्रभाव स्वरूप ही है। स्थविर-वाद के वुद्ध अर्थात् मानव-वुद्ध अपने शरीर को उसी प्रकार गन्दी काया (पूति काय) समझते थे जिस प्रकार किसी अन्य की। इसीलिये उन्होने वक्कलि से कहा था 'किमिना पूतिकायेन दिट्ठेन' इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ? इस प्रकार कहने वाले वुद्ध कभी यह नही चाह सकते थे कि उनके शरीर की मूर्तियाँ वनाई जाय और उनकी पूजा की जाय। प्रसेनजित् भगवान् के पैरो मे पड कर एक अनुरक्त भक्त की भाति उनकी पूजा करता था, परन्तु निर्मम वुद्ध उससे पूछते थे' तू क्या देखकर इस शरीर में इतना आदर प्रदर्शित करता है'? इस प्रकार पूछने वाले वुद्ध कभी यह अनुमति नही दे सकते थे कि उनके शरीर की पूजा की जाय? आनन्द ने जव अन्तिम समय उनसे पूछा था कि उनके शरीर के सम्वन्ध मे क्या किया जाय, तो उन्होने उनसे यही कहा था कि भिक्षुओ के लिये एक उच्चतर कर्त्तव्य है जिसका उन्हे पालन करना चाहिये और वह है वोधि पक्षीय धर्मों का अभ्यास। तथागत की शरीर-पूजा एक निम्नतर कोटि का पुण्य-कार्य है जिसे गृहस्थ उपासक कर सकते है। वुद्ध अनुभव करते थे कि मार्ग दिखाने के अतिरिक्त वे अपने शिष्यो के लिये कुछ नही कर सकते, इसीलिये कर्म करने के लिये वे उन्हे सदा सजग किया करते थे। कर्म के नियम को तथागत जानते थे कि वह किसी की अपेक्षा नही करता, तथागत की भी नही। इसीलिये वे 'कर्म', 'कर्म' कहते थे। परन्तु वही तथागत महायान मे आकर गीता के कृष्ण की भांति कहने लगे है—मै इस जगत् का पिता हूँ[1]—मुझसे ही सव कुछ प्रवर्तित हुआ है—मुझमे मन लगाओ—मुझमें वुद्धि को प्रविष्ट करो—मैं तुम्हे मुक्ति दूगा—मेरा नाम जपो—मुझे प्रणाम करो,

---

(१) देखिये सद्धर्मपुण्डरीक १३६-४; १०८-१७; ८९-१२, ९०-२; मिलाइये गीता ९-१७ 'पिताहमस्य जगतः'।

आदि। तो ये बातें कहाँ से आई ? निश्चयत आदिम बौद्ध साधना में न केवल इनके लिये कोई अवकाश ही नही है बल्कि कुछ हालतो में ये उससे मौलिक रूप से विभिन्न भी है। पालि निकायो के बुद्ध के रूप को स्मरण करते हुए हम यह कल्पना भी नही कर सकते कि वे स्वयम्भू भी हैं, जगदीश्वर भी है, उनकी मूर्ति की पूजा भी करनी है, उनका नाम भी जपना है, आदि-आदि। निश्चयत ये बातें भागवत धर्म से ही बौद्ध धर्म को मिली हैं और इनका मिलना अत्यन्त स्वाभाविक था। वह केवल युग की आवश्यकता मात्र न थी, मानव हृदय की वह एक आवश्यकता भी थी। केवल ज्ञानवाद, चाहे वह जितना उच्च हो, मानव को पूरा आश्वासन नही दे सकता। बुद्ध के मौलिक उपदेशो को समझने और उन पर अभ्यास करने के लिये आत्मा का महान् बल चाहिये। बुद्ध के व्यक्तित्व के साक्षात् सम्पर्क के परिणाम स्वरूप वह बल उनके प्राथमिक शिष्यो को प्राप्त था। परन्तु बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद अधिक आश्वासन की आवश्यकता थी, उससे अधिक जितना बुद्ध की कर्मवादी शरणागति मात्र से मिल सकता था। यह मानव हृदय की आवश्यकता थी, धार्मिक विकास की आवश्यकता थी, फिर चाहे यह मानव की निर्बलता के परिणाम स्वरूप ही क्यों न उत्पन्न हुई हो। महायान ने भक्ति के सिद्धान्त को दूसरी जगह से लेकर उसे बुद्ध में प्रयुक्त कर इस कमी को पूरा कर दिया। बुद्ध परमेश्वर हो गये, उनके नाम-जप से मुक्ति का आश्वासन मिल गया, उनकी पूजा करना, उनको प्रणाम करना पुण्य कार्य हो गया, शरणागति मात्र से मुक्ति का आश्वासन मिल गया। नारकीय जीव भी तरने लगे, बोधि-सत्त्व की करुणा ने कर्म के नियम को मेट दिया। यही तो चाहिये था। बौद्ध धर्म अब सच्चे अर्थों में लोक-धर्म बन गया। यह सब महायान ने भागवत-धर्म के प्रभाव स्वरूप किया, ऐसी हमारी मान्यता है। इसीलिए सर्वांश में हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत नही हो सकते कि बौद्धधर्म ने भक्ति के विचार को उत्पन्न किया और हिन्दू धर्म से उसे उधार नही लिया'[१]। यदि हम भक्ति की उत्पत्ति बौद्धधर्म में स्वीकार करेंगे तो स्थविरवाद बौद्धधर्म की हम एक ऐसी व्याख्या में जा पड़ेंगे जो अत्यन्त विकृत होगी और जिससे कोई प्राचीन या अर्वाचीन स्थविरवादी बौद्ध विद्वान् सहमत न होगा। इसलिये जब हम बौद्ध धर्म में भक्ति की बात कहें तो हमें

(१) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३-३४

अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। महायान के सम्बन्ध में चाहे जो कहा जाय, स्थविरवाद बौद्ध धर्म में भक्ति की विद्यमानता एक सीमित अर्थ में ही, जैसा हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं, स्वीकृत की जा सकती है। अतः यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि महायान में जो नया है वह बाहर से लिया गया है। जब महायान ने तातार, ईरान, अफगानिस्तान और जापान जैसे दूरस्थ देशों की संस्कृतियों और धार्मिक मान्यताओं से समन्वय स्थापित किया तो यह स्वीकार करने में उसकी कोई गौरव-हानि नहीं है कि उसने भागवत भक्ति से भी काफी ऋण लिया है जो बुद्ध को वह रूप प्रदान करने के लिये उत्तरदायी है, जो उसे महायान में मिला है। सद्धर्म-पुण्डरीक और भगवद्गीता में अनेक समानतायें हैं और बुद्ध के लिए प्रायः उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कृष्ण के लिये गीता में। उनसे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सद्धर्मपुण्डरीक उनके लिये गीता का ऋणी है, न कि यह, जैसा कि डा० हरदयाल ने अत्यन्त भ्रमपूर्वक निकाला है, कि उनका आविष्कार पहले बौद्धों ने किया और बाद में वैष्णव नेताओं ने उनका उपयोग किया[1]। एक बात जो एक जगह परम्परा के रूप में चली आ रही है (जैसा हम उद्धरणों के आधार पर पहले दिखा चुके हैं) और दूसरी जगह अकस्मात् आ टपकती है (जैसा बुद्ध का अपने को स्वयम्भू, जगत्पिता और जगदीश्वर आदि कहने लग जाना) तो इससे यही निष्पक्ष निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि वह परम्परागत विचार धारा से ही ली गई है। गीता और महायान बौद्ध धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देश के लिए इतना विवेचन काफी है। अब हम ऐतिहासिक विवेचन को छोड़ महायानी भक्तिवाद के स्वरूप को कुछ समझना चाहते हैं।

महायान में आकर भगवान् बुद्ध एक प्रकार ईश्वर बन गये जिनकी पूजा करनी है और जिनमें विश्वास करना है। उनके साथ अन्य अनेक देवता भी आये जिन्हें बोधिसत्त्व कहते हैं, जिन पर हम अभी विचार करेंगे। बुद्ध अब स्वयम्भू हो गये, केवल अपनी कृपा के द्वारा, जगत् के सन्तारक[2] या उद्धारक बन गये। बुद्ध की कृपा अब एक प्रकार भागवती कृपा हो गई।

(१) वहीं पृष्ठ ३३–३४

(२) सद्धर्मपुण्डरीक २।११ में बुद्ध को 'सन्तारक' कहा गया है, जो गीता के 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' के प्रायः समान है।

कृष्ण के समान उन्होने अब अपने भक्तो और शरणागतो के योगक्षेम का भार ले लिया। "जितने दुःखी प्राणी हैं उन सबका भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ" इस प्रकार का सकल्प अवलोकितेश्वर बुद्ध करने लगे, जो बाद में तिब्बत के राष्ट्रीय देवता बने। अपने आप विमुक्ति प्राप्त करने का जो धर्म था वह अब न रहा। अब स्वय स्वयभू बुद्ध मनुष्यो की विमुक्ति की चिन्ता करने लगे और वह उन्हें मिलने भी लगी। चीन में सुखावती (त्सिङ्ग तु) सम्प्रदाय महायान के अन्तर्गत खूब चला। इस सम्प्रदाय के देवता अमिताभ बुद्ध एक प्रकार देवाधिदेव बन गये। अमिताभ कारुणिक पिता है, जिनकी शरण शताब्दियो से सुदूरपूर्व में असख्य स्त्री-पुरुष लेते रहे है, "श्रद्धापूर्वक मैं अमिताभ की शरण जाता हूँ"। अमिताभ को नमस्कार करना मुक्ति का मार्ग है। 'नामु अमिता बुत्सु' (नम अमित बुद्धाय) इस मन्त्र का करोडो की सख्या में प्रतिदिन जाप चीन और जापान में आज भी किया जाता है। वह उन्हें विपत्ति मे आश्वासन देता है और दुःख में शान्ति। अमिताभ ने सकल्प किया है, "मै स्त्रियो को भी तारूँगा।" अत स्त्रियाँ भी उनके नाम को जप कर मुक्ति प्राप्त कर सकती है। स्त्रियो की विमुक्ति अमिताभ के सकल्प में सम्मिलित है। बुद्ध-भक्ति का सबसे अधिक प्रचार जापान में हुआ। वहाँ के मनीषी साधक भिक्षु होनेन् (१२ वी शताब्दी) ने जोदो-शु (सुखावती सम्प्रदाय) की स्थापना कर बुद्ध-भक्ति को करोडो का आश्वासन बना दिया। होनेन् का कहना था कि कोई भी व्यक्ति चाहे मूर्ख हो, या पडित, किसी भी वर्ग, समाज या देश का हो, यदि वह अमिताभ (जापानी अमिद) बुद्ध की अनन्त करुणा मे श्रद्धा रखता है, तो वह ससार के सभी दुःखो और पापो से विमुक्त हो जाता है। ऐसा कहा जाता है कि मनीषी होनेन् ने त्रिपिटक की ५००० जिल्दो का पाँच बार पारायण किया था। जब वे एक दिन एक चीनी भिक्षु जैन्दो (सातवी शताब्दी ईसवी) की किसी चीनी बौद्ध ग्रन्थ की टीका को पढ रहे थे, जिसमें अमिताभ सम्बन्धी उपदेश दिया गया था, तो उनकी अन्तर्दृष्टि इन शब्दो पर जम गई, "सब कुछ छोडकर अमिताभ के नाम का अपने सम्पूर्ण हृदय से स्मरण करो"। उसी समय से भिक्षु होनेन् ने अपने सम्पूर्ण धार्मिक अध्ययन और अभ्यास को छोड दिया और प्रतिदिन बुद्ध अमिताभ के नाम का ६०,००० बार जप करने लगे। यह सन् ११७५ ई० की बात है। इस प्रकार सन् ११७५ में सुखावती सम्प्रदाय (जोदो-शु) की स्थापना हुई। अमिताभ के नाम को जप कर अधम प्राणी भी 'सुखावती लोक' में जन्म लेते हैं, ऐसा

जापान में आज भी दो करोड लोगो का जीवन्त विश्वास है। अमिताभ की अनन्त करुणा में मनुष्य को असीम आश्वासन है। उनकी करुणा सब कुछ है। मनुष्य की क्षमता, उसके पुण्य, उसका अभ्यास, उसका पुरुषार्थ, सब नगण्य है। जापान के महायानी साहित्य में, विशेषत. जोदो-शु सम्प्रदाय में, अमिताभ की करुणा का सिद्धान्त बार-बार प्रख्यापित किया गया है। होनेन् के शिष्य शिनरेन् का कहना है "बुद्ध की करुणा की प्रार्थना जितनी अधिक हो सके हमें करनी चाहिये। हम उनकी सहायता से ही, उनकी शक्ति से ही, लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है। अपनी स्वय की शक्ति से हम लक्ष्य की प्राप्ति नही कर सकते, हम चाहे जितना प्रयत्न करें।" इस भावना में मानवीय पुरुषार्थ के ऊपर भागवती करुणा की, अमिताभ की कृपा की, स्थापना की गई है। एक अन्य स्थान पर पुरुषार्थ की अपूर्णता दिखाते हुए उन्होंने कहा है, "जो स्वय अपनी शक्ति से पुण्य करना चाहता है वह अमिताभ के मुक्ति-सम्बन्धी सकल्प मे सम्मिलित नही है। परन्तु जो अपनी शक्तिय। मे विश्वास रखते हुए भी अपने हृदय को अमिताभ की ओर मोडता है और विनम्रता-पूर्वक अपने सम्पूर्ण हृदय से सहायक अमिताभ की शक्ति में विश्वास रखता है, उसे अवश्य सच्चे जीवन की प्राप्ति होगी। हम किसी अन्य प्रकार ससार से अपने को मुक्त नही कर सकते, क्योकि हम वासनाओ के बन्धनो से बँधे हुए है। चूंकि अमिताभ ने हम पर करुणा कर हमारी विमुक्ति के लिये सकल्प किया है, अनादिकाल से चूंकि उनका उद्देश्य ही रहा है पापी प्राणियो को बुद्धत्व प्राप्त कराना, इसलिये ऐसे पापी लोग जो अमिताभ में अपना विश्वास रक्खेंगे, सर्व प्रथम सच्चे जीवन में प्रवेश करेंगे। इस प्रकार यह वचन सत्य होगा, 'यदि पुण्यात्मा सच्चे जीवन में प्रवेश करेंगे, तो उनसे अधिक पापी भी ऐसा करेंगे"। इस प्रकार पापियों को महान् आश्वासन महायान ने दिया। शिनरेन् ने कहा है कि अमिताभ का नाम-जप ही पर्याप्त नही है। हमारे अन्दर गम्भीर श्रद्धा भी जमनी चाहिये। नाम-जाप के साथ आध्यात्मिक प्रामोद्य का अनुभव होना चाहिये। अक्सर ऐसा नही होता। इसलिये श्रद्धा को दृढ़ करने और आध्यात्मिक प्रसन्नता को उत्पन्न करने के लिये निम्नलिखित साधनो पर जोर दिया गया है —

(१) गुरु के समीप जाकर सत्सग करना और बुद्ध-पूजा करना।

(२) धर्म-शास्त्रो का स्वाध्याय और उनके अनुसार आचरण।

(३) धीमी ध्वनि में 'नमु अमिदा वुत्सु' (नम. अमित बुद्धाय) मन्त्र का जप करना।

(४) चित-शुद्धि का उपाय करना।

अमिताभ की भक्ति से आश्वस्त जापानी बौद्धो का यह उद्गार कितना भक्ति-भाव से पूरित है—

'उनके (अमिताभ) के सुखमय लोक में हम जन्म लेंगे, इसलिये हम आश्वस्त हैं,
हम उनके नाम को जपते है और उनमें हमारी श्रद्धा है,
भव-सागर के पार हम किसी अन्य प्रकार नही उतर सकते,
सिवाय अमिताभ के हम सवको तारने के सकल्प रूपी नाव में
बैठकर पार उतरने के'[1]।

सचमुच जापानी महायानी धर्म में पापियो के लिये वडी सान्त्वना है और महायान के भक्तिवाद ने इस प्रकार वहाँ अपने पूर्ण रूप को प्राप्त किया है।

प्रज्ञा पारमिताओ की वात यदि हम छोड दे तो वुद्ध-भक्ति के सर्व-प्रथम आचार्य अश्वघोष हुए हैं। यह एक अत्यन्त सार्थक वात है कि आचार्य अश्वघोष वैदिक साहित्य के एक पारगत पण्डित थे और उन्होने प्राचीन पौराणिक ज्ञान सम्वन्धी अपनी वहुज्ञता का जो परिचय दिया है वह तो भारतीय काव्य-साहित्य मे अद्वितीय है। इस प्रकार के आचार्य के द्वारा प्रथम वार वुद्ध-भक्ति की साधना की गई, यह इस वात का निर्विवाद सूचक है कि भक्ति श्रौत परम्परा की भक्ति-धारा के परिणाम स्वरूप ही बौद्ध धर्म में आई है। अश्वघोष ने बौद्ध धर्म की जो व्याख्या की वह भी ऐसी थी जो उसे उपनिषदो के दर्शन के समीप ले आई है, यह हम आगे चलकर देखेंगे। यहाँ हमें यही देखना है कि आर्य अश्वघोष प्रथम विचारक थे जिन्होंने वुद्ध-भक्ति को प्रश्रय दिया। उनके वाद प्राय सभी महायानी ग्रन्थो में तो वुद्ध-भक्ति का प्रख्यापन है ही, महायान के भक्तिवाद का सर्वोत्तम भावुक रूप हमें शान्तिदेव (सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी) की रचनाओ 'वोधि-चर्यावतार' और 'शिक्षासमुच्चय' में मिलता है। शान्तिदेव तो सचमुच बौद्धो के तुलसीदास जैसे ही लगते है । वही दीनता, वही पाप-विमुक्ति के लिये हृदय की व्याकुलता, वही बुद्ध की पूजा और वन्दना, वही भक्त की सी

---

(१) मसाहरु अनेसाकि . हिस्ट्री ऑव जापानीज रिलिजन, पृष्ठ १८५

तल्लीनता, वही आत्मविस्मृति, वही आत्म-समर्पण की महती भावना ! आश्चर्य तो यह है कि इस भिक्षु-महाकवि ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों के दास होने की बात भी कही है। बौद्ध धर्म में दास्य-भक्ति का सन्देश लाने वाले यह प्रथम भिक्षु-साधक हैं। वही दास-भक्त की सी दीनता शान्तिदेव में है, वही आत्मोत्सर्ग की प्रवृत्ति, वही अपने उपास्य के साथ तादात्म्य की छटपटाहट और बौद्ध नैतिक आदर्शवाद की पूरी अभिव्यक्ति के साथ। तुलसीदास की भक्ति का भी नैतिक अधिष्ठान है। शान्तिदेव सब प्रकार तुलसीदास के पूर्व रूप जैसे लगते हैं और आश्चर्य यह है कि वे बौद्ध भिक्षु हैं, शून्यवादी ! बौद्ध भक्ति के सर्वोत्तम रूप के उनकी रचनाओं में हमें दर्शन होते हैं। बोधिसत्व की साधना बोधि-चित्त के उत्पाद से आरम्भ होती है। परन्तु स्वयं बोधि-चित्त को उत्पन्न करने के लिये भक्ति आवश्यक है। 'शिक्षा समुच्चय' और 'बोधिचर्यावतार' में बोधि-चित्त की उत्पत्ति के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक मानी गई हैं, जिन्हें हम बौद्ध-भक्ति के अङ्ग कह सकते हैं:—

(१) वन्दना और पूजा—बुद्ध और बोधिसत्वों की वन्दना आवश्यक है और उनकी पूजा भी। शान्तिदेव संसार के सारे पदार्थों से बोधिसत्व की पूजा करना चाहते हैं। वे संसार के सारे पुष्प, सारे वृक्ष, सारे फल, भगवान् को अर्पण करते हैं। परन्तु दूसरे क्षण उन्हें ध्यान आता है, ये तो मेरे नहीं हैं। तब वे कहते हैं "मैं अपने आपको जिन (बुद्ध) को समर्पित करता हूँ। मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से बोधिसत्वों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ। हे कारुणिक प्राणियो ! मुझ पर अधिकार करो। मैं प्रेम के द्वारा तुम्हारा दास हो गया हूँ[१]।" कितनी व्याकुलता है शान्तिदेव के आत्म समर्पण में ! भिक्षु जैसे वैष्णव भक्त बन गये हैं, केवल उनके प्रभु भगवान् बुद्ध और बोधिसत्व हैं। वे अपने भगवान् की प्रत्येक तुच्छ से तुच्छ सेवा करने को तैयार हैं। पूरा आत्म समर्पण हमें शान्तिदेव की भक्ति-साधना में मिलता है।

(२) शरण-गमन—मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस प्रकार की प्रत्येक क्षण अनुभूति साधक को करनी चाहिये। त्रिशरण की योजना में संघ का स्थान बोधिसत्वों ने महायान में ले लिया है, यह याद रखना चाहिये। शरणागति महायान में अधिक महत्वपूर्ण हो गई है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

(३) पाप-देशना—भिक्षु-कवि अपने पाप-कर्मों का उद्घाटन करता है। पाप-विमुक्ति के लिये उसकी छटपटाहट किसी वैष्णव भक्त-कवि से

(१) बोधिचर्यावतार २।८

कम नही है। वह अपने को पापी कहता है। 'मो सो कौन कुटिल खल कामी' उसकी भावना के सम्बन्ध में पूरी तरह कही जा सकती है। वह पूर्व-कृत पाप के लिये प्रायश्चित करता है, आगे पाप न करने के लिये सकल्प करता है। वह सफलता के लिये बोधिसत्व की शरण में जाता है। उसकी आत्मा बिलखती है, "जो भी पाप कर्म मैंने इस जीवन या अतीत जीवनो में किये है या दूसरो को करने की प्रेरणा की है, उन सबको मैं स्वीकार करता हूँ। मैं पश्चात्ताप से जल रहा हूँ। मैंने अपने अज्ञान से मृत्यु को प्राप्त किया है। हे मुनियो! मैंने अपने मन और शरीर से त्रिरत्न के विरोध में अनेक पाप किये है, मै उन सबको स्वीकार करता हूँ। मै अनेक अपराधो को करनेवाला पापी हूँ। मैं कैसे पाप से विमुक्ति प्राप्त करूँगा। मै अत्यन्त भयभीत हूँ कि पापो का भार फेंकने से पूर्व ही मैं कही न मर जाऊँ"[१]। शान्तिदेव पापो से विमुक्ति प्राप्त करने के लिये बोधिसत्व की सहायता की याचना करते हैं। वे कहते है कि वे बुद्ध की शिक्षाओ का उसी प्रकार अनुसरण करेंगे जैसे रोगी वैद्य का।

(४) पुण्यानुमोदना—कवि-साधक दूसरो के पुण्यो का अनुमोदन करता है, दूसरो के अच्छे कृत्यो को देखकर उनकी प्रशसा करता है और प्रसन्नता अनुभव करता है[२]।

(५) अध्येषणा—(प्रार्थना) और याचना—भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है, याचना करता है, उपदेश देने के लिये। वह चाहता है कि भगवान् स्वय महापरिनिर्वाण में प्रवेश न कर उसके अनुकम्पार्थ उपदेश करें[३]।

(६) आत्मभावादिपरित्याग—भिक्षु-साधक अहभाव के निरोध का प्रयत्न करता है। विश्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करने की उसकी जितनी व्याकुलता है उतनी तो किसी वेदान्ती की भी नही देखी गई। बीमारों के लिये वह औषध बनना चाहता है। जो रोगी है उनके लिये वह वैद्य बनकर परिचर्या करना चाहता है, जो आदमी उसे गाली देते हैं या उसकी हानि करते हैं उनके लिये उसकी कामना है कि वे भी निर्वाण प्राप्त करें। सब कुछ का उत्सर्ग कर देना ही निर्वाण है और इसी में भिक्षु-साधक का मन लगा है। उसकी कामना है कि जो कुछ भी पुण्य उसने शुभ कर्मों के द्वारा

(१) देखिये बोधिचर्यावतार २।२८–३२

(२) देखिये बोधिचर्यावतार ३।१–३

(३) देखिये वहीं ३।४–५

कमाया है, उससे सम्पूर्ण दु खी प्राणियो का दु ख दूर हो, उनके दु ख की शान्ति हो[1]। जबकि शान्तिदेव की विनम्रता, अहंभाव का निरोध, बुद्ध-वन्दना और तल्लीनता सब वैष्णव भक्तो की सी हैं, एक बात उनमें उनसे बढकर है। दु खी प्राणियो के साथ आत्मसात् होने की उनकी व्याकुलता वैष्णव भक्तो की इस सम्बन्धी भावना से काफी बढकर है। तुलसीदास जी भी वैसे तो भावना करते है कि 'परहितनिरत निरन्तर मनक्रम वचन नेम निबहोगे', परन्तु यह भक्त साधक कभी-कभी अपनी असमर्थता देखकर 'को करि सोचु मरे तुलसी हम जानकिनाथ के हाथ बिकाने' भी कहने लगते हैं। परन्तु बौद्ध साधक के हृदय में दु खी प्राणियो के हृदय में पैठकर उनके दु ख को बाँटने की जो अकुलाहट है, वह तो बिल्कुल उनकी अपनी है, बौद्ध साधना की है। एकात्मबोध की अपनी इस अनुभूनि में बौद्ध साधक जैसे वेदान्ती और वैष्णव भक्त दोनो को पीछे छोड गये है। शान्तिदेव की भक्ति-विभोर पक्तियो को पढकर यह निष्कर्ष मन पर अपनी छाप छोड जाता है। बौद्ध साधक ने कहा है "जैसे अपने निरात्मक शरीर में अभ्यास से आत्मबुद्धि होती है, वैसे ही दूसरो में भी अभ्यास से आत्मबुद्धि क्यो न हो[2] ?" हम यहाँ देखते है कि बौद्ध दर्शन अपनी मौलिक भूमि (अनात्मवाद) को छोड़कर एकात्म बोध रूप अद्वैत-भूमि की ओर प्रगमन कर रहा है और यह सातवी शताब्दी ईसवी है। । भिक्षु साधक की कामना है, "मुझे दूसरो का दु ख देखकर निजी दु ख की तरह ही उसे दूर करना चाहिये। जैसे मेरे सत्त्व है वैसे ही उनके सत्त्व है। इसलिये अपने सत्त्व की तरह मुझे उनपर भी अनुग्रह करना चाहिये[3]।" वह दूसरो के दु ख को अपने ऊपर लेना चाहता है। अपने और पराये के भेद को मिटाने की उसकी साध है[4]।

(१) एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया साधितं शुभम्। तेन स्यां सर्वभूतानां सर्व-दु:खप्रशान्तिकृत्॥ बोधिचर्यावतार ३।६

(२) यथात्मबुद्धिरभ्यासात्स्वकायेऽस्मिन्निरात्मके। परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्या-सान्न जायते॥ बोधिचर्यावतार ८।११५

(३) महाऽन्यदुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत्। अनुग्राह्या मयाऽन्येऽपि सत्वत्त्वादात्मसत्त्ववत्। बोधिचर्यावतार ८।९४

(४) यदा मम परेषां च भय दुःखं च न प्रियम्। तदात्मन को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम्॥ कवि-साधक की इस सम्बन्धी पूरी भावनाओं के लिये देखिये बोधिचर्यावतार ३।६–१९

इस प्रकार हमने महायान में गृहीत भक्ति-भाव पर कुछ विचार किया है। इस लेखक का विचार है कि वैष्णव-भक्ति परम्परा में दीनता, निरभिमानिता, भर्त्सना, भय-दर्शन, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा आदि जो विनय के लिये आवश्यक तत्व माने गये हैं और जिन्हें विनयपत्रिका आदि ग्रन्थो में भली प्रकार देखा जा सकता है, शान्तिदेव की भक्ति-विभोर रचनाओ में भी उन्हे पूरी तरह ढूढा जा सकता है। अब हम महायान की प्रतिष्ठा स्वरूप उसके बोधिसत्व-सिद्धान्त पर आते हैं।

बोधिसत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त और स्थविरवादी अर्हत् आदर्श से उसकी तुलना

महायान ने एक अद्वितीय महिमाशाली सिद्धान्त का उद्भावन किया है और वह है बोधिसत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त। वस्तुत महायान बोधिसत्त्व-यान ही है। अत उसमें बोधिसत्व सिद्धान्त का आधारभूत महत्त्व आसानी से समझा जा सकता है। 'बोधिसत्त्व' शब्द का प्रयोग पालि निकायो में अनेक बार हुआ है। दीघ-निकाय के महापदान-सुत्त और मज्झिम-निकाय के अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त जैसे अनेक सुत्तो में हम इस प्रकार के वाक्य पढते है, 'बुद्ध होने से पूर्व जबकि मै बोधिसत्त्व ही था।' यहाँ 'बोधिसत्त्व' शब्द का अर्थ बोधि के लिये यत्नशील प्राणी होता है। भगवान् बुद्ध इस प्रकार अपने पूर्व-जन्मो में जबकि वे बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये साधना कर रहे थे, बोधिसत्व थे। बोधिसत्त्व ही आगे चलकर बुद्ध बनता है। इसी अर्थ में भगवान बुद्ध अपने पूर्व-जन्मो बोधिसत्त्व कहे गये है। जातको की कहानियाँ बुद्ध के पूर्व जन्मो से सम्बन्धित है, अर्थात् वे बोधिसत्त्वो की कहानिया है। इस प्रकार बोधिसत्त्व का विचार पालि साहित्य में सुप्रतिष्ठित है, परन्तु महायान ने इसे एक निश्चित और व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है।

महायान के अनुसार बोधिसत्त्व वह महाप्राणी है जो अपने व्यक्तिगत निर्वाण को प्राप्त होने पर भी तब तक उसे स्वीकार नही करता जब तक कि विश्व के अन्य सब प्राणी मुक्त न हो जायँ। वह पर-विमुक्ति के लिये आत्म-विमुक्ति का उत्सर्ग करता है। अपनी मोक्ष की स्पृहा को पर-कल्याण के लिये छोडता है। आत्म-विमुक्ति से सेवा उसके लिये बडी है। निर्वाण उसके लिये स्वार्थ है, क्षुद्र आदर्श है। पर-सेवा के लिये, दूसरो को दुःख से विमुक्त करने के लिये, अपने परमार्थ का भी उत्सर्ग करदेना, यही

उसके लिये सत्य का महान् मार्ग है, महायान है। वस्तुत. स्वार्थ के ऊपर परार्थ की प्रतिष्ठा ही महायान है, बोधिसत्वो का यान है।

महायान की मान्यता के अनुसार साधको की तीन श्रेणियाँ है, श्रावक प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व। श्रावक (शिष्य) वे साधारण योग्यता के पुरुष हैं जो केवल अर्हत्त्व के आदर्श को प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अर्हत्त्व का आदर्श क्या है, यह हम अभी देखेंगे। प्रत्येकबुद्ध वे प्राणी है जो अपने आपके लिये अर्थात् व्यक्तिगत रूप से (प्रत्येक) बुद्ध या ज्ञानी होते है और अपने निर्वाण को विना किसी गुरु की सहायता के (अनाचार्यकम्) खोज लेते है, परन्तु जो दूसरो को उपदेश देकर उन्हें निर्वाण प्राप्त करने के लिये सहायता करने में असमर्थ होते है। प्रत्येकबुद्ध केवल अपने निर्वाण को जानने वाले हैं, दूसरो को निर्वाण प्राप्त कराने की क्षमता उनमें नही होती। बोधिसत्त्व वे महाप्राणी है जो सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करने के लिये उद्योग करते है और व्यक्तिगत निर्वाण का निषेध कर पर-सेवा में रत रहते हैं। श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व, साधको की इन तीन श्रेणियो के अनुरूप तीन प्रकार की बोधियाँ है और तीन प्रकार के यान जो साधनावस्था के तीन विभिन्न नही बल्कि क्रमिक विकसित होने वाले स्वरूप हैं। श्रावक-बोधि, प्रत्येक बोधि और अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि ये तीन बोधिया हैं, जो क्रमश. श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व से सम्वन्धित है। इसी प्रकार इन्ही से सम्वन्धित तीन यान है, यथा श्रावक-यान, प्रत्येक बुद्धयान और महायान। "त्रीणि यानानि श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान महायान च"। 'यान' शब्द का अर्थ महायान के प्राथमिक विकास में 'मार्ग' था[1] और फिर बाद में वह 'वाहन' भी हो गया। सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र (तृतीय अध्याय) में इस शब्द का प्रयोग 'वाहन' के अर्थ मे ही किया गया है। 'श्रावक' शब्द का प्रयोग महायानी साहित्य में बुद्ध के प्रथम शिष्यो के लिये किया गया है, जिनका वर्णन पालि त्रिपिटक में है। श्रावक और अर्हत् शब्दो का प्रयोग इस प्रकार समान अर्थों में सद्धर्मपुण्डरीक में किया गया है। पहले 'अर्हत्' शब्द का प्रचलन महायानी साहित्य में अधिक था परन्तु बाद में 'श्रावक' शब्द का प्रयोग अधिक हो गया और अर्हत् शब्द बहुत कम व्यवहार होने

(१) उपनिषदो को भी प्राय. यही अर्थ मान्य है। देखिये 'देवयानस्य पितृयानस्य च' आदि छान्दोग्य ५।३।२; देखिये पीछे पृष्ठ ४४ पदसंकेत ३ भी।

लगा। श्रावक-यान और प्रत्येक बुद्ध-यान इन दोनो यानो को महायान ने 'हीन' कहा है क्योकि ये केवल अपने आस्रवों का क्षय करके निर्वाण की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हो जाते है, परन्तु बोधिसत्त्व का लक्ष्य होता है बोधि या बुद्धज्ञान की प्राप्ति करना। इस प्रकार अर्हत् से ऊपर बोधिसत्त्व है। यह बात यहाँ अत्यधिक ध्यान देने की है कि महायान ने अर्हत् के आदर्श को निर्वाण बताया है परन्तु बोधिसत्त्व के लक्ष्य के सम्बन्ध में उसने सदा 'अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार उसने सम्यक् सम्बोधि को, जिसके लिये बोधिसत्त्व प्रयत्नशील होता है, एक उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति माना है अपेक्षाकृत निर्वाण के जो अर्हत् का आदर्श है। निर्वाण के ऊपर बोधि का स्थान महायान ने रक्खा है जिस प्रकार अर्हत् के ऊपर बोधिसत्त्व का। बोधिसत्त्व बोधि के लिये प्रयत्नशील होता है और निर्वाण का निषेध करता है क्योकि दुःखपूर्ण ससार में जन-सेवा करनी है, लोगो को दुःख विमुक्त करना है। स्वय निर्वाण की कामना न करते हुए भी बोधिसत्त्व दूसरो को निर्वाण पर लगा सकता है जबकि वह स्वय केवल अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि के लिये ही प्रयत्नशील होता है। सद्धर्मपुण्डरीक में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि अर्हत् को, जिसके अस्राव क्षीण हो गये है, आगे बढ़ना चाहिये और अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये[1]। निर्वाण अन्तिम नही है उसके बाद तथागतज्ञान के द्वारा सम्यक् सम्बोधि की खोज करनी चाहिये[2]। इस प्रकार महायान ने अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि को निर्वाण से भिन्न और उच्चतर स्थिति देदी है, जबकि पालि निकायो के आधार पर उनमें इस प्रकार का विभेद नहीं किया जा सकता।

अर्हत् का आदर्श क्या है? क्यो और किस प्रकार महायान को उसके ऊपर बोधिसत्त्व-सिद्धान्त को स्थापित करने की आवश्यकता पडी? भगवान् बुद्ध के मूल उपदेशो में, जो पालि निकायो में निहित है, अर्हत्त्व की प्राप्ति को ब्रह्मचर्य का, जीवन-साधना का, अन्तिम लक्ष्य बताया गया है। इस प्रकार 'अर्हत्' पद की प्राप्ति वहाँ एक बडा गौरव है। स्वय भगवान् बुद्ध 'अर्हत्' कहे गये है। हम जानते हैं कि स्वय भगवान् बुद्ध के चिर उपस्थाक शिष्य आनन्द, जो छाया की तरह भगवान् के पीछे घूमते थे और अत्यन्त उच्च

(१) देखिये ४३।११; १३७।५; १४२।३
(२) सद्धर्मपुण्डरीक २१०।१-४

कोटि के साधक भी थे, भगवान् के परिनिर्वाण-काल तक अर्हत्त्व प्राप्त नही कर पाये थे। अतः अर्हत्त्व प्राप्त करना कोई साधारण कार्य प्राथमिक बौद्ध साधना में नही था। जिस उपपद को स्वय भगवान् धारण करते है, वह अल्प न होगा, ऐसा आसानी से समझा जा सकता है। हम प्रति दिन स्मरण करते हैं 'तिपि सो भगवा अरह'। इस प्रकार अर्हत् रूप में ही हम उन्हें स्मरण करते हैं। अर्हत् शब्द का सक्षिप्त अर्थ है कृत-कार्य पुरुष। 'जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास समाप्त हुआ, जो कुछ करना था वह कर लिया गया, अब आगे कुछ करने को नही है,[1]' इस प्रकार की अनुभूति अर्हतो को होती है। अर्हतो के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे क्षीणास्रव, ब्रह्मचर्य का पूर्ण जीवन रहे हुए, कृत करणीय, मुक्त-भार, परमार्थ प्राप्त, क्षीण-सयोजन और सम्यक् ज्ञान के द्वारा मुक्त महापुरुष होते हैं[2]। तीनो आस्रव (काम, भव, अविद्या) उनके नष्ट हुए रहते हैं, तीन अकुशल-मूलो (लोभ, द्वेष, मोह) से वे विमुक्त होते है, पाँच नीवरण उनके प्रहीण हो गये है। अर्हत् वे हैं जिन्होने सात बोध्यङ्गो की भावना की है, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का पूर्ण अभ्यास किया है, शील, समाधि और प्रज्ञा का आचरण किया है, जिनके सभी चित्त-मल प्रहीण हो गये है, जिन्होने छह अभिज्ञाए प्राप्त करली हैं, दस सयोजनो को नष्ट कर दिया है, ब्रह्म-विहार में जिनकी नित्य स्थिति है, जो ब्रह्मभूत हैं, धर्मभूत है, आदि। अनेक पालि सुत्तो मे अर्हत् के लक्षणो पर विचार किया गया है[3] और यह हम जानते हैं कि वहा नैतिक जीवन की दृष्टि ही प्रधान है।

---

(१) खीणाजाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीयं, नापरं इत्यत्तायाति। वत्थूपम सुत्तन्त (मज्झिम १।१।७) तथा त्रिपिटक में अन्य अनेक स्थलो में। अर्हत् की इस कृतकृत्यता सम्बन्धी अवस्था को दिव्यावदान (३७, १४–१६) में भी उद्धृत किया गया है।

(२) ये ते भिक्खू अरहन्तो खीणासवा वुसितवन्तो कतकरणीया, ओहितभारा अनुप्पत्तसदत्या, परिक्खीणभवसंयोजना, सम्मदञ्ञाविमुत्ता अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।२)

(३) अर्हत्-दशा के वर्णन के लिये देखिये मुख्यतः विनय-पिटक-महावग्ग, कस्सपसीहनाद-सुत्त (दीघ, १।८) सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम, १।१।२); पासादिक-सुत्त (दीघ, ३।६); महा सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

विराग की भावना भी अवश्यम्भावी रूप से प्रधानता लिये हुए है। प्रत्येक अर्हत् को यह अनुभूति होती हुई दिखाई गई है कि 'जो कुछ समुदय-धर्म है सब-निरोध धर्म है[1]।' इस प्रकार के धर्म चक्षु के उत्पन्न होने पर ही अर्हत्त्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार भगवान् ने अर्हत्त्व का उपदेश दिया था और साधना की उच्चतम स्थिति के रूप में उन्होने उसे स्वीकार किया था। यह नही कहा जा सकता कि भगवान् ने अर्हत् का आदर्श एक आत्ममुक्तिगवेषी साधक के रूप में ही रक्खा था। पर-कल्याण की भावना भी उसमें अपना उचित स्थान लिये हुए थी। यह ठीक है कि भगवान् ने बार-बार कहा था कि 'भिक्षुओ! ध्यान करो।' 'झाय भिक्खू'[2]। 'भिक्षुओ समाधि की भावना करो' 'समाधि भिक्खवे भावेथ।' वृक्ष-मूलो और शून्यागारो में जाकर ध्यान करने की उन्होंने बात अनेक बार कही थी[3]। 'भिक्षु एकान्त-ध्यान की वृद्धि करें'। 'विवेकमनुब्रूह्ये[4] ऐसा उनका अनेकवार उपदेश था। लोगो की भीड-भाड स्वय भगवान् बुद्ध को पसन्द नही थी। उनका पारिल्लेयक वन में जाना पालि साहित्य के सब विद्यार्थियो को स्मरण है[5]। गैंडे की तरह एकान्तचारी होना स्वय भगवान् बुद्ध को कभी-कभी पसन्द था[6], यद्यपि लोकानुकम्पावश वे प्राय: जनता के बीच ही रहते थे। अकेला होना प्रारम्भिक बौद्ध साधको के लिये ब्रह्मा के समान था। दो होने पर वे देवता की कोटि में आजाते थे और तीन होने पर तो गाँव था। इससे अधिक तो

वक्कुल-सुत्तन्त (मज्झिम, ३।३।४) चेतोखिलसुत्तन्त (मज्झिम१।२।६); छब्बिसोधन-सुत्तन्त (मज्झिम, ३।२।२) खन्ध सयुत्त (सयुत्त-निकाय) सडायतन-संयुत्त (संयुत्त-निकाय); वासेट्ठ-सुत्त (सुत्त-निपात), सुमन वग्ग (अंगुत्तर-निकाय), देवता-वग्ग (अगुत्तर-निकाय) आदि,आदि।

(१) यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मंति। विनय पिटक-महावग्ग।

(२) धम्मपद २५।१२

(३) देखिये इन्द्रिय भावना-सुत्तन्त (मज्झिम ३।५।१०); मिलाइये पटिसल्लानसुत्त (इतिवुत्तक २।२।८) भी जहां भगवान् ने भिक्षुओं से कहा है 'ब्रूहेता सुञ्ञागारानं' अर्थात् शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करो।

(४) सुत्त-निपात

(५) देखिये भिक्खु संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

(६) देखिये खग्गविसाण-सुत्त (सुत्त-निपात)

उनके लिये कोलाहल ही था[१]। इस प्रकार हम देखते है कि एकान्त साधना की प्रारम्भिक बौद्ध साधना में प्रमुखता अवश्य थी। परन्तु अत्यन्त सार्थक तथ्य यह है कि यह लोक-सेवा के या जन-कल्याण के विपरीत बात वहाँ कभी नही मानी गई थी। बल्कि यह तो उसके लिये एक तैयारी ही थी। एकान्त ध्यान और लोक-कल्याण दोनो में विरोध नही है। स्वयं भगवान् तथागत ने कहा था, "भिक्षुओ! दो सकल्प तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को बहुधा हुआ करते है—एकान्त ध्यान का सकल्प और प्राणियो के हित का सकल्प[२]।" इसलिये एक ओर जब वे अपने शिष्यो से कहते थे कि 'पविवेकारामा भिक्खवे विहरथ पविवेकरता' (भिक्षुओ! एकान्त ध्यान में सुख लेते हुए विहरो, एकान्त ध्यान में रत) तो दूसरी ओर उतने ही बलपूर्वक कहते थे 'बहुजनो के हितार्थ भिक्षुओ! घूमो, बहुजनो के सुखार्थ। आत्म-कल्याण और पर-कल्याण में वहाँ कोई विभाजक रेखा नही थी।' प्राणियो के हित का सकल्प यदि तथागत में न होता तो वे उपदेश ही क्यों करते? हम देखते है कि बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् को उपदेश की इच्छा नही हुई थी। ऐसा भी कहा गया है कि यह मार का भगवान् को प्रलोभित करने का अन्तिम प्रयत्न था। मार ने आकर कहा, 'अब तो आपने निर्वाण प्राप्त कर लिया। आपके जीवन की साध पूरी हुई। अब आप परिनिर्वाण में प्रवेश करे।' तथागत सात रात तक बोधि के अनुत्तर सुख का अनुभव करते हुए एक आसन से बैठे रहे। उनके चित्त में भावना उठ रही थी, क्यो न इस अद्वितीय समाधि-सुख का अनुभव करते ही विहरूँ ब्रह्मा की याचना हुई। 'लोक दुःखी है! हे समन्तचक्षु! दुःखी जनताओ को देखो।' बुद्ध-नेत्रो से करुणापूर्वक लोक का अवलोकन किया गया। मार का प्रयत्न विफल गया। सम्यक् सम्बुद्ध ने लोक का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया। निर्णय हो गया। लोक के उद्धार का सकल्प किया गया। आत्म-सुख का उत्सर्ग कर, एकान्त समाधि-सुख को छोडकर, तथागत ने लोक में अमृत-दुन्दुभी बजाने का सकल्प किया। तथागत का यह सकल्प, उनका यह निर्णय, ही वह चट्टान है जिस पर महायान का सम्पूर्ण दर्शन

(१) यथा ब्रह्मा तथा एको यथा देवो तथा दुवे। यथा गामो तथा तयो, कोलाहलं तदुत्तरिं ति। थेरगाथा, गाथा २४५

(२) तथागतं भिक्खवे सम्मासम्बुद्धं द्वे वितक्का बहुलं समुदाचरन्ति खेमो च वितक्को पविवेको च। वितक्क-सुत्त (इतिवुत्तक २।२।९)

आधारित है। आत्मार्थ को छोडकर परार्थ की सिद्धि तथागत ने अपने जीवन में की, उसी का आधार लेकर सम्पूर्ण महायान-दर्शन विकसित किया गया है। अत वह अपने सम्पूर्ण अर्थों में बुद्ध-धर्म पर ही आधारित है। ऐसा लगता है कि जिन शताब्दियो मे महायान का आविर्भाव हुआ उस युग मे बौद्ध भिक्षु एकान्त साधक अधिक हो गये थे और प्रव्रज्या के आदर्श का वे एक सकुचित अर्थ लेने लगे थे। उसी के प्रतिक्रिया स्वरूप महायान का आविर्भाव हुआ जिसने दूसरे छोर पर जाकर लोक-सेवा और परानुकम्पा को अत्यधिक महत्व दिया और आन्तरिक साधना को, जिसके बिना सब छूछा है, कुछ अल्प स्थान दिया। यही कारण है कि महायान मे आध्यात्मिकता के बजाय सामाजिकता कुछ अधिक आगई, वह अन्तर्मुख होने के बजाय बहिर्मुख अधिक हो गया। जैसा हम अभी कह चुके है, बुद्ध के मौलिक उपदेशो में आत्म-कल्याण और परकल्याण, आत्मार्थ और परार्थ, ध्यान और सेवा, दोनो का उचित सयोग है। आन्तरिक साधना पर जोर देते हुए भी भगवान् ने भिक्षुओ को बहुजन हितार्थ, बहुजन कल्याणार्थ, लोक की अनुकम्पार्थ, चारो ओर घूमने के लिये कहा था[1]। इससे अधिक महायान ने और क्या कहा है? जातक की निदान-कथा मे, जो स्थविरवादी साहित्य का ही अङ्ग है, बोधिसत्व को यह कहते दिखाया गया है, "मुझ शक्तिशाली पुरुष के लिये अकेले तर जाने से क्या लाभ? मै तो सर्वज्ञता को प्राप्त कर देवताओ सहित इस सारे लोक को तारूँगा[2]" वस्तुत सम्पूर्ण महायानी बोधिसत्व-सिद्धान्त भी तो इतना ही है।

अब हम बोधिसत्वो की लोककल्याणमयी भावनाओ का कुछ दिग्दर्शन करें। 'मेरा ऐसा कोई कुशल-मूल (पुण्य-मूल) न हो जो दूसरे प्राणियो का उपजीव्य न बने' यह बोधिसत्वो की प्रतिनिधि भावना कही जा सकती है। 'माभूत् तन्मम कुशलमूल यन्न सर्वसत्वोपजीव्य स्यात्'। वे अपने सब पुण्य कर्मों को दूसरे प्राणियो का उपजीव्य बनाना चाहते हैं। अपनी साधना का परार्थ उपयोग करना चाहते हैं। "मै परिनिर्वाण में प्रवेश नही करूँगा, जब तक कि विश्व के अन्य सब प्राणी विमुक्ति प्राप्त न करलें[3]" यह बोधिसत्वो

(१) चरथ भिक्खवे चारिक बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। विनय-पिटक—महावग्ग।

(२) किं मे एकेन तिण्णेन पुरिसेन थामवस्सिना सब्बञ्ञुत पापुणित्वा सन्तारेस्स सदेवक। जातकट्ठकथा—निदान कथा।

(३) लङ्कावतार सूत्र ६६।६

की भावना का मूल कहा जा सकता है। प्राणियो को दु ख से मुक्ति दिलवाने में जो आनन्द है वह स्वकीय निर्वाण-प्राप्ति में कहाँ है? निर्वाण-पद या मोक्ष का निषेध तो तुलसीदास जैसे भक्तो ने भी किया है, परन्तु इसलिये कि वे जन्म-जन्म में रामपद-भक्ति का आनन्द लेना चाहते है। बौद्ध साधको ने जब निर्वाण का तिरस्कार किया है तो उनका कारण कुछ दूसरा है। शान्तिदेव कहते है, "प्राणियो की विमुक्ति के समय जो आनन्द के सागर उमड़ते है वही पर्याप्त है, रस विहीन मोक्ष का क्या करना?[१]" सेवा के द्वारा दूसरो को दु ख-विमुक्त करने का आनन्द निर्वाण के आनन्द से बड़ा है। बोधिसत्व का सकल्प है कि, "मै सब प्राणियो को मुक्ति दिलवाऊँगा। जब तक एक भी प्राणी बाकी है मै बिना निर्वाण प्राप्त किये ठहरा रहूँगा[२]।" महायान की यह मान्यता है कि सब प्राणी किसी न-किसी दिन अवश्य विमुक्ति प्राप्त करेंगे। सबको अवश्यम्भावी रूप से निर्वाण प्राप्त करना है। सब किसी-न-किसी दिन अवश्य बुद्ध होगे।[३] सब सत्वो की मुक्ति के अभिलाषी बोधिसत्वो की भावना का निरूपण करते हुए शान्तिदेव ने कितने सुन्दर शब्दो में कहा है "मै अनाथो का नाथ बनूगा, यात्रियो का मै सार्थवाह बनूँगा, पार जाने की इच्छा वालो के लिये मै नाव बनूगा, मै उनके लिये सेतु बनूँगा, घरनिया बनूँगा। दीपक चाहने वालो के लिये मै दीपक बनूगा, जिन्हें शय्या की आवश्यकता है उनके लिये मैं शय्या बनूँगा, जिनको दास की आवश्यकता है उनके लिये मै दास भी बनूँगा। इस प्रकार मै सब प्राणियो की सेवा करूँगा[४]।" जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक वस्तुएँ सम्पूर्ण आकाश (विश्वमडल) में बसे प्राणियो के सुख का कारण होती है। उसी प्रकार आकाश के नीचे रहनेवाले सब प्राणियो का मै उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूँ जब तक कि वे सब मुक्ति प्राप्त

(१) मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥ बोधिचर्यावतार ८।१०८

(२) शिक्षासमुच्चय १४।८

(३) देखिये सद्धर्मपुण्डरीक ११६।२; २०३।११; १३१।१२; ३७८।

(४) अनाथानामहं दासः सार्थवाहश्च यायिनाम्। पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च।
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामह।
दासार्थिनामहदासो भवेयं सर्वदेहिनाम्॥ बोधिचर्यावतार ३।१७-१८

न करलें[1]। कितनी उदात्त भावना है! विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विह्वलता है! परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है। यही महायान की आत्मा है, जिसकी अभिव्यक्ति केवल कल्पना में ही नही, बल्कि लोक-सेवा के साक्षात् रूप में भी हुई है। चीन-जापान आदि देशो में इन भावनाओ का प्रभाव लोकसेवा की धार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में भली प्रकार देखा जा सकता है। यह आकस्मिक नही है कि लोकेश्वर बोधिसत्व धर्मशालाओ और आरोग्यशालाओ के अधिष्ठातृदेव माने गये है। वे रोगियो पर अनुकम्पा करनेवाले बोधिसत्त्व है और उनके प्रति पूजा बुद्धि से प्रेरित होकर अनेक औषधालय और चिकित्सालय दसवी, ग्यारहवी और बारहवी शताब्दियो में विशेषत- हिन्द-चीन मे खोले गये है। भिक्षु-धर्म के साथ सेवा-कार्य को मिलाकर निश्चयतः महायान ने बौद्ध धर्म की बडी सेवा की और इसके मूर्त रूप को हम आज भी बौद्ध देशो में देख सकते है जहा बौद्ध निष्क्रिय जीवन न बिताकर लोक-सेवा के कार्यों में भाग लेते है और दु खी जनता के कष्टो को दूर करने में अपनी प्रव्रज्या के नियमो की हानि नही देखते। इस प्रकार हम देखते है कि महायान ने ईसा के पूर्व से उस महान् कार्य को करना शुरू कर दिया था जिसे उसके कम-से-कम दो शताब्दियो बाद ईसाई धर्मप्रचारको ने करना प्रारम्भ किया। साधना के साथ सेवा को मिलाना यह एक बडा कार्य है। वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द ने भी यही कार्य किया। सन्यास के साथ उन्होने सेवा को मिलाया। और यही कार्य महायान का था जिसे क्रियात्मक रूप भारत और उससे बाहर अन्य अनेक देशो में भी दिया गया।

बोधिसत्वो की लोक-कल्याण-कामना का पर्याप्त चित्र हम पहले दे चुके है। फिर भी इन कारुणिक महासत्व प्राणियो की इस सम्बन्धी भावना को छोडने का जी नही करता। हम यहा 'शिक्षा-समुच्चय' से इस सम्बन्धी केवल एक चित्र और देकर अपनी मनस्तुष्टि करेंगे। अनुवाद आचार्य श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का है —

'इस दु खमय नरलोक में—

---

(१) पृथिव्यादीनभूतानि नि शेषाकाशवासिनाम्। सत्त्वानामप्रमेयाणा यथायोग्यानेकधा। एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा। भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः। बोधिचर्यावतार १।२०–२१

जितने दलित वन्धन ग्रसित पीड़ित विपत्ति-विलीन हं;
जितने कि वहुवन्धी विवेक विहीन हैं,
जो कठिन भय से और दारुण शोक सेअति दीन हैं;
वे मुक्त हो निज वन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से.
छूटे दलन के फन्द से।
जीवन्त हो वे जो कि होने जा रहे—
वलि, भ्रू कुचित किसी के क्रोध से।
आश्वस्त हो वे जो कि हो भयभीत—
विषम विपत्ति के आक्रमण से—
सवका परम कल्याण हो!
जो पेट पकडे सो रहे हैं;
ध्यान से जो रो रहे हैं,
(धैर्य अपना खो रहे हैं)-
हाय ऐसा हो कि वे—
पावे मधुर भोज्यान्न, शीतल वारि—
सारे दुख भागें दूर,
पावे नेत्र नयन विहीन,
मृदुल मृदङ्ग मोहक वीन का आनन्द उनको मिले।
जो हैं ललकते चिथडे लपेटे, रहे नगे डोल,
वे पावे वसन अनमोल;
जो हैं वित्तहीन दरिद्र, वे पावे अपार निधान,
पावें दूध दधि धन धान,
पावें रत्न-खनि सन्धान—
सवका हो परम कल्याण!
हो ऐसा कि जग में दुख से विचले न कोई,
वेदनार्त हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील पुण्याचार–धर्मव्रती—
सवका हो परम कल्याण!
सवका हो परम कल्याण!! १

(१) धर्मदूत, मई १९४१, पृष्ठ १०

कितनी सुष्ठु भावना है, कितना महान् आदर्श ! यही महायान बौद्धधर्म की हमारे लिए सर्वोत्तम देन है।

बोधिसत्व के व्रत में ही सम्भवत. भारतीय धर्म-साधना में सर्वप्रथम यह बात कही गई है कि तथागत (ईश्वर) की आराधना और लोकसेवा दोनो एक हैं और वही परमोच्च स्वार्थ भी हैं। शान्तिदेव ने ही कहा है

"तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य ससाधानमेतदेव।

लोकस्य दु'खापहमेतदेव, तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ।। बोधिचर्यावतार ६।१२७

बोधिसत्व जगत् को 'आत्मीकृत' (व्यवहार मे 'अद्वैत' की भावना द्रष्टव्य) करते विहरते हैं। लोग चाहे उनके सिर पर पैर रक्खे, या प्रसन्नता से उसे सिर पर धारण करने को उद्यत रहें। निश्चय ही उन कृपावन्तो ने जगत् को अपने समान ही कर लिया है। उन्हें सम्पूर्ण सत्व बुद्ध के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। वे नाथ हैं। वे उनका तिरस्कार किस प्रकार कर सकते हैं। 'निज प्रभुमय देखहि जगत् कासन करहि विरोध' यह तो भक्त तुलसीदास ने कहा था, परन्तु यही भावना प्रकृत अद्वैत तत्व के साथ मिलकर अनायास ही कितने सौन्दर्य पूर्ण साम्य के साथ यहा प्रदर्शित हुई है—

'आत्मीकृतं सर्वमिद जगत्तै कृपालुभिर्नैव हि सशयोऽस्ति।

दृश्यन्त एते ननु सत्वरूपास्त एव नाथा' किमनादरोऽत्र।'[1]

वस्तुत' महायान की बोधिसत्त्व-साधना में भक्ति और सर्वात्मबोध के सर्वोत्तम तत्व समाये हुए हैं। वह धीरे-धीरे अपने साधनात्मक पक्ष में (सातवी-आठवी शताब्दी के बाद) अद्वैत और भक्ति की ओर जा रही है।

कुछ विद्वानो का अनुमान है कि महायान के आन्दोलन के परिणामस्वरूप गृहस्थ-धर्म को भिक्षु-धर्म से ऊपर प्रतिष्ठा मिली।[2] उनका यह अनुमान इस तथ्य पर आधारित है कि दान, शील और पारमिताओ को प्रधानता मिलने के कारण गृहस्थ-धर्म को प्रमुखता मिली और इस तथ्य पर भी कि उत्तरकालिकमहायानी आचार्य प्राय विवाहित थे। आचार्य पद्मसम्भव, जो

महायान में भिक्षु-धर्म के ऊपर क्या गृहस्थ की प्रतिष्ठा हुई ?

---

(१) बोधिचर्यावतार ६।१२६

(२) देखिये डा० नलिनाक्षदत्त-कृत 'एस्पेक्टस् ओव महायान बुद्धिज्म' में राजेन्द्रलाल मित्र के कथन का उद्धरण।

तिब्बत में धर्मप्रचारार्थ गये थे, और इसी प्रकार जापान के महामनीषी शिनरेन् भी विवाहित थे। जापान में तो भिक्षुओ के विवाह करने की प्रथा भी चल पडी जिसे समझना हमारे लिये कुछ कठिन हो जाता है। परन्तु महायानिक उदारता के यह अनुरूपहै, परिस्थितियो के अनुरूप परिवर्तन करने को भावना के अविरोध में है और सेवा धर्म के भी अनुकूल है। प्रव्रजित अधिक समाज-सेवा कर सकता है, यह असदिग्ध है, परन्तु समाज-सेवा के लिये, जिस पर महायान का जोर था, प्रव्रज्या अनिवार्य नही है। प्रव्रज्या तो ली जाती है सम्यक् रूप से दुख का अन्त करने के लिये। ब्रह्मचर्य का यही लक्ष्य है। प्रव्रज्या इसके लिये अनिवार्य है। विना प्रव्रजित हुए यह लक्ष्य प्राप्त नही किया जा सकता। भगवान् के शब्द वरवस याद आते है। वे साधक भिक्षु से कहते थे—'एहि भक्खु! चर ब्रह्मचरिय सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियायाति'[1] 'आओ भिक्षु! तुम ब्रह्मचर्य का आचरण करो सम्यक् दुख का अन्त करने के लिये।' इसके लिये प्रव्रज्या अनिवार्य थी, परन्तु लोक-सेवा के लिये उतनी अनिवार्य नही। महायान ने चूकि अन्तर्मुखी साधना को वहुत कुछ वहिर्मुखी कर दिया था इसलिये विद्वानो के उपर्युक्त विचार को कुछ अवकाश मिल सकता है। किन्तु महायान अन्तत. वौद्धधर्म ही था, उसके मनीषी आचार्यो के सामने वुद्ध-वचन थे और वही उनके सव आदर्शों के, चाहे वे जितने नवीन और युग-जनित दिखाई पडें, अन्तत. आधार थे। अत हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि प्रारम्भिक काल में चाहे गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा भिक्षु-पद से भले ही वढ गई हो, पर वाद मे भिक्षुओ का ही पद गृहस्थो से ऊचा माना जाने लगा[2] और यही प्रवृत्ति आज तक तिव्वत, चीन, जापान, आदि सव महायानी देशों में पाई जाती है। वस्तुत भगवान् वुद्ध के मौलिक मन्तव्य के अनुसार तो भिक्षु और गृहस्थ में ऊँच-नीच के भेद का कोई प्रश्न ही नही था। वे तो इन दोनो को एक दूसरे पर अन्यो-न्याश्रित मानते थे। भगवान् का कहना था कि गृहस्थ और प्रव्रजित एक दूसरे पर अनुग्रह करनेवाले हैं। गृहस्थ भिक्षुओ को भोजन-दान आदि देकर उनपर अनुग्रह करते है और भिक्षु उन्हें आदि-मध्य-पर्यवमान-कल्याणकारी धर्म का उपदेश देकर उनपर अनुग्रह करते है। इस प्रकार दोनो एक दूसरे

---

(१) विनय-पिटक—महावग्ग।
(२) देखिये "दि वोधिसत्व डाक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४५

कितनी सुष्ठु भावना है, कितना महान् आदर्श ! यही महायान बौद्धधर्म की हमारे लिए सर्वोत्तम देन है।

बोधिसत्व के व्रत में ही सम्भवत भारतीय धर्म-साधना में सर्वप्रथम यह बात कही गई है कि तथागत (ईश्वर) की आराधना और लोकसेवा दोनो एक हैं और वही परमोच्च स्वार्थ भी है। शान्तिदेव ने ही कहा है

"तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य ससाधानमेतदेव।

लोकस्य दु खापहमेतदेव, तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥ बोधिचर्यावतार ६।१२७

बोधिसत्व जगत् को 'आत्मीकृत' (व्यवहार में 'अद्वैत' की भावना द्रष्टव्य) करते विहरते हैं। लोग चाहे उनके सिर पर पैर रक्खे, या प्रसन्नता से उसे सिर पर धारण करने को उद्यत रहें। निश्चय ही उन कृपावन्तो ने जगत् को अपने समान ही कर लिया है। उन्हें सम्पूर्ण सत्व बुद्ध के रूप में ही दिखाई पडते है। वे नाथ है। वे उनका तिरस्कार किस प्रकार कर सकते है। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत् कासन करहि विरोध' यह तो भक्त तुलसीदास ने कहा था, परन्तु यही भावना प्रकृत अद्वैत तत्व के साथ मिलकर अनायास ही कितने सौन्दर्य पूर्ण साम्य के साथ यहा प्रदर्शित हुई है—

'आत्मीकृत सर्वमिद जगत्तै कृपालुभिर्नैव हि सशयोऽस्ति।

दृश्यन्त एते ननु सत्वरूपास्त एव नाथा किमनादरोऽत्रि।'[1]

वस्तुत' महायान की बोधिसत्त्व-साधना में भक्ति और सर्वात्मबोध के सर्वोत्तम तत्व समाये हुए हैं। वह धीरे-धीरे अपने साधनात्मक पक्ष में (सातवी-आठवी शताब्दी के बाद) अद्वैत और भक्ति की ओर जा रही है।

कुछ विद्वानो का अनुमान है कि महायान के आन्दोलन के परिणामस्वरूप गृहस्थ-धर्म को भिक्षु-धर्म से ऊपर प्रतिष्ठा मिली।[2] उनका यह अनुमान इस तथ्य पर आधारित है कि दान, शील और पारमिताओ को प्रधानता मिलने के कारण गृहस्थ-धर्म को प्रमुखता मिली और इस तथ्य पर भी कि उत्तरकालिकमहायानी आचार्य प्राय विवाहित थे। आचार्य पद्मसम्भव, जो

महायान में भिक्षु-धर्म के ऊपर क्या गृहस्थ की प्रतिष्ठा हुई ?

---

(१) बोधिचर्यावतार ६।१२६

(२) देखिये डा० नलिनाक्षदत्त-कृत 'एस्पेक्टस् ऑव महायान बुद्धिज्म' में राजेन्द्रलाल मित्र के कथन का उद्धरण।

तिब्वत में धर्मप्रचारार्थ गये थे, और इसी प्रकार जापान के महामनीषी शिनरेन् भी विवाहित थे। जापान में तो भिक्षुओ के विवाह करने की प्रथा भी चल पडी जिसे समझना हमारे लिये कुछ कठिन हो जाता है। परन्तु महायानिक उदारता के यह अनुरूप है, परिस्थितियो के अनुरूप परिवर्तन करने की भावना के अविरोध में है और सेवा धर्म के भी अनुकूल है। प्रव्रजित अधिक समाज-सेवा कर सकता है, यह असदिग्ध है, परन्तु समाज-सेवा के लिये, जिस पर महायान का जोर था, प्रव्रज्या अनिवार्य नहीं है। प्रव्रज्या तो ली जाती है सम्यक् रूप से दु ख का अन्त करने के लिये। ब्रह्मचर्य का यही लक्ष्य है। प्रव्रज्या इसके लिये अनिवार्य है। बिना प्रव्रजित हुए यह लक्ष्य प्राप्त नही किया जा सकता। भगवान् के शब्द बरबस याद आते हैं। वे साधक भिक्षु से कहते थे–'एहि भक्खु ! चर ब्रह्मचरिय सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियायाति'[1] 'आओ भिक्षु ! तुम ब्रह्मचर्य का आचरण करो सम्यक् दु ख का अन्त करने के लिये।' इसके लिये प्रव्रज्या अनिवार्य थी, परन्तु लोक-सेवा के लिये उतनी अनिवार्य नही। महायान ने चूकि अन्तर्मुखी साधना को बहुत कुछ बहिर्मुखी कर दिया था इसलिये विद्वानो के उपर्युक्त विचार को कुछ अवकाश मिल सकता है। किन्तु महायान अन्तत बौद्धधर्म ही था, उसके मनीषी आचार्यों के सामने बुद्ध-वचन थे और वही उनके सब आदर्शों के, चाहे वे जितने नवीन और युग-जनित दिखाई पड़ें, अन्तत आधार थे। अत हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत हो सकते है कि प्रारम्भिक काल में चाहे गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा भिक्षु-पद से भले ही बढ गई हो, पर बाद में भिक्षुओ का ही पद गृहस्थो से ऊचा माना जाने लगा[2] और यही प्रवृत्ति आज तक तिब्वत, चीन, जापान, आदि सब महायानी देशो में पाई जाती है। वस्तुत भगवान् बुद्ध के मौलिक मन्तव्य के अनुसार तो भिक्षु और गृहस्थ में ऊँच-नीच के भेद का कोई प्रश्न ही नही था। वे तो इन दोनो को एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित मानते थे। भगवान् का कहना था कि गृहस्थ और प्रव्रजित एक दूसरे पर अनुग्रह करनेवाले हैं। गृहस्थ भिक्षुओ को भोजन-दान आदि देकर उनपर अनुग्रह करते है और भिक्षु उन्हें आदि-मध्य-पर्यवसान-कल्याणकारी धर्म का उपदेश देकर उनपर अनुग्रह करते है। इस प्रकार दोनो एक दूसरे

---

(१) विनय-पिटक—महावग्ग ।

(२) देखिये "दि बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४५

के अनुग्राहक है, ऊँच-नीच का कोई प्रश्न नही ।[1] एक बार जब भगवान् से साफ तौर पर पूछा गया था कि भिक्षु और गृहस्थ मे कौन श्रेष्ठ है तो विभज्जवादी शास्ता ने विभज्जवाद की भाषा मे ही इसका उत्तर दिया था, एकाशवाद के रूप मे नही।[2] वस्तुत कर्म ही ऊँचा या नीचा है, भिक्षु या गृहस्थ नही। चूँकि प्रव्रजित ससार के सुखो को छोडता है, उच्चतर साधना करता है, ऐसी जीविका (भिक्षाचर्या) को केवल सत्य की प्राप्ति के लिये स्वीकार करता है जो लोक में निकृष्टतर मानी जाती है,[3] इसलिये वह स्वाभाविक रूप से गृहस्थ से श्रेष्ठ है जो इतनी दूर नही जा सकता। जैसा अभी कहा गया, श्रेष्ठ उसका कर्म है, गुण है, वह स्वय नही। 'न तेने सेट्ठो मञ्ञेत' श्रेष्ठता की भावना से अहभाव आता है, जिसको भिक्षु छोडे हुए है। गृह-वास को भगवान् ने मलिन मार्ग कहा है। 'रजापथो घरावासो'।[4] वहा पूर्ण विशुद्धि की साधना सम्भव नही है। जो पूर्ण विशुद्धिकामी है, वे बिना प्रव्रज्या ग्रहण किये नही रह सकते। प्रव्रज्या ही खुला मार्ग है, वही मनुष्य का निर्बाध आध्यात्मिक विकास हो सकता है। इसलिये कोई भी धर्म-साधना हो, जो प्रव्रजित है वे लोक के लिये प्रकाश-स्वरूप होगे ही, गृहस्थ स्त्री-पुरुषो के द्वारा पूज्य, सम्माननीय होगे ही, 'आहुनेय्य', 'पाहुनेय्य' और लोक के लिये पुण्य बोने के अद्वितीय क्षेत्र होगे ही। कहने की आवश्यकता नही कि बौद्ध धर्म के लम्बे इतिहास में तथोक्त 'हीनयान' और 'महायान' दोनो की परम्पराओ मे, कभी भिक्षु अपने इस गौरवमय पद से विरहित नही किये गये हैं। वे उस वेश को धारण करते है जिसे धर्मस्वामी ने धारण किया था। वे बौद्ध धर्म के अनुयायियो के लिये सदा वन्दनीय रहे है और रहेंगे।

---

(१) देखिये बहूपकार-सुत्त (इतिवुत्तक)

(२) देखिये धम्मिक-सुत्त (सुत्त-निपात) मिलाइये सुभ-सुत्तन्त (मज्झिम निकाय) भी।

(३) देखिये जीवित-सुत्त (इतिवुत्तक)। चत्तारि-सुत्त (इतिवुत्तक), में भगवान् ने भिक्षान्न की प्रशसा करते हुए उसे 'अल्प, सुलभ और निर्दोष' भी कहा है।

(४) देखिए सगारव-सुत्तन्त (मज्झिम २।५।१०); महातण्हा सखय सुत्तन्त (मज्झिम १।४।८), चूल हत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।७); चातुम- सुत्तन्त (मज्झिम २।२।७)

बोधिसत्त्व आदर्श के विकास की अवस्थाएँ

अव हमें वोधिसत्त्व आदर्श के विकास की अवस्थाओ पर कुछ विचार करना चाहिये । वोधिसत्त्व सम्वन्धी विचार के विकास की मुख्यत छह अवस्थाए दृष्टिगोचर होती है, जो इस प्रकार हैं—

(१) प्रथम अवस्था मे, जव वोधिसत्वो का निर्माण हो रहा था, उनका पद वुद्ध से नीचा था । वोधिसत्व भी इस अवस्था मे वुद्ध के समान प्राय: दस वल और चार वैशारद्यो[1] से युक्त थे। सर्व-प्रथम अवलोकितेश्वर वोधिसत्व का आविर्भाव हुआ ।

(२) अवलोकितेश्वर के वाद मजुश्री वोधिसत्व आये । अवलोकितेश्वर वुद्ध की करुणा के प्रतीक थे और मजुश्री उनकी प्रज्ञा के। विकास की द्वितीय अवस्था में प्रज्ञा का करुणा से अधिक महत्वपूर्ण स्थान था। इसका अर्थ यह है कि मजुश्री वोधिसत्त्व की अवलोकितेश्वर से अधिक होती थी ।

(३) वाद में यह क्रम वदल गया। करुणा को प्रज्ञा से अधिक ऊँचा स्थान मिला। यही महायान का प्रकृत विकास था और उसका मूल सन्देश भी ।

(४) योग का प्रचार महायान वौद्धधर्म के योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय के प्रभाव के परिणाम स्वरूप वढा। वोधिसत्व 'महायोगी' कहे गये है।

(५) दु खी पुरुषो की सेवा को निर्वाण-प्राप्ति से ऊँचा वताया गया।

(६) अव तक मुख्य वोधिसत्व उत्पन्न हो चुके थे, मजुश्री, अवलोकितेश्वर, समन्तभद्र, वज्रपाणि, वज्रगर्भ, क्षितिगर्भ, रत्नगर्भ और मैत्रेय। इनमें करुणा के प्रतीक अवलोकितेश्वर का स्थान सर्वोच्च निश्चित हो गया। यही महायान का अन्तिम विकास था ।

यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि वोधिसत्त्वो का निर्माण कल्पना से किया गया था और उनके लिये कोई निश्चित ऐतिहासिक आधार नही था, परन्तु यह मानना पडेगा कि वोधिसत्वो की कल्पना का आधार अन्तत: वुद्ध का ऐतिहासिक जीवन ही था, जिसके विभिन्न रूपो की अभिव्यक्ति वोधि-सत्वो के प्रतीक के रूप में की गई थी। इस प्रकार भगवान् वुद्ध ने निर्वाण

---

(१) वुद्ध के दस वल और चार वैशारद्यो के लिये देखिये महासीहनादसुत्त (मज्झिम० १।२।२)

प्राप्ति के बाद जिस करुणापूर्ण दृष्टि से लोक का अवलोकन किया था उसी को छोड अवलोकितेश्वर बोधिसत्व और कुछ न थे। इसी प्रकार मजु घोष वाले बुद्ध ही मजुश्री बोधिसत्व के रूप में प्रतीकबद्ध हो गये थे। इसी प्रकार अन्य बोधिसत्व भी बुद्ध के जीवन और व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों के प्रतीक मात्र है। बोधिसत्वो की यह कल्पना किस प्रकार श्रौत परम्परा के पौराणिक तत्वो को भी आत्मसात् करती हुई, उनके साथ समन्वय स्थापित करती हुई, वैदिक परम्परा के ही विश्वमय ब्रह्म की ओर चली गई, यह अवलोकितेश्वर के इस वर्णन से स्पष्ट होगा, जहाँ उन्हे ब्रह्मा और ईश्वर के गुण प्रदान कर दिये गये है—अवलोकितेश्वर की आखो से सूर्य-चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मा और दूसरे देवता उनके कन्धों से उत्पन्न हुए है, नारायण हृदय से और सरस्वती दातो से उत्पन्न हुई हैं। उनके असख्य रोम-विवरो में असख्य बुद्ध समाये हुए है—अवलोकितेश्वर का विश्व को दान है यह छह अक्षर का मन्त्र—ॐ मणि पद्मे हुं—यह मोक्षदाता है।

इस उद्धरण से हम अच्छी प्रकार देख सकते है कि किस प्रकार महायान मन्त्रयान के माध्यम से होकर आर्य सनातन धर्म (हिन्दूधर्म) में प्रवेश करने वाला है। यह महायान का ही कहना था कि बुद्ध एक, दो, दस-बीस नही, असख्य है, 'कोटि-नियुत-शत-सहस्राणि' है, सम्पूर्ण गङ्गा में जितने रेत के कण नही है उनसे अधिक बुद्ध है[1] और सब बुद्ध एक है[2]। इसने उसके हिन्दू धर्म में प्रवेश के मार्ग को अत्यधिक सरल बना दिया।

बोधिसत्त्व के लिये पारमिताओ का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक माना गया है। पारमि या पारमिताओ का वर्णन पालि साहित्य में भी है। सुत्तनिपात, जातक और नेत्तिपकरण आदि ग्रन्थों में पारमिताओ का वर्णन है। उच्चतम साधको के 'पारमिपत्त' (पारमिता-प्राप्त, पूर्णताप्राप्त) होने की बात वहाँ कही गई है। स्थविरवाद बौद्धधर्म में दस पारमियो या पारमिताओ का वर्णन है, जो इस प्रकार है, दानशील (सील), निष्कामता (नेक्खम्म), प्रज्ञा (पञ्ञा), वीर्य (विरिय), क्षान्ति (खन्ति), सत्य (सच्च), अधिष्ठान (अधिट्ठान), मैत्री (मेत्ता) और

पारमिताएँ

(१) देखिये ललितविस्तर ३७६।५; सद्धर्मपुण्डरीक २३८।४; लङ्कावतार सूत्र, पृष्ठ २३४; देखिये हरदयाल दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट सस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २५

(२) महायान सूत्रालंकार ४८।११; ८३।२

उपेक्षा (उपेक्खा)। इनमें से दान, शील, निष्कामता, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा, इन सात पारमिताओ का भगवान् वुद्ध द्वारा अपने २५ पूर्वजन्मो में पूरा करना पालि ग्रन्थ 'चरियापिटक' में दिखाया गया है। जातको की कहानियाँ पारमिताओ के सिद्धान्त पर ही आधारित है। महासाघिको के सिद्धान्तो में पारमिताओ का स्थान आधारभूत था। उन्ही के विकास-स्वरूप महायान में पारमिताओ का सिद्धान्त गृहीत हुआ। वोधिसत्त्व पारमिताओ के अभ्यास के द्वारा वोधि को प्राप्त करने का उद्योग करते है। अधिकतर महायान सस्कृत साहित्य मे प्रथम छह पारमिताओ का ही उल्लेख है। दिव्यावदान, ललित-विस्तर और शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में छह पारमिताओ का ही उल्लेख है। दशभूमिक-सूत्र में छह पारमिताओं की सूची में चार और जोडकर सख्या पूरी १० करदी गई है। परन्तु जोडी हुई पारमिताएँ स्थविरवादी परम्परा के समान न होकर ये है, उपायकौशल्य, प्रणिधान, वल और ज्ञान। पारमिताओ के सम्वन्ध में स्थविरवादी और महायानी परम्परा में कोई विशेष अन्तर नही दीखता।

वोधिचित्तोत्पाद और आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ

वोधिसत्त्व को सर्वप्रथम अपनी आध्यात्मिक प्रगति पर अग्रसर होने के पूर्व बोधिचित्त का उत्पाद करना होता है, उसे तीव्र सकल्प करना होता है कि मैं वोधि प्राप्त करूँगा,। वोधि प्राप्ति के लिये उसे चित्त को तैयार करना होता है। वोधिचित्तोत्पाद वस्तुत वोधि प्राप्त करने के लिये सकल्प वल इकट्ठा करने का ही नाम है। वह उसके लिये मनोवैज्ञानिक तैयारी है। उससे पहले भी वोधिसत्व को पूजा-वन्दनादि की तैयारी करनी होती है, जिसका वर्णन पहले कर चुके है। वोधिसत्त्व प्राणी सोचता है—पच कषायो में ससार जकडा हुआ है, जीवन क्षय हो रहा है, मनुष्य पापग्रस्त है, जगत् कष्ट की अवस्था में पडा है। इस प्रकार सोचकर वह करुणा और कृपा की अपने अन्दर वृद्धि करता है। उसकी प्रार्थना है "मै सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करूँ, सव जीवो का हित करूँ और निर्वाण और वुद्ध-ज्ञान में उन्हें स्थित करूँ।" वह कल्याणमित्र की भी खोज करता है जो उसे आध्यात्मिक कठिनाइयो में परामर्श देता है और सहायता करता है। वोधिसत्व प्रणिधान (तीव्र सकल्प) करता है 'मैं भव से पार होकर दूसरो को भव से पार कराऊँगा, स्वय आश्वस्त होकर मैं दूसरो को आश्वासन प्राप्त कराऊँगा, स्वय मुक्त होकर मैं दूसरो को मुक्ति दिलाऊँगा।' बोधि-चित्त-ग्रहण का विस्तृत वर्णन शान्तिदेव ने 'वोधिचर्यावतार' के प्रथम

सत्य के ही प्रचारार्थ, कुछ अल्प परिवर्तित स्वरूप दे दिया, जो वुरा नही कहा जा सकता। उनके प्रयत्नो के परिणामस्वरूप ही, उनकी समन्वय-दृष्टि के फलस्वरूप ही, बौद्ध धर्म एशिया का धर्म वन सका। हम इस वात को भूल नही सकते कि महायान की सम्पूर्ण मान्यताओ की आधारभूमि वुद्ध-उपदेश है। हमने इस परिच्छेद मे यही दिखाने का प्रयत्न किया है। स्थविरवाद के वोधिपक्षीय धर्मों की, उसके सम्पूर्ण नैतिक आदर्शवाद की, पूर्ण स्वीकृति महायान मे है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। अत महायान वौद्ध धर्म और पालि बौद्ध धर्म मे कोई आधारभूत भेद नही है। जैसा स्वय महायान ने कहा है, यान तो केवल एक ही है और वह है वुद्ध-यान। 'महायान' और तथोक्त 'हीनयान' दोनो उसी के स्वरूप है, जिनके अन्तिम आधार और प्रामाण्य वुद्ध-वचन ही हैं।

महायान का साहित्य

जैसा हम पहले कह चुके हैं, महायान का साहित्य अत्यन्त विशाल है। चीन, तिब्वत, जापान और कोरिया की भाषाओ एव मध्य-एशिया की अनेक प्राचीन भाषाओ में उसकी जो विशाल साहित्य-सम्पदा विखरी पडी है, उसका अभी कोई अनुमान नही लगाया जा सकता। सस्कृत और अर्द्ध सस्कृत मे जो साहित्य है वह अलग। इस सव साहित्य के केवल नाम-परिगणन के लिये वीसियो जिल्दो की आवश्यकता होगी। बुनियो नजियो ने चीनी और तिब्वती भाषाओ में अनुवादो के रूप में प्राप्त महायानी साहित्य के ग्रन्थो की सूची[1] वनाई है, जो काफी लम्बी है। इसके वाहर भी प्रभूत महायानी साहित्य है, जिसको एक व्यवस्थित रूप में वाधना अशक्य सा जान पडता है। वस्तुत महायान-धर्म के पास कोई व्यवस्थित धार्मिक साहित्य भी नही है जिस प्रकार कि स्थविरवादियो या सर्वास्तिवादियो के पास है। सम्भवत महायान बौद्ध धर्म के साहित्य की विशालता ही इस अव्यवस्था का कारण है। जवकि स्थविरवादियो के ग्रन्थ पालि में है और सर्वास्तिवादियो के अर्द्ध सस्कृत में, महायान आचार्यों ने सस्कृत को ही अपने प्रज्ञानो से गौरवान्वित किया था। उनके प्राय सव ग्रन्थ सस्कृत (या कुछ मिश्रित सस्कृत) में ही लिखे गये थे। महायान धर्म के नौ ग्रन्थ सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो उसके दोनो सम्प्रदायो (विज्ञानवाद और शून्यवाद) को मान्य हैं। नैपाली वौद्ध तो इन ग्रन्थो के अनन्य भक्त ही हैं। वैसे विदेशो में भी जहा

---

(१) केटेलाग ऑव दि चाइनीज वुद्धिस्ट त्रिपिटक, वुनियो नजियो द्वारा संकलित।

बौद्ध धर्म का प्रचार है, इनमें से वहुत से ग्रन्थो का अत्यन्त आदरणीय स्थान है। ये नौ ग्रन्थ है (१) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (२) गण्डव्यूह, (३) दशभूमीश्वर, (४) समाधिराज, (५) लकावतार सूत्र, (६) सद्धर्म-पुण्डरीक, (७) तथागत गुह्यक, (८) ललित विस्तर तथा (९) सुवर्ण प्रभास। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[1] मे हमें सर्व प्रथम महायान की शिक्षाओ के दर्शन होते है और यह प्रथम शताब्दी ईसवी,पूर्व की रचना है[2]। इस रचना में आठ सहस्र श्लोक हैं, इसलिये इसका नाम 'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता' पडा है। यह रचना भगवान् बुद्ध की छ पारमिताओ का वर्णन करती है, विशेषत उनकी प्रज्ञापारमिता का, जो, सर्वश्रेष्ठ पारमिता है। शून्य को ही इस ग्रन्थ में प्रज्ञापारमिता कहा गया है। वस्तुत शून्यता-दर्शन इस ग्रन्थ का आधारभूत विषय है। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' के अतिरित अन्य अनेक 'प्रज्ञा पारमिता' नाम से पुकारी जाने वाली रचनाए सस्कृत, चीनी और तिव्वती भापाओ में उपलब्ध है। इन सब का विवरण नजियो ने अपने 'केटेलाग' मे दिया है। 'अष्ट- साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता' के अतिरिक्त अन्य मुख्य प्रज्ञा पारमिताए है (१) शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[3] (२) पचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[4] (३) अष्टादशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (४) दशसाहस्रिका प्रज्ञापा-रमिता (५) सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, आदि[5]। तिव्वती परम्परा के अनुसार अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता ही प्राचीनतम है। प्रोफेसर नजियो के अनुसार दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता अष्टसाहस्रिका का ही रूपान्तर है। नैपाली परम्परा की मान्यता है कि मौलिक रूप में प्रज्ञा पारमिता में एक लाख पचीस हजार श्लोक थे, जिनका पहला सक्षेप शतसाहस्रिका के रूप में किया गया और फिर क्रमश पच विंशति साहस्रिका, अष्टादश

---

(१) एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित।

(२) नलिनाक्ष दत्त : एस्पेक्ट्स ऑव महायान वुद्धिज्म, पृष्ठ ४०

(३) एशियाटिक सोसायटी ऑव वंगाल द्वारा प्रकाशित।

(४) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ द्वारा प्रकाशित।

(५) महाव्युत्पत्ति (पृष्ठ ६५) में छह प्रज्ञापारमिताओ का उल्लेख है, जो इस प्रकार है (१) शतसाहस्रिका (२) पंच विंशति साहस्रिका (३) अष्ट साहस्रिका (४) पंचशतिका (५) त्रिशतिका और (६) सप्त शतिका।

साहस्रिका और अष्ट साहस्रिका के रूप में सक्षेप किये गये[1]। इस परम्परा के वजाय अक्सर तिब्वती परम्परा ही अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। यद्यपि अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता हो प्राचीनतम पारमिता है, परन्तु प्राचीनतम चीनी अनुवाद दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का हुआ, जो सन् १४८ ई० के लगभग लोकरक्ष द्वारा किया गया। इस प्रज्ञापारमिता का मूल सस्कृत आज उपलब्ध नही है। पचविंशति साहस्रिका २६५ से ३१६ ई० के वीच और शतसाहस्रिका ६५९ ई० के लगभग चीनी भाषा में अनुवादित की गई। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का रचना-काल प्राय पाँचवी शताब्दी ईसवी माना जाता है। सम्पूर्ण प्रज्ञापारमितो का आवारभूत विपय हैं शून्यता-दर्शन का विवेचन। शून्यता, समाधि पारमिता, वोधिपाक्षिक धर्म, स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि विषयो का उन्होने निरूपण किया है, जो स्थविरवादी परम्परा के अनुसार अभिधम्म के विषय है। इन प्रज्ञापारमिताओ का बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन का शून्यता-दर्शन इन प्रज्ञापारमिताओ पर ही आधारित है। उन्होंने अपने 'महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र' को उपर्युक्त प्रज्ञापारमिताओ मे से किसी एक की व्याख्यास्वरूप ही लिखा था, परन्तु किस विशिष्ट 'प्रज्ञापारमिता' को उन्होंने अपनी रचना का आधार माना था, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। असग ने अपने विज्ञानवादी दर्शन को व्यवस्थित स्वरूप देने में प्रज्ञा पारमिताओ से सहायता ली थी। वस्तुत सम्पूर्ण महायानी विज्ञानवादी और शून्यवादी आचार्यों के सामने प्रज्ञापारमिताएँ प्रामाणिक आधारभत ग्रन्थो के रूप मे उपस्थित थी, जिनका उन्होने भरपूर उपयोग किया है। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, जिसका अनुवाद ४०० ई० के लगभग चीनी भाषा में हुआ, सम्भवत चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है और प्रज्ञा पारमिताओ पर आधारित है। यह नागार्जुन की रचना वताई जाती है, परन्तु यह बात प्रमाणसिद्ध नही है[2]। 'गण्डव्यूह' मञ्जुश्री वोधिसत्व की प्रशसा में लिखा गया है और 'धर्मकाय तथा 'शून्यता' सम्बन्धी सिद्धान्तो का भी निरूपण करता है। इस ग्रन्थ का

---

(१) देखिये राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की भूमिका, पृष्ठ ४ (एशियाटिक सोसायटी ऑव वगाल)

(२) देखिये हरदयाल : दि वोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८३

चीनी अनुवाद ३१७ और ४२० ई० के बीच किया गया। 'दशभूमीश्वर' बुद्धत्व प्राप्त करने की दस भूमियो का वर्णन करता है। इसी का दूसरा नाम दश-भूमिक सूत्र भी है। इसका चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने २९७ ई० में और कुमारजीव ने ३८४–४१७ ई० में किया[1]। इस ग्रन्थ की मौलिक रूप में रचना तृतीय शताब्दी ईसवी के आदिम भाग में हुई। 'समाधिराज' में यह बताया गया है कि समाधि की अन्तिम अवस्था किस प्रकार प्राप्त की जाती है। 'लङ्कावतार सूत्र' (४००ई०) में योगाचार सिद्धान्तो का वर्णन है। इस ग्रन्थ में (बिलकुल अनैतिहासिक रूप में[2]) बुद्ध के द्वारा लङ्काधिपति रावण को योगाचार सिद्धान्तो का उपदेश देते हुए दिखाया गया है। चीन और जापान के ध्यान (ज़ेन)—बौद्ध धर्म का आधारभूत ग्रन्थ यही है। इसका गुणभद्र ने ४४३ ई० में और बोधिरुचि ने ५५३ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र (२५० ई०) महायान -धर्म की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्राचीनतम भाग (प्रथम अध्याय से लेकर इक्कीसवें तक) प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना माना जाता है, और उत्तर भाग (अध्याय २१–२६) तृतीय शताब्दी ईसवी की। साहित्यिक दृष्टि से भी यह एक बहुमूल्य ग्रन्थ है और जो प्रवृत्तियाँ महायान धर्म की लक्षण-स्वरूप मानी जाती हैं उनका यह सम्भवतः सर्वोत्तम परिचायक है। इसमें बुद्ध भगवान् को देवातिदेव तथा अनादि, अजन्मा और सृष्टिकर्ता कहा गया है। जो बुद्ध की धातुओ की पूजा करें और स्तूपो का निर्माण करें, उनके लिए भी यहा निर्वाण का आश्वासन है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने २६५-३१६ ई० के बीच और कुमारजीव ने ३८४–४१७ के बीच किया। 'तथागत गुह्यक' में तथागत के ज्ञान और गुणो का वर्णन है। 'ललित विस्तर' बुद्ध को स्वयम्भू परमपुरुष मानकर कुछकुछ 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र ३।३।३४) की भावना में बुद्ध की लीलाओ का वर्णन करता है। यह ग्रन्थ मिश्रित सस्कृत में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का चार बार चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। सन् २२१–६३, ३०८, ४२०–७९ और ६८३ ई० में।

---

(१) एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल द्वारा प्रकाशित।

(२) अपनी मूल वस्तु में अनैतिहासिक होने पर भी इस ग्रन्थ में हूणों के नायक तोरमाण और मिहिरकुल का भी वर्णन आया है, अतः प्राचीन भारतीय इतिहास के गवेषकों के लिए ऐतिहासिक रूप से भी यह ग्रन्थ गवेषणीय है।

इस ग्रन्थ के प्राचीनतम अश तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व के हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम सम्पादन डा० विन्टरनित्ज के मतानुसार दूसरी शताब्दी ईसवी मे और डा० हरदयाल के मतानुसार छठी शताब्दी ईसवी मे हुआ[1]। 'सुवर्ण प्रभास' का अधिकतर रूप तान्त्रिक है और पाराणिक तत्व का भी इसमें आधिक्य है। उपर्युक्त सभी नौ ग्रन्थ अपने समष्टि रूप में 'महायान सूत्र' कहलाते है जिनके आधार पर ही और जिनके सक्षेप स्वरूप ही, जैसा कि हम आगे देखेंगे, नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक कारिका' लिखी। उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त 'सुखावतीव्यूह' में बौद्धो के स्वर्ग का वर्णन उपलब्ध होता है और 'अमिताभ' बुद्ध का भी । इस ग्रन्थ का जापान आदि देशो में वहुत आदर और प्रचार है । सन् १४८—१७० के वीच इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। इसके दो रूप आज प्राप्त होते है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। 'कारण्डव्यूह' नामक ग्रन्थ तो विलकुल पौराणिक स्वरूप ही ग्रहण करता है और अविलोकितेश्वर वोधिसत्व के आत्मोत्सर्ग का वर्णन करता है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद दसवी शताब्दी में हुआ। सम्भवत: यह आठवी-नवी शताब्दी ईसवी की रचना है। सम्पूर्ण विश्व की विमुक्ति के बिना व्यक्तिगत विमुक्ति का कोई अर्थ नही है, यह तत्व इस ग्रन्थ मे बडी अच्छी तरह दिखाया है। 'महावस्तु' ग्रन्थ भी इस सम्वन्ध में अत्यन्त स्मरणीय है। अपने प्राचीनतम रूप में यह तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व विद्यमान था। विन्टरनित्ज और कीथ के मतानुसार चतुर्थ शताब्दी मे और डा० हरदयाल के मतानुसार छठी या सातवी शताब्दी मे इस ग्रन्थ का अन्तिम सम्पादन किया गया। यह ग्रन्थ अर्द्ध-सस्कृत में लिखा गया है। वास्तव में यह ग्रन्थ हीनयान-सम्प्रदाय के 'लोकोत्तरवादी' भिक्षुओ का है, जो बुद्ध को अलौकिक या लोकोत्तर पुरुष मानते थे। किन्तु इसमें सर्वत्र ही महायान धर्म के दृष्टिकोण का बाहुल्य है, अत यह महायान-सम्प्रदाय का भी ग्रन्थ माना जा सकता है। पौराणिक तत्व का इस ग्रन्थ में अत्यन्त वाहुल्य है। दशभूमि, वुद्धानुस्मृति, बुद्धार्चन, स्तूप-परिक्रमा और पुष्पसमर्पण आदि के विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में भरे पडे हैं। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि जब वुद्ध हँसते

---

(१) 'ललित विस्तर' अपने वर्तमान स्वरूप में महायान-सम्प्रदाय का ही एक ग्रन्थ है, परन्तु आरम्भ में यह सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की बुद्ध-जीवनी थी। वाद में रूपान्तरित होकर यह महायान-सम्प्रदाय का ग्रन्थ बन गया।

थ तो सम्पूर्ण लोको में प्रकाश हो जाता था। यह भी कहा गया है कि वुद्ध की न माता थी, न पिता थे, वल्कि वे स्वयम्भू थे। आर्यशूर-रचित 'जातक-माला' (चौथी शताव्दी ईसवी) ग्रन्थ भी इस सम्वन्व में स्मरणीय है। यह गद्य और पद्य दोनो में लिखा गया है ओर काव्य–शैली पर इसकी रचना हुई है। इसमें वुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओ का वर्णन है और इसके अतिरिक्त अन्य कई उपदेशात्मक कथानक भी है जिनका उपयोग भिक्षु अपने उपदेशो में अक्सर करते थे। लामा तारानाथ ने आर्यशूर को अश्वघोष और मातृचेट से मिलाया है, जो ठीक नही माना जा सकता। आर्यशूर का समय सम्भवत पाँचवी शताव्दी ईसवी है। सम्भवत उनका समय चौथी शताव्दी ईसवी भी हो, क्योकि उनकी एक रचना का अनुवाद ४३४ में चीनी भाषा में हो गया था, परन्तु उसे हरदयाल ने प्रामाणिक नही माना है[१]। अवदान-साहित्य का भी यहाँ कुछ वर्णन कर देना चाहिए। 'अवदान' शव्द का अर्थ है धार्मिक कार्य, किन्तु आत्म-वलिदान, सस्या-स्थापन, स्तूप या चैत्य-निर्माण तथा द्रव्य या पुष्प-फल-दान आदि के विस्तृत अर्थ में भी 'अवदान' शव्द का प्रयोग किया गया है। 'अवदान' ग्रन्थो मे वुद्ध स्वय अपने मुख से अपने पूर्व जन्मो की कथा कहते है और उसके आधार पर उपदेश देते है। अवदान-साहित्य का मुख्य ग्रन्थ है 'अवदानशतक' जो दस विभागो में विभक्त है। इस ग्रन्थ का प्रथम चीनी अनुवाद सन् २२३–२५३ ई० के वीच हुआ। इस रचना में 'दीनार' शव्द का प्रयोग है, अतः यह द्वितीय शताव्दी की कृति मानी जा सकती है। इसकी कहानियो में केवल प्रथम दस का रूप महायानी है, वाकी हीन-यानी रूप की है। इसके अतिरिक्त दिव्यावदान, अशोकावदान, कल्पद्रुमावदान, वोधिसत्त्वावदान कल्पलता (ग्यारहवी शताव्दी) और व्रतावदान आदि अन्य अवदान-साहित्य के ग्रन्थ है। दिव्यावदान के प्राचीनतम अश द्वितीय शताव्दी ईसवी पूर्व के हैं। यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में महासर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का था। मुख्यतः यह ग्रन्थ हीनयान परम्परा का है। इसका महायानी सस्करण विन्टरनित्ज के मतानुसार तृतीय शताव्दी ईसवी में किया गया। अवदान-साहित्य अशत. तो सर्वास्तिवादी है और अशतः महायानिक, किन्तु मुख्य तत्व उसमें महायान धर्म के ही है, अत यहाँ उसका इसी रूप में वर्णन किया गया है।

महायान के सिद्धान्तो को सकलनात्मक रूप दने वाली एक प्रसिद्ध

---

(१) देखिये दि वोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन वुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८४

रचना 'धर्म सग्रह' है जो गलत रूप से नागार्जुन की कृति बताई जाती है। वस्तुत यह सातवी या आठवी शताब्दी के किसी लेखक की रचना है। इस रचना का चीनी अनुवाद दसवी शताब्दी में हुआ। इसी प्रकार की एक दूसरी रचना 'महाव्युत्पत्ति' है जिसका सम्बन्ध मुख्यत पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या से है। यह नवी शताब्दी ईसवी की रचना है।

जैसा हम पहले कह चुके है, महायान का साहित्य व्यवस्थित रूप में नही है। उसका विनय उसके विशाल साहित्य मे ही सग्रथित है, उसका पृथक् अस्तित्व नही है। वस्तुत जहाँ तक विनय-पिटक का सम्बन्ध था, हीनयानियो से महायानियो का अधिक पार्थक्य नही था। दोनो के विनय-नियम, उपसम्पदा-नियम, प्रातिमोक्ष-नियम, प्राय एक से ही थे, छोटे-मोटे परिवर्तनो के साथ। चीनी और तिब्बती अनुवादो में जो विशाल महायानी साहित्य सुरक्षित है, उसमें निम्नलिखित विनय-सूत्र वुनियो नजियो ने खोजे है—

(१) बोधिचर्यानिर्देश
(२) बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष सूत्र
(३) भिक्षु-विनय
(४) आकाश गर्भ सूत्र
(५) उपालि परिपृच्छा
(६) उग्रदत्त परिपृच्छा
(७) रत्नमेघ सूत्र
(८) रत्नराशि-सूत्र

सम्भवत और अधिक विनय-सूत्र महायानी साहित्य के अन्तर्गत प्राप्त हो सकते है, क्योकि शान्तिदेव ने 'शिक्षा-समुच्चय' में कहा है 'उक्तानि च सूत्रान्तेषु बोधिसत्त्वशिक्षापदानि'। पालि साहित्य में निहित बुद्ध-वचनो का वर्गीकरण नौ अगो में किया गया गया था। महायानी आचार्यों ने अपने साहित्य का वर्गीकरण बारह अगो के रूप में किया है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता को उन्होने रक्खा है, सूत्र की श्रेणी में और गण्डव्यूह, समाधिराज और सद्धर्म पुण्डरीक को व्याकरण (वेय्याकरण) के रूप में। अन्य साहित्य का भी इस प्रकार वर्गीकरण किया है। परन्तु उसमें सुव्यवस्था नही आने पाई है। वस्तुत पालि साहित्य के नवाग वर्गीकरण में भी सुव्यवस्था नही थी, क्योकि उसके अनुसार भिन्न-भिन्न ग्रन्थो का निर्देश करना कठिन था।

उपर्युक्त विवरण महायानी साहित्य की पूरी कहानी नही है। नागार्जुन,

असग, वसुबन्धु, शातिदेव आदि बीसियो आचार्यों ने महायान साहित्य को समृद्ध किया है। उनके विरण पर हम महायान-दर्शन का विवेचन करते समय आयेंगे।

३—हीनयान : सम्प्रदाय, साहित्य और सिद्धान्त

वैशाली की सगीति के बाद बौद्ध सघ जिन नाना शाखाओ में विभक्त हो गया था, उनमें तीन मुख्य थे। उनके नाम है थेरवाद (स्थविरवाद), सब्वत्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासघिक (महासाघिक)। महासाघिको से आगे चल कर महायान का विकास हुआ। अत महायान ने अन्य दो प्रमुख सम्प्रदायो को 'हीनयान' कहा। इस प्रकार 'हीनयान' की परिधि में थेरवाद और सब्वत्थिवादी दोनो ही सम्मिलित हैं। महायान ने स्थविरवाद के नैतिक उपदेशो को तो बुद्ध के 'उपाय कौशल्य' के रूप में स्वीकार किया, किन्तु सब्वत्थिवादियो के सब्बं अत्थि' 'सब है' के सिद्धान्त को तो वह बुद्ध-उपदेशो की तोड-मरोड ही समझता था। इस सब्वत्थिवाद (सर्वास्तिवाद) ने आगे चल कर अपने स्वतत्र शास्त्रो का विकास किया। मध्य-देश में मथुरा और उत्तर में काश्मीर सर्वास्तिवादियो के प्रधान केंद्र हो गये। तिब्बत में उन्होने बौद्ध धर्म का विशाल प्रचार किया। कनिष्क के समय में जो सगीति बुलाई गई वह सर्वास्तिवादियो की ही थी। इस प्रकार ईसवी सन् के लगभग यह समुदाय अत्यन्त प्रभावशाली हो गया। यहाँ 'हीनयान' के नाम से जिस सम्प्रदाय का वर्णन करेंगे, वह सर्वास्तिवाद ही है जिसके सर्वास्तित्ववाद के विरोध-स्वरूप महासघिक और उनके बाद महायान का जन्म हुआ था। यहाँ पर हमारा तात्पर्य 'हीनयान' स्वरूप सर्वास्तिवाद के दो उत्तरकालीन सम्प्रदाय अर्थात् 'सौत्रान्तिक' और 'वैभाषिक' के साहित्य और सिद्धान्तो का निरूपण करना ही है, जिनका विकास प्राय महायान के समानान्तर रूप से उसके प्रतिपक्ष रूप में हुआ।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदायो का अन्तर्भाव, जैसा हम अभी कह चुके है, एक ही बौद्ध सम्प्रदाय में होता है जिसे हम सर्वास्तिवादी अथवा 'अनात्मा सर्वास्तिवादी' भी कहते है। जैसा कि हम आगे पाँचवे प्रकरण में 'शाङ्कर दर्शन' का विवेचन करते समय देखेंगे, आचार्य शङ्कर ने इन दोनो सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का अन्तर्भाव एक ही सिद्धान्तवादी 'सर्वास्तित्ववादिन:' के रूप में किया है जो दार्शनिक रूप से बिलकुल समुचित है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बिलकुल ठीक है। आर्य कात्यायनी-पुत्र-विरचित 'ज्ञानप्रस्थान शास्त्र' सर्वास्तिवादियो का प्रथम और अत्यन्त महत्व-

पूर्ण ग्रन्थ है और बौद्धधर्म का सस्कृत में लिखा हुआ सम्भवतः प्रथम ग्रन्थ भी यही है। कनिष्क के सरक्षण में, आचार्य वसुमित्र की प्रधानता में, पाँच सौ भिक्षुओ की एक बडी सभा हुई और उन्होने 'ज्ञानप्रस्थान शास्त्र' पर 'विभाषा' नाम की टीका लिखी। यह 'विभाषा' नाम की टीका जिन्हे मान्य हुई वे तो 'वैभाषिक' कहलाने लगे और जिन्होने इसका प्रामाण्य स्वीकार न कर केवल 'सुत्त पिटक' पर ही जोर दिया वे 'सौत्रान्तिक' कहलाने लगे। काश्मीर और गान्धार के सर्वास्तित्ववादियो ने 'विभाषा' को प्रमाण माना, अत वे इसी समय से 'वैभाषिक' नाम से प्रख्यापित हो गए और मथुरा के सर्वास्तिवादियो से भेद दिखाने के लिए इन्ही को 'मूल सर्वास्तिवादी' भी कह कर पुकारा जाने लगा। आचार्य वसुबन्धु ने आगे चल कर काश्मीर के वैभाषिको के सिद्धान्तो के अनुसार ही अपने प्रसिद्ध 'अभिधर्म कोश' की रचना की और इसीलिए इस ग्रन्थ के अन्त मे उन्होने कहा भी है 'काश्मीर वैभाषिक नीतिसिद्धः प्रायो मयाय कथितोऽभिधर्मः'। अस्तु, यहाँ हम पहले सर्वास्तिवादियो के साहित्य का कुछ विवरण देकर फिर उनके सम्प्रदायो की परम्परा पर आएँगे।

जैसा कि हमने पहले कहा, 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' सर्वास्तिवादियो का सबसे प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और यह सर्वास्तिवाद परम्परा के प्रवर्त्तक आर्य कात्यायनीपुत्र ने, जो सर्वास्तिवादियो के मतानुसार बुद्ध के चतुर्थ प्रधान शिष्य थे, लिखा। इस महाग्रन्थ को युआन्-चुआङ ने ६५७–६० ई० मे बीस भागो में चीनी भाषा में अनुवादित किया, यह सूचना भी देना यहाँ अनावश्यक न होगा[1]। इस महाग्रन्थ के साथ ही छह अन्य महाग्रन्थ हैं जिनको सर्वास्तिवादी प्रामाणिक मानते हैं और जो इनके लिए एक प्रकार से वेद के षडङ्गवत् हैं[2]। इसीलिए इन्हे 'षट्पादशास्त्र'

---

(१) देखिए रयूकन किमूरा : 'दि ओरीजनल एण्ड डैवेलप्ड डॉक्ट्रिन्स आफ इण्डियन बुद्धिज्म', अध्याय ३ (दि डॉक्ट्रिन्स आफ सर्वास्तिवादिन्स); डा० विमलाचरण लॉ ने इस चीनी अनुवादकर्ता को काश्मीरी भिक्षु गौतम सघदेव नामक बतलाया है, देखिए उनकी हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३३७

(२) देखिए अभिधर्मकोश (राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित), पृष्ठ १२ (भूमिका), देखिए आचार्य ताकाकुसु : जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४–१९०५ पृष्ठ ७४

भी कहते हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार है (१) अभिधर्मसगीतिपर्यायपादशास्त्र, शारिपुत्र (अथवा महाकौष्ठिल) विरचित। इस महाग्रन्थ का अनुवाद सन् ६५९ ई० मे युआन् चुआङ् ने २० भागो में किया। (२) अभिधर्मस्कन्ध-पादशास्त्र मौद्गल्यायन-रचित जिसको भी युआन्-चुआङ ने सन् ६५९ ई० में १२ भागो में अनुवादित किया। (३) अभिधर्मविज्ञानकायपादशास्त्र, जिसके रचयिता स्थविर देवशर्मा कहे जाते हैं जिन्होने इस ग्रन्थ को, परम्परा के अनुसार, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद रचा। यह महाग्रन्थ भी युआन्-चुआङ् के द्वारा सन् ६४९ ई० में १६ भागो में अनुवादित किया गया। (४) अभिधर्मप्रज्ञप्तिपादशास्त्र—कात्यायनीपुत्र-विरचित, जिसके चीनी अनुवादकर्ता का नाम ज्ञात नही है (५) अभिधर्मधातुकायपादशास्त्र आचार्य वसुमित्र रचित[1], युआन्-चुआङ् के द्वारा सन् ६६३ ई० में तीन भागो में अनुवादित किया गया। (६) अभिधर्मप्रकरणपाद शास्त्र, आचार्य वसुमित्र रचित, जिसका भी अनुवाद २० भागो में चीनी भाषा में किया गया। उपर्युक्त सात ग्रन्थ सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म-पिटक कहलाते है, जो एक प्रकार से स्थविरवादियो के उतने ही ग्रन्थो की सख्या वाले 'अभिधम्म पिटक' के प्रतिरूप कहे जा सकते हैं। उनमें आपस में नाम साम्य भी है जो इस प्रकार ज्ञात होगा—

	सर्वास्तिवाद के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थ	स्थविरवाद के अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ
१	ज्ञानप्रस्थान शास्त्र	पट्ठान
२	धर्मस्कन्ध पाद	धम्मसगणि
३	विज्ञानकाय पाद	विभग
४.	प्रज्ञप्ति पाद	पुग्गल पञ्ञत्ति
५	धातुकायपाद	धातुकथा
६	प्रकरण पाद	कथावत्थुप्पकरण
७.	सगीतिपर्यायपाद	यमक

परन्तु इनमें केवल नामसाम्य ही है और विषयो के निरूपण में दोनो में कोई साम्य नही[2]। इनमें से प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'ज्ञानप्रस्थान शास्त्र' का

(१) आचार्य यशोमित्र ने इसे पूर्ण-विरचित बताया है, देखिए डा० लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४३

(२) द्रष्टव्य डा० ताकाकुसु : अभिधर्म लिटरेचर, जनरल ऑफ रौयल एशियाटिक सोसायटी, १९०५, पृष्ठ १६१

अभी पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित नही हो पाया है, इसी से जाना जा सकता है कि इस विषय में विद्वानो को भी कितनी कम अभिज्ञता है। यहाँ मध्यस्थ स्रोतो का ही आश्रय लेकर, यथा डाक्टर ताकाकुसु, डा० वाडुआ और डा० विमलाचरण लॉ के निबन्धो और लेखो का कृतज्ञता पूर्वक उपयोग कर, सर्वास्तिवादियो के उपर्युक्त सात अभिधर्म-ग्रन्थो की विषय-वस्तु के विषय में कुछ निवेदन किया जाता है। 'ज्ञान प्रस्थान शास्त्र' आठ विभागो में विभक्त है, यथा लोकुत्तर धम्मवग्गो, ञानवग्गो, पुग्गलवग्गो, अहिरिकानोत्तप्प वग्गो, रूपवग्गो, अनत्थवग्गो, चेतना, वग्गो तथा पेमगारववग्गो। लोकोत्तर धर्म क्या हैं? लोकोत्तर धर्म का २२ सत्काय दृष्टियो से क्या सम्बन्ध है? अकुशल मूल क्या है? ज्ञान के कारण क्या हैं? स्मृति क्या है? सशय क्या है? कितने प्रतीत्य समुत्पाद के प्रत्यय भूतकाल के जीवन से सम्बन्ध रखते है, कितने वर्तमान काल के जीवन से और कितने भविष्यत् काल के जीवन से? चित्त, वितर्क, विचार, अविद्या और मन क्या हैं? सयोजन क्या है? अनुशय क्या है? निरोध-परिज्ञान क्या है? निरोध-साक्षात्कार क्या है? समाधि क्या है? अनागामियो की पाँच अवस्थाएँ क्या है? सकृदागामियो की अवस्थाएँ क्या हैं? आदि बातें इस महाग्रन्थ में निरूपित की गई है। 'सगीतिपर्याय पाद' का विषय है कि एक धर्म क्या है? (आहार) द्विधर्म क्या है? (नाम और रूप), त्रिधर्म क्या हैं? (तीन अकुशल मूल, तीन कुशल मूल, तीन दुश्चरित-काय, वाक्, मन, तीन धातु, तीन पुद्गल, तीन वेदनाएँ, तीन विद्याएँ आदि) चतुर्धर्म क्या हैं? (चार आर्य सत्य, चार श्रामण्य फल, चार स्मृत्युपस्थान इत्यादि) पचधर्म क्या हैं? (पाँच स्कन्ध, पाँच बल, पाँच इन्द्रिय, पाँच गति आदि) षड्धर्म क्या है? (छ विज्ञानकाय, छ वेदनाकाय, छ धातु, छ अभिज्ञान, छ अनुत्तर धर्म आदि) सप्त धर्म क्या हैं? (सात सम्बोध्यग, सात अनुशय आदि) अष्ट धर्म क्या है? (आर्य अष्टागिक मार्ग, आठ पुद्गल, आठ विमुक्ति) नव धर्म क्या है? (नौ सत्वावास) दस धर्म क्या हैं? (दस अशैक्ष्य धर्म आदि) आदि रूप से विषयो का इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है। अत स्वभावत ही दीघ निकाय के सगीति सुत्त से इसकी विषय वस्तु और शैली दोनो ही बिलकुल पूरी तरह से मिलती हैं और इस प्रकार की शैली का व्यवहार स्थविरवाद के त्रिपिटक में निश्चय ही अनेक बार किया गया है। 'प्रकरणपाद शास्त्र' में पाँच स्कन्ध, पाँच धर्म (रूप, चित्त, चित्तधर्म, चित्त-विप्रयुक्त-सस्कार, असस्कृत धर्म) इस प्रकार के ज्ञान

(धर्म ज्ञान, अन्वय ज्ञान, परचित्त ज्ञान, सवृति ज्ञान, दुख ज्ञान, समुदय, निरोध-मार्ग, क्षय, अनुत्पाद) वारह इन्द्रियाँ और उनके विषय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मनस्, रूप, गन्ध, शब्द, रस, स्प्रष्टव्य, धर्मायतन) सात धर्म (१८ धातु, १२ आयतन, ५ स्कन्ध, १० महाभूमिकधर्म, १० कुशल महा-भूमिक, १० क्लेश महाभूमिक, १० उपक्लेशभूमिक) आदि विषय इस ग्रन्थ में निरूपित है। 'विज्ञानकायपादशास्त्र' में महामौद्गल्यायन के इन विषयो सम्बन्धी विचारो का प्रकाशन है, यथा पुद्गल, इन्द्रिय, चित्त, क्लेश, विज्ञान, वोध्यग, इत्यादि। 'धातुकायपादशास्त्र' में दस महाभूमिक धर्मो, १० क्लेशमहाभूमिक धर्मों, १० उपक्लेश भूमिक धर्मों, काम लोभ, रूप लोभ, अरुप्यलोभ, द्वेष, विचिकित्सा पर, पाच दृष्टियो पर, सत्काय, अन्तग्राह, मिथ्या दृष्टि परामर्श, शील व्रत परामर्श तथा पाँच धर्मों (वितर्क, विचार, विज्ञान, आह्रिक्य, अनपत्राप्य) आदि पर विचार है। 'स्कन्धपाद शास्त्र' में पच शीलो पर, वुद्ध, धर्म, सघ पर, चार स्रोतापन्न फलो पर, समाधि, वीर्य, स्मृति और अच्छन्द पर तथा चार आर्य सत्यो आदि पर विचार है। 'प्रज्ञप्ति-पाद' शास्त्र में मुख्यतः वत्तीस महापुरुष लक्षणो पर (दीघ निकाय के लक्खण सुत्तन्त की विलकुल समानता पर) तथा राग, द्वेष, मोह आदि पर विचार है। इस प्रकार सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म पिटक का सक्षिप्त विवरण हमने दिया। वस्तुत सर्वास्तिवादियो और स्थविरवादियो में अभिधर्म के सम्वन्ध में ही अधिक भेद था। सुत्त और विनय दोनो के प्रायः समान थे।

सूत्र-पिटक का विभाजन दोनो का इस प्रकार है[1]

स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद
दीघ निकाय	दीर्घागम
मज्झिम निकाय	मध्यमागम
सयुत्त निकाय	सयुक्तकागम
अगुत्तर निकाय	अकोत्तरागम
खुद्दक निकाय	क्षुद्रकागम

यहाँ इन दोनो परम्पराओ के ग्रन्थो में नाम-साम्य ही नही, पूरा विषय-साम्य भी है। सर्वास्तिवादी केवल 'निकाय' शब्द का प्रयोग न कर, उसके लिए 'आगम शब्द का व्यवहार करते है, दोनो की विषय-वस्तु में कोई

(१) देखिए राहुल सांकृत्यायन : विनय-पिटक—हिन्दी-अनुवाद की भूमिका।

विभेद नही है। सर्वास्तिवादी सर्व प्रथम चार निकायो को ही प्रधानता देते है, किन्तु उनके यहाँ 'क्षुद्रकागम' भी है, जिसमें, धर्मपद, उदान, सूत्रनिपात, विमानवस्तु और बुद्धवश यही पाँच ग्रन्थ हैं, जबकि स्थविरवादीय 'खुद्दक-निकाय' में, जैसा कि हम उसके साहित्य पर विचार करते हुए पहले देख चुके है, १५ ग्रन्थ हैं। सर्वास्तिवादियो के विनय-पिटक का विभाजन एक सम्प्रदाय के अनुसार पाराजिक और प्रायश्चित्तिक (स्थविरो के पाराजिक और पाचित्तिय) एव अवदान के रूप मे हुआ है, और एक दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार विनय-वस्तु, प्रातिमोक्ष सूत्र, विनय-विभाग, विनय-क्षुद्रक-वस्तु और विनय-उत्तर ग्रन्थ आदि के रूप में, जिनके नियमो की सख्या आदि-में अल्प विभेद है, किन्तु इतनी सूक्ष्मता में जाने की हमें यहा आवश्यकता नही है। वस्तुत मथुरा के सर्वास्तिवादियो और तिब्वत की सर्वास्तिवादी परम्परा में छोटे-मोटे विनय-सम्वन्धी विभेद थे और कही-कही दोनो के विनय के वर्गीकरण में भी अन्तर था। परन्तु मोटी वातो में न केवल स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी विनय ही समान हैं, वल्कि महायान के भिक्षु भी प्राय उन्ही नियमो का साधारणत अनुसरण करते हैं। सव्वत्थिवादी और महासघिक जब स्थविरवाद से अलग हुए थे उस समय अभिधर्म के स्वरूप के सवध में झगडा चल रहा था, और उसी में प्रधानतः इन दोनो सप्रदायो की स्थविरवाद से विभिन्नता थी। इस प्रकार सर्वास्तिवादियो के सामान्य साहित्य का निर्देश कर अब हम उनके दो उत्तरकालीन सम्प्रदायो के साहित्य और आचार्यों की परम्परा आते है, जो भारतीय दर्शन के सम्प्र-दायो के साथ सीधे सम्वन्ध में आए है, अत हमारे दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण है। पहले हम सौत्रान्तिको को लेते है।

'सौत्रान्तिको' का यह नाम क्यो पडा, इसके विषय में हम पहले ही कह चुके है। 'सूत्र पिटक' पर ही अधिक जोर देने और उसीको प्रमाण मानने के कारण ये 'सौत्रान्तिक' कहलाए[1]। माधवाचार्य ने इस नाम की एक स्वकल्पित व्याख्या दी है[2] जो अनैतिहासिक होने के कारण ग्राह्य नही हो सकती। किन्तु यदि उसका भी तात्पर्य केवल सौत्रान्तिको की 'सूत्र पिटक' विषयक

---

(१) द्रष्टव्य हेस्टिंग्स एन्साईक्लोपैडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द ९, 'सौत्रान्तिक' शीर्षक में, मिलाइए कीथ · बुद्धिस्ट फिलॉसफी पृष्ठ १५५ भी।

(२) देखिए 'सर्वदर्शन सग्रह' (गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज पूना) पृष्ठ १९

प्रामाणय-बुद्धि को ही दिखाने का है तो उस अर्थ में वह ठीक है। सौत्रान्तिक मत की स्थापना करने वाले कुमारलब्ध या कुमार लात नामक आचार्य माने जाते है। युआन्-चुआङ् ने भी उन्हें ऐसा ही माना है[1]। इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा तीसरी शताब्दी का प्रथमार्द्ध माना जाता है। कोई कोई इन्हें नागाजुन का समकालिक भी मानते है। इनका विरचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। कुमार लब्ध के दो शिष्य भी इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हैं, यथा श्रीलब्ध और हरिवर्मा। श्रीलब्ध का 'विभाषा शास्त्र' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि शास्त्र' सर्वधर्मशून्यता के सिद्धान्त का वर्णन करता है। अत. दार्शनिक दृष्टि से इन्हें माध्यमिको की परम्परा में ही रखना ठीक है। किन्तु धार्मिक सम्प्रदाय की दृष्टि से वे सौत्रान्तिक है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, बौद्ध आचार्यों का अपने सम्प्रदायो में उलट-फेर बहुत हुआ है और कभी-कभी तो हम निश्चय ही नही कर पाते कि एक ही आचार्य को किस विचार सम्प्रदाय में रक्खा जाय क्योकि एक ग्रन्थ में जो किसी एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है वही दूसरे ग्रन्थ में अन्यत्र प्रवणता दिखाता है। हरिवर्मा ने 'सर्वधर्मशून्यता' का वर्णन 'हीनयानी' (यदि ऐसा हम कह सकें) दृष्टिकोण से ही किया है[2], अत उन्हें यही रखने के हम पक्षपाती है। इनके ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशास्त्र' का चीनी अनुवाद सन् ४०३ ई० में कुमारजीव के द्वारा किया गया। धर्मत्रात और बुद्धदेव दो अन्य इस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इसी प्रकार वसुबन्धु के 'अभिधर्म कोश' पर 'स्फुटार्था' नाम की टीका लिखने वाले आचार्य यशोमित्र भी इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। यही सौत्रान्तिक मत के साहित्य और आचार्यों की सक्षिप्त परम्परा है।

---

(१) द्रष्टव्य : टी वाटर्स : ऑन यून्-चुआङ् जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२५

(२) देखिए रयूकन किमूरा : दि ओरीजिनल एण्ड डिवैलप्ड डॉक्ट्रिन्स आफ इण्डियन बुद्धिज्म, अध्याय ६; हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि' सिद्धान्त एक प्रकार से 'हीनयानी' और 'महायानी' सम्प्रदायों की मध्यस्थता सी करता है। सर्वास्तिवादियो के 'स्कन्ध' सम्बन्धी सिद्धान्त के ये प्रबल विरोधी हैं। इनका 'सत्यसिद्धि शास्त्र' नामक ग्रन्थ कुमार जीव के द्वारा चीनी भाषामें अनुवादित मिलता है। मूल अभी अप्राप्त है। इनके सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, सोजन : सिस्टम्स ऑव बुद्धिष्ट फिलॉसफी, पृष्ठ १७२-१८५

अब हम वैभाषिक मत पर आते हैं। वैभाषिक मत के विषय में हम, उनके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ' 'अभिधर्म विभाषा शास्त्र' (आर्य कात्यायनी पुत्र विरचित 'अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान शास्त्र' पर कनिष्क के समय में लिखी हुई व्याख्या) का तो वर्णन कर ही चुके हैं। चौथी शताब्दी में लिखा हुआ आचार्य वसुवन्धु का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश', जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, 'काश्मीर वैभाषिक' परम्परा का ही अनुवर्तन करता है और उसीके दृष्टिकोण से लिखा गया है, यद्यपि जैसा कि हम जानते है अपने अग्रज असग की प्रेरणा से इसके लेखक ही वाद में विज्ञानवाद की परम्परा में चले गए थे। आचार्य वसुवन्धु अपने ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश' के आधार पर बौद्ध विचार के क्षेत्र में अमर ख्याति के अधिकारी हैं। एक समय था जव कि बाण के साक्ष्य पर शुक और सारिकाओ के द्वारा भी इस 'अमर' कोश का पाठ होता था 'शुकैरपि शाक्य शासन कुशलै कोश समुपदिशद्भि'। निश्चय ही ऐसा सम्मान किसी भी बौद्ध आचार्य की कृति को इस देश में नही मिल सका है। आचार्य वसुवन्धु को 'द्वितीय बुद्ध' कहा जाता है। यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' (अभिधर्मकोश की टीका) में वसुवन्धु के सम्बन्ध में लिखा है 'य वुद्धिमतामग्र्य' द्वितीयमिव बुद्धमित्याहु। इससे जाना जा सकता है कि बौद्ध साधना के क्षेत्र में वसुवन्धु को कितना उच्च स्थान दिया गया है[१]। 'अभिधर्मकोश' वस्तुत. बौद्ध दार्शनिक ज्ञान का भाण्डार है और वैभाषिक मत से विशेषत· सम्बन्धित होते हुए भी वह सामान्यत सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। स्थविरवाद में जो स्थान 'विसुद्धिमग्ग' का है उसे ही बौद्ध दर्शन के उत्तरकालिक विकास मे 'अभिधर्मकोश' का मानना चाहिये। चीन, तिव्वत, जापान आदि में बौद्ध धर्म के प्रचार के कार्य में 'अभिधर्मकोश' ने वडी सहायता की है। वसुबन्धु गधार प्रदेश के पुरुषपुर (पेशावर) के निवासी थे। युवावस्था में वे अयोध्या भी आये थे। कहा जाता है कि विन्ध्यवासी नामक प्रसिद्ध साख्याचार्य ने इनके गुरु वुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। वसुबन्धु से शास्त्रार्थ करने के पूर्व ही विन्ध्यवासी का देहान्त होगया। यह विन्ध्यवासी ही साख्य ग्रन्थ 'साख्य सप्तति' के लेखक थे, ऐसा माना जाता है। वसुवन्धु ने 'साख्यसप्तति' के खण्डन क रूप में अपना ग्रन्थ 'परमार्थसप्तति' लिखा। आचार्य वसुबन्धु का सवसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश' ही है। अभिधर्मकोश का

(१) मिलाइए चेरवास्की . वुद्धिस्ट लॉजिक, भाग प्रथम, पृष्ठ ३२

दो बार चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। परमार्थ द्वारा छठी शताब्दी में और युआन्-चुआङ् द्वारा सातवी शताब्दी में। यह महाग्रन्थ आठ परिच्छेदो में विभक्त है और बौद्ध दर्शन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण विषय को इसमें छोडा नही गया है। स्थिरमति, गुणमति, दिङ्नाग और यशोमित्र जैसे बाद के बौद्ध विद्वानो द्वारा इस ग्रन्थ की टीकाएँ लिखी गईं। अभिधर्म कोश और परमार्थ सप्तति के अतिरिक्त तर्कशास्त्र और वादविधि नामक ग्रन्थ भी वसुबन्धु ने लिखे थे। वसुबन्धु के समकालिक दो प्रसिद्ध आचार्य थे मनोरथ और सघभद्र। संघभद्र ने अपने दो प्रसिद्ध ग्रन्थो 'अभिधर्म न्यायानुसार' और 'अभिधर्मसमय प्रदीपिका' में में वैभाषिक मत का प्रतिपादन किया है। 'अभिधर्म-न्यायानुसार' में इन्होने 'अभिधर्मकोश' की कुछ मान्यताओ को वैभाषिक मत से विपरीत मानकर उनका प्रतिवाद किया है। अतः इस ग्रन्थ को 'कोशकरका' भी कहा जाता है। सर्वास्तिवादियो के अन्य अनेक ग्रन्थो का परिचय डा० तकाकुसु ने दिया है जिनके विस्तार में जाना यहाँ उपयुक्त न होगा। यहा यह और कह देना चाहिए कि आचार्यों के विषय में सर्वास्ति-वादियो के उपर्युक्त दो सम्प्रदायो में विशेष विभिन्नता नही है और जैसा कि हम पहले कह चुके है कुछ अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के आचार्य भी अपने कुछ विशिष्ट ग्रन्थो (सम्पूर्ण नही) के आधार पर सर्वास्तिवाद के एक या अन्य सम्प्रदाय की परम्परा में आते दिखाई देते है। इस दृष्टि कोण से देखने पर आचार्य स्थिरमति अपने 'तत्वार्थ' के कारण, दिङ्नाग[1] अपने 'मर्म प्रदीप' के कारण, और सघभद्र अपनी 'कोशकरका' के आधार पर सर्वास्तिवादी परम्परा में ही दिखाई पडते हैं। आचार्य अश्वघोष और आर्यशूर कुछ विद्वानो के अनुसार 'सर्वास्तिवादी' नही हैं, किन्तु उनके क्रमश. 'बुद्ध चरित' और 'जातक माला' के कुछ अश सर्वास्तिवादी सिद्धान्तो का प्रत्यापन करते

(१) चित्सुख की 'तत्त्वप्रदीपिका' पर 'न्याय प्रसादिनी' आचार्य दिङ्नाग को वैभाषिक मत के प्रवर्तक होने का महत्त्व देना चाहती है 'वैभाषिकानां सूत्रकृतो दिङ्नागस्य' (पृष्ठ २४४ निर्णय सागर संस्करण)। चूंकि धर्मकीर्ति दिङ्नाग के व्याख्याकार है, अतः इस प्रकार वे भी इसी पर-म्परा में आते हैं। इसी प्रकार धर्मकीर्ति के व्याख्याकार धर्मोत्तर भी। किन्तु हम इनको सौत्रान्तिक मत के मुख्य व्याख्याता नहीं मान सकते, जैसा कि आचार्य हिरियण्ण मानते है, देखिए उनकी आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी में (बौद्ध दर्शन का विवेचन)।

हैं[1]। इसके अतिरिक्त भदन्त घोषक और धर्मोत्तर भी 'सर्वास्तिवाद' सम्प्रदाय के ही एक-न-एक विभाग में आते हैं। अब हम सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदायो (जिनकी ही सम्मिलित सज्ञा सर्वास्तिवादी, अनात्मा-सर्वास्तिवादी अथवा हेतुवादी है) के सिद्धातो पर आते है।

सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त

'तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मत' ऐसा अभिधर्मकोश का कहना है (५।२५)। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मों (वस्तु, विपय, अर्थ पदार्थ, प्रमेय[2]) के तीनो कालो मे अस्तित्व को जो कहता है, वह सर्वास्तिवादी है।' इस प्रकार धर्मों का तीनो कालो में अस्तित्व है। सर्वास्तिवादियो का तर्क भगवान् बुद्ध के ही एक वचन को लेकर इस प्रकार चलता है। भगवान् बुद्ध ने कहा (जैसा कि वह सर्वास्तिवादियो के 'सयुक्तागम' मे अकित है—पालि त्रिपिटक के अनुकूल भी है) कि 'हे भिक्षुओ! अतीत और अनागत रूप अनित्य है। प्रत्युत्पन्न रूप के विषय में तो कहना ही क्या? इस प्रकार दर्शन को जानने वाला, श्रुतवान्, आर्य श्रावक अतीत रूप में अपेक्षा से रहित होता है। अनागत रूप का वह अभिनन्दन नही करता और प्रत्युत्पन्न रूप से निर्वेद प्राप्त कर लेने पर वह विराग और निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है[3]।' इस बुद्ध-वचन का आश्रय लेकर और भगवान् बुद्ध के शब्दो का प्रवर्तन करते हुए सर्वास्तिवादी कहते हैं कि 'अतीत रूप यदि नही होता तो श्रुतवान् आर्यश्रावक अनपेक्ष ही किसमें होता? विज्ञान की तो दो हेतुओ

(१) देखिए, राधाकृष्णन्: इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१३, पद-संकेत १; हमारी विनम्र धारणा के अनुसार तो आचार्य अश्वघोष निश्चयतः सर्वास्तिवादी थे। हां, उनकी रचनाओं में महायानी तत्त्व अवश्य मिलते हैं। हमने उनका उल्लेख महायानी आचार्यों के अन्तर्गत आगे चल कर किया है। ऐसा करने के कारण भी वहां निर्दिष्ट कर दिये गये गये है।

(२) देखिए आगे पाचवें प्रकरण में आचार्य गौडपाद के द्वारा इस शब्द के प्रयोग पर विचार। द्रष्टव्य अभिधर्म कोश १।६ पर स्फुटार्था भी।

(३) 'रूप अनित्य अतीत अनागतम्, कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य? एवं दर्शी श्रुतवान् आर्य श्रावकोऽतीते रूपेऽनापेक्षो भवति। अनागतं रूपं नाभिनन्दति। प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्विदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नो भवति। संयुक्तागम—३।१४; देखिए अभिधर्म कोश (राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित) ५।२४ (पृष्ठ १३८)

से ही उत्पत्ति होती है, चक्षु-इन्द्रिय और रूप से। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द, मन इन्द्रिय और धर्म[1]।' यदि अतीत और अनागत हैं ही नही, तो मनोविज्ञान कहा से उत्पन्न हो जायगा! क्या विज्ञान कभी निरालबन (विना किसी आलम्बन के) या निर्विषय हो सकता है? 'सालम्बनम् हि विज्ञानम्'। विज्ञान के लिए सदा कोई आलंबन चाहिए ही। अतीत का यदि अभाव ही हो तो फल का उत्पादन कहा से होगा? क्योकि फल की उत्पत्ति-काल ही में तो विपाक-हेतु अतीत हो जाता है[2]। अत धर्मों का तीनो कालो मे अस्तित्व है ही। सर्वास्तिवादियो का सत्ता सवधी विपय को लेकर विभज्यवादियो से विभेद है। जो अतीत उत्पन्न तो हो गया है, किन्तु जिसने अभी फल नही दिया, उसके अस्तित्व को जो स्वीकार करते हैं तथा उस अनागत के अतीत अश को, जो फल दे चुका है, उसके अस्तित्व को जो स्वीकार करते है, वे विभज्यवादी है, सर्वास्तिवादी नही। सर्वास्तिवादी तो तीनो ही कालो में अस्तित्व मानते है[3]। सर्वास्तिवादियो के अनुसार इस प्रकार धर्मों के अस्तित्व के तीनो ही काल है, यथा अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत[4]। हम कह सकते है कि पालि-त्रिपटक में भी इस स्थिति को प्रस्थापित करने वाले अनेक बुद्ध-वचन है। 'तीनि इमानि भिक्खवे कथावत्थूनि। कतमानि

(१) 'अतीतं चेत् भिक्षव·। रूपं नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्रावकः....... विज्ञानं द्विहेतुनोत्पद्यते, चक्षुरिन्द्रियं रूपं च, श्रोत्रेन्द्रियं शब्दश्च, मन इन्द्रियं धर्मश्च'। संयुक्तागम ३।१४; ३।३२; अभिधर्मकोश-नालन्दिका व्याख्या (राहुल सांकृत्यायन कृत) में उद्धृत।

(२) यदि अतीतानागता न भवेयुः मनोविज्ञानं (यस्य ते विषया :) न द्वाभ्यामुत्पद्येत। अतीतानागतवस्त्वभावे विज्ञानं निरालम्बनं स्यात्। सावलम्बनं (सद्विषयम्) हि विज्ञानम्। अतीताभावे न फलोत्पाद·। फलोत्पत्तिकाले हि विपाकहेतुरतीतो भवति। 'नालन्दिका' ५।२४; पृष्ठ १३८ (अभिधर्म कोश)

(३) ये हि प्रत्युत्पन्नस्य अतीतैकाशस्य (अदत्तफलं कर्म) चास्ति चास्तित्त्वं अनागतस्य अतीतैकांशस्य (दत्तफलं कर्म) च नास्तित्वं मन्यन्ते ते विभज्यवादिनः न सर्वास्तिवादिनः। 'नालन्दिका' ५।२४; पृष्ठ १३८ (अभिधर्म कोश)

(४) मिलाइए, त्र्यध्वकास्ते तदुक्तेः द्वयात् सद्विषयात् फलात्। अभिधर्म कोश ५।२४; त एवाऽध्वा कथावस्तुसनिः साराः सवस्तुकाः। अभिधर्म कोश १।७

तीनि। अतीत वा भिक्खवे, अद्धान आरब्भ कथ कथेय्य। अनागत ... पच्चुप्पन्न (अगुत्तर ३।७।७) 'एवमिद, दीघमद्धान सन्धावित ससारित मम चेव तुम्हाक च (अगुत्तर ४।१।१) 'यस्मा च भिक्खवे, अत्थि लोको निस्सरण' (अगुत्तर ३।११।२) आदि वाक्य सर्वास्तिवादी परिस्थिति को ही स्पष्ट करते हैं। सर्वास्तिवादियो के चार प्रकार आचार्य वसुबन्धु ने गिनाए हैं 'चतुर्विधा' (अभिधर्मकोश ५।२५)। इनमें से भदन्त धर्मत्राता 'भावान्यथात्व' को स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ है कि अस्तित्व के अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न, ये तीन काल भाववैसादृश्य के कारण ही होते हैं। और द्रव्य में अन्यथात्व नही होता, जिस प्रकार कि दही भाव को प्राप्त हुए दूध में रसादि भावो के अन्यथात्व होने पर शुक्लता। भदन्त घोषक मानते हैं कि अतीत धर्म अतीतलक्षण होता है किन्तु वह प्रत्युत्पन्न और अनागत लक्षणो से वियुक्त नही होता। इसी प्रकार अनागत अनागतलक्षण होता है किन्तु प्रत्युत्पन्न और अतीत लक्षणो से वह वियुक्त नही होता और इसी तरह प्रत्युत्पन्न प्रत्युत्पन्नलक्षण होता है किन्तु अतीत और अनागत लक्षणो से वह विप्रयुक्त नही होता। यही सिद्धात 'लक्षणान्यथात्व' कहलाता है और भदन्त घोषक इसको मानते हैं। तीसरे प्रकार के सर्वास्तिवादी वे है, जो 'अवस्थान्यथात्व' को स्वीकार करते हैं। इनमें मुख्य आचार्य वसुमित्र है जो कनिष्क के समकालिक थे। 'अवस्थान्यथात्व' का तात्पर्य यह है कि अवस्था भेद से ही काल का भेद होता है। धर्मों में अवस्था से ही भेद है, द्रव्यत नही। चौथा सर्वास्तिवादी मत है भदन्त बुद्धदेव का जो 'अन्यथान्यथात्व' को स्वीकार करते है। उनके अनुसार धर्म ही काल का अतिक्रमण करते हुए उन-उन नामो को ग्रहण करते हैं। 'अतीत' जब हम कहते है तो केवल प्रत्युत्पन्न और अनागत की अपेक्षा से ही। इसी तरह अनागत को प्रत्युत्पन्न और अतीत की अपेक्षा से ही। यही 'अन्यथान्यथात्व' है। इस प्रकार 'भावान्यथात्व' 'लक्षणान्यथात्व' 'अवस्थाऽन्यथात्व' और 'अन्यथान्यथात्व' ये सर्वास्तिवाद सिद्धात के चार प्रकार हैं[1], जिनके विषय में अभिधर्मकोश अपनी सूत्रात्मक शैली में कहता है 'एते भावलक्षणावस्थान्यथान्यथिकाह्वया' (५।२६), इन सबमें से आचार्य वसुबन्धु ने वसुमित्र के सिद्धात (अन्यथाऽन्यथात्व) को 'शोभन 'अध्वान' माना है 'तृतीय' शोभनोऽध्वान' ५।२६। अब हम सर्वास्तिवादियो के अस्तित्व-निरूपण पर आते हैं जो उनके दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धात है। इसके विषय में सौत्रान्तिको

(१) जिनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए 'अभिधर्मकोश', पृष्ठ १३९

और वैभाषिको में कोई विशेष विभेद नही है, क्योकि दोनो ही सर्वास्तिवादी है। वसुवन्धु ने कहा है कि धर्मों अर्थात् वाह्य और आन्तरिक पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के विना क्लेशो के, रागादि मलो के, उपशमन करने का और कोई उपाय नही है (धर्माणा प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशाना यत उपशान्तयेऽभ्युपाय· अभिधर्मकोश १।३)[१] निश्चय ही समग्र अभिधर्म कोश का विषय ही धर्म अर्थात् वाह्य और आन्तरिक पदार्थों (अथवा यो कहिए कि बाह्य और आन्तर सत्ता) का विवेचन करना है। 'सास्रवाऽ- नास्रवा धर्मा' (अभिधर्म कोश १।४) से लेकर अभिधर्मकोशकार ने धातुओ, इन्द्रियो, लोक-धातुओ, अनुशय, पुद्गल आदि के विस्तृत विवरण उपस्थित करते हुए विश्लेषण-प्रियता का अन्त ही कर दिया है। हम यहा सर्वास्तिवादियो ने अस्तित्व का जो विश्लेषण किया है उसका एक शताश भी उपस्थित नही कर सकते। केवल कुछ निर्देश मात्र कर सकते हैं। सर्वास्तिवादी अस्तित्व अथवा धर्म को दो भागो में वाटते हैं, 'सस्कृत धर्म' और 'असस्कृत धर्म'। हेतु-प्रत्यय-जनित सभी धर्म 'सस्कृत', धर्म हैं। (उत्पत्ति और निरोध धर्म वाले) यही 'सस्कृत धर्म' 'सास्रव धर्म' भी कहलाते है, क्योकि इनमें आस्रव अर्थात् रागादि मल आश्रय ग्रहण करते हैं ('सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात्समनुशेरते' (अभिधर्म कोश १।४)। 'असस्कृत धर्म' 'अनास्रव' होते हैं और वे समष्टि रूप में 'मार्ग सत्य' कहलाते है और वे तीन प्रकार के होते है 'अनास्रवा मार्गसत्य त्रिविध चाऽप्यसस्कृतम्' (अभिधर्म कोश १।५)। अनास्रव (अथवा असस्कृत) धर्मो का यह त्रिविध विभाग इस प्रकार है, आकाश, प्रतिसख्या निरोध, अप्रतिसख्यानिरोध। 'आकाश द्वौ निरोधौ च' (अभिधर्म कोश १।५)। इनमें से आकाश अनावरण स्वरूप है, सव स्रास्रव धर्मों का जो पृथक्-पृथक्-वियोग है, वह प्रतिसख्यानिरोध है। प्रतिसख्या प्रज्ञा है, उसके द्वारा जो निरोध होता है, वह 'प्रतिसख्या निरोध' है। धर्मों की उत्पत्ति का अत्यन्त विरोधी जो अन्य स्वरूप-वियोग है, वही अप्रतिसख्या-निरोध कहलाता है। 'सस्कृत' धर्मों के विपय मे हमें इस प्रकार समझना चाहिए, कि स्कन्धो (५) आयतनो (१२) और धातुओ (१८) में वे सव सगृहीत हैं। 'एकेन स्कन्धाऽऽयतन धातुना सर्वसग्रह' (अभिधर्म कोश १।१८)। किन्तु इन सवका अलग-अलग विवेचन करना और अलग-अलग स्वरूप निर्देश करना तो 'अभिधर्म कोश' की ही एक विस्तृत व्याख्या करना होगा, अत सिवाय तालिका के द्वारा निर्देश करने के और कोई चारा ही नही है—

(१) मिलाइए न्यायसूत्र का प्रथम सूत्र।

धर्म (अस्तित्व)

सस्कृत (सास्रव)

(अनास्रवा / असस्कृत)

आकाश

निरोध

स्कन्ध (५)

आयतन (१२)

धातु (१८)

प्रतिसख्या

अप्रतिसख्या

रूप वेदना सज्ञा सस्कार विज्ञान

इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) आलम्बन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य) विज्ञान (चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा के कायविज्ञान

वेदना

सुखा दुखा व सुखा न दुखा

सस्कार

धर्मायतन अविज्ञप्ति असस्कृति

रस काय स्प्रष्ट... ...न धर्म

४ ७ ८ १०

घ्राण गन्ध

१० १८

मन

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका में हमने पाच स्कन्धो, वारह आयतनो (अर्थात् पाच इन्द्रियायतन + मन आयतन तथा पाच विषयातन + धर्मायतन) तथा अठारह धातुओ (अर्थात् छ इन्द्रिय धातु + छ. इन्द्रियविज्ञान-धातु + छ. इन्द्रिय विषय धातु,) को देखा। यह धर्म अथवा अस्तित्व का 'आन्तर' विभागीकरण है जिसे सर्वास्तिवादी करते हैं। इसका भी फिर अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण है जिसे जिज्ञासु पाठक महापडित राहुल साकृत्यायन जी की 'अभिधर्म कोश' के अन्त में दी हुई विस्तृत और अत्यन्त सूचनामय तालिकाओ में देख सकते हैं। सर्वास्तिवादियो के द्वारा किया गया 'धर्म' या सत्ता का वाह्य निरूपण और विश्लेषण भी हमें समझ लेना चाहिए। उन्होने जो भूत और भौतिक तथा चित्त और चैत्त दो प्रकार का अस्तित्व दिखाया है उसके समग्र रूप को हमें यहा समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वह स्वत तो अपनी महत्ता रखता ही है, उसके विना समझे हमारे लिए शकर के इस विषयक प्रत्याख्यानो को भी उनके ठीक दृष्टिकोण में समझना कठिन होगा, जिन पर हमें पाचवें प्रकरण में आना होगा। चित्त और चैत्त जगत् में तो धर्मों के विश्लेपण (अर्थात् आन्तर अस्तित्व का विभागीकरण) को हम पूर्व दिखा चुके है, अव हम धर्मों के वाह्य विश्लेषण पर आते है। इसको भी विना तालिका के प्रकट करना यहा असम्भव होगा। अत. उसी का सहारा लेना पडता है।

धर्म

७२ सस्कृत धर्म — ३ असस्कृत धर्म (आकाश, प्रतिसख्यानिरोध, अप्रतिसख्यानिरोध

७२ सस्कृत धर्म:

- ११ रूप धर्म
  - ५ इन्द्रियातन
  - १ अविज्ञप्ति
  - ५ विषयायतन
- १ चित्त धर्म
- ४६ चैत्त या चित्तसप्रतियुक्त धर्म
- १४ चित्तविप्रयुक्त धर्म

इनके विशेष व्याख्यान में हम नही जा सकते और केवल नाम-परिगणन मात्र से कुछ लाभ नही होगा। अत सर्वास्तिवादियों की सामान्य बातो का विवेचन समाप्त कर अव हम उनके सम्प्रदायो अर्थात् सौत्रान्तिको और वैभाषिको के तत्वज्ञान एव प्रमाणमीमासा सम्वन्धी विचारो को देखें जो एक दूसरे से मिले हुए हैं।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत—तत्वमीमासा और प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत दोनो ही सर्वास्तित्ववादी है अर्थात् दोनो ही वाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते है, किन्तु उन दोनो मे महान् विभेद यह है कि वैभाषिक तो प्रत्यक्ष के द्वारा वाह्य पदार्थों के अनुभव को मानते हैं और सौत्रान्तिक मानते है उन्हे अनुमेय। इसी अर्थ को लेकर 'सर्वदर्शनसग्रहकार' ने कहा है 'अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण वहु मन्यते। सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्यार्थो न वहिर्मत'। वैभाषिक कहता है कि वाह्य पदार्थ चित्त में अपने आकार अथवा अपने आकार के विज्ञान को उत्पन्न करते है। इन विज्ञानो और वाह्य पदार्थों की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसके विपरीत सौत्रान्तिक कहता है कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से नही किन्तु अनुमान से होता है। वाह्य पदार्थों के केवल हमारे मन पर चित्र खिंचते हैं जिनकी सहायता से हम यह अनुमान करते हैं कि वाह्य वस्तुएँ हैं। इस प्रकार वाह्य वस्तुओ को अनुमेय वताकर भी सौत्रान्तिक विज्ञानवाद के पक्ष में

वस्तु की ओर सकेत करते है। वैभाषिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही उसका अनुभव मानते है। इस वात को छोड़कर अन्य वातो में दोनों में विभेद नही है। क्षणिकवाद दोनो स्वीकार करते है, किन्तु चूकि क्षणिकवाद प्राय. चारो वौद्ध सम्प्रदायो को ही मान्य है, अत उसका निरूपण हम अलग करेंगे। इसी प्रकार नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त का पूर्ण रूप शून्यवाद मत में ही प्रकाशित हुआ है, अतः उसका विवेचन वही करेंगे। सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद के विषय में भी यहाँ विशेष वक्तव्य नही है, क्योकि पाँचवें प्रकरण में जव हम आचार्य शकर के द्वारा किए गए वौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो के प्रत्याख्यानो को देखेंगे तो सर्व प्रथम हम वौद्ध परमाणुवाद का ही निरूपण वहाँ देखेंगे। किन्तु यहाँ भी सकेत रूप से इतना कह देना चाहिए कि सर्वास्तिवादियो के मतानुसार 'परमाणु' शव्दायतन रहित अर्थात् अशव्द तथा इन्द्रिय-प्रवेश के अयोग्य होता है। वह अष्ट-द्रव्यात्मक होता है, यथा चार महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु) तथा चार भौतिक (यथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श)। अशव्द, कायेन्द्रिय और कायायतन प्रवेश के योग्य परमाणु नव द्रव्यात्मक होता है (नवाँ द्रव्य 'स्प्रष्टव्य' होता है)। इसी प्रकार चक्षु के सहित परमाणु दश द्रव्यात्मक भी होता है (कामेऽष्ट द्रव्यकोऽशव्द· परमाणुरनिन्द्रिय·। कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्योऽपरेन्द्रिय·)॥ (अभिधर्म कोश २।२२)। पृथ्वी धातु, आपोधातु, तेजो धातु, वायु-धातु, ये चार भूत हैं। धारण करने से यही धातुएँ है। अन्य सभी के ये आश्रय हैं, इसीलिए ये महाभूत कहलाते है। धृति (स्थैर्य) सग्रह (समूह में लाना) पक्ति (पाक क्रिया) और व्यूहन (वृद्धि) से क्रमश पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारो धातुओ की सिद्धि होती है जिनमें क्रमश· पृथिवीधातु खर (कठिन) स्वभाव, जल धातु स्नेह (आर्द्री करण)—स्वभाव, तेजोधातु उष्णता-स्वभाव तथा वायुधातु ईरण-(गति) स्वभाव है 'धृत्यादि-कर्म ससिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः' अभिधर्मकोश १।१२। इस सघात की अपर्याप्तता कैसे है, इसका विवेचन आगे पाचवें प्रकरण में उपलब्ध हो जायगा।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनो मत आचार तत्व की दृष्टि से हीनयान-परम्परा का ही अवलम्वन करने वाले हैं जिसका आदर्श 'अर्हत्' पद की प्राप्ति करना है। अर्हत् पुरुष तीन प्रकार के माने गए है, यथा 'वुद्ध'

आचार तत्व

'प्रत्येक वुद्ध' और 'श्रावक अर्हत्'। जो पुरुष विना किसी गुरु की सहायता के स्वय अपने ही पुरुषार्थ या 'प्रधान' से वोधि-ज्ञान को प्राप्त करते हैं और अन्त में निर्वाण-प्राप्त होते है, वे वुद्ध और 'प्रत्येक

इनके विशेष व्याख्यान में हम नही जा सकते और केवल नाम-परिगणन मात्र से कुछ लाभ नही होगा। अत सर्वास्तिवादियो की सामान्य वातो का विवेचन समाप्त कर अब हम उनके सम्प्रदायो अर्थात् सौत्रान्तिको और वैभाषिको के तत्वज्ञान एव प्रमाणमीमासा सम्बन्धी विचारो को देखें जो एक दूसरे से मिले हुए हैं।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत—तत्वमीमासा और प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत दोनो ही सर्वास्तित्ववादी हैं अर्थात् दोनो ही बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उन दोनो में महान् विभेद यह है कि वैभाषिक तो प्रत्यक्ष के द्वारा वाह्य पदार्थों के अनुभव को मानते हैं और सौत्रान्तिक मानते हैं उन्हे अनुमेय। इसी अर्थ को लेकर 'सर्वदर्शनसग्रहकार' ने कहा है 'अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण वहु मन्यते। सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्यार्थो न वहिर्मत'। वैभाषिक कहता है कि बाह्य पदार्थ चित्त में अपने आकार अथवा अपने आकार के विज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इन विज्ञानो और बाह्य पदार्थों की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसके विपरीत सौत्रान्तिक कहता है कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से नही किन्तु अनुमान से होता है। बाह्य पदार्थों के केवल हमारे मन पर चित्र खिचते हैं जिनकी सहायता से हम यह अनुमान करते है कि बाह्य वस्तुएँ हैं। इस प्रकार वाह्य वस्तुओ को अनुमेय वताकर भी सौत्रान्तिक विज्ञानवाद के पक्ष में प्रवेश नही करते। वे कहते है कि जब बाह्य वस्तुओ के हमारे मन पर चित्र खिचते है और उन चित्रो से हम बाह्य पदार्थों का अनुमान करते हैं, तो हम वाह्य पदार्थो का ही अपलाप नही कर सकते क्योकि बाह्य पदार्थों का अनुमान होते समय हमें निश्चय ही यही अनुभव होता है कि 'ये बाह्य पदार्थ हैं'। 'वाह्यता' की अनुभूति अनुमान का एक विशेष अग होती है, अत उसको हटाया नहीं जा सकता। बाह्यता विज्ञानों में नहीं किन्तु पदार्थों में है। वैभाषिको का यह भी तर्क है (जिसे ही मीमासको ने विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रयुक्त किया है—देखिए पाँचवें प्रकरण में मीमासा दर्शन का विवेचन) कि विना बाह्य पदार्थों को माने विज्ञानों की विचित्रता और विविध स्वरूपता की सगति नही लगाई जा सकती। अत वाह्य पदार्थों की स्वतत्र सत्ता स्वीकार करके भी सौत्रान्तिक उन्हे केवल अनुमेय मानते हैं और यह सिद्धान्त उनका वैभाषिको के द्वारा आलोचित किया गया है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि किसी वस्तु को देखने से पहले हम उसके मानसिक विकार को देखते हैं और फिर उसके द्वारा वाह्य

वस्तु की ओर संकेत करते हैं। वैभाषिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही उसका अनुभव मानते हैं। इस वात को छोडकर अन्य वातों में दोनो में विभेद नही है। क्षणिकवाद दोनो स्वीकार करते हैं, किन्तु चूकि क्षणिकवाद प्राय. चारो वौद्ध सम्प्रदायो को ही मान्य है, अतः उसका निरूपण हम अलग करेंगे। इसी प्रकार नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त का पूर्ण रूप शून्यवाद मत में ही प्रकाशित हुआ है, अतः उसका विवेचन वही करेंगे। सर्वास्तिवादियो के परमाणुवाद के विषय में भी यहाँ विशेष वक्तव्य नही है, क्योकि पाँचवें प्रकरण में जव हम आचार्य शकर के द्वारा किए गए वौद्ध दर्शन के सिद्धान्तो के प्रत्याख्यानो को देखेंगे तो सर्व प्रथम हम वौद्ध परमाणुवाद का ही निरूपण वहाँ देखेंगे। किन्तु यहाँ भी सकेत रूप से इतना कह देना चाहिए कि सर्वास्तिवादियो के मतानुसार 'परमाणु' शब्दायतन रहित अर्थात् अशव्द तथा इन्द्रिय-प्रवेश के अयोग्य होता है। वह अष्ट-द्रव्यात्मक होता है, यथा चार महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु) तथा चार भौतिक (यथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श)। अशव्द, कायेन्द्रिय और कायायतन प्रवेश के योग्य परमाणु नव द्रव्यात्मक होता है (नवाँ द्रव्य 'स्प्रष्टव्य' होता है)। इसी प्रकार चक्षु के सहित परमाणु दश द्रव्यात्मक भी होता है (कामेऽष्ट द्रव्यकोऽशव्द· परमाणुरनिन्द्रियः। कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्योऽपरेन्द्रिय·) ॥ (अभिधर्म कोश २।२२)। पृथ्वी धातु, आपोधातु, तेजो धातु, वायु-धातु, ये चार भूत हैं। धारण करने से यही धातुएँ है। अन्य सभी के ये आश्रय है, इसीलिए ये महाभूत कहलाते है। धृति (स्थैर्य) सग्रह (समूह में लाना) पक्ति (पाक क्रिया) और व्यूहन (वृद्धि) से क्रमश· पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारो धातुओ की सिद्धि होती है जिनमें क्रमश· पृथिवीधातु खर (कठिन) स्वभाव, जल धातु स्नेह (आर्द्री करण)—स्वभाव, तेजोधातु उष्णता-स्वभाव तथा वायुधातु ईरण-(गति)स्वभाव है 'धृत्यादि-कर्म ससिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः' अभिधर्मकोश १।१२। इस सघात की अपर्याप्तता कैसे है, इसका विवेचन आगे पाचवें प्रकरण में उपलव्ध हो जायगा।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनो मत आचार तत्व की दृष्टि से हीनयान-परम्परा का ही अवलम्वन करने वाले है जिसका आदर्श 'अर्हत्' पद की प्राप्ति करना है। अर्हत् पुरुष तीन प्रकार के माने गए है, यथा 'वुद्ध'

आचार तत्व

'प्रत्येक वुद्ध' और 'श्रावक अर्हत्'। जो पुरुष विना किसी गुरु की सहायता के स्वय अपने ही पुरुषार्थ या 'प्रधान' से वोधि-ज्ञान को प्राप्त करते हैं और अन्त में निर्वाण-प्राप्त होते है, वे वुद्ध और 'प्रत्येक

बुद्ध' कहलाते है। 'बुद्ध' और 'प्रत्येक बुद्ध' (पालि पच्चेकबुद्ध) में यह अन्तर है कि जिनमें असख्य अप्रमेय प्राणियो को उद्बोधन करने की प्रतिभा होती है वे बुद्ध कहलाते हैं और जो अपने बल से अन्यो का उद्बोधन नही कर सकते, किन्तु स्वय निर्वाण-लाभ कर सकते हैं वे 'प्रत्येक बुद्ध' कहलाते है। जो पुरुष बुद्ध-प्रदर्शित मार्ग पर चलकर निर्वाण को लाभ करते है, वे 'श्रावक अर्हत्' कहलाते हैं। इस 'अर्हत्' आदर्श को जिन बौद्धो ने अपना आदर्श बनाया वे अपने विरोधियो के द्वारा 'हीनयान' का अवलम्बन करने वाले दिखाए गये, अशोक के समय के बाद से, जैसा कि हम देख ही चुके हैं। निश्चय ही उपर्युक्त रूप से परिभाषित 'अर्हत्' के आदर्श में कुछ तो 'हीनता' है ही। यहाँ सभी जोर व्यक्तिगत निर्वाण-लाभ पर ही है। इसके विपरीत इनके विरोधियो ने 'बोधिसत्व' को अपना आदर्श बनाया। जो लोग निर्वाण-विद्या को सर्वसाधारण में वितरण करने के लिए करुणा-वश होकर जन्म-जन्मान्तरो तक दूसरो के हित और कल्याण के लिए प्राण-विसर्जन करते और तब तक निर्वाण स्वीकार नही करते जब तक सभी प्राणी विमुक्त न हो जायें, वे 'बोधिसत्व' कहलाते है। यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'महायान'-सम्प्रदाय का है, जिस पर हम विस्तार से पहले विचार कर चुके हैं। वस्तुत 'अर्हत्' आदर्श इतना स्वार्थमय नहीं है जितना कि उसे अक्सर दिखाया जाता है। महायान-आचार्यों के प्रभाव में आकर हमें हीनयानियो के आचार-तत्त्व को हीन नही समझना चाहिए। स्वय भगवान् बुद्ध के समय में जितने 'अर्हत्' पद को प्राप्त भिक्षु थे, सभी ने लोक सेवा की थी। आनन्द ने तो अपने को भिक्षुओ की सगीति में बैठने के योग्य ही नही समझा जब तक कि उन्होने 'अर्हत्' पद प्राप्त नही कर लिया। 'खग्गविसाणसुत्त' की एकान्त साधना की भावनाएँ ही 'अर्हत्' आदर्श की एक मात्र प्रतिनिधि स्वरूप नही है। आश्चर्य है कि महामति डा० राधाकृष्णन् भी, जो बडी व्यवस्थित शैली के लेखक हैं, 'अर्हत्' आदर्श के प्रति काफी अन्याय कर गए है। अर्हत्-आदर्श को उन्होने इब्सन के शब्दो का प्रयोग करते हुए उस आदमी की मनोदशा से व्यक्त किया है जो एक जहाज के टूट जाने पर सबसे पहले यह चिन्ता करता है कि मैं स्वय कैसे बचूं[1] ? इस

(१) महामति डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं "The Hinayan ideal may be justly summed up in the statement of Ibsen 'There are actually moments when the whole history of the world appears to me like one great ship-

दु समय ससार में उसे केवल आत्म-त्राण की इच्छा रहती है, यह कहना अर्हत् के प्रति अन्याय करना है। निश्चय ही ऐसी कोई बात हीनयान के 'अर्हत्' आदर्श के प्रति नही कही जा सकती। व्यक्तिगत साधना का यह आशय कदापि नही कि सभी सामाजिक कर्तव्यो को तिलाञ्जलि दे दी गई है। फिर चेतना के निरोध से ही सब हीनयानी निर्वाण का तात्पर्य लेते हो, ऐसी भी बात नही है। हीनयान मत वाले अपने ही पुरुषार्थ से निर्वाण पाने की आशा रखते हैं। क्षणिकवाद तो सभी बौद्ध सम्प्रदायो का सामान्य सिद्धान्त है, फिर उसके लिए हीनयान वालो को ही क्यो दोष दिया जाय! इसी प्रकार निषेधात्मकता भी हीनयानियो की अपेक्षा महायानिको में ही अधिक है, फिर चाहे धर्म के क्षेत्र में महायानिको ने भले ही बोधिसत्व-धर्म की कल्पना का कुछ सरसता के साथ प्रस्थापन कर दिया हो। सर्वास्तिवादियो ने प्रधानत बुद्ध के मानुष रूप को ही स्वीकार किया है और निश्चय ही विचारको को तो माहायानिकों के 'बोधिसत्व' आदर्श से वही अधिक आश्वासन की वस्तु हो सकता है, क्योकि उसमें सबसे बढकर ऐतिहासिकता तो है। यह ठीक है कि विज्ञान-प्रवाह के विनाशक स्वरूप प्रतिसख्या निरोध को ही 'हीनयान' निर्वाण मानता है, किन्तु 'सुखावती व्यूह' की कल्पना करने वाले महायानिको ने भी तो अपने शास्ता का अनुसरण नही किया है। अधिक विस्तार में न जाकर हमें यही कहना इष्ट है कि 'हीनयान' की व्यक्तिगत-साधना का हमें तिरस्कार नही करना चाहिए, क्योकि यद्यपि वह अपने कारुणिक शास्ता के मार्ग का पूरी तरह अनुगमन नही करती, वह 'बहुजन हित, बहुजन सुख' को अपनी विचार प्रणाली में अधिक स्थान नही देती और सब प्रकार से नीतिवाद को शुष्क बनाने की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करती है, किन्तु अपने मनोरम 'बोधिसत्व' आदर्श का ढिढोरा पीटकर महायानिको ने ही कोई कोई अधिक लोक-सेवा कर ली हो, ऐसा हम नही कह सकते। कम-से-कम माहायानिको के द्वारा दिए गए 'हीनयान' नाम के कारण ही हमें हीनयान के आदर्शों में हीनता की कल्पना नही कर लेना चाहिए, जैसा कि अक्सर होता है। जगत् केउद्धार का दावा लेने वाले बहुत हैं, किन्तु अपने उद्धार का भी कोई सोचने वाला होना चाहिए। जिसने पहले आत्मोद्धार नही किया, वह पर-उद्धार क्या कर सकेगा! वस्तुत, जैसा हम पहले दिखा चुके है, दोनो में विरोध नहीं है और एक के लिये

---

wreck and the only important thing seems to be to save oneself" इडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ५८६-८७

दूसरे की स्थिति आवश्यक है । लोक-सेवकों के लिए भी हीनयान आदर्श एक आकर्षक वस्तु होगा, और उसके उद्देश्य मे स्वार्थपरता ही हो, ऐसा कभी कहा नही जा सकता । फिर भी हीनयानी कुछ अरस-रूप है, इसमें सन्देह नही और ऐसा स्वीकार करते हुए हम उनकी निन्दा नही करते । उनकी तीन प्रकार की वोधि यथा श्रावक वोधि, प्रत्येक वोधि, अनुत्तरा सम्यक् सम्वोधि, दस वोधिपक्षीय धर्म यथा श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, शान्ति, प्रज्ञा, प्रीति, उपेक्षण, प्रश्रब्धि, शील, सकल्प (जिनमें ही वे स्थविरवाद के सैंतीस वोधिपक्षीय धर्मों का अन्तर्भाव कर लेते है) सात प्रकार के श्रावक यथा श्रद्धानुसारी, धर्मानुसारी, श्रद्धाधिमुक्त, दृष्टि प्राप्त, कायसाक्षी, प्रज्ञाविमुक्त, उभयतो भाग-विमुक्त, इसी प्रकार आठ विमुक्ति-मार्ग, दस प्रकार के ज्ञान (लोकसवृति ज्ञान, धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, दुःख ज्ञान, समुदय-ज्ञान, मार्गज्ञान, परचित्त ज्ञान, क्षय-ज्ञान तथा अनुत्पाद ज्ञान) तथा चार आर्य सत्यो के सोलह प्रकार के आकार तथा दुःख सत्य के अनित्य, दुःख, शून्य और अनात्म, समुदय सत्य के हेतु समुदय, प्रभव और प्रत्यय, निरोध सत्य के निरोध, शान्त, प्रणीत और निःसरण तथा मार्ग सत्य के मार्ग न्याय, प्रतिपद् और नैर्याणिक आदि भेद, प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के ही कुछ परिवर्तित वर्गीकरण है जिनमें विशेषरूप से बौद्ध विचार में रुचि रखने वाले कुछ व्यक्ति प्रवृत्ति भले ही दिखा सकें, अन्य जनो के लिए यहाँ आकर्षण नही है । महायान आचार्यों का सा यहाँ कोई व्यक्तित्व नही, है (वसुबन्धु को छोडकर), कोई बाह्य उपचार भी नही, किन्तु हीनयानियो के प्रति हमें फिर भी न्याय करना चाहिए । उनके साथ, पुष्य के समान एक पैर पर खडे होकर, रात-दिन, महाश्रमण के प्रति यह स्तुति करने का प्रस्ताव रखते हुए हम विराम लेते है—

> 'न दिवि भुवि वा नास्मिन् लोके न वैश्रवणालये ।
> न मरुभवने दिव्ये स्थाने न दिक्षु विदिक्षु च ॥
> चरतु वसुधा स्फीतां कृत्स्नां सपर्वतकाननाम् ।
> पुरुषवृषभ ! त्वत्तुल्योऽन्यो महाश्रमण कुतः ॥

(अभिधर्म कोश ४।११)

साथ ही हे खड्गविषाणकल्प ! आपको भी प्रणाम । आप भी तो अपने ही प्रयत्न से बुद्ध बनते है । हे एकान्त साधक ! 'प्रधान' परायण भावी बुद्ध ! सम्यक् सम्बुद्ध की अपेक्षा से ही तो तुम हीन हो, अन्यथा आपके आदर्श को कौन हीन कहता है ? हे 'खड्गकल्प' ! कल्पशत पुण्यो के साधन-सञ्चय से ही तो आपका जन्म होता है—

'खड्गः कल्पशतान्वय' (अभिधर्म कोश ३।९४)

आपकी साधना भी तो ब्रह्म फल फलती है—'महाब्रह्मत्व तत्फलम्' (अभिधर्मकोश ८।२३)

४—महायान साहित्य और सिद्धांत

महायान बौद्ध दर्शन के दो सम्प्रदाय है। (१) विज्ञानवाद (योगाचार) और (२) शून्यवाद (माध्यमिक)। विज्ञानवाद या योगाचार मत के प्रवर्तक आचार्य मैत्रेय या मैत्रेयनाथ कहे जाते है।

विज्ञानवाद : आचार्य और साहित्य

इनके द्वारा लिखित ये पाँच ग्रथ बताये जाते हैं (१) मध्यान्त विभाग या मध्यन्त विभंग-सूत्र जो अपूर्ण रूप में प्राप्त है। इसका सम्पादन प० विधुशेखर भट्टाचार्य तथा डा० तुशी ने किया है[1] (२) अभिसमयालकार प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र, जिसका सम्पादन डा० चेरवास्की ने किया है।[2] (३) सूत्रालकर या महायानसूत्रालकार (४) महायान उत्तर-तत्र, तथा (५) धर्मधर्मताविभग। प्रथम ग्रथ 'मध्यान्त विभाग' या 'मध्यन्तविभग सूत्र' पाँच प्रकरणो मे विभक्त है। इसमें कारिका भाग मैत्रेय का है और गद्याश उनके शिष्य असग का। इस ग्रथ पर वसुबन्धु ने भाष्य लिखा तथा उस भाष्य पर स्थिरमति ने टीका लिखी। मैत्रेयनाथ के द्वितीय प्रसिद्ध ग्रथ 'अभिसमयालकार प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र' पर आर्य विमुक्ति सेन (चौथी शताब्दी) ने, जो वसुबन्धु के शिष्य थे, टीका लिखी। उसके बाद इसी ग्रथ पर भदन्त विमुक्तिसेन (छठी शताब्दी) ने, जो आर्य विमुक्तिसेन के शिष्य थे, और हरिभद्र (नवी शताब्दी) ने अपनी टीकाए लिखी। मैत्रेयनाथ के बाद उनके शिष्य आर्य असग विज्ञानवाद के दूसरे प्रसिद्ध प्रभावशाली आचार्य है। असग वसुबन्धु के अग्रज थे। हम पहले कह चुके है कि आर्य असग ही अपने अनुज वसुबन्धु को वैभाषिक मत से योगाचार मत में लाने के लिये उत्तरदायी थे। असग की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं (१) महायान सूत्रालकार (२) योगाचारभूमि शास्त्र (जो सप्तदशभूमि शास्त्र भी कहलाता है) और (३) अभिसमयालकार-टीका। जैसा हम पहले कह चुके है, महायान सूत्रालकार आर्य असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की सयुक्त रचना है। कारिका भाग मैत्रेयनाथ

---

(१) कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज, संख्या २४ (१९३२)

(२) बिबलियोथेका बुद्धिका, सख्या २३ (१९२९)

का है और व्याख्या भाग आर्य असग का। यह ग्रथ २१ परिच्छेदो (अधिकारो) में विभक्त है और इसमें प्रज्ञापारमिताओ के आधार पर विज्ञानवाद की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या उपलब्ध होती है। 'योगाचार भूमिशास्त्र' को उसके मौलिक सस्कृत रूप में खोजने का श्रेय महापडित राहुल साकृत्यायन को है। तिब्बत से उन्होने इसके सस्कृत रूप को प्राप्त किया है, जो भारतीय दर्शन तथा सस्कृत साहित्य के विद्यार्थियो के लिये एक भारी देन है। यह महाग्रथ १७ भूमियो में विभक्त है।[1] आचार्य वसुबन्धु के जीवन का परिचय हम पहले दे चुके हैं। विज्ञानवाद की दृष्टि से इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं,

(१) विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि[2], जो अपने दो पाठो मे आज उपलब्ध होती है (१) विंशिका, जिसमें बीस कारिकाएँ हैं। वसुबन्ध ने इस पर स्वय भाष्य लिखा है। (२) त्रिंशिका जिसमें ३० कारिकाए हैं और जिसपर वसुबन्धु के शिष्य स्थिरमति ने अपना भाष्य लिखा। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का युआन् चुआङ् ने चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। महापडित राहुल साकृत्यायन ने विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि का आशिक अनुवाद चीनी से मूल सस्कृत में किया है।

(२) सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र की टीका, जिसका चीनी अनुवाद छठी शताब्दी ईस्वी में किया गया।

(३) वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता की टीका, जिसका अनुवाद छठी शताब्दी में किया गया।

वसुबन्धु के शिष्य आचार्य स्थिरमति विज्ञानवाद के एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होने अधिकतर अपने गुरु के ग्रथो की टीकाएँ लिखी हैं। कुछ अन्य आचार्यों के ग्रथो की भी टीकाएँ लिखी है। इनके ग्रथो में सूत्रालकारवृत्ति-भाष्य और त्रिंशिका-भाष्य अधिक प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त आचार्यों और उनके साहित्य के बाद अब हम योगाचार मत के एक सम्प्रदाय-विशेष का उल्लेख करना चाहते हैं जिसका नाम है 'स्वातन्त्रिक' योगाचार मत। इस मत के सस्थापक है आचार्य वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग। दिङ्नाग को मध्यकालीन भारतीय न्याय का पिता कहा गया है। दिङ्नाग के बाद धर्मकीर्ति, शातरक्षित और कमलशील आदि आचार्यों ने, जो स्वतत्र-विज्ञानवादी थे, इस मत का विकास किया। विज्ञानवाद की आधारभूत मान्यता

(१) इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये राहुल साकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ७०५-७१४

(२) डा० सिल्वाँ लेवी द्वारा सम्पादित, पेरिस १९२५

ह कि 'विज्ञान ही तत्व है।' इस आधारभूत मान्यता का अनुसरण करने के कारण उपर्युक्त आचार्य विज्ञानवादी है। परन्तु आचार्य वसुवन्धु की इस मान्यता का कि विज्ञप्तिमात्रता नित्य है, खडन करते हुए इन आचार्यो ने परमार्थसत् क्षणिक विज्ञान की स्थापना की। उन्होने 'सत्' को क्षणिक कहा। इस प्रकार वसुवन्धु से स्वतत्र मार्ग का अवलम्वन लेते हुए विज्ञानमात्र नित्यत्व का प्रतिवाद कर इन आचार्यो ने विज्ञान को क्षणिक कहा और स्वतत्र रीति से अपने विचार को रक्खा। आचार्य दिङ्नाग काचीपुरम् के पास सिहचक्र नामक ग्राम के निवासी थे। जाति से ये ब्राह्मण थे। नालन्दा भी आचार्य दिङ्नाग गये थे और उड़ीसा तथा महाराष्ट्र का भी उन्होने भ्रमण किया था। उड़ीसा के वन मे दिङ्नाग ने निर्वाण प्राप्त किया। दिङ्नाग का समय ३४५ ई० से लेकर ४२५ ई० तक प्राय: मान जाता है। आचार्य दिङ्नाग का सवसे अधिक प्रसिद्ध ग्रथ है प्रमाण समुच्चय। आज यह अपने मौलिक सस्कृत रूप में प्राप्त नही है। तिव्वती अनुवाद इस ग्रंथ का प्राप्त है जिसे हेमवर्मा नामक भारतीय विद्वान् ने एक अन्य तिव्वती विद्वान् के सहयोग से किया था। इस ग्रथ में छह परिच्छेद है और विषय प्राय' न्याय सवधी है। दिङ्नाग के अन्य ग्रथों में प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति, न्याय-प्रवेश, हेतुचक्र हमरु (जिसका दूसरा नाम हेतुचक्रनिर्णय भी है), प्रमाण-शास्त्र, न्याय प्रवेश, आलम्वन परीक्षा, आलम्वनपरीक्षा वृत्ति, त्रिकालपरीक्षा, और मर्मप्रदीप वृत्ति मुख्य हैं। ये सव ग्रथ प्राय' तिव्वती और चीनी अनुवादो में ही मिलते है। वौद्ध न्याय को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का श्रेय अश्वघोष, नागार्जुन और वसुवधु के वाद प्राय आचार्य दिङ्नाग को ही है। दिङ्नाग ने अक्ष-पाद गौतम और वात्स्यायन के प्रत्यक्ष और अनुमान सवधी सिद्धातो का खडन इतनी विद्वत्ता पूर्वक किया था कि दिङ्नाग के विचारो का खडन करने के लिये ही उद्योतकर को 'न्यायवार्तिक' और कुमारिल भट्ट को 'श्लोक वार्तिक' लिखने की आवश्यकता पडी। दिङ्नाग के शिष्य दक्षिण निवासी आचार्य शकर स्वामी ने 'हेतुविद्यान्याय शास्त्र' और 'न्यायप्रवेश तर्कशास्त्र' नामक ग्रथ लिखे जिनका युआन् चुआङ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। काञ्चीपुरम् के आचार्य धर्म-पाल (सातवीं शताब्दी), जो नालन्दा के कुलपति थे, प्रसिद्ध विज्ञानवादी आचार्य थे। युआन्-चुआङ् के गुरु शीलभद्र धर्मपाल के ही शिष्य थे। प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति भी धर्मपाल के शिष्यो में से थे। आचार्य धर्म-पाल की प्रसिद्ध रचनाएँ है। (१) आलम्वन प्रत्यय ध्यान शास्त्र व्याख्या (२) विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि व्याख्या और (३) शतशास्त्र व्याख्या। अतिम ग्रथ

का चीनी भाषा में अनुवाद युआन-चुआङ् ने किया । स्वातन्त्रिक विज्ञानवाद के प्रसिद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का नाम उनकी अलौकिक प्रतिभा के कारण भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में सदा अमर रहेगा। प्रतिपक्षी विद्वानो ने भी उनकी विद्वत्ता की धाक मानी है। जयन्त भट्ट (१०००ई०) ने अपनी 'न्यायमजरी' में धर्मकीर्ति को 'जगदभिभवधीर' माना है। वस्तुत इतनी ही अदम्य तार्किक शक्ति धर्मकीर्ति की थी। धर्मकीर्ति चोल देश के निवासी थे और जन्म से ब्राह्मण थे।.कुछ विद्वानो के मतानुसार ये कुमारिल के भागिनेय (भानजे) थे। धर्मकीर्ति का समय सातवी शताव्दी का आरभिक भाग है। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ, जो प्राय: न्याय-शास्त्र सम्बन्धी हैं, ये हैं (१) प्रमाणवार्तिक,जो इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। महापडित राहुल सास्कृत्यायन ने इस महाग्रथ को खोजकर और रूसी विद्वान् चेरवास्की के साथ सम्पादन कर भारतीय विद्या को एक ऐसी महती देन दी है जिसके महत्व का पूरा अनुमान नही लगाया जा सकता। धर्मकीर्ति के अन्य ग्रथ है। (२) न्यायबिन्दु (३) प्रमाण विनिश्चय (४) सबध-परीक्षा (५) हेतुबिन्दु (६) वाद-न्याय और (७) सन्तानान्तर सिद्धि। आचार्य शान्तरक्षित और कमलशील के सबध में, जो स्वातन्त्रिक विज्ञानवादी आचार्य होने के साथ-साथ मुख्यत शून्यवादी थे, हम शून्यवाद के प्रसग में विवरण देते समय कहेंगे। स्वातन्त्रिक विज्ञानवादी आचार्यों और उनकी लवी शिष्य-परम्परा ने बौद्ध न्याय-परम्परा का प्रवर्तन किया, जिसने क्षणिकवाद ,प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के सबध में अपने सिद्धात तो निश्चित किये ही, साथ ही ईश्वरवाद, आत्मवाद, वेदप्रामाण्यवाद और बाह्यार्थवाद आदि के खडन भी किये। विशेषत न्याय और वैशेषिक की अनेक मान्यताओ का स्वतत्र विज्ञानवादियो ने खडन किया। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अन्य सम्प्रदायो के आचार्यों ने भी यह कार्य किया। हम अलग से इस परिच्छेद मे बौद्ध न्याय का विवरण न देकर गौतमीय न्याय से उसकी तुलना करते हुए पचम प्रकरण में ही उसका विवरण देंगे, क्योकि दोनो की परम्पराएँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सबद्ध है।

शून्यवाद · आचार्य और साहित्य

प्रज्ञापारमिताओ और अन्य प्राचीन महायानी साहित्य (जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है) के आधार पर शून्यता-दर्शन की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा करनेवाले और उसे व्यवस्थित स्वरूप देने वाले बौद्ध दर्शन के युग-विधायक आचार्य नागार्जुन ही है। नागार्जुन का नाम भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध है। शून्यवादी आचार्य के रूप में उनकी

कीर्ति-कथा भारत में ही नही, चीन, तिव्बत और मगोलिया के इतिहास-पृष्ठों में लिखी जाती है। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के वे एक रहस्यमय साधक और विचारक हैं। महायान बौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा के वे प्रतिष्ठापक आचार्य है। वैद्य और तान्त्रिक, उद्भट विचारक और तार्किक, कवि और सार्वभौम विद्वान्, साधक और मानवताप्रेमी, नागार्जुन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से भारत और अन्य कई देशो की साधना-भूमियाँ आलोकित हुई है।

युआन्-चुआङ् (सातवी शताब्दी) ने उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के चार प्रतिभाशाली आचार्यों का उल्लेख किया है, जिन्हे उन्होने 'ससार को आलोकित करने वाले चार सूर्य' कहा है। इनमें एक आचार्य नागार्जुन हैं। शेष तीनहैं अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध या कुमारलात। आचार्य नागार्जुन के जीवनवृत्त के सबध में हमें निश्चित सामग्री नही मिलती। उनके काल और निवासस्थान के सबध में जो सूचनायें मिलती है उनमें भारी विविधता है। नागार्जुन की जीवनी का कुमारजीव ने चीनी भाषा में सन् ४०५ ई० में अनुवाद किया। वाटर्स के मतानुसार इस जीवनी के लेखक भी सभवतः कुमारजीव ही थे। नागार्जुन के जीवनवृत्त को जानने का सबसे अधिक प्रामाणिक और आधारभूत ग्रथ यही है। इसके अलावा अनेक चीनी और तिव्बती ग्रयो में नागार्जुन के जीवन के सबध में प्रभूत सूचना मिलती है, जो अधिकाशतः अलौकिक तथ्यो से भरी हुई है। इतनी भारी जटिलता नागार्जुन के बहुमुखी व्यक्तित्व को लेकर उठ खडी हुई है कि विद्वान मानने लगे है कि 'नागार्जुन' नाम से विख्यात बौद्ध दार्शनिक, तान्त्रिक, वैद्य और रासायनिक, ये चार भिन्न-भिन्नव्यक्ति थे जिन्हें गलती से मिला दिया गया है। रासायनिक और तान्त्रिक नागार्जुन का समय सातवी या आठवी शताब्दी ईसवी माना जाता है। फिर भी बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के स्वय तान्त्रिक और रासायनिक होने की बात तिव्बती परम्परा में इतनी सुप्रतिष्ठित है कि उस पर सहसा अविश्वास करने की प्रवृत्ति नही होती। कुमारजीव द्वारा चीनी-भाषा में अनुवादित नागार्जुन की जीवनी के अनुसार नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) में ब्राह्मण-वश में हुआ था। युआन्-चुआङ् ने दक्षिण कोसल को नागार्जुन का जन्मस्थान माना है[१]। भौगोलिक दृष्टि से दोनो वर्णनो में कोई भेद नही है। चारो वेदो का गभीर ज्ञान प्राप्त कर तरुणावस्था में नागार्जुन ने भिक्षु-पद की दीक्षा ली।

---

(१) देखिये वाटर्स : ऑन युआन्-चुआग, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २०१, २०४

इसके बाद उनका अधिकाश समय दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए श्री पर्वत (नागार्जुनीकोड्, गुन्टूर) में बीता। लामा तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन ने अपनी आयु का अधिक भाग नालन्दा मे बिताया। कुमारजीव ने हमें बताया है कि भिक्षु होने के बाद केवल ९० दिनो में नागार्जुन ने त्रिपिटक का सपूर्ण अध्ययन कर लिया और उसके बाद उन्होने हिमालय के एक वृद्ध भिक्षु से महायान-सूत्रो को पढा। तिब्बत और चीन के अनेक विद्वानो ने नागार्जुन के जीवन काल को बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० ,६०० या ८०० वर्ष बाद बताया है[1]। एक अन्य तिब्बती परम्परा के अनुसार जिसका उल्लेख वाटर्स ने किया है, नागार्जुन का जीवन काल ४८२–२१२ ई० पू० है। तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन कनिष्क के समकालीन थे। इसी के आधार पर सभवत. डा० कीथ ने कल्पना की है कि वे अश्वघोष के शिष्य थे और उनका समय प्रथम शताब्दी ईसवी है[2]। परन्तु अन्य अनेक प्रमाणो से यह निश्चित है कि नागार्जुन आध्र-राजा यज्ञश्री गोतमी पुत्र (१६६–१९६ई०) के समकालिक थे। आध्र राजाओ की पदवी 'सातवाहन' (श-तो-पो-ह) थी। इन राजाओ ने ईस्वीपूर्व-दूसरी शताब्दी से तृतीय शताब्दी ईस्वी तक राज्य किया। जैसा हम अभी देखेंगे, अपने 'सुहृद्' सातवाहन राजा के लिये पत्र के रूप में नागार्जुन ने अपनी एक रचना 'सुहृल्लेख' लिखी थी। नागार्जुन के विषय में अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चिरायुष्य का रहस्य उन्हे ज्ञात था। कुमारजीव के वर्णनानुसार वे ३०० वर्ष तक जीवित रहे, जबकि तिब्बती वर्णनो ने उन्हे ६०० वर्ष की आयु दी है। एक अन्य परम्परा के अनुसार उनकी आयु ५२९ वर्ष बताई जाती है। चट्टानो को स्वर्ण में परिवर्तित कर देने का श्रेय भी नागार्जुन को दिया जाता है। नेत्र चिकित्सक के रूप में उनकी ख्याति उनके जीवनकाल में ही चीन में पहुँच गई थी। नेत्र रोगो पर लिखी हुई उनकी पुस्तक 'येन्-लुन्' चीनी भाषा में पाई जाती है। 'नागार्जुन बोधिसत्व के नुसखे' ('लुग्-शु-पु-स-यओ-फॅग्') नामक पुस्तक भी चीनी भाषा में मिलती है। नागार्जुन के जीवन

---

(१) देखिये वाटर्स : ऑन युआन्-चुआङ, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३; सम्भवत इन्हीं वर्णनों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कल्पना की है कि नागार्जुन का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व है। देखिये राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६४३-६४४, पद-सकेत १

(२) देखिये उनकी 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी', पृष्ठ २२९

की एक स्मरणीय घटना देव या आर्यदेव का उनसे मिलना है, जो वाद में उनके शिष्य और उनके दर्शन को आगे बढाने वाले प्रसिद्ध आचार्य हुअे। आर्यदेव सिहल (या उत्तरभारत में सिहपुर) के निवासी थे। नागार्जुन की ख्याति सुनकर उनके पास मिलने आये। नागार्जुन ने मिलने से पूर्व अपने एक शिष्य के हाथ अपने भिक्षापात्र को जल से भरकर आर्यदेव के पास भिजवा दिया। आर्यदेव ने उसमे एक सुई डालकर लौटा दिया। नागार्जुन बहुत प्रसन्न हुए। वाद में आर्यदेव से मिले और उन्हे शिष्यत्व प्रदान किया। नागार्जुन का जल से भरा पात्र इस वात का द्योतक था कि उनका ज्ञान जल से भरे वर्तन की तरह पूर्ण है। आर्यदेव ने उसमे सुई डालकर यह जतला दिया कि वे उस सवका अवगाहन कर चुके है। इस 'मौन व्याख्यान' की पद्धति पर अनेक व्यजनात्मक घटनाएँ हमें कवीर आदि सतो की जीवन स्मृतियो में मिलती है और चीन तथा जापान के जैन (ध्यान) वौद्ध धर्म के साधको की तो यह एक आकर्षक और मौलिक परिपाटी ही रही है, जिसका अध्ययन हमें एशियाव्यापी सन्त-परम्पराओ के तुलनात्मक अध्ययन के लिये करना चाहिये।

नागार्जुन के नाम से लिखे हुए अनेक ग्रथ हमें मिलते है, परन्तु निश्चित रूप से उनके लिखे २० ग्रथ चीन अनुवादो में सुरक्षित हैं, जिनमें से १८ का उल्लेख वुनियो नजियो ने अपने प्रसिद्ध 'केटेलॉग' में किया है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएं वारह हैं, जो इस प्रकार है —

(१) माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक शास्त्र (चुग-कुआम-लुन्) महायान वौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा का यह आधारभूत ग्रथ है और इसमें शून्यता के दर्शन का गहन विवेचन किया गया ह। नागार्जुन की यह सर्वोत्तम कृति है। २७ प्रकरणो में विभक्त है ।

(२) दशभूमिविभाषा-शास्त्र (शिह्-चु-पि-पो-शु-लुन्) इसमें वोधिसत्त्व की दस भूमियो में से प्रमुदिता और विमला नामक प्रथम दो भूमियो का विवरण है।

(३) महाप्रज्ञापारमितासूत्र-कारिका शास्त्र (मो-ह्-पो-यो-पो-लो-मि-चिग-शिह्-लुन्) कुमारजीव ने इस ग्रथ का चीनी अनुवाद सन् ४०५ ई० में किया।

(४) उपाय कौशल्य—न्यायसवधी ग्रथ ।

(५) प्रमाण विध्वसन—यह भी न्याय सवधी ग्रथ है।

(६) विग्रह-व्यावर्तनी—शून्यवाद का खडन करने वाली युक्तियो का खडन। इसमें ७२ कारिकाएँ हैं ।

(७) चतुःस्तव—चार स्तोत्रो का सग्रह।

(८) युक्ति षष्टिका—शून्यवाद के समर्थन में साठ युक्तियाँ।

(९) शून्यता-सप्तति—शून्यता पर सत्तर कारिकाएँ।

(१०) प्रतीत्य समुत्पाद-हृदय—प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(११) महायानविंशक—शून्यवाद का विवेचन।

(१२) सुहृल्लेख—जिसे उन्होंने अपने 'सुहृद्' यज्ञश्री गोतमीपुत्र को पत्र-रूप में लिखा था और जिसमें नैतिक शिक्षाओ का वर्णन है।

खेद है कि नागार्जुन की उपर्यक्त रचनाओ में से केवल माध्यमिक कारिका (माध्यमिक शास्त्र) और विग्रह व्यावर्तनी ही अपने मूल्य सस्कृत रूप में सुरक्षित है। बाकी सव काल कवलित हो गई है, और केवल चीनी और तिब्बती अनुवादो मे ही सुरक्षित है। यही हाल नागार्जुन की प्रसिद्ध रचना 'सुहृल्लेख' का है। 'सुहृल्लेख' का पूरा नाम है 'आर्य-नागार्जुन-बोधिसत्व-सुहृल्लेख'। 'सुहृल्लेख' के तीन चीनी और एक तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' का पहला अनुवाद गुणवर्मा ने ४२४–४३१ ई० में किया। दूसरा अनुवाद सघवर्मा द्वारा सन् ४३३ ई० के लगभग किया गया। इचिग् ने इस ग्रथ का चीनी अनुवाद सन् ७०० ई० के लगभग किया। इस प्रकार चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' के तीन अनुवाद किये गये। इ-चिग् ने लिखा है कि उसकी भारत यात्रा के समय इस देश के प्रत्येक बालक को 'सुहृल्लेख' कण्ठस्थ था और बडी आयु के पुरुष बडी श्रद्धा से इसका अध्ययन-मनन करते थे। इतने प्रभूत नैतिक महत्व वाली रचना आज अपने मूल सस्कृत रूप में सुरक्षित नही है, यह कितने दुःख की बात है। तिब्बती अनुवाद के आधार पर एच० वेंज़ल ने 'जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी', १८८६, में इस रचना का अग्रेजी अनुवाद किया था। जर्मन अनुवाद भी इस महत्वपूर्ण रचना का सन् १८८६ में हो गया है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई भारतीय विद्वान् सीधे तिब्बती या चीनी अनुवाद से 'सुहृल्लेख' का सस्कृत और हिन्दी रूपान्तर करे।

शून्यवाद के दूसरे प्रधान आचार्य आर्यदेव (२००–२२४ ई०) है जिनके सम्बन्ध में हम अभी कह चुके हैं। इनका 'चतुःशतक' शून्यवाद का एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रथ है। इसमें ४०० कारिकाएँ है जो १६ अध्यायो में बँटी हुई हैं, जिनमें प्रत्येक में २५ कारिकाएँ हैं। इसमें स्वमतस्थापन प्रथम २०० कारिकाओ में तथा परमतदूषण अतिम २०० कारिकाओ में है। अतिम २०० कारिकाए महामहोपाध्याय प० विधुशेखर जी भट्टाचार्य के द्वारा सम्पादित की जा चुकी हैं। कुछ अन्य रचनाएँ भी आर्यदेव की मिलती हैं। आर्यदेव को 'काणदेव'

भी कहा जाता है, क्योंकि इनके एक आख थी। परन्तु इनका दावा था कि अपनी एक आख से उन्होंने इतना (ज्ञान) देखा है जितना सहस्राक्ष (इन्द्र) अपनी हजार आखो से नही देख सका है। स्थविर बुद्धपालित (पाचवी शताब्दी ईस्वी) भी माध्यमिक सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य है। उनकी प्रधान कृति माध्यमिक-कारिका के ऊपर एक वृत्ति है। भव्य, भावविवेक या 'भाविवेक' (चीनी अनुवादो के अनुसार) 'माध्यमिक कारिका' पर 'प्रज्ञाप्रदीप' नामक वृत्ति के लेखक है। इसके अतिरिक्त मध्यम हृदय कारिका, मध्यमार्थ सग्रह तथा हस्तरत्न उनके अन्य प्रसिद्ध ग्रथ है। चन्द्रकीर्ति (६००–६५० ई०) माध्यमिक परम्परा के एक अत्यन्त प्रसिद्ध विचारक है। 'माध्यमिक कारिका' पर 'प्रसन्नपदा' नामक टीका लिखने के कारण ये भारतीय दर्शन मे अमरता के अधिकारी है। इनको एक प्रकार से नागार्जुन का 'वाचस्पति' ही कहना चाहिए। आर्यदेव के 'चतु शतक' पर भी उन्होने एक वृत्ति लिखी है—जो 'चतु शतक वृत्ति' कहलाती है। 'माध्यमिकावतार' नामक एक स्वतत्र ग्रंथ भी उनका उपलब्ध है। शातरक्षित भी इस सम्प्रदाय के एक अन्य प्रसिद्ध आचार्य है। उनका 'तत्वसग्रह' और उसपर कमलशील की 'तत्वसग्रहपञ्जिका' टीका भारतीय दर्शन के माध्यमिक दृष्टिकोण से विवेचन के लिए अत्यन्त पठनीय ग्रथ है[1]। शातिदेव (सातवी शताब्दी) कभी माध्यमिक मत के और कभी विज्ञानवाद के आचार्य माने जाते हैं। इनके दो ग्रथ वोधिचर्यावतार और शिक्षासमुच्चय है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शातिदेव की भक्ति-भावना का हम पहले काफी वर्णन कर चुके हैं। महायान धर्म के विज्ञानवाद और शून्यवाद के साहित्य का जो विवरण यहा दिया गया है वह एक अत्यन्त सक्षिप्त उपलक्षण मात्र है, विस्तार से उसकी परम्परा अत्यन्त विशाल है। उसका अधिकतर भाग तो अभी भी चीनी और तिब्बती अनुवादो मे ही पडा है और वहुत कुछ अप्राप्य भी है, किन्तु जो कुछ अवशिष्ट है वह भी अत्यन्त महनीय और वौद्ध दार्शनिक चिन्तन की गभीरता और व्यापकता के अनुकूल ही है।

इस प्रकार हमने महायान वौद्ध दर्शन के अन्तर्गत उसके दो सम्प्रदायो विज्ञानवाद और शून्यवाद के साहित्य और आचार्यों का सक्षिप्त विवरण दिया है। हीनयान सम्प्रदाय के आचार्यों और साहित्य का उल्लेख हम पहले कर चुके है। यहा हमें एक ऐसे आचार्य के सवध में अपनी कठिनाई व्यक्त

---

(१) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित।

करनी है जो यद्यपि धार्मिक दृष्टि से हीनयानी सर्वास्तिवादी है, सभवतः 'वैभाषिक' भी, क्योकि 'विभाषा' लिखने के लिये जो सगीति बुलाई गई थी, उसके वे सयोजक ही थे, परन्तु दूसरी ओर जिनके विचारो की एक बडी विशेषता उनका महायानी स्वरूप है। हमारा तात्पर्य आचार्य अश्वघोष से है। इसमें कोई सदेह नही दीखता कि आचार्य अश्वघोष सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के भिक्षु थे, परन्तु उसी के समान प्राय यह भी सुनिश्चित है कि उनके विचार महायान के अन्तर्गत योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय के विचार हैं। और यह बात विशेषत उनके ग्रथ 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' के आधार पर है, जिसे कई विद्वान् उनकी रचना मानने को उद्यत नही। इस प्रकार दो अश्वघोषो की उद्भावना की गई है। अश्वघोष प्रथम 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के लेखक है, और अश्वघोष द्वितीय 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के[१]। 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को अश्वघोष रचित न मानने का प्रधान कारण यह दिया गया है कि इस ग्रथ मे विज्ञानवाद और शून्यवाद का जो विवेचन किया गया है उसका रूप अत्यन्त विकसित है और वह नागार्जुन (शून्यवाद के प्रथम प्रतिपादक आचार्य–द्वितीय शताब्दी ईसवी) और असग और वसुबन्धु (विज्ञानवाद के आचार्य–चौथी शताब्दी ईस्वी) से पहले का नही हो सकता। जिन्होंने अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के शून्यता-दर्शन को पढा है और जो यह जानते है कि वह निर्विवाद रूप से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना है, वे 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को कनिष्ककालीन रचना मानने में विशेष आनाकानी नही कर सकते। यद्यपि एक ओर ताका-कुसु, विन्तरनित्ज और राहुल साकृत्यायन जैसे विद्वानो की परम्परा 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को अश्वघोष की रचना न माननेवाली है। परन्तु दूसरी ओर महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र के चीनी अनुवाद (मौलिक सस्कृत प्राप्त नही है) का अग्रेजी अनुवाद करनेवाले प्रसिद्ध जापानी विद्वान् डा० डी० टी० सुजुकी ने चीनी परम्परा का आश्रय लेते हुए उसे अश्वघोष की ही रचना माना है। यहा हम उनका ही अनुसरण करना अधिक उपयुक्त समझते है।

---

(१) देखिये र्यूकन किमूरा, दि ऑरीजनल एण्ड डिवैलप्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ३० एव ६५; महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र के अश्वघोष-रचित होने के विषय में सन्देह के लिये देखिये राधाकृष्णन् : इडियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६२४, पद सकेत १ भी।

दार्शनिक होने के साथ-साथ अश्वघोष संस्कृत साहित्य के अमर कवियो में भी है। आदि कवि वाल्मीकि के वे परवर्ती और महाकवि कालिदास और भास के पूर्ववर्ती है। इस प्रकार संस्कृत काव्य-परम्परा में उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान शताब्दी से पूर्व आर्य अश्वघोष के नाम से भी इस देश में कोई परिचित न था। परन्तु आज उनके मुख्य ग्रथो का प्रकाशन हो चुका है[1] और कवि और विचारक के रूप मे उनकी महिमा दिन-दिन बढ़ रही है।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधिक नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार, जो प्राय. प्रामाणिक मानी जाती है, वे कुषाण-वशीय महाराज कनिष्क के समकालीन और उनके गुरु थे। इस प्रकार उनका जीवन-काल ५० ई० पूर्व से लेकर १०० ई० तक के लगभग माना जाता है। अन्य चीनी और तिब्बती परम्पराओ के अनुसार उनका जीवन-काल बुद्ध-परिनिर्वाण के ३००, ६०० या ८०० वर्ष बाद बताया गया है[2]। महाकवि अश्वघोष ने अपनी रचनाओ के अन्त में अपने जीवन-सबधी जो अल्प सूचना दी है, उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। अपनी तीन प्रसिद्ध कृतियो 'बुद्ध-चरित', 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्र-प्रकरण' के अन्त में उन्होने कहा है 'आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महा-वादिन कृतिरियम्।' महाकवि होने के साथ-साथ अश्वघोष अपने समय के प्रतिष्ठित आचार्य, प्रतिभाशाली विद्वान् भिक्षु, महान् तार्किक और गभीर प्रज्ञासम्पन्न दार्शनिक भी थे।

महाकवि का नाम 'अश्वघोष' क्यो पड़ा, इसके सबध में अनेक मनोरजक कल्पनाएँ मिलती है। एक परम्परा का कहना है कि जिस दिन अश्वघोष का जन्म हुआ था, उस दिन घोडे हिनहिनाये थे, इसलिये उनका यह नाम पड़ा। एक दूसरी परम्परा का कहना है कि एक दिन जब अश्वघोष धर्मोपदेश कर रहे थे तो

---

(१) यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में श्री सूर्यनारायण चौधरी ने महाकवि अश्वघोष के दो काव्य-ग्रन्थो 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' को सुसम्पादित कर सानुवाद प्रकाशित किया है। संस्कृत भवन, कठौतिया (बिहार)।

(२) थॉमस वाटर्स : ऑन यूआन् चुआङ्स् ट्रैविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३

उनके मधुर स्वर को सुनकर भूखे घोडे दाना-घास खाना भूल गये और उनके उपदेश को सुनते हुए आध्यात्मिक उल्लास में हिनहिनाने लगे। तब से उनका यह नाम पडा। एक जगह अश्वघोष के लिये 'घोरविन्' नाम का प्रयोग किया गया है, जिसके अन्दर भी यही भाव निहित है कि वे अपनी वीणा के मधुर वादन से घोडो (घोर) को मन्त्रमुग्ध करने की अपूर्व शक्ति रखते थे। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि भदन्त अश्वघोष सगीतज्ञ भिक्षु थे और सगीत को उन्होने बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन बनाया था। तिब्बती भाषा में लिखी हुई उनकी जीवनी से विदित होता है कि अनुगामी गायक-गायिकाओ के समूह को लिये हुए यह वीणावादक भिक्षु काश्मीर और पेशावर की गलियो में वैराग्य के गीत गाता फिरता था और सहस्रो को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करता था। चीनी यात्री इ-चिङ ने ६७१–६९५ ईसवी के बीच भारत में भ्रमण करते हुए लिखा है कि उस समय भारत के बौद्ध विहारो में अश्वघोष के गीतो का सगायन होता था। इसमें सदेह नही कि सगीतात्मकता अश्वघोष की कविता का प्रधान गुण है और बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओ के प्रसार के लिये जबकि तूलिका और छेनी का आश्रय तो उसके इतिहास में अनेक बार लिया गया है, वीणा के तारो में बुद्ध-जीवन के उदात्त स्वरूप को झकृत करने वाले कवि और मनीषी दार्शनिक के रूप में अश्वघोष का अकेला ही उदाहरण रहेगा। वे बौद्ध धर्म के गायक हैं, लोकोत्तर और अपनी गभीर दार्शनिक महिमा में मण्डित !

अयोध्या में जन्म लेकर महाकवि ने अपना जीवन-कार्य प्राय काश्मीर और गधार में पूरा किया। आचार्य अश्वघोष ब्राह्मण-कुलीन थे और उन्होने वैदिक वाङमय का विधिवत् अध्ययन किया था, जिसका साक्ष्य उनकी रचनाए देती है। पेशावर मे उनका पार्श्व नामक वृद्ध भिक्षु के साथ शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें पराजित होकर उन्होने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। अश्वघोष को भिक्षु-पद की उपसम्पदा इन वृद्ध भिक्षु पार्श्व से ही मिली थी। कुछ के मतानुसार अश्वघोष के गुरु पार्श्व के शिष्य पुण्ययशस् नामक भिक्षु थे। पार्श्व गभीर विद्वान्, तार्किक और अनेक शास्त्रो के रचयिता थे। यह खेद है कि उनकी कोई रचना आज नही मिलती। पार्श्व का जन्म उत्तर-भारत में ब्राह्मण-वश में हुआ था। अस्सी वर्ष की अवस्था में उन्होने बौद्ध धर्म मे दीक्षा प्राप्त की थी और तीन वर्ष तक, जब तक उन्होने त्रिपिटक का पूर्ण अनुशीलन नही कर लिय,ा उन्होने अपनी पसलियो (पार्श्व) से चटाई को नही छुआ। इसीलिये इन उत्साही वृद्ध भिक्षु को

'पार्श्व' (पसली) नाम से पुकारा जाने लगा। यूआन्-चुआङ् (सातवी शताब्दी) ने अपने भारत-भ्रमण के समय पेशावर (पुरुषपुर) में 'कनिष्क महाविहार' के अवशेष देखे थे, जहा आर्य पार्श्व रहते थे। यूआन्-चुआङ् ने लिखा है कि उनके समय में भी हीनयानी सम्प्रदाय के कुछ भिक्षु वहा रहते थे। थॉमस वाटर्स का अनुमान है कि आज पेशावर नगर में 'घोर खत्री' या 'कारवा सराय' के नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है वह कदाचित् प्राचीन 'कनिष्क महा-विहार' ही है[1]। पार्श्व की कोठरी के पूर्व में एक पुराना घर भी यूआन्-चुआङ् ने देखा था, जहा बैठकर पार्श्व से करीब ३५० वर्ष बाद आर्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश-शास्त्र (अपि-तो-मो-कु-शि-लुन्) की रचना की थी[2]।

अश्वघोष बौद्ध धर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इस संबध में विद्वानों में कुछ मतभेद प्रचलित है। जापान में अश्वघोष को अवतसक सूत्र सम्प्रदाय का प्रथम और ध्यान (ज़ेन) बौद्ध धर्म का बारहवा गुरु माना गया है। ये दोनो सम्प्रदाय महायान से संबंधित है। 'सुखावती' सम्प्रदाय से भी अश्वघोष का नाम जोड़ा जाता है, जो महायान का ही एक रूप है। अश्वघोष की एक संदिग्ध रचना 'महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' है, जिसके आधार पर उन्हे मुख्यतः जापान में महायानी आचार्य माना जाता है। इस ग्रंथ मे महायानी सिद्धातो की आधार-भूमि पर विज्ञानवाद और शून्यवाद मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। हम जानते है कि शून्यवाद (माध्यमिक मत) के आद्य आचार्य नागार्जुन अश्वघोष से करीब पौने दो सौ वर्ष बाद हुए और विज्ञानवाद के आचार्य असग और वसुबन्धु का समय अश्वघोष से प्राय साढे तीन सौ वर्ष बाद है। अत: अधिकतर विद्वानो की प्रवृत्ति 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को महाकवि अश्वघोष की रचना मानने की नही होती। यह संभव है कि इन सम्प्रदायो से संबंधित कुछ सिद्धातो का प्रचलन अश्वघोष के युग मे भी रहा हो, परन्तु 'महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' मे उनके जिस विकसित रूप का परिचय हमें मिलता है वह अश्वघोष के युग की कृति नहीं हो सकता, ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। सौन्दरनन्द (१४।१८, २०।६८) मे 'योगाचार' शब्द का प्रयोग अश्वघोष ने किया है, जिसका अर्थ योगाचार

(१) ऑन यूआन् चुआङ्स् ट्रैविल्स इन इण्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ २०८
(२) उपर्युक्त, पृष्ठ २१०

सम्प्रदाय वहा न होकर सामान्यत योगाभ्यास ही है[1]। पालि त्रिपिटक मे भी 'योगावचर' शब्द का प्रयोग योग के अभ्यासी के लिये किया गया है। अश्वघोष बौद्ध धर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इसका विवेचन करते हुए डा० ई० एच० जास्टन ने उन्हे महासघिक या वाहुश्रुतिक सम्प्रदाय का अनुगामी वताया है[2]। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त और सुशीलकुमार दे ने अपने 'हिस्ट्री ऑव क्लासीकल सस्कृत लिटरेचर' मे उनके इस मत को स्वीकार किया है[3]। महापडित राहुल साकृत्यायन ने कुछ नये तिव्वती स्रोतो से अनुसधान कर अश्वघोष को सर्वास्तिवादी स्थविर वताया है[4]। वस्तुत यह वात महत्वपूर्ण है कि कनिष्क के समय में सर्वास्तिवादी आचार्यो की जो सगीति बौद्ध शास्त्रो पर 'विभाषा' नामक व्याख्या लिखने के लिये वुलाई गई थी, उसका सयोजन आर्य अश्वघोष ने ही किया था। अत अश्वघोष को सर्वास्तिवादी भिक्षु मानना ही अधिक समीचीन जान पडता है। हा, इसमे सदेह नही कि महायानी प्रवृत्तिया सर्वप्रथम हमें उनकी रचनाओ में मिलती हैं। बुद्ध-भक्ति, जो महायान की एक वडी विशेषता है, हमें सर्वप्रथम अश्वघोष की रचनाओ में मिलती है। भगवान् बुद्ध को उन्होने 'स्वयम्भू', 'जगत्पति' और 'लोकाधिप प्रभु' कहा है।[5] यह स्पष्टत महायान की प्रवृत्ति है। अन्यत्र भी उन्होने अपनी महायानी प्रवृत्ति दिखाते हुए कहा है, 'इस उत्कृष्ट महायान धर्म का सब लोगो के कल्याण के लिये सब बुद्धो ने प्रचार किया है'[6]। वस्तुतः हीनयान और महायान में आधारभूत विभिन्नताए है ही नही। उन दोनो के आधार वुद्ध के जीवन और उपदेश ही है। बुद्ध-जीवन दोनो की प्रतिष्ठा है। एक

---

(१) देखिये विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २६४, पद-सकेत १; दासगुप्त और दे : हिस्ट्री ऑव क्लासीकल सस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७० पद-सकेत २

(२) देखिये उनके द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित बुद्ध-चरित, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३१ (भूमिका)

(३) जिल्द पहली, पृष्ठ ६९

(४) दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५६९।

(५) देखिये वुद्ध-चरित १६।६४-७५

(६) इदमार्षं महायानं सम्बुद्धधर्मसाधनम्।
सर्वसत्त्वहिताधानं सर्वबुद्धैः प्रचारितम्॥ बुद्धचरित १६।८५

ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक अवस्थाओ के अनुरूप हीनयानी और महायानी हो सकता है। अश्वघोप के सबध में यूआन-चुआङ ने लिखा है कि वे एक बहुज्ञ विद्वान् थे और उनके आध्यात्मिक ज्ञान की पहुँच श्रावक-यान, प्रत्येक-बुद्ध-यान और बोधित्सव-यान (जिसे महायान भी कहा जा सकता है) इन तीनो यानो तक थी।[३] अश्वघोप अत्यन्त उदार दृष्टि के विद्वान् भिक्षु थे, जिन्हें बौद्ध-धर्म की अनेक व्याख्याओ के साथ सहानुभूति थी। यही कारण है कि तथोक्त हीनयानी और महायानी दोनो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उनके काव्य में मिलती है।

महाकवि अश्वघोप की प्रामाणिकतम तीन रचनाए हैं बुद्ध-चरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र-प्रकरण। बुद्ध-चरित एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध की जीवनी और उनके उपदेश वर्णित है। यह ग्रथ अपने मौलिक रूप मे २८ सर्गो में था। इ-चिङ ने लिखा है कि उसके भारत- भ्रमण के समय (सातवी शताब्दी) इस ग्रथ का पाठ और सगायन भारतवर्ष के पाचो भागो और सुमात्रा, जावा और उनके पास के द्वीपो मे किया जाता था। सन् ४१४ और ४२१ के बीच, इस ग्रथ का चीनी भापा मे अनुवाद धर्मरक्ष ने किया और सातवी या आठवी शताब्दी मे मूल सस्कृत से इस ग्रथ का तिब्वती भापा मे अनुवाद किया गया। यह अत्यन्त खेद की बात है। कि 'बुद्ध-चरित' का पूर्ण सस्कृत सस्करण अभी हमे नही मिलता। जो रूप हमे प्राप्त है उसमें केवल १७ सर्ग है। और उनमे भी केवल प्रथम १३ ही पूर्ण प्रामाणिक माने जा सकते है। 'सौन्दरनन्द' काव्य मे भगवान् बुद्ध के मौसेर भाई नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन है। 'शारिपुत्र-प्रकरण' जो एक नाटकीय रचना,है शारिपुत्र और मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या से सबधित है। इन तीन ग्रथो के अलावा 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र', का निर्देश हम पहले कर चुके है। 'वज्र सूची' जिसमें वज्र की सुई की तरह पैनी दृप्टि से वर्ण-भेद की समीक्षा की गई है, अश्वघोप की रचना बताई जाती है, परन्तु अश्वघोप की-सी शैली इस ग्रथ मे नही मिलती। वेद और मनु-सहिता से अनेक उद्धरण यहा दिये गये है, जिससे लेखक के गभीर वैदिक ज्ञान का पता लगता है। मानव-जाति की एकता का प्रतिपादन करने वाला यह ग्रथ अपनी तर्क-पद्धति के कारण बिल्कुल आधुनिक युग की-सी रचना लगता है, 'वज्रसूची' को अश्वघोप की रचना न मान सकने का सबसे बडा कारण यही है कि इ-चिङ ने अश्वघोप-रचित ग्रथो की सूची

(३) थॉमस वाटर्स : ऑन यूआन्-चुआङ; जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२

में इसका उल्लेख नही किया है और न तिब्वती 'तजुर' मे ही इसे अश्वघोष की रचना बताया गया है। 'वज्रसूची' का चीनी अनुवाद सन् ९७३ और ९८१ के बीच किया गया और वहा इस रचना को धर्मकीर्ति नामक व्यक्ति की रचना बताया गया है। 'गण्डीस्तोत्रगाथा' २९ स्रग्धरा छदो मे लिखी हुई एक गेय रचना है। विषय और शैली दोनो दृष्टियो से विन्टरनित्ज ने इसे अश्वघोष के अनुरूप रचना माना है[1], 'परन्तु जान्स्टन ने इसके अश्वघोष-कृत होने में सदेह प्रकट किया है।[2] 'सूत्रालङ्कार' नामक एक अन्य रचना जिसका सन् ४०५ ई० में कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया, अश्वघोष-कृत बताई जाती है। परन्तु लूडर्स के मतानुसार यह कुमारलात या कुमारलब्ध की रचना है, जो तक्षशिला के निवासी और सौत्रान्तिक मत के सस्थापक आचार्य थे।

अश्वघोष के ग्रथो के अनुशीलन से पता लगता है कि वैदिक ज्ञान के अक्षय भाण्डार का निवास उनके हृदय में था। वैदिक और पौराणिक इतिहास का जितना सूक्ष्म परिचय अश्वघोष ने दिया है उतना कालिदास के विषय मे भी नही कहा जा सकता। कालिदास की रचना चातुर्वर्ण्य की पृष्ठभूमि पर और उसकी पुष्टि के लिये हुई थी। अश्वघोष ने अपनी काव्य-साधना को बौद्ध धर्म की उदात्त विश्वजनीनता और नैतिक गभीरता का वाहक बनाया है। कवि-रूप में कालिदास ने अश्वघोष से बहुत कुछ पाया है, इसकी समीक्षा अनेक पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् कर चुके है। कालिदास की लोकोत्तर प्रेम-भावना, उनके सौन्दर्यातिशय मानव-जीवन के चित्र, उनका सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण, इन सबमें अश्वघोष उनकी तुलना नही कर सकते। कवि-कर्म की कुशलता मे कालिदास अवश्य अश्वघोष से बढकर हैं, यद्यपि कला-पक्ष शबल अश्वघोष का भी नही है और कालिदास के समान महाकाव्य (बुद्ध-चरित), खड-काव्य (सौन्दरनन्द), नाटक (शारिपुत्र-प्रकरण) और गीति-काव्य (गण्डीस्तोत्रगाथा) जैसी विविध काव्य-शैलियो पर उनका पूर्ण अधिकार है। अश्वघोष का-सा नाद-सौन्दर्य तो कालिदास की कविता मे भी प्राय नही मिल सकता। परन्तु कालिदास की तुलना में सबसे बडी बात जो हमे अश्वघोष में मिलती है

---

(१) हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २६६

(२) देखिये दास गुप्त और दे : हिस्ट्री ऑव क्लासीकल सस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७१, पद-सकेत ४

वह है उनका विचारक और सावक का रूप। कवि होने के साथ-साथ अश्वघोष विचारक है, जीवन के दार्शनिक है, एव सावना के शिक्षक भी। यह वात उतनी हद तक हमें कालिदास में नही मिलती। सभवत बुद्ध-जीवन का वर्णन करने के कारण यह वात स्वत भिक्षु-महाकवि के काव्य मे आ गई है। कालिदास के सामने इतना गौरवातिशय कोई पात्र चित्रण करने को नही था, जितना बुद्ध के रूप में अश्वघोष को प्राप्त था। स्वभावतः गम्भीरता की दृष्टि से अश्वघोष कालिदास से वढकर हैं। आध्यात्मिक प्रभाव अश्वघोष की रचना का कालिदास की अपेक्षा अधिक है। और इसीलिये मानव-कल्याण का उसे अधिक सीमा तक साधक माना जा सकता है। अश्वघोष के सामने जो कवि-कर्म का लक्ष्य था, वह कालिदास से कही ऊपर था। जब कि कालिदास की रचना प्रधानतः शृंगारात्मक है अश्वघोष ने साफ तौर पर कहा है कि 'मनुष्यो के हित व सुख के लिये यह काव्य (बुद्ध-चरित) लिखा गया है, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिये[1]।" इसी प्रकार सौन्दरनन्द-काव्य के अन्त मे उन्होने लिखा है 'यह कृति आध्यात्मिक शाति देने के लिये है न कि मनोरजन के लिये। काव्य-कर्म के अनुरोध से जो कुछ सरस भी मैंने यहा कहा है वह केवल कटु औषधि को पीने के योग्य वनाने के लिये मधु मिलाने के समान है[2]।" वस्तुत काव्य के व्याज से सत्य का ही उदघाटन कवि ने किया है। परन्तु एक विशेष वात जिसकी ओर हम यहां ध्यान देना चाहते है वह है महाकवि अश्वघोष द्वारा प्राचीन भारतीय सस्कृति और आदर्शो का चित्रण। इस दृष्टि से भी वे कालिदास से किसी प्रकार कम नही है। बौद्ध कवि ने बुद्ध के जीवन और उपदेशो को उनकी प्रकृत ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग कर नही देखा है। उसने उसे सपूर्ण प्राचीन भारत की सास्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना के अगभूत रूप में चित्रित किया है। अत उसने स्वभावत बुद्ध-जीवन के प्रसग मे आने वाले अनेक तथ्यो और घटनाओ का वर्णन करते हुए उन्हे प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यो और पौराणिक परम्पराओ से मिलाया है और इस प्रकार अपने प्राचीन इतिहास सबधी अगाध ज्ञान का परिचय दिया है, जो अपनी परिधि की विशालता और व्यापकता मे अद्वितीय है। किसी भी भारतीय कवि ने प्राचीन इतिहास सबधी इतने उद्धरण अपने काव्य में नही दिये जितने अश्वघोष ने।

(१) बुद्ध-चरित २८।७४
(२) सौन्दरनन्द १८।६३

अश्वघोष ने अपनी प्राचीन साहित्य और इतिहास-विषयक अपूर्व अभिज्ञा अनेक स्थलो मे दिखाई है। शाक्यकुमार के जन्म होने के साधारण दृश्य का वर्णन करते हुए वे उपमाओ की एक माला-सी लगाकर अनेक प्राचीन महापुरुषों के जन्म की बात को कह डालते हैं[1]। इसी प्रकार शाक्य कुमार आगे चलकर कुछ नवीन अभूतपूर्व कार्य कर सकेंगे या नही, इसका उत्तर 'हा' मे शुद्धोदन के प्रति दिलवाने के लिए वे प्राचीन इतिहास की एक झडी सी लगा देते है, केवल यह दिखाने के लिए कि पूर्वजो के द्वारा अकृत कर्म भी उनके पुत्रो के द्वारा किए ही गए हैं और इस विषय में आयु और वश प्रमाण नही हैं[2]। इसी प्रकार शाक्यकुमार के वन चले जाने पर शुद्धोदन का मत्री जब उनके पास जाकर प्राचीन इतिहास सुना सुना कर उन्हें गृह लौटाने का प्रयत्न करता है[3] तो वह भी एक अद्भुत आर्मिक दृश्य है। साराश यह कि अश्वघोष के केवल एक 'बुद्धचरित' काव्य में अनेक प्रमाण उपलब्ध है जिनके आधार पर हम कह सकते है कि वैदिक ज्ञान और परम्परा का वे पूर्ण

---

(१) देखिये, 'ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्न.। कक्षीवतश्चैव भुजासदेशात्तथाविध तस्य वभूव जन्म। बुद्धचरित १।१० (जोहन्स्टन का सस्करण)

(२) 'यद्राजशास्त्र भृगुरगिरा वा न चक्रतुर्व शकरावृषी तौ। तयो. सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥ सारस्वतश्चापि जगाद नष्ट वेद पुनर्य ददृशुर्न पूर्व। व्यासस्तथैन बहुधा चकार न य वसिष्ठ. कृतवानशक्ति.॥ वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्य जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षि.। चिकित्सित यच्च चकार नात्रि पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥ यच्च द्विजत्व कुशिको न लेभे तद्गाधिन' सूनुरवाप राजन्। वेला समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो या प्रथमा वबन्धु ॥ आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम। ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्ववला वभूवु ॥ बुद्ध चरित १।४१-४५

(३) 'आर्तां सनाथामपि नाथहीना त्रातु वधूमर्हसि दर्शनेन' इस प्रकार विनय करते हुए 'पूर्वेऽपि जग्मु' स्वगृहान् वनेभ्य. इस' प्रकार प्रस्ताव करते हुए मन्त्री शाक्यकुमार को याद दिलाते है 'तपोवनस्थोऽपि वृत. प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीष.। तथा महीं विप्रकृता अनार्यैस्तपोवनादेत्य ररक्ष राम.॥ तथैव शाल्वाधिपतिर्द्रुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश। ब्रह्मर्षिभूतश्च

अवगाहन कर चुके थे[१], और उसके बाद जब उन्होंने बुद्ध-वचनामृत पान किया तो उसे अपने पूर्व ज्ञान की सगति में ही उन्होंने देखा, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अश्वघोष सबसे पहले तो एक दार्शनिक है और उसके बाद कवि। उन्होंने आधुनिक समालोचको की इस उक्ति को मिथ्या बनाया है कि कलाकार कलाकार ही नही रहता जब वह उपदेशक का बाना पहन लेता है। समग्र 'सौन्दरनन्द' को आप प्रारभ से अन्त तक पढ जाइए, आप नन्द के विलासमय-जीवन से, 'शाक्यमुनि के भिक्षापात्र लेकर उसकी सीढियो पर चढने के दृश्य से, नन्द-पत्नी के गवाक्षमार्ग मे अवलम्बन कर विलाप करते हुए करुण स्वर से, बुद्ध के साधना-उपदेश से, निरन्तर रस-आप्लावित ही होते जाएगे और अन्त में जब कवि अपनी 'मोक्षार्थगर्भाकृति' के विषय मे आपसे यह कहेगा[२]—

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः ।
श्रोतृणां ग्रहणार्थमन्यमनसा काव्योपचारात्कृता ॥
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृता ।
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिहि" ॥

मुनेर्वसिष्ठाद्वदघ्रो श्रियं साकृतिरन्तिदेव.।.... बुद्धचरित ९।६९-७०; देखिए काम-सुख भोग करने के लिए भी क्या-क्या उदाहरण देकर शाक्यकुमार को बहकाया जा रहा है। कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरन्दरः। गौतमस्य मुनेः पत्नीमहल्या चकमे पुरा ॥ अगस्त्य. प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ...... ॥ उतथ्यस्य च भार्यायां ममतायां महातपः। मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं बृहस्पतिः ॥ बृहस्पतेर्महिष्या च जुह्वत्या जुह्वतां वर। बुध विबुधकर्माणं जनयामास चन्द्रमा। काली चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसम्भवाम् । जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥ मातंयामक्षमालाया गर्हिताया रिरंसया। कपिञ्जलाद तनयं वसिष्ठोऽजनयन्मुनि। ययातिश्चैव राजर्षिर्वयस्यपि विनिर्गते। विश्वाच्यापरसा सार्धं रेमे चैत्ररये वने।......पाण्डुर्ज्ञात्वापि कौरव... सिषेवे कामजं सुखम्। करालजनकश्चैव ..... आदि। कवि के पौराणिक ज्ञान का कोई अन्त ही नहीं है। बुद्धचरित ४.७२-८०

(१) देखिए सर्ग ९ (बुद्धचरित) में लोकायतिक सिद्धान्त का वर्णन तथा १२ वें अध्याय में सांख्य दर्शन का विवेचन।

(२) सौन्दरनन्द, अध्याय १८, श्लोक ६३-४६

'प्रायेणाऽऽलोक्य लोकं विषयरतिपर मोक्षात्प्रतिहृतम् ।
काव्यव्याजेन तत्वं कथितमिदं मयाऽद्य मोक्षपरमिति ।।
तद् बुद्ध्वा शमिक यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितम् ।'
पासुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ।।"

निश्चय ही कवि ने अपना पूर्ण दार्शनिक स्वरूप प्रकट कर दिया है और उनके काव्य की महिमा का साक्षी आज समग्र विश्व है। समग्र भारतीय विचार की और विशेषत महायान धर्म की यह निश्चय ही एक अपूर्व विजय है। अश्वघोष जैसे मनीषियो ने ही बौद्धधर्म को उस स्थिति पर पहुचा दिया जिसमे वह एक अत्यन्त हृदयग्राही रूप से साधारण जनो को भी आकृष्ट करने लगा। महायान धर्म के आचार्यों द्वारा बुद्ध धर्म को 'बोधिसत्व-धर्म' के रूप में बदल देने का सारा तत्व हमें अश्वघोष के छोटे से वाक्याश में ही मिल सकता है 'प्रायेणाऽऽलोक्य लोक विषयरतिपर मोक्षात्प्रतिहृतम्', जिसमें ही हम भक्ति आदोलन के प्रारम्भ के सारे तत्व को देख सकते हैं। बुद्ध का बोधिपक्षीय मार्ग ठीक है, किन्तु मनुष्य विषयरतिपर है, मोक्ष से प्रतिहृत है, वह मार्ग पर नही चलना चाहता। अत उसके लिए एक सरल मार्ग का उद्भावन करना पडता है, जैसे बुद्ध-पूजा, नाम स्मरण आदि। इस प्रकार की भावनाओ से ही 'महायान' धर्म का, जो वद्ध-धर्म में भक्ति का ही एक प्रकार से आदोलन था, प्रादुर्भाव हुआ और आचार्य अश्वघोष ने उसमें एक बडा योग दिया।

वर्णभेद के विरुद्ध वज्र की सुई के समान तीव्र भेदन करने वाली रचना 'वज्रसूची' लिखते हुए भी आचार्य अश्वघोष के अपने प्राचीन साहित्य और इतिहास सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन का परिचय दिया है जैसे कि 'सौन्दरनन्द' में भी।

अव हम विज्ञानवाद और शून्यवाद के तात्विक विवेचनो पर आते हैं। पहले हम विज्ञानवाद को लें। . 'चित्तमात्र भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्'।

विज्ञानवाद का सामान्य विवेचन

अर्थात् हे जिनपुत्र ! जो कुछ भी यह त्रिधातुमय (जगत्) है, सव चित्तमात्र ही है। यह दशभूमीश्वर सूत्र का वाक्य[1] विज्ञानवाद की मुख्य मान्यता को स्पष्टतम शब्दो मे रख देता है। 'त्रिंशिका' में आचार्य वसुवन्ध भी

(१) देखिये . विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ३३

कहते हैं 'आत्मधर्मोपचारो हि विविधो य प्रवर्तते। विज्ञान 'परिणामो:सौ'। अर्थात् विभिन्नतामय जो यह जगत् प्रवर्तित हुआ दीखता है वह केवल आत्म-धर्म का उपचार ही हे, विज्ञान का परिणाम ही है। सपूर्ण जगत् विज्ञान का परिणाम है, चिन्मय है, मन प्रसूति है। विज्ञान, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, चित्त का ही पर्यायवाची शब्द ह। ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं, अर्थात् ज्ञान ही ज्ञेय होकर भासता है, यह तत्व विज्ञानवादियो ने बडी विस्तृत युक्तियो से प्रतिपादित किया है। उनकी ज्ञान की परिभाषाएँ भी इसी तथ्य की ओर सकेत करती है।'असगलक्षण ज्ञानम्, (लकावतारसूत्र) ''विपयवैचित्र्यसगलक्षण च विज्ञानम्' (लकावतारसूत्र)।'विज्ञानमनुत्पन्नप्रध्वसि ज्ञानम्। (लकावतारसूत्र) 'अप्राप्तिलक्षण ज्ञानम् (वोधिचर्यावतार पञ्जिका), आदि वाक्य वाह्य पदार्थों को आन्तरिक ज्ञान से अभिन्न एव उसके परिणाम स्वरूप मानने के पक्ष-पाती हैं। इसी एक विचार को विज्ञानवादियो ने अनेक प्रज्ञप्तियो से अपने विशालकाय ग्रथो मे एक अभिनव मौलिकता के साथ प्रकट किया है। दिङ्नाग अपनी 'आलम्वन परीक्षा' में कहते है—'यदन्तर्ज्ञेयरूप तद् वहिर्वद् भासते।', अर्थात् भीतर जो ज्ञेय रूप से अवस्थित है, वही वाहर जैसा अवभासन करता है। इसी प्रकार धर्मकीर्ति अपने 'प्रमाणविनिश्चय' में कहते हैं कि नील और नील-वुद्धि दोनो नियम से एक साथ पाए जाते हैं, अत इनमें कोई अन्तर नही दीखता 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियो '[२]। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान-वादी आचार्यों के मतानुसार प्रत्यक्ष केवल हमारे अन्दर स्थित विज्ञानो का ही होता है, अत. वाह्य पदार्थों की कोई अलग स्थिति नही है। वाह्य पदार्थ विज्ञानो को उत्पन्न नही करते, वल्कि विज्ञानो के कारण स्वयं विज्ञान उठ खडे होते हे। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके स्वय भी नष्ट हो जाता है और इस प्रकार यह विज्ञानो की उत्पत्ति और निरोध का क्रम चलता रहता है। विज्ञानो का यह निरन्तर उत्पन्न होना और विनष्ट होना ही परम तत्व है। इस विज्ञान-सन्तान के सिवा अन्य कोई तत्व उपलब्ध नही होता। विज्ञानो की धारा के अतिरिक्त और किसी वा य वस्तु की सत्ता नहीं है, अन्दर भी स्थिर 'आत्मा' जैसे किसी पदार्थ की उपलब्धि तो होगी ही कहा से? किन्तु फिर भी विज्ञानवादियो की विज्ञप्ति का मतलव सर्वथा नैरात्म्य से

---

(२) द्रष्टव्य आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य का लेख 'गौडपाद' शीर्षक, 'प्रवासी' आस्विन् १३४४, पृष्ठ १७५।

नही है। इसी को 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' मे इस प्रकार दिखाया गया है 'तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुन । देशनाधर्मनैरात्म्यप्रवेश कल्पितात्मना' जिस प्रकार सौत्रान्तिक विज्ञानवाद की स्थिति तक आने मे डरते है, उसी प्रकार विज्ञानवादी भी जानबूझ कर शून्यवाद के पक्ष मे प्रवेश करना नहीं चाहते। उनके लिए तो बस यही पर्याप्त है कि सब जगत् को वे 'मनोमय' दिखादे, 'विज्ञप्ति' मात्र की सिद्धि कर दे और चेतनाद्वैत के डिण्डिम से सभी दार्शनिक नयो को भरदें—'पुद्गल सन्तति स्कन्धा प्रत्यया अभावस्तथा। प्रधानमीश्वर. कर्ता चित्तमात्र वदाम्यहम्'। (बोधिचर्यावतार)। बाह्य अर्थ नही और केवल चित्तमात्र ही प्रकाशित हो रहा है, यही विज्ञानवादियो की मूल भावना है। भारतीय दर्शन के प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय को प्राय इस महत्वपूर्ण सिद्धात के विषय मे कुछ अवश्य कहना है जिसे हम उन-उन दर्शनो का विवेचन करते समय देखेंगे। स्वप्न आदि के दृष्टातो को लेकर तथा अनुभव की विविध रूपता आदि को लेकर जो आक्षेप विज्ञानवाद के सिद्धात के विरुद्ध किये गए है, उन पर इस समय विचार करने से पाचवें प्रकरण मे पुनरुक्ति करनी पडेगी, अत उससे इस समय विराम लेते है और केवल विज्ञानवाद के केन्द्रीय विचार को ही प्रदर्शित कर उसकी कमजोरियो की ओर नही जाते। विज्ञानवाद के ही प्रसग में हमें अश्वघोष के भूततथता के सिद्धात का निर्देश करना चाहिये, क्योकि यह एक अत्यन्त महनीय विचार है।

ससार विज्ञान का ही विकार है, यह विज्ञानवाद का एक सामान्य विचार है, जैसा कि हम अभी कह आए है। किंतु इस विज्ञान के लिए विज्ञानवाद के आचार्यो ने भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग किए हैं, जिसके कारण विज्ञानवाद सबधी उनके विचारो में कुछ विभेद उत्पन्न हो जाता है। असग और वसुबन्धु 'विज्ञप्तिमात्र' शब्द का व्यवहार करते है, लकावतार सूत्र मे 'आलयविज्ञान' शब्द का प्रयोग है और अश्वघोष ने 'भूततथता' शब्द का प्रयोग किया है। असग और वसुबन्धु 'विज्ञप्ति मात्र' को अनुभव से परे की वस्तु बतलाते हैं। उनके अनुसार वह विशुद्ध चैतन्य, आनन्दस्वरूप, अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय है। शकर ने सर्वास्तिवादियो के जिस क्षणिक 'आलय' के खिलाफ तर्क उठाए है। (ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।१८) वे हम देखते है कि असग और वसुबन्धु के 'विज्ञप्तिमात्र' के विषय में नही उठाए जा सकते, क्योकि उसने क्षणिक विज्ञान की स्थिति से उठकर वेदात की आत्मा की कुछ-कुछ स्थिति प्राप्त कर ली है। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे को उत्पन्न करता है।

पहले विज्ञान का जहा निरोध होता है वही दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति शुरू हो जाती है। निर्वाण की अवस्था में सिर्फ किसी विशेष चेतना केन्द्र से सबद्ध विज्ञानो का रुकना ही होता है। उस समय विज्ञान सक्रिय नही रहता क्योकि वह विशुद्ध आनन्द मे निमग्न हो जाता है। वैसे ससरण की अवस्था में तो कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियो में जाने वाली चित्तधारा के साथ यदि कोई किसी प्रकार की स्थिरता नही मानी जाय तो, जैसा कि हम पहले ही देख चुके है कर्म और पुर्नजन्म की कोई समझने के योग्य व्यवस्था नही रह जाती। आत्यन्तिक क्षणिकवाद के सिद्धात के परिणामस्वरूप कर्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था की सगति लगाना कठिन है, अत विज्ञानवादी आचार्य उसका यही उत्तर देते है कि यद्यपि चित्तधारा स्वय सतत परिवर्तनशील है किन्तु जैसे ही एक चित्तधारा का निरोध होता है वैसे ही दूसरा चित्त-प्रवाह उठ खडा होता है, अत यह विज्ञान का प्रवाह या सन्तान ही उस ससरण की परम्परा को एकता प्रदान करता है। हम जानते है कि इस प्रकार कठिनाई से निकलने का प्रयत्न विज्ञानवादियो का प्रवर्तित किया हुआ नही है। उसके पूर्व लक्षण हम मिलिन्द और नागसेन के सवाद में स्थविरवाद-परम्परा के दर्शन का विवेचन करते समय देख आए है।[१] यह कहना कि यद्यपि चित्त-धारा प्रत्येक क्षण उत्पन्न होती और निरुद्ध होती है, किन्तु प्रत्येक उत्तरोत्तर चित्तधारा अपने पूर्व-पूर्व के स्वभावो से उपरक्त होती जाती है, आखिर किसी न किसी स्थिर भोक्ता के विश्वास मे ही पर्यवसित होती है और फिर तब तो आत्मवादियो का और अनात्मवादी चेतनाद्वैतवादियो (विज्ञानवादियो) का केवल 'नाममात्रे विवाद.' रह जाता है। किन्तु अश्वघोष ने तो इतना भी नही छोडा है।

'लङ्कावतार सूत्र' ने विश्व के चरम तत्व का 'आलय-विज्ञान' के नाम से प्रयोग किया है। सृष्टि के सभी पदार्थ मिथ्या है, नि सत्व है। ज्ञाता और ज्ञेय एक ही है। सभी विज्ञान ज्ञाता भी है, और ज्ञेय भी। 'मैं हू' (अहमास्पद)[२] की अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न भिन्न पदार्थ नहीं, किन्तु एक ही है। ज्ञाता रूप से देखने पर विज्ञान-सन्तान या आलय-विज्ञान 'मैं' रूप 'अहमास्पद' दीखता है

आलयविज्ञान—विज्ञप्ति मात्रता—भूततथता—अलग-अलग विवेचन।

(१) देखिए इसी प्रकरण के पूर्व भाग में 'कर्म और पुनर्जन्म' पर विवेचन।

(२) तत्स्यादालयविज्ञान यद्भवेदहमास्पदम् ।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥

और ज्ञेय रूप देखने पर पदार्थ समूह के रूप में। तत्त्वत विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नही है। 'बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालै विकल्प्यते। . ....वासनै-चित्तमर्थाभास प्रवर्त्तते' ॥ (लकावतार सूत्र)। किन्तु वैसे 'लकावतार सूत्र' विज्ञानवाद और शून्यवाद के बीच में चक्कर सा लगाता है। उसके अन्दर असग और वसुबन्धु की-सी विज्ञानवाद के प्रति अनन्य भक्ति नही है' हम पहले 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' का उद्धरण देकर यह दिखा चुके है कि आचार्य असग विज्ञानवाद को शून्यवाद मे मिला देने के पक्षपाती नही, किन्तु 'लकावतार सूत्र' के विषय में ऐसा नही कहा जा सकता। उसकी तो भक्ति सभवत 'आलयविज्ञान' से 'शून्य' के लिए ही अधिक समर्पित है, अतः अब हम उसे छोड कर अश्वघोष के भूततथता दर्शन पर आते हैं।

अश्वघोष ने अभिज्ञापूर्वक औपनिषद आत्मवाद के शाश्वतत्व को विज्ञानवादियो की चित्त-धारा के प्रति समर्पित किया है।[१] साथ ही उन्होंने विशुद्ध औपनिषद आत्म-तत्त्व का खण्डन भी किया है। अत. आचार्य गौडपाद तथा शङ्कर की तरह इन विज्ञानवाद के प्राचीन आचार्य का दर्शन भी बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनो के तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियो के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्य अश्वघोष और आचार्य शकर ने अनुलोम और प्रतिलोम से एक ही कार्य किया है। दोनो ने ही विज्ञानवाद के चित्त की एक विशिष्ट व्याख्या स्वीकृत हो जाने पर उसके विषय में नाममात्र के लिए विवाद नही किया है, किन्तु जबकि आचार्य शङ्कर विज्ञानवादियो के क्षणिक विज्ञान में कमिया दिखाकर उनकी परिशुद्धि करने अथवा उन्हें सही रूप प्रदान करने की कोशिश नही करते (स्वय एक वैदिक आचार्य होने के कारण उनका कार्य वैदिक दर्शन की स्थापना है, बौद्ध दर्शन की व्याख्या नही। अश्वघोष जिनकी भक्ति बौद्धधर्म के प्रति समर्पित हुई है, एक अनन्यसाधारण रचनात्मक

---

(१) अपने ग्रन्थ (महायानश्रद्धोत्पाद शास्त्र) के प्रारम्भ में वे कहते हैं—'महायान क्या है ? यह सर्वसत्व है। आत्मा सभी दृश्य और अदृश्य जगत् को आवरण करके ठहरता हैं'। सुजुकी का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—'What is the Mahayan ? It is the soul of all sentient beings. The soul embraces everything in this world, phenomenal and super-phenomenal' देखिए सोजन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५३-२५४

कार्य में प्रवृत्त होते है और इसी का परिणाम उनका 'भूततथता' का दर्शन है। निश्चय ही औपनिषद ज्ञान से भरपूर होकर और उनकी ज्ञान-वीथियो मे स्वच्छद रस लेकर ही जिन मनीषियो की प्रवृत्ति और श्रद्धा की धारा बुद्ध-धर्म के प्रति प्रवाहित हुई है, उनके विचारो मे जो क्रान्ति हुई है और बुद्धि मन्थन के परिणाम स्वरूप जिन निष्कर्षों पर वे पहुचे है उन्ही मे सभवत हम बौद्ध-दर्शन और औपनिषद दर्शन के सबध की सर्वोत्तम झाकी कर सकते है, ऐसा इस लेखक का विनम्र अभिप्राय है। अत आचार्य अश्वघोष हमारे दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके 'बुद्धिचरित' और 'सौन्दरनन्द' पढते समय यह कदापि मालूम नही पडता कि इनका लेखक सिवाय एक महान् प्राचीन वैदिक पडित होने के अन्य कोई हो सकता है। प्राचीनतम भारतीय सास्कृतिक इतिहासो और पौराणिक तथ्यो के विषय मे इस प्रकार वर्णन करते हैं कि मानो उनके साथ ही वे रह रहे हो। शुद्धोदन की चिन्ताओ में, यशोधरा के विलापो मे, उदायी, मन्त्री और पुरोहित के शाक्यकुमार के साथ सवादो में हमे एक आर्यसनातन धर्म में जीवित विश्वास रखनेवाले कवि के दर्शन होते है। अग्रेज लेखको का यह रिवाज है कि वैदिक परम्परा या श्रौत परम्परा की कोई बात दिखाना चाहते है तो उसके लिए 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग करते है और बौद्धो के लिए 'बौद्ध'। हमारे भारतीय विद्वानो में डा० दासगुप्त और राधाकृष्णन् इन शब्दो का विमोह नही छोड सके है, अन्य की तो बात ही क्या? आश्चर्य और दु ख है कि सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे भाषा का स्वामित्व करनेवाले मनीषी विद्वान् को भी ठीक शब्द उपयोग के लिए नही मिल सके। किन्तु शब्दो के पीछे हम लडते नही, फिर इन महारथियो के सामने तो, जिनके दिखाए मार्ग के ही किञ्चित् पिछलगे हम हैं, निश्चय ही शब्द निकालना भी पाप है। किन्तु अश्वघोष और वैदिक परम्परा के अन्य दार्शनिको के साथ-साथ विवेचन के समय जब एक के लिये 'बौद्ध' और दूसरे (अथवा दूसरो,) के लिये 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग देखते है, तो हृदय दुखता है। दर्शन विचार ही तो है, अनुभूति का प्रकाशन ही तो है। अत जब एक दार्शनिक कवि भी होता है तो इस लेखक का विनम्र विचार है कि वह अपनी कविता मे ही अपने विचार और अनुभूति को अधिक स्पष्टता और अभिव्याप्ति के साथ रखता है अपेक्षाकृत अपने दार्शनिक ग्रन्थो के यदि उसने उनकी रचना की हो। जो इस दृष्टिकोण को स्वीकार करेंगे वे भी अश्वघोष के विचारो या उनके दर्शन को 'बुद्ध-

चरित' और 'सौन्दरनन्द' के आधार पर व्याख्यात करने की इस लेखक को कितनी स्वतंत्रता देंगे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। कुछ भी हो, ऐसा करना हमारा यहा उद्देश्य भी नही है, किन्तु जिस बात को हम 'महायान श्रद्धोत्पाद' से अस्पष्टता से दिखा सकते है उसकी स्पष्टता के लिए तो निश्चय ही हम 'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित' से सहायता ले ही सकते है, और इसीलिए हम कहते है कि 'भूततथता' (जिसका विवरण हम अभी देंगे) दर्शन के उद्भावक की मानसिक प्रतिष्ठा गम्भीर औपनिषद ज्ञान के मनन और अनुशीलन पर ही हो सकती है, जिसे उनके 'बुद्ध चरित' तथा 'सौन्दरनन्द' काव्य भली प्रकार प्रख्यापित करते है। सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोष (ब्राह्मण वश में उत्पन्न साकेतक, वैसे अकिंचित्कर, किन्तु हमारे यहाँ दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण तथ्य) बौद्ध धर्म और दर्शन के तो अप्रतिम आचार्य है ही, उनका बौद्ध-धर्म मे जाना तथागत के गौरव से ही है और औपनिषद ज्ञान के प्रति वे अपनी श्रद्धा-बुद्धि कभी नही भूले है और इसी क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हमें उन मनीषी के 'भूततथता' सिद्धान्त में मिलता है। फिर ये आचार्य केवल औपनिषद ज्ञान को लेकर ही बौद्ध स्रोत में नही पडे किन्तु और भी चीजे अपने साथ ले गए जिनका आश्चर्यजकक प्रभाव बौद्धधर्म की समग्र विकास-परम्परा पर ही पडा जिसका कुछ दिग्दर्शन हम कर ही आए है। ईसवी शताब्दी के करीब यह महापुरुष आविर्भूत हुए। ब्राह्मण वश के तो थे ही। पौराणिक ज्ञान भी भरपूर था, तथागत के प्रति श्रद्धा भी अपार थी। खूब तथागत की सेवा कराई, राजाओ से, महाराजाओ से, धनिको से, निर्धनो से, श्रमणो से, ब्राह्मणो से, तथाकथित हीन-वर्णवालो से (जिनका पक्ष इन मनीषी ने बडी अच्छी तरह से लिया)। तथागत ने जो अपने परिनिर्वाण के समय कहा था कि भिक्षुओ को तो बोधि-पक्षीय धर्मों की ही भावना करनी चाहिए और तथागत की शरीर-सेवा से विरत रहना चाहिए, क्योकि तथागत की शरीर-सेवा करनेवाले तो अनेक श्रमण-ब्राह्मण और गृहस्थ होगे जो तथागत की अनेक प्रकार से पूजा करेंगे[१], तो हम कह सकते है कि इस प्रकार की पूजा करनेवालो के समूह को प्रथम बार जुटानेवाले और उसे प्रोत्साहन देनेवाले सुवर्णाक्षीपुत्र ब्राह्मण महाशाल आर्य अश्वघोष ही थे,

---

(१) द्रष्टव्य महापरिनिब्बाण सुत्त। (दीघ० २।३)

जिनकी वाणी का प्रथम घोप हमें सयोजक के रूप मे कनिष्क के समय मे हुई वौद्ध धर्म की सगीति मे सुनने को मिलता है और जब तक तथागत की पूजा करने वाले लोग ससार मे रहेगे (आचरण करने-वाले अर्थात् वुद्ध के द्वारा कथित भिक्षुओ की कोटि मे आनेवाले तो निश्चय ही सब को छोड अभ्यास में ही लगे रहेगे) तब तक वे अपनी भावना-शुद्धि के लिए सम्भवत 'वुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' से अधिक सहायक वस्तुए प्राप्त नही कर सकेंगे। और ये ग्रन्थ 'स्थविरवाद' या 'सर्वास्तिवाद' परम्परा की देन न होकर विशुद्ध वैदिक परम्परा की ही देन है जो भक्ति और वुद्ध के महत्व की भावना से सनिविष्ट और अभिव्याप्त होकर काव्य और दर्शन की महत्व पूर्ण देन हो गये है। इस प्रकार व्यापक रूप से वैदिक परम्परा का उनके ऊपर प्रभाव दिखाकर और इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराकर कि किस प्रकार उन मनीपी आचार्य ने अपनी ज्ञान सम्पदा के द्वारा वौद्ध धर्म को एक अभिनव स्वरूप प्रदान करने में योग दिया, अब हम उनके तत्व-सम्बन्धी विचार पर आते है जो भी एक भिन्न कथा नही कहता। विज्ञानवादियो के आलय विज्ञान पर आचार्य अश्वघोप का यह सशोधन है अथवा यो कहिए कि परिवर्द्धन है कि उसी की प्रतिष्ठा में एक अनिवर्चनीय तत्व है जो भावात्मक है और जिसको 'भूततयता' के नाम से पुकार सकते है। परि-वर्तनशील जितका भी विज्ञान प्रवाह है, उसकी प्रतिष्ठा में भूततयता छिपी हुई पडी है, जो परिवर्तित होनेवालो में अपरिवर्तित है और स्पन्दित होने-वालो में अस्पन्द है। भूततयता न सत् कही जा सकती है, न असत्, न एक, न अनेक[1]। वह भावात्मक भी है और अभावात्मक भी[2]। अविद्या के हट जाने पर ही भूततयता का प्रकाश होता है और एकता की अनुभूति जागने लगती है। 'भूततयता' के इतने भावात्मक वर्णन उपलब्ध होते है कि हम उसके स्वरूप के विपय में भ्रमित नही हो सकते। उनको

(१) मिलाइये, न सन्न चासन्न तथा न चान्यया न जायते व्येति न चावहीयते। न वर्द्धते नापि विशुद्धते पुनर्विशुद्धयते तत्परमार्थलक्षणम् ॥ महायान सूत्रालंकार (असंग-कृत) ६।१

(२) भूततयता के दोनो भावात्मक और अभावात्मक वर्णनो के लिए देखिए सोजन : सिस्टम्स आफ वुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५७-२५८

निर्वाण भी, कुशलमूल भी, धर्मकाय भी, और शान्ति-रूप भी कहा गया है[1]। इसमें आश्चर्य नही कि अश्वघोष के द्वारा प्रस्तावित इस औपनिषद आत्मा के बौद्ध सस्करण को बौद्ध आचार्य बडी अच्छी तरह से पी गए है। निश्चय ही उनके प्रज्ञान इतने विस्तृत, व्यापक और अभावात्मक हैं कि यदि शङ्कर ने ठीक चिन्ता न की होती, (ब्रह्मावसानोऽय प्रतिषेध नाभावसान इति) तो वे उसे भी निगल जाते (और ऐसा करने पर भी तो वे अशत उसे निगल गए है) तो फिर अश्वघोष के प्रज्ञानो का तो कहना ही क्या? भूततथता, भूतकोटि, धर्म-धातु आदि सभी शून्य के पर्याय बना दिए गए हैं। केवल 'लङ्कावतार सूत्र' ही 'भूततथता' को कुछ अच्छी तरह नही पचा सका है। इस ग्रन्थ में कभी भूततथता के प्रति कुछ स्वीकृति सी ध्वनि है, तो कभी उसका खण्डन। फिर भी अन्त में बहुत विमर्श के बाद वह अभावात्मक शून्य की ओर ही प्रवण होता हुआ दिखाई देता है। वास्तव में 'क्षणिकवाद' भी बौद्धो के लिए एक बडी समस्या रही है। इस सिद्धान्त को लेकर वे कभी किसी भी स्थिर तत्व में विश्वास नही कर सकते और उसके किए बिना वे कर्म और पुनर्जन्म की भी सगति लगाना कठिन अनुभव करते हैं। 'भूततथता' के सिद्धान्त ने इस विषय में कुछ स्पष्ट दृष्टिकोण रक्खा हो, ऐसा अभी गम्भीर विद्वान् भी निश्चित नही कर पाए हैं। किन्तु यह सोचा जा सकता है कि 'भूततथता' की स्थापना में निश्चय ही आत्यन्तिक क्षणिकवाद का तो अपलाप किया ही गया होगा अन्यथा

---

(१) "It is निर्वाण when it brings absolute peace to a heart egoistic and afflicted with conflicting passions; it is bodhi (बोधि) or perfect wisdom, when we regard it as the source of intelligence, it is धर्मकाय when we call it the fountain head of love and wisdom, it is कुशलमूलम् or the summum bonum when its ethical phase is emphasised—it is बोधिचित्तम्; it is परमार्थसत्यम्....... it is मध्यम मार्गम्..... is the भूतकोटि. तथागतगर्भ .... महायान.... सर्वसत्व—Soul of all sentient beings" सोजन: सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५३-२५४

उसका कोई तात्पर्य ही नही रह जाता। इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य अश्वघोष ने 'भूततथता' के रूप मे औपनिषद शाश्वत आत्मा को ही बौद्ध दर्शन में प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है[1]। यह सिद्धान्त निश्चय ही विज्ञानवाद के ऊपर एक विकास है और एक तरफ विज्ञानवाद और शून्यवाद की यह मध्यस्थता करता है तो दूसरी तरफ विज्ञानवाद की ही दिशा मे 'आत्मा' के सदृश किसी अनिवर्चनीय तत्व की ओर सकेत करता हुआ यह कहता है, 'यह वही है'। 'इदमेवेति ब्रुवत्'। 'एतद्वैतत्'। 'यह वही है' क्या ? अनिवर्चनीय भूततथता[2]। 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते'। अश्वघोष ने यह सब बौद्ध दृष्टिकोण से भी बडी अच्छी तरह दिखाया। विज्ञानवाद के विषय मे विशेष हम पाचवे प्रकरण में (शाङ्कर दर्शन के विवेचन में) देखेंगे। विज्ञानवाद के धर्म और आचार-तत्व एव प्रमाण मीमासा के विषय में अलग यहा कुछ कहना अपेक्षित नही है। सवृतिसत्य और परमार्थ सत्य इसका शून्यवाद के समान ही है, अत उसे वही आगे विवेचित करेंगे। 'योगाचार' विज्ञानवाद की सज्ञा होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि ये लोग योग पर अधिक जोर देते है। ऐतिहासिक बुद्ध को ये 'धर्मकाय' की अभिव्यक्ति मानते है। कहते है कि 'यस्या रात्रौ तथागतोऽभिसम्बुद्धो बभूव यस्या च परिनिर्वृत्त। अत्रान्तरे तथागतेन एकमप्यक्षर नोदाहृतम् (बोधिचर्यावतार)। अर्थात् जिस रात्रि मे तथागत अभिसम्बुद्ध हुए और जिस रात्रि में उन्होने परिनिर्वाण प्राप्त किया, उसके बीच

(१) 'भूततथता implies oneness of the totality of things or धर्मधातु—the great all-including whole, the quintessence of the doctrine. For, the essential nature of the soul is uncreated and eternal, सुजुकी का 'महायान श्रद्धोत्पाद' का अंग्रेजी अनुवाद (The Awakening of Faith in Buddhism) पृष्ठ ५५-५६

(२) "Thus the very state of the absolute world or the realm of the soul is indescribable as the sight of a terrible battle-field or a beautiful landscape This is technically termed suchness beyond language." सोजन : मिस्टिसिज्म ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५६

उन्होने एक अक्षर भी नही कहा। इसी प्रकार लङ्कावतार सूत्र मे भी 'यस्या रात्र्यामधिगम यस्या च परिनिर्वृत्ति । एतस्मिन्नन्तरे नास्ति किञ्चित् प्रकाशितम्।' अर्थात् भगवान् बुद्ध कहते है (१) कि 'जिस रात्रि में मैंने (बोधि का) अधिगम पाया और जिसमें मेरा निर्वाण हुआ इसके बीच मैंने कुछ प्रकाशित नही किया'। हम जानते है कि माध्यमिको ने भी इस प्रकार बुद्ध की इतिहासवत्ता' का निपेध किया है, किन्तु उससे हमे यहा प्रयोजन नही[१]। 'धर्मकाय' के नाम-रूप ग्रहण कर लेने पर ही उसकी 'सम्भोग काय' सज्ञा होती है, जिसे अद्वैतवादियो का हम माया विशिष्ट चैतन्य कह सकते है। देवभावापन्न अवस्था में जब बोधिसत्व ससार में जन्म ग्रहण करते है तो उन्हे निर्माण काय कहा जाता है। धार्मिक क्षेत्र में 'धर्मकाय' को स्वीकार कर महायानिको ने (जिनमे विज्ञानवादी भी सम्मिलित है) देश और काल से अतीत एक आदि तत्व को स्वीकार किया है जो ब्रह्मवादियो के ब्रह्म से बहुत समानता रखता है। प्रमाण मीमासा के क्षेत्र में विज्ञानवादियो का 'आत्मख्याति' का सिद्धान्त बहुत महत्व रखता है। इस सिद्धान्त के द्वारा वे मिथ्या दर्शन की व्याख्या करने का प्रयत्न करते है। शुक्ति में रजत क्यो दिखाई पडता है, इसका कारण वे यह बताते है कि मानसिक विज्ञान ही बाहर रजताकार में परिणत हो जाता है। विज्ञान सन्तान का प्रवाह ही, जो एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता, रजत रूप अवभासित होकर दिखाई देने लगता है और रजत की अन्य कोई प्रतिष्ठा नही होती। इसके विरुद्ध शकर ने तर्कउठाए हैं, जिन पर हम पाँचवें प्रकरण में शाङ्कर दर्शन पर विवेचन उपस्थित करते समय विचार करेंगे। विज्ञानवाद भारतीय दर्शन की एक अत्यन्त प्रभावशाली विचार-प्रणाली है। यह सिद्धान्त सशोधित होकर औपनिषद आत्मवाद का कुछ कुछ स्वरूप धारण कर लेता है जिसकी झलक हमे अश्वघोप के दर्शन में मिलती है और प्रकारान्तर से शङ्कर के दर्शन मे भी-जिस पर हम पाँचवें प्रकरण में ही विचार करेंगे ।

---

(१) फिर भी द्रष्टव्य, नोदाहृतं त्वया किञ्चित् एकमप्यक्षर विभो । कृत्स्नश्चैव वैनेयजनः धर्मवर्षेण वर्षितः । 'चतुस्तव' में नागार्जुन; सर्वोपलम्भोशमः प्रपञ्चोपशम शिवः । न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन देशित. । माध्यमिक वृत्ति ।

शून्यवाद न केवल भारत की ही अपितु विश्व की एक प्रभावशाली दर्शन-प्रणाली है। सौत्रान्तिको और विज्ञानवादियो के स्वाभाविक विकास स्वरूप यह दर्शन प्रवृत्त हुआ है। सौत्रान्तिको ने वाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञेय नही माना था और विज्ञानवादियो ने उनकी सत्ता स्वीकार की थी केवल 'चित्तमात्र' के रूप में, किन्तु माध्यमिको ने उसका आधार वहाँ से भी तोड कर सब वाह्य और आन्तरिक अस्तित्व को 'गन्धर्वनगर' के समान कर दिया। किन्तु इसमें विरुद्धार्थ प्रतिपत्ति हो सकती थी। जिस प्रकार सभी मनीषी दार्शनिक (जिनमे शङ्कर भी शामिल हैं) अपनी कमियो और विरोधाभासो से अभिज्ञ रहते है, उसी प्रकार माध्यमिक आचार्य भी अवश्य थे। शास्ता का उपदेश तो एक ही हो सकता था अर्थात् या तो पदार्थों के अस्तित्व को ज्ञापित करना या उनको 'चित्तमात्र' वताना या 'गगनोपम' करार देना। एक ही साथ वे तीनो वातें तो नही सिखा सकते थे। कुछ तो उपाय निकालना ही चाहिए। अधिकारियो के सवाल ने समस्या को हल कर दिया। शून्यवाद का उपदेश करने से मनुष्य डर जायेंगे क्योकि उन्हे सत्ता सम्बन्धी ठीक ज्ञान नहीं, अत कारुणिक शास्ता ने मन्द अधिकारियो को तो सौत्रान्तिक और विज्ञानवाद के सिद्धान्त सिखाए, किन्तु वास्तविक मन्तव्य तो उनका उच्च अधिकारियो के लिए शून्यवाद ही था, जिसके माध्यमिक ही उत्तराधिकारी है। 'शिक्षा समुच्चय' की यह उक्ति इसी तथ्य को प्रमाणित करती है—

शून्यता का उपदेश—धर्म-नैरात्म्य

'चित्तमात्र जगत् सर्वं इति या देशना मुने।
उत्रासपरिहारार्थं वालाना सा न तत्वत ॥
अस्ति खलु इति नीलादि जगदिति जडोयने।
भावग्राह ग्रहावेश गम्भीर नय भीरवे॥
विज्ञान मात्रं एवेद चित्र जगदुपाहृतम्।
ग्राह्य ग्राहक भेदेन रहित मन्द मेधने॥
गन्धर्व नगराकार मत्यद्वितयलाञ्छनम्।
अमेयानन्त कल्पौघ भावना शुद्ध मेधने॥

'शून्य एव धर्माः' यह माध्यमिको का मूल सिद्धान्त है और इसकी सिद्धि (यदि किसी की भी सिद्धि नागार्जुन ने की है!) मूल माध्यमिककारिकाकार ने अभिनव तर्क के साथ की है। तत्व को नागार्जुन ने निःस्वभाव, निरभिलप्य और

दुर्निरूप कहा है। न तो किसी वस्तु की, न चित्त की और न प्रमाण, प्रमेय प्रमाता अथवा प्रमा की ही कोई स्थिति माध्यमिकों ने छोड़ी है। उनके लिए इनका प्रतिषेध रूप 'शून्य' ही परम तत्व है। इस शून्य का किसी भी शब्द या प्र ाण से बोध नहीं किया जा सकता क्योंकि वहां न भाव है न अभाव, न इन दोनों का संघात और न विघात। वह एक बिलकुल अनिरुक्त अवस्था है। 'शून्य' के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें पहले नागार्जुन की विचार-प्रणाली और शैली से अभिज्ञ होना चाहिए। नागार्जुन का समग्र शून्यवाद एक प्रकार से 'प्रतीत्य समुत्पाद' की व्याख्या है और उसी से उन्होंने अपने समस्त सिद्धान्त को निकाला भी है। अपनी 'मूल माध्यमिक कारिका' के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
य प्रतीत्य समुत्पाद प्रपञ्चोपशम शिवम्।
देशमामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदता वरम्।

इस प्रतिज्ञा को लेकर वे वस्तुओं के स्वरूप की परीक्षा करने को निकले हैं और उन्होंने जो पाया है वह माध्यमिकों के ही स्मरणीय शब्दों में सुनिए—

बुद्ध्या विवेच्यमानाना स्वभावो नावधार्यते।
तस्मादनभिलप्यास्ते नि स्वभावेन देशिता[1] ॥

(लङ्कावतार सूत्र)

'बुद्धि से विवेचित किए जाने पर (वस्तुओं के) स्वभाव का अवधारण नहीं होता। अत वे अनभिलप्य हैं और नि स्वभाव कह कर ही उनका आदेश किया जाता है।' नागार्जुन ने अपने तर्क-बल से किसी की भी सत्ता नहीं छोड़ी है, पदार्थों का जैसे-जैसे उन्होंने विश्लेषण किया है वैसे ही वैसे वे विशीर्ण होकर पृथ्वी पर गिरते गए हैं 'यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। इसलिए शून्यता का लक्षण उन्होंने 'नि स्वभाव' होना ही किया है और इसको मिला दिया है अभिन्न रूप से प्रतीत्य समुत्पाद से 'य प्रतीत्य समुत्पाद शून्यता

(१) 'नि स्वभावेन' की जगह 'नि स्वभावाश्च' भी पाठ है। लंकावतार सूत्र के इस वाक्य का ही अनूदन न्यायसूत्र ४।२।२६ में उपलब्ध होता है। बुद्धया विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिः। तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धि.'। देखिए लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्य : 'दर्शनोदय' (शून्यता दर्शनम)

सैव ते मता'। किसी भी पदार्थ को 'यह ऐसा है' या 'यह वैसा है', इस प्रकार नहीं कहा जा सकता :—

'इद वस्तु वलायात यद्वदन्ति विपश्चित ।
यथाऽयथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥

अत परम सत्य तो माध्यमिको के अनुसार 'चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त तत्व' ही है जिसके विषय मे न 'हा' न 'नही' और न इन दोनो का सयोग या वियोग ही कहा जा सकता है। यही मध्यम मार्ग है और इसी के कारण उन्होने अपनी माध्यमिक सज्ञा पाई है—

'न सन्नासन्न सदसन्न चाटयनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटि विनिर्युक्त तत्व माध्यमिका विदु ॥

अत· अभाव और भाव आदि कोटियो से विलक्षण तत्व ही 'शून्य' है। इसी के विषय मे माध्यमिक वृत्ति भी कहती है—अपरप्रत्यय शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् । निर्विकल्पमनानार्थम् एतत्तत्वस्य लक्षणम्'॥ इस प्रकार शून्यता को मान लेने पर सत्वो के उत्पन्न होने अथवा निरुद्ध होने का सवाल नही रहता जिसको पहले उद्धृत की हुई 'मूल माध्यमिक कारिका' की प्रथम पक्तियाँ ही सूत्रात्मक रूप से द्योतित करती हैं 'अनिरोधमनुत्पादम्' आदि। इसी अर्थ को लकावतार सूत्र ने इस प्रकार प्रपचित किया है—

'तथता शून्यता कोटी निर्वाण धर्म धातुकम् ।
अनुत्पादश्च धर्माणा स्वभाव पारमार्थिक ॥
अथ वैचित्र्यसस्थान विकल्पो यदि जायते ।
आकाशे शशश्रङ्गे च अर्थाभास भविष्यति'॥

सभी भौतिक और मानसिक पदार्थ माया से कल्पित है, 'मृग तृष्णिका' के समान हैं, अथवा आकाश, शशशृङ्ग, या वन्ध्या के पुत्र के समान। वासना का ही किया हुआ यह लोक है और सभी पदार्थ 'अलातचक्र' के समान है, 'अद्वय' 'वितथ' और 'शून्य' है। 'निरोध' और भाव वहा कहाँ है, सभी तो 'स्वप्नोपम' है, 'कदली सम' है[१], वहा 'विशेष' ही क्या रहा, इस प्रकार के अभावात्मक विचार माध्यमिक साहित्य में भरे पडे है, जिनकी अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो को लेकर पुनरावृत्ति की गई है। देखिए 'लङ्कावतार सूत्र' में—

(१) मिलाइए पाचवें प्रकरण में 'बौद्ध और वेदान्त दर्शन' पर विचार।

'स्वप्न केशोण्डुक माया गन्धर्व मृगतृष्णिका।
अहेतुका ऽपि दृश्यन्ते तथा लोक विचित्रता ॥
आकाश शशश्रङ्गश्च वन्ध्याया पुत्र ,एव च।
असन्तश्चाभिलप्यन्ते तथा भावेपु कल्पना ॥
वासना हेतुको लोक नासन्न सदसत्क्वचित्।
ये पश्यन्ति विमुच्यन्ते धर्म नैरात्म्य कोविदा ॥
अलात चक्र गन्धर्व प्रतिश्रुत्का समोद्भवा।
अद्वया वितथा शून्या भूतकोटिश्च धर्मता ॥
स्वप्न केशोण्डुक माया गन्धर्व मृगतृष्णिका।
सर्वदृष्टि प्रहाण च तदनुत्पादलक्षणम् ॥
अस्वभावा अनुत्पन्ना प्रकृत्या गगनोपमा'[1] ॥

वोधिचर्यावतार में भी यही भाव—

'नि स्वभावा अमी भावा तत्वत स्वपरोदिता।
एकानेक स्वभावेन वियोगाद्वियदब्जवत् ॥
एव च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्वत।
अजातमनिरुद्ध च तस्मात् सर्वमिद जगत् ॥
स्वप्नोपमास्तु गतय विचारे कदलीसमा।
निर्वृत्तानिर्वृत्ताना च न विशेषोऽस्ति वस्तुत[2] ॥
निरीहा वशिका. शून्या मायावत्प्रत्ययोद्भवा।
सर्वे धर्मास्त्वया नाथ नि स्वभावा प्रकाशिता ॥

उपर्युक्त उदाहरणो से हम भली प्रकार देखते हैं कि माध्यमिकों के लिए किसी भी वस्तु का कोई 'स्वरूप' जैसी वस्तु नही है वल्कि सभी कुछ आरोपित है अथवा वन्ध्यापुत्र आदि की तरह है और केवल नाम के लिए वोला जाता है 'असन्तश्चाभिलप्यन्ते'। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक वाह्य वस्तुओ की सत्ता नही मानते अथवा यो कहिए कि उन्हें 'नि स्वभाव' और 'निरभिलप्य' मानते है, इसलिए उनका यह सिद्धान्त 'धर्म नैरात्म्य' अथवा 'धर्मशून्यता' भी कहा जाता है। वे आन्तरिक जगत् में भी किसी स्थिर पुद्गल की सत्ता नही पाते, अत. वे 'पुद्गलनैरात्म्य'वादी या 'पुद्गल शून्यता' वादी भी कहलाते है।

(१-२) मिलाइए पाचवें प्रकरण में 'वौद्ध दर्शन और वेदान्त'।

अनात्मवाद को निषेधात्मक दिशा में ले जाने का प्रयत्न माध्यमिको मे ही आकर अपनी परिपूर्ण दीप्ति के साथ और अन्तिम रूप में प्राप्त हुआ है और इसी को लेकर हमारे 'आस्तिक' विचारको के द्वारा वे समालोचना के विषय भी बनाए गए है। माध्यमिक कहते है कि अतीत और अनागत सम्बन्धी चित्त नही है, 'मैं' भी नही है। यदि चित्त उत्पन्न होता या नष्ट होता, तो 'मैं' भी उसके साथ उत्पन्न होनेवाला तथा मरने वाला होता, किन्तु जब वह चित्त ही नही है, तो उत्पन्न होना और मरना किस 'मैं' का?

अतीतानागत चित्त नाह तद्धि न विद्यते।
अथोत्पन्नमह चित्त नष्टेऽस्मिन् नास्त्यह पुन ॥

बोधिचर्यावतार।

कदली स्तम्भ को काटते-काटते कौन उसके सार को निकाल सका है? इसी प्रकार सभी जगह खोजते खोजते कही भी तो 'मैं' मिलता नही—

'यथैव कदलीस्तम्भ न कश्चित् भागश कृत ।
तथाऽहमप्यसद्भूत मृग्यमाणो विचारत' ॥ बोधिचर्यावतार।

माध्यमिको का यह भी कहना है कि इस प्रकार का 'पुद्गल नैरात्म्य' या पुद्गलशून्यता' मनुष्यो के त्रास का कारण नही, किन्तु उनके भय के क्षय का कारण ही होनी चाहिए। जो दुख को उत्पन्न करनेवाली वस्तु है उससे त्रास होना चाहिए, किन्तु शून्यता तो दुखो का शमन करनेवाली है, उससे भय कैसा?

'यद्दुखजनन वस्तु त्रासस्तस्मात् प्रजायताम्।
शून्यता दुखशमनी ततः किं जायते भयम्"

—बोधिचर्यावतार ।

किस प्रकार? माध्यमिक उत्तर देते है कि भय तो किसी 'वस्तु' से ही होगा, जो 'अवस्तु' है, वास्तव मे है ही नहीं, उससे क्या भय हो सकता है? और इसी तरह जब कोई होगा, उसे ही तो भय होगा, किन्तु यहां 'मैं' जो डरा करता है, जब वह ही नही है, तो भय किसको होगा? न तो भय करानेवाला है और न भय करनेवाला, तो फिर भय किसको और कैसा? 'तत्व माध्यमिका विदु.',

'यतस्ततो वाऽवस्तु भय यद्यहम् नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चित् चेत्भयं कस्य भविष्यति ॥
नास्त्यह न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति।
इति बालस्य संत्रास. पण्डितस्य भयक्षयः ॥

बोधिचर्यावतार।

से तो यह कही न आता है, न ठहरता है, न जाता है ,इसका माया से विशेष ही क्या है ? मूढो ने ही तो इसे सत्य बनाया है । जो माया से निर्मित है और जो हेतुओ से निर्मित है, वह कहा से कहा को आता है और जाता है, इसका जरा निरूपण करो ? इस प्रतिविम्व सम जगत् मे सत्यता कहा है ? न तो स्वत ही और न दूसरो के द्वारा ही, न दोनो के द्वारा ही, और न अकारण ही, भाव कभी कोई उत्पन्न होते हैं, अत क्या उत्पत्ति की धारणा ही विरोध मूलक नही होती ? किसी भी प्रकार भावो की उत्पत्ति ही नही दिखाई जा सकती।

'भावाना नि स्वभावाना न सत्ता विद्यते यत ।
सतीदमस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते ॥
अन्यतो नापि चायात न तिष्ठति न गच्छति ।
मायात को विशेषोऽस्य यन्मढै सत्यत कृतम् ॥
मायया निर्मित यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।
आयाति तत् कुत कुत्र याति चेति निरूप्यताम् ॥
यदन्यसन्निधानेन दृष्ट न तदभावत. ।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥
न स्वतो नापि परत न द्वाभ्या नाप्यहेतुत ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन ॥

इस प्रकार हम देखते है कि माध्यमिक विचारक पुद्गल-नैरात्म्य, धर्मनैरात्म्य, कार्यकारण भाव का अपलाप, आदि का प्रख्यापन करते हुए निषेधात्मक दिशा में बढे चले जाते है । इतना ही नही, भदन्त नागार्जुन ने तो किसी भी ऐसे ज्ञेय या ज्ञाता या ज्ञान सबधी विषय को नही छोडा है जिसका 'नि स्वभाव' रूप उन्होने न दिखा दिया हो। 'दु ख' नाम की वस्तु को उन्होने मिथ्या बताया, 'निर्वाण' को उन्होने मिथ्या बताया, बन्धन और मोक्ष की असम्भवता उन्होंने दिखाई, कर्मफल की धारणा तक को विरोध ग्रस्त उन्होने बताया, यहा तक कि सिद्धातो के प्रख्यापन के आवेश में नैतिक आदर्शवाद की भी भ्रमपूर्णता उन्होने दिखाई। उनके इन सब विषयो सबधी सिद्धातो का तो हम यहा दिग्दर्शन भी नही करा सकते, और ऐसा करने की जरूरत भी नहीं है। यह सब काम हमारे लिए पहले ही से उन जैन और वैदिक परम्परा के आचार्यों ने कर दिया है जिन्होने नागार्जुन को पहले से ही अभाववादी कह कर इसके लिए कोई अवकाश ही नही छोडा। शङ्कर जैसे दार्शनिक ने तो माध्यमिक

दर्शन को 'सर्व प्रमाणविप्रतिषिद्ध' कहकर उस पर विचार करने का आदर भी नहीं दिखाया। यह अच्छा ही है कि उन मनीषी आचार्य ने नागार्जुन या किसी माध्यमिक आचार्य का नाम न लेकर केवल 'अभाववाद' के सिद्धांत का ही ठीक रूप से प्रत्याख्यान किया है। हमारा विनम्र अभिप्राय है कि नागार्जुन आदि माध्यमिकों का दर्शन न तो 'अभाव' है और न 'सर्व-प्रमाण विप्रतिषिद्ध' किन्तु वह एक प्रभावशाली विचार-प्रणाली है जो सतत अध्ययन और विचार की अपेक्षा रखती है। हम शङ्कर के द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यानों के जटिल प्रश्न में यहा नहीं पड रहे (वैसा तो हम पांचवें प्रकरण में करेंगे)। यहा केवल शून्यवाद के गौरव प्रदर्शन में ही कुछ कहना चाहते हैं, इसलिए स्वभावत: ही उसका तथाकथित 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' स्वरूप दृष्टि पथ मे आ गया है। हां, तो जैन और वैदिक परम्परा के अधिकतर प्राचीन आचार्य नागार्जुन और अन्य माध्यमिकों के शून्य से तात्पर्य अत्यान्ताभाव ही लेते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से गवेषणा करने वाले बहुत से विद्वान् नागार्जुन के अभाव को अत्यन्ताभाव के अर्थ में न लेकर कुछ भी हर्ष के 'निर्वचनीय' के अर्थ में लेते हैं और कुछ यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि नागार्जुन जब विश्वतत्त्व को शून्य कहते है तो उसका तात्पर्य केवल यही है कि वह बुद्धि के उपकरणों से नहीं जाना जा सकता और सभी मानवीय ज्ञान एक विरोध का ही आभास देता है। महापडित राहुल सांकृत्यायन ने शून्यता-दर्शन की सापेक्षतावाद के रूप में सुन्दर और मननशील व्याख्या की है। निष्पक्ष रूप से देखने पर माध्यमिक अत्यन्ताभाव के पोषक नहीं दीखते। अत्यन्त व्यावहारिक रूप से भी देखिए तो शून्यवादी नागार्जुन को उनकी मृत्यु के बाद स्वयं शून्यवादियों ने ही 'शून्य' में मिल जाते हुए या 'शून्य' रूप हो जाते हुए कभी नही दिखाया, किन्तु 'सुखावती' लोक में ही उनका अधिवास कराया[1] जो एक भावात्मक वस्तु ही हो सकती है। किन्तु यह तो कुछ नहीं है, हमें दार्शनिक तथ्यों पर आना चाहिए। तो सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार शंकर को यह आशंका

---

(१) मिलाइए, 'दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशा:। नागाह्वयस्य नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः ॥ प्रकाश्य लोके मधानं महायानमनुत्तमम्। आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्। लंकावतार गाथिका, श्री लक्ष्मीपुरं निवासाचार्य विरचित 'दर्शनोदय', पृष्ठ ७५ में उद्धृत।

काल में उसकी स्थिति नही है । किन्तु फिर भी हम विकल्पित पदार्थों को सत्य ग्रहण करते हैं। यही सवृति है। 'विनोपघातेन यदिन्द्रियाणा षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोक । सत्य हि तल्लोकत एव शेष विकल्पित लोकत एव मिथ्या ।' इसी प्रकार सवृति के आवरणात्मक रूप पर प्रकाश डालते हुए 'लकावतार सूत्र' में भी कहा गया है—

'मोहस्वभावावरणाद्धि सवृति सत्य तया ख्याति पदेन कृत्रिमम् । जगाद तत्सवृति सत्यमित्यसौ मुनि पदार्थं कृतक च सवृतिम्'।

व्यवहार दशा में तो यह 'सवृति' सत्य रहेगी ही (अन्यथा इसको सवृति सत्य ही क्यो कहा जाता?) किन्तु परमार्थ सत्य की प्राप्ति होने पर तो सवृति सत्य मृषा सिद्ध ही हो जायगा। (तो फिर दो सत्यो की कल्पना ही क्यो करते हो? इस प्रकार के तर्क के लिए देखिए कुमारिल के विचार पाचवें प्रकरण, पूर्वमीमासा दर्शन के विवेचन में) जब तक परमार्थ सत्य का अधिगम नही हुआ है, तब तक व्यावहारिक जगत् की अप्रामाणिकता प्रख्यापित की नही जा सकती। जब तक लोक है, तब तक सवृति सत्य लोक का अवितथ रूप है ।[1] अत सभी पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का है, सावृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है, वह सवृति सत्य कहलाता है। सम्यक् दर्शी का जो विषय है, वह तत्व या परमार्थ सत्य कहलाता है—

'सम्यक्मृषादर्शन लब्धभाव रूपद्वय बिभ्रति सर्वभावा ।
सम्यक्दृशा यो विषय स तत्व मृषादृशा सवृति सत्यमुक्तम्'।

बोधिचर्चावतार

इस प्रकार हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार सत्य का सवृति सत्य और परमार्थ सत्य, यह द्विविध विभाग कर माध्यमिक विचारक अपने दर्शन को सर्वथा 'अभाव' से बचा कर ले गए है और साथ ही मनुष्य-जीवन के लिए उसकी उपयोगिता को भी सिद्ध करने में समर्थ

---

(१) और उसे मानना चाहिए, क्योंकि 'उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थ सत्यम्' । माध्यमिकावतार ६।८० । व्यवहार सत्य उपाय है । (हेतु-रूप) और परमार्थ सत्य उपेय (फलस्वरूप) है । मिलाइए 'व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते । परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥ मूलमाध्यमिक कारिका २४।१०; मिलाइए पांचवें प्रकरण में शाकर दर्शन का विवेचन ।

हुए है। इस तथ्य का हमारे दार्शनिक मडल में कभी पूरी तरह से प्रख्यापन नही किया गया और सदा माध्यमिको को पूर्ण रूप से अभाववादी ही कहा गया, जो ठीक नही है। फिर माध्यमिको ने अपने सत्य-द्वय के सिद्धात से एक और बडा काम निकाला है। उन्होने इस के प्रकाश में ही अपने सिद्धात की सर्वोच्चता बुद्ध के उपदेशो के आधार पर दिखाने का प्रयत्न किया है। जहा दो वचनो की सगति उन्हे मिलती नही दिखाई दी है, वहा अपने मत को परमार्थ सत्य विषयक (ज्ञान के विकास की दृष्टि से भी शून्यवाद ही बौद्ध आचार्यों के प्रज्ञानो की परम्परा में अन्त में आता है) दिखाकर उसकी सर्वोच्यता दिखाई है और दूसरे मत वालो के सिद्धातो को को प्रख्यापन करने वाले बुद्ध-वचनो के विषय में उन्हे व्यवहार सत्य को दृष्टि में रखकर दिए गये उपदेशो के रूप में दिखाया है और इस प्रकार उनके प्रामाण्य की भी रक्षा कर दी है। (ठीक यही काम बाद में आचार्य शङ्कर ने व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य के सवाल को उठाकर श्रुतियो की अपने मतानुसार व्याख्या की है। स्वाभिमत सिद्धातो को दिखानेवाली श्रुतियाँ परमार्थ ज्ञान विषयक है (जो ज्ञान के विकास की दृष्टि से वहा भी ठीक है—यदि साम्प्रदायिकता का सवाल न उठाया जाय) और अन्य मतो का प्रख्यापन करनेवाली श्रुतिया (जो निर्विशेषाद्वैत का निरूपण नही करती) व्यवहार ज्ञान विषयक है, आदि द्रष्टव्य पाचवें प्रकरण मे)। माहायानिक आचार्यों का मत है कि बुद्ध के उपदेश 'सवृति सत्य' और 'परमार्थ सत्य' इन दो सत्यो के आधार पर ही प्रवर्तित हुए है।

'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसवृतिसत्य च सत्य च परमार्थत।
सवृतिपरमार्थश्च तृतीय नास्ति हेतुकम्।
कल्पित सवृति इत्युक्ता तच्चेदादर्शगोचरम्'॥

बोधिचर्यावतार।

नैयायिक क्षेत्र में नागार्जुन की क्या स्थिति है और उन्होने प्रमाणपरीक्षण में न्याय-विद्या को क्या दान दिया है और बौद्धो और नैयायिको में होनेवाले सघर्ष में कहाँ तक और क्या भाग उन्होने लिया है, यह हम

प्रमाण-मीमांसा पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेपिक' के सबध-निरूपण के प्रसग में देखने का प्रयत्न करेंगे। यहा सामान्य रूप से माध्यमिको की प्रमाणमीमासा पर कुछ कहना अपेक्षित है,

जिसके सर्वोत्तम परिचायक नागार्जुन और उनके अनुगामी आचार्य ही हैं। जिस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद, कार्यकारण भाव, पुद्गलात्मा, वाह्य धर्म आदि का नि स्वभावत्व आचार्य नागार्जुन ने दिखाया है उसी प्रकार उन्होने ज्ञान के उपकरणो का भी स्वाभाविक विरुद्धत्व वडी अच्छी तरह दिखाया है। नैयायिको के स्थूल दृष्टिकोण को तो उन्होने पहले ही यह कह कर पराभूत कर दिया है :

'इन्द्रियैरुपलव्व यत्तत्तत्वेन भवेद्यदि ।
जातास्तवविदो वाला स्तत्वज्ञानेन कि तदा ।।

'मूलमाध्यमिक कारिका'

यद्यपि नागार्जुन तत्वज्ञान की सम्भावना तो मानते है, किन्तु प्रमाण प्रमेयादि व्यवहारो का विश्लेषण कर उन्होने केवल यही देखा है, जैसा आज भी ज्ञान के अतिम गवेषण के परिणाम स्वरूप विचारक देखते है, कि सभी ज्ञान विरोधात्मक है, सभी ज्ञान अन्ततोगत्वा स्वत रूप में एक विरुद्धत्व पर प्रतिष्ठित है। वह एक वृत्ताकार रूप में घूमता है, जहा उसका कोई आदि नही, अन्त नही, किन्तु सर्वत्र अनवस्था ही अनवस्था है। मानवीय मस्तिष्क, जो स्वय एक उसी कार्य कारण भाव से सीमित और परिच्छिन्न है जिससे वाह्य दृश्य वस्तु, ज्ञेय वस्तु के साथ सबध में आता हुआ अपनी स्वात्मीयता कायम कैसे रख सकता है, क्योकि वह भी तो दृश्य से उपरक्त होता ही है। फिर वह उसके याथात्म्य का निर्णय कैसे कर सकता है? यदि मस्तिष्क, मन, बुद्धि अथवा अन्त करण अपनी स्वात्मीयता भूलते हैं तो ज्ञान को अनुभव करने वाला कोई नही रहता है और यदि नही भूलते है तो वे केवल वस्तुओ के अपने पर पडे चित्रो को दर्शित करते हैं वस्तुओ के स्वभाव को नही। सभी ज्ञान मात्र ज्ञेय और ज्ञाता के बीच का सबध है। नागार्जुन कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनो के ही कल्पित होने से वास्तविक ज्ञान कहा से आवेगा? देखिए उनके अनन्य साधारण शब्दो और तदनुवर्तिनी तर्क में

'कल्पना कल्पित चेति द्वयमन्योन्यमिश्रितम् ।
यथाप्रसिद्धमाश्रित्य विचार सर्व उच्यते ।।
विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते ।
तदाऽनवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ।।
यदि ज्ञानवशादर्थ ज्ञानास्तित्वे तु का गति
अथ ज्ञेयवशात् ज्ञान ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः ।।

अथान्योन्यवशात् सत्वमभाव. स्यात् द्वयोरपि।
पिता चेन्न विना पुत्रात् कुत पुत्रस्य सम्भव ॥
अङ्कुरो जायते वीजात् वीज तेनैव सूच्यते।
ज्ञेयात् ज्ञानेन ज्ञातेन तत्सत्ता किं न गम्यते ॥
अङ्कुरादन्यतो ज्ञानात् वीजमस्तीति गम्यते।
ज्ञानास्तित्व कुतो ज्ञात ज्ञेय यत्तेन गम्यते[1]' ॥

'मूलमाध्यमिक कारिका'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के विचारो को ही नागार्जुन ने अपूर्ण सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार उन्होने गमन, गन्ता और गत की धारणाए भी सर्वथा निराकृत करदी है[2] जिन पर हम यहाँ नहीं जा सकते। प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को तो शङ्कर ने भी 'अविद्यावद्विषय' कहा है और निश्चय ही 'तत्केन क पश्येत्', 'विज्ञातारमरे केन विजानीयाः' आदि अवस्थाओ में भी जहाँ कार्यकारण भाव का अपलाप होता है, कर्ता, क्रिया और कारक कही पता भी नही चलता, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कही नही रह जाता, क्योकि सभी ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय तो चाहिए ही, किन्तु वहा परमावस्था में तो दो (ज्ञाता और ज्ञेय) न रहकर केवल एक ही शेष रह जाता है जिसकी अपेक्षा में ही प्रमाण प्रमेय व्यवहार 'अविद्यावद्विषय' रह जाता है। ऐसी कोई वात हम नागार्जुन या अन्य माध्यमिक आचार्यों में नही देखते। वे केवल तर्क से ही कार्य कारण भाव का अपलाप करते है जो अन्त में (केवल नि स्वभाव होते हुए) भी अभाव सा दीखता है, जवकि वेदान्ती आचार्यों की दृष्टि में सवकी प्रतिष्ठा रूप सत्य 'ब्रह्म' अवस्थित रहता है और उसकी अपेक्षा में ही वे वाह्य जगत् या प्रमाण प्रमेय व्यवहार को 'अविद्याव-

---

(१) कुछ कुछ इसी अर्थ का अनूदन न्याय सूत्र 'स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमान । मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा' ४।२।३२ में (निराकरण के लिए) किया गया है।

(२) कितनी पेचीदगी के साथ, 'गतं न गम्यते तावदगत नैव गम्यते। गतागत विनिर्मुक्तं गम्यमान न गम्यते ॥ गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति। अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयो हि गच्छति .....गते नारभ्यते गन्तुं गन्तुं नारभ्यते ऽगते। नारभ्यते गम्यमाने गन्तुमारभ्यते कुत'। मूलमाध्यमिक कारिका।

द्विषयक' कहते है। यही दोनो का विभेद है। अब हम माध्यमिकों के आचारतत्त्व पर आते हैं, जो उन्होंने अपने शून्यवाद से बडे प्रयास के साथ और सम्यक् अभिज्ञा के साथ निकाला है।

शून्यवाद के आचार्य जबकि बुद्ध के मन्तव्य की निषेधात्मक व्याख्या करते-करते बहुत दूर चले गए है, उससे उन्होने नैतिक निष्कर्ष वही निकाले है जो बुद्ध को सम्मत है। किन्तु यह तो प्रयत्न से ही आचार तत्व साध्य है और ऐसा ही हुआ भी है। तर्क के क्षेत्र में माध्यमिको को क्या असाध्य है? जो रास्ता चल चुके हैं उस पर तो चलने न दें और जिस पर अभी नही चले है उसे 'अगत' कह दें तो फिर गन्ता विचारा कहा जाय? यह सब सामर्थ्य माध्यमिको को है। कुछ भी हो, शून्यवाद से जो उन्होने आदर्शवाद निकालने की नैतिक चेष्टा की है उससे एक लाभ उनके दर्शन को अवश्य हुआ है।

उन्हें अपने कदम कुछ पीछे हटाने पडे है, और यह अच्छा हुआ है कि आत्यन्तिक अभाव के अन्धकार मय कुएँ में झांककर फिर वहा से वे लौटआए हैं। जो उनको 'अभाव' वादी करते हैं वे भी एक 'अभावं न विकल्पयेत्' एक प्रकार से गलत नही कहते क्योकि वे नागार्जुन को निश्चयत अन्धे कुएँ में झांकते देखते हैं। किन्तु उनका लौटना भी तो देखना चाहिए। उनके लौटने का श्रेय बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद को है, जिसके प्रति अपने सब विध्वसक तर्कों को करके भी आचार्य नागार्जुन अपनी भक्ति नही छोडते, अन्यथा बौद्ध आचार्य ही आज हम उन्हें क्यो कहते? नागार्जुन के जब हम शून्यता के नैतिक प्रयोजनों को देखते है तभी सम्भवत हम चन्द्रकीर्ति के साथ सुर-में-सुर मिलाकर कह सकते है 'अभाव न विकल्पयेत्'—'अभाव न विकल्पयेत्। शून्यता के दर्शन का उपदेश, निश्चय ही नागार्जुन ने इसलिए किया कि उसके द्वारा राग-द्वेषादि की निवृत्ति होकर जन्म, मरण रूप प्रपच का उपशम होता है। चन्द्रकीर्ति के मार्मिक शब्दो में,

'प्रपचोपशमायैव शून्यता सोपदिश्यते।
तस्मात् प्रपचोपशम. शून्यताया प्रयोजनम्'॥

जो इस तरह शून्यता को नही जानते और उसे अभाव या नास्तिकता-रूप में परिकल्पित करते है वे माध्यमिको के साथ न्याय तो करते ही नही, उनके प्रयोजन को भी नही जानते—

"शून्यत्व नास्तितारूप भवास्तु परिकल्पयन्।
प्रपच वर्धयन्नेव न च वेत्ति प्रयोजनम्॥'

सब सकल्पो के विनाश के लिए ही यह अमृत रूप शून्यता का उपदेश दिया गया है और फिर शून्यता में भी अभिनिवेश उसके प्रतिपादनकर्ताओ को अभीष्ट नही है

सर्वसकल्पहानाय शून्यताऽमृतदेशना।
यश्च तस्यामपि ग्राह त्वया ऽसाववसादितः।

सभी 'नास्ति' अस्तित्व पूर्वक ही हुआ करती हैं और सभी 'अस्ति' नास्तिपूर्वक, अतः 'नास्ति' को मत गमन करो और न करो कल्पना अस्तित्व की ही !

अस्तित्वपूर्वक नास्ति अस्ति नास्तित्वपूर्वकम्।
अतो नास्ति न गन्तव्य अस्तित्व न च कल्पयेत्॥

यह विशुद्ध 'अनिर्वचनीयवाद' के के सिवा और क्या है ? अनुत्पाद, तथता, भूतकोटि और शून्यता ये सब रूप के ही नाम हैं, अत अभाव की कल्पना नही करनी चाहिए—

अनुत्पादश्च तथता भूतकोटिश्च शून्यता।
रूपस्य नामान्येतानि अभाव न विकल्पयेत्॥

माध्यमिक न तो 'शून्य' कहकर ही परम तत्व को पुकारे जाने के आग्रही हैं और न अशून्य कहकर। न वे इन दोनो अथवा इनसे भिन्न नामो से ही परम तत्व को पुकारने के पक्षपाती हैं। वे तो परम तत्व को अनिवर्च-नीय मात्र मानने के पक्षपाती है —

शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयंचेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

जब माध्यमिको ने यह अनुभव किया कि निश्चय ही उनके द्वारा प्रति-पादित कुछ सिद्धान्त अभाव की ओर चले गए है और जब उन्होंने लौटना शुरू कर दिया तभी सम्भवत उन्होंने 'शून्यता' की कोटियां कायम की, जो लका-वतार सूत्र के अनुसार सात है, यथा भाव-स्वभाव-शून्यता, अप्रचरित शून्यता, प्रचरितशून्यता,-सर्वधर्मनि.स्वभाव शून्यता, परमार्थ-ज्ञान शून्यता, महाशून्यता और इतरेतर शून्यता। इन सब शून्यताओ के द्वारा माध्यमिको को यही प्रयोजन दिखाना अभीष्ट है कि शून्यत्व न तो भावरूप है, न अभाव रूप, न उभय रूप, न अनुभयरूप, न धर्म, न धर्मी, किन्तु सर्वथा अनिर्वचनीय !

शून्यता ने जब मनुष्य को वोधि मार्ग पर लगा दिया तो (साख्य की प्रकृति की तरह) उसे भी रगमच से चले जाना चाहिए, क्योकि उसका प्रयोजन समाप्त हुआ—

'मुक्तिस्तु शून्यता दृष्टेस्तदर्थाशेष भावना।
इति तस्मात् शून्यतैव वोधिमार्ग इति स्थितम्[1] ॥
शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता निस्सरण जिनै ।
येषा तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् वभाषिरे॥
शून्यतावासनाधानात् हीयते भाववासना।
किंचिन्नास्तीति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते॥

निश्चय ही यह माध्यमिको का एक अत्यन्त आश्चर्यकारी व्यापार है और इस विषय में स्वभावत. ही वे भगवान् बुद्ध की परम्परा मे ही गए हैं. जिन्होने भव के तरने के वाद धर्म में भी अभिनिवेश हटाने का उपदेश दिया है। वास्तविक प्रयोजन के लिए माध्यमिको ने स्वय अपने आप खडे किए हुए प्रासाद को अन्त में जाकर ढाह दिया है, तो स्वय उनसे भी बढकर उनके दर्शन का प्रत्याख्यान और कौन कर सकता है ? निश्चय ही 'साऽपि पश्चात् प्रहीयते' उनके ये शब्द स्पष्टत दिखाते हैं कि शून्यता को वे अन्तिम वस्तु नही समझते। अन्तिम वस्तु तो उनके लिए प्रज्ञा पारमिता है और जब उसमें शून्यता की अनुभूति ने हमारा अनुप्रवेश करा दिया तो वाद में वह भी स्वय प्रहीण हो जाती है 'साऽपि पश्चात् प्रहीयते'। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य 'शून्यता' से अपने नैतिक तत्व को निकालते है। किन्तु यह तो उनके मन्तव्यो का केवल उपलक्षण मात्र है। न केवल नागार्जुन ने ही किन्तु अन्य आचार्यों ने भी, जिनकी पूर्ण भक्ति शून्यवाद के प्रति नही भी समर्पित हुई है, शून्याद और उसी के अगभूत 'पुद्गलनैरात्म्य'[2] के सिद्धान्त के नैतिक महत्व को प्रख्यापन करने में वडी तन्मयता दिखाई है। उनकी अप्रतिहत वाणी है कि जब हम सभी धर्मों को शून्य समझते हैं तभी तो उनके आने और जाने पर हम

---

(१) मिलाइये, 'प्रपञ्च विनिवृत्त्येकस्वभावा या च शून्यता। यस्यां तु शून्यता दृष्टिरमलायां न शोभते'। माध्यमिक वृत्ति ।

(२) मिलाइये, पञ्चधर्माः त्रिस्वभावा. विज्ञानान्यष्ट चैव हि। द्वे नैरात्म्ये भवेत् कृत्स्न. महायान परिग्रह । लकावतार-सूत्र ।

सदा अनासक्त रह सकते है क्योकि हम समझते है कि उनमें हमारा लाभ हानि कुछ नही है और फिर हम सत्कार और परिभव मे भी तो समचित्त रह सकेंगे, क्योकि सब शून्य होने पर कौन सत्कृत या असत्कृत होगा[१]? 'कदली स्वप्न मायाभ' लोक को देखकर ही माध्यमिक राग और द्वष की निवृत्ति का उपदेश करते है और इसीलिए स्कन्धो का भी उनके द्वारा 'स्वप्नसन्निभ' कहा जाना है[२]। जो शून्यता-वादी है, वह सासारिक वस्तुओ में आसक्त नही होता। लाभ से उसे प्रसन्नता नही होती, अलाभ से वह विमन नहीं होता। 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त' (गीता के शब्द) वह होता है। यश पाकर वह विस्मय से आकृष्ट नही हो जाता, अयश से सकुचित नही होता। निन्दा से वह दुःखित नही होता, प्रशसा में वह सुख नही मानता (तुल्यनिन्दा स्तुति—तथा मानापमानयो-गीता)। सुख में राग नही करता, दुःख में द्वेष नही दिखाता (दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः। शीतोष्ण सुख-दुःखेषु समः—नाभिनन्दति न द्वेष्टि—न प्रहृष्येत् प्रिय प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्—सुख दुःखे समे कृत्वा, आदि–गीता)। जो इस प्रकार वस्तुओ में आसक्त कहीं होता, वही जानता है कि शून्य क्या है। अत शून्यवादी के राग-द्वेष नही रहते। जो राग-द्वेष रखता है अथवा विवाद करने के योग्य है, वह शून्य को नही जानता[३]। पुद्गल नैरात्म्य का जब अनुभव होता है तो आत्मा

---

(१) शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृत भवेत्। सत्कृतः परिभूतो वा केन किं सम्भविष्यति ॥ माध्यमिक वृत्ति। इस प्रकार तो शून्यवाद गीता के 'समवृत्तित्व' का ही पालन करने का योग होगा !

(२) कदली स्वप्न मायाभं लोकं पश्येद्विकल्पितम्। रागो न विद्यते तेषा मोहश्चापि न पुद्गल.। तृष्णायाः ह्युदिता स्कन्धाः विद्यन्ते स्वप्नसन्निभाः। प्रत्यात्म धर्म स्थितिला सन्धाय कथित मया। तैश्चैव बुद्धैर्मया चैव न यत् किञ्चित् विशेषितम्। बोधिचर्यावतार। यदि शून्यवाद 'परिपन्थी' 'राग द्वेष' के प्रहाण के लिए ही है, तो उससे इतना द्वेष क्यो ?

(३) देखिए, 'न शून्यतावादी लोकधर्मै. संह्रियते न स लाभेन संहृष्यति अलाभेन वा विमना भवति। यशसा न विस्मयतेऽयशसा न सकुचति। निन्दया नावलीयते प्रशंसया नानुनीयते। सुखेन न रज्यते दुःखेन न विरज्यते। यो ह्येवं लोकधर्मै नं संह्रियते स शून्यता जानाति। तथा शून्यवादिनो न क्वचित् अनुरागो न विराग.। यस्मिन् रज्यते तत् शून्य-

और आत्मीय नही रहते और प्राणी स्वभावत ही निर्मम और निरहकार होता है। (निर्ममो निरहकारः स शान्तिमधिगच्छति—गीता) निर्मम और निरहकार होने से उसके उपादान, काम दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श (वाह्य यागादि की सस्कृति में विश्वास) आत्मवाद आदि सभी क्षय हो जाते है और वह कर्म और क्लेश रूप कषाय से मोक्ष पाता है[1]। अत 'सत्कायदृष्टि, जव तक वनी है तव तक तो अशेष क्लेश और दोष रहेंगे ही, फिर इनसे विमुक्ति पाने के लिए तो योगी को आत्मा का निषेधक या नैरात्म्यवादी होना ही ठहरा[2]। यदि अहकार है तो पुनर्जन्म भी होगा और यदि वास्तव मे 'आत्मवाद' है ही तो अहकार मिटेगा भी कैसे? अत नैरात्म्यवाद या शून्यवाद के उपदेष्टा को छोडकर और कौन मोक्ष के मार्ग को वतानेवाला है[3]? अहकार के विनाश की वात तो अन्य सिद्धान्त वाले भी कहते है, किन्तु 'आत्मा' की शाश्वत स्थिति

मेव जानाति, शून्यमेव पश्यति। नासौ शून्यं जानाति यः क्वचित् धर्मे रज्यते वा विरज्यते वा। तथा नासौ शून्यतां जानाति यः केनचित् सार्धं विग्रहं विवाद वा कुर्यात् शून्यमेव जानीते शून्यमेव पश्यत्यादि। 'आर्य धर्म सगीति सूत्र', शिक्षा समुच्चय में उद्धृत; प० विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन आफ वुद्धिज्म, पृष्ठ ७९, पवसकेत ३२ में उद्धृत।

(१) आत्मन्यस्ति चात्मीय कुत एव भविष्यति। निर्ममो निरहंकार.शमादात्मा-ऽऽत्मनीनयोः॥ ममेत्यहमिति क्षीणे वहिर्धाऽध्यात्ममेव च। निरुध्यत उपादानं तत्क्षयाज्जन्मनः क्षयः॥ कर्म क्लेश कषायान्मोक्षः॥ मूल माध्यमिक कारिका; प० विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ वुद्धिज्म, पृष्ठ ८० में उद्धृत।

(२) मिलाइए, सत्कायदृष्टिप्रभवान् अशेषान् क्लेशांश्च दोषाश्च धिया विपश्यन्। आत्मानमस्या विषय च वुद्ध्वा योगी करोति आत्मनिषेधमेव। माध्यमिक वृत्ति; भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ वुद्धिज्म, पृष्ठ ७२ में उद्धृत।

(३) साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रवन्धो नाहकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम्। नान्य शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी नान्यस्तस्मादुपशम विधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में मातृचेटि के वाक्य के रूप में उद्धृत। देखिए विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ वुद्धिज्म, पृष्ठ ७२

मानते हुए वे अहकार कैसे छोड सकते है ? अत: मोक्ष के लिए आत्म-निषेध तो करना ही चाहिए। बिना आत्म निषेध किए दूसरो का भी तो विभिन्न रूप में ज्ञान होगा और इस प्रकार राग-द्वेष उत्पन्न होगे ही । बिना अहकार के छूटे कामना कैसे छूट सकती है और कामना के छोड़ने के लिए आत्मा का छोडना ही जरूरी है[१] । साराश यह है कि माध्यमिको ने यह बड़े परिश्रम से दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'शून्यवाद' के सिद्धान्त का प्रयोजन केवल 'मै' और 'मेरा' से मनुष्य को मुक्ति दिलाकर उसे राग और द्वेष से हटाना[२] तथा बोधि के मार्ग पर लगा देना है जिसके लिए आत्म-निषेध के अलावा और कोई मार्ग नही है। निश्चय ही इस प्रकार के उनके प्रयोजन से प्रत्येक भारतीय दर्शन का विद्यार्थी और वैसे कोई विचारक भी सहानुभूति ही रख सकता है क्योकि फिर तो शून्यवाद भी बौद्ध धर्म और दर्शन के आदि शास्ता के मन्तव्य के अनुसार ही सत्वो की शान्ति, विराग, उपशम, निरोध और विमोक्ष के लिए ही है, अत उसका स्वागत ही किया जा सकता है। माध्यमिको के शून्य को जो 'अभाव' का पर्यायवाची समझता है वह चाहे उसे ठीक समझता हो या गलत, किन्तु यह निश्चत है कि वह माध्यमिक आचार्यों के वास्तविक प्रयोजन को कही जानता। निश्चय ही 'प्रपच वर्धयन्नेव न स वेत्ति प्रयोजनम्'। कम-से-कम हमारा विनम्र विचार यही है और इसीलिए

(१) मिलाइये, 'य. पश्यति आत्मान तस्याहमिति शाश्वतस्नेहः। स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषान् तिरस्कुरुते ॥ गुण दर्शी परितृसन् ममेति तत्साधन-मुपादत्ते । तेनात्माधिनिवेशो यावत् तावत् तु संसारः ॥ आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः सम्प्रति-वद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते । बोधिचर्यावतार पञ्जिका में 'आचार्यपाद' (नागार्जुन) के वचन के रूप में उद्धृत; देखिए पं० विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सेप्शन आँफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७१, पद-सकेत २१; लक्ष्मीपुर श्री निवासाचार्य : दर्शनोदय, पृष्ठ

(२) देखिए एक और उदाहरण भी, 'आध्यात्मिकवाह्य शेषावस्त्वनुपलम्भेन अध्यात्म बहिश्च यः सर्वथाऽहंकार ममकार परिक्षय इदमत्र तत्वम्। कायदृष्टिमूलकमेव ससारम् अनुपश्यन् तस्याश्च सत्कायदृष्टेरालम्बनमा-त्मानमेव समनुपश्यन्नात्मानुपलम्भाच्च सत्कायदृष्टिप्रहरण तत्प्रहा-णाच्च सर्वक्लेशव्यावृत्ति समनुपश्यन् प्रथमतरम् आत्मानमेवोपपरीक्षते '। माध्यमिक वृत्ति ।

हमने ऊपर इतने उद्धरण भी श्री प० विधुशेखरजी भट्टाचार्य के पदचिन्हो का अनुसरण कर दिए है, ताकि माध्यमिक आचार्यों का वास्तविक मन्तव्य सुप्रकाशित हो। अत हमारा निश्चित विचार है (माध्यमिको के प्रयोजन को देखकर) कि शून्यवाद उच्छेद वादी दर्शन कभी नही है और उसके विषय में कभी भी 'अभाव' की कल्पना नही करनी चाहिए । 'अभाव न विकल्पयेत्'। नागार्जुन की 'मूल माध्यमिक कारिका' के सोलहवें प्रकरण (बन्धनमोक्षपरीक्षा नामक, जिसमे अन्य विषयो के साथ नीति-तत्व की भी 'मायोपमता' आचार्य नागार्जुन ने दिखाई है) को पढकर उनके 'सुहृल्लेख' (जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है) को जब कोई पढे तो उसकी समझ में नही आ सकता कि एक 'सर्ववैनाशिक' की यह नीति-स्थापना कैसी ? यदि उन्हे 'सर्ववैनाशिक' मानते है तो उनकी नीतितत्व की बात ठहरती नही और यदि नीति-तत्व उनका ठीक है तो उनको 'सर्ववैनाशिक' समझकर हम ही भ्रमित हो रहे हैं। ये सब बातें विनम्र, निष्पक्ष और श्रद्धामय अध्ययन की अपेक्षा रखती है जो सम्भवत आधुनिक काल से पूर्व कभी भी माध्यमिको को नही दिया गया[1] ।

अस्तु, इस प्रकार हमने माध्यमिको के शून्यवाद का सक्षिप्त विवेचन उपस्थित किया। इसमें हमने केवल शून्यवाद का ही विवेचन किया और अन्य दर्शनो के साथ उसके सम्बन्ध दिखाने के लोभ का प्राय सर्वत्र ही सवरण किया। शून्यवाद के स्वरूप को सामने रख कर और प्राय उसी के प्रकाश में हम उसके सबध को अन्य दर्शनो के साथ दिखाने का प्रयत्न करेंगे, अथवा उन उन दर्शनकारो ने जिस जिस प्रकार शून्यवाद को समझा है उसका ही निरूपण साक्षी रूप से करेंगे। तरफदारी तो किसी की लेनी न होगी और न निर्णायक ही बनना होगा। ऐतिहासिक रूप से उनके सम्बन्ध को निरूपित कर देने में ही हमारी इतिकर्त्तव्यता सिद्ध होगी ।

५—क्षणिकवाद और अर्थक्रियाकारित्व

भव अनित्य, दुख और अनात्म है, इस प्रकार का उपदेश बुद्ध भगवान् ने दिया था। ससार की कोई वस्तु ऐसी नही है जो इन तीन लक्षणो से बरी हो,

(१) यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि रामानुज मत के प्रतिष्ठित विद्वान् श्री लक्ष्मीपुरं निवासाचार्य महोदय ने भी अपने सस्कृत ग्रन्थ 'दर्शनोदय' में 'शून्यता-दर्शन' का बडी सहानुभूति पूर्वक अध्ययन किया है। सत्य के गवेषकों की यह रीति ही है।

उपोद्घात अर्थात् जो अनित्य न हो, दुःख न हो, अनात्म न हो। सम्पूर्ण भव त्रिलक्षणात्मक है। वह अनित्य, दुःख और अनात्म है। उसका यह लक्षण अविचल है, किसी प्रकार वदला नही जा सकता। तथागत चाहे उत्पन्न हो या न हो, यह धर्मता, यह सत्यता, तो सदा रहती ही है। यह वुद्ध-धर्म का एक आधारभूत सिद्धान्त है।

'अनिच्चा वत सखारा' (सस्कार अनित्य है), यह वुद्ध-धर्म की एक ऐसी वाणी है जिसकी आवृत्ति अनेक वार पालि साहित्य में हुई है। भगवान् वुद्ध अनेक वार अपने शिष्यो को याद दिलाया करते थे—'सव्वे भवा अनिच्चा दुक्खा विपरिणामधम्मा'[1]। अर्थात् 'सम्पूर्ण भव अनित्य, दुःख और परिवर्तनशील हैं।' उनके अन्तिम शव्द ही थे। 'वयधम्मा सखारा' अर्थात् सस्कार व्ययधर्मा हैं, नष्ट हो जाने वाले हैं।

उपर्युक्त वुद्ध-वचनो में क्षणिकवाद को अवकाश मिल सकता है। परन्तु यह क्षणिकवाद उसी प्रकार का है जिसका उपदेश औपनिषद मनीषियो, गीता-कार, योगवासष्ठिकार और अन्य अनेक ज्ञानी-विरागी महात्माओ ने लोक-कल्या-णार्थ दिया है। वुद्ध ने मनुष्य को याद दिलाया था कि तुम्हारा यह जीवन कुछ क्षणो की सम्पत्ति भर है। इस क्षण-सम्पद् का सदुपयोग करो। वीता समय वापस नही आता। 'देख तेरा क्षण निकल न जाय'[2]। उन्होने कहा था कि ससार को पानी के वुलवुले की तरह देखो, मृग मरीचिका की तरह देखो, तो फिर मृत्युराज तुम्हें नही देखेगा[3]। इस प्रकार के उपदेश अनेक सन्तो और ज्ञानियो ने दिये है। अप्रमाद (वीर्य-साधन) के लिये उत्साहित करते हुए अक्सर भगवान् जीवन की अनित्यता का स्मरण कराया करते थे। सारिपुत्र के निधन के वाद भिक्षुओ को सान्त्वना देते हुए भगवान् ने कहा था, "वह कहा से रहेगा जो विनष्ट हो जानेवाला है। इसलिये भिक्षुओ! आत्मदीप होकर विहरो, आत्म-शरण, अनन्यशरण"। अपनी अन्तिम वाणी में भी उन्होने यही लक्ष्य कर कहा था, 'सस्कार व्ययधर्मा हैं, अप्रमाद से सम्पादन करो"। इसलिये अनित्यता का स्मरण मनुष्य को जागरूक वना

---

(१) अंगुत्तर-निकाय ४।१९।५

(२) थेरी गाथा, गाथा ५

(३) यथा वुब्वूलकं पस्से यथा पस्से मरीचिक। एव लोकमवेक्खन्त मच्चुराजा न पस्सति ॥ धम्मपद १३।४

कर उसे 'प्रधान' में लगाने के लिये ही था। अनित्यता का स्मरण आते ही मनुष्य जीवन के अवश्यम्भावी दुःख को स्मरण करता है, उसे निर्वेद प्राप्त होता है और उसकी चित्तवृत्ति का झुकाव विशुद्धि की ओर होता है। इसीलिये धम्मपद में कहा गया है —

'सब सस्कार अनित्य है, यह जब प्रज्ञा से मनुष्य देखा है, तो वह दुःखो में निर्वेद प्राप्त करता है—यही मार्ग विशुद्धि का है'[1]। भगवान् बुद्ध ने जब अनित्यता या भव की क्षणिकता की बात कही, तो उनका प्रयोजन इतना ही था।

सैद्धान्तिक रूप से क्षणिकवाद की ओर भगवान् बुद्ध की क्या दृष्टि होगी, इस पर यहा कुछ विचार कर लेना आवश्यक होगा। हम जानते हैं कि शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद दोनो को भगवान् ने मिथ्या दृष्टि कहा था। अतः क्षणिकवाद की पूर्ण अनित्यतावादी व्याख्या हम नहीं कर सकते। वस्तुतः क्षणिकवाद का प्रश्न प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, पुनर्जन्म और निर्वाण इन चारों की समस्या से सम्बद्ध है, जिनका पूर्ण विवेचन बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार हम पहले कर चुके हैं। विवेचित समस्याओ को पुनः यहा न उठाकर हम केवल यह कहना चाहेंगे कि बुद्ध ने क्षणिकता या अनित्यता का नियम 'निब्बाण' के सम्बन्ध में लागू नहीं किया था। भव तक उन्होंने उसे सीमित रक्खा था और भव का निरोध निर्वाण में हो जाता है। निब्बाण को उन्होंने अच्युत कहा था, ध्रुव कहा था, 'अविनाशी' कहा था, 'अमृत' कहा था। अतः अनित्यता या क्षणिकता वहा किस प्रकार प्रवेश पायेगी? भगवान् के ही तर्क के अनुसार जो अनित्य है, वह अवश्यम्भावी रूप से दुःख है। परन्तु 'निब्बाण' तो उन्ही के शब्दो में 'अत्यन्त सुख' है, दुःख के ठीक विपरीत है। तो क्या फिर उसे अनित्य कहना ठीक होगा? क्षणिक कहना उपयुक्त होगा? क्षणिक तो सस्कार है, जो व्ययधर्मा है। परन्तु निब्बाण तो असस्कृता धातु है, वह तो सस्कार नही है। फिर वहाँ क्षणिकता का क्या काम? वह तो भगवान् के ही शब्दो में 'अविनाशी' पद है। अतः स्पष्ट है कि क्षणिकता का उपदेश भगवान् ने मनुष्य के अहभाव को गलाने के लिये, उसे दुःख की स्मृति कराकर विषय विमुख करने और विशुद्धि मार्ग पर लगाने के लिये ही, दिया गया था। परमार्थ सत्य के रूप में उसका उपदेश भगवान ने नहीं दिया था, क्योकि वह निब्बाण पर लागू नही है। वस्तुतः क्षणिक-

---

(१)

वाद की दार्शनिक चर्चा ही भगवान् बुद्ध को रुचिकर न होती, ऐसा हम कह सकते हैं। वे तो प्रयोजनवादी थे, ज्ञान में प्रयोजन देखने वाले थे। सम्भवतः क्षणिकवाद की निष्क्रिय चर्चा करनेवाले किसी 'मोघ पुरुष' के सम्बन्ध में ही उन्होने कहा था, "लोक क्षणकृत्य है, क्षणकृत्य है, ऐसा अज्ञ जन कहता है, परन्तु वह क्षण और अक्षण को नही जानता"[१]।

परन्तु बौद्ध दर्शन के उत्तरकालिक विकास में क्षणिकवाद ने एक पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त का रूप ले लिया, जिसे उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचाया गया। भारतीय दर्शन के इतिहास में सातवी शताब्दी ईसवी से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक क्षणिकवाद की बडी चर्चा रही। बौद्धो ने इसका प्रतिपादन किया और श्रौत परम्परा के आचार्यों ने खण्डन। बौद्धो में जिन्होने क्षणिकवाद या क्षणभगवाद का उसकी अन्तिम परिणति तक समर्थन किया और अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन किया उनमें 'स्वातन्त्रिक' विज्ञानवादी आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील मुख्य हैं। इन्होने विज्ञानवादी आचार्य वसुबन्धु के विज्ञानमात्रनित्यत्त्व का खण्डन कर क्षणभंगवाद को परमार्थ के क्षेत्र तक लागू कर दिया। वैसे बौद्ध दर्शन के चारो सम्प्रदायो को प्राय. क्षणिकवाद मान्य है और आस्तिक दर्शनो में शायद ही कोई ऐसा बचा हो जिसके सूत्रकार या व्याख्याकारो ने क्षणिकवाद के विरोध में कुछ न कहा हो। न्याय ने तो इस विषय में एक परम्परा ही कायम कर दी है। इन सब पर विस्तृत विवेचन तो हम पांचवें प्रकरण में ही कर सकेंगे। यहा हमें सबसे पहले यही देखना चाहिए कि दार्शनिक दृष्टि से 'क्षणिकवाद' है क्या वस्तु? 'क्षणिकवाद' का मूल सिद्धान्त यही है कि कोई भी वस्तु स्थिर नही है, सभी एक चचल अवस्था में हैं। जिन्हें हम स्थिर समझते हैं वे भी प्रत्येक क्षण अज्ञात रूप से गतिशील रहती हैं और प्रत्येक ही क्षण उत्पत्ति और निरोध को प्राप्त करती हुई अपने स्वरूप को खोती और नवीन रूप से प्राप्त करती रहती हैं। यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है और सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के विषय में लग जाता है, जिसकी विस्तृत मीमासा में हमें यहा जाने की आवश्यकता नही है। न तो हमारे ही पास और न बौद्ध आचार्यों के ही पास वे सूक्ष्म गणित-विज्ञान सबधी यन्त्र हैं या थे जिनके द्वारा हम महामति आयंस्टन की भाति (जिन के सापेक्षतावाद

(१) अक्खण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।३।८)

व

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
३९	योगक्षेत्र	योगक्षेम
४२	आमलम	आमलक
७१	मूमि	भूमि
२१६	च पुराततम्	चपुराततम्
२३४	प्रज्ञायादाश्च पुत्र जायते	प्रज्ञायादाश्च जायते
२७८	नियम पिटक	विनय पिटक
२७९	आमलक	आमलक
३१७	हिस्ट्री ऑव इन्डियन फिलॉसफी	इन्डियन फिलॉसफी
४२८	आश्रवो	आश्रयो
५१९	बुध	बुद्ध
५२२	जनत	जन्त
५४८	पाटेयक	पाथेयक
५४९	पाठेय्य	पाथेयक
५५१	हुंवतय	हुंवत
७१९	आगन	[illegible]
७२६	महाविषयक	[illegible]विषयक
७२७	उनर	उत्तर
७५८	याजयोगो	याजयोगो
७५८	परम्पारा	परम्परा
७५९	त्रिपिटर	त्रिपिटक
७५९	धार्मि	[illegible]
७७१	गन	[illegible]
८०२	[illegible]	[illegible]
८०३	[illegible]	[illegible]
८०८	[illegible]	[illegible]
८१९	[illegible]	

श

ह

क्ष

———

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
३९	योगक्षेत्र	योगक्षेम
४२	आकलम	आकलन
७१	मूमि	मूरि
२१६	च पुराततम्	चक्षुराततम्
२३४	प्रज्ञावादांश्च पुत्र भाषसे	प्रज्ञावादांश्च भाषसे
२७८	नियम पिटक	विनय पिटक
२७९	आमलक	आलवक
३१७	हिस्ट्री ऑव इन्डियन फिलॉसफी	इन्डियन फिलॉसफी
४२८	आश्रवों	आस्रवो
५१९	वुध	वुद्ध
५२२	अभत	अभूत
५४८	पाठेयक	पावेयक
५४९	पाठेय्य	पावेयक
५५१	हैंवतय	हैमवत
७१९	आरुण	आरुणि
७२६	देहाविषयक	देहविषयक
७३७	उनर	उत्तर
७५८	याजयोगो	याजयोगो
७५८	परम्पारा	परम्परा
७५९	त्रिपिटक	त्रिपिटक
७५९	क्षप्ति	क्षिप्त
७७१	नम	हम
८०२	आहतादिनी	आह्लादिनी
८०३	योग में के	योग के
८०८	पचशिव	पंचशिख
८१९	withein	within

———

८३०	पबौद्ध	बौद्ध
८३२	गायकर	गायगर
८४८	सूरसुत्त	पसूर सुत्त
८५७	आनुभव	अनुभव
८७५	सांख्ययोगी	साख्ययोगी
९४९	वृष्विाद	वृष्टिवाद
१०४६, १०४७	आलमन्दार	आलवन्दार
१०४९	२०४९	१०४९
१०८४	रसत	रसल
६ द्वितीय भाग की भूमिका में	संस्कारा	संखारा
